भाग ६८
संख्या ४-५
पौष
२०२० वि०
नवरी फरवरी
१९६४

विज्ञान
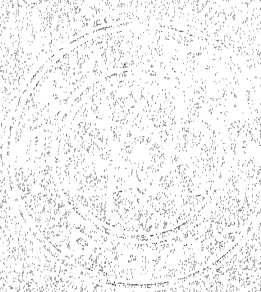
१. १९६२-६३ के पुरस्कार-विजेता ९३
२. सूर्य अग्निपिंड ९५
३. गप्प नहीं, सही खबरें ९८
४. हानिकारक कीट पतंगों का विनाश १०
५. भौतिक विज्ञान-स्थूल से सूक्ष्म की ओर नक्षत्रों का विकिरण और पदार्थ की अन्तिम स्थिति १०
६. फाइबर ग्लास ११
संक्षिप्त जीवन-परिचय-माला ११
सार-सङ्कलन ११
विज्ञान वार्ता १:
पुस्तक समालोचना १:
सम्पादकीय १:

अंक ४० न. पै.
ार्षिक ४ रुपये

सम्पादक—डॉ० शिवगोपाल मिश्र

विज्ञान परिषद् प्रयाग

विज्ञान

विज्ञान परिषद्, प्रयाग का मुखपत्र

विज्ञानं ब्रह्मेति व्यजानात् । विज्ञानाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते ।
विज्ञानेन जातानि जीवन्ति । विज्ञानं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति । तै० उ० ।३।५।

भाग ९८ | पौष २०२० विक्र०, १८८५ शक जनवरी, फरवरी १९६४ | संख्या ४-५

१९६२-६३ के पुरस्कार-विजेता

डा० शिवगोपाल मिश्र

यदि पिछले दस वर्षों के नोबेल पुरस्कार विजेताओं की सूची देखी जाय तो पता चलेगा कि भौतिकी तथा रसायन में संयुक्तराज्य अमेरिका के १५, रूस के ५, ग्रेटब्रिटेन के ५, जर्मनी के ४ तथा नेदरलैंड और जेकोस्लोवेकिया के एक-एक विजेता हुए हैं । स्पष्ट है कि अमेरिका सर्वप्रथम पंक्ति में है ।

इस वर्ष भौतिकी तथा रसायन में नोबेल पुरस्कार पाँच वैज्ञानिकों को प्रदान किया गया है, जिनमें से भौतिकी में तीन वैज्ञानिकों को और रसायन में दो को दिया गया है । भौतिकी में पुरस्कार के विजेता हैं—प्रोफेसर यूजीन विगनर, श्रीमती गोपर्ट मेयर तथा हांस डेनियल जेन्सन । रसायन में पुरस्कार विजेताओं के नाम हैं, प्रोफेसर नट्टा तथा प्रोफेसर जीगलर । रोचक बात यह है कि इन पाँच विजेताओं में से चार का सम्बन्ध जर्मनी से है या रहा है ।

प्रोफेसर यूजीन पॉल विगनर का सम्बन्ध हंगरी के एक जर्मन परिवार से है । उन्होंने बर्लिन के टेकनिकल विश्वविद्यालय में शिक्षा प्राप्त की थी । जब राष्ट्रीय समाजवादियों ने जर्मनी पर अधिकार कर लिया तो वे अमेरिका चले गये और अब वहाँ पर वे पिंसटाउन विश्वविद्यालय में प्रोफेसर हैं ।

भौतिकी में द्वितीय नोबेल पुरस्कार की विजेता श्रीमती गोपर्ट मेयर का जन्म पोलैंड में हुआ था और शिक्षा गोटिंजेन जर्मनी में मिली थी । इन्होंने भी विगनर की भाँति जर्मनी छोड़ कर अमेरिका में जाकर अध्यापन कार्य स्वीकार कर लिया था । आजकल वे कैलिफोर्निया विश्वविद्यालय में अध्यापिका हैं । श्रीमती मेयर विश्व की द्वितीय महिला हैं जिन्हें यह पुरस्कार मिला है । विज्ञान में प्रथम नोबेल पुरस्कार पाने वाली महिला थीं मैरी क्यूरी ।

प्रोफेसर जेनसन हाइडेलबर्ग प्रोफेसर हैं और जर्मनी में ही रह रहे हैं ।

इन्हीं की भाँति रसायन में नोबेल पुरस्कार के विजेता प्रोफेसर ज़ीगलर हैं। इनका जन्म २६ नवम्बर सन् १८९८ में जर्मनी में हुआ। सन् १९४३ में डा० फिशर के पश्चात् ये मैक्सप्लांक इंस्टीट्यूट के निदेशक नियुक्त हुए। इनको अपने उत्तम कार्यों पर लीबिग पदक तथा कार्ल डिसबर्ग पदक मिल चुके हैं।

प्रोफेसर नट्टा मेलैंड प्रोफेसर हैं। इनकी आयु ६० वर्ष की है। जब ये १२ वर्ष के थे तभी रसायनशास्त्र की एक पुस्तक पढ़कर इनके मन में रसायन के प्रति रुचि उत्पन्न हुई थी।

भौतिकी में पुरस्कार

प्रोफेसर विगनर ने आज से ३० वर्ष पूर्व यह स्थापना की थी कि नाभिकीय क्रोड़ में प्रोटान तथा न्यूट्रान होते हैं और इस क्रोड़ को स्थिर रखने वाली शक्तियाँ अत्यन्त बलवान होती हैं, किन्तु वे एक मिली-मीटर के दस करोड़वें अंश की परिधि तक ही सीमित रहती हैं। इस प्रकार द्रव्य के मूलकण की अधिकाधिक जानकारी में उन्होंने प्रचुर योग दिया है। उन्होंने यह ज्ञात किया है कि संमिति सिद्धान्त ऐसे नियमों को समझने में अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इस प्रकार से क्वांटो-यंत्रिकी के क्षेत्र में इनका योगदान सराहनीय बताया गया है।

गोपर्ट मेयर तथा प्रोफेसर हांस जेन्सन का कार्य नाभिकीय भौतिकी से सम्बन्धित है। उन्होंने यह सिद्ध किया है कि क्रोड के विभिन्न स्तर, जो 'छिलका' या 'आच्छादक' कहलाते हैं, उनमें समान मात्रा में ऊर्जा निवास करती है और यह तत्सम्बन्धी परमाणु के इलेक्ट्रान स्तरों के सङ्गत होती है। जैसे ही कोई 'आच्छादक' संतृप्त हो जाता है—अर्थात् जैसे ही कोई स्तर क्रोड कणों द्वारा घिर जाता है, तो उसके बाद भारी क्रोड बनने के लिए ऊर्जा में वृद्धि की आवश्यकता होती है, जिससे न घिरी हुई बाह्य परत अब घिर जाती है। इसके पूर्व भौतिकज्ञों की यह धारणा थी कि नाभिकीय क्रोड 'बादल' या 'छोटी-छोटी बूँदों' के रूप में होता है। सन् १९३९ तक यही विचारधारा मान्य होती रही और नाभिकीय क्रोड के विखण्डन को इसी विचारधारा द्वारा विवेचित भी किया गया।

इस प्रकार से भौतिकी का यह पुरस्कार उपर्युक्त तीनों वैज्ञानिकों को उनकी समान किन्तु अत्यन्त महत्वपूर्ण विचारधारा के लिए प्रदान किया गया है। उनकी इस विचारधारा से द्रव्य के मूलकणों की जानकारी में सहायता मिलेगी।

रसायन का पुरस्कार

एक से अधिक व्यक्तियों को किसी पुरस्कार का प्रदान किया जाना आर्थिक दृष्टि से भले ही विचित्र लगता हो, किन्तु ख्याति एवं अंतर्राष्ट्रीय मान्यता की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण होता है। रसायन का पुरस्कार ऐसे दो व्यक्तियों को एक साथ प्रदान किया गया है, जिन्होंने 'वृहद् अणुओं' के निर्माण में ही अपना सारा जीवन लगाया है। प्रोफेसर ज़ीगलर तथा प्रोफेसर नट्टा को कार्बनिक दीर्घ अणुओं के निर्माण सम्बंधी मूलभूत विधियों को विकसित करने के उपलक्ष में नोबेल पुरस्कार प्रदान किया गया है। यह निर्माण-विधि सामान्य असंतृप्त हाइड्रोकार्बनों से उत्प्रेरकीय बहुलीकरण द्वारा सम्पन्न करने की विधि है। अन्तर्राष्ट्रीय वैज्ञानिक क्षेत्र में नट्टा को 'अणुओं का नट' कहा जाता है। इन्होंने प्लास्टिक पदार्थों के निर्माण में काफी योग दिया है। इनके द्वारा विकसित एक उष्णीय-प्लास्टिक पदार्थ जिसे 'मापलेन' कहा जाता है अत्यंत प्रसिद्ध है।

ज़ीगलर ने रबर तथा रबर जैसे यौगिकों के निर्माण में प्रचुर काम किया है। अमरीकी वैज्ञानिक ने जब प्राकृतिक रबर के सम्बन्ध में अनुसन्धान प्रारंभ किया, ठीक उसी काल में ज़ीगलर ने प्राकृतिक रबर की आणुक संरचना के अनुकरण करने में सफलता प्राप्त की। इस विधि में धातु-कार्बनिक उत्प्रेरकों का बड़ा हाथ रहता है, क्योंकि इनकी सहायता से एक सामान्य हाइड्रोकार्बन से दीर्घ श्रृंखला वाले रबर-जैसे

यौगिक प्राप्त होते हैं। इस दिशा में ज़ीगलर को पहली बार सन् १९५३ में सफलता प्राप्त हुई थी जब उन्होंने 'पालिथीन' नामक यौगिक को अत्यन्त सरल विधि से संश्लेषित कर लिया था। इसके पूर्व इस पदार्थ को तैयार करने के लिए २०० वायुमण्डल-दाब तथा १०००° सेंटीग्रेड ताप की आवश्यकता पड़ती थी। सर्वप्रथम इन्होंने एथिलीन को पॉलीएथिलीन में रूपान्तरित किया था। तब यह अनुमान भी नहीं किया जा सकता है कि इसी क्रिया से कृत्रिम रबर भी उत्पन्न की जा सकेगी। अब न केवल रबर वरन् अनेक कृत्रिम रेशे एवं प्रक्षालक तक इसी विधि से तैयार किये जाते हैं। इस प्रकार रसायन के क्षेत्र में इन क्रान्तिकारियों को उनकी खोजों के अनुरूप पुरस्कृत किया गया है।

●●

सूर्य अग्निपिंड

महेन्द्र सिंह

सूर्य तथा ग्रह परिवार मिलकर सौर-मंडल की रचना करते हैं। इसी प्रकार अन्य नक्षत्र जिनकी संख्या लगभग चार अरब बताई गई है, अपने-अपने कुटुम्ब के साथ मिलकर आकाश-गङ्गा बनाते हैं। सूर्य वास्तव में एक नक्षत्र है जिसकी दूरी पृथ्वी से ९३० लाख मील है। यह एक ऐसा नक्षत्र है जिसकी सतह पर होते हुए परिवर्तनों का अध्ययन किया जा सकता है। सूर्य की प्रदीप्ति सीमा का व्यास लगभग ८६४००० मील है जबकि पृथ्वी का व्यास ८००० मील है। यदि पृथ्वी को सूर्य पर से देखा जाये, तो पृथ्वी केवल १७ सेकंड का कोण बनाती है और सूर्य पृथ्वी से देखे जाने पर ३० मिनट का कोण बनाता है। यही कारण है कि पृथ्वी सूर्य द्वारा विकिरित ऊर्जा का केवल एक अंश मात्र ही ग्रहण कर पाती है। हरबर्ड स्पेंसर जौन के अनुसार पृथ्वी २२००० लाख भाग में से केवल एक भाग ऊर्जा का प्राप्त करती है। फिर भी पृथ्वी क्षेत्र पर प्रति वर्ग मील सौर-ऊर्जा का मान लगभग ५० लाख अश्व-शक्ति के बराबर आता है।

विकिरित ऊर्जा का अर्थ समस्त विद्युत चुम्बकीय विकिरण से है जिसमें प्रकाश नील लोहित रश्मियाँ, ऐक्स रश्मियाँ, गामा रश्मियाँ, इन्फ्रारेड रश्मियाँ तथा रेडियो रश्मियाँ भी आती हैं। परन्तु विकिरित ऊर्जा का वह छोटा अंश जो पृथ्वी की ओर आता है, वह भी पूर्ण रूप से पृथ्वी क्षेत्र पर नहीं पहुँच पाता, क्योंकि ऊर्जा का अधिकांश भाग पृथ्वी-वायु-मंडल में अवशोषित हो जाता है। तीव्र बैंगनी प्रकाश के पश्चात् ऊर्जा विकिरण ओज़ोन की पट्टी जो १५-२० मील की ऊँचाई पर है अत्यधिक मात्रा में अवशोषित हो जाती है। अगर इस प्रकार का वायु-मंडलीय अवशोषण न होता तो इन घातक किरणों के कारण पृथ्वी क्षेत्र पर जीवन सम्भव नहीं होता। सूर्य के ऊपरी धरातल का ताप लगभग ६००० अंश सेंटीग्रेड पाया गया। गवेषणाओं के पश्चात् यह विदित हुआ है कि सूर्य के अन्तर में निहित ताप का मान २ करोड़ डिग्री सेंटीग्रेड है। इस

प्रकार के प्रचंड ताप एवं दबाव के कारण यह बात स्पष्ट हो जाती है कि गैसीय द्रव्यों की दशा बिलकुल ही भिन्न होगी। प्रयोगों से विदित हुआ है कि सूर्य की ऊपरी सतह पर जहाँ कि ताप ६००० डिग्री सेंटीग्रेड है, वातीय दाब केवल १/१०० पृथ्वी के वायु मंडल दाब के बराबर है। चूँकि सूर्य का
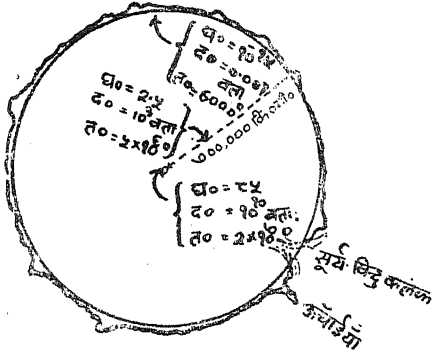
औसत आपेक्षिक घनत्व १·५ है इसलिए स्पष्ट हो जाता है कि सूर्य के आन्तरिक भाग में वातीय द्रव्य का घनत्व अधिक होगा।

अब प्रश्न उठता है कि किस प्रकार सूर्य इतनी ऊर्जा विकीरित करता रहता है। इसके उत्तर में यह बताया जाता है कि वास्तव में सूर्य के आन्तरिक भाग में जहाँ पर अत्यन्त प्रचंड ताप और दबाव होता है, हाइड्रोजन नाभिक मिलकर एक हीलियम नाभिक की रचना करते हैं। इस प्रक्रिया में पदार्थ की कुछ मात्रा ऊर्जा में परिवर्तित होती है जो हमें सौर-ऊर्जा प्रदान करती है।

सौर-मण्डल

सूर्य के वायु-मंडल को हम मुख्य रूप से तीन भागों में विभाजित कर सकते हैं। ये भाग निम्न प्रकार से हैं :

(अ) फोटोस्फीयर,
(ब) क्रोमोस्फीयर
(स) कोरोना

फोटोस्फीयर—जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है फोटो स्फीयर को प्रकाशीय वायु-मंडल भी कहते हैं। यह सूर्य प्रदीप्ति सीमा निर्धारित करता है। दूर-दर्शक यन्त्र द्वारा इस भाग का निरीक्षण करते समय परमावश्यक सावधानी इस बात की रखनी चाहिए कि फोटोस्फीयर का दूर-दर्शक द्वारा प्राप्त बिम्ब बिना अवशोषक लगाये हुए नहीं देखना चाहिए, क्योंकि इससे इतना प्रचंड प्रकाश उत्पन्न होता है जो कि नेत्र के लिए हानिकारक होता है। अच्छे किस्म के दूर-दर्शक यन्त्र से परीक्षण करने पर इस भाग के प्रतिबिम्ब में कोई उबलती हुई सी वस्तु प्रतीत होती हैं जिसका स्पष्टीकरण आस-पास के कम प्रकाश वाले क्षेत्र से होता है। वास्तव में यह प्रकाशीय क्षेत्र सैकड़ों मील लम्बे चौड़े होते हैं, तथा लगभग एक कि० मी० प्रति सेकेण्ड के वेग से ऊपर चढ़ते हुए पाये गये हैं।

फोटोस्फीयर का ताप लगभग ६००० सेंटीग्रेड पाया गया है, क्योंकि ऊर्जा का अधिकांश भाग इसी के माध्यम से विकरित होता है। फोटो स्फीयर के नीचे ताप बड़ी तेजी के साथ बढ़ने लगता है और अन्त तक पहुँचते-पहुँचते १५ व २० दशलक्ष अंश तक पहुँच जाता है। फोटोस्फीयर का ताप प्रकाशीय प्रचंडता एव विकिरण के रूप के अनुसार निश्चित किया जाता है।

क्रोमोस्फीयर—फोटोस्फीयर के ऊपर गुलाबी रङ्ग का क्रोमोस्फीयर होता है, जिसको केवल पूर्ण ग्रहण पर ही देखा जा सकता है। वास्तव में सूर्य का वायु-मंडल, कोरोना, क्रोमोस्फीयर को कह सकते हैं क्योंकि फोटोस्फीयर का दबाव पृथ्वी के वायु-मंडल के दबाव का केवल १००वाँ भाग ही होता है।

क्रोमोस्फीयर, फोटोस्फीयर के ऊपर लगभग ३०,००० मील तक फैला हुआ है तथा इसमें भयंकर तूफान तथा प्रचंड वातीय झोकों की अधिकता होती हैं। क्रोमोस्फीयर के निचले हिस्से में वात-पेटी, जो फोटोस्फीयर के ठीक ऊपर होती है, रिवर्सिङ्ग लेयर

कहते हैं, फोटोस्फीयर से निकलने वाले प्रकाश के वर्णपट में इस रिवर्सिङ्ग-लेयर के अन्दर विद्यमान परमाणुओं का पता चलता है। क्रोमोस्फीयर के ऊपरी भाग में बहुधा हाइड्रोजन तथा कैल्शियम वाष्पें मिलती हैं। इन तत्वों की उपस्थिति फ्रॉनहाफर-रेखाओं से पुष्ट होती है। इन झंझाओं के कारण "सोलर फ्लेयर" की उत्पत्ति होती है।

कोरोना—कोरोना सूर्य का वह वायु-मंडल है जिसको केवल कुछ ही भाग्यशाली लोग पूर्ण सूर्य ग्रहण के समय देख सके हैं क्योंकि पूर्ण सूर्य ग्रहण बहुत अल्प समय के लिए दिखलाई पड़ता है तथा पृथ्वी के कुछ विशेष स्थानों से देखा जा सकता है। इसलिए हर स्थान पर भारी-भारी परीक्षणीय उपकरणों को नहीं ले जाया जा सकता। यही कारण है कि पिछले सौ वर्षों के अन्दर पूर्ण सूर्य ग्रहण का अध्ययन लगभग एक घंटे से अधिक नहीं किया जा सका है। ३० जून सन् १९२४ को कैम्ब्रिज वेधशाला के कुछ सदस्यों ने ३०,००० फीट की ऊँचाई पर खुले वायुयान में कोरोना का अध्ययन किया। नारङ्गी रङ्ग के छन्नक की सहायता से लिए गये फोटो से यह पता चला कि कोरोना के विस्तार का व्यास ३० दशलक्ष मील था।

कोरोना की आन्तरिक रचना वैज्ञानिकों के लिए एक जटिल समस्या बनी हुई थी। उससे प्राप्त वर्णपट में ऐसी रेखाएँ विद्यमान थीं जिसको सरलता से प्रयोगशाला में प्राप्त नहीं किया जा सकता था। इसलिए एक नये तत्व क्रोमियम की उपस्थिति मानी जाती थी। परन्तु सन् १९४२ ई० में एडलिन नामक वैज्ञानिक ने अपनी सैद्धान्तिक गवेषणाओं के आधार पर यह प्रमाणित कर दिया, कि लौह, कैल्शियम, तथा निकल अत्यधिक आयनीकृत अवस्था में होते हैं तो वे उपर्युक्त प्रकार का विकिरण निकालते हैं। उपर्युक्त अवस्था के लिए एडलन की की गई गणना द्वारा यह विदित हुआ कि कोरोना का ताप एक लाख अंश सेंटीग्रेड होगा, परन्तु जैसा कि हम कह आये हैं कि फोटोस्फीयर का ताप ६०,०० अंश होता है इसलिए यह धारणा कुछ असंगति सी प्रतीत होती है, परन्तु सन् १९४६ ई० में कोरोना के प्रचंड ताप के बारे में खोज पूर्ण हो गई। इस प्रकार रेडियो तरङ्गों की सहायता से कोरोना इस प्रचंड ताप का स्पष्टीकरण हो गया।

सूर्य की आयु—सूर्य से शनैः-शनैः हाइड्रोजन का क्षय होता जा रहा है इसलिए हमारा ध्यान इस ओर जाता है कि सूर्य एक न एक दिन अवश्य बुझ जायेगा। ताप नाभिकीय परिवर्तन की गति सक्रिय तत्व की मात्रा पर निर्भर नहीं करती बल्कि ताप पर भी निर्भर करती है। इसके अनुसार सम्पूर्ण सूर्य को नष्ट होने में काफी समय लगेगा, परन्तु इसी सन्दर्भ में यह बात भी आती है कि सूर्य की सौर दीप्तिता को एक समान रूप से बढ़ जाना चाहिए। सूर्य दीप्ति समय के साथ-साथ किस प्रकार परिवर्तित होगी तथा उसका आयतन किस प्रकार परिवर्तित होगा, नीचे चित्र में प्रदर्शित किया गया है।
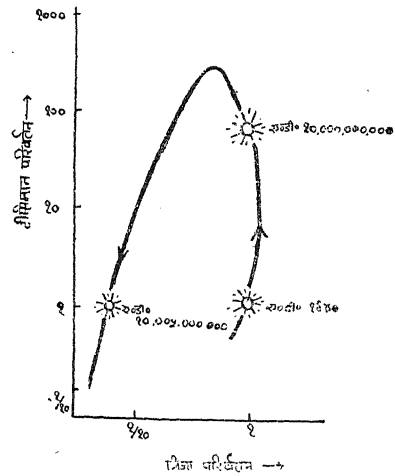
सूर्य की आयु का अनुमान पृथ्वी से किया जाता है। चूँकि पृथ्वी की आयु रेडियो सक्रिय तत्वों की

मात्रा क्षय की गणना से की जाती है इसलिए हम सूर्य की आयु का अनुमान लगा सकते हैं, क्योंकि यह बात विदित ही है कि सूर्य निस्सन्देह पृथ्वी से अधिक आयु का है। रेडियोसक्रिय अनुसंधानों की सहायता से पृथ्वी की आयु १.६×१०^{१२} वर्ष प्राप्त हुई है इसलिए लगभग २×१०^{१२} वर्ष सूर्य की आयु का अनुमान लगाया जाता है।

आज के राकेट युग में उपग्रहों की उत्पत्ति ने खगोलीय अध्ययन को सरल बना दिया है क्योंकि विकीरित वर्णपट का एक अंश ही अवशोषण के पश्चात् पृथ्वी पर पहुँच पाता था इसलिए हमारा ज्ञान इस दशा में अपूर्ण था परन्तु अब उपग्रहों की सहायता से अनेक बहुमूल्य सौर-मंडलीय आँकड़े प्राप्त हो चुके हैं और भविष्य में अनेकानेक सम्भावनाएँ की जाती हैं।

सारांश

सूर्य के बारे ने प्राप्त तथ्य :—

(अ) सूर्य की पृथ्वी से औसत दूरी ९२९०००,०० मील

(ब) सूर्य का व्यास ८६४००० मील

(स) सूर्य का द्रव्यमान = ३३३४३४ × पृथ्वी का द्रव्यमान

(द) सूर्य का आयतन = १३००००० × पृथ्वी का आयतन

(य) सूर्य का आपेक्षिक घनत्व = १.४१

गप्प नहीं, सही खबरें

डा० शिवगोपाल मिश्र

विश्व भर के वैज्ञानिक नानाविध समस्याओं के हल करने में लगे हुए होंगे जब कि हम में से अधिकांश को न तो उन समस्याओं का ही पता है और न उनके हलों के सम्बन्ध में अपनी ओर से कोई जिज्ञासा ही है। फिर भी हम सभी ऐसी बातों को सुनना और समझना पसन्द करते हैं जिनसे मानव-जाति का कल्याण होना है। तो लीजिये, कुछ ऐसी ही खबरें प्रस्तुत की जा रही हैं। इन्हें चण्डूखाने की गप्प समझकर न तो आप अनसुनी कर दें और न केवल सुनकर सन्तोष ही कर बैठें। उन पर ठीक से मनन करें।

१. कीट विनाशक रसायन असफल सिद्ध हो रहे हैं :—

डी० डी० टी० तथा अन्य कीट विनाशक रसायनों के सूत्रपात के समय यह कल्पना की गई थी कि कीटाणुओं तथा कीड़ों के विरुद्ध सफल "रासायनिक आक्रमण" का अभियान सफल सिद्ध होगा किन्तु अब ऐसा अनुभव किया जा रहा है कि शायद वैज्ञानिकों की कल्पना पूरी नहीं उतरेगी। उदाहरणार्थ, यह देखा गया है कि प्रतिवर्ष डी० डी० टी० तथा अन्य कीट विनाशक रसायनों का व्यवहार करते रहने पर भी

हानिकारक कीटाणुओं या कीड़ों का अन्त नहीं हो पाया। उल्टे, वैज्ञानिकों के सामने यह समस्या उपस्थित हो रही है कि उन्हें अन्त करने के कौन से अन्य उपाय ढूँढे जायँ। वर्ष प्रति वर्ष डी० डी० टी० छिड़कने से मक्खियों तथा मच्छरों का जहाँ सफाया होता रहा है वहीं साथ ही कुछ मक्खियों तथा मच्छरों की ऐसी प्रजातियाँ भी विकसित होती रही हैं, जो एक निश्चित मात्रा में कीट विनाशकों या विषों को सहन कर सकती हैं। ऐसी प्रजातियों के विकास से या तो कीट विनाशकों की अत्यधिक मात्राओं के प्रयुक्त करने की आवश्यकता पड़ेगी या फिर अन्य कीट विनाशकों की खोज करनी होगी। वस्तुत: सभी जीवित प्राणियों में किसी भी प्रकार के आक्रमण से अपनी रक्षा करने की प्रवृत्ति होती है। यही प्रवृति 'प्रतिरोधकता' कहलाती है।

इस 'प्रतिरोधकता' के आधार पर अब वैज्ञानिकों में वाद-विवाद होने लगा है कि "क्या जो पहले घातक मात्रा में कीटाणुनाशक छोड़े जाते थे, उसके प्रति कीटाणु आदी हो रहे हैं---अर्थात् पहले कीटाणुओं में उस मात्रा के सहने की शक्ति नहीं थी किन्तु धीरे-धीरे उसके अभ्यस्त हो गये हैं अथवा कीटाणुओं में यह सहन शक्ति पहले से ही विद्यमान रहती है और उसी के बल पर वे जीवित रहते हैं? वस्तुत: यह 'विकासवाद' की पुनरावृति नहीं तो क्या है? इस तथ्य को सिद्ध करने के लिए बर्लिन विश्वविद्यालय में ६ वर्षों तक लगातार प्रयोग हुए हैं जिनमें ड्रासिफला नामक मक्खी की १५० पीढ़ियों पर डी० डी० टी० का प्रभाव देखा गया। इस जाति की मक्खी को घातक मात्रा से कम मात्रा में डी० डी० टी० खिलाई गई। यह देखा गया कि ऐसा करने से एक भी मक्खी नहीं मरी। किन्तु यदि १५० पीढ़ियों के बाद भी डी० डी० टी० की मात्रा इतनी बढ़ा दी गई जो उनके लिये घातक सिद्ध हो सकती हो, तो यह देखा गया कि सभी मक्खियाँ मर गईं। फलत: यह सिद्ध हो जाता है कि इतने काल के पश्चात् भी ये मक्खियाँ "अनुकूलता" सिद्धान्त से प्रभावित नहीं हो पायीं, क्योंकि इसके पूर्व वे इतनी मात्रा के प्रति अभ्यस्त नहीं थीं।

यदि इन्हीं मक्खियों में से कोई ऐसी मक्खी चुन ली जाय जो अधिक डी० डी० टी० को सहन कर सके तो उससे उत्पन्न की हुई १५ पीढ़ियों बाद की मक्खियाँ पहले से ३० गुनी अधिक डी० डी० टी० को सरलता से सहन कर सकेंगी।

यही कारण है कि अधिकांश कृषि प्रयोगों, जंगलों तथा अन्य प्रयोगों में डी० डी० टी० की अल्प मात्रायें उतनी कारगर नहीं सिद्ध होतीं जितनी की उसकी अधिक मात्रायें। अल्पमात्राओं द्वारा कीटविनाशक रसायनों के प्रति सहन-शील कीटों की प्रजातियाँ विकास करेंगी। ऐसी प्रक्रिया को देखते हुए वैज्ञानिकों को यह विश्वास होने लगा है कि भविष्य में सभी कीट विनाशक रसायन बेकार सिद्ध हो जावेंगे और हमें अपने पुराने विधानों पर ही कीट-नियन्त्रण के लिए निर्भर करना होगा। आजकल जिसे हम "पुरानी पद्धति" कहकर टाल देते हैं, हो सकता है भविष्य में वही पद्धति "आधुनिकतम" सिद्ध हो। इस दृष्टि से पक्षियों के द्वारा कीट-नियन्त्रण या सन्तुलन उपयोगी विधि सिद्ध होगी और एक बार फिर सभी यह देखेंगे कि कीटाणुओं के विरुद्ध जो "रासायनिक अभियान" चालू किया गया था वह असफल हो गया है। तो क्या इसी वैज्ञानिक सफलता पर हम सभी इतरा रहे हैं? बोलिये।

२. देखिये, जरा जोर से न बोलें?

सिनेमाघरों, रेलवे स्टेशनों, छापाखानों, हवाई अड्डों तथा फैक्टरियों में रात दिन इतनी आवाज तथा इतनी ध्वनि उत्पन्न होती रहती है कि किसी अनभ्यस्त व्यक्ति के लिए कोई बात सुन पाना, कुछ कह पाना या सोच पाना कठिन हो जाता है। किन्तु कुछ लोग

इतराकर कहते हैं कि आदमी क्या नहीं कर सकता। आखिर उन सभी जगहों में इतने वर्षों से कार्य कैसे हो रहा है? किन्तु यह बताना आवश्यक प्रतीत होता है कि ऐसा सोचकर या कहकर मनुष्य अपनी अलक्षित विपत्तियों को बढ़ा ही रहा है।

जो लोग ऐसा कहते हैं कि सभी प्रकार के शोर-गुल में रहकर कार्य कर पाना सम्भव है, वे भूल करते हैं। वास्तव में शोरगुल कई प्रकार की ध्वनियों के कारण होता है। यदि ध्वनि सामान्य प्रकार की हुई यथा टाइपराइटर से टाइप करने की ध्वनि, जिसकी मात्रा ६५ फोन तक होती है तो इस स्थिति में रहकर भी काम करने वाले व्यक्ति अपने कार्य को दक्षतापूर्वक सम्पन्न कर सकते हैं। इस ध्वनि से यदि कोई बुरा प्रभाव पड़ सकता है तो वह काम करने वाले का ध्वनि के प्रति उदासीनता एवं अपने कार्य में तल्लीनता द्वारा निष्प्रभावित हो जाता है। किन्तु यदि ध्वनि ९० या १२० फोन तक की हुई तो उसका बुरा प्रभाव पड़ कर ही रहता है, भले ही फैक्टरियों में कार्य करने वाले यह दम भरें कि उन पर कोई बुरा प्रभाव नहीं पड़ रहा। ऐसी ध्वनि का प्रभाव रक्त-प्रवाह पर पड़ता है जिससे धीरे-धीरे रक्त-चाप बढ़ने लगता है। अन्त में यह भीषण रूप धारण कर लेता है। इसी दृष्टि से फैक्टरियों तथा अन्य कोलाहल पूर्ण स्थानों में ध्वनि के प्रभावों का चिकित्सा की दृष्टि से गहन अध्ययन हो रहा है।

आप धीरे-धीरे बोल कर इस दिशा में योगदान दे सकते हैं।

३. शाकाहारियों की संख्या

भारत में ही शाकाहारी नहीं हैं किन्तु ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि दिनों दिन शाकाहारियों की संख्या में वृद्धि हो रही है। इस समय विश्व भर में ८००० लाख शाकाहारी हैं। इस वर्द्धमान संख्या का मुख्य कारण आर्थिक बताया जाता है। चूँकि विश्व की जनसंख्या द्रुत गति से बढ़ रही है अतः उसकी भोज्य-आवश्यकता की पूर्ति उसी अनुपात में नहीं हो रही। इसका परिणाम यह होता है कि लोग शाकाहारी होते जा रहे हैं। यदि मांस, अंडे अथवा मछली उसी अनुपात में अधिक मिलें तो कोई भी शाकाहारी न बने। यही नहीं, उल्टे जो शाकाहारी हैं वे भी मांसाहारी बन जायँ।

शाकाहारियों के लिए एक ही समस्या है और वह है उचित मात्रा में प्रोटीन की प्राप्ति। चूँकि मांसाहार के द्वारा प्रोटीनों की समुचित प्राप्ति सम्भव है इसीलिए अब भी मांसाहार की ओर लोगों की प्रवृत्ति है। यदि समुचित मात्रा में अलग से प्रोटीन प्रदान किये जाने की व्यवस्था हो जाय तो शाकाहारियों के लिए सन्तुलित भोजन सहज ही उपलब्ध हो जाय। किन्तु हमारे देश में यह अभी सम्भव नहीं।

४. जीवों में चुम्बकीय सुई?

आपने कुतुबनुमा की सुई को उत्तर-दक्षिण दिशा में रुकते देखा होगा। उसमें चुम्बक लगा रहता है जो सदैव एक ही दिशा में सुइयों को रखता है। ठीक इसी प्रकार पृथ्वी के भीतर भी एक बहुत बड़ा चुंबक विद्यमान है। यह चुम्बक इतना प्रबल है कि न केवल धातुओं को ही प्रभावित करता है वरन् पृथ्वी पर रहने वाले जीवधारियों को भी कुछ हद तक प्रभावित करता देखा गया है। विभिन्न ऋतुओं में पक्षियों का देशांतर गमन और फिर पुराने आवासों में उनका लौटना पृथ्वी की चुम्बकन शक्ति पर ही आधारित बताया जाता है। यही नहीं, कुछ कीड़े अपने घरों को सदैव ही उत्तर-दक्षिण दिशा में ही बनाते हैं।

किन्तु इनसे भी पृथक् एक विचित्र गुण का पता वैज्ञानिकों को चला है। उदाहरणार्थ, जर्मनी के प्रोफेसर बेकर ने दक्षिणी अफ्रीका से लाई गयी 'दीमक-रानी' के एक झुण्ड को एक बड़े काँच के बर्तन में बुरी तरह से ठूँस कर भर दिया, किन्तु कुछ ही क्षणों के बाद उसने देखा कि वे रानियाँ बर्तन की पेंदी पर बैठ गयी हैं और उन सबों के शरीर या तो पूर्व-पश्चिम

अथवा पश्चिम-पूर्व की ओर विन्यासित हो गये। यह देख कर उसने बर्तन को ९०° कोण तक घुमाकर फिर से उनके बैठने की दिशा का अवलोकन किया। इस बार फिर वे पूर्व-पश्चिम या पश्चिम-पूर्व दिशा में बैठी पाई गयीं। फलतः उसने तर्क किया, 'क्या इन जीवों के भीतर कोई चुंबकीय सुई विद्यमान है ?'

किन्तु यह अवलोकन 'दीमक-रानी' पर ही सत्य उतरते हों यह बात नहीं। कबूतर, सालमन मछली, मधुमक्खी, कछुए आदि इसी प्रकार आचरण करते देखे गये हैं। कुछ पक्षी सूर्य के अनुसार दिन तथा रात्रि के समय में समान रूप से अपना सही-सही मार्ग ढूँढ़ निकालने में समर्थ पाये गये हैं। स्पष्ट है कि ऐसी प्रेरणा उन्हें चुंबकीय अनुभूतियों के अरिरिक्त भला और कैसे प्राप्त हो सकती होगी ? किन्तु इसको सिद्ध करने के जितने भी प्रयत्न किये गये वे असफल सिद्ध हुए हैं। एक प्रयोग में पक्षियों के सर के ऊपर चुम्बक लटकाये गये और यह जानने का प्रयत्न किया गया कि इससे पक्षियों में कोई बेचैनी उत्पन्न होती है या नहीं। किन्तु इसका कोई प्रभाव नहीं दिखाई पड़ा। इसी प्रकार अन्य प्रयोगों को कृत्रिम चुम्बकीय क्षेत्र में रखकर प्राकृतिक चुम्बक क्षेत्र की दिशा को परिवर्तित करके परीक्षण किये गये। किन्तु कोई परिणाम प्राप्त नहीं हुए।

इतना ज्ञात होने पर भी जर्मन प्रोफेसर बेकर ने 'दीमक-रानियों' के साथ अपने प्रयोग प्रारम्भ किये। उन्होंने पृथ्वी को चुंबकीय शक्ति से इन प्राणियों को पृथक् रखने के लिए उन्हें अत्यन्त मोटी इस्पात की दीवारों वाले बक्से के भीतर रखा। इसका परिणाम यह हुआ कि ये प्राणी अस्त-व्यस्त दिखाई देते रहे, किंतु जैसे ही उसने इस बक्से के भीतर एक चुम्बक लाकर रख दिया, वे हिलते-डुलते देखे गये और कुछ ही समय में वे इस चुंबक के साथ ९०° का कोण बनाते हुए बैठ गये। ऐसा क्यों हुआ, इसकी व्याख्या नहीं की जा सकी।

इसी प्रकार ज्यूरिख में डा० एफ० स्नाइडर ने धरती के भीतर छेद बनाकर रखने वाले कुछ प्राणियों (Cock Chafers) के साथ प्रयोग किये। उन्होंने इन प्राणियों को छेद से निकाल कर गर्माया और देखा कि कुछ क्षणों बाद वे एक निश्चित दिशा में ही बैठ गये। ऐसा ही एक प्रयोग अमरीका के तीन जीव विज्ञान वेत्ताओं, ब्रोएन, बेनेट तथा बेब ने किये। उन्होंने झील के दलदल में रहने वाले घोंघों को चुना। उन्होंने देखा कि वे प्राणी पृथ्वी की चुम्बकीय दिशा को थोड़ा-थोड़ा पहिचानते हैं क्योंकि वे सदेव ही उत्तर की ओर प्रस्थान करते रहे, किन्तु दिन के समय यह गति बदलती रही। ठीक उसी प्रकार जैसे घड़ी की सुई। इससे स्पष्ट है कि जीवों के भीतर की चुम्बकीय सुई सदैव पृथ्वी की चुम्बकीय शक्ति द्वारा प्रभावित होकर उसी दिशा की ओर आकृष्ट होती रहती है।

५. घड़ियों के डायल चमकना बन्द न कर दें :—

मैडम क्यूरी द्वारा रेडियधर्मी पदार्थ रेडियम की खोज के उपरान्त घड़ियों में अंधकार में चमकने वाले पदार्थों (ल्यूमिनोफोर) के साथ सूक्ष्म मात्रा में रेडियम मिलाया जाने लगा। इससे के रात्रि के समय भी घड़ी की सुइयों की स्थिति द्वारा समय पढ़ा जा सकता है किन्तु द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात् इतने चमकने वाले पदार्थों का व्यवहार इस कार्य के लिए किया जाने लगा कि आजकल जाड़े की रात्रियों के घने अंधकार के समय शायद ही किसी घड़ी में ठीक से समय पढ़ा जा सके। इसका कारण यह है कि प्रथम परमाणु बम विस्फोट के दुष्परिणामों एवं रेडियधर्मी विकिरणों के कुप्रभावों के प्रति वैज्ञानिक लोग जागरूक हो रहे हैं और रेडियम जैसे ऐल्फा-किरण उत्सर्जक को घड़ियों में प्रयुक्त किये जाने की राय नहीं देते।

रेडियम अथवा एल्फा-किरण उत्सर्जक के स्थान पर वैज्ञानिकों ने बीटा किरण उत्सर्जकों को इस कार्य के लिए प्रयुक्त करना प्रारम्भ कर दिया है। बीटा किरणें उतनी हानिकर नहीं होती। ऐसे दो स्रोत हैं ट्राइटियम, जिसमें भारी हाइड्रोजन का समस्थानिक होता है और प्रोमेथियम, जिसका परमाणु भार सबसे हल्के तत्व हाइड्रोजन से १४७ गुना अधिक है। चूँकि ट्राइटियम गैस रूप में है अतः चमकने वाले पदार्थ जिंकसलफाइड के कणों के साथ मिला पाना कठिन है। इसके कारण ट्राइटियम को पहले किसी कार्बनिक यौगिक की सतह पर अधिशोषित करा लिया जाता है, तब इस कार्य के लिए प्रयुक्त किया जाता है। किन्तु ऐसा करने पर भी चमकने वाला पदार्थ १२ वर्ष से अधिक तक नहीं चमकता रह सकता। साथ ही ट्राइटियम के ६००० अंश उतने प्रभावशाली हैं जितना कि रेडियम का एक अंश। इस प्रकार ऐसी घड़ियाँ जिनमें ट्राइटियम लगा होगा, धीरे-धीरे रात में चमकना बन्द कर देंगी।

प्रोमेथियम को जिंकसल्फाइड के साथ लवण रूप या हाइड्राक्साइड रूप में सरलता से मिश्रित किया जा सकता है। इससे प्राप्त उत्सर्जन ट्राइटियम से ५० गुने तीव्र होते हैं, किन्तु इसका अर्ध जीवन काल २$\frac{1}{4}$ वर्ष से अधिक नहीं होता। इतना होने पर भी आजकल घड़ियों के उद्योग में प्रोमेथियम का ही व्यवहार होता है और अमरीका की न्यूक्लीय भट्टियों से सहजात के रूप में इसकी प्रचुर मात्रायें उपलब्ध भी हो रही हैं। इन सबका परिणाम यह हुआ है कि युद्ध काल के पूर्व जितनी घड़ियाँ बनी हैं वे आजकल की बनी हुई घड़ियों से अधिक काल तक रात्रि में चमकती रहें तो कोई आश्चर्य की बात नहीं।

आप घड़ियों के खरीदते समय चौकन्ने रहें। देखिये, आधुनिक चमक-दमक कभी स्थायी नहीं रह सकती।

६. कहीं आप पायरिया के शिकार तो नहीं हैं ?

हाल ही में कील नगर में जर्मनी भर के ४०० डाक्टरों ने मिलकर पायरिया (कैरीज) के सम्बन्ध में विचार-विमर्श किया है। अभी तक यह सोचा जाता था कि दाँतों के ऊपर जो "पतली त्वचा" होती है उसे यदि हटा दिया जाय तो वह फिर बढ़कर पूरी हो सकती है और उसी के कारण दन्त रोग होते हैं किन्तु अब नवीन विधियों द्वारा यह ज्ञात हुआ है दाँतों के ऊपरों की यही त्वचा दाँतों को रोगों से बचाती हैं। यह त्वचा ऐसे जीवाणुओं से बनी होती है जो कैलसियम को जमा कर सकती है और इस प्रकार उसके ऊपर एक दूसरी परत चढ़ सकती है। यह दूसरी परत ही दाँतों की रक्षा करती है। किन्तु इस परत के चढ़ने के पूर्व ये ही जीवाणु दन्त रोग को उत्पादन करने वाले होते हैं।

आश्चर्य की बात है कि वे ही जीवाणु पहले रोग उत्पन्न करते हैं और बाद में दाँतों की रक्षा भी करते हैं। अतः आप दाँतों के सम्बन्ध में जागरूक रहें।

हानिकारक कीट पतंगों का विनाश

रमेश चन्द्र तिवारी

रेशम, लाख, मधुमक्खी इत्यादि लाभदायक कीड़ों की अपेक्षा प्रकृति में हानिकारक कीड़े-मकोड़ों की संख्या अधिक है। मनुष्य और पशु-पक्षी ही नहीं शस्य तथा वनस्पति तक इन हानिकारक कीटों के प्रभाव से नष्ट हो जाती हैं। कुछ कीड़े अपनी सूँड़ द्वारा मनुष्यों एवं पशुओं के खून में भयानक रोगों के जीवाणु अंकुरित कर देते हैं, तो कुछ खड़ी फसल की लहलहाती बालों का दूध चूस लेते हैं। कुछ पौधों की जड़ों, तना तथा डालों को काट देते हैं तो कुछ उनकी हरी-हरी पत्तियों और फूलों को चाट जाते हैं। इतना ही नहीं, टिड्डी जैसे भयानक कीड़ों के आक्रमण से तो झाड़ी से लेकर आम, महुआ, पीपल, बरगद जैसे ऊँचे-ऊँचे वृक्षों तक में तने तथा डालों के अतिरिक्त कुछ नहीं बच सकता। मलेरिया, फाइलेरिया, प्लेग, हैजा तथा चेचक जैसे भयानक रोगों को फैलाने तथा पैदा करने में क्रमशः मच्छर, पिस्सू तथा मक्खी जैसे कीट ही तो हाथ बटाते हैं।

इन्हीं हानिकारक-कीट पतंगों के कुप्रभाव से बचने के लिए मनुष्य ने प्रारम्भ से ही नियंत्रण की अनेक विधियाँ ढूँढ़ निकालीं। आज कल नियन्त्रण की निम्न विधियाँ मुख्य रूप से प्रयुक्त हो रहीं हैं :—

(१) यान्त्रिक नियन्त्रण
(२) जैविक नियन्त्रण
(३) पारिस्थितीय नियन्त्रण
(४) रासायनिक नियन्त्रण

प्रथम विधि के अन्तर्गत, हाथ द्वारा पकड़ कर, जाल में फँसाकर, धुआँ कर के अथवा जलती मशालों का प्रयोग करके कीड़ों को मार डाला जाता है, या उन्हें भगा दिया जाता है। इसके अतिरिक्त जुताई, सिंचाई, गुड़ाई, निकाई तथा प्रभावित फसल को काट कर भी फसलों को अधिक हानि से बचाया जा सकता है। इस विधि से २०-३० प्रतिशत सफलता मिलती है।

द्वितीय विधि में पक्षियों तथा मेंढकों तथा रेंगने वाले जीवों को बढ़ावा देकर कीड़ों को नष्ट कराया जाता है। गौरैया, कौवा, बगुला हंस, तथा अन्य पक्षी भी फसलों पर लगे फिनगों तथा अन्य कीड़ों को खा लेते हैं। **परोपजीवी** (जो कीड़ों-मकोड़ों पर ही आश्रित रहते हैं) भी कीड़ों को नष्ट करने में सहायता देते हैं। इस विधि से भी २५-३० प्रतिशत सफलता मिलती है।

आस-पास की जलवायु तथा वायु मंडल में कृत्रिम परिवर्तन करके भी कीट पतंगों का विनाश तथा प्रभाव कम किया जाता है। ताप को न्यून अथवा अधिक करके, कृत्रिम वर्षा करके, अन्धेरा या अत्यधिक प्रकाश करके जिनसे कीड़ों की वृद्धि की दशायें प्रतिकूल हो जाती हैं, उन्हें नष्ट किया जा सकता है। परन्तु जहाँ तक सफलता का प्रश्न है केवल २० से २५ प्रतिशत प्रभाव कम हो सकता है। **प्रस्तुत लेख में चतुर्थ श्रेणी की नियन्त्रण-विधि का विस्तृत वर्णन किया गया है।** रसायन विज्ञान की सहायता से आज ऐसे पदार्थ प्राप्त हो गये हैं जिनके प्रयोग से कीट पतंगों का शत-प्रतिशत विनाश

सम्भव हो गया है। जो पदार्थ इन कीट-पतंगों को नष्ट करने तथा उनके हानिकारक प्रभाव को कम करने के लिए प्रयोग में लाये जाते हैं उन्हें **कीटाणु-नाशक** तथा **रेपलेन्ट** या **इन्सेक्टीफ्यूज** कहते हैं। कीटाणु-नाशकों को सक्रियता तथा उनके होने वाले प्रभाव के आधार पर पुन: वर्गीकृत किया गया है :—

(क) सम्पर्क कीटाणु-नाशक :—वे कीटाणु-नाशक जिनकी प्रत्यक्ष क्रिया से फसलों के कीटाणु मर जाते हैं। उन्हें सम्पर्क कीटाणु-नाशक पदार्थ कहते हैं। इस श्रेणी में तमाम चूर्ण तथा तरल पदार्थ आते हैं। सूँड़ वाले अथवा अन्य चूसने वाले कीट-पतंग इसके प्रभाव से नष्ट हो जाते हैं।

(ख) उदर विष :—इस श्रेणी के कीटाणु-नाशक कीटों के उदर में पहुँच कर उनका जीवन समाप्त करते हैं। काट खाने वाले तथा दाँतों से चबाकर फसलों को नष्ट करने वाले कीटाणुओं के विनाश के लिए इनका प्रयोग किया जाता है।

(ग) धूमद वस्तुयें (फ्यूमीगेन्ट्स)— वे पदार्थ जिनकी गैस तथा गन्ध से कीटाणु या तो मर जाते हैं या भाग जाते हैं। इनका प्रयोग मुख्य रूप से गोदामों में रक्खे अनाज में लगे कीड़ों को मारने के लिए किया जाता है।

कुछ मुख्य रासायनिक कीटाणुनाशक पदार्थ

रासायनिक कीटाणुनाशक पदार्थों को दो श्रेणी में विभक्त किया गया है—

(१) अकार्बनिक कीटाणुनाशक :—(अ) आर्सेनिक यौगिक (संखिया के विष) :—अत्यन्त विषैले तात्विक आर्सेनिक तथा इनके यौगिकों का कीटाणु-नाशक पदार्थ के रूप में प्रयोग पूर्व-काल से ही किया जा रहा है। सर्वप्रथम इन्हीं पदार्थों को कीटाणुनाशक के रूप में प्रयोग किया गया। चूँकि ये मानव जाति तथा पशु-पक्षियों व फसलों के लिये घातक हैं इसलिये इनका प्रयोग सावधानी से किया जाना चाहिये।

(ब) आर्सेनिक आक्साइड :—आर्सेनियस आक्साइड जिसका रासायनिक सूत्र As_4O_6 है (इसे आर्सेनिक ट्राइ आक्साइड भी कहते हैं और As_2O_3 भी लिखते हैं तथा आर्सेनिक आक्साइड या आर्सेनिक अम्ल (As_2O_5) मुख्य रूप से इस कार्य के लिये प्रयोग में लाये जा रहे हैं। इनका प्रयोग गुड़ तथा चोकर के साथ छोटी-छोटी गोली बनाकर दाँतों से काटने वाले कीड़ों को नष्ट करने के लिये किया जाता है, परन्तु जीव-जन्तुओं के लिये प्राणघातक होने के कारण इनका प्रयोग सीमित है। ये सफेद चूर्ण के रूप में मिलते हैं।

(स) कैलसियम आर्सेनेट :—चूने के पानी तथा **आर्सेनिक पेन्टाक्साइड** के विलयन से प्राप्त कैलसियम आर्सेनेट का प्रयोग भी कीट-नाशक पदार्थों के रूप में किया जा रहा है। इनका रासायनिक सूत्र $CaHAsO_4$ तथा $Ca_3(AsO_4)_2$ है। जिसमें क्षारीय कैलसियम (प्रथम) आर्सेनेट की अधिकता रहती है। इनका प्रयोग मुख्य रूप से फसलों को हानि पहुँचाने वाले कीड़ों के लिये किया जाता है। आलू तथा कपास में लगे कीड़ों का विनाश इन्हीं से किया जाता है, क्योंकि ये फसलें कैलसियम आर्सेनेट की विषालुता से प्रभावित नहीं होती है। खेत में डालने पर उपर्युक्त पदार्थ, कैलिसयम हाइड्राक्साइड तथा H_3AsO_4 में टूट जाता है जिसमें दूसरा पदार्थ अत्यन्त विषालु है और इसी से कीड़े मरते है। फसलों पर इनका प्रभाव कम करने के लिये चूने का पानी खेत में डाल दिया जाता है।

(द) लेड आर्सेनेट :—आर्सेनिक पेन्टाक्साइड विलयन तथा लिथार्ज की अभिक्रिया के फलस्वरूप निर्मित लेड आर्सेनेट मुख्य रूप से **उदरविष** के रूप में अंगूर तथा अन्य फल-वृक्षों पर लगे कीड़ों को नष्ट करने के लिये प्रयुक्त होता है। फसलों पर विषालुता कम करने के लिये चूना तथा गंधक विलयन के साथ इसका प्रयोग किया जाता है।

(य) **पेरिस ग्रीन** :—कॉपर मेटाआर्सेनाइट तथा कापर एसीटेट के जटिल को **पेरिस ग्रीन** कहते हैं। इसका रासायनिक सूत्र $(CH_3COO)_2 Cu$ $3 Cu (AsO_2)_2$ है। व्यावहारिक मात्रा में सर्वप्रथम इसी आर्सेनिक यौगिक का प्रयोग कीट विनाशक के रूप में किया गया था। यह गहरे हरे रंग का चूर्ण होता है जो पानी में विलेय होकर सुगमता से टूट-फूट कर सक्रिय हो जाता है। परन्तु नवीन कीट विनाशकों की अधिकता के कारण इसका प्रयोग न के बराबर किया जा रहा है।

इन आर्सेनिक यौगिकों के अतिरिक्त एल्यूमीनियम आर्सेनेट, कॉपर आर्सेनेट, मैगनीसियम आर्सेनाइट, लोह आर्सेनेट, तथा जिन्क आर्सेनेट आदि का भी प्रयोग किया जाता है।

फ्लोराइड यौगिक :—सोडियम सिलिको फ्लोराइड तथा सोडियम कार्बोनेट की क्रिया के प्राप्त सोडियम फ्लोराइड (NaF) का प्रयोग तेलछटा को नष्ट करने तथा काष्ठ को दीमक आदि से बचाने के लिये किया जाता है। कैलसियम, मैगनीसियम तथा **बेरियम फ्लूओसिलिकेट** का प्रयोग **जापान बीटल** जैसे विशिष्ट कीड़ों को मारने के लिये किया जाता है।

बोरिक अम्ल तथा **बोरेक्स, मरक्यूरस** तथा मरक्यूरिक क्लोराइट, पात गोभी और गाँठ गोभी के Maggot मारने के काम में लाये जाते हैं। पोटैसियम एन्टीमनी **टारटरेट** का प्रयोग चकोतरा, प्याज तथा glaidoli पर लगे Thrips को नष्ट करने के लिये किया जाता है। अन्य अकार्बनिक यौगिक भी कीट-विनाशक के रूप में काम में लाये जा रहे हैं।

कार्बनिक कीट विनाशक पौधों से प्राप्त यौगिक

अनु-संधानों के फलस्वरूप यह ज्ञात हुआ कि **डेरिस क्राइसेन्थेमम** (पाइरेथ्रस) तथा निकोटिना जाति के पौधों में कीड़े को नष्ट करने तथा भगाने का गुण पाया जाता है। इसके अतिरिक्त कुछ और भी पौधे हैं जो कीड़ों के लिये विष हैं तथा मनुष्य और पशुओं के लिये हानिकारक नहीं है। अतः उनका भी प्रयोग कीट-विनाश के लिये किया जा रहा है।

(अ) **निकोटीन** :—लगभग २६० वर्ष पूर्व तम्बाकू के चूर्ण तथा तम्बाकू के सार को सर्वप्रथम कीट-विनाशक के रूप में प्रयोग किया गया था १८२८ में जब निकोटीन का आविष्कार हुआ तभी से इसका वृहत् उपयोग आरम्भ हुआ। दो किस्म के तम्बाकू पौधों से यह पदार्थ प्राप्त किया जाता है। निकोटीन, सफेद तरल पदार्थ है और स्वाद में अत्यन्त जलनयुत है। प्रकाश तथा हवा के सम्पर्क में आने पर यह काला होता जाता है तथा सूखकर चिपकदार गाढ़े घोल का रूप ले लेता है। अधिकतर यह सल्फेट के रूप में प्रयोग में लाया जाता है। बेन्टोनाइट चिकनी मृदा, पीट, तथा अन्य पदार्थों के साथ यह जटिल बनाता है इसलिए इनके साथ मिश्रित करके खेत में डालने पर इसकी विषालुता वर्षों तक चलती रहती है, क्योंकि यह धीरे-धीरे सक्रिय होता है। यह सम्पर्क विष तथा रेपलेन्ट दोनों रूप में प्रयुक्त होता है।

नॉरनिकोटीन एवं एनाबसीन—ये पदार्थ कुछ विशिष्ट पौधों में पाये जाते हैं तथा गुण और विषालुता में निकोटीन के समान होते हैं। निकोटीन का उत्पादन तम्बाकू के अवशेष तथा चूर्ण तम्बाकू को क्षारों से क्रिया करके और आसवन करके किया जाता है। तम्बाकू के तने, डालें तथा कूड़ा-करकट में फेंका जाने वाले अवशेष को सुखा के और पीसकर यों ही पूर्ण रूप में कीड़ों को मारने के लिए प्रयोग किया जाता है। मानव शरीर के सम्पर्क में आने पर इसके कारण **पैरालिसिस** जैसे भयानक रोग हो जाते हैं। एफिड्स

तथा अन्य कोमल शरीर वाले कीड़ों को इसी के द्वारा नष्ट किया जाता है।

(स) **पाइरेथ्रम**—सदियों से ही सूखे पाइरेथ्रम फूलों का प्रयोग कीट-विनाशक के रूप में होता रहा है। इससे पौधे दालमाटिया, जापान तथा केन्या में अधिक मात्रा में पाये जाते हैं। इनके फूलों को एक विशिष्ट वृद्धि स्तर पर तोड़कर सुखा लिया जाता है और भिन्न-भिन्न अवस्था में प्रयोग किया जाता है। यह पाइरेथ्रिन I तथा पाइरेथ्रिन II का मिश्रण है जो दो अम्लों तथा कीटो-एलकोहल की देन है। इसको कार्बनिक विलेयकों में घोलकर छिड़का जाता है। नवीन संश्लेषित कीट-विनाशक **एलथ्रिन** इसी श्रेणी का कीट-विनाशक है। पाइरेथ्रिन गाढ़े तेल के रूप में पाया जाता है। इसका प्रयोग मच्छर, मक्खी, खटमल तथा अन्य घरेलू कीटों को मारने के लिए किया जाता है। मनुष्य तथा पशुओं पर इनका कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

(द) **रोटीनोन**—पश्चिमी राष्ट्रों में (ईस्टइण्डीज, दक्षिणी अमेरिका) तमाम ऐसे पौधे पाये जाते हैं जिनसे रोटीनोन निकाला जाता है। ये पौधे शीतोष्ण तथा समशीतोष्ण जलवायु में सुगमता से पनप सकते हैं। डेरिस, लान्कोकारयस, टेफ्रोसिया, मन्डूलिया तथा मिलेटिया श्रेणी के पौधों की तमाम किस्में इस कार्य के लिए प्रयुक्त होती हैं। यह रंगहीन यौगिक है जो हवा तथा प्रकाश के सम्पर्क में आने पर अपनी विषालुता खो बैठता है। **डेग्यूलीन, सुमेट्राल; टाक्सीफेरॉल** तथा **मैलाकोल** भी इसी समूह के कीट-विनाशक हैं। मानव तथा पशु-पक्षी के लिए हानिकारक न होने के कारण यह इस कार्य के लिए प्रयोग में लाया जाता है। चूर्णरूप में **रोटीनोन** का प्रयोग **बेण्टोनाइट** तथा **ताल्क** के साथ मिलाकर खाने वाली फसलों तथा साग-सब्जियों पर लगे कीड़ों को मारने के लिए किया जाता है।

इनके अतिरिक्त **हेलेबोर** (Hellebore), **साबाडिला** (Sabadilla), Ryania sp और **क्वासिया** (Quassia) तथा **पेचोराइजस** (Pachyrhiyns) जाति के पौधे भी कीड़ों को मारने के लिए काम में लाते हैं।

संश्लिष्ट कार्बनिक कीट-विनाशक

विगत कुछ वर्षों में बहुत से नवीन और प्रभावशाली कीट-विनाशकों का रासायनिक संश्लेषण किया गया है और उन्हीं का सार्वभौमिक प्रयोग हो रहा है।

(क) **डी. डी. टी.**—इसका रासायनिक नाम **डाइक्लोरो-डाइफिनाइल ट्राइक्लोरेइथेन** है। सर्वप्रथम इसका संश्लेषण १८४७ई० में जीडलर द्वारा किया गया था। यह एक सफेद रंग का रवेदार **यौगिक** है जो जल में अविलेय है तथा कार्बनिक विलायकों में सुगमता से घुल जाता है। व्यावहारिक मात्रा में इसका उत्पादन गंधकाम्ल की उपस्थिति में क्लोरल एवं क्लोरोबेन्जीन के द्वारा किया जाता है। इसका रासायनिक सूत्र $Cl_3\ C_2H\ (C_6H_5Cl)_2$ है।

डी. डी. टी. कार्बनिक विलायकों में घोलकर, विलयन रूप में लकड़ी के पॉलिस में तथा अन्य सूखे पदार्थों के साथ चूर्ण रूप में प्रयोग किया जाता है। साधारणतया ५ प्रतिशत सान्द्रता का डी. डी. टी. घरेलू प्रयोग में लाया जाता है। इसी से अधिक सान्द्र डी. डी. टी. या तो पेड़ों प्रयोग पर किये जाते हैं या उन स्थानों पर छिड़कने के लिए जहाँ न तो पशुओं का चारा है और न गोदाम आदि। इसके अतिरिक्त **पाइरेथ्रम** तथा **कार्बनिक थायोसायनेट** में घोलकर भी अत्यन्त प्रभावित स्थानों पर डी. डी. टी. का छिड़काव किया जाता है।

डी. डी. टी से सम्बन्धित **मेथॉक्सिक्लोर** जो भौतिक तथा रासायनिक गुणों में इसी के समान है कीट-विनाशक के रूप में प्रयुक्त होता है। **टी.डी.ई** भी इसी तरह का कीट-विनाशक पदार्थ है जिसे कुछ विशिष्ट कीड़ों को मारने के लिए प्रयोग किया जाता है।

(ख) **गेमेक्सीन**—इसको बी. एच. सी., **हेक्सा-क्लोरोहेक्केन** तथा ६: ६: ६ भी कहते हैं। प्रकाश की उपस्थिति में बेन्जीन का **क्लोरीनीकरण** करने से $C_6 H_6 Cl_6$ (गैमेक्सीन) का निर्माण होता है। इसका प्रयोग भी डी. डी. टी की तरह किया जाता है। यह सफेद चूर्ण है जो सम्पर्क-विष श्रेणी में है आता। चूर्ण, विलयन, सान्द्र, पायस तथा गीले चूर्ण के रूप में इसका प्रयोग चूसने वाले कीड़ों के नियंत्रण हेतु किया जाता है।

(ग) **क्लोरडेन**—यह भी डी. डी. टी और गेमेक्सीन की तरह मुख्य रूप से सम्पर्क-विष तथा रेपलेण्ट के रूप में प्रयुक्त होकर कीड़ों से छुटकारा दिलाता है। यह गाढ़े तरल की अवस्था में मिलता है। व्यापारिक क्लोरडेन, **आयोडेन** तथा इससे मिलते जुलते तमाम यौगिकों का मिश्रण है जो स्वयं कीट-विनाशक गुण के होते हैं। इनका प्रयोग भी डी. डी. टी. की तरह किया जाता है। इसी से सम्बन्धित **एल्डिन** तथा **डाइ-एल्डिन** यौगिक जो सफेद रवेदार चूर्ण होते हैं **एसीटोन, बेन्जीन, पेट्रोलियम** के साथ घोलकर छिड़के जाते हैं। यह पानी में अविलेय है तथा पेड़ों तथा मनुष्यों के लिये भी घातक है।

(घ) **टी.ई.पी.पी. टेट्राइथाइल पाइरो फासफेट** जो कि तरल अवस्था में मिलता है सम्पर्क-विष के रूप में प्रयोग किया जाता है तथा इसके प्रयोग में सावधानी आवश्यक है।

(ङ) **पैराथियन**—यह पीले रंग का तरल है जो सम्पर्क विष का कार्य करता है और विलयन रूप में प्रयुक्त होता है।

इन संश्लेषित कीट-विनाशकों के अतिरिक्त **कार्बनिक थायोसायनेट** तथा **नाइट्रोयौगिकों** का भी कुछ प्रयोग किया जाता है। धातु जैन्थेट, **थाइयूरम सल्फाइल** तथा अन्य नाइट्रोजनीय पदार्थों का प्रयोग भी कीड़ों के मारने के हेतु किया जा रहा है।

धूमद पदार्थ (फ्यूमीगेन्टस)

वे कीट-विनाशक पदार्थ जो ठोस, द्रव और गैस अवस्था में होते हैं तथा उनके अत्यन्त विषालु वाष्प के द्वारा कीड़ों का विनाश होता है।

(क) **हाइड्रोसायनिक अम्ल**—इसका रासायनिक सूत्र HCN है यह २६ सें० पर ही गैस अवस्था में रहता है। तथा फ्यूमीगेन्ट के लिए यह तरल और गैस दोनों अवस्थाओं में प्रयोग किया जाता है, परन्तु मानव और पशुओं के लिये अत्यन्त प्राण घातक है। इसलिए इसका प्रयोग न के बराबर है।

(ख) **क्लोरोपिकिन**—इसका सूत्र $CCl_3 NO_2$ है तथा साधारण ताप पर तरल अवस्था में पाया जाता है और गैस रूप में उड़ता रहता है। विषालु गैस निकलने के कारण यह भी फ्यूमीगेण्ट का काम करता है।

(ग) **कार्बनडाइ सल्फाइड तथा कार्बन टेट्राक्लोराइड**—

ये उड़नशील तरल है तथा छोटे-मोटे कार्यों में फ्यूमीगेण्ट्स की तरह प्रयुक्त होते हैं। प्रथम द्रव ज्वलनशील है इसलिए सावधानी आवश्यक है।

इसके अतिरिक्त **मिथाइल ब्रोमाइड** $CH_3 Br$ **नेप्थलीन** (जो तारकोल उद्योग का अवशेष है) तथा अन्य क्लोरीनेटेड यौगिक को भी फ्यूमीगेण्ट्स के रूप में प्रयोग किया जाता है।

कीट-विनाशक तेल

जीव जन्तुओं तथा पौधों से प्राप्त तेल और पेट्रोलियम जैसे खनिज तेलों का प्रयोग भी कीड़ों-मकोड़ों को मारने के लिए किया जाता है परन्तु केवल खनिज तेलों का प्रयोग ही सम्भव है। मिट्टी का तेल जो पेट्रोलियम उद्योग का अवशेष है, डी.डी.टी., पाइरेथ्रम तथा गेमेक्सीन आदि के साथ मिलाकर छिड़का जाता है। इसके अतिरिक्त यह स्वयं सम्पर्क-विष रूप में घरेलू कीड़ों को मारने के लिए प्रयोग

किया जाता है। पेट्रोलियम उत्पादन में बचे हल्के, मध्यम तथा अन्य भारी तेल अंशों का प्रयोग भी इस कार्य के लिए सम्भव है। कोलतार तेल जो कोयले के भंजक आसवन से प्राप्त होता है एक सफल कीट-विनाशक पदार्थ है। इसका प्रयोग लकड़ी पर लगे दीमक, घुन तथा अन्य कीड़ों को मारने के लिए किया जाता है।

कीट-नाशकों की प्रयोग विधि—

(क) **विष की गोली बनाकर**—उदर-विषों को आकर्षक पदार्थों के साथ मिलाकर प्रयोग किया जाता है। फिनगों तथा अन्य काट-खाने वाले कीड़ों को मारने के लिए निम्नलिखित मिश्रण का प्रयोग किया जाता है :-

२५ भाग गेहूँ का चोकर

१ भाग पेरिस ग्रीन या सोडियम आर्सेनेट अथवा अन्य आर्सेनिक पदार्थ

२ भाग चोटा या गुड़ का सीरा

तथा इतना जल, कि उपर्युक्त मिश्रण की गोली बन सके। इसका १० पौण्ड प्रति एकड़ की दर से प्रयोग अत्यन्त लाभप्रद है।

विभिन्न आकर्षक पदार्थों को भिन्न-भिन्न कीड़ों को मारने के लिए प्रयोग किया जाता है, जैसे घर में कीट विनाशक प्रयोग करने के लिए लेमन तथा चोटा, चीटियों के लिये शहद, माथ्स के लिए दूध इत्यादि। इनके अतिरिक्त अल्कोहल, मीठे फल समाई एसीटेट, एसिटलडिहाइड, मीटल-डिहाइड इत्यादि भी कीट आकर्षक का कार्य करते हैं।

(ख) अकार्बनिक विलेयकों में घोलकर अथवा पाइरेथ्रम तथा अन्य तेलों के साथ मिलाकर प्रयोग

(ग) सभी दवाइयों को छिड़ककर, घोल रूप में प्रयोग करके तथा टिड्डियों को मारने के लिए हवाई जहाज से दवाई फेंककर उनको मारा जाता है।

कीट विनाशकों का चुनाव--कीड़े की जाति, रूप-रंग तथा आक्रमण करने के ढंग को ध्यान में रखकर कीट-विनाशकों का प्रयोग किया जाता है। कीट-विनाशक का चरित्र, उसकी विषालुता तथा फसलों की जाति, प्रभावित क्षेत्र को ध्यान में रखकर इनका चुनाव किया जाता है।

भौतिक विज्ञान-स्थूल से सूक्ष्म की ओर नक्षत्रों का विकिरण और पदार्थ की अन्तिम स्थिति

डा० सत्य प्रकाश

इस विस्तृत विश्व अथवा वृहत् ब्रह्माण्ड में न जाने कितने सूर्य और नक्षत्र हैं, जिनकी तुलना में छोटी-सी धरती शून्य के समान है। जिस सूर्य को हम इतना बड़ा समझते हैं, वह अपने समस्त सौर-परिवार के साथ भी विशाल विश्व में छोटा ही सा स्थान रखता है। उससे भी अधिक तेजोमय नक्षत्र और लोक इस खगोल में हैं। इन दूरस्थ नक्षत्रों और लोकों का इस वर्तमान युग में हमने परिचय उनसे निकले विकिरणों का अध्ययन करके किया है। हमारा सूर्य्य दीप्तमान पिंड है, यह पृथ्वी से तीन लाख गुना बड़ा

है। जब हमारी पृथ्वी के गर्भ में प्रतिवर्ग इंच १० करोड़ पौंड का दाब है, तो अन्य पिंडों में तो यह तब और भी अधिक होगा। सूर्य के गर्भ में तो यह दाब १ लाख गुना और ज्यादा होगा सूर्य के गर्भ में ताप १ करोड़ ५० लाख डिगरी का है। इतने ऊँचे ताप का आप अनुमान भी नहीं कर सकते। हमारी बिजली की भट्टियों का ताप ३००० डिगरी ही होता है। सूर्य के बाहरी स्तर पर ताप ६००० डिगरी का है। अगर समस्त पृथ्वी सूर्य के गर्भ में १ करोड़ डिगरी के ताप पर रख दी जाय तो यह क्षण भर में भाप बनकर उड़ जायगी।

सूर्य और खगोल के विभिन्न नक्षत्रों में द्रव्य की क्या अवस्था है, इसका ज्ञान हम उन विकिरणों के अध्ययन से प्राप्त कर सकते हैं, जो उन नक्षत्रों से हम तक पहुँचते हैं। सूर्य की रश्मि जब प्रिज्म या झाड़-फानूस वाले शीशे में से होकर निकलती है तो वह तरह-तरह के रंगों में विभाजित हो जाती है। रश्मि से हमें रंगों का स्पैक्ट्रम मिलता है। स्पैक्ट्रम में कौन-कौन सी रेखायें हैं, यह आजकल के यन्त्रों द्वारा बड़ी सूक्ष्मता से जानी जा सकती हैं। ये रेखायें हमें धरती पर घर बैठे यह बताने में समर्थ होती है कि जहाँ से वे चली थीं उन लोकों में कौन-कौन से तत्व विद्यमान हैं, अथवा द्रव्य की उन लोकों में क्या अवस्था है। सूर्य पिंड के बाहरी स्तर पर हीलियम का वातवरण है, यह बात भी इस शती के आरम्भ में इसी प्रकार पता चली। एडिंगटन नामक वैज्ञानिक ने पहले कल्पना की कि सूर्य के गर्भ में लोहा है, पर बाद को यह बात भ्रान्तिपूर्ण मानी गयी।

सूर्य इतने वर्षों से बराबर उष्मा और प्रकाश देता चला आ रहा है, फिर भी ठंडा क्यों नहीं पड़ जाता? यह समस्या वैज्ञानिकों को काफी उलझन में डालती रही है। अभी हाल में पता चला है कि सूर्य के भीतरी भाग में ३५ प्रतिशत के लगभग हाइड्रोजन है, यह हाइड्रोजन कहाँ से आया?

आज हम नई क्रान्ति के युग में हैं। परमाणुओं के विखंडन से ऊर्जा किस प्रकार प्राप्त की जा सकती है इस बात का महत्व इस युग में कौन नहीं जानता। परमाणु-बमों का रहस्य हम अच्छी तरह जानते हैं। क्या सूर्य में भी इस प्रकार के नित्य नूतन परमाणु-बम विस्फुटित होते रहते हैं, जो सूर्य को बराबर गरम बनाये रखते हैं? जब सूर्य में इतना अधिक हाइड्रोजन और हीलियम है, तो वहाँ अवश्य ही हाइड्रोजन-बम छूटते रहते होंगे, और विकिरणों द्वारा जिस ऊर्जा की कमी बराबर होती रहती है, वह पूर्ण होती रहती होगी। सूर्य में कोयला और आक्सीजन तो हो ही नहीं सकते। दो तीन हजार वर्ष में यह जलकर खतम हो गये होते और सूर्य की आग अपने शैशव काल में ही बुझ गयी होती। सूर्य में पृथ्वी के समान यूरेनियम आदि भारी धातुयें भी इतने ऊँचे ताप पर बिना खंड हुए नहीं बच सकती थीं।

१९३० ई० के लगभग एटकिन्सन और उसके सहयोगियों ने यह बताया कि सूर्य में परमाणुओं के नाभिकों वाली प्रक्रियायें हो रही हैं, गैमों ने भी इस कल्पना में सुधार किये। १९३९ ई० में बेथे (Bethe) ने यह प्रदर्शित किया कि यदि नाइट्रोजन और कार्बन उत्प्रेरक के रूप में विद्यमान हों, तो हाइड्रोजन से आसानी से हीलियम बनेगा और इस प्रक्रिया में थोड़े से द्रव्य की जो हानि बराबर होती रहेगी, उससे इतनी ऊर्जा बनेगी कि सूर्य कभी ठंडा नहीं पड़ने पावेगा।

यह मत समझिये कि सूर्य ही धधकता हुआ आग का गोला है। हमारे इस ब्रह्मांड में बहुत से ऐसे तारे हैं जिनके आगे सूर्य ठंडा माना जायगा। एडिंगटन ने अपनी सूर्य वाली कल्पना का उपयोग इन तारों से सम्बन्ध रखने वाली समस्याओं को समाधान करने के लिए किया। अब विचारकों की धारणा यह है कि नवजात तारे के शैशव काल में उसमें १ प्रतिशत आक्सीजन, नाइट्रोजन और कार्बन, १ प्रतिशत भारी

धातुयें, ५ प्रतिशत हीलियम और शेष सबका सब हाइड्रोजन होता है। हमारा सूर्य भी शैशव काल में है। उसमें जितना हाइड्रोजन है, वह ५० अरब वर्षों तक हमें गर्मी दे सकता है, पर थोड़े समय में ही (१० अरब वर्षों में) यह इतना गरम हो जायगा, कि धरती के प्राणी ही नहीं, समस्त सौर परिवार झुलस कर समाप्त हो जायगा।

इन सब तारों में हाइड्रोजन गैस बराबर हीलियम बन रही है। यह क्रिया इन तारों के गर्म भाग में बराबर चल रही है। यदि समस्त हाइड्रोजन का ९०-९५ प्रतिशत भी हीलियम बन जाय, तो यह तारे फूल उठेंगे। ब्रह्मांड में जो लाल दानव तारे हैं, जिन्हें अंग्रेजी में रेड-जायण्ट (Red Giants) कहते हैं। प्रत्येक शिशु तारा आगे चलकर दानव तारा बन जायगा, ऐसी कल्पना हम कर सकते हैं। लाल दानवों की आकृति और प्रकृति को देखकर हम यह कह सकते हैं, कि इनकी इस समय आयु कितनी है। हमारा सूर्य तो अभी बच्चा है, धीरे-धीरे यह फूलना आरम्भ करेगा, और फिर बड़ी तेजी से फूलेगा। सौर-परिवार के एक-एक ग्रह को अपने भीतर विलीन करता जायगा। पहले बुध विलीन होगा, फिर शुक्र और फिर पृथ्वी, शायद मंगल तारा भी विलीन हो जाय, सूर्य इतना फूल जायगा। सम्भवतः एक दिन वृहस्पति को भी फूले हुए सूर्य के गर्भ में विलीन होना पड़े। यह सब तब होगा, जब सूर्य का हाइड्रोजन हीलियम में परिणत हो जावे। आप यह तो जानते ही हैं, कि आज के युग का सबसे भयंकर हाइड्रोजन बम ही है। हाइड्रोजन बम का अर्थ है कि हाइड्रोजन का हीलियम में परिणत होना।

खगोल में कुछ पिंड हैं, जिन्हें हम सुपर-नोवा कहते हैं। यदि १० लाख को हम एक मिलियन या नियुत कहें तो एक-एक सुपरनोवा को नियुत-नियुत-नियुत-नियुत हाइड्रोजन बमों के बराबर समझना चाहिए। तारों के बाहरी स्तर से ऊर्जा विकिरण के रूप में बाहर निकलती रहती है, तारों में से मानों चिनगारियाँ छूट रही हों, फिर इसमें से पृथ्वी के आकार के पिंड छिटक कर कभी-कभी बाहर निकल पड़ते हैं, जो १ करोड़ मील प्रति घंटा की गति से चक्कर लगाने लगते है। इस समय मूल तारे का ताप बहुत ऊँचा पहुँच जाता है। अब यह तारा सुपर-नोवा बन जाता है। इस समय परमाणुओं के नाभिकों की क्या अवस्था हो जाती होगी, इसका अनुमान लगाना भी कठिन है। स्थूल द्रव्य कितना सूक्ष्म हो जाता है, और उस समय वहाँ की नाभिक क्रियायें किस कोटि की होती हैं, इसका विवरण देना हमारी शक्ति के बाहर है।

यह विशाल विश्व महान् से महान् होता हुआ भी सूक्ष्म से सूक्ष्म को समझने में हमारी सहायता की है।

[आकाशवाणी के सौजन्य से]

फाइबर ग्लास

[संकलित]

इधर हाल के वर्षों में ऐनक-उद्योग में, जो उल्लेखनीय प्रगति हुई है, उनमें से एक 'फाइबर ऑप्टिक्स' (ऐनक में प्रयुक्त होने वाला तन्तु निर्मित कांच) का विकास है—इसमें काँच के लम्बे और पतले फाइबरों (तन्तुओं) का उपयोग चक्षुओं और कैमरा नेत्रों तक प्रकाश और वस्तु-प्रतिबिम्ब पहुँचाने के लिए किया जाता है। यद्यपि, 'फाइबर-स्कोप' और फैल्केसि-स्कोप' काफी महंगे पड़ते हैं, फिर भी अन्तरिक्ष-यानों, हवाई-जहाजों, अस्पतालों, टेलीविजन और चल-चित्र स्टूडियो, गणक-यन्त्रों और वस्तु-निर्माण सम्बन्धी यन्त्रों में उनका अधिकाधिक उपयोग किया जा रहा है।

डाक्टर लोग आमाशय, हृदय तथा शरीर के अवयवों के भीतरी भाग को देखने के लिए फाइबर-काँच का उपयोग करते हैं। विमानचालक उड़ान के दौरान इनकी सहायता से जेट और पिस्टन इंजनों के भीतरी भाग की जाँच कर सकते हैं। औद्योगिक निरीक्षक मशीनों को खोले बिना उनके भीतरी भाग की चाँच कर सकते हैं। अमरीका का एक निर्माता फाइबर-काँच से तैयार किए गए २५ फुट तक लम्बे तथा $\frac{१}{८}$ इंच से लेकर $\frac{१}{२}$ इंच तक के व्यास वाले लचीले फाइबर-ट्यूब बेचता है। अधिकांश ट्यूबों पर सुरक्षा के लिए धातु का लचीला पतरा चढ़ा रहता है।

इस प्रकार निर्मित ट्यूब का एक सिरा उस स्थान के निकट कर दिया जाता है, जिसका निरीक्षण करना होता है। दूसरे सिरे से एक व्यक्ति वस्तु का निरीक्षण करता है। जिस वस्तु का निरीक्षण किया जाता है, उसे प्रकाशित करने के लिए ट्यूब से होकर प्रकाश फेंका जा सकता है, अथवा अन्त में छोटे-छोटे बल्ब फिट किए जा सकते हैं। चन्द्रमा के प्रकाश में भी इसकी सहायता से बिल्कुल साफ चित्र खींचे जा सकते हैं।

यह विधि किस प्रकार कार्य करती है ?

काँच-तन्तु से निर्मित विशेष प्रकार का ऐनकी-शीशा इन दो सिद्धान्तों पर आधारित है : (१) काँच जैसी पारदर्शक वस्तु के चौरस तन्तु पूर्ण अन्तर्मुखी प्रतिबिम्बन (टोटल इण्टरनल रिफ्लेक्शन) के माध्यम से प्रकाश को अत्यधिक कुशलता के साथ प्रेषित करने में समर्थ रहते हैं। (२) तन्तु-समूह के प्रत्येक तन्तु स्वतन्त्र रूप से भी प्रकाश का प्रेषण करने में समर्थ रहता है।

प्लास्टिक और सस्ता काँच काफी दूरी तक प्रकाश-किरणों को ठीक प्रकार और सही ढंग पर प्रेषित नहीं कर पाता। इस कार्य के लिए सर्वोत्तम चीज शुद्ध सफेद ऐनकी काँच होता है, जो बुलबुलों और अन्य प्रकार के दोषों से पूरी तरह मुक्त रहता है।

काँच-तन्तुओं से निर्मित सात फुट लम्बे ट्यूब में प्रविष्ट होने वाला लगभग आधा प्रकाश दूसरे छोर तक पहुँच जाता है। शेष रिस जाता है। प्रकाश की और अधिक मात्रा को रिसने से बचाने के लिए प्रत्येक काँच-तन्तु पर पारदर्शी काँच की एक पतली परत चढ़ाई जाती है। यह परत एक प्रकार की जैकेट का

काम करती है। यह परत (जैकेट) इन्सुलेटर का कार्य करती है और तन्तु-निर्मित काँच की रक्षा भी करती है।

तन्तुओं के एक लचीले बण्डल में, जिसका व्यास आधे इंच से भी कम होता है, ३ लाख से भी अधिक तन्तु हो सकते हैं। टेलिविजन-चित्र में वस्तु के लगभग २,५०,००० प्रतिबिम्बक-तत्व निहित होते हैं, अतएव, काँच-तन्तुओं द्वारा निर्मित ऐनकी शीशे द्वारा टेलिविजन-चित्र से अधिक उत्कृष्ट चित्र प्राप्त किया जा सकता है। एक अच्छे सूक्ष्मदर्शी में ५ लाख के लगभग प्रतिबिम्बिक-तत्व निहित हो सकते हैं और इसलिए उससे प्राप्त चित्र फाइबर-आप्टिक्स (काँच तन्तुओं से निर्मित ऐनकी-शीशा) से अधिक श्रेष्ठ होंगे।

काँच-तन्तुओं से निर्मित ऐनकी काँच का स्वरूप नलिका जैसा नहीं होता। प्रयोगात्मक काँच-तन्तु का एक पुंज शुण्डाकार या नुकीला होता है और मोटे छोर से क्रमशः पतला होता हुआ, पतले छोर पर नुकीला हो जाता है। यह शुण्डाकार पुंज बड़े छोर से देखने पर किसी दृश्य को ५० गुना विस्तृत कर देगा, जब कि पतले या छोटे छोर से देखने पर उसे संकुचित कर देगा। जब किसी लेंस को शुण्डाकार पुंज के एक सिरे पर और फिल्म को दूसरे सिरे पर रखा जावेगा, उसकी चित्रांकन-गति परिवर्तित हो जायेगी।

उच्चकोटि की काँच-तन्तु ऐनकें ४१८ अंश फारेनहाइट से लेकर ८०० अंश फारेनहाइट तक के तापमान के भीतर बहुत अच्छी तरह कार्य करती हैं। काँच-तन्तु ऐनकों के क्षेत्र में हुई सभी प्रगतियाँ और ऐनकों सम्बन्धी अन्य प्रगतियाँ मनुष्य के एक सब से पुराने उद्योग—काँच-निर्माण—से प्रादुर्भूत हैं। ईसा से लगभग ५,००० वर्ष पूर्व बनी मिस्र की कब्रों में चमकते बर्तन मिले हैं, जो काँच जैसी वस्तु से निर्मित प्रतीत होते हैं। ईसा से १,५०० वर्ष पूर्व तक तो पारदर्शी काँच का निर्माण एक विकसित कला बन चुका था।

बहुत वर्ष पहले काँच से बर्तुलाकार 'प्रकाश नलिकाएँ' बनने लगी थीं, जो प्रकाश को तो संचारित करती थीं किन्तु दृश्यों या रूपों को नहीं। १०० वर्ष से कुछ अधिक समय पूर्व यह बात मान ली गयी थी कि बहु-संख्यक प्रकाश नलिकाओं द्वारा किसी रूप को सम्प्रेषित किया जा सकता है, किन्तु उस समय के काँच-निर्माता इस प्रकार का कोई उपकरण बनाने में असमर्थ रहे। काँच-तन्तु निर्मित ऐनकों सम्बन्धी खोज १९२० के दशाब्द में नीदरलैंड में प्रारम्भ हुई। न्यूयार्क के रोचेस्टर विश्वविद्यालय और इलिनोय के आर्मर इण्स्टिट्यूट ने इस दिशा में गहन खोज की और अन्त में, १९५५ में, अमेरिकन ऑप्टिकल कम्पनी तत्सम्बन्धी खोज में रुचि लेने लगी और अब यह कम्पनी विश्व में इस दिशा में अनुसन्धान करने वाली सर्वप्रमुख संस्था बन गयी है।

अमेरिका में इस क्षेत्र में सबसे पहला पेटेण्ट १९३० में सी० डब्ल्यू० हैन्सेल को एक प्रकाश-नलिका-पुंज में से होकर 'चित्र-सम्प्रेषण' क्रिया सम्पन्न करने के उपलक्ष्य में दिया गया। उसके बाद तो अमेरिका और कई अन्य देशों में कई और पेटेण्ट दिये गये। इन ऐनकों में नन्हें उपकरणों से लेकर बड़े आकार के दृश्य-उपकरण सम्मिलित हैं।

काँच-तन्तु से बनी सबसे छोटी ऐनकों में एक शुण्डाकार-पुंज भी है, जिसे त्वचा के भीतर प्रविष्ट होने वाली सुई में स्थापित किया जा सकता है। इसकी सहायता से चिकित्सक चीड़-फाड़ किये बिना त्वचा के नीचे के रक्त-रन्ध्र, पेशी-तन्तु, और त्वचा के रेशों को देख सकता है।

काँच-तन्तु ऐनकों को अमेरिका में प्रतिदिन एक अन्य उपयोग में भी लाया जा रहा है। इसकी सहा-सहायता से वहाँ बैंकों में धोखा-धड़ी से बचने के लिए धन जमा करने वालों के हस्ताक्षरों की जाँच की जाती

है। इस विधि के अन्तर्गत, किसी हस्ताक्षर को बैङ्क की किताब पर संकेत के रूप में मुद्रित कर दिया जाता है। जब कोई ग्राहक बैङ्क से धन निकालता है, तब वह अपनी बैङ्क की किताब और धन निकालने सम्बन्धी पर्ची प्रस्तुत करता है। बैङ्क का कर्मचारी काँच-तन्तु निर्मित ऐनक (डिकोडर) का प्रयोग करके नये हस्ताक्षर की तुलना बैङ्क की किताब में मुद्रित हस्ताक्षर से करता है। हस्ताक्षर जाँचने की अन्य विधियों की अपेक्षा इस विधि में बहुत कम समय लगता है।

किन्तु, एक ही तरह के दो समान 'डिकोडरों' का निर्माण करना अत्यन्त कठिन है। जिन इंजीनियरों ने 'हस्ताक्षर-आरोहकों को विकसित किया है, वे एक हस्ताक्षर के २५ आरोहित पुंजों का निर्माण कर सकते हैं।

एक बड़ी अमेरिकी फर्म काँच-तन्तु से निर्मित नेत्र उपकरणों का प्रयोग ईंधन की मात्रा सूचना देने वाले उपकरणों को गैसोलिन की टंकियों में बन्द कर के मोटरों में स्थापित कर देने के बाद उनका निरीक्षण करने के लिए करती है। निरीक्षणकर्त्ता 'फाइबर-स्कोप' नामक लोचशील उपकरण को उस छिद्र में प्रविष्ट कर देता है, जिससे ईंधन भरा जाता है, और नलिकानुमा उस उपकरण को चारों ओर तब तक घुमाता जाता है जब तक ईंधन की मात्रा को सूचित करने वाला उपकरण दिखलायी नहीं पड़ जाता।

फाइबर-स्कोप को चलचित्र कैमरा की लेंस से भी सम्बद्ध किया जा सकता है। वर्तुलाकार नलिका के छोर को एक छोटे छिद्र में से होकर स्थापित किया जा सकता है, और इस प्रकार ऐसे क्षेत्रों के चित्र खींचे जा सकते हैं, जहाँ पहुँचना अन्यथा कठिन होता।

काँच-तन्तु नेत्र-उपकरणों का प्रयोग करने वाले कुछ लोग उन्हें अचूक मानते हैं। किन्तु एक विशेषज्ञ ने चेतावनी देते हुए कहा है : 'याद रखिए, यदि आप १२ फुट आकार के फाइबर-स्कोप में से देखें, तो वस्तुतः आप १२ फुट मोटे पारदर्शी पदार्थ के आर-पार देख रहे होंगे।

कुछ ही समय पूर्व काँच-तन्तु से निर्मित नेत्र-उपकरणों से देखने की विधि केवल प्रयोगशाला की वस्तु मानी जाती थी। किन्तु, अब विशेषज्ञों का कहना है कि व्यापारिक स्तर पर इन उपकरणों के निर्माण का भविष्य अमित सम्भावनाओं से परिपूर्ण है।

●●

—२७

प्रोफेसर पंचानन महेश्वरी

प्रो० बाबू लाल गुप्त
हिंदी रूपांतर—रमेशदत्त शर्मा

अनवरत संघर्ष का नाम ही जीवन है। जो कमजोर हैं वे हर मुसीबत के सामने झुक जाते हैं लेकिन सबल व्यक्ति बाधाओं पर पैर रखकर ही आगे बढ़ते हैं।

दिल्ली विश्वविद्यालय की विश्वविख्यात वनस्पति प्रयोगशाला में आधुनिकतम वैज्ञानिक यंत्रों के मध्य कार्यरत प्रो० महेश्वरी को देखकर किसी को यह कल्पना भी नहीं हो सकती कि एक दिन वह भी था, जब उनके जीवन के उषःकाल में ही अँधेरा घिरने लगा था। लेकिन जो लोग किसी ध्येय के प्रति समर्पित होकर चलते हैं, उनके जीवन में आपत्तियों का आगमन अप्रत्याशित नहीं होता।

मैं बात कर रहा हूँ, आज से करीब तीस साल पहले की। डॉ० महेश्वरी आगरा कॉलेज, आगरा में लेक्चरर नियुक्त होकर आये हैं। उनके शैक्षणिक रिकॉर्ड से प्रभावित होकर कॉलेज के अधिकारी समझ जाते हैं कि यह युवक एक प्रतिभाशाली वैज्ञानिक है और इसकी ओर विशेष ध्यान देने की जरूरत है।

और यह विशेष ध्यान ही था कि युवक महेश्वरी को जीवविज्ञान विभाग के कोने में एक कमरा अलग से मिल गया। कमरा क्या था, अगर आज का कोई विद्यार्थी देखे तो शर्म के मारे सिर झुका ले। मुश्किल से ६ फीट लम्बा और ६ फीट चौड़ा रहा होगा। छत सात फीट से ज्यादा ऊँची नहीं थी। दरवाजा था कि बन्द करने के लिए बड़े दाँव-पेंच लगाने पड़ते थे। वनस्पति विज्ञान-सम्बन्धी शोधकार्य में सूक्ष्मदर्शी, माइक्रोस्कोप के उपयोग के लिए पर्याप्त प्रकाश होना चाहिए। लेकिन इस कमरे में हवा और धूप पहुँचने की कोई गुंजाइश नहीं थी। मेरा तो यह सौभाग्य ही था कि मुझे भी इसी कमरे में डॉ० महेश्वरी के साथ जगह मिल गई, मगर शायद उस युवा वैज्ञानिक को यह काफी अखरा होगा। जरा-सी जगह और दो-दो भागीदार। कहाँ अपने यंत्र रखें, और कहाँ बैठें। ठूँस-ठाँसकर जैसे-तैसे जो भी खाली जगह निकली वह किसी भी आगंतुक को उलटे पाँव लौटाने के लिए काफी थी।

बड़े अहसान से मिली इस सुविधा का डॉ० महेश्वरी ने पूरा पूरा लाभ उठाया। कोई भी उनको कॉलेज शुरू होने से काफी देर पहले से लेकर बड़ी रात गये तक काम में जुटा हुआ देख सकता था। विद्यार्थियों के लिए ही नहीं, हम अध्यापकों के लिए भी यह बात बिलकुल नयी थी। शीघ्र ही उनकी यह साधना बड़ी संक्रामक सिद्ध हुई, और बहुतों में छूत की तरह फैल गई। हम सबको तो जैसे नया जीवन मिला और वनस्पति विज्ञान के खोज-कार्य में एक अजीब ही आनन्द आने लगा। एम. एस-सी. करने के बाद विद्यार्थी बजाय नून-तेल-लकड़ी के, अनुसन्धान की ओर खिंचने लगे। आज उनमें से अनेक हमारे देश की वैज्ञानिक प्रगति में महत्वपूर्ण योगदान कर रहे हैं। हालाँकि मैं उम्र में महेश्वरी से कुछ बड़ा ही था, मगर दिल की बात पूछें तो मैं उन्हें अपना गुरू मानता था। और अब तो सचमुच ही मुझे इसका गर्व है कि प्रो० महेश्वरी जैसे महान वनस्पतिज्ञ के सान्निध्य में मुझे कुछ सीखने का अवसर मिला। वनस्पति विज्ञान के एक अध्यापक के रूप में मैं जो भी कुछ कर सका हूँ उसका श्रेय उन्हीं को है।

आजकल जैसी अनुसन्धान-वृत्तियाँ और अनुदान आदि की सुविधाएँ उन दिनों अज्ञात थीं, फिर भी समान उद्देश्य के सूत्र में बँधे युवक अध्यापकों का एक वर्ग डॉ० महेश्वरी का अनुसरण करने लगा। जो भी थोड़ा बहुत अपने बूते का था, उसी के भरोसे लोग काम किये जा रहे थे। और जब हमारे उत्साह ने कॉलेज की दीवारें लाँघकर बाहर भी धूम मचाना शुरू किया तो अनुसन्धानकार्य की सुविधा के नाम पर कुछ रासायनिक पदार्थ तथा काँच की स्लाइड और कवर-ग्लास मिलने लगे। बायालोजी का कोई भी विद्यार्थी समझ सकता है कि अनुसन्धान जैसे वृहत् कार्य के लिए ये सब वस्तुएँ कितनी नगण्य हैं।

इन परिस्थितियों का एक और पहलू था। हम सबको पढ़ाने-लिखाने का काम और विभागीय कार्य-भार इतना उठाना पड़ता था कि कॉलेज के समय में हमारे पास 'अतिरिक्त' के नाम पर कुछ भी वक्त नहीं बचता था। इसलिए हम लोगों को पौ फटते-फटते काम शुरू कर देना पड़ता था। शाम को फिर लग जाते थे और रात तक जुटे रहते। मुझे अच्छी तरह याद है कि कभी-कभी तो प्रयोगशाला में सूर्यास्त होने तक नहीं उठते थे। मगर यहाँ भी हमारे रास्ते में दो कठिनाइयाँ थीं। पहली तो यह कि हमारे विभागाध्यक्ष ने बड़ी हिचकिचाहट के बाद, अतिरिक्त समय में काम करने के लिए एक कमरा प्रयोग करने की आज्ञा दी थी। दूसरे, हम भी नहीं चाहते थे कि रात में देर तक प्रयोगशाला में रुके रहने का अधिक ढिंढोरा पिटे। खैर, किसी तरह चार साल तक यह कार्यक्रम चलता रहा। इस बीच देश-विदेश की वैज्ञानिक पत्रिकाओं में कितने ही शोध-प्रबन्ध छपे। डा० महेश्वरी और उनके शिष्यों का

यश दूर-दूर तक फैलने लगा। सच में तो पौधों के आकृति-विज्ञान पर एक 'स्कूल' ही पनपने लगा था, हालाँकि इस नाम का कोई विभाग लिखित रूप में नहीं बना : इस मौन स्कूल के प्रथम सम्मानित विद्यार्थी थे, बी. एम. जौहरी जिन्हें आगरा विश्व-विद्यालय की प्रथम डी. एस-सी. डिग्री प्राप्त करने का सौभाग्य मिला। आजकल आप दिल्ली विश्वविद्यालय के वनस्पति विभाग में ही वरिष्ठ प्राध्यापक हैं। मेरठ में वनस्पति-विभाग की दुन्दुभी बजाने वाले आज के प्रो० बी. पुरी इस कड़ी में दूसरे थे।

लेकिन यह सब ज्यादा दिन नहीं चल सका। डॉ० महेश्वरी के खिलाफ 'युवकों को पथभ्रष्ट' करने का आरोप लगाया गया और उनके सभी साथियों को 'बिगड़ा हुआ' बताया गया। अगर बीसवीं सदी न होकर, यह सुकरात का जमाना होता तो इसी बात पर जहर पिला दिया जाता। लेकिन महेश्वरी के विरोधी इन आरोपों को साबित न कर सके। लिहाजा, इनको छोड़कर फिर नए सिरे से दुहरे दोष गढ़े गए। प्रिंसिपल से शिकायत की गई कि डॉ० महेश्वरी और उनके शिष्यों को अनुसंधान सम्बन्धी सुविधाएँ देने से वनस्पति विभाग के कोष पर बड़ा भार पड़ रहा है; और जो अध्यापक शोधकार्य में लगे हैं, वे विद्यार्थियों की पढ़ाई की ओर से लापरवाह हैं। पहला आरोप तो वास्तविक आंकड़े बता कर आसानी से झूठा साबित हो गया। दूसरा भी निराधार था। लेकिन इसके बावजूद भी उनके विरोधी एक दूसरा षडयंत्र रचने से बाज न आए।

अंग्रेजों की नौकरशाही का बोलबाला था तब। जितने भी महत्वपूर्ण पद थे अंग्रेजों ने हथियाए हुए थे। और जब कुछ खुदगर्ज भारतीय भी उनसे मिल जाते थे, तब तो उनकी तानाशाही और भी खतरनाक हो उठती थी। डॉ० महेश्वरी के साथ भी यही हुआ। पहले तो आगरा कॉलेज के तत्कालीन प्रिंसिपल झिझकते रहे, मगर जब कुछ अंग्रेज अधिकारियों से भी बढ़ावा मिला तो एक दिन सुबह ही उन्होंने डॉ० महेश्वरी को बुला भेजा। उधर तो महेश्वरी, प्रिंसिपल से बात करने आफिस पहुँचे और इधर अपने कमरे में मेरा दिल धुक-धुक कर रहा था। मैं यह अच्छी तरह जानता था कि टूट भले ही जायँ, मगर महेश्वरी अन्याय के सामने झुकेंगे नहीं। जो आशा थी वही हुआ भी। हालांकि उन पर लगाया गया कोई आरोप सिद्ध नहीं किया जा सका था, मगर फिर भी डॉ० महेश्वरी ने अपने पद को ठुकराना तय कर लिया।

इसके परिणाम, जैसा हम सोचते थे, उससे कहीं ज्यादा गम्भीर हुए। एक विद्रोही से मिलने पर ऊपर के अधिकारी कहीं नाराज न हो जायें, यह सोचकर मित्र और सहयोगी भी कन्नी काटने लगे। यहाँ तक कि डॉ० महेश्वरी के पिताजी भी खीझ उठे और उन्होंने मुझसे कहा, "पंचानन (प्रोफेसर महेश्वरी का पूरा नाम) को अपने विभागाध्यक्ष और प्रिंसिपल से झगड़ना नहीं चाहिए था।" लेकिन मैं उनसे सहमत नहीं हो सका और मुझे कहना पड़ा कि प्रत्येक स्वाभिमानी व्यक्ति को बेबात ही अपने ऊपर होते प्रहार को कम से कम रोकना तो जरूर चाहिए।

लेकिन डॉ० महेश्वरी अपने दृढ़ निश्चय से हिलने वाले नहीं थे। जब मैं उनके घर पहुँचा तो पाया कि उनका निर्णय और भी पक्का हो गया था। सुबह तीन बजे ही वे उठ गए थे, और तभी से माइक्रोटोम (सूक्ष्मदर्शी में देखने के लिए पौधों के विभिन्न भागों के अत्यन्त सूक्ष्म सेक्शन काटने वाला यन्त्र) पर कार्य कर रहे थे। मैं तो ठगा-सा रह गया। उन्होंने मुझे बताया कि क्योंकि अब उनके सामने एक संकट आ खड़ा हुआ है इसलिए और भी कठिन परिश्रम करने को आवश्यकता है। जो उच्च ईश्वरीय सत्ता में अटूट विश्वास रखता है और जिसमें कड़ी से कड़ी मेहनत करने की लगन है, वह कितने ही आँधी-तूफान क्यों न आएँ, निर्बाध गति से अपने लक्ष्य की ओर

बढ़ सकता है। महेश्वरी के साथ यह था और मेरे मुख से बरबस ही उनके लिए ये शब्द निकल पड़े—"एक दिन तुम अवश्य ही देश के अग्रगण्य वनस्पतिज्ञ बनोगे। और युवा महेश्वरी हँस पड़े। जैसे मेरी बात को हँसी में उड़ा देना चाहते हों। लेकिन बात सच होकर रही। जिसके प्रमाण हैं आज के प्रोफेसर महेश्वरी।

यह बात नहीं कि आगरा कॉलेज में रहते हुए प्रो० महेश्वरी हमेशा काम में ही जुटे रहते थे। महीने में एकाध बार हम लोग पौधे इकट्ठे करने के लिए बाहर घूमने निकलते थे। भरतपुर के पास का जंगल हमारे प्रिय पर्यटन-स्थानों में से था जो कि आगरा से करीब तीस मील दूर पड़ता है। पौ फटते ही हम लोग निकल पड़ते थे; सारा दिन वहाँ बिताते और शाम होते-होते लौट पड़ते थे। पौधे संग्रह करने के भारी साज-बाज सहित हम लोग भरतपुर शहर के बाजार में निकल पड़ते और खूब छक कर मिठाइयाँ खाते। डॉ० महेश्वरी तथा हममें से ज्यादातर लोग "रबड़ी" बहुत पसन्द करते थे। जितना "रबड़ी" उन दिनों हम एक ही बार में खा जाते थे, पहले तो उतनी अब खा नहीं सकते, और किसी तरह खा भी गए तो पेट में दर्द हुए बिना न रहेगा।

प्रोफेसर महेश्वरी को संगीत भी बहुत प्रिय था। अवकाश के समय वे अक्सर हारमोनियम बजाया करते और कुछ राग निकाल लेते थे। एक बार आगरा कॉलेज में अखिल भारतीय संगीत-सम्मेलन हुआ। सम्पूर्ण भारत के विख्यात संगीतज्ञ एकत्र हुए थे। और एक दिन तो हम दोनों ने सारी रात उस संगीत सभा में गुजार दी।

डॉ० महेश्वरी जितने कालेज में व्यस्त रहते थे, उतने ही घर में भी। सच तो यह है कि पौधों के सेक्शन काटने की जो सुविधा उन्हें घर में थी, वह प्रयोग-शाला से बहुत अच्छी थी। कई हजार रुपये की कीमत का "स्पेंसर माइक्रोटोम" उन्होंने खुद खरीद कर रखा हुआ था। गर्मियों में भी वे उसका पूरा-पूरा उपयोग करते थे। आगरा में रात का अंतिम प्रहर ग्रीष्म ऋतु में अपेक्षाकृत शीतल रहता है। उसका फायदा उठाने के लिए वे सुबह तीन बजे ही जाग कर जुट जाते थे और सूरज निकलने तक काम पर लगे रहते। उन्होंने अपनी धर्म-पत्नी श्रीमती शांति महेश्वरी को पौधों के सेक्शनों की स्लाइड वगैरह रँगना सिखा रखा था। अतः वे एक वनस्पतिज्ञ पति की सच्ची सहधर्मिणी सिद्ध हुईं।

उस समय भी डॉ० महेश्वरी के पास सिवारों से लेकर फूल वाले पौधों तक की हजारों स्लाइडों का अपार भण्डार था। माइक्रोटोम पर काम कर रहे होते, तो कोई भी आकर्षण उन्हें उठा नहीं सकता था। मुझे याद है कि एक बार डा० महेश्वरी ने पौधों के सेक्शन काटने की विधि—"माइक्रोटेकनिक" के विख्यात विशेषज्ञ प्रो० जे० सी० चेम्बरलेन को अपनी कुछ स्लाइडें भेजी थीं। इन स्लाइडों को प्रो० चेम्बर-लेन ने उत्तम कोटि का ही नहीं बताया, बल्कि उनके बदले अपनी श्रेष्ठ स्लाइडों में से कुछ डा० महेश्वरी को भेजीं।

अपनी हर स्लाइड को डा० महेश्वरी सूक्ष्मदर्शी में परख कर बड़ी बारीकी से अध्ययन करते थे और उन पर विस्तृत टिप्पणियाँ लिखते थे। यही कारण था कि बड़ी जल्दी ही वे भारतीय वनस्पतियों के मर्मज्ञ बन गए। मुझे विश्वास है कि उन दिनों बताई गयी कुछ स्लाइडों को वे आज भी नहीं भूले होंगे।

बिना सन्तुलित मस्तिष्क के कोई भी व्यक्ति सच-मुच में महान नहीं बन सकता। और डा० महेश्वरी में यह गुण युवावस्था में ही आ गया था। एक बार उनका पहला पुत्र बहुत बीमार हो गया। जो भी बढ़िया से बढ़िया इलाज हो सकता था, कराया गया। तीन दिन तक वह मासूम बच्चा जिन्दगी और मौत के बीच में झूलता रहा। कितनी ही कोशिश की गई, मगर कोई दवा कारगर न हुई। वह चल बसा। शाम

को श्मशान-भूमि से लौटने के बाद मेरे तो धीरज का बाँध टूट गया और मैं रो पड़ा। डा० महेश्वरी निर्विकार भाव से शांत चित्त खड़े थे। उन्होंने मुझसे सिर्फ इतना कहा—"ईश्वर की जो इच्छा थी वह हो गया, अब दुःख किस बात का।" और मुझे महसूस हुआ कि मेरे सामने एक ऐसा महापुरुष खड़ा है जिसने गीता के उन उपदेशों को भली प्रकार से आत्मसात कर लिया है जिनके अनुसार "ज्ञानवान व्यक्ति दुःख-सुख से प्रभावित नहीं होते—"सुख-दुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।"

यह था प्रो० पी० महेश्वरी की युवावस्था का एक चित्र। आज तो वे उन ऊँचाईयों पर हैं, जहाँ तक विरले ही पहुँच पाते हैं। आज वह भारतीय वनस्पति-विज्ञान के ही नहीं अपितु समस्त वनस्पति-विज्ञान जगत के शिरोमणि हैं। ईश्वर उन्हें चिरायु करे और वे निरंतर वनस्पति विज्ञान की प्रगति में योग देते रहें, तथा युवा शोधकर्ताओं को उस मार्ग पर चलने की प्रेरणा देते रहें जहाँ कठिन परिश्रम का एक अनोखा ही आनन्द है।

●●

१. महासागरों के तल में अतीत काल की नदियाँ

सागर और नदियों के जीव-जगत् के अधिकारी विद्वान् प्रो० जार्जी लिन्दबर्ग जिन दिनों सुदूर पूर्व में खोज कर रहे थे, तब उन्हें यह देखकर आश्चर्य हुआ कि साखालिन तथा शान्तार द्वीपों की नदियों में तथा उदा नदी में रहने वाली मछलियाँ वैसी ही जान पड़ीं जैसी अमूर नदी में पायी जाती हैं, जापान की नदियों की मछलियाँ कोरिया और चीन की नदियों की मछलियों के समान हैं। कोई मछली ओखोत्स्क सागर, जापान सागर या त्सुशिमा के जलडमरूमध्य तक को तैर कर पार कर जाय, इसकी कोई सम्भावना नहीं, क्योंकि ताजा पानी में रहने वाली मछली समुद्र के पानी में जी नहीं सकती।

अन्य अनुसन्धानकर्त्ताओं ने भी ऐसी ही खोजें पृथ्वी-मंडल में अन्यत्र की हैं। उदाहरण के लिए, पश्चिमी यूरोप, इंग्लैण्ड और आयरलैण्ड की नदियों में एक जैसे जल-जीव पाये जाते हैं, मानो उनके बीच सागर न हों और कोई मछली आसानी से राइन से टेम्स नदी की यात्रा कर सकती हो। एक ही प्रकार की मछलियाँ यूकोन और अनादिर नदियों में, मैकंजो और कोलिमा में, मलक्का, सुमात्रा और बोर्नियो में, न्यूगिनी और आस्ट्रेलिया में पायी जाती हैं।

इसे वैज्ञानिक ढङ्ग से कैसे स्पष्ट किया जा सकता है ? लिन्दबर्ग जिन निष्कर्षों पर पहुँचे हैं वे धरती पर जीवन के इतिहास से सम्बद्ध विज्ञान तथा भूगर्भ-विज्ञान से सम्बन्धित हैं।

बात यह है कि महाद्वीपों का स्वरूप सदा वही नहीं रहा जो आज है। हमारी पृथ्वी के समूचे भूगर्भीय इतिहास काल में अनेक बार बड़े-बड़े परिवर्तन हुए हैं। इस कारण से भूगर्भविदों को प्रायः पर्वतों और रेगिस्तानों में प्राचीन सागरों के जीवों के चिह्न मिलते हैं।

लिन्दबर्ग का तर्क यह है कि यदि यह बात है, तो भूगर्भविज्ञान इस पर प्रकाश डाल सकता है कि एक-दूसरी से बहुत ही दूर की नदियों में एक प्रकार की मछलियाँ क्यों पायी जाती हैं। यदि एक ही प्रकार की मछलियाँ मुख्य धरती की नदियों और उसके आस-पास के द्वीपों की नदियों में मिलें, तो यह मान लेना तर्कसंगत होगा कि जहाँ आज सागर है, वहाँ हो सकता है कि चिर अतीत काल में धरती रही हो। संक्षेप में, अतीत के चिह्नों की खोज सागर के तल पर होनी चाहिए।

वैज्ञानिक ने कहा कि मुझे सागर के तल पर पानी के नीचे वादियाँ मिली हैं। उनकी मान्यता के अनुसार ये वादियाँ चिर अतीत काल की नदियाँ हैं। किसी समय ये नदियाँ आज की नदियों से जुड़ी हुई थीं और सर्वत्र एक जैसी मछलियाँ रहती थीं। अपनी खोजों में उन्हें आमूर, साइफन, ह्वांग हो, पेंझीना और युकोन नदियों के पुराने तल मिले हैं।

उनकी निष्पत्ति पश्चिमी यूरोप और ब्रिटिश द्वीप-

समूह की नदियों पर भी पूरी तरह से लागू होती है। खोज करने वालों को सागर के तल पर अतीत कालीन राइन का डूबा हुआ भाग मिला है। सागर तल के नक्शों में अतीत कालीन सेन नदी की रूपरेखा मिलती है। किसी समय दोनों नदियाँ पश्चिम की दिशा में इंग्लिश चैनेल की ओर बहती थीं। किसी दुर्घटना में उनका मिलन-स्थल नष्ट हो गया है।

यह जो कहा जाता है कि किसी समय यूरोप और उत्तरी अमरीका स्थल द्वारा जुड़े हुए थे, इसमें कहाँ तक सच्चाई है? उनके बीच अति विस्तार वाला अटलाँटिक महासागर है जो कहीं-कहीं चार या पाँच किलोमीटर गहरा है।

अमरीकी वैज्ञानिकों को अटलांटिक महासागर के तल पर एक गहरी, टेढ़ी-मेढ़ी दरार मिली है। यह पाँच से नौ किलोमीटर चौड़ी तथा ४५०० किलोमीटर लम्बी है।

उत्तरी अमरीका और यूरोप की मछलियाँ एक ही जाति की हैं, इस आधार पर लिन्दबर्ग ने यह सुझाव पेश किया है कि अटलांटिक की दरार अतीत कालीन हडसन का डूबा हुआ भाग है। किसी समय इसमें आज के उत्तरी अमरीका, दक्षिण ग्रीन लैंड तथा आइसलैंड की अधिकांश नदियाँ गिरती थीं।

अध्ययन से पता चला है कि अतीत कालीन हडसन और अतीत कालीन राइन का कभी एक ही स्रोत आइसलैंड के पास था। लेकिन कब? मछलियों के जाति-साम्य के अध्ययन से इन घटनाओं का काल-निर्द्धारण सम्भव है। पृथक हुई नदियों की मछलियों में जाति साम्य जितना ही निकट होगा, इन नदियों का सम्पर्क उतनी ही देर से टूटा होगा। यह तय हो चुका है कि इस समय जहाँ तातार्स्की डमरूमध्य है, वहाँ करीब १० लाख साल पहले प्राचीन आमूर प्रणाली थी। शीट मछली के प्रस्तरीभूत अवशेषों से पता चलता है कि अतीतकालीन हडसन का लोप कोई ६० लाख साल पहले हो गया था।

२. महासागरों की उम्र

रेडियोऐक्टिव पदार्थों और आइसोटोपों के विदीरण की मात्रा से बिलकुल ठीक-ठीक यह तय करना सम्भव है कि ज्वालामुखियों, पर्वतमालाओं, खनिजों और अतिप्राचीन काल के पौधों के अवशेषों की आयु क्या है? अनेक प्राकृतिक रेडियोऐक्टिव आइसोटोप बढ़िया घड़ी का काम देते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय भू-भौतिकी वर्ष के दौरान रेडियम के इस उपादान के अध्ययन की ओर विशेष ध्यान दिया गया है।

सोवियत भूगर्भ-विज्ञानविदों और भू-रसायनविदों ने महासागरों के पानी में और उनके तल पर जमा मिट्टी में एकत्र रेडियम का अध्ययन किया। प्रशान्त और हिन्द महासागर में खोज का काम किया गया। दक्षिणी ध्रुव से लेकर विषुवत् रेखा तक का विशाल क्षेत्र इस खोज की परिधि में था। वैज्ञानिकों ने विशेष ध्यान लघु कणों के नमूनों की ओर दिया जिन्हें महासागर तल पर जमा होने में अनेक वर्ष लगे।

रेडियम कणों को पृथक करने करने वाले शक्तिशाली यंत्रों ने महासागर के हजारों टन पानी का परीक्षण किया। महासागर की गहराइयों में रेडियोऐक्टिवता अधिक है। चार या पाँच किलोमीटर की गहराई में पायी जाने वाली लाल मिट्टी में धरती पर पायी जाने वाली मिट्टी की मामूली किस्मों की अपेक्षा सैकड़ों गुना अधिक रेडियम रहता है। इतना अधिक रेडियम क्यों जमा होता है?

रेडियम नदियों के पानी के साथ महासागरों में आता है। इसके बाद रेडियम दूसरे कणों के साथ मिल जाता है और उनके साथ-साथ तले में जमा होने लगता है। महासागर के पानी में अनेक किलोमीटर नीचे जाने पर इन कणों में बहुत अधिक रेडियम हो जाता है और वे तले पर बैठने लगते हैं। इसीलिए गहरे पानी के तलछट में जिसे लाल मिट्टी कहते हैं, इतनी अधिक तेजस्क्रियता होती है.

अब चूँकि महासागरों में रेडियम वितरण के

नियम ज्ञात हो गये हैं, इसलिए रेडियोऐक्टिव आइसोटोपों को कम में लाने का क्षेत्र बढ़ गया है। इन 'घड़ियों' की बदौलत महासागरों की आयु ठीक-ठीक बतायी जा सकती है, तल पर मिट्टी किस गति से जमा होती है, इसका पता लगाया जा सकता है और इसका पता लगाया जा सकता है कि हमारी पृथ्वी की आबोहवा किस तरह बदलती है। प्रारम्भिक तथ्य प्राप्त हो चुके हैं। उदाहरण के लिए हिन्द और प्रशान्त महासागरों की आयु करीब १०-१५ करोड़ साल है।

खगोल वैज्ञानिक उस नक्षत्र से, जिसकी आयु का निर्धारण करना होता है, निकलने वाले प्रकाश को आकृष्ट करने के लिए, एक दूरवीक्षण यन्त्र का प्रयोग करते हैं। उसके बाद वे उस प्रकाश को एक इन्द्रधनुषी स्पेक्ट्रम में प्रसारित कर देते हैं। फिर, वे इस स्पेक्ट्रम की फोटो खींचते हैं। जिसकी गहरी रेखाएँ रासायनिक तत्वों को प्रदर्शित करती हैं, जिनमें लिथियम की रेखा भी होती है। इन रेखाओं का विश्लेषण किया जा सकता है।

इस नई विधि से सूर्य आदि नक्षत्रों के उद्भव के विषय में नवीन जानकारियाँ प्राप्त हो सकती हैं।

३. हमारी स्मरणशक्ति

किसी मनुष्य की सीखने और स्मरण रखने के लिए अब एक रासायनिक विधि का प्रयोग करना सम्भव हो सकता है।

अमेरिका के एक वैज्ञानिक का कहना है कि किसी मनुष्य की स्मरणशक्ति और सीखने की क्षमता इस बात पर निर्भर करती है कि उसके मस्तिष्कीय रन्ध्रों में 'आर० एन० ए०' अथवा 'रिबोन्यूक्लिइक नामक रासायनिक तत्व की मात्रा कितनी है। मिशिगन विश्वविद्यालय के मनोवैज्ञानक डा० जेम्स वी० मैक्कोनेल का कहना है कि यह प्रक्रिया टेप-रिकार्डिङ्ग जैसी है। किसी व्यक्ति के पास जितना ही अधिक खाली टेप उपलब्ध होगा, उतना ही अधिक वह 'अंकन' कर सकता है। इसी प्रकार किसी व्यक्ति के मस्तिष्कीय रन्ध्रों में आर० एन० ए० की मात्रा जितना ही अधिक होगी, उतनी ही अधिक उसकी स्मरणशक्ति या ज्ञानार्जन क्षमता होगी। डा० मैक्कोनेल का विश्वास है कि इस दिशा में और अधिक अनुसन्धान के फलस्वरूप अन्त में मस्तिष्क के विभिन्न विकारों से पीड़ित लोगों के उपचार में आर० एन० ए० का प्रयोग करना सम्भव हो सकता है। उन्होंने बताया कि पशुओं पर किये गये प्रयोगों से पता चला है कि शरीर के रसायनों को परिवर्तित करके सीखने की क्षमता और स्मरणशक्ति को स्थानान्तरित किया जा सकता है।

४. अणुशक्ति द्वारा पेय जल के अभाव की पूर्ति

क्या मनुष्य समुद्र के खारे पानी को व्यावहारिक और सस्ते ढंग पर पेय जल में परिणत करने सम्बन्धी अपने युगों पुराने स्वप्न को कभी साकार कर सकेगा? इस प्रश्न का उत्तर अब भ्रामक या अनिश्चित नहीं रह गया है। मनुष्य उस प्राविधिक क्षितिज के द्वार तक पहुँच गया है जो किसी समय दुर्गम्य समझा जाता था। अब उसमें उसका प्रविष्ट होना प्रायः अनिवार्य है।

आजकल खारे जल को मीठे पानी में परिणत करने के मार्ग में कोई प्रमुख प्राविधिक समस्या नहीं रह गयी है। सच तो यह है कि इस प्रकार की समस्या कभी भी नहीं रही। सदियों से छोटे पैमाने पर इस प्रकार के खारे पानी को मीठे पानी में परिवर्तित किया जाता रहा है। अरस्तू ने बहुत पहले, ईसा से ३५० वर्ष पूर्व, इस दिशा में यूनान में किये गये प्रयोगों का उल्लेख किया है।

विश्वव्यापी आधार पर खारे पानी को क्षार-रहित बनाने के मार्ग में मुख्य बाधा लागत की है, जो

इस समय इतनी ऊँची है कि आर्थिक दृष्टि से ऐसा करना उपादेय नहीं। यह लागत भिन्न-भिन्न देशों में भिन्न-भिन्न है। अमेरिका में इस लागत का औसत प्रति हजार गैलन ५ रुपये है, जब कि प्राकृतिक साधनों से पेय जल को पूर्ति की औसत लागत १ रुपये से लेकर १।। रुपये तक पड़ती है।

इस कठिनाई को दूर करने के लिए, १४ देशों के प्रमुख विशेषज्ञों की दो दिनों की गोष्ठी वियना में २३ और २४ सितम्बर १९६३ को हुई। गोष्ठी का आयोजन अन्तर्राष्ट्रीय अणुशक्ति एजेन्सी की ओर से हुआ। उसमें भाग लेने वाले प्रतिनिधियों ने ताप के स्रोत के रूप में अणुशक्ति का प्रयोग करके खारे समुद्री जल को पेय जल में परिणत करने की प्रविधि में हुई नवीनतम प्रगतियों पर विचार-विमर्श किया। उन्होंने दुहरे उद्देश्य से स्थापित अणुशक्ति-अधिष्ठानों का भी अध्ययन किया, जो खारे पानी को मीठे पानी में परिणत करने तथा बिजली उत्पन्न करने के लिए बराबर संचालित रहेंगे।

अन्तर्राष्ट्रीय अणुशक्ति एजेन्सी द्वारा आयोजित यह द्वितीय गोष्ठी थी। पहली गोष्ठी वियना में ही उसी वर्ष मार्च में हुई थी। उसमें यह स्वीकार किया गया था कि सामान्य घरेलू और औद्योगिक उपयोग के लिए खारे पानी को पेय जल में परिणत करने के उद्देश्य से अणुशक्ति का प्रयोग किया जायगा। यह बात विकासोन्मुख और विकसित दोनों ही प्रकार के राष्ट्रों के लिए वास्तविक महत्व की है।

यह प्रकृति की विडम्बना है कि संसार में पानी के असीम स्रोत उपलब्ध होने पर भी, अधिकांश जल का प्रयोग नहीं किया जा सकता, क्योंकि वह नमकीन, अपेय और खेती तथा उद्योग के लिए व्यर्थ है। मीठे पानी के स्रोत न केवल थोड़े हैं, बल्कि अत्यन्त असमान रूप से वितरित भी हैं। इस कारण, संसार के सामने एक कठिन समस्या उत्पन्न हो गयी है। विकासोन्मुख देशों को, जिनके पास पेय जल के स्रोत सीमित हैं, अपने आधुनिकीकरण सम्बन्धी प्रयासों में बराबर बाधा का सामना करना पड़ रहा है। जब तक वे समुद्र या खारे पानी के अन्य उपलब्ध स्रोतों का उपयोग करने में समर्थ नहीं होंगे, तब तक उनके लिए अपने निवासियों का भाग्य पलटना सम्भव नहीं।

इसी प्रकार, बहुत से ऐसे देश, जो उद्योग या कृषि की दृष्टि से बहुत ही विकसित हैं, अपने जल-स्रोतों का सीमा से अधिक उपयोग करने लगे हैं। यदि यही स्थिति बहुत समय तक जारी रही, तो न केवल उनके विकास की दर घटेगी, बल्कि जनसंख्या में वृद्धि होने के साथ-साथ, लोगों के रहन-सहन का स्तर भी गिर जायगा। अतः, इन राष्ट्रों को भी अन्ततः पेय जल के लिए समुद्रों की ओर जाना पड़ेगा।

संसार भर के वैज्ञानिक इस आसन्न जलाभाव के विषय में चिन्तित हैं। कुछ का विचार है कि २० वर्ष के भीतर स्थिति अत्यन्त गम्भीर हो जायगी। दूसरे वैज्ञानिक भी हैं, जिनका विचार यह है कि पानी का अभाव और भी पहले १० वर्ष में ही प्रारम्भ हो जायगा।

परम्परागत, किन्तु मंहगी विधि द्वारा पानी को क्षार-रहित बनाने वाले कार्यक्रमों के साथ-साथ अमेरिका ने बड़े पैमाने पर लाभकर ढंग से खारे जल को क्षाररहित करने के लिए अपने प्रयत्नों को भी बढ़ावा दिया है। पिछले वर्ष आन्तरिक विभाग ने अमेरिकी अणुशक्ति आयोग के सहयोग में कार्य किया और आयोग की टेनेसी स्थित ओकरिज राष्ट्रीय प्रयोगशाला में खारे पानी को पेय जल में परिणत करने विषयक अनुसन्धान और अध्ययन जारी है।

इस समस्या का अध्ययन करने के लिए अमेरिकी कांग्रेस ने पहली बार जब कोष की स्वीकृति प्रदान की, उसके बाद के ११ वर्षों में खारे पानी को पेय जल में परिणत करने की लागत प्रति हजार गैलन ५ डालर से घटकर १ डालर तक आ गयी है। आशा

है कि अनुसन्धान और ५ प्रयोगात्मक संयन्त्रों द्वारा अगले ५ वर्षों में 'समान दर' पर खारे पानी से पेय जल तैयार करना सम्भव हो जायगा।

अमेरिका इस बात के लिए उत्सुक है कि जल-परिवर्तन सम्बन्धी उसके विभिन्न प्रयोगों से प्राप्त जानकारी द्वारा न केवल अमेरिका की भावी पीढ़ियों के कल्याण में वृद्धि हो, बल्कि संसार के सभी लोग लाभान्वित हों। अतः, वह इस बात के लिए वचनबद्ध है कि वह अपनी प्रविधियों की जानकारी उन सभी राष्ट्रों को सुलभ करेगा, जो उसके लिए उत्सुक होंगे। साथ ही, वह इन धारणाओं को कार्यान्वित करने के लिए उपयुक्त प्राविधिक तथा अन्य प्रकार की सहायताएँ भी प्रदान करेगा।

विज्ञान वार्ता

१. अन्तरिक्षीय कक्षा में समानव वेधशाला

अमेरिका एक समानव वेधशाला को अन्तरिक्षीय कक्षा में स्थापित करने का आयोजन कर रहा है। कक्षागत परिक्रमा करने वाली इस वेधशाला में एक चालक होगा, जो एक महीने तक उस में रह सकेगा।

इस योजना की घोषणा करते हुए, प्रतिरक्षा मन्त्री श्री मैक्नामारा ने आशा प्रकट की कि इस अन्तरिक्षीय वेधशाला की प्रथम समानव उड़ान १९६७ के अन्तिम चरण या १९६८ के प्रारम्भ में सम्पन्न होगी। यह लगभग ३०० मील की दूरी पर पृथ्वी की परिक्रमा करेगी।

इस समानव कक्षागत वेधशाला का संक्षिप्त नाम 'एम० ओ० एल०' होगा और इसका आकार लगभग एक छोटे मकान के बराबर होगा। इसकी आकल्पना ऐसी होगी ताकि अन्तरिक्ष-यात्री उसके भीतर अन्तरिक्षीय परिधान धारण किये बगैर ही वैज्ञानिक पर्यवेक्षण और प्रयोग करने के लिए आसानी से घूम-फिर सके।

कक्षागत समानव वेधशाला एक परिवर्तित जैमिनी कैपस्यूल से सम्बद्ध होगी और टाइटन—३ नामक राकेट द्वारा अन्तरिक्षीय कक्षा में पहुँचायी जायेगी। जैमिनी कैपस्यूल का निर्माण राष्ट्रीय उड्डयन एवं अन्तरिक्ष प्रशासन दो चालकों को अन्तरिक्ष में भेजने सम्बन्धी परीक्षण के लिए कर रहा है। यह चन्द्र-यात्रा सम्बन्धी अपोलो कार्यक्रम की तैयारी में अन्तरिक्षीय संगमन-प्रविधि के परीक्षण के लिए तैयार हो रहा है।

एम० ओ० एल० की आकल्पना ऐसी होगी, ताकि परिक्रमागत वैधशाला और एक दूसरे जैमिनी कैपस्यूल को अन्तरिक्ष में परस्पर संयुक्त करना सम्भव हो जाये। ऐसा होने पर वैधशाला में भेजे गये मानव-चालक को कुछ समय बाद वहाँ से हटा कर उसके स्थान पर दूसरे चालक को पहुँचाया जा सकेगा। ऐसी क्रिया उस दशा में सम्पन्न होगी, जब अन्तरिक्षीय वेधशाला में मनुष्य की उपस्थिति उपयोगी समझी जायेगी।

२. 'सुन कर' धातुओं का परीक्षण

अमेरिका का एक वैज्ञानिक यान्त्रिक 'श्रवण-क्रिया' द्वारा धातुओं की दृढ़ता का परीक्षण करने का एक विधि की खोज कर रहा है। मिशिगन विश्वविद्यालय के मैकेनिकल इंजिनियरिंग विभाग के डा० जूलियन फ्रेडरिक दबाव के अन्तर्गत उत्पन्न धातुओं की ध्वनियों का निर्धारण करने के लिए एक विद्युतीय ध्वनि-विस्तारक यन्त्र के उपयोग का अध्ययन कर रहे हैं।

उनका कहना है : "यदि आप किसी धातु को लेकर उसे खींचें, मोड़ें, निचोड़ें या झुकायें, तो उसमें से चरचराहट की ध्वनि निकलेगी।" यह ध्वनि कुछ-कुछ उस ध्वनि से मिलती-जुलती है, जो धातु के किसी टुकड़े पर सूत का धागा रगड़ने से उत्पन्न होती है। उसे मनुष्य अपनी श्रवणेन्द्रिय द्वारा नहीं सुन सकता। वह ध्वनि बहुत ही सूक्ष्म स्पन्दन होती है और दबाव पड़ने पर अणुओं और व्यूहाणुओं के अपने स्थान से हट जाने के कारण उत्पन्न होती है।

३. नक्षत्रों की आयु निर्धारित करने की नवीन प्रविधि

कैलिफोर्निया विश्वविद्यालय की 'लिक वेधशाला' के खगोल-वैज्ञानिकों ने एक नवीन लिथियम-गणना प्रविधि विकसित की है, जिसके द्वारा सितारों और नक्षत्रों की आयु का निर्धारण किया जा सकता है। यह प्रविधि इस तथ्य पर आधारित है कि कम आयु के नक्षत्रों में लिथियम तत्वों की प्रचुरता है। लिथियम धातुओं में सबसे हल्की धातु होती है। जैसे-जैसे नक्षत्र की आयु अधिक होती जाती है, वैसे-ही-वैसे वह उत्तरोत्तर अधिक धीमी गति से लिथियम का परित्याग करता जाता है।

३. वैक्सीनों की महत्वपूर्ण भूमिका

पिछले वर्षों में विषाणु-विज्ञान के क्षेत्र में जो कुछ भी अनुसन्धान कार्य हुआ है, उसके परिणाम को व्यक्त करने के लिए उपन्यासकार टेलर काल्डवेल का यह शीर्षक सम्भवतः सर्वाधिक उपयुक्त है : 'नेवर विक्टोरियस, नेवर डिफीटेड' (विजय से सदैव वंचित परन्तु अपराजित)। मानव बनाम विषाणु के इस अत्यन्त कठिन संघर्ष में ऐसे अवसर भी उपस्थित हुए हैं जब कि कई दशकों तक वैज्ञानिक आशा और निराशा के झूले में झूलते रहे हैं।

जहाँ तक निराशा का पक्ष है, वैज्ञानिक कभी भी कोई ऐसी औषधि तैयार करने में सफल नहीं हुए जो सूक्ष्म एवं 'असली' विषाणुओं द्वारा जनित रोगों को ठीक करने अथवा उनका सन्तोषजनक उपचार करने में प्रभावशाली सिद्ध हुई हो। और आज भी इस सम्बन्ध में कोई उज्ज्वल सम्भावना दृष्टिगोचर नहीं होती।

लेकिन, आशा-पक्ष की दृष्टि से चिकित्सा-विज्ञान ने अपने एकमात्र परन्तु अमोघ शस्त्र—वैक्सीन—द्वारा विषाणुओं के विरुद्ध प्रतिरोधक संघर्ष जारी रखने में उल्लेखनीय सफलता प्राप्त की है।

वैक्सीन इतने आश्चर्यजनक रूप से सफल सिद्ध हुई है कि उन रोगों का, जो किसी समय बड़ी-बड़ी महामारियों के रूप में विशाल जन-संख्या का सफाया कर देते थे, अब लगभग समूलोच्छेद कर दिया गया है। सार्वजनिक स्वास्थ्य की देखभाल करने में वैक्सीन से अधिक उल्लेखनीय और प्रभावशाली योग शायद ही औषधि-विज्ञान के किसी अन्य पक्ष से प्राप्त हुआ हो।

ये शानदार सफलताएं उस हालत में प्राप्त की गई हैं, जब कि विषाणु इतने सूक्ष्म होते हैं कि वे केवल अत्यन्त शक्तिशाली विद्युदणु-सूक्ष्मवीक्षण यन्त्रों की सहायता से ही देखे जा सकते हैं। लेकिन, इतने सूक्ष्म होते हुए भी ये विषाणु सामान्य रोगों से लेकर अत्यन्त भयंकर और घातक रोगों के जनक होते हैं।

पशुओं में कैंसर का कारण विषाणु भी हो सकते हैं, ऐसा वैज्ञानिकों का कहना है। अभी तक वैज्ञानिकों को ऐसे कोई प्रमाण नहीं प्राप्त हो सके हैं जिसके आधार पर यह कहा जा सके कि मनुष्य को होने वाले कैंसर रोग का कारण कोई विषाणु भी हो सकता है। फिर भी, अनेक विशेषज्ञों को इस बात का दृढ़ सन्देह है कि इस प्रकार की स्थिति सम्भव हो सकती है।

इसमें सन्देह नहीं कि वैक्सीनों की इसके अतिरिक्त कोई अन्य उपयोगिता नहीं कि वे रोगों की रोक-थाम करने में सहायक होती हैं। किसी व्यक्ति के पहले से ही रोग-ग्रस्त होने की हालत में उनसे बहुधा हानि ही पहुँचती है। लेकिन स्वस्थ व्यक्तियों में वैक्सीन मानव-शरीर की रक्षा-प्रणाली को सुदृढ़ करती है ताकि विषाणुओं का आक्रमण होने पर शरीर उसको झेल सके। वैक्सीन रोगों के विरुद्ध जो सुरक्षा प्रदान करती है, उसका प्रभाव विभिन्न समयों तक कायम रहता है। कई मामलों में तो इसका प्रभाव कई वर्षों तक कायम रहता है।

चेचक, जिसके कारण किसी भी समाज के अधिकांश निवासी काल-कवलित अथवा कुरूप हो जाते थे, चेचक-निरोधक दो वैक्सीनों के आविष्कार के कारण लोपप्राय हो गई है। उत्तरी अमेरिका और यूरोप के किसी युवा डाक्टर को इस रोग से ग्रस्त रोगी शायद ही कभी देखने को मिले हों। केवल कुछेक पुराने डाक्टरों को ही किसी छुटपुट रोगी की याद हो सकती है।

पिछले कुछ वर्षों में, पोलियोमिलाइटिस निरोधक वैक्सीन के आविष्कार ने इस रोग को ख़तरनाक रोगों की श्रेणी से हटा दिया है। अभी हाल में खसरे की एक वैक्सीन (टीका) का आविष्कार हुआ है, जो अन्तिम परीक्षण में सफल उतरने के बाद संसार के सभी भागों में उपयोगार्थ वितरित की जा रही है।

उष्ण कटिबन्ध क्षेत्र में होने वाले बहुत से रोगों पर भी टीकों द्वारा नियन्त्रण प्राप्त किया जा रहा है। पीत-ज्वर पर काबू पाने के लिए तैयार की गई एक वैक्सीन को विशेषज्ञ इतनी अधिक प्रभावशाली मान रहे हैं कि उसमें शायद ही और अधिक सुधार की गुंजाइश हो। फिर भी, टीका लगाने सम्बन्धी कठिनाइयों के कारण अभी इसका पूरी तरह उपयोग नहीं किया जा सकता है।

वाशिंगटन के निकट स्थित 'यू० एस० नेशनल इन्स्टिट्यूट औव् हेल्थ' में जिसकी देख-रेख में नई वैक्सीनों का विकास किया गया है, अनुसन्धान-कार्यकर्त्ता ऐसे परीक्षणों में संलग्न हैं, जिनके फलस्वरूप कण्ठमाला रोग के विरुद्ध अधिक प्रभावशाली वैक्सीन तथा रियुबेला (जर्मन मीजेल्स) तथा कम गम्भीर परन्तु सब से अधिक परेशान करने वाला और खर्चीला विषाणु-रोग सर्दी-जुकाम निरोधक पहली वैक्सीनों का विकास हो सकेगा।

अमेरिकी औषधि-निर्माता फर्मों में काम करने वाले अनुसन्धानकर्त्ता 'मल्टी-एण्टीगन' नामक वैक्सीनों के सम्बन्ध में ऐसे नए परीक्षण कर रहे हैं, जिनसे एक ही इंजेक्शन द्वारा कई रोगों के विरुद्ध सुरक्षा प्रदान करना सम्भव हो सकेगा।

इस समय भी बाजार में एक ऐसी मल्टी-वैक्सीन आ चुकी है, जिसमें एक साथ चार वैक्सीनें मौजूद रहती हैं। इसमें एक बार सुई लगा कर ही बालकों को काली खाँसी, टिटनेस, डिफ्थीरिया और पोलियोमिलाइटिस के विरुद्ध सुरक्षा प्रदान की जा सकती है। एक ऐसी वैक्सीन तैयार की गई है, जिसमें सात टीके मौजूद रहते हैं। यह वैक्सीन चार प्रकार के शीत-

ज्वरों (इनफ्लुएन्जा) और तीन प्रकार के श्वास विषाणु-रोगों के विरुद्ध सुरक्षा प्रदान करती है।

आशावादी अनुसन्धानकर्त्ता एक ऐसी वैक्सीन के विकास की सम्भावना के बारे में विचार कर रहे हैं, जो एक इंजेक्शन से किसी व्यक्ति को जीवन भर के लिए बेक्टीरिया और विषाणु जनित २० प्रकार के रोगों के विरुद्ध सुरक्षा प्रदान कर सकेगी—इसमें सभी प्रमुख संक्रामक रोग आ जाएँगे।

इन सब सफलताओं से ऐसा प्रतीत होता है कि विषाणु-विज्ञान के सम्बन्ध में अनुसन्धान करने वाले अपनी मंजिल के निकट पहुँचते जा रहे हैं। लेकिन कभी-कभी बहुत अप्रिय ढंग से वे यह स्मरण करने के लिए विवश हो जाते हैं कि उन्हें अभी बहुत चढ़ाई चढ़नी है। १९५७ में अमेरिका में एशियाई शीत-ज्वर (इनफ्लुएन्जा) पर नियन्त्रण पाने के लिए एक वैक्सीन का विकास किया गया था। १९६२ में इस रोग के विषाणुओं की एक ऐसी कोटि का पता चला जिस पर, उक्त वैक्सीन का प्रभाव नहीं पड़ता। अतएव, इस नए खतरे का सामना करने के लिए एक नई वैक्सीन तैयार की जा रही है। लेकिन इन अस्थायी और छिटपुट असफलताओं के बावजूद विषाणुओं पर नियन्त्रण प्राप्त करने में रत वैज्ञानिक बहुत ही शानदार कार्य कर रहे हैं।

५. चुम्बकों द्वारा अदृश्य बोतल का निर्माण

अमेरिकी वैज्ञानिकों ने एक अदृश्य 'बोतल' की डिजाइन तैयार की है, जिसमें संसार का उष्णतम पदार्थ रखा जायेगा। इस बोतल में रखा जाने वाला पदार्थ है—हाइड्रोजन प्लाज्मा, जो सूर्य से भी कई गुना अधिक गर्म होता है। जब प्लाज्मा का तापमान कई करोड़ अंश तक पहुँच जाता है, तब वह स्वतः घोषित 'द्रवण-प्रतिक्रिया' नामक प्रक्रिया के अन्तर्गत अत्यधिक मात्रा में तापाणविक (थर्मोन्यूक्लियर) ऊर्जा उत्पन्न करता है। वैज्ञानिकों का कहना है कि यदि इस ऊर्जा को बिजली में परिवर्तित करना सम्भव हो जाये तो इससे संसार की विद्युत्-पूर्ति सम्बन्धी समस्याएँ सदा के लिए हल हो जायेंगी।

किन्तु प्रत्येक ज्ञात पदार्थ, जिसे प्लाज्मा को रखने के लिए बोतल के रूप में प्रयुक्त किया जा सकता है, इतने अधिक अंश के तापमान तक पहुँचने से पहले ही गल कर भाप बन जाता है। इस कारण वैज्ञानिक तप्तीकरण प्रक्रिया के दौरान प्लाज्मा को ठीक स्थान पर बनाये रखने के लिए चुम्बकों का प्रयोग कर रहे हैं। किन्तु अभी हाल तक इस तरह के चुम्बकीय बोतल चूने लगते थे। अब सैनडीगो, कैलिफोर्निया, में जनरल डाइनोमिक्स कार्पोरेशन के जनरल एटामिक डिवीजन के वैज्ञानिकों ने चुम्बकों को पुनः इस प्रकार क्रम से स्थापित किया है, ताकि उनके द्वारा ऐसे चुम्बकीय क्षेत्र बन सकें जो भीतर की ओर नतोदर और बाहर की ओर उन्नतोदर हों, जिससे उनमें रखी गयी प्लाज्मा बाहर न निकल सके। इस समय इस नये अदृश्य बोतल का परीक्षण हो रहा है।

६. नये यन्त्र द्वारा धूल की ध्वनि सुनने में सफलता

अमेरिकी वैज्ञानिकों ने एक ऐसी मशीन का आविष्कार किया है, जिसके द्वारा वायु में बहते हुए धूल-कणों द्वारा उत्पन्न ध्वनियाँ सुनी जा सकती हैं। पुष्पों से निकल कर उड़ने वाले रज-कणों से ऐसी आवाज निकलती है, जैसे कोई कागज को तोड़-मरोड़ रहा हो। वायुमण्डलीय धूल-कण तो और भी तेज आवाज पैदा करते हैं।

इस उपकरण का उपयोग उद्योगों द्वारा उन स्वच्छ कमरों (ह्वाइट रूम्स) में धूल जैसे कणों को मापने के लिए किया जायेगा, जहाँ पर विद्युदणु यन्त्रों को जोड़ कर तैयार किया जाता है। यदि यहाँ विद्युदणु यन्त्र को एसेम्बल करते वक्त धूल का अति सूक्ष्म कण भी गिर जाए, तो यन्त्र में गड़बड़ी उत्पन्न हो सकती है।

इसके अतिरिक्त कई प्रकार के फोटोग्राफ उतारने में, जब कि आकार को पहले अत्यन्त सूक्ष्म बनाया जाता है और बाद में उन्हें बड़ा किया जाता है, धूल का छोटा से छोटा कण चित्र के किसी भाग को छिपा सकता है।

इस उपकरण का विकास शिकागो स्थित इलिनौय इन्स्टिट्यूट ऑव् टैक्नोलौजी के आरमर रिसर्च फाउण्डेशन में किया गया है। इन्स्टिट्यूट में काम करने वाले एक रसायनशास्त्र, गरहड का कथन है कि इस उपकरण में एक बिजली का पम्प है, जो वायु की एक धारा को बहुत ही तेज गति से एक कांच की ट्यूब में से होकर गुजारता है। इसके साथ सम्बद्ध एक माइक्रोफोन वायु धारा से निकलने वाली ध्वनि को ग्रहण कर उसका विस्तार कर देता है।

७. खेतों में प्लास्टिक-फिल्म बिछानेवाली नई मशीन

अमेरिकी वैज्ञानिकों ने एक ऐसे कृषि-यन्त्र का विकास किया है, जो अपने आप बुवाई के लिए तैयार खेत में पोलीथिलीन प्लास्टिक की फिल्म डालता जाता है और बीज की इस तह को भेद कर जमीन में बोता चला जाता है। अमेरिका में इस मशीन की प्रारंभिक परीक्षा भी हो चुकी है।

'मल्चर-सीडर' नामक यन्त्र को चलाने के लिए मनुष्य की आवश्यकता नहीं पड़ती। इस विधि को 'मैकनाइज्ड प्लास्टीकल्चर' का नाम दिया गया है, तथा इसके आविष्कार के फलस्वरूप विशाल पैमाने पर कृषि उत्पादन के क्षेत्र में पहली बार प्लास्टिक-फिल्म को घास-फूस अवरोधक पदार्थ के रूप में इस्तेमाल कर पाना संभव हो गया है। हाथों द्वारा प्रयुक्त प्लास्टिक-फिल्म पिछले कई वर्षों से छोटे-छोटे किसानों और बागवानों द्वारा उक्त कार्य के लिए प्रयुक्त की जा रही है।

पौधों और खेत की रक्षा के लिए प्रयुक्त किये जाने वाले साधन के रूप में प्लास्टिक की यह परत घास-फूस के विकास को रोकती है, मिट्टी के तापमान को बहुधा बढ़ा देती है, बुवाई के मौसम में खेतों की मिट्टी को ढीली और भुरभुरी रखती है, पोषक तत्त्वों के क्षरण को तथा नमी को वाष्प बनकर उड़ने से रोकती है।

प्लास्टिक की इस प्रकार की परत डाल कर बड़े पैमाने पर जो फसलें उगाई जा रही हैं उनके सम्बन्ध में प्राप्त रिपोर्टों के अनुसार फसल-उत्पादन में दुगनी तक की वृद्धि हुई है। अब तक इस प्रकार की विधि का उपयोग टमाटर, खरबूजा, कुकरमुत्ता, कालीमिर्च, अनन्नास, एगप्लाण्ट, स्ट्रावेरी, शकरकंद की फसलें उगाने और अनेक फलों के पौध उगाने के लिए सफलतापूर्वक किया गया है। १९६२ की वसंत-ऋतु में पहली बार बड़े पैमाने पर कपास की फसल बोने के समय पोलीथिलीन की फिल्म काम में लाई गई।

इस प्लास्टिक-फिल्म और मल्चर-सीडर यन्त्र का विकास स्पेन्सर केमिकल कंपनी और यूनियन कारबाइड कार्पोरेशन ने मिलकर किया है। एक ही मशीन द्वारा विभिन्न चौड़ाई की फिल्में बिछाई जा सकती हैं।

यह मशीन एक ट्रेक्टर के साथ जोड़ दी जाती है। जब यह ट्रेक्टर ३ मील प्रति घण्टे की गति से खेत में चलता है तो मशीन में आगे की ओर लगी दो डिस्कें मिट्टी में नालियाँ बनाती जाती हैं। स्प्रिङ्ग से फिट किये हुए रबड़ के पहिये फिल्मों के बाहरी छोर को इन नालियों पर फैलाते जाते हैं। इसके साथ ही डिस्कों की एक दूसरी जोड़ी फिल्म को इस प्रकार मजबूत करती जाती है कि वह हवा में उड़ न सके। मशीन के सामने फिट एक हल कूड़े-करकट को इधर-उधर हटाता जाता है।

मशीन में अपने उपयोग लायक फिल्म, बीज और सीट-कवर मौजूद रहते हैं। जैसे ही ट्रेक्टर चलता है,

[शेषांश पृष्ठ १३१ पर]

पुस्तक समालोचना

(१) आवाज की कहानी : लेखक श्री व्यथित हृदय, प्रकाशक : शकुन प्रकाशन, दिल्ली-६, पृष्ठ ५५ १·६० रु० ।

"शकुन प्रकाशन" ने बच्चों के लिए सरल वैज्ञानिक साहित्य प्रकाशित करने की जो योजना बनाई है उसमें 'आवाज की कहानी' पहली किस्त है । इसके लेखक श्री व्यथित हृदय ने इसमें अत्यन्त सरल भाषा में 'आवाज' की उत्पत्ति, उसके प्रसरण, उसके भेद एवं विविध वाद्ययन्त्रों का वर्णन प्रस्तुत किया है । पुस्तक में प्रयुक्त शीर्षक बड़े मार्के के हैं—जैसे कि आवाज का घोड़ा, आवाज की बेटियाँ, आवाजें कैद में आदि । जनरुचि के लिए ऐसे शीर्षक उपयोगी हो सकते हैं किन्तु वास्तविक शिक्षा एवं ज्ञान के मार्ग में वे बाधक होंगे । 'आवाज' का अंग्रेजी समानार्थी Sound है । इसका पारिभाषिक शब्द "ध्वनि" है, अतः साधरणीकरण करके उसे 'आवाज' बना लेना और फिर उसके घोड़े, बेटियाँ···ऐसे शब्द विज्ञान के क्षेत्र में अधिक उपयोगी एवं सार्थक नहीं लगते । आशा है वैज्ञानिक विषयों पर लिखते समय न केवल जनरुचि का ध्यान रखा जावेगा, वरन् ज्ञान की ओर भी ।

(२) कीड़ों की विचित्र दुनिया : लेखक कु० रमेश प्रभाकर, प्रकाशक, शकुन प्रकाशन दिल्ली ६, पृष्ठ ५५, मूल्य १·७५ रु० ।

कीडे मकोड़ों पर हिन्दी साहित्य में अनेक पुस्तकें हैं, किन्तु इस पुस्तक की भूमिका में केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय के निदेशक की संस्तुति है—" कीड़े-मकोडों के बारे में हिन्दी में अब तक बहुत कम ऐसी पुस्तकें हैं जिनमें वैज्ञानिक जानकारी सही ढंग से दी गई हो । यह पुस्तक इस कमी को काफी हद तक पूरा करती है ।"

वास्तव में पुस्तक के सूक्ष्म कलेवर के कारण एव विषय वस्तु को दिलचस्प बनाने के फेर में "कीड़ों की विचित्र दुनिया" के लेखक अपने उद्देश्य में सफल नहीं हो पाये । पुस्तक के भीतर चित्रों की कमी है और जो चित्र हैं भी उनमें परिचय कराने वाले कोई साधन नहीं हैं । नवसाक्षरों को विज्ञान से परिचित कराने के उद्देश्य से लिखी गई यह पुस्तक तभी उपयोगी सिद्ध होगी ।

(३) विज्ञान की कहानियाँ :—लेखक: रत्नप्रकाश शील, प्रकाशक शकुन प्रकाशन : दिल्ली ६, पृ० ४८ मूल्य १·५० रु० ।

इस पुस्तक में रेलगाड़ी, मोटर, जहाज, वायुयान, राकेट, केमरा, सिनेमा, टेलीफोन, ग्रामोफोन, वायरलेस इन दस आविष्कारों का रोचक वर्णन है । आधारभूत सिद्धान्तों की विवेचना के लिये चित्र भी सम्मिलित हैं ।

नित्य प्रति में काम आने वाले इन वैज्ञानिक आविष्कारों के बारे में जानने की जिज्ञासा प्रत्येक व्यक्ति के मन में उठती है । उसको तृप्ति कुछ अंशों तक "विज्ञान की कहानियाँ" नामक इस पुस्तक से हो सकती है ।

पुस्तक की भाषा सुबोध एवं छपाई आकर्षक है ।

(४) मैं हवा हूँ, पानी और हमारा जीवन :— लेखक व्यथित हृदय, प्रकाशक शिक्षण संस्थान, नई दिल्ली; मूल्य क्रमशः १·८० तथा १·६० रु० ।

कथोपकथन की शैली द्वारा वैज्ञानिक विषयों को

रोचक ढंग से प्रस्तुत करने में श्री व्यथित हृदय बेजोड़ हैं। छोटे-छोटे शीर्षकों में 'हवा' विषयक वैज्ञानिक जानकारी को प्रस्तुत करने का उनका प्रयास सफल है। किन्तु छोटी सी पुस्तिका के भीतर पूरी जानकारी को प्रस्तुत कर पाना कठिन हो जाता है। यही इस पुस्तक में हुआ है। फिर भी चित्रों के द्वारा विषय को सरल, स्पष्ट एवं सुबोध बनाने की चेष्टा की गई है और लेखक को सफलता भी मिली है।

पानी ऐसा तरल पदार्थ है जिसको हम न केवल पीते हैं वरन् नाना प्रकार के कार्यों में प्रयुक्त करते हैं। पानी से सम्बन्धित ऐसी अनेक प्राकृतिक प्रक्रियायें हैं जो हमारे जीवन के साथ जुड़ी हुई हैं। लेखक ने "पानी और हमारा जीवन" में ऐसे तमाम शीर्षक लेकर तद्विषयक जानकारी प्रस्तुत की है जिनके द्वारा न केवल वैज्ञानिक ज्ञान प्राप्त हो सकेगा वरन् पढ़ते समय रोचकता का भी अनुभव होगा।

दोनों ही पुस्तकें नवाभ्यासियों के लिए प्रेरणा प्रदान करेंगी।

(५) **अँधेरे का शत्रु प्रकाश :—लेखक श्री व्यथित हृदय, प्रकाशक : सुभाष एण्ड कम्पनी दिल्ली, मूल्य १·६० रु०।**

इस पुस्तक में प्रकाश सम्बन्धी जानकारी अत्यन्त सरल एवं रोचक विधि से प्रस्तुत की गई है। इसमें 'छाया के खेल' तथा 'आइने के खेल' नामक शीर्षक अत्यन्त कुतूहल पूर्ण हैं। फोटो का जादू, ग्रहण क्या है, चिड़ियों की छाया क्यों नहीं दिखाई पड़ती आदि शीर्षक विज्ञान के प्रकाश विषयक ज्ञान से नये सिरे से परिचित होने वालों के लिये अत्यन्त मूल्यवान सिद्ध होंगे। चित्रों द्वारा विषय को स्पष्ट बनाने का लेखक का प्रयास सराहनीय है। यह पुस्तक पढ़ने योग्य है।

(६) **खेल भी विज्ञान भी : लेखक : योगेन्द्र कुमार लल्ला, प्रकाशक, शिक्षण संस्थान, नई दिल्ली, मूल्य १·५० रु०।**

खेलते समय ऐसी अनेक बातें होती हैं जिनकी विवेचना वैज्ञानिक सिद्धान्तों द्वारा ही की जा सकती है अत: बच्चों को इसका आभास होना चाहिए कि खेल की अनेक प्रक्रियायें ऐसी हैं जिनको समझने में विज्ञान सहायक होगा। 'खेल भी विज्ञान भी' का लेखन इसी दृष्टि से होने के कारण अत्यन्त सराहनीय है। इस पुस्तक को पढ़ कर न केवल अपने परिचित खेलों के सम्बन्ध में बच्चे जानकारी प्राप्त करेंगे वरन् और भी नये-नये खेल खेलने प्रारम्भ कर सकेंगे। "पानी से मोमबत्ती जलाना", "आटे का बम", 'पानी में लटकता अंडा", "अदृश्य पत्र" इन शीर्षकों के अन्तर्गत दी गई जानकारी बड़ों-बड़ों का चित्त आकर्षित कर लेती है।

सचित्र होने के कारण पुस्तक की उपयोगिता बढ़ गई है।

(७) **टेलीविजन की कहानी** : लेखक : राजीव सक्सेना, प्रकाशक राम प्रसाद एण्ड सन्स, आगरा, मूल्य १·२५ रु०।

यह पुस्तक प्रौढ़ों एवं किशोरों के लिए उपन्यास शैली में लिखी गई हैं। शैली रोचक है और भाषा सरल। सचित्र होने के कारण पुस्तक में प्रतिपादित विषय साकार हो सका है। यह पुस्तक सर्वथा संग्रहणीय है।

(८) **उड़न तश्तरी:** लेखक रमेश वर्मा, प्रकाशक रामप्रसाद एण्ड सन्स, आगरा, मूल्य २ रु०।

६३ पृष्ठों की इस सचित्र पुस्तिका में उड़न तश्तरियों के सम्बन्ध में इतनी जानकारी प्रस्तुत की गई है कि आज तक हिन्दी में प्रकाशित किसी भी पुस्तक या पत्रिका में नहीं मिल पावेगी। न केवल भारत में वरन् अन्य देशों में भी उड़न तश्तरियाँ अत्यन्त कुतूहलपूर्ण बनी रही हैं। वे क्या हैं, कहाँ से आती हैं, कैसे आती है, कब-कब आती हैं—ये ऐसे प्रश्न हैं जो सबों के मस्तिष्क में घूमते रहते हैं। इन सभी प्रश्नों का समाधान इस पुस्तक में मिलेगा। इस पुस्तक की सामग्री अंग्रेजी में उपलब्ध साहित्य पर आधारित होने के कारण प्रामाणिक है।

पुस्तक की शैली रोचक एवं भाषा मँजी हुई है।

(६) **सामान्य विज्ञान** : लेखक कृष्ण किशोर श्री वास्तव, प्रकाशक सांची प्रकाशन भोपाल, मूल्य ५ रुपये मात्र।

यह पुस्तक मध्यप्रदेश द्वारा निर्धारित उच्चतर माध्यमिक कक्षाओं के सामान्य विज्ञान के नवीन पाठ्य-क्रम के आधार पर लिखी गई है। यह पुस्तक पाँच खण्डों में विभाजित है। प्रथम खण्ड में पृथ्वी, भूमि, कृषि पौधों विषयक ज्ञान प्रस्तुत किया गया है। द्वितीय खण्ड में वायु, जल, द्रव्य, धातुयें आदि वर्णित हैं। तृतीय खण्ड में ऊष्मा, प्रकाश, ध्वनि, चुम्बक, विद्युत परमाणु शक्ति पर विवेचना है। चतुर्थ खण्ड में प्राणियों के जीवन प्रक्रम पर सविस्तार वर्णन है। पंचम खण्ड में मानव शरीर, उसके स्वास्थ्य एवं भोजन पर विचार किया गया है।

पुस्तक ४४ अध्यायों में विभाजित है। कुल ३२५ चित्र हैं। स्पष्ट है कि पुस्तक को सूचनाप्रद बनाने का सम्यक प्रयास हुआ है। पुस्तक में प्रयुक्त भाषा एवं शैली सर्वथा ग्राह्य हैं। लेखक बधाई का पात्र है क्योंकि उसने कम से कम स्थान में अधिक से अधिक जानकारी संजोने का प्रयास किया है।

●●

शेषांष पृष्ठ १२८ का

एक सुई फिल्म की परत में घुस जाती है और बीज को थोडी-थोड़ी दूरी के अन्दर से मिट्टी में दबाती जाती है। एक ट्रैक्टर से इस प्रकार की चार 'मल्चर-सीडर' मशीनें जोड़ी जा सकती हैं। फसल के बाद 'डिचर्ट स्टर्न ह्वीलर' नामक एक दूसरी मशीन, जिसमें कांटे लगे रहते हैं, इस फिल्म को खेतों में समेट लेती है और इस प्रकार जमा की गई पोलीथिलीन फिल्म जला दी जाती है।

८. देवदार वृक्ष की राल से मजबूत प्लास्टिक का निर्माण

अमेरिकी कृषि-विभाग के वैज्ञानिकों ने राल उत्पन्न करने वाले देवदार वृक्षों की राल से अत्यधिक मजबूत कोटि का प्लास्टिक तैयार करने के बारे में सफल परीक्षण किये हैं। इस प्रकार के देवदार वृक्ष अमेरिका के दक्षिणी राज्यों में विशेष रूप से पाये जाते हैं। इस प्लास्टिक को तैयार करने की क्रिया पेट्रोलियम से प्लास्टिक तैयार करने को प्रक्रिया से सरल है तथा इस प्रक्रिया द्वारा निर्मित प्लास्टिक पेट्रोलियम प्लास्टिक से अधिक हल्का, मजबूत और टिकाऊ होगा।

इस कोटि के प्लास्टिक में मजबूती के साथ-साथ प्रहार सहन करने की भी काफी क्षमता विद्यमान है। मोटर-ट्रकों, मोटरों तथा अन्य प्रकार की गाड़ियों की बाडी तथा हिस्से तैयार करने के लिए यह विशेष उपयुक्त है। यह पानी भी कम सोखता है तथा अम्लों के प्रभाव को भी सहारने में समर्थ है।

अनुशासन बनाम अनुशासनहीनता

क्या शिक्षा और क्या राजनीति दोनों ही क्षेत्रों में अनुशासनहीनता जोर पकड़े हुए है। प्रथम क्षेत्र में विद्यार्थी बदनाम हैं तो दूसरे क्षेत्र में अनुभवी राजनीतिक नेता। आश्चर्य की बात है कि राजनीति जिसका सम्बन्ध विभिन्न राजनीतिक दलों से है वह भी इस प्रकार अनुशासनहीनता की व्याधि से पीड़ित होकर जर्जरित हो चुकी है। प्रत्येक राजनीतिक दल के अनुयायी किसी न किसी अनुशासन-संहिता द्वारा निर्देशित होते हैं अतः उनमें अनुशासनहीनता का उदय होना न केवल शोच्य वरन् राष्ट्रहित के लिये आपद्-जनक है। यदि ऐसे प्रौढ़ विचारों वाले एवं अनुभवी लोगों में अनुशासनहीनता घर कर रही हो तो अवश्य ही वह अनुशासन के विरुद्ध प्रतिक्रिया मानी जावेगी।

अनुशासन कोई स्थिर आचार संहिता नहीं है। देश एवं काल के अनुसार उसमें परिवर्तन होने आवश्यक हैं। अतः जब कट्टरपंथियों द्वारा उसे स्थिर बनाये रखने की हठधर्मिता की जाती है तो तथाकथित 'अनुशासनहीनता' का उदय होता है। किन्हीं-किन्हीं दशाओं में तो यह 'क्रांति' या 'विद्रोह' की पर्याय होती है। किन्तु वर्तमान युग में अनुशासनहीनता से तात्पर्य है मर्यादा के विरुद्ध कार्य करने की प्रवृत्ति। ऐसी प्रवृत्ति अवश्य ही घातक है और इसका डटकर विरोध होना चाहिए।

छात्रों पर अनुशासनहीनता का दोषारोण कोई नवीन घटना नहीं। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् छात्रों की राष्ट्रीयता को उचित मोड़ न देकर राजनीतिक नेताओं ने उसका दुरुपयोग करना प्रारम्भ कर दिया। फल यह हुआ कि वे स्वयं भी मार्ग से हटे और छात्रों को भी लक्ष्यभ्रष्ट किया। फिर समय-समय पर यह जानने का प्रयत्न किये बिना ही कि छात्रों की अनुशासनहीनता का मूल कारण क्या है उन्हें हेय बताते रहने की प्रवृत्ति ने छात्रों के मस्तिष्क को बिल्कुल उल्टी दिशा में उभाड़ दिया है।

नित्यप्रति विभिन्न कालेजों तथा विश्वविद्यालयों में छात्रों द्वारा प्रदर्शन होते रहते हैं, उच्चाधिकारियों को धमकी दी जाती है, और तमाम तोड़-फोड़ का काम किया जाता है। यही उनकी अनुशासनहीनता की चिन्हारी है। इस व्यथा का मूल कारण बताया जाता है छात्रों की बढ़ती हुई संख्या तथा उनकी माँगों का पूरा न हो पाना। विद्यार्थियों की माँगें क्या हैं—यदि इस पर ध्यान दिया जाय तो वे या तो प्रवेश-से सम्बन्धित निकलेंगी या फीस की घटती इत्यादि। ये माँगें उचित हैं और जनता तथा सरकार इनकी पूर्ति सरलता से कर सकती है किन्तु उनकी माँगों की विचित्रता तब देखते बनती है जब वे किसी अध्यापक, प्रिंसिपल या उपकुलपति का पदत्याग चाहते हैं। वस्तुतः ऐसी माँगें उनकी अपनी मस्तिष्क की उपजें न होकर राजनीतिकों द्वारा ही प्रेरित होती हैं। छात्र-धर्म यह है कि उचित शिक्षा ग्रहण की जाय, किन्तु आजकल तो यूनियनों के माध्यम से ट्रेड यूनियनों की सी माँगे प्रस्तुत की जाती हैं और छात्रों ने विश्वविद्यालयों या विद्यालयों को राजनीति में उतरने का अखाड़ा बना लिया है। वस्तुतः यही व्याधि है, जिसका उपचार होना है। यही वह अनुशासनहीनता है जिसका सदयता के साथ उन्मूलन करना है। इसके लिए छात्रों को दण्डित करना उचित नहीं होगा। उचित तो यह होगा कि सभी राजनीतिक नेता विद्यार्थियों को राजनीति से दूर रहने दें और उनके मानसिक विकास को शिक्षकों पर छोड़ दें। इसमें सन्देह नही कि खींचातानी समाप्त होते ही छात्रों को उसासी मालूम होगी। यही वैज्ञानिक इलाज है। इस पर सबों को विश्वास होना चाहिए।
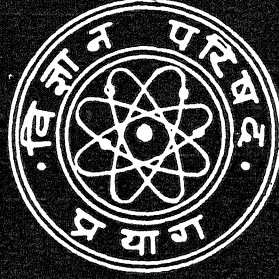
विज्ञान

१. अंतरिक्षरसायन १३३

२. कहीं आप अन्तरिक्ष यात्रा तो नहीं करना चाहते ? १३५

३. सूक्ष्म मानवों का अद्भुत संसार १३८

४. प्रजनन विज्ञान १४१

५. खबरें लाया हूँ—२ ... ... १४४

संक्षिप्त जीवन-परिचय-माला ... १४६

सार-सङ्कलन १५४

विज्ञान वार्ता १६०

पुस्तक समीक्षा १६३

सम्पादकीय १६४

सम्पादक—डॉ० शिवगोपाल मिश्र

विज्ञान परिषद्, प्रयाग

हमारी प्रकाशित पुस्तकें

	मूल्य
१—विज्ञान प्रवेशिका भाग १—श्री रामदास गौड़, प्रो० सालिगराम भार्गव	३७ नये पैसे
२—वैज्ञानिक परिमाण—डा० निहालकरण सेठी	१ रु०
३—समीकरण मीमांसा भाग—१ पं० सुधाकर द्विवेदी	१ रु० ५० नये पैसे
४—समीकरण मीमांसा भाग २—पं० सुधाकर द्विवेदी	६२ नये पैसे
५—स्वर्णकारी—श्री गंगाशंकर पचौली	३७ नये पैसे
६—वर्षा और वनस्पति—श्री शंकरराव जोशी	३७ नये पैसे
७—व्यंग चित्रण—ले० एल० ए० डाउस्ट, अनुवादिका—डा० रत्न कुमारी	२ रुपया
८—तैरना डा० गोरख प्रसाद	१ रुपया
९—वायुमंडल की सूक्ष्म हवायें—डा० संत प्रसाद टंडन	७५ नये पैसे
१०—खाद्य और स्वास्थ्य—डा० ओंकार नाथ पर्ती	७५ नये पैसे
११—फल संरक्षण—डा० गोरख प्रसाद, वीरेन्द्र नारायण सिंह	२ रु० ५० नये पैसे
१२—शिशु पालन—श्री मुरलीधर बौड़ाई	४ रुपया
१३—मधुमक्खी पालन—श्री दयाराम जुगड़ान	३ रुपया
१४—घरेलू डाक्टर—डा० जी घोष, डा० उमाशंकर प्रसाद, डा० गोरख प्रसाद	४ रुपये
१५—उपयोगी नुसखे, तरकीबें और हुनर—डा० गोरखप्रसाद, डा० सत्यप्रकाश	३ रु० ५० न०पै०
१६—फसल के शत्रु—श्री शंकरराव जोशी	३ रु० ५० नये पैसे
१७ साँपों की दुनिया—श्री रामेश वेदी	४ रुपया
१८—पोर्सलीन उद्योग—श्री हीरेन्द्र नाथ बोस	७५ नये पैसे
१९—राष्ट्रीय अनुसंधानशालाएँ	२ रुपये
२०—गर्भस्थ शिशु की कहानी—अनु० प्रो० नरेन्द्र	२ रुपया ५० नये पैसे
२१—रेल—इंजन परिचय और संचालन—श्री ओंकारनाथ शर्मा	६ रुपया
२२—भारतीय कृषि का विकास—डा० शिवगोपाल मिश्र	५ रुपया

अब आप इन पुस्तकों के लिए सीधे निम्न पते पर पत्रव्यवहार करें क्योंकि अब लाला रामनारायण लाल बेनीप्रसाद हमारे एक मात्र वितरक नियुक्त हुए हैं।

मिलने का पता :

लाला रामनारायणलाल बेनीप्रसाद
कटरा, इलाहाबाद

विज्ञान परिषद्, प्रयाग का मुखपत्र

विज्ञानं ब्रह्मेति व्यजानात्। विज्ञानाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते।
विज्ञानेन जातानि जीवन्ति। विज्ञानं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति। तै० उ० ।३।५।

भाग ६८ | चैत्र २०२१ विक्र०, १८८५ शक मार्च १९६४ | संख्या ६

अंतरिक्षरसायन

डा० रमेशचन्द्र कपूर

ब्रह्मांड की रासायनिक संरचना एवं उत्पत्ति के गणना सम्बन्धी विज्ञान को हम "अंतरिक्ष रसायन" कह सकते हैं। इस विज्ञान द्वारा तत्वों तथा परमाणु नाभिकों की उत्पत्ति क्रिया तथा उनकी वर्तमान उपस्थिति का ज्ञान होता है। वर्णक्रममापी यंत्रों (Spectroscope) के द्वारा सूर्य तथा अन्य नक्षत्रों के प्रकाशों के विश्लेषण द्वारा यह ज्ञान प्राप्त होता है। उल्काओं का विश्लेषण भी इसमें उपयोगी हुआ है। ग्रहों के निर्माण की रासायनिक क्रियाएँ, उनके वायुमंडल तथा उल्काओं की जानकारी के लिए इस विज्ञान का अध्ययन आवश्यक है। हमारी पृथ्वी पर अंतरिक्ष-रसायन तथा भूगर्भ-रसायन (Geochemistry) की सीमायें मिलती हैं। इस संधि के द्वारा पृथ्वी की बनावट तथा विकास का ज्ञान प्राप्त हुआ है।

अंतरिक्ष-रसायन का सबसे आवश्यक अङ्ग है वर्णक्रममापी रसायन विश्लेषण (Spectrochemical analysis)। सर्वप्रथम इसके द्वारा तत्वों की उपस्थिति का ज्ञान प्राप्त किया गया। तत्पश्चात् उनकी मात्राओं का सूक्ष्मता के साथ ज्ञान प्राप्त करने में इससे सहायता ली गई। पृथ्वी से बाह्य जगत के द्रव का वैश्लेषिक ज्ञान प्राप्त करने में प्रकाश वर्णक्रम-मापन का सर्वश्रेष्ठ स्थान है, क्योंकि नक्षत्रों के प्रकाश विश्लेषण द्वारा ही उनके तत्वों का ज्ञान मिलता है। इसके अतिरिक्त उल्काओं का विश्लेषण भी वर्णक्रम-मापी यंत्रों द्वारा हो रहा है। उल्कायें ही बाह्य जगत की प्रतिनिधि हैं जिनकी जाँच प्रयोगशाला में की जा सकती है। यह ध्यान देने योग्य है कि उल्काओं की औसत बनावट द्वारा हम सौर-परिवार तथा कुछ अन्य नक्षत्रों में उपस्थित तत्वों तथा यौगिकों की कल्पना कर सकते हैं।

बहुत काल तक उल्काओं में उपस्थित यौगिकों की मात्रा सामान्य रासायनिक क्रियाओं द्वारा हुआ करती थी। सहस्रों उल्काओं के विश्लेषण इसी प्रकार किये गये जिनसे यह ज्ञात हुआ कि उनमें उपस्थित यौगिकों की प्रतिशत मात्रा में बहुत अंतर रहता है। यह अन्तर कई हजार गुना तक पाया गया। इस कारण इन यौगिकों की मात्राओं का ज्ञान प्राप्त करने के लिए अत्यधिक उल्काओं के विश्लेषण आवश्यक हो गये।

इसके विपरीत वर्णक्रममापी यन्त्र के प्रयोगों द्वारा प्राप्त प्रतिशत मात्राएँ काफी हद तक समान पाई गईं। उदाहरणार्थ स्कैंडियम (Sc) को लीजिए। २१ उल्काओं के विश्लेषण द्वारा प्राप्त इस तत्व की प्रतिशत मात्रा असाधारणत: समान पाई गई। यही नहीं, लीथियम, रुबीडियम, स्ट्रांशियम, बेरियम, जिर्कोनियम आदि तत्वों की प्रतिशत मात्राएँ भी समान मिलीं, यद्यपि ये मात्राएँ अत्यन्त सूक्ष्म थीं। इन प्रयोगों द्वारा पृथ्वी तथा उल्काओं की उत्पत्ति की जानकारी में बहुत सहायता मिली है। वर्णक्रमलेखी की उपयोगिता का यह एक ज्वलंत उदाहरण है। इससे तत्वों की वर्तमान तथा पुरातन स्थितियों पर प्रकाश पड़ा है।

सामान्य रासायनिक क्रियाओं तथा वर्णक्रममापी प्रयोगों में इतने अन्तर का क्या कारण हो सकता है? सूक्ष्म मात्रा में उपस्थित यौगिकों के सामान्य विश्लेषण करते समय मात्रा के प्रयोग की यथार्थता पर बहुत प्रभाव पड़ता है। इसी कारण सामान्य क्रियाओं द्वारा प्राप्त परिणाम इतने विभिन्न रहते हैं।

अनेक वर्षों से सूर्य तथा नक्षत्रों में उपस्थित तत्वों की मात्रा प्राप्त करने के प्रयोग किये जा रहे हैं। ये प्रयोग वर्णक्रममापी यन्त्रों द्वारा ही होते हैं जिनमें प्रत्येक तत्व की उपस्थिति अवशोषण-पट्ट की चौड़ाई द्वारा ज्ञात की गई है। इनसे यह ज्ञात हुआ है कि हाइड्रोजन, हीलियम, कार्बन, नाइट्रोजन, आक्सीजन, नियान, फ्लोरीन, आर्गान, मैगनीसियम, सिलिकन, कैलसियम तथा सोडियम समुचित मात्राओं में नक्षत्रों में उपस्थित हैं। इसके अतिरिक्त गंधक, पौटैशियम, स्कैंडियम, टाइटेनियम, वैनेडियम, क्रोमियम, मैंगनीज, लोहा, कोबाल्ट, निकेल, ताम्र तथा यशद भी विभिन्न मात्राओं में वर्तमान हैं। कार्बन के १२ और १३ द्रव्यमान वाले समस्थानिकों की मात्रा में लगभग २५ गुने का अन्तर है। प्रसिद्ध भौतिकज्ञ एनरिको फर्मी का मत था कि आरम्भ में इनमें केवल तीन गुना अंतर रहा होगा परन्तु कालान्तर में कार्बन १३ समस्थानिक प्रोटान से अभिक्रिया करके नाइट्रोजन १४ में परिणत होता रहा।

कहीं आप अन्तरिक्ष यात्रा तो नहीं करना चाहते ?

डा० शिवगोपाल मिश्र

सन् १९५७ के पूर्व हम सभी पौराणिक कथाओं के आधार पर ही अन्तरिक्ष-यानों अथवा अन्तरिक्ष यात्राओं से परिचित थे, किन्तु ४ अक्टूबर, १९५७ को रूसी वैज्ञानिकों द्वारा प्रथम स्पुतनिक के छोड़े जाने के बाद से ही अब तो हम उनके सुनने के अभ्यस्त हो चुके हैं। विगत् ६ वर्षों में रूस, अमरीका, इंगलैंड, फ्रांस, अरब, पाकिस्तान इत्यादि ने राकेटों या अन्तरिक्ष यानों को अन्तरिक्ष में छोड़कर नाना प्रकार की जानकारियाँ प्राप्त की हैं। पिछले मासों में भारत ने भी त्रिवेन्द्रम से कुछ दूर स्थित थुम्बा नामक स्थान से राकेट के छोड़े जाने का सफल प्रदर्शन पूरा कर लिया है। तात्पर्य यह कि आधुनिक वैज्ञानिक युग में राकेट विज्ञान अथवा अन्तरिक्ष यात्रायें फैशन-सी बन चुकी हैं। ऐसे प्रयासों के मूल में यह भावना कार्य कर रही है कि भविष्य में राष्ट्रों की शक्तियाँ ऐसे ही राकेटों पर निर्भर करेंगी और एक दिन वह भी हो सकता है कि पृथ्वी के निवासी अन्य ग्रहों में जाकर अपनी सभ्यता का प्रसार करें। वास्तव में, ऐसी रंगीन कल्पनायें साधारण से साधारण व्यक्ति को भी क्षण भर के लिए आनन्द-विभोर कर देती हैं और वह स्तब्ध-सा होकर सोचने लगता है कि काश ! मैं भी चन्द्रमा की यात्रा करता ! किन्तु क्या ऐसी यात्रा सर्वसाधारण के लिए सम्भव है ?

अभी तक जिन अन्तरिक्ष यात्रियों ने सुदूर अन्तरिक्ष में यात्रायें की हैं, उन्होंने राकेट से पृथ्वी के दृश्य का ही अत्यन्त लोमहर्षक अथवा आकर्षक विवरण प्रस्तुत किया है। विशेषतः रूसी अन्तरिक्ष यात्रियों ने यान पर से पृथ्वी के रंगों, बादल एवं सागरों की स्थितियों के विषय में ऐसे विचार व्यक्त किये हैं जो मन को मोहने वाले एवं हमारे स्वयं के काल्पनिक दृश्यों के सर्वथा अनुकूल हैं। परन्तु क्या यह सोचना सही होगा कि इन यात्राओं का मात्र उद्देश्य मनस्तुष्टि के अतिरिक्त और कुछ नहीं है ? वस्तुतः ऐसा सोचना सर्वथा भ्रामक होगा।

एक-एक राकेट के छोड़े जाने के पूर्व यात्रियों को जो-जो तैयारियाँ करनी पड़ती हैं और राकेट के निर्माण में जितना श्रम एवं धन व्यय होता है वह अकथ है। यही कारण है कि निर्धन एवं साधनहीन राष्ट्र राकेटों के प्रयोगों को सदैव ही अपनी सामर्थ्य के बाहर मानते हैं। यहाँ पर हम उन समस्त तैयारियों का वर्णन करेंगे जो किसी भी अन्तरिक्ष यात्री को यात्रा के पूर्व करनी पड़ती हैं। इन तैयारियों के विवरण से, सम्भव है कि यदि आपने कहीं यात्रा करने का कार्यक्रम बना रखा हो, तो उसे स्थगित कर दें क्योंकि यह यात्रा कोई रेलगाड़ी, ट्राम या हवाई जहाज की यात्रा नहीं। इस यात्रा के लिए यात्री को सभी प्रकार से अपने को इस योग्य बनाना पड़ता है कि वह कुशलतापूर्वक यात्रा कर सके। यही नहीं, मात्र यात्रा ही ऐसी बहुमूल्य उड़ानों का उद्देश्य कभी नहीं होता। इन यात्राओं का उद्देश्य है उन अनेक वैज्ञानिक तथ्यों को एकत्र करने में राकेट में स्थापित सूक्ष्म उपकरणों की ही सहायता करना जिससे समस्त तथ्य पूर्ण रूप से पृथ्वी पर स्थित प्रयोगशालाओं तक उसी रूप में जल्दी से जल्दी पहुँच सकें और भविष्य में वैज्ञानिक जन उनसे अधिकाधिक लाभ उठा सकें। यदि इस उद्देश्य से ये प्रयोग नहीं किये जाते अथवा लोग इन्हें किसी दूसरी

दृष्टि से देखते हैं, तो यही समझना चाहिए कि वे इनके वास्तविक महत्व को नहीं आँक पा रहे हैं। ऐसे प्रयोगों या ऐसी यात्राओं का महत्व इसी में है कि प्राप्त तथ्यों का सदुपयोग किया जाय, मानव मन की जिज्ञासा शांत होने के साथ-साथ उसके कल्याण का नवीन स्रोत खुल जाय।

अन्तरिक्ष यात्राओं से प्राप्त अनुभवों के आधार पर यह स्पष्ट हो चुका है कि राकेटों या स्पुतनिकों में बैठ कर यात्रा करने वाले मनुष्यों पर बड़ा बल पड़ता है। अतः ये प्रश्न स्वाभाविक हैं कि वे कौन से 'अलौकिक' (पृथ्वी पर न अनुभव किये गये) प्रभाव हैं जो यात्रियों पर पड़ेंगे और वे कौन से साधन हैं जिनके द्वारा वे इन प्रभावों पर विजय प्राप्त करके सफलतापूर्वक यात्रा सम्पन्न कर सकेंगे ? अभी तक जिन अन्तरिक्ष यात्रियों ने सफल यात्रायें की हैं उनका यात्रा-काल अपेक्षतया 'अल्प' रहा है अतः उनके प्राप्त अनुभवों से कभी भी यह निष्कर्ष नहीं निकलना चाहिए कि वे ही साधन सप्ताहों या महीनों की यात्राओं में भी कारगर सिद्ध होंगे।

प्रायः यह देखा गया है कि लम्बी बीमारी में पड़े रहने के कारण रोगी की मांसपेशियों में विशेष प्रकार की 'अकड़न' या 'ऐंठन' आ जाती है और रक्त संचार ठीक से नहीं हो पाता, अतः यदि कैबिन के भीतर अन्तरिक्ष यात्री को अधिक काल तक एक ही अवस्था में रहना हो तो उसके बिना हिले-डुले अथवा राकेट को ही विशेष प्रकार से परिक्रमा कराये बिना ठीक से रह पाना कठिन हो जावेगा। तो क्या इससे मुक्ति पाने का कोई साधन है ?

गुरुत्वाकर्षण का अनुकरण

अन्तरिक्ष यात्राओं के समय यात्री को एक बन्द केबिन के भीतर रहना पड़ता है जहाँ गुरुत्वाकर्षण का सर्वथा अभाव रहता है। वस्तुतः 'भारहीनता' इसी अभाव के कारण अनुभव की जाती है। प्रयोगशाला में गुरुत्वाकर्षण के अभाव का अनुकरण किया गया है, किन्तु समस्या यह नहीं है कि मनुष्य गुरुत्वाकर्षण के अभाव को सह सकेगा या नहीं। प्रश्न तो यह है कि अधिक काल तक ऐसी परिस्थितियों में रहकर वह उन त्वरण शक्तियों के प्रति जो यान के टकराने या ध्वस्त होने पर अनुभव की जावेंगी, किस प्रकार प्रतिक्रिया करेगा। ऐसी परिस्थितियों में जो प्रतिक्रियायें होंगी उन्हें 'तनाव' (स्ट्रेस) के नाम से पुकारा जाता है। वास्तव में यहीं पर 'अनुकूलता' का प्रश्न वैज्ञानिकों के समक्ष उपस्थित होता है। इसका अर्थ यह है कि अत्यधिक बोझ आ पड़ने पर बोझ को सहनीय बनाने में सन्तुलन किस प्रकार स्थापित हो ?

सुदूर शीत ध्रुवों में अधिक काल तक रहते हुए अथवा रेगिस्तानों में जीवन यापन करते हुये या पहाड़ों पर वास करते हुए अनेक ऐसे अनुभव संचित किये गये हैं जिनके आधार पर प्रह्लासित वायु दाब, शीत तथा गरमी के अतिरिक्त कुछ अन्य कारक, जिन्हें (स्ट्रेसर अथवा तनाव-उत्पादक) कहते हैं, भी देखे गये हैं जो मनुष्य को प्रभावित करते हैं। ये हैं—आक्सिजन की कमी, ब्रह्माण्ड विकिरण, रात्रि एवं दिवस के आवागमन का अनुभव। इनमें से प्रायः एक साथ कई कारक मिलकर मनुष्य को प्रभावित करते रहते हैं किन्तु आधुनिक प्रयोगों के द्वारा यह सम्भव हो सका है कि इस 'अनुकूलता' पर किसी एक कारक का प्रभाव ढूंढ़ निकाला जाय। वस्तुतः ऐसे प्रभावों को 'विलोम प्रतिरोधकता' कह सकते हैं। उदाहरणार्थ, यदि किसी मनुष्य ने ऊँचाइयों पर रहने का अभ्यास कर लिया है, किन्तु उसे शीत सहने का अभ्यास नहीं है तो भी उसमें ऐसी प्रतिरोधकता विद्यमान है जो अन्य अनेक तनावों में उसकी सहायक बन सके। फलतः ऐसी कल्पना की जा सकती है कि अन्तरिक्ष यात्रा के समय ऐसी अनेक विलोम प्रतिरोधकतायें मिलकर कार्य कर सकती हैं, किन्तु इस प्रकार के समस्त प्रभावों को क्षीण बनाने वाली शक्ति भी कार्य करती रहती है और वह मनुष्य की 'आन्तरिक घड़ी' है जो सूर्य के अनुसार पृथ्वी पर चौबीस घंटे बजाने की अभ्यस्त हो चुकी होती है।

अन्तरिक्ष में केबिन के भीतर रहते हुए इस अभ्यस्तता के कारण मनुष्य के शरीर पर क्या विरोधी प्रभाव पड़ेंगे, यह अभी तक ज्ञात नहीं हो पाया।

विकिरण से सुरक्षा

यह भलीभाँति ज्ञात है कि ब्रह्माण्ड से निरन्तर विविध विकिरणों की वर्षा होती रहती है—यथा ब्रह्माण्ड किरण कण, सूर्य द्वारा उत्सर्जित तीव्रगामी कण तथा पृथ्वी के चारों ओर स्थित 'वान एलन' पेटी के कण। फलतः अन्तरिक्ष में यात्रा करने वाले यान अथवा यात्री के लिए न केवल ऐसे विकिरणों से सुरक्षित रहने की समस्या है वरन् इससे भी बड़ी समस्या यह है कि इनसे सुरक्षित रखने के लिए कौन सी यांत्रिक व्यवस्था अपनायी जाय। यदि केबिन के भीतर का दाब एकाएक कम हो जाय तो बड़ी गम्भीर स्थिति उत्पन्न हो जावेगी। ऐसी दाब की कमी या तो केबिन के लीक करने (पूर्णरूप से बन्द न रह पाने) अथवा उल्का पिंड के टक्कर से सम्भव हो सकती है। इसका परिणाम यह होगा कि क्षण भर में रक्त एवं फेफड़ों में भरी वायु बाहर निकलने का प्रयत्न करेगी जिससे कि अन्तरिक्ष यात्री या यात्रियों का प्राणान्त हो सकता है। इसका समाधान यह है कि ऐसे कक्ष या केबिन प्रयुक्त किये जायँ जो अत्युच्च दाबों को सहन कर सकें, किन्तु ऐसे केबिनों को अन्तरिक्ष में स्थापित कर पाना सामान्य अन्तरिक्ष यान के बूते के बाहर होगा। चूँकि यात्रियों की श्वास लेने वाली वायु में हाइड्रोजन भी मिली रहती है अतः उपर्युक्त दाब की कमी की स्थिति में यही हाइड्रोजन घातक बन जाती है। फलतः अमेरिका में ऐसे प्रयत्न किये गये हैं कि जिनमें हाइड्रोजन के स्थान पर आक्सिजन के साथ हीलियम गैस का मिश्रण प्रयुक्त किया जाता है। किन्तु हीलियम के मिलाने से अधिक ताप ग्रहण करने एवं अन्य जटिल प्रक्रमों के प्रारम्भ होने की सम्भावना बनी रहती है। अतः यह कह पाना कठिन है कि कौन सा यात्री सफलतापूर्वक अधिक काल तक अन्तरिक्ष में यात्रा कर सकेगा।

जैविक पुनरुत्पादन

यह भी ठीक से नहीं बताया जा सकता कि महीनों तक एक ही कक्ष में बन्द रहने पर मनुष्य की शारीरिक क्रियाएँ सहज भाव से चालू रह पावेंगी या नहीं। विशेषतः वायु की पूर्ति, भोज्य पदार्थों की पूर्ति अथवा आवश्यक आर्द्रता—इन सब की पूर्ति असम्भव एवं कठिन प्रतीत होती है। अतः ऐसा प्रबन्ध करना कि मनुष्य एकदम मशीन बन जाय, न तो ठीक ही है और न आसान ही है।

अन्तरिक्ष यात्रा को सर्वसुलभ बनाने के पूर्व उपर्युक्त कठिनाइयों का पूरा-पूरा निराकरण होना आवश्यक है। इसमें सन्देह नहीं कि रूस और अमरीका दोनों ही जिस होड़ से प्रेरित होकर इस दिशा में कार्य कर रहे हैं उसके बल पर यह आशा रखनी चाहिए कि शीघ्र ही मनुष्य चन्द्रलोक तक पहुँच सकेगा। अमरीका ने तो सन् १९७० तक चन्द्रमा में अन्तरिक्ष यात्री उतारने का बीड़ा उठा रखा है। देखें मानव के प्रयत्न, उसका धैर्य एवं पराक्रम कहाँ तक सफल होते हैं।

सामान्य से सामान्य व्यक्ति भले ही कल्पना की रंगीनियों में डूब कर क्षण भर के लिए यह बोल उठे कि वह भी चन्द्रलोक जाने के लिए तैयार है, किन्तु जब उसे नाना प्रकार के व्यवधानों का परिचय हो जावेगा तो वह ऐसा प्रलाप नहीं करेगा। यह देखा गया है कि जर्मनी में सर्वसाधारण को 'अन्तरिक्ष यात्राओं' से परिचित कराने के लिए जो प्रयोगशालायें खुली हैं उनमें लाखों व्यक्ति जा-जाकर एक से एक विचित्र प्रश्न पूछते हैं, किन्तु अन्त में जब उनसे यह प्रश्न पूछा जाता है कि क्या आप यात्रा के लिए तैयार हैं तो उनकी जबान बन्द हो जाती है। वस्तुतः अभी अन्तरिक्ष यात्रा का सिद्धान्त पक्ष ही व्यावहारिक पक्ष से अधिक आकर्षक प्रतीत होता है।

देखें, व्यावहारिक पक्ष की कब बारी आती है?

सूक्ष्म मानवों का अद्भुत संसार

कौशलेन्द्र मोहन तिवारी

संसार में दृश्य-जगत के साथ ही साथ अदृश्य जीव भी रहते हैं जिनकी संख्या कम नहीं है। इनकी संख्या संसार की कुल जनसंख्या से कई करोड़ अधिक है। इनका भी एक संसार है। यह तो नहीं कहा जा सकता है कि इन्होंने भी अपनी पार्लियामेंट बनाई है कि नहीं, परन्तु चींटियों और मधुमक्खियों का उदाहरण लेकर हमें यह समझने से भी नहीं वंचित रहना चाहिए कि इनका कार्य हमें जड़ से उखाड़ने का ही है। ये सर्वव्यापी हैं। इनका नाम जर्म्स है। 'जर्म्स-कटर' और 'जर्मीसाइडल' आदि न जाने कितने शब्द आपने पढ़े और सुने होंगे। परन्तु आपने कभी इन 'जर्म्स' के सम्बन्ध में विचार करने का कष्ट न किया होगा।

जर्म्स क्या हैं—विज्ञान के व्यापक अर्थ की ही भाँति जर्म्स का भी बहुत व्यापक अर्थ है। साधारण बोलचाल की भाषा में इन्हें रोगोत्पादक अवयव ही समझा जाता है। किसी सीमा तक सच भी है। ये अत्यन्त सूक्ष्म कीटाणु होते हैं। प्राय: रोगों के जन्म-दाता भी होते हैं। अतः यदि इन्हें रोगोत्पादक सूक्ष्म अवयव अथवा कीटाणु कहें, तो भी अनुचित न होगा।

रोगाणु अथवा कीटाणु लोक की खोज—घटनाओं का आविष्कारों से सीधा सम्बन्ध होता है। ताल (लेंस) का आविष्कार कार्य पूर्ण हुआ। ल्यूवेनहाक महोदय ने अपने दाँतों की गंदगी का, वर्षा के जल की एक बूँद में उसी स्वनिर्मित ताल की सहायता से निरीक्षण किया। 'अरे यहाँ तो न जाने कितने जीव रेंग रहे हैं।' यही था कीटाणु लोक की यात्रा का प्रथम सोपान। इस एक बूँद जल और मैल में असंख्य जीव चहलकदमी कर रहे थे। धीरे-धीरे थूक, लार, मल, रक्त, तन्तु और मक्खी, मच्छर आदि सभी वस्तुओं का निरीक्षण किया गया। ये जीव बहुत सूक्ष्म होते हैं। ल्यूवेनहाक ने एक स्थान पर स्वयं लिखा है कि, उस बूँद में एक नहीं, सैकड़ों अत्यंत सूक्ष्म जीव रेंग रहे थे, जिन्हें यदि एक दूसरे से सटाकर लम्बाई में रखा जाय तो बड़ी कठिनाई से भी एक महीन रेत के कण के बराबर उसकी लम्बाई नहीं पहुँच सकती है।' अब आप स्वयं ही सोच सकते हैं कि कितने छोटे होते हैं ये जीव।

कीटाणु के प्रकार—लगभग दो शताब्दियों के पश्चात्, जब यह निश्चित हो गया कि इन सूक्ष्म जीवों का भी कुछ अस्तित्व है, तब इनके वर्गीकरण का प्रश्न उठा। इनको कुल तीन प्रकारों में वर्गीकृत किया गया :—

(१) वे जीव जो पौधों की भाँति थे, शाकाणु अथवा बैक्टीरिया कहलाये।

(२) वे जीव जो एककोशीय थे तथा जन्तुओं से मिलते-जुलते थे, प्रोटोजुआ अथवा जीवाणु कहलाये।

(३) जो जीव व मृत के बीच प्रकृति के थे, 'विषाणु' या वाइरस कहलाये।

कीटाणुओं के उत्पत्ति सम्बन्धी विवाद :—यह ज्ञात होने पर कि कीटाणुओं का भी कुछ अस्तित्व है और इनकी उपस्थिति मानव मात्र के लिए बहुत महत्व रखती है, तो इनकी उत्पत्ति पर भी ध्यान गया। इस सम्बन्ध में कुछ वैज्ञानिकों का विचार था कि जीवन दूसरे ग्रहों से आया है। इसके विपरीत

कुछ अन्य विद्वानों के मतानुसार जीवन की उत्पत्ति कुछ भौतिक तथा रासायनिक मिश्रणों से हुई है। प्राचीन भारतीय तथा विदेशी दर्शनशास्त्री, मिट्टी, वायु और जल आदि से जीवन की उत्पत्ति मानते थे। परन्तु अत्यन्त वाद-विवाद के पश्चात् यही समझ में आया कि जीवन, जीवन से ही आता है (Life comes from life)

कीटाणुओं की विचित्रता :—सन् १६५ ई० की बात है। सीरिया का युद्ध जीतकर रोम की सेना लौट रही थी। मार्ग में ही प्लेग की महामारी ने रण-बाँकुरों को आक्रांत कर दिया। लगभग ४०,००० नौजवान, बीमारी की प्रथम पाँच दिनों की लहर में ही चल बसे। फौज ने कदम रोकना नहीं सीखा था। परिणाम यह हुआ कि विजय की प्रसन्नता के साथ ही साथ प्लेग रूपी काल भी खूब फैला। रोम नगर के भी सहस्रों मनुष्य मर गये और जीते हुए रोम शहर में मातम छा गया।

अब तक की ज्ञात महामारियों में संसार भर में हाथ-पैर फैलाने वाली काली मौत (Black Death) ने संभवत: सबसे अधिक जानें ली हैं। १६३७ में हुई इस महामारी से दुनिया भर में लगभग ४ करोड़ मौतें हुईं। मध्यपूर्व से प्रारम्भ होकर योरोप और एशिया तक इस महामारी ने प्रकोप किया। इन सभी महामारियों और रोगों की जड़ हैं 'जर्म्स'।

शाकाणु और बीमारियाँ :—क्षय रोग, टायफायड, न्यूमोनिया, डिप्थीरिया, बेक्टीरियल डीसेण्ट्री, लेप्रोसी, प्लेग तथा काली खाँसी आदि रोग इन्हीं शाकाणुओं की देन हैं।

शरीर में प्रवेश करके ये कोशिकाओं को खा जाते हैं तथा एक विशेष प्रकार का विष उत्पन्न करते हैं जिसे **'टाक्सिन'** कहते हैं। यही रोगों को जन्म देता है। कभी-कभी तो यह विष जहरीले सर्प के भी विष से अधिक घातक सिद्ध होता है।

मनुष्यों में ही नहीं, जानवरों और पौधों में भी ये रोग उत्पन्न करते हैं। गाय, कबूतर और कुत्तों की टी० बी०, ग्लेंडर्स, एन्थ्रैक्स तथा चिकेन कालरा आदि बीमारियों के जन्मदाता ये ही शाकाणु हैं। फलों के सड़ने की क्रिया, टमाटर और गोभी की भूरी राट, नाशपाती और सेब की फायर ब्लाइट और आलू की विल्ट भी इन्हीं के द्वारा उत्पन्न की जाती है।

दानव संसार के अदृश्य एवं सूक्ष्मतम सदस्य :—अब तक प्राप्त सभी कीटाणुओं में विषाणु ही सबसे छोटे होते हैं। सबसे बड़ा विषाणु, सूक्ष्मतम शाकाणु से भी छोटा (कभी-कभी बराबर) होता है। शाकाणुओं में तो संचरण के लिए तन्तु सदृश रचनायें (Flagella) होती हैं, परन्तु विषाणुओं में न तो जीवाणुओं (Protozoa) की भाँति भोजन के लिए मुख होता है और न शाकाणुओं (Bacteria) की भाँति शरीर ही। देखने में (एलेक्ट्रान सूक्ष्मदर्शी से) ये लम्बे या गोल दाने सरीखे दिखाई देते हैं, निरीक्षण पर प्रोटीन ज्ञात होते हैं और सचमुच ये क्या हैं, अब तक विवादास्पद है। न तो ये जीव कहे जा सकते हैं और न निर्जीव वरन् इन्हें जीव और निर्जीव के बीच की स्थिति की संज्ञा प्रदान की गई है।

जीवित कोशिका के अन्दर ये जीवित हो उठते हैं और एक विषाणु से बहुत से विषाणु बन जाते हैं। परन्तु कोशिका के बाहर ये मृत-स्वरूप हो जाते हैं।

विषाणु बनाम बीमारियाँ :—शाकाणुओं की ही भाँति विषाणु भी बहुत से रोगों के जनक होते हैं, उदाहरणार्थ: छोटी चेचक, खसरा, कनमूर, इनफ्लुएन्जा, रक्तज्वर, पीतज्वर, लकवा, जुकाम आदि अनेक प्रकार के रोग।

तम्बाकू की चित्तीदार बीमारी, आलू की 'लीफ रोल' और गन्ने की 'स्ट्रेक' गाय की चेचक, कुत्तों का 'डिसटेम्पर' और अन्य जानवरों की 'फुट एण्ड माउथ' बीमारियाँ इन्हीं विषाणुओं की देन हैं।

विषाणु : एक जीवित रसायन :—सन् १८९२ ई० में रूसी वैज्ञानिक डिमिट्री इवानोवस्की ने बताया कि तम्बाकू की चित्तीदार बीमारी का कारण कुछ

अदृश्य सूक्ष्म वस्तु है जो पोर्सेलीन फिल्टर से भी नहीं छनती है। छः वर्ष पश्चात् डच वैज्ञानिक बेरिंक ने भी वही प्रयोग किया और उस द्रव को स्पर्श तरल द्रव 'Contagious liquid fluid' कहा। आधुनिक युग में विषाणुओं के आविष्कार क यही समझे जाते हैं।

विषाणुओं की प्रकृति :—विषाणुओं के महा-पण्डित वेण्डेल एम० स्टेनली के मतानुसार, विषाणुओं की रचना, प्रोटीन और विशेषकर न्यूक्लियो प्रोटीन से होती है। इसकी रचना में ९४ प्रतिशत प्रोटीन और ६ प्रतिशत न्यूक्लिक अम्ल भाग लेते हैं। ध्यान रहे कि क्रोमोसोम और जीन्स की रचना भी यही है। अर्थात् दोनों बहुत कुछ एक ही वस्तु के दो रूप हैं। कुछ वैज्ञानिकों के मतानुसार विषाणु, शाकाणुओं के अविकसित रूप हैं।

जीवाणु अथवा एककोशीय जीव (प्रोटोजुआ) :—जन्तुओं का सूक्ष्मतम रूप उसके एक कोशीय प्रति-निधि—जीवाणुओं से भलीभाँति देखा जा सकता है कि वे समस्त कार्य जो हम कर सकते हैं, एक कोशीय जीवाणु (जैसे अमीबा) भी करता है। भोजन लेने से लेकर प्रचलन, पाचन, स्वीकरण एवं चिन्तन तथा मल निष्कासन तक के सभी आवश्यक कार्य एक और केवल एक जीवित कोशिका, स्वतन्त्रता पूर्वक कर सकती है। इस तथ्य का सबसे बड़ा प्रमाण प्रोटोजुआ है। ये चल-फिर तो सकते हैं, परन्तु हम आप जैसे हाथ-पैर इनके पास नहीं हैं। शाकाणुओं की ही भाँति इनमें भी तन्तु हो सकते हैं।

मलेरिया, ट्रिपेनोसोमियासिस, कालाजार या लीशमैनियासिस, पायरिया, डायरिया और बैलेंटीडिया-सिस आदि बहुत से रोग इनके द्वारा मानव जाति में उत्पन्न किये जाते हैं। इसके अतिरिक्त जानवरों में भी ये रोग उत्पन्न करते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आकार में छोटे, प्रकार में विभिन्न, रचना में किसी सीमा तक सरल, बिना हाथ-पैर के शत्रु हमारे लिए सशक्त शत्रुओं से अधिक शक्तिशाली हैं, ये सर्वव्यापी हैं, सूक्ष्म हैं और यदि सब कुछ न सही तो भी बहुत कुछ कर सकते हैं।

प्रजनन विज्ञान

जटाशंकर द्विवेदी

संसार में नये प्राणियों का जन्म होता है और पुराने प्राणियों की मृत्यु। इस प्रकार जीवों की संख्या सन्तुलित रखी जाती है। मनुष्य जाति तथा इसी वर्ग के इतर जीवों में उत्पत्ति का सूत्रपात गर्भाधान की क्रिया से होता है। मैथुन या अन्य कृत्रिम साधनों से वीर्य के योनि में प्रवेश के लगभग १२ घण्टे के बाद अनुकूल परिस्थितियों में साधारणतः गर्भाधान हो जाता है। इन १२ घण्टों में क्या-क्या होता है और किस प्रकार एक नये जीव का सूत्रपात होता है इस सम्बन्ध में अधिकांश लोग नहीं जानते। यह विषय वास्तव में अत्यन्त महत्वपूर्ण और रोचक है और इस सम्बन्ध में आवश्यक सूचना प्राप्त करना भी आवश्यक है।

"एकोऽहं बहुस्याम" यह कथन कैसे चरितार्थ होता है, उसका वैज्ञानिक विवरण प्रस्तुत लेख में दिया गया है—सम्पादक

स्त्रियों के दो अंडाशय होते हैं। ये अंडाशय श्रोणि गुहा के शीर्ष पर स्थित होते हैं। इनका आकार बादाम के समान होता है और इनकी लम्बाई लगभग ४ सेण्टीमीटर होती है। इन अंडाशयों में किसी एक के तल पर एक फफोला बन जाता है। इसी फफोले से अंड का सूत्रपात होता है। जब तक स्त्रियों में बच्चा उत्पन्न करने की क्षमता रहती है तब तक प्रति २८ दिन बाद अण्डाशय में केवल एक ही अण्ड उत्पन्न होता है। अण्ड दोनों अण्डाशयों में से किसी एक ही अण्डाशय में उत्पन्न होता है। यदि किसी कारणवश एक अण्डाशय निकाल देना पड़े या दोनों में से एक अण्डाशय विकृत हो जाय तो दूसरे अण्डाशय में ही अण्ड उत्पन्न होता रहेगा।

अण्ड रंगहीन जलीय पदार्थ की एक चित्ती के रूप में गोलाकार होता है। यदि यह तनिक और पारदर्शक होता तो दिखाई भी न पड़ता। यह एक कोशीय पदार्थ है, किन्तु इसकी संरचना जटिल है। यदि अण्ड को ५०० गुना परिवर्धित कर दिया जाय तो इसका आकार पिंगपांग की गेंद के बराबर होगा, इसका मध्य भाग छोटी बेरी के आकार का और अपने चारों ओर की जेली की तुलना में गहरे रंग का होगा। इसका नाभिक आकार में सीसे के छर्रे के समान और शेष भाग से भी अधिक गहरे रंग का होगा। प्रत्येक अण्ड में १४ क्रोमोसोम (गुण सूत्र) होते हैं जिनका रूप कृमियों के समान होता है और इन पर क्षितिजीय सफेद और काली धारियाँ पड़ी होती हैं। अनुमान किया जाता है कि इन गुण सूत्रों में ३००० के लगभग जीनें (Genes) रहती हैं। अण्ड की जीनें शुक्राणुओं की जीनों से मिलकर शिशु के आनुवंशिक लक्षणों को निश्चित करते हैं। शिशु के आँखों और बालों के रंग क्या होंगे, उसके जबड़े का आकार क्या होगा, वह नर होगा या मादा, वह कितनी शीघ्रता से विकसित होगा इन तथा इसी प्रकार के अन्य तथ्यों का निर्णय इन्हीं जीनों पर आधारित होता है।

अण्ड जब अण्डाशय में विसर्जित होता है तो वह अपने आकार की तुलना में एक बहुत बड़े क्षेत्र में पड़ा होता है। गर्भाधान के लिए अण्ड को अण्डाशय से लगभग १२ सेण्टीमीटर चलकर दो में से किसी एक डिम्बवाही नली (फैलोपी नली) के ऊपरी भाग में पहुँचना होता है। डिम्बवाही नलियाँ गर्भाशय के ऊपरी भाग से दो शाखाओं में विभाजित हो जाती हैं

और दायें या बाँयें जाकर अण्डाशयों से मिलती हैं। प्रत्येक डिम्बवाही नली लगभग १० सेण्टीमीटर लम्बी और लगभग ०·८ सेण्टीमीटर मोटी होती है। इस नली का मुख पंखे के आकार का नाजुक तन्तुओं का बना होता है और लगभग ०·६ सेण्टीमीटर लम्बा होता है। ये नलियाँ सीधी न होकर व्यावृत और संवलित आकार की होती हैं। नलियों के मुख पर स्थित तन्तुओं की गति से नलियों में धारा प्रवाहित हो जाती है। इस धारा के कारण अण्ड तालबद्ध और क्रमिक गति से सिकुड़नों से दबाया जाता है। फफोला फूटने के लगभग १२ घंटे बाद अण्ड डिम्बवाही नली के मध्य भाग में पहुँचता है और यहीं पर शुक्राणु से मिलकर गर्भाधान करता है।

शुक्राणु

वैसे अण्ड और शुक्राणु दोनों ही एक कोशीय हैं फिर भी दोनों में बड़ा अन्तर है। अण्ड आकार में शुक्राणु के शीर्ष का ३५ से ४० गुना होता है। अण्ड स्वचालित नहीं होता किन्तु शुक्राणु ३ मिनट में लगभग १ सेण्टीमीटर की गति से चलते हैं। शुक्राणुओं के आकार को देखते हुए यह गति अद्भुत कही जा सकती है। एक अण्ड के लिये ३० करोड़ से ५० करोड़ तक शुक्राणु रहते हैं। नये इलेक्ट्रान सूक्ष्मदर्शी से इन शुक्राणुओं के क्रिया चित्र भी लिये जा सकते हैं।

इलेक्ट्रान सूक्ष्मदर्शी से देखने पर अकेला शुक्राणु बेंगची (टैडपोल) के समान दीख पड़ता है। इसका सर अण्डाकार होता है जिसमें नाभिक, गुणसूत्र और जीन रहते हैं। मध्य भाग पतला और बेलनाकार रहता है और उसकी लम्बाई सर के बराबर होती है। इसके पश्चात् पूँछ आती है जो आकार में सर से लगभग ६ गुनी बड़ी होती है। जब तक शुक्राणु जीवित रहता है उसकी पूँछ कागपेंच की भाँति चलती रहती है और सर को आगे बढ़ाती रहती है। इस महत्तम गति से शुक्राणु दो दिन तक तैरता रहता है। इस कार्य में बड़ी शक्ति व्यय होती है। अन्य कोई भी इस प्रकार की जीवन प्रणाली नहीं है जो इतना कठिन कार्य कर सके।

अण्ड कोषों की छोटी नालियों के कोषों में शुक्राणुओं का सृजन फफोलों से उसी प्रकार होता है जिस प्रकार अण्ड का अण्डाशय में होता है। मैथुन करने पर ये शुक्राणु एक वृत्ताकार मार्ग से दो अविच्छिन्न मार्गों से अण्डकोष से उदर की ओर जाकर मूत्राशय के चारों ओर चलकर मूत्र मार्ग से बहिर्गत होते हैं। मूत्र मार्ग उदर से लिंग तक का मार्ग है। शुक्राणु जब अण्डकोषों की वर्तुलाकार नलियों से प्रविष्ट होते हैं तब वे पूर्ण वयस्क और जीवित होते हैं। किन्तु जब तक मैथुन नहीं किया जाता और इन्हें योनि में स्थापित नहीं कर दिया जाता इन्हें अपनी आश्चर्य में डाल देने वाली पूर्ण शक्ति उपलब्ध नहीं होती। इन शुक्राणुओं का लक्ष्य गर्भाशय ग्रीवा तक पहुँचना रहता है। गर्भाशय ग्रीवा एक छोटा सा मार्ग है जो गर्भाशय को ले जाता है।

गर्भाधान

करोड़ों शुक्राणु अंड को प्राप्त करने के लिए दौड़ते हैं, किन्तु इनमें से कुछ ही अपने इष्ट स्थान को पहुँचते हैं। अधिकांश तो इधर-उधर दोलन ही करते हैं। मैथुन के द्वारा एक बार में लगभग ३० करोड़ शुक्राणु योनि में प्रवेश करते हैं। इन्हें योनि से स्रवित होने वाले एक तरल अम्लीय पदार्थ से जाना पड़ता है। यह पदार्थ शुक्राणुओं के मृत्यु का कारण होता है। ३० करोड़ शुक्राणुओं में से २९ करोड़ ९७ लाख शुक्राणु तो कुछ ही घंटों में मर जाते हैं। बचे हुए शुक्राणुओं में से कुछ लाख ही गर्भाशय ग्रीवा तक पहुँचते हैं और उनमें से भी कुछ ही गर्भाशय ग्रीवा के द्वार तक परिसर्पित होते हुए पहुँचते हैं।

गर्भाशय के प्रमुख विवर और डिम्बवाही नलियों तक पहुँचने के लिए शुक्राणुओं को लगभग ८ सेण्टीमीटर का लम्बा मार्ग तय करना पड़ता है। केवल

कुछ सहस्र शुक्राणु ही गर्भाशय के शीर्ष तक पहुँचते हैं। वैसे तो गर्भाशय बहुत बड़ा हो जाने की क्षमता रखता है, किन्तु साधारण अवस्था में गर्भाधान के पूर्व यह बहुत छोटा और उल्टी नासपाती के आकार का होता है। सबसे चौड़े भाग की चौड़ाई केवल ५ सेण्टी-मीटर होती है। शुक्राणु जैसे छोटे आकार के पदार्थ के लिए यह स्थान बहुत बड़ा है और दोनों डिम्बवाही नलियों के प्रवेशद्वार इनके लिए अत्यन्त सूक्ष्म हैं। इस पर भी दो डिम्बवाही नलियों में से एक ही में अंड रहता है और गलत नली में उतने ही शुक्राणु प्रवेश करते हैं जितने सही नली में। जो शुक्राणु सही नली में प्रवेश करते हैं उन्हें भी तुरन्त ही कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। नली की धारा इनकी विपरीत दिशा में बहती है और गर्भाशय विवर की ओर ठेलने वाले स्नायविक आकुंचन उन्हें आगे बढ़ने से रोकते हैं। फिर इस कार्य को और कठिन बनाने के लिए नली की दबोचने वाली प्रक्रिया अंड को भी निरन्तर लुढ़काया और फेंका करती है साथ ही अंड नली की जटिल तहों में रक्षित रहता है। यद्यपि १०० के लगभग शुक्राणु अंड तक तैर आ सकते हैं या उसके पार भी जा सकते हैं फिर भी शुक्राणु का अंड से सम्पर्क नहीं हो पाता।

जब से अंड फफोले से बाहर आता है तबसे फफोले की आन्तारिक परत उसके रक्षाकवच के समान इसके चारों ओर बराबर बनी रहती है। इस रक्षाकवच को भेदकर ही शुक्राणु अण्ड को प्राप्त कर सकता है। इस लक्ष्य की सिद्धि के लिए शुक्राणु के पास ह्यालु-रोनिडेस नामक एक प्रकिण्व रहता है। इस प्रकिण्व के स्पर्शमात्र से ही अण्ड का रक्षाकवच ढीला पड़ जाता है और शुक्राणु का अण्डाकार शीर्ष भाग अण्ड में प्रविष्ट हो जाता है। इस क्रिया के साथ ही शुक्राणु की पूँछ विच्छेदित हो जाती है। साथ ही अण्ड की दीवार में एक उग्र परिवर्तन होता है। अब इस अण्ड का भेदन अन्य कोई शुक्राणु नहीं कर सकता। शुक्राणुओं की यह दौड़ सर्वप्रथम भेदन करने वाले शुक्राणु तक ही रहती है। शुक्राणु पहले एक जटिल रूप में था। इस भेदन क्रिया के पश्चात् अब यह अण्ड के अन्दर एक तकली के समान स्थित हो जाता है। यह वही नाभिक पदार्थ है जो शुक्राणु के सर में स्थित रहता है। अब शुक्राणु का यह नाभिक अण्ड की ओर चलता है। ये दोनों अब मिलकर एक हो जाते हैं और एक नवीन नाभिक बन जाता है। यह क्रिया ही वास्तविक गर्भाधान है और यही इस बारह घण्टे के नाटक का चरमोत्कर्ष है।

शुक्राणु और अण्ड के नाभिकों के संयोग से बना नया नाभिक ही वास्तव में नया जीव है। ये नवीन नाभिक निर्मित होते ही विभाजित होना प्रारम्भ हो जाते हैं। शीघ्र ही संसेचित अण्ड दो कोषों में विभाजित हो जाता है। ये कोष अन्य कोषों में विभाजित हो जाते हैं। फिर यह क्रिया निरन्तर चलती रहती है और अन्त में शिशु का निर्माण हो जाता है।

●●

खबरें लाया हूँ—२

डा० शिवगोपाल मिश्र

१. परमाणु परीक्षण बड़े घातक हैं

प्राय: प्रत्येक परमाणु या नाभिकीय परीक्षण के बाद वायुमण्डल एवं जल-थल- सर्वत्र ही रेडियधर्मिता की वृद्धि देखी जाती है। इस रेडियधर्मिता का कोई प्रत्यक्ष प्रभाव ऐसा हो कि जीवित प्राणी संकटग्रस्त हों, ऐसा नहीं होता। परीक्षण से उत्पन्न विकिरण (रेडिएशन) विभिन्न प्राणियों द्वारा शोषित होते रहते हैं। वनस्पतियाँ तक ऐसा ही आचरण करती हैं। चूँकि कुछ वर्षों से रेडियधर्मिता के दुष्प्रभावों एवं विकिरणों के संचयन होने की प्रवृत्ति पर काफी ध्यान दिया गया है फलतः यह देखा गया है कि जब कभी कोई नवीन परमाणु परीक्षण कहीं भी होता है तो संसार भर के चतुर नागरिक तो नहीं, किन्तु परीक्षण-स्थल के निकट के निवासी अवश्य ही ऐसी दवाओं को खाना प्रारम्भ कर देते हैं जिससे रेडियधर्मिता की प्रभावात्मकता कम हो जाय। जर्मनी के लोग प्राय: ऐसे अवसरों पर कैलसियम की गोलियाँ या कैलसियम की बनी दवाइयाँ खाने-पीने लगते हैं और तब दवाखानों में इन दवाओं का तोड़ा हो जाता है।

तो क्या ऐसे उपायों द्वारा रेडियधर्मिता से मुक्ति पाई जा सकती है? उत्तर है—हाँ, किन्तु कुछ हद तक। जो लोग यह समझ बैठे हैं कि कैलसियम से ही रक्षा हो सकेगी, वे भूल कर रहे हैं, क्योंकि शोधों के फलस्वरूप जो भी ज्ञात हो सका है उसका सार निम्न प्रकार है:—

सभी प्रकार के विस्फोटों से रेडियधर्मी स्ट्रांशियम तथा यूरैनियम के कण उत्सर्जित होते हैं। इनमें से यूरैनियम-२२६ के सम्बन्ध में वैज्ञानिकों ने अनेक तथ्य ज्ञात किये हैं किन्तु स्ट्रांशियम ९० के विषय में बहुत काम जानकारी है। रेडियमधर्मी रेडियम भी इन्हीं की भाँति आचरण करता है, किन्तु परमाणु परीक्षणों में इसका व्यवहार नहीं होता। ये तीनों तत्व ऐसे हैं कि छद्म रूप में यदि ये कैलसियम का स्थान ग्रहण कर लें तो जीवित प्राणियों को इसका कोई पता नहीं चल पाता। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि धीरे-धीरे हमारे शरीर में कैलसियम के स्थान पर स्ट्रांशियम, यूरैनियम या रेडियम की पर्याप्त मात्राएँ संचित हो सकती हैं। वास्तव में यदि हमारे शरीर में कैलसियम की मात्रा इतनी अधिक न होती तो सम्भावना यही थी कि प्रथम परमाणु परीक्षण के पश्चात् ही रेडिधर्मी स्ट्रांशियम का घातक प्रभाव दिख जाता। किन्तु प्रकृति हमारी संरक्षिका है। हमारे शरीर में कैलसियम की प्रचुर मात्रा है और इसका ९९% अस्थियों अर्थात् हड्डियों के रूप में है। अत: यह सोचना ठीक ही होगा कि यदि कहीं भी ये रेडियधर्मी तत्व संचित हो सकते हैं तो अस्थियों में ही।

स्ट्रांशियम ९० का अर्ध जीवन काल २८ वर्ष है। इसका अर्थ यह होता है कि इस अवधि में संचित स्ट्रांशियम का केवल अर्ध भाग क्षय हो सकेगा, शेष तब भी रहा आवेगा। मनुष्य के शरीर में लगभग १३०० ग्राम कैलसियम होगा जिसमें से केवल ०·३% अर्थात् ५ ग्राम कैलसियम इस दशा में रहता है कि अन्य तत्वों के साथ इसका विनिमय हो सके। शेष सारा का सारा कैलसियम रवेदार रूप में रहता है—

इन्हें एपैटाइट रवा कहते हैं। इन रवों के पृष्ठ पर ही विनिमय सम्भव है। यह भी प्रयोग द्वारा ज्ञात किया गया है कि प्रतिदिन केवल आधे ग्राम कैलसियम का विनिमय सम्भव है अतः स्ट्रांशियम ९० द्वारा विनियम की सम्भावना नहीं के बराबर ही है फिर भी विनिमय सम्भव तो है ही। एक बार यदि स्ट्रांशियम ९० अस्थियों में प्रविष्ट हो जाता है तो वह वहाँ पर दीर्घकाल तक जमा रहता है।

मनुष्य को यह स्ट्रांशियम साँस द्वारा नहीं प्राप्त होता, बल्कि तरकारियों या दूध के खाने से मिलता है। सर्वप्रथम वनस्पति जगत स्ट्रांशियम को भूमि से ग्रहण करके अपने भीतर संचित करता है और तब मनुष्यों के आहार के रूप में स्ट्रांशियम का प्रवेश होता है। फलतः यह सोचना कि परीक्षण के तुरन्त शरीर में स्ट्रांशियम की बढ़ोत्तरी होगी, ठीक नहीं। ऐसी चीजों के खाने के तीन सप्ताह बाद तक स्ट्रांशियम ९० के कुप्रभावों से बचने के लिए कैलसियम की गोलियाँ कारगर सिद्ध हो सकती हैं। इसके बाद चाहे जितना भी कैलसियम क्यों न खाया जाय, बेकार होगा।

अधिक कैलसिम के खाने से स्ट्रांशियम की सान्द्रता कम हो जाती है। यदि अधिक प्रभावशाली परिणाम प्राप्त करने हों तो कैलसियम की गोलियाँ न खाकर कैलसियम का इंजेक्शन लेना चाहिए, किन्तु इन गोलियों या इंजेक्शनों से रेडियधर्मिता का खतरा समाप्त नहीं हो जाता और न यह कैलसियम द्वारा स्ट्रांशियम को निस्तेज बनाने की विधि सर्वथा दोष मुक्त है, क्योंकि यह देखा गया है कि अधिकांशतः कैलसियम की गोलियाँ पशु-अस्थियों से बनी हुई होती हैं जिनमें से पहले प्रचुर मात्रा में स्ट्रांशियम संगृहीत रहता है।

२. अन्यग्रहों की यात्रा चन्द्रमा पर आधारित है

रूस और अमेरिका में होड़ लगी हुई है कि चन्द्रमा पर कौन पहले पहुँच जाय। वास्तव में यह होड़ राजनीतिक दृष्टि से ही अधिक महत्वपूर्ण है, किन्तु जहाँ तक चन्द्रमा तक पहुँचने का प्रश्न है अथवा उसके लिए जो यत्न होने चाहिए वे कम महत्वपूर्ण नहीं हैं। संसार के नागरिकों को यह भली-भाँति ज्ञात हो जाना चाहिए कि अन्तरिक्ष सम्बन्धी अनुसंधान तीन दृष्टियों से महत्वपूर्ण है--(१) जीवन-स्तर उठाने की दृष्टि से (२) श्रम विभाजन के लिए तथा (३) चन्द्रमा तक पहुँचने के लिए किसी 'बस' का अनुकल्पन एवं निर्माण होने की आवश्यकता के लिए।

यदि अन्तरिक्ष यात्रायें भविष्य में होनी हैं तो कोई न कोई यान की आवश्यकता पड़ेगी ही, किन्तु यदि कोई यह सोचे कि रूस तथा अमरीका ऐसे यानों के निर्माण एवं विकास में कोई योग दे सकेंगे, सर्वथा भ्रामक होगा। यह कार्य यूरोपवासियों को यथा इंगलैंड, फ्रांस तथा जर्मनी जैसे देशों को जहाँ विज्ञान प्रगति पर है, अपने हाथ में लेना होगा। हाल ही में जर्मनी में आयोजित एक सम्मेलन में वैज्ञानिकों ने यह प्रस्ताव रखा है कि चन्द्रमा तक की यात्रा के लिए 'चान्द्र बस' या 'मून बस' का निर्माण न केवल आवश्यक है वरन् उपयोगी भी सिद्ध होगा, क्योंकि एकबारगी चन्द्रमा तक यात्रा नहीं की जा सकती। इसके निमित्त अन्तरिक्ष में 'स्टेशनों' की स्थापना करनी होगी। पृथ्वी से इन स्टेशनों तक की यात्रा इन्हीं 'मून बसों' पर हो सकेगी। बाद में इन स्टेशनों से चन्द्रमा की सैर सम्भव हो सकेगी।

ये मून बसें एक श्रेणी या द्विश्रेणी (two stage) के राकेट रूप में होंगी। इनमें तथा आधुनिक राकेटों या अन्तरिक्ष यानों में यह अन्तर होगा कि इन बसों को बारम्बार काम में लाया जा सकता है जबकि राकेटों को नहीं। अतः यदि प्रशिक्षित एवं निपुण अन्तरिक्ष यात्रियों के सहयोग द्वारा इन बसों का संचालन प्रारम्भ हो सके तो बड़ा लाभ हो सकता है। यही नहीं, चन्द्रमा अन्य ग्रहों की यात्रा के समय विश्राम-स्थल का काम भी करेगा 'क्योंकि चन्द्रमा पर गुरुत्वाकर्षण का लेश

मात्र भी नहीं है। अतः राकेटों को चन्द्रमा पर उतारना सरल होगा। यही नहीं चन्द्रमा में रहकर कुछ कार्यों को अधिक सुगमता से सम्पादित किया जा सकता है। उदाहरणार्थ वाकुम इन्जीनियरी, प्लास्टिक तथा समस्थानिकों का निर्माण। किन्तु इन सबके लिए पृथ्वी से ही सामान लाना होगा। फलतः "मून बसों" का बनाया जाना प्रथम समस्या है। यदि अमरीकी योजना के अनुसार सन् १९७० तक मनुष्य चन्द्रमा पर पहुँच गया तो अवश्य ही चन्द्रमा तक की यात्रा आर्थिक दृष्टि से भी लाभदायक सिद्ध होगी।

३. सूर्य के धब्बे मौसम तथा अन्तरिक्ष यात्रा को भी नियन्त्रित करते हैं

अन्तरिक्ष यात्रा सम्बन्धी अनुसन्धानों से यह ज्ञात हुआ है कि पृथ्वी के चारों ओर ऊँचाई पर वान एलेन **विकिरण पेटी** स्थित है जिसमें से सूक्ष्म तरंग के ब्रह्माण्ड-विकिरण निकलते रहते हैं। यदि अन्तरिक्ष यात्री इस पेटी के परे यात्रा करना चाहते हैं तो उन्हें अपनी सुरक्षा के साधन ढूँढ़ निकालने होंगे। किन्तु इससे भी विचित्र बात यह है कि सूर्य से भी कुछ विकिरण निकलते रहते हैं जो ११ वर्ष बाद फेरा लगाते हैं। यह फेरा सूर्य के धब्बों से सम्बन्धित है। वान एलेन पेटी सूर्य के इन विकिरणों से बुरी तरह प्रभावित होता है।

यह भी ज्ञात हो चुका है कि सूर्य के धब्बे धब्बे मात्र न होकर विकिरण-सक्रियता के केन्द्र हैं जिनमें से अदृश्य प्रकाश उत्सर्जित होता रहता है। यह प्रकाश विद्युत उत्पन्न कर सकता है अतः सूर्य के इस वैद्युत-प्रभाव से पृथ्वी का चुम्बकीय क्षेत्र प्रभावित होने लगता है। इससे जो असन्तुलन उत्पन्न होता है वह "चुम्बकीय तूफान" कहलाता है। यह तूफान सामान्य तूफानों से भिन्न होता है। इसमें वायु-मण्डल की कुछ पर्तो में विद्युत आवेश इस प्रकार घटता-बढ़ता है कि पृथ्वी के चुम्बकीय क्षेत्र की बल रेखायें अपनी सामान्य स्थिति को खोकर नवीन रूप ग्रहण करने लगती हैं और ऐसा प्रतीत होता है मानों पृथ्वी के विशाल-चुम्बक के ध्रुव पलटा खा रहे हों। उसका यह प्रभाव पड़ता है कि सूर्य से इलेक्ट्रानीय धारायें बहकर ऐसे क्षेत्रों में चली आवें जहाँ पहले प्रकाश न रहता रहा हो। इसे "ध्रुवीय प्रकाश" की घटना कहते हैं। किन्तु ऐसी घटनायें तभी होती हैं जब सूर्य की सक्रियता बढ़ जाती है। उदाहरणार्थ जर्मनी में सन् १९५८ के सितम्बर मास में "भीषण अग्निकाण्ड" जैसी घटना प्रेक्षित की गई थी। उस वर्ष सूर्य को सक्रियता अपने शिखर पर थी। यह अनुमान लगाया जाता है कि सन् १९६४ में यह सक्रियता सर्वाधिक न्यून अथवा न्यूनतम रहेगी। अतः इस अवधि तक पृथ्वी एवं अन्तरिक्ष यानों के मध्य जो सम्पर्क स्थापित होगा वह अत्यन्त सन्तोषजनक रहेगा क्योंकि रेडियो तरंगें वायु के वैद्युत आवेश पर ही निर्भर करती हैं। यदि वायु के वैद्युत आवेश में एकाएक कोई परिवर्तन हो जाय तो इससे बड़ा घातक प्रभाव पड़ सकता है, क्योंकि तब अन्तरिक्ष यान से जो सिगनल सुनाई पड़ेंगे वे भर्राहट के सिवा और कुछ नहीं रहेंगे। यद्यपि पूर्वज्ञान के द्वारा यह सम्भव है कि अन्तरिक्ष यानों में ऐसी तरंग दैर्ध्यों का उपयोग किया जाय जिन पर चुम्बकीय तूफानों का प्रभाव न पड़े किन्तु सूर्य की सक्रिय अवधि के समय यह कह सकना कठिन है कि उससे रेडियो संचार अक्षत रह पावेंगे। सन् १९४८ में जब सूर्य की उग्रता सर्वाधिक थी तो यूरोपवासी अपने रेडियो को "वायस आफ अमरीका" पर लगाते थे, किन्तु उन्हें सुनाई पड़ता था मास्को का संवाद। इसका कारण यह था कि लघु तरंगें जिस वायु पेटी द्वारा ऊँचाई पर यात्रा करती हैं वह सूर्य द्वारा तीव्र विकिरण उत्सर्जित किये जाने के कारण विचलित हो गई थी।

सन् १९६८-६९ में पुनः सूर्य-उग्रता बढ़ेगी। अतः तब तक ऐसे प्रयोग किये जा सकते हैं जिनमें सूर्य के प्रभाव की आशंका हो। किन्तु यह भी सम्भव है कि तब तक अमरीकी वैज्ञानिक ऐसे व्यवधानों को जीतने में समर्थ भी हो सकें, क्योंकि आखिर उनकी घोषणा है

कि १९७० में वे चन्द्रमा पर पहुँच जावेंगे।

इन सूर्य के धब्बों का सम्बन्ध मौसम से भी जोड़ा जाता है। प्रेक्षणों से यह सिद्ध होता है कि अफ्रीका की विक्टोरिया झील का जल-स्तर सन् १७५० ई० से सूर्य की उग्रता के साथ घटता-बढ़ता रहा है। अनेक सूर्य धब्बों का अर्थ है अधिक वर्षा का होना। यही नहीं प्रोफेसर बॉर का यह अभिमत है कि मध्य योरप की जलवायु सूर्य की उग्रता से प्रभावित होती है। अत्यधिक या अत्यल्प सूर्य के धब्बों का होना अत्यन्त जाड़े से युक्त शीत ऋतु अथवा असह्य ग्रीष्म ऋतु का सूचक है। किन्तु यह भविष्यवाणी पिछले वर्ष असत्य सिद्ध हो चुकी है।

इसी प्रकार से पौदों के तनों के भीतर बने हुए छल्ले भी सूर्य की उग्रता से सम्बन्धित बताये जाते हैं। यह पाया गया है कि जिस वर्ष सूर्य की उग्रता प्रचण्ड थी उस वर्ष के बने छल्ले अधिक स्पष्ट थे। किन्तु यह कैसे होता है, कुछ कहा नहीं जा सकता।

चुम्बकीय तूफानों के द्वारा न केवल उपर्युक्त प्रकार की सम्भावनायें बतलाई जाती हैं वरन् यह भी सोचा जाता है कि इनके द्वारा मनुष्यों का स्नायु-मंडल भी प्रभावित होता है, जिसके कारण युद्ध एव विद्रोह उठ खड़े होते हैं। कुछ डाक्टरों का मत है कि जब सूर्य उग्रता पर हो उस समय आपरेशन नहीं किये जाने चाहिए। एक अमरीकी लेखक ने तो यहाँ तक लिख मारा है कि सूर्य पर व्यापार की तेजी या मंदी तक प्रभावित होती है।

४. क्या अन्तरिक्ष यानों में मनुष्य को हरदम ही यात्रा करनी होगी ?

अन्तरिक्ष यात्राओं के लिए मनुष्य की आवश्यकता पड़ती ही रहेगी, क्योंकि अमरीकी अन्तरिक्ष यात्री गोर्डन कूपर जिस यान में यात्रा कर रहे थे, उसकी स्वचालित मशीनरी सहसा ठप हो गई थी। बाद में यह पता लगा कि कूपर के पसीने के कारण ही मशीनरी फेल हुई थी। अतः यह प्रश्न करना स्वाभाविक है कि मनुष्य की अपेक्षा मशीनरी कम विश्वसनीय है और उसे सर्वथा विश्वसनीय बनाने के लिये आवश्यक है कि उनकी प्रविधि में और सुधार हों। फिर भी कुछ लोगों का मत है कि बिना मनुष्य के ही अन्तरिक्ष यानों की यात्रा सम्भव हो सकती है। अन्तरिक्ष यान की कोठरी (केबिन) के भीतर जिस प्रकार यात्री को रहना पड़ता है, वह निपुण से निपुण यात्री को भी कभी-कभी भ्रमित कर सकता है। उसका मानसिक संतुलन बिगड़ सकता है और यदि स्वचालित यंत्र पूर्व योजना के अनुसार कार्य न करें तो दुर्घटना घट सकती है। यह सम्भव है कि अन्तरिक्ष में यात्रा के दौरान उसे इतने प्रकार के चित्र दिखें, उसे इतनी नवीन सूचनायें प्राप्त हों कि वह उनके विषय में सोचकर उन्मत्त हो उठे अथवा यह भी सम्भव है कि अमित थकान का अनुभव करने के कारण वह निर्दिष्ट रीति से यान का संचालन न कर सके - ऐसी स्थितियों में तो यही कहना पड़ेगा कि स्वचालित यंत्र ही मनुष्य से श्रेष्ठ सिद्ध होंगे, क्योंकि न तो वे थकान का अनुभव करते हैं और न उनमें इन्द्रिजन्य उद्वेगों का ही प्रभाव पड़ता है। यही नहीं यदि आवश्यकता पड़े तो कई दिन तक बिना विश्राम किये कार्य कर सकते हैं। अतः यह तर्क न्यायसंगत जान पड़ता है कि जब मशीनरी को न तो भोजन और न वायु की आवश्यकता होती है और न ताप अथवा ब्राह्माण्डीय-विकरणों का ही प्रभाव उस पर पड़ता है तो मनुष्य के बजाय इन्हीं स्वचालित यन्त्रों द्वारा नियन्त्रित अन्तरिक्ष यान क्यों न काम में लाये जायँ !

यह सच है कि मनुष्य की कोई भी क्रिया ऐसी नहीं है जो यन्त्रों द्वारा अनुकरणीय न हो, किन्तु यह विशुद्ध कल्पना है जिसमें अतिरंजना से काम लिया जाता है। मनुष्य का मस्तिष्क एक साथ इतनी सूचनायें ग्रहण कर सकता है और इतनी बातें समझ सकता है कि यदि उनमें से प्रत्येक के लिये यंत्र लगाये जायँ तो उनका भार मिलकर इतना अधिक हो जावेगा कि अन्तरिक्ष यान के लिए उसे वहन कर पाना दुष्कर

हो जावेगा। साथ ही यह भी देखा गया है कि स्वयं-चालित यंत्र पूर्वनिर्दिष्ट विधि से ही कार्य कर सकते हैं। यदि उनमें से कोई भी अंग खराब हो जाय तो उसके सुधार की कोई गुंजाइश नहीं होती। अतः आपद-काल में किसी प्रकार भी नियन्त्रण प्राप्त कर पाना कठिन हो जावेगा। तीसरी बात यह है कि ये स्वयं-चालित यंत्र उन अन्तरिक्ष-स्टेशनों को किसी भी प्रकार नहीं पहचान पावेंगे जो मनुष्यों द्वारा चन्द्र यात्रा के लिये स्थापित किये जावेंगे।

फिर भी यह सम्भावना है कि ऐसे 'रोबटों' को निर्मित किया जा सकेगा जो भविष्य में वही कार्य कर सकेंगे जो आजकल मनुष्य कर रहा है, किन्तु इसमें न जाने कितना समय लग जाय!

५. मुर्चे एवं संक्षारण के विरुद्ध जिहाद

पानी तथा वायु में वर्तमान आक्सिजन के द्वारा प्रति वर्ष न जाने कितनी क्षति होती है। मुर्चे तथा संक्षारण धातुओं के शत्रु हैं। अतः यदि आक्सिजन से उनकी रक्षा नहीं की जाती तो ये शत्रु सक्रिय बने रहते हैं; फलतः वैज्ञानिक इन दोनों शत्रुओं को परास्त करके राष्ट्रीय क्षति को रोकने के लिए कटिबद्ध हैं।

सभ्यता के प्रारम्भ काल से ही मुर्चे से बचने के लिए बर्तनों पर कलई की जाती रही है, किन्तु आधुनिक काल में समुद्रों में चलने वाले जहाजों में लगने वाले मुर्चे से बचने की समस्या उग्र रूप में उपस्थित है। यद्यपि पतले लेपों द्वारा लोहे को अक्सिजन से पृथक रखा जा सकता है, किन्तु ये लेप यान्त्रिक विधि से विनष्ट किये जा सकते हैं अतः पुनः मुर्चे की आशंका उठ खड़ी होती है। फिर भी यह देखा गया है कि यदि लोहे पर जिंक या कैडमियम की परत चढ़ा दी जाय तो मुर्चा नहीं लगता। उसका कारण यह है कि लोह तो राजसी धातु के समान क्रिया करता है। इसमें से विद्युत धारा निकल करके जिंक तक बहती है। जिंक न्यून राजसी धातु है। इसका परिणाम यह होता है कि जिंक धीरे-धीरे विनष्ट होता है। किन्तु यदि लोह को उससे अधिक राजसी धातु के साथ रखा जाय तो उल्टे परिणाम प्राप्त होंगे अर्थात् वह अच्छी धातु लोह के कारण टूट-टूट जावेगी इस प्रकार के ज्ञान का सदुपयोग सक्षारक नियन्त्रण के लिए किया जाने लगा है। समुद्री जल में अथवा गीली भूमि के भीतर लोहे की रक्षा उसके आस-पास उससे कम राजसी धातु—मैगनीसियम को प्रयुक्त करके की जाती है।

धातुओं के संक्षारण पर लवण, ताप तथा जल के वेग का अत्यधिक प्रभाव पड़ता है, फलतः आजकल समुद्री जहाजों की संक्षारण के प्रति सुरक्षा के लिए इलेक्ट्रानीय विधि प्रयुक्त की जाने लगी है। इसका मूल सिद्धान्त है—मुर्चे के द्वारा मुर्चे की रक्षा। उदाहरणार्थ निकेल तथा क्रोमियम नामक धातुयें भी लोहे की भाँति वायु में संक्षारित होती हैं और लगे मुर्चे की सतह इतनी कठोर होती है कि सरलता से हट नहीं पाती और यदि किसी प्रकार से यह सतह टूट भी जाय तो फिर नई सतह बन जाती है। लोहे के द्वारा बनाई गई मुर्चे की सतह अत्यन्त निर्बल होती है और इसके बन जाने से संक्षारण बन्द न होकर त्वरित होता है। इसका कारण यह है कि लोहे का मुर्चा वैद्युततः लोहे की अपेक्षा अधिक राजसी है, फलतः जब इन दोनों के मध्य धारा प्रवाहित होती है तो लोह टूट-टूट कर छितरने लगता है। किन्तु यदि लोहे के साथ निकेल या क्रोमियम मिला करके मिश्र इस्पात तैयार किया जाय तो वह अधिक टिकाऊ होता हैपरन्तु इस प्रकार से तैयार इस्पात अत्यन्त खर्चीला पड़ता है और इतने विस्तार से प्रयुक्त नहीं किया जा सकता।

लोहे को मुर्चे से बचाने की एक विधि और है। वह है लोहे को क्रोमियम के घोल में डुबोना। इस विधि से किस प्रकार आशाजनक परिणाम प्राप्त हो सकते हैं, बहुत दिनों तक यह कल्पना का विषय रहा, किन्तु बाद में एक अमरीकी वैज्ञानिक डा० कार्टलेज ने क्रोमियम के समानधर्मा धातु टेकनीशियम के प्रयोग द्वारा विलक्षण परिणाम प्राप्त किये। उन्होंने यह देखा

कि टेकनीशियम क्रोमियम से अधिक प्रभावी है । यह कल्पना की जाती है कि लोहे के इलेक्ट्रानों को टेकनीशियम लवण के धनात्मक आयन सुरक्षित बनाये रखते हैं ।

टेकनीशियम अत्यन्त विरल तत्व है । यह यूरेनियम के विखण्डन से प्राप्त होता है । यदि १०० ग्राम यूरेनियम-२३५ को विखण्डित किया जाय तो २·६ ग्राम टेकनीशियम मिलेगा । एक ग्राम टेकनीशियम का मूल्य लगभग ३५००० डालर है । किन्तु न्यूक्लीय भट्टियों की संख्याओं में वृद्धि होने के कारण १९६० के पश्चात् इस तत्व के उत्पादन में वृद्धि हुई है और इसका मूल्य भी घटा है और अब तो मूल्य २००० डालर प्रति ग्राम है । अमेरिका के न्यूक्लीय ऊर्जा कमीशन ने इसका मूल्य १०० डालर प्रतिग्राम स्थिर किया है जिससे आशा बँधने लगी है कि भविष्य में मुर्चे एवं संक्षारण के विरुद्ध जिहाद बोलने में टेकनीशियम सफल होगा ।

❀❀

—२८

नोबेल पुरस्कार विजेता भारतीय वैज्ञानिक—डा० रमन

पुरुषोत्तम जोशी-

डा० चन्द्रशेखर वेंकट रमन की गणना संसार के प्रमुख महान् भौतिकशास्त्रियों में की जाती है । विज्ञान जगत् को उनकी देन अद्वितीय है । संसार में जब तक 'प्रकाश' विद्यमान रहेगा, तब तक उनका नाम भुलाया नहीं जा सकता, क्योंकि उनकी खोजों का प्रमुख विषय 'प्रकाश' ही रहा है । डा० रमन के अनुसंधान की विशेषता यह रही है कि वह मौलिक होकर विविधता लिए हुए है । प्रकाश व रंग, समुद्र-जल का नीला रंग, एक्स-किरण, चुम्बक आदि के संबंध में उन्होंने काफी महत्वपूर्ण खोजें की हैं ।

न्यूटन ने सूर्य-प्रकाश से उत्पन्न होने वाले सप्त रंगों के बारे में खोज की थी और इन विविध रंगों के पृथक्करण का भी प्रयत्न किया था । डा० रमन ने इसी संबंध में एक नवीन एवं महत्वपूर्ण खोज की जो **'रमन-इफेक्ट'** के नाम से प्रसिद्ध हुई । इस आविष्कार का मूल-सारांश यह है कि प्रकाश का रंग बदलने का कारण परिक्षेपण है । उनकी इस खोज का विवरण सर्वप्रथम भारतीय भौतिक विज्ञान पत्रिका में प्रकाशित हुआ । डा० रमन के इस आविष्कार के कारण ही मणिभ सम्बन्धी शोध कार्य सुलभ हो सके । इसके अति-

रिक्त इन्होंने विद्युतवाही वस्तुओं के संबंध में भी अनुसंधान किये। अल्ट्रा-वायलेट किरणों की सहायता से उन्होंने 'ल्यूमिनिसेंस' पर भी अनुसंधान किए।

इन खोजों के परिणाम-स्वरूप देश-विदेश में डा० रमन ने जितना सम्मान पाया, उतना बहुत कम भारतीयों को प्राप्त हुआ है। सन् १६२१ में आक्सफोर्ड में हुए वैज्ञानिक सम्मेलन में उन्होंने भारत का प्रतिनिधित्व किया था। उसके बाद वे लगातार तीन वर्षों तक वहीं रहे और महत्वपूर्ण जानकारी एकत्रित की। सन् १६२४ में कनाडा में हुए अंतर्राष्ट्रीय वैज्ञानिक सम्मेलन में भी उन्हें ही प्रतिनिधि बनाकर भेजा गया था। इन सम्मेलनों में भाग लेने से वे विश्व के अनेक महान् वैज्ञानिकों के संपर्क में आये और उन्हें अपने अनुसंधान-कार्यों में सहायक जानकारी प्राप्त हुई। अमरीका की अनेक वैज्ञानिक संस्थाओं ने उन्हें भाषण देने के लिए आमंत्रित किया। इस यात्रा में अमरीका की प्रयोगशालाओं को देखने का उन्हें अवसर प्राप्त हुआ। बाद में रूस ने भी उन्हें आमंत्रित किया। जब वे रूस की यात्रा पर थे, तभी काकेशस भी गए और कैस्पियन सागर के जल का भी निरीक्षण किया। जल व आकाश के रंग के सम्बन्ध में खोज करते रहने का उन्हें चसका-सा ही था। नोबेल पुरस्कार लेने हेतु वे स्विटजरलैंड भी गये और तभी उन्हे जर्मनी की यात्रा करने का अवसर मिला।

डा० रमन ने अपने अध्यवसाय और अनुसंधानों द्वारा समस्त विश्व को प्रभावित किया है। यही कारण है कि उन्हें सर्वत्र सम्मान प्राप्त हुआ। सन् १६२४ में इंग्लैंड की 'रायल सोसायटी' ने उन्हें फैलो बनाया। सन् १६२८ में इटली की वैज्ञानिक संस्था ने आपको पुरस्कृत किया। 'रमन प्रभाव' के नाम से जानी जाने वाली उनकी संसार-प्रसिद्ध खोज पर उन्हें भौतिकशास्त्र पर नोबेल-पुरस्कार प्रदान कर सम्मानित किया गया। इसी वर्ष फ्रायवर्ग तथा ग्लास्गो विश्वविद्यालय ने उन्हें 'डाक्टरेट' की उपाधि प्रदान की। सन् १६३२ में पेरिस विश्व-विद्यालय ने भी इसी उपाधि से उन्हें सम्मानित किया।

भारतीय संस्थाएँ भी उनका सम्मान करने में पीछे नहीं रहीं। नोबेल पुरस्कार प्राप्त कर वे सन् १६३१ में स्वदेश वापस लौटे। यहां आते ही कलकत्ता, बम्बई, मद्रास, बनारस व ढाका के विश्वविद्यालयों ने उन्हें डाक्टरेट की उपाधि से सम्मानित किया। मैसूर रियासत के महाराजा ने भी 'राज सभा-भूषण' की उपाधि प्रदान की।

उपहारों और उपाधियों की डा० रमन को कतई चाह नहीं रही, बल्कि वे स्वयं उनके पीछे दौड़ती थीं। डा० रमन की यह मान्यता रही है कि एक सच्चे वैज्ञानिक का लक्ष्य केवल साधना करते रहना है, उपहार और उपाधियाँ तो गौण वस्तुएँ हैं। ऐसे महान् व्यक्ति का जीवन भी कम प्रेरणादायक नहीं होता क्योंकि समय की इन सफलताओं के पीछे साधना और संघर्ष की एक लम्बी कहानी है।

डा० रमन का जन्म एक ऐसे घराने में हुआ जो सदैव विद्या प्रेमी रहा है। डा० रमन के दादा ख्यातिप्राप्त न्यायशास्त्री थे और पिता संगीत एवं विज्ञानप्रेमी। परिस्थिति वश ही उनके पिता विज्ञान के क्षेत्र में अधिक अध्ययन नहीं कर सके और उन्हें अध्यापक की नौकरी करना पड़ी। उन्होंने नौकरी करते हुए ही बी० एस०-सी० की परीक्षा उत्तीर्ण की। इसी वर्ष ७ नवम्बर १८८८ को डा० रमन का जन्म हुआ। पिता की भी रुचि विज्ञान में होने के कारण घर में काफी वैज्ञानिक पुस्तकें थीं और चर्चा भी इसी विषय की हुआ करती थी। परन्तु बाल्यावस्था में डा० रमन पर डा०एनीबेसेण्ट का भारी प्रभाव था और इसी कारण उनकी रुचि धार्मिक ग्रंथों के अध्ययन की ओर अधिक थी। मैट्रिक पास करने के पश्चात् डा० रमन ने प्रेसिडेन्सी कालेज में प्रवेश लिया। एक बार उस कालेज में प्राचीन काव्य के सम्बन्ध में एक निबन्ध प्रतियोगिता का आयोजन किया गया। डा० रमन ने रामायण व महाभारत महाकाव्यों पर निबन्ध लिखा और उक्त प्रतियोगिता में पुरस्कृत हुए।

डा० रमन जब बी० ए० में भरती हुए तो उनके समक्ष विषय-चयन की समस्या आई। मित्रों और घर के लोगों की इच्छा थी कि वे ऐसे विषय लें, जिनसे सरकारी नौकरी प्राप्त करने में आसानी हो। परन्तु डा० रमन ने विज्ञान विषय ही लिया। धार्मिक प्रवृत्ति होने के कारण सत्य की खोज के लिए उन्होंने इसी विषय को उपयुक्त समझा।

डा० रमन ने बी० ए० परीक्षा उत्तीर्ण की और प्रथम स्थान प्राप्त किया। उन्हें स्वर्ण-पदक प्रदान किया गया। इसके बाद वे एम०ए० की तैयारी करने लगे। अब उन्हें नये-नये प्रयोग करने का भी अवसर प्राप्त हुआ। इन प्रयोगों के दौरान उन्होंने कुछ नवीन परिणाम भी प्राप्त किये। इन परिणामों के सम्बन्ध में उन्होंने अपने अध्यापकों से मार्ग-दर्शन चाहा तो उनमें से एक भी उन्हें नहीं समझ सका। स्वयं डा० रमन ने ही डा० रेले की पुस्तकों की सहायता से उनका कारण खोज निकाला। मैल्डे के ध्वनि-तरंगों संबंधी सिद्धान्तों में उन्होंने संशोधन किये और उनके सिद्धान्तों को सर्वत्र मान्यता मिली। डा० रेले को जब इस खोज का पता चला तो उन्होंने भी रमन को बधाई का सन्देश भेजा।

एक बार डा० रमन ने अपनी एक नवीन खोज पर निबन्ध लिखा और उसे अपने अध्यापक को जाँचने के लिए दिया। किन्तु अध्यापक उसे न समझ सके और बिना कारण उसे अपने पास तीन माह डाल रखा। आखिर वे उसे वापस ले आये और स्वयं ही संशोधन कर उसे इंग्लैंड की **"फिलासाफिकल मेगजीन"** में प्रकाशनार्थ भेज दिया। पंद्रह वर्ष की आयु के एक भारतीय के निबन्ध का एक महत्वपूर्ण ब्रिटिश पत्र में प्रकाशित होना बड़ी बात थी। उक्त निबन्ध का विषय ध्वनि और प्रकाश ही था। उसी वर्ष आपने भौतिकशास्त्र में एम० ए० की परीक्षा भी उत्तीर्ण कर ली। परीक्षा में न केवल उन्होंने प्रथम स्थान प्राप्त किया, बल्कि भौतिक-शास्त्र में सर्वोत्तम अंक प्राप्त कर मद्रास विश्वविद्यालय में एक नवीन रिकार्ड स्थापित किया।

इसके बाद वे अध्ययन हेतु विलायत जाना चाहते थे, किन्तु उनकी शारीरिक दुर्बलता के कारण डाक्टरों ने देश से बाहर न जाने का परामर्श दिया उन्होंने खाली बैठना उचित नहीं समझा। वे भारत सरकार के अर्थ विभाग द्वारा संचालित परीक्षा की तैयारी करने लगे। इतिहास व संस्कृत इस परीक्षा के ऐसे विषय थे जिनको छोड़े हुए उन्हें काफी समय हो चुका था। फिर भी उन्होंने इस परीक्षा में भी प्रथम स्थान प्राप्त कर सब को चकित कर दिया।

इस परीक्षा को उत्तीर्ण कर लेने के पश्चात् उनकी नियुक्ति कलकत्ता में एक उच्च प्रशासकीय पद पर कर दी गई। इसी बीच उन्होंने एक विजातीय लड़की के साथ विवाह कर लिया। इस विवाह की लोगों ने बड़ी आलोचना भी की, किन्तु नव-युवक वर्ग ने उनका समर्थन ही किया। डा० रमन कलकत्ता तो आ गये, किन्तु उनका वहाँ मन नहीं लगा। आपको वैज्ञानिक प्रयोगों का चसका था, किन्तु वहाँ उन्हें इसके लिए कोई साधन नहीं था।

एक दिन जब डा० रमन दफ्तर से घर की ओर लौट रहे थे, तभी उनकी दृष्टि एक साइन-बोर्ड पर पड़ी। उस पर लिखा हुआ था—भारतीय विज्ञान परिषद्। वे उस संस्था के भवन में गये, परन्तु वहाँ के सभी व्यक्ति जा चुके थे। उस संस्था के संचालक आशुतोष मुखर्जी वहीं थे। उन्होंने डा० रमन का स्वागत किया। बातचीत में डा० मुखर्जी उनसे इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने डा० रमन को प्रयोग करने हेतु आमंत्रित किया। डा० रमन प्रतिदिन वहाँ जाने लगे और अनेक महत्वपूर्ण प्रयोग किये। इन प्रयोगों का विवरण प्रकाशित भी किया गया जिसकी सर्वत्र सराहना की गई।

दुर्भाग्यवंश डा० रमन का स्थानान्तरण रंगून हो गया। इस कारण उन्हें बड़ा दुख हुआ, किन्तु विवश हो वहाँ जाना पड़ा। वहाँ उनका मन बिलकुल नहीं लगा। उसी बीच उनके पिता की मद्रास में मृत्यु हो गयी। वे लम्बी छुट्टी लेकर मद्रास आ गये। वे

पिता की मृत्यु से निराश नहीं हुए, बल्कि उन्होंने उनके छोड़े गये कार्यों को पूर्ण करने का निश्चय किया। वे वहीं अपने पुराने प्रेसिडेन्सी कालेज की प्रयोगशाला में प्रयोग करने लगे। उधर सरकार ने भी उनका स्थानान्तरण निरस्त कर नागपुर कर दिया। उन्होंने शीघ्र ही नवीन पद का कार्य-भार संभाल लिया, किन्तु वहाँ के एक अँग्रेज अधिकारी से उनकी अनबन हो जाने के कारण पुनः उनका स्थानान्तरण कलकत्ता कर दिया गया। इस स्थानान्तरण से उन्हें प्रसन्नता ही हुई, क्योंकि उन्हें पुनः आशुतोश मुखर्जी के साथ कार्य करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। तब तक मुखर्जी के सद्प्रयत्नों से कलकत्ता विश्वविद्यालय में भौतिक-शास्त्र पढ़ाने की व्यवस्था भी हो चुकी थी। डा० रमन वहाँ जाकर अपनी रुचि के कार्य में पुनः संलग्न हो गये। आचार्य प्रफुल्लचन्द्र राय व डा० बसु भी उस समय वहाँ प्रयोग कर रहे थे। डा० रमन को अपने कार्यों में अच्छा सहयोग प्राप्त हुआ। उन्होंने अपने प्रयोगों पर निबन्ध लिखे व कलकत्ता विश्व-विद्यालय ने डाक्टर की उपाधि से सम्मानित भी किया।

डा० रमन सन् १९३३ में बँगलौर स्थित इंडियन इंस्टिट्यूट आफ सायंस के संचालक नियुक्त किये गये। भौतिक-शास्त्र व गणित विभाग उस संस्था में आपके ही प्रयत्नों से आरम्भ हुए। सन् १९३४ में डा० रमन के ही प्रयत्नों से "इंडियन एकेडमी आफ सायंस" नामक संस्था की स्थापना हुई। सन् १९४३ में उन्होंने एक और संस्था को जन्म दिया जो "डा० रमन रिसर्च इंस्टिट्यूट" के नाम से कार्य कर रही है।

भारत जब तक गुलामी की जंजीरों में जकड़ा हुआ था, तब तक उसने विज्ञान के क्षेत्र में कोई उन्नति नहीं की थी। उन दिनों न तो ऐसे कार्यों के लिए प्रोत्साहन ही मिलता था और न साधन ही उपलब्ध थे। तब भी ऐसे समय में कुछ विज्ञान के महान् उपासकों ने जन्म लेकर देश की बड़ी सेवा की है। अब भारत स्वतंत्र है और हमारे लिए उन्नति के लिए सभी मार्ग खुले हैं। इस नवीन भारत के निर्माताओं को पुराने वैज्ञानिकों का जीवन प्रकाश-स्तम्भ की तरह मार्ग-दर्शन देता रहेगा। हमारा यह सौभाग्य है कि ऐसे वैज्ञानिकों में से डा० रमन आज भी हमारे बीच हैं। उनकी उपस्थिति ही हमारे देश को विज्ञान के क्षेत्र में आगे बढ़ने की प्रेरणा देती रहेगी।

●●

जवानों के हाथ मजबूत करने के लिए

और

देश के सर्वाङ्गीण विकास के लिए
अपना योगदान कीजिए
अधिक से अधिक बचाइए

तथा

अपनी बचत

१ – १२ वर्षीय राष्ट्रीय सुरक्षा प्रमाण पत्र
२—१० वर्षीय सुरक्षा डिपाजिट प्रमाण पत्र
३—१५ वर्षीय वार्षिकी पत्र
४—बढ़ने वाली सावधिक योजना
५—डाकघर व बचत बैंक

इन राष्ट्रीय बचत योजनाओं में लगाइए।

इस प्रकार

आय कर रहित ब्याज प्राप्त करने के साथ
देश को मजबूत बनाइए।
विशेष जानकारी के लिए
अपने जिला संगठनकर्त्ता राष्ट्रीय बचत से सम्पर्क स्थापित करें।

सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश द्वारा प्रसारित

सार संकलन

१. महासागरों के गर्भ से महत्वपूर्ण अवशेष

कुछ समय पूर्व, कैलिफोर्निया विश्वविद्यालय के संग्रहालय में एक चमकती हुई पीतल की घड़ी तथा २७० वर्ष पुरानी कुछ अन्य वस्तुएँ प्रदर्शित हुई थीं। ये वस्तुएँ अपूर्व हैं, क्योंकि कैरिबियन सागर के जल में उस समय से ही पड़ी रहने पर भी वे खराब नहीं हुई थीं, जब भूकम्प के कारण २,००० व्यक्ति मृत्यु के गाल में समा गये थे और एक नगर का अधिकांश विनष्ट हो गया था। घड़ी के पीतल के बने कोमल दाँतदार चक्र (गियर) इस समय भी उसी तरह चमकते हैं, जिस तरह वे उस समय चमक रहे थे, जब ७ जून, १६९२ को यह घड़ी - सम्भवतः अपने स्वामी के साथ ही—समुद्र में बह गयी थी। इतने समय तक पानी में डूबी रहने पर भी यह तनिक भी क्षरित नहीं हुई है।

इस अवधि में घड़ी के ऊपर मूँगे की एक परत भर जम गई थी, जिसे पुरातत्ववेत्ताओं ने बड़ी सावधानी से उस पर से हटा दिया है। उसकी लोहे की बनी सुइयाँ ही गायब थीं। किन्तु वैज्ञानिकों ने एक्स-रे द्वारा मूँगे की जाँच की और उस पर उन्हें विनष्ट सुइयों के हल्के निशान मिल गये। सुइयों के निशानों से मध्याह्न से १७ मिनट पहले का समय निर्दिष्ट था —और भूकम्प आने का समय भी ठीक वही था।

इस घड़ी को ढूँढ़ निकालने का श्रेय एडविन लिंक को है, जो अमेरिका के विद्युदाणविक और उड्डयन सम्बन्धी यन्त्रों के एक आविष्कर्त्ता हैं। उन्होंने पोर्ट रायल, जमैका के ध्वंसावशेषों में १० सप्ताह तक गोताखोरी करके इस घड़ी को तथा सैकड़ों अन्य वस्तुओं को समुद्र के गर्भ से प्राप्त किया था। कीचड़ और गंदले पानी की कठिनाइयों पर विजय प्राप्त करने के लिए, उन्होंने एक विशेष प्रकार के गोताखोर एवं शोधक जहाज का नमूना तैयार किया। इस अनुसन्धान के फलस्वरूप, उन्हें जो बहुमूल्य एवं महत्वपूर्ण वस्तुएँ प्राप्त हुईं, उनमें अँग्रेजी शराब की कांच की बनी बोतलें, लम्बे-लम्बे मिट्टी के पाइप, काँसे की प्लेटें और १५ वीं शताब्दी की एक तोप के कुछ भाग सम्मिलित हैं। ये सभी वस्तुएँ पानी के नीचे पड़े रहने पर भी अच्छी हालत में सुरक्षित रहीं।

विश्वविद्यालय के संग्रहालय के वरिष्ठ मानव-वैज्ञानिक, मिचेल जे० हार्नर का कहना है कि समुद्र-गर्भीय पुरातत्व ने अनेक महत्वपूर्ण योग प्रदान किये हैं। उदाहरण के लिए, समुद्र में ध्वस्त पुराने जहाजों की खुदाई से उस समय की संस्कृतियों की एक स्पष्ट झलक मिल जाती है, जिस समय वे समुद्र में डूबे थे। इससे व्यापार तथा नौकानयन की प्राचीन विधियों के सम्बन्ध में पर्याप्त आँकड़े उपलब्ध होते हैं।

धार्मिक रीतियों सम्बन्धी जानकारी उन स्थानों से ढूँढ़ी गई वस्तुओं से प्राप्त हो सकती है, जहाँ किसी धार्मिक संस्कार के सिलसिले में देवी-देवताओं को चढ़ाये गये पदार्थ जल में तिरोहित किये गये थे। अगणित शताब्दियों तक लोगों के पास ऐसे यन्त्र और

सहायक उपकरण नहीं रहे; जिनसे उन्हें समुद्र के खाद्य-पदार्थों, सीपी-घोंघों, स्पंजों और मोतियों तथा खजानों से भरे डूबे जहाजों की खोज करने में मदद मिलती। किन्तु, हाल के वर्षों में वैज्ञानिक लोग आधुनिक उपकरणों की सहायता से मानव के भूत-कालीन इतिहास के प्रचुर संकेत-चिह्नों और अवशेषों का संग्रह करने में समर्थ हुए हैं।

गोताखोर पुरातत्ववेत्ता प्रायः भूतकालीन सभ्यताओं के अवशेषों और तत्सम्बन्धी सूचनाओं को ढूंढ़ निकालने के प्रयास में समुद्र के भीतर डुबकियाँ लगाते हैं। कैमरा लेकर डुबकी लगाने वाले गोताखोर सैकड़ों वर्षों से समुद्र-तल में डूबे हुए जहाजों और उन पर लदे माल के चित्र खींचते हैं। १९६० में, पैन्सिल्वैलिया विश्वविद्यालय की एक टोली ने प्राचीन काल में समुद्र में डूब कर नष्ट हो चुके एक जहाज की नियमित रूप से खुदाई प्रारम्भ की इस डूबे हुए जहाज का पता सबसे पहले स्पंज की खोज करने वाले गोताखोर को टर्की के दक्षिण-पश्चिमी तट के निकटवर्ती समुद्र में लगा था। यह जहाज ईसा से लगभग १,२०० वर्ष पूर्व ट्रोजन युद्ध के समय ध्वस्त होकर वहाँ डूबा था।

इस पर जो माल लदा था, उसमें एक टन से अधिक वजन के कांसे के औजार और ताँबे की ईंट सम्मिलित थीं। अब तक कांस्य युग की धातुओं और औजारों का इतना विशाल भण्डार कहीं और नहीं सुलभ हो सका है। अनुसन्धान कर्ताओं को ध्वंसावशेषों में टिन का मुर्चा लगा कुछ अंश भी प्राप्त हुआ, जो धातु के औद्योगिक प्रयोग का प्राचीनतम नमूना है। खोज में प्राप्त अनेक औजार टूट गये थे और उनके टुकड़े स्पष्टतः बह गये थे।

इस गोताखोर टोली में पुरातत्ववेत्ता, रेखाचित्र-कार और फोटोग्राफर सम्मिलित थे। उन्होंने उस स्थान की खोज इतनी सावधानी से की, मानो वे सूखी भूमि पर खोज कर रहे हों। समुद्री घास को साफ करके, उन्होंने ध्वस्त जहाज के अवशेषों के फोटो खींचे और रेखा-चित्र बनाये। जहाज के भीतरी भाग में उन्हें मिस्र के प्राचीन झींगुर मिले। उसी प्रकार, नाविकों के कक्षों में भोजन के कुछ अवशिष्टांश—जैतून के छिलके और मछली की हड्डियाँ मिलीं। श्री हार्नर का कहना है कि इस खोज के दौरान समुद्र के गर्भ में अनुसन्धान करने की जो विधियाँ विकसित हुईं, वे निश्चित रूप से प्राचीन समुद्री लोगों के पानी में डूबे हुए कितने ही अन्य महत्वपूर्ण अवशेषों की खोज करने में भी उपयोगी सिद्ध होंगी।

२. रोगों के निदान और उपचार में ध्वनि का उपयोग

अति उच्च आवर्तन वाली ध्वनि को मांसपेशियों की पीड़ा के उपचार में अब एक उपयोगी साधन के रूप में व्यापक मान्यता प्राप्त हो चुकी है किन्तु, चिकित्सा और शल्योपचार के क्षेत्र में इसे नये-नये कार्यों के लिए प्रयुक्त किया जाने लगा है। इस क्षेत्र में अतिस्वन (अल्ट्रासोनिक्स) उपकरणों का सर्व-विख्यात उपयोग वह है, जिसके अंतर्गत टाइपराइटर के आकार का एक यन्त्र प्रयुक्त होता है। इस यन्त्र से एक विद्युत-रज्जु सम्बद्ध होती है, जिसमें हाथ में रखे जाने वाले ध्वनि-विस्तारक यन्त्र के आकार का एक उपकरण लगा होता है।

यह यन्त्र प्रति सेकण्ड लगभग १० लाख चक्रों वाली ध्वनि-लहरियाँ उत्पन्न करता है। ये ध्वनि-लहरियाँ अश्रव्य होती हैं, फिर भी वे बहुत गहराई तक प्रवेश करके इतना ताप उत्पन्न कर देती हैं, जिससे प्रायः घाव भरने और पीड़ा कम होने लगती है। मांसपेशियों की पीड़ा तथा ऐसी अन्य चोटों के लिए, जो ताप से प्रभावित होती हैं, ध्वनि-लहरियों का प्रयोग एक उच्चकोटि का उपचार माना जाता है। अब इस सिद्धान्त को चिकित्सा के अन्य क्षेत्रों में भी प्रयुक्त किया जा रहा है।

उटाह के नाड़ी-चिकित्सक ने हाल ही में अपनी रिपोर्ट में बताया कि मस्तिष्क के रोगियों को स्वस्थ करने में सफलता मिली है। अन्य परीक्षणों के अन्त-

र्गत, ध्वनि-लहरियों का प्रयोग शरीर के भीतर वाले अंगों, जैसे हृदय की गड़बड़ियों का अध्ययन करने अथवा असामान्य विकास का पता लगाने के लिए किया गया है। मनुष्य की कर्णेन्द्रियाँ ध्वनियों की जिस तीव्रता का पता लगा सकती हैं, वह सीमित है। इस सीमा से अधिक या कम तीव्रता वाली ध्वनि-लहरियाँ श्रव्य होती हैं। चिकित्सा सम्बन्धी उद्देश्यों के लिए जिन ध्वनि-लहरियों का प्रयोग किया जाता है, उनकी गति सीमा से अधिक होती है, जिसका पता कर्णेन्द्रियाँ लगा सकती हैं। इन तेज अथवा 'अति-स्वन' तीव्रताओं पर ध्वनि सभी दिशाओं में प्रसारित नहीं होती, बल्कि एक पेंसिल के आकार की रेखा के रूप में क्रियाशील होती है।

उटाह कालेज ऑफ मेडिसिन के डा० पीटर लिण्डस्टार्म ने मस्तिष्क के भिन्न-भिन्न विकारों से पीड़ित १६२ रोगियों के मस्तिष्क पर इस प्रकार की ध्वनि-रेखाएँ छोड़ीं। इनमें से ६० मनोविकार से और १३२ मस्तिष्क की स्नायविक पीड़ा से विक्षिप्त थे। इनके स्वस्थ होने की कोई आशा नहीं थी। इनका भिन्न-भिन्न विधियों द्वारा उपचार हुआ। किन्तु कोई भी उपचार-विधि प्रभावकारी सिद्ध नहीं हुई। किन्तु अतिस्वन-उपचार के पश्चात्, मनोविकार के ३१ रोगियों और स्नायविक पीड़ा के १०६ रोगियों की दशा में इतना अधिक सुधार हुआ कि वे अपने काम पर जाने में समर्थ हो गये।

"अमेरिका साइकियाट्रिक एसोसियेशन" की हाल की एक बैठक में, डा० लिण्डस्टार्म ने बताया कि दृश्य और अश्रव्य उपचारों से प्रायः वैसे ही परिणाम प्राप्त हुए, जैसे आजकल के 'लेबोटोमी' नामक मस्तिष्क के शल्योपचार में छुरी का प्रयोग करने से प्राप्त होते हैं। अन्तर केवल इतना था कि ध्वनि-लहरियों द्वारा उपचार के कुछ गम्भीर उप-प्रभाव नहीं पड़े। छुरी द्वारा किये गये शल्योपचार में प्रायः यह दोष पाया गया है कि रोगी में कभी-कभी ऐसे परिवर्तन उत्पन्न हो जाते हैं कि वह स्वस्थ होने पर भी सामान्य जीवन व्यतीत करने में असमर्थ होता है। इसके विपरीत, अतिस्वन उपचार में मस्तिष्क के भीतर कोई शारीरिक परिवर्तन नहीं होता। उप-चार के बाद सूक्ष्मवीक्षण यन्त्रों द्वारा मस्तिष्क के जीवकोषों और रक्त धमनियों का सूक्ष्म अध्ययन करने पर मस्तिष्क के स्वरूप में किसी प्रकार के परिवर्तन दिखलायी नहीं पड़े। ध्वनि केवल नाड़ी के तन्तुओं को प्रभावित करती है और चिन्ता, विषाद, निराशा, दबाव आदि से पीड़ित व्यक्तियों पर इसका अति उत्तम प्रभाव पड़ता है।

इस प्रकार के उपचार के अन्तर्गत, खोपड़ी में १ इञ्च के तीन सूराख कर दिये जाते हैं। इनमें से एक या दो बार १०-१० मिनट तक की अवधि तक ध्वनि-लहरियाँ मस्तिष्क के भीतर पहुँचायी जाती हैं। अति-स्वन साधनों द्वारा शरीर के अन्य अंगों का भी उपचार हो रहा है। न्यूयार्क में, येशीवा विश्वविद्यालय के अल-बर्ट आइन्स्टीन कालेज ऑफ मेडिसिन में, हाल में ध्वनि-लहरियों का प्रयोग त्रि-आयामी फोटो खींचने सम्बन्धी एक अद्भुत विधि द्वारा किया गया है। इसके द्वारा चिकित्सकों को आँख की गिल्टी का सही ठिकाना मालूम करने में सफलता मिली है।

डा० गिलबर्ट बौम के नेतृत्व में कार्य करने वाली चिकित्सक टोली ने फोटोग्राफी की इस विधि को "अल्ट्रासोनोग्राफी" नाम दिया है। इसके अन्तर्गत विशेष यन्त्र ने, जो राडार और "सोनर" के ही सिद्धान्त पर क्रियाशील होता है; अति-उच्च आवर्तन की ध्वनि-लहरियों के स्पन्दनों से आँख का सूक्ष्मावलो-कन किया। ध्वनि की प्रतिध्वनियों को एक राडार-दर्शन प्रणाली ने ग्रहण कर लिया और उन्हें एक चित्र में परिणत कर दिया, 'जिसे 'अल्ट्रासोनोग्राम' की संज्ञा दी गयी। इसे टेलिविजन जैसे पटल पर प्रक्षिप्त करके उसका फोटो खींच लिया गया।

फोटोग्राफों की अनुकृतियाँ स्लाइडों पर तैयार की गयीं। इन स्लाइडों को क्रमशः एक के ऊपर एक करके ऐसे स्तरों पर रखा गया, जिससे एक त्रि-आयामी चित्र

तैयार हो गया। इस नवीन विधि का प्रयोग करके, डा० बौम और उनके सहयोगियों ने आँख की गिल्टी का सही-सही ठिकाना मालूम करने में सफलता पायी। इसके पूर्व एक्सरे तथा अन्य विधियों द्वारा उसके स्थान का सही-सही निर्धारण करने में असफलता मिल चुकी थी।

इस प्रकार प्राप्त सही जानकारी के आधार पर शल्य-चिकित्सकों ने गिल्टी को काट कर निकाल दिया। बाद में रोगी की नेत्र ज्योति पहले ही की तरह लौट आयी और वह सामान्य रूप में देखने में समर्थ हो गया।

"एकाउस्टिकल सोसाइटी ऑफ अमेरिका" को हाल की एक बैठक में, एक नये यन्त्र के निर्माण की घोषणा की गई, जो अतिस्वन ऊर्जा के हल्के स्पन्दन उत्पन्न करता है, उन्हें मनुष्य के शरीर के भीतर सम्प्रेषित करता है, और प्रतिध्वनियों को अङ्कित करके शरीर में अङ्गों के संचालन का तथा शरीर में चोट या बीमारी का संकेत वाले अङ्गों के स्थानान्तरण का निर्धारण करता है। इस यन्त्र को वेस्टवुड, न्यूजर्सी, के सोनोमेडिकल कार्पोरेशन ने तैयार किया है। कहा जाता है कि यह यन्त्र प्रयोग में अन्य ध्वनि-प्रतिध्वनि यन्त्रों की अपेक्षा अधिक लोचशील है। इसलिए यह आशा की जा रही है कि इसके द्वारा ध्वनि-लहरियों से चिकित्सा विषयक अनुसन्धान के विस्तार में बहुत सहायता मिलेगी।

इस यन्त्र से किया गया माप इतना शुद्ध और सही हो सकता है कि यदि इसे किसी रोगी की कनपट पर लगा दिया जाय, तो चिकित्सक मस्तिष्क के दोनों गोलार्द्धों को पृथक् करने वाली दुहरी स्नायु के स्थान का सही-सही निर्धारण कर सकते हैं। इसी प्रकार का माप रोगी की दूसरी कनपटी पर यन्त्र को लगा कर प्राप्त किया जा सकता है। यदि मस्तिष्क की मध्यरेखा की प्रतिध्वनियाँ तुलना करने पर समरूपी नहीं होंगी, तो चिकित्सक दुहरी स्नायु में किसी विकार की आशंका कर सकते हैं। ऐसी स्थिति मस्तिष्क की किसी गिल्टी या रक्त के किसी चकत्ते का परिणाम हो सकती है। इस बात का निर्धारण हो जाने पर रोग का उपचार किया जा सकता है।

इस क्षेत्र के विशेषज्ञों का कहना है कि ध्वनि-लहरियों के प्रयोग यह सिद्ध करते हैं कि उनका सही ढंग पर प्रयोग हो तो उनमें कोई खतरा उत्पन्न नहीं हो सकता। एक्स-रे से ध्वनि-लहरियां इस दृष्टि से श्रेष्ठतर हैं कि उनमें विकिरण का कोई खतरा नहीं। साथ ही हड्डियों को छोड़कर शरीर के अधिकांश अन्य भागों का एक्स-रे चित्र लेने में टीका देकर शरीर के भीतर रसायन पहुँचाने पड़ते हैं। किन्तु ध्वनि-लहरियों द्वारा अंगों का चित्र खींचने में इसकी आवश्यकता नहीं पड़ती। अतः अनेक मामलों में एक्स-रे के बजाय ध्वनि-लहरियों के ही प्रयोग की आशा बढ़ गयी है।

अधिकांश लोग बातचीत, संगीत संकेत, या शोरगुल के रूप में सुखद और उपयोगी अथवा दुःखद और पीड़क ध्वनि से परिचित हैं। अब यही ध्वनि एक नये और प्रायः अज्ञात रूप में, तथा एक नई दिशा में महत्वपूर्ण होती जा रही है। श्रवणेन्द्रिय की सीमा के आगे, यह स्वास्थ्य के क्षेत्र में एक महत्वपूर्ण योग प्रदान कर रही है।

३. महासागर की तलहटी में धातुओं का खनन

कैलिफोर्निया विश्वविद्यालय के एक वैज्ञानिक का विश्वास है कि धातुओं के खनन की दृष्टि से महासागर की तलहटी, जो रसायनों और खनिजों का एक विशाल भण्डार है, भूतल पर स्थित खानों की अपेक्षा कहीं अधिक लाभदायक सिद्ध हो सकती है। उनका कहना है कि सागरों के गर्भ में छिपी ये खानें निरन्तर वृद्धिशील हैं, अतः वर्तमान उपभोग की मात्रा के सन्दर्भ में वे वस्तुतः असमाप्तप्राय हैं।

अमेरिकी रसायन परिषद् के १९६३ के वार्षिक अधिवेशन में भाषण करते हुए, डा० जोन एल० मीरो ने कहा कि समुद्र की तलहटी में दबी हुई गिलट,

ताँबा, कोबाल्ट, गन्धक, मैंगनीज तथा अन्य बहुमूल्य पदार्थों की खानों को खोदने का प्रयास होना चाहिए। उन्होंने कहा कि औद्योगिक दृष्टि से महत्वपूर्ण धातुओं का उत्पादन समुद्र के गर्भ से करने में खनन की लागत भूमि तल पर स्थित खानों से उनके उत्पादन की लागत के ५० से ७५ प्रतिशत तक ही पड़ेगी।

उन्होंने घोषणा की : "समुद्र की तलहटी का विदोहन उसकी सम्भाव्यता की तुलना में बहुत ही कम हुआ है। इसका मुख्य कारण रसायन और खनिज उद्योगों के क्षेत्र में इस सूचना का अभाव रहा है कि महासागरों के गर्भ में कौन-सी सम्पदाएँ छिपी हुई हैं और समुद्री खानों का विदोहन करना कितना लाभदायक सिद्ध होगा।"

समुद्र की तलहटी से खनिजों को प्राप्त करने के लिए खनिज की किस्म, स्थान और पानी की गहराई के अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकार की अनेक विधियाँ प्रयुक्त होती हैं। कुछ समुद्री तटों पर श्रमिक हीरे, सोना, टिन और सिलिका (अग्नि-प्रस्तर) एकत्र करते हैं। वर्षों जापान के समुद्री तट के निकट ६० फुट गहरे पानी के नीचे से चुम्बकीय रेत का खनन होता रहा है। महाद्वीपों की महासागरीय ढालू पट्टियों में खनिज तेल, गैस, गन्धक, चूना तथा आर्थिक दृष्टि से महत्वपूर्ण अन्य खनिज प्रचुर मात्रा में पाये जाते हैं। फास्फोराइट नामक धातु अर्जेण्टाइना, चिली, जापान, मैक्सिको, दक्षिण अफ्रीका, स्पेन, अमेरिका के पूर्वी और पश्चिमी तटों तथा हिन्द महासागर के द्वीपों के निकटवर्ती समुद्री पट्टियों में पायी जाती है। डा० मीरो का विश्वास है कि फास्फोराइट नामक वह धातु आस्ट्रेलिया और मध्य-पश्चिमी अफ्रीका के तटवर्ती समुद्र में भी मौजूद है।

महासागरों की गहरी तलहटी में, जिसका विस्तार सबसे अधिक है, खनिजों और रसायनों के सबसे बड़े भण्डार छिपे हुए हैं। कैलिफोर्निया विश्वविद्यालय के समुद्री साधन-स्रोत संस्थान का अनुमान है कि प्रशान्त महासागर की तलहटी में १ लाख ५० हजार करोड़ टन धातु-गुल्म (नोड्यूल्स) छिपे पड़े हैं। उनमें प्रति वर्ष एक हजार करोड़ टन धातु-गुल्मों की वृद्धि होती है। इनमें से अधिकांश धातु-गुल्म आलू के आकार के पिण्ड हैं। किन्तु फास्फोराइट के कुछ गुल्म बढ़कर इतने बड़े हो जाते हैं कि उनका व्यास लगभग १ गज तक पहुँच जाता है।

डा० मीरो का कथन है, 'समुद्र की तलहटी में पाये जाने वाले इन धातु-गुल्मों के उत्पन्न होने की दर सम्बन्धी हमारे वर्तमान अनुमान से यह संकेत मिलता है कि हम जिस दर से उनका उपभोग कर सकते हैं, उससे कहीं अधिक तीव्र गति से वे उत्पन्न हो रहे हैं। खनन उद्योग के इतिहास में पहली बार हमें एक ऐसा अनन्त खनिज स्रोत उपलब्ध हुआ है, जिसका विदोहन बार-बार हो सकता है।

धातु-गुल्मों में पाया जाने वाला लोहा या मैंगनीज नदियों, समुद्र के गर्भ में ज्वालामुखियों के आकस्मिक विस्फोट, सागर की तलहटी में दबी चट्टानों के विगलन और तलहटी के जल-स्रोतों के प्रवाह द्वारा महासागरों की तलहटी में पहुँचते हैं।

इन दोनों धातुओं के बारीक कण समुद्र के भीतर डूब कर क्रमश: बड़ा आकार धारण करते जाते हैं। समुद्र की गहराई में डूबते समय वे पानी में विद्यमान अन्य तत्वों, जैसे कोबाल्ट, ताँबा, सीसा, मॉलिब्डेनम, गिलट, वैनेडियम और जस्ते को अपनी ओर आकृष्ट करते हैं। इस प्रकार उनका आकार बढ़ता जाता है। धातुओं के ये बढ़ते हुए कण महासागर की तलहटी में जल-प्रवाहों द्वारा प्रक्षालित होकर कठोर तले पर पहुँच जाते हैं, जहाँ उनके चारों ओर धीरे-धीरे एक गुल्म का निर्माण हो जाता है। गुल्म का यह निर्माण सम्भवत: एक हजार वर्ष में ०·१ मिलीमीटर की दर से होता है।

इस कल्पना के आधार पर कि गुल्म-भण्डारों का केवल १० प्रतिशत भाग ही खनन की दृष्टि से लाभकर सिद्ध होता है, डा० मीरो ने यह विश्वास व्यक्त

किया है कि उनमें सन्निविष्ट अनेक धातुओं को इतनी अधिक मात्रा में प्राप्त किया जा सकता है, जो उनके उपभोग की वर्तमान दर पर हजारों वर्षों तक काम चलाने के लिए पर्याप्त होगी। धातु-गुल्मों में पायी जाने वाली धातुओं में आर्थिक दृष्टि से सबसे अधिक गिलट है।

ये बहुमूल्य धातु-गुल्म कहाँ पाये जाते हैं ?

लगभग १०० वर्ष पूर्व उनके सम्बन्ध में यह खोज की गई कि वे तीन प्रमुख महासागरों—अतलान्तक, प्रशान्त और हिन्द—में सर्वत्र व्यापक रूप से बिखरे हुए हैं।

डा० मीरो ने कहा कि ऐसा प्रतीत होता है कि वे महाद्वीपीय तटों से २०० मील से कुछ अधिक दूरी पर प्रशान्त महासागर के प्राय: सभी क्षेत्रों में निरन्तर निर्मित हो रहे हैं। मध्य प्रशान्त महासागर में २६ स्थानों पर की गई जाँच-पड़ताल से पता चला है कि वे औसत रूप से प्रतिवर्ग मील लगभग ५५ हजार टन की मात्रा में उपलब्ध हैं। प्रशान्त महासागर के पूर्वी और पश्चिमी भागों में उनकी मात्रा इसकी आधी रही।

इनके खनन की सबसे सरल विधि यह होगी कि गहरे समुद्र की तलहटी में सीप आदि एकत्र करने के लिए खींच कर चलाया जाने वाला जाल (ड्रैग ड्रेज) प्रयुक्त किया जाये। यह अपेक्षाकृत सस्ता होता है और महासागरों सम्बन्धी खोज करने वाले वैज्ञानिक इसका प्रयोग ६ मील तक की गहराई में लगभग १०० वर्षों से करते आ रहे हैं। किन्तु, ४,००० फुट से अधिक की गहराई में अधिक मात्रा में धातु-गुल्म प्राप्त करने की दृष्टि से इसका प्रयोग लाभकर सिद्ध नहीं होगा।

डा० मीरो ने गहरे समुद्र में प्रयुक्त होने वाले एक ऐसे 'हाइड्रोलिक' ड्रेज की कल्पना की है, जो धातु-गुल्मों को एकत्र करने के लिए एक विशाल उपकरण होगा। उन्होंने कहा कि प्रशिक्षित चालकों द्वारा संचालित एक आधुनिक जलयान इस प्रकार प्रतिदिन १० हजार टन गुल्म एकत्र कर सकता है। समुद्र के गर्भ में खनन इंजिनियरों और टैक्निशियनों का मार्ग प्रदर्शन करने के लिए टेलिविजन कैमरों का, जो इस समय उपलब्ध हैं, प्रयोग किया जा सकता है।

डा० मीरो ने कहा : 'महासागरीय खनन व्यवसाय खनन 'उद्योग के क्षेत्र में एक सर्वथा नवीन धारणा है। अत: इसे प्रारम्भ से स्वत:चालित यन्त्रों के सहारे संचालित किया जा सकता है। इसके लिए पूर्णतया नवीन उपकरणों की आकल्पना आवश्यक होगी।'

उनका अनुमान है कि एक विशाल हाइड्रोलिक ड्रेज का निर्माण लगभग ६० लाख डालर के व्यय से हो सकता है। इसी प्रकार, धातु-गुल्मों को साफ करने के लिए संयन्त्र का निर्माण इसकी १३ गुनी लागत से हो सकेगा। ड्रेज को संचालित करने का व्यय पानी की गहराई के अनुसार दो से लेकर पाँच डालर प्रति १० गुल्म के हिसाब से पड़ेगा। खोद कर निकाली गयी धातुओं को विश्व के बाजारों तक पहुँचने के लिए समुद्री परिवहन का प्रयोग होगा।

गुल्मों में अधिक मात्रा में पाई जाने वाली धातुओं के अतिरिक्त, अल्युमिनियम, टिटैनियम तथा जिरकोनियम जैसी धातुएँ भी उपोत्पाद के रूप में प्राप्त होंगी। उन्होंने कहा कि गुल्मों के निर्माण करने वाले ४० से अधिक तत्वों का पता लगाया जा चुका है।

प्रशान्त महासागर के कुछ स्थानों पर प्राप्त गुल्मों में ३६ से लेकर ५० प्रतिशत तक भिन्न-भिन्न मात्राओं में मैंगनीज तत्व पाये गये। एक खान से प्राप्त गुल्मों में औसत रूप से २ प्रतिशत गिलट, २ प्रतिशत ताँबा तथा ०.२ प्रतिशत के कोबाल्ट पाया गया है। भिन्न-भिन्न स्थानों पर उनकी मात्रा में भी भिन्नता पायी गयी है। प्राय: विषुवत रेखा के निकटवर्ती स्थानी पर गुल्मों में निहित ताँबे की मात्रा अधिक होती है।

दक्षिण अमेरिका के निकट प्रशान्त महासागर

में पाये जाने वाले गुल्मों में आमतौर पर मैंगनीज की मात्रा अधिक होती है। कैलिफोर्निया की खाड़ी से प्राप्त गुल्मों में विशुद्ध मैंगनीज डाइऑक्साइड मिली है। हवाई और अमेरिका के बीच पाये गये गुल्मों में ताँबा और गिलट का आधिक्य था। हवाई और ताहिती के आस-पास के गुल्मों में कोबाल्ट की प्रचुरता थी।

अतलान्तक महासागर के गुल्मों में लौह तत्वों का प्राचुर्य है। भिन्न-भिन्न स्थानों पर उनका स्वरूप प्राय: एक समान ही होता है। फास्फोराइट से युक्त गुल्म प्राय: प्रशान्त महासागर और दक्षिण अमेरिका के दक्षिण में पाये जाते हैं। डा० मीरो का मत है कि उन्हें कैलिफोर्निया और सम्भवत: जापान के तट के निकटवर्ती समुद्र से निकाला जा सकता है। आर्थिक दृष्ट से, फास्फोराइट के लिए खींचे जाने वाले जाल 'ड्रैग ड्रैज' की विधि से उत्तम सिद्ध होगी, क्योंकि यह प्राय: छिछले समुद्र में पायी जाती है।

विज्ञान वार्ता

१. सूर्य की रश्मियों द्वारा अन्तरिक्ष यानों का नोदन

दो रूसी वैज्ञानिकों ने ऐसे गणितीय समीकरण विकसित किये हैं जिनके आधार पर अन्तरिक्ष यानों का नोदन सूर्य की रश्मियों द्वारा सम्भव हो सकेगा। वैज्ञानिकों का अभिमत है कि रश्मियों के द्वारा उत्पन्न दाब के बल पर ही यह नोदन होगा। तब यानों को भारी नोदन यन्त्रों से सज्जित करने की आवश्यकता नहीं रह जावेगी। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि "सूर्यपतवार" के द्वारा यान संचालित होंगे।

ऐसे यानों को मंगल ग्रह तक पहुँचने में १२२ दिन, वीनस तक १६४ दिन, मर्करी तक २०० दिन; जुपिटर तक ६ वर्ष, शनि तक १७ वर्ष और यूरैनस तक ४० वर्ष लगेंगे।

२. रेंजर–६ की असफलता

अमरीका ने १९७० ई० तक चन्द्रमा में पहुँचने की जो योजना बनाई थी, उस दिशा में रेंजर-६ का छोड़ा जाना अत्यन्त महत्वपूर्ण घटना थी क्योंकि यदि यह सफलतापूर्वक कार्य करता तो चन्द्रमा की यात्रा निश्चित अवधि के पूर्व भी सम्भव हो पाती किन्तु दुर्भाग्यवश्य अमरीका का यह प्रयोग असफल सिद्ध हुआ है। इससे अमरीकी वैज्ञानिकों में गहरी चिन्ता व्याप्त हो गई है और यह धारणा बनने लगी है कि शायद चन्द्रमा तक पहुँचने की अवधि में कुछ विलम्ब हो जाय।

रेंजर-६ कई टन का राकेट था जिसे फरवरी १९६४ के प्रथम सप्ताह में इस उद्देश्य से छोड़ा गया था कि वह चन्द्रमा पर स्थित शान्ति महासागर से

टकरा कर उसके फोटो लेकर पृथ्वी तक भेज सकेगा। किन्तु रेंजर-६ निश्चित स्थान पर पहुँच कर ठप हो गया। न तो उसके कैमरे निकले और न कोई फोटो ही लिये जा सके।

एक ओर जहाँ चन्द्रमा तक पहुँचने में अमरीकी वैज्ञानिकों ने रूस की तुलना में प्राथमिकता प्राप्त की वहीं अपने उद्देश्य में असफल होने के कारण उन्होंने रूस वालों को यह अवसर प्रदान किया कि वे जोरों से अपने प्रयोग आगे बढ़ावें।

३. उत्तर प्रदेश में भेड़-पालन

यह अनुमान लगाया गया कि उत्तर प्रदेश के पहाड़ी इलाकों से प्रतिवर्ष ६६० किलो पौंड तथा पूर्वी इलाकों से १४७६ किलो पौंड ऊन प्राप्त होती है। पहाड़ों में प्रति भेड़ से औसतन २·१४ पौंड ऊन मिलता है जबकि अन्य भागों में यह मात्रा १·२४ पौंड है। पहाड़ी इलाकों में जितना ऊन पैदा होता है उसका ५६% कम्बलों के निर्माण में प्रयुक्त होता है और शेष बेच दिया जाता है जबकि पूर्वी इलाकों के लोग ८% ऊन घरेलू कार्यों में लगाते हैं और शेष को बेच देते हैं। पहाड़ों में भेड़ों की मृत्यु दर कम है। यह अनुमान लगाया गया है कि पहाड़ों में १७००० झुण्ड होंगे जब कि मैदानों में २३०००। भेड़ों में मेमने जनने का काल सितम्बर से नवम्बर तक है। पहाड़ों में लोग भेड़ों को दुहते नहीं किन्तु पूर्वी इलाकों के लोग दुहते हैं।

४. कीटाणु रहित वातावरण में शल्य-चिकित्सा

शल्य-चिकित्सक तभी से दो प्रबल शत्रुओं—पीड़ा तथा संक्रामक रोगों के विरुद्ध संघर्ष करते आ रहे हैं, जबसे कि चिकित्सा-कार्य प्रारम्भ हुआ है। संक्रामक रोगों पर विजय पाना सबसे कठिन रहा है और वे मनुष्यों को पीड़ा देने तथा उनको मृत्यु का ग्रास बनाने के लिये नये-नये रूपों तथा नये-नये प्रकार से प्रकट होकर अत्यन्त घातक सिद्ध होते रहे हैं। मनुष्य पृथ्वी पर कहीं भी कोई ऐसा स्थान नहीं खोज सकता, जो कीटाणुओं से सर्वथा मुक्त हो। जीवाणु तथा विषाणु सर्वत्र मौजूद हैं और बिना विशेष उपकरणों की सहायता के उन्हें देखना सम्भव नहीं है। खुले जख्मों के लिये कीटाणु बहुत अधिक खतरनाक होते हैं। वे अक्सर मृत्यु का कारण बन जाते हैं। शल्य-चिकित्सक उसी समय से शल्य-चिकित्सा के कमरे तथा रोगी से विषाणुओं को दूर रखने के उपाय ढूँढ़ने का प्रयत्न करते रहे हैं, जबसे सर्वप्रथम यह पता चला था कि अनेक रोगों की उत्पत्ति का कारण विषाणु हैं। गत वर्षों में वैज्ञानिकों ने विषाणुओं के स्वभाव के विषय में बहुत अधिक जानकारी हासिल कर ली है।

अनुसन्धानकर्ता अक्सर यह सोचते रहे हैं कि कीटाणुओं के बिना जीवन कैसा होगा। ऐसे स्थानों में कीटाणुओं से मुक्त पशु उत्पन्न करने के लिये विस्तृत साधनों का विकास किया गया है, जो सभी प्रकार के जीवाणुओं तथा विषाणुओं से मुक्त हों।

पिछले कुछ दशकों में धीरे-धीरे कीटाणु मुक्त अनुसंधान करने की प्रक्रियाओं का विकास हुआ है। उनका ऐसी अनेक प्रयोगशालाओं में प्रयोग किया जाता है, जहाँ इन विचित्र एवं अप्राकृतिक स्थिति में, जीवाणुओं से सर्वथा मुक्त स्थानों में, जीव-जन्तुओं के विषय में विशेष अध्ययन किया जाता है। ऐसे वातावरण में छोटे जीव-जन्तुओं की अनेक पीढ़ियाँ उत्पन्न की गयी हैं और वे जब तक जीवित रही हैं तब तक सभी प्रकार के जीवाणुओं से मुक्त रही है। ऐसे अध्ययन से वैज्ञानिकों ने कीटाणुओं, उनके कार्यों, उनकी वृद्धि तथा मृत्यु के विषय में अनेक महत्वपूर्ण तथ्य मालूम किये हैं। किन्तु ये सब कुछ आधुनिक शल्य-चिकित्सा की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये पर्याप्त नहीं हैं।

शल्य-चिकित्सा को अधिक प्रभावशाली बनाने के लिये १०० वर्षों के संघर्ष के पश्चात् जो उपाय मालूम किये गये हैं उनके साथ कीटाणुयुक्त अनुसन्धान के अपेक्षाकृत नये विज्ञान का भी प्रयोग किया जा रहा

है इस नयी प्रक्रिया में रोगी तथा शल्य-चिकित्सा विषय के उपकरणों को कीटाणुओं से मुक्त करने के लिये कठोरतापूर्वक वैसी ही तैयारी करनी पड़ती है जैसी कि अनेक दशकों से की जाती रही है। किन्तु, इस प्रक्रिया के अन्तर्गत शल्य-चिकित्सक तथा शेष सभी वस्तुएँ रोगी के उस भाग से बिल्कुल पृथक रहती हैं, जिसकी विषय में शल्य-चिकित्सा करनी होती है।

शरीर के जिस भाग का आपरेशन करना होता है, उसे प्लास्टिक के एक बड़ गुब्बारे से ढाँप दिया जाता है। इस गुब्बारे के भीतर, जीवाणुओं से मुक्त नियन्त्रित वातावरण रहता है। इस गुब्बारे में एक ऐसा स्थान (एयर लीक) होता है जिसमें से कीटाणुओं से मुक्त किये गये उपकरणों को पृथक करने वाले आवरण को भंग किये बिना गुब्बारे के भीतर रखा जा सकता। शल्य-चिकित्सक तथा उसके सहायक कर्मचारी गुब्बारे के बाहर खड़े हो कर उसके भीतर बनाये गये रबड़ से दस्तानों की सहायता से कार्य करते हैं।

मियामी (फ्लोरिडा) स्थित 'वैरायटी चिल्ड्रन्स रिसर्च फाउण्डेशन' के डा० जैरोम लेण्डी ने बताया है कि वह किस प्रकार इस नई प्रक्रिया का उपयोग करते हैं।

यह समूची इकाई शल्य-चिकित्सा करने से पूर्व तैयार कर ली जाती है। इस इकाई के भीतर की प्रत्येक वस्तु, जिनमें इकाई से सम्बद्ध एयर लीक, दस्तानों का भीतरी भाग तथा स्वयं प्लास्टिक समिलित है, कीटाणुओं से मुक्त की हुई होती है। अब हम इसके बाहरी पेंदे को कीटाणु मुक्त कर देते हैं और बौछार द्वारा कीटाणु रहित करने वाले एक तरल पदार्थ का प्रयोग करके हम उसे उदारतापूर्वक शल्य-चिकित्सा सम्बन्धी भाग पर लगा देते हैं। हम उस तरल पदार्थ को थोड़ा सूखने देते हैं, ताकि वह बहुत अच्छी तरह चिपक जाये। इतना हो जाने पर, रोगी को उचित रूप में बेहोशी की औषधि दिये जाने पर हम शल्य-चिकित्सा करने के लिए तैयार हो जाते हैं। शल्य-चिकित्सक तथा उसके सहायक कर्मचारी गुब्बारे के बाहर रहते हैं, और उनके हाथ दस्तानों के भीतर होते हैं। जब वे शल्यक्रिया करते हैं तब आपरेशन के कमरे से जख्म में वायु आदि का जाना बिल्कुल असम्भव रहता है।

इस प्रकार यदि शल्य-क्रिया करने वाली टोली के किसी सदस्य के शरीर में किसी प्रकार के विषाणु मौजूद भी हों, तो भी उसके नाक अथवा गले से निकलने वाली वायु उस पारदर्शी गुब्बारे के भीतर रोगी तक नहीं पहुँच सकती।

शल्य-चिकित्सक यह भली-भाँति जानते हैं कि कई हजार आपरेशनों में सावधानी बरती जाने के बावजूद कितने प्रतिशत जख्मों पर विषाणुओं का प्रभाव हो जाता है। अब यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या इस प्रक्रिया की सहायता से आपरेशन के समय जख्मों को विषाणुओं के प्रभाव से और अधिक मुक्त किया जा सकेगा ?

इस कार्य के लिए आवश्यक उपकरण बहुत अधिक मँहगा नहीं है। यह एक ऐसा उपकरण है, जिसे आसानी से इधर-उधर ले जाया जा सकता है। इसका अनेक कार्यों के लिए उपयोग किया जा सकता है। यह उष्ण कटिबन्ध के उन प्रदेशों में शल्य-चिकित्सा के लिए बहुत उपयोगी है जहाँ कीटाणुओं के कारण अनेक रोगी मृत्यु का ग्रास बन जाते हैं।

इस प्रकार अमेरिका के शल्य-चिकित्सकों ने अन्य वैज्ञानिक क्षेत्रों तथा टैक्नोलाजी के अन्य क्षेत्रों में कार्य करने वाले सहयोगियों से ऐसे नये उपकरण तैयार करना सीखा है, जिनसे वे रोगों पर विजय पाने के लिए मनुष्य जाति की सहायता कर सकते हैं।
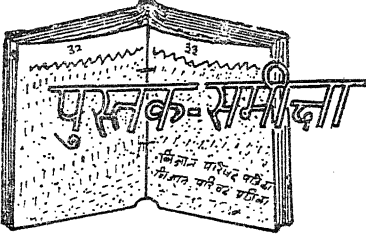
मानसार वस्तुशास्त्र

मूल सम्पादक — डा० प्रसन्न कुमार आचार्य
अनुवादक—श्री ब्रजमोहन लाल
प्रकाशक— इन्सीट्यूट आफ इन्जीनियर्स (इंडिया), ७, गोखले रोड, कलकत्ता — २० ।
पृष्ठ संख्या—२४५ ।

डा० आचार्य ने सन् १९३३ में प्रसिद्ध मानसार वास्तुशास्त्र का सम्पादन और प्रकाशन किया। इस ग्रंथ की बारह हस्तलिपियां डा० आचार्य को सम्पादन के निमित्त प्राप्त हुई थीं। डा० आचार्य ने न केवल मूल संस्कृत ग्रंथ ही प्रकाशित किया, इसका अंग्रेजी अनुवाद भी किया और प्राचीन सस्कृत के लगभग ३;००० शिल्पिक शब्दों का विश्वकोष भी तैयार किया। बड़ी प्रसन्नता की बात है कि विज्ञान परिषद् के पुराने सेवी और लब्धप्रतिष्ठ रिटायर्ड चीफ इंजीनियर, श्रीब्रजमोहन लाल जी ने इसी मान सार वास्तुशास्त्र के भवन निर्माण सम्बन्धी ४० अध्यायों का हिन्दी अनुवाद पाठकों को प्रस्तुत किया है। यह अनुवाद डा० आचार्य के अंग्रेजी अनुवाद की सहायता से किया गया है और क्रमशः यह इन्सीट्यूट आफ इन्जीनियर्स के हिन्दी विभाग में छपा भी था। ग्रंथ के महत्वपूर्ण होने के सम्बन्ध में कहने की कोई आवश्यकता नहीं है। इस ग्रंथ के लगभग सभी अध्याय महत्वपूर्ण हैं और इस सुन्दर अनुवाद के लिए हम श्री ब्रजमोहन लाल जी को बधाई देते हैं। प्रस्तुत ग्रंथ में आवश्यक चित्रों का भी समावेश है। मानसार में दी गई पालिकाओं के चित्र और स्तम्भों के चित्र इस पुस्तक की उपयोगिता को बढ़ाने वाले हैं। मानसार में एक तले के भवन से लेकर १२ तले तक के भवनों का विशेष विवरण है। गोपुर, मंडप, शाला, द्वार-स्थान, द्वार-मान आदि विधान पठनीय हैं। श्री ब्रजमोहन लाल जी ने इस ग्रंथ को प्रकाशित कराके हिन्दी भाषा की अपूर्व सेवा की है। इसके लिए हम उन्हें फिर बधाई देते हैं।

सत्य प्रकाश, डी० एस०-सी०,
अध्यक्ष, विज्ञान परिषद्,
इलाहाबाद।

१७ दिसम्बर, १९६३

विज्ञान और सरकार

नेशनल एकेडमी आफ साइंसेज़ के ३३वें वार्षिक अधिवेशन के अवसर पर अध्यक्षपद से भाषण करते हुए दिल्ली विश्वविद्यालय के सुप्रसिद्ध वनस्पतिज्ञ डा० पी० महेश्वरी ने देश की वैज्ञानिक प्रगति में सरकार के दायित्व का मूल्यांकन करते हुए ऐसे अनेक नवीन तथ्य प्रस्तुत किये जो आँख खोलने वाले हैं। उन्होंने यह स्पष्ट किया कि अनेक प्रतिभावान वैज्ञानिक विदेशों से लौटकर स्वदेश इसीलिए नहीं आना चाहते, क्योंकि यहाँ पर न तो उन्हें वे सुविधायें प्रदान की जाती हैं और न इतना वेतन ही प्रदान किया जाता है कि वे यहाँ आने पर चिन्तामुक्त होकर शोध-कार्य कर सकें। यही नहीं उन्होंने भारतीय वैज्ञानिकों के बीच फैली हुई ईर्ष्यानीति की आलोचना की। उन्होंने सरकार द्वारा संस्थापित "वैज्ञानिक पूल" की भर्त्सना करते हुए कहा कि इसमें प्रवेश पाने के लिए विदेश में कुछ दिन कार्य करने की विशेष-योग्यता सर्वथा पक्षपातपूर्ण है। ऐसा देखा गया है कि कभी-कभी विदेश से लौटे हुए भारतीय कार्यकर्त्ता उतनी भी योग्यता नहीं रखते जितनी कि भारत में ही रहकर कार्य करने वाले व्यक्ति। अतः ऐसी दशा में इन लोगों को अधिक वेतन का अवसर न प्रदान कर विदेशों से मुहर लगा कर आने वालों को ही यह 'सुविधा' प्रदान करना राष्ट्र के हित के लिए घातक है। उन्होंने यह भी कहा कि 'वैज्ञानिक पूल' के अन्तर्गत कार्य करने वाले लोग अधिकांशतः कोई कार्य नहीं करते, क्योंकि सरकार उन्हें तब तक उच्च वेतन प्रदान करती रहेगी जब तक वे स्वेच्छा से उसका त्याग न कर दें। इस प्रकार से विशेषज्ञ होने का तात्पर्य है कोई भी महत्वपूर्ण कार्य न करना। इस दृष्टि से, डा० महेश्वरी ने, सरकार की नीति को अहितकर बताया।

डा० महेश्वरी भारत के अग्रगण्य वनस्पतिज्ञ हैं। उन्होंने अपना सारा जीवन शोधकार्य एवं अध्यापन में लगाया है। वे सरकार से विश्वविद्यालयों को मिलने वाली "रिसर्च ग्राण्ट" की अल्पता एवं विश्वविद्यालयों के अध्यापकों के न्यून वेतन से भली-भाँति परिचित हैं इसीलिए उन्होंने अपने भाषण में यह बल दिया कि अध्यापकों के प्रारम्भिक वेतनों में वृद्धि हो।

डा० महेश्वरी के ये विचार सबों को यह सोचने के लिए बाध्य करते हैं कि देश की वैज्ञानिक शिक्षा एवं अनुसन्धान सम्बन्धी नीति में भारतीय सरकार मूलभूत परिवर्तन लावे। नेशनल लैबोरेटिरियों में भी जो कार्य होता है वह सन्तोषजनक नहीं है। भारत जैसे नवोदित राष्ट्र के लिए सुसंयोजित वैज्ञानिक नीति अपनाये जाने की नितान्त आवश्यकता है। अपनी आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए वैज्ञानिक शोध को नवीन दिशा प्रदान करनी है।

'विज्ञान' के सम्बन्ध में वक्तव्य

प्रेस एण्ड रजिस्ट्रेशन आफ बुक्स एक्ट, १८६७ (१९५६ में संशोधित) की धारा १९ डी० के अनुसार।

"विज्ञान" मासिक के स्वामित्व तथा अन्य तथ्यों के सम्बन्ध में निम्नलिखित विवरण प्रकाशित किया जा रहा है—

रूप चार

(देखिये नियम ८)

१.	प्रकाशन का स्थान	विज्ञान परिषद्, विज्ञान परिषद् भवन, थार्नहिल रोड, इलाहाबाद—२
२.	प्रकाशन की अवधि	मासिक
३.	मुद्रक का नाम	रामशरण अग्रवाल
	राष्ट्रीयता	भारतीय
	पता	प्रगति प्रेस, कल्याणी देवी, इलाहाबाद
४.	प्रकाशक का नाम	श्री नारायणसिंह परिहार
	राष्ट्रीयता	भारतीय
	पता	प्रधान मंत्री, विज्ञान परिषद्, इलाहाबाद
५.	सम्पादक का नाम	डा० शिवगोपाल मिश्र
	राष्ट्रीयता	भारतीय
	पता	विज्ञान परिषद्, इलाहाबाद
६.	पत्रिका का स्वामित्व इत्यादि	विज्ञान परिषद् विज्ञान परिषद् भवन, थार्नहिल रोड, इलाहाबाद (विज्ञान परिषद् संस्था द्वारा प्रकाशित मासिक पत्र "विज्ञान")

मैं, नारायण सिंह परिहार यह घोषणा करता हूँ कि उपर्युक्त विवरण मेरे ज्ञान और विश्वास के आधार पर पूर्णतः सत्य है।

दिनांक १५-३-६४

नारायण सिंह परिहार
प्रकाशक के हस्ताक्षर

उत्तर प्रदेश, बम्बई, मध्यप्रदेश, राजस्थान, बिहार, उड़ीसा पंजाब तथा आँध्रप्रदेश के शिक्षा-
विभागों द्वारा स्कूलों, कालिजों और पुस्तकालयों के लिए स्वीकृत

प्रकाशक—एन० एस० परिहार प्रधान मन्त्री, विज्ञान परिषद्, इलाहाबाद।
मुद्रक—रामशरण अग्रवाल, प्रगति प्रेस, इलाहाबाद

६
१
ख
: वि०
६४

१, सूर्य-कलंक-प्रस्तावना १

२. पपीते की खेती ५

३. नींद का सुख १०

४. अलौह धातुओं के खनिज अयस्क १२

५. पौधों में प्रणय १६

संक्षिप्त जीवन-परिचय-माला १८

खबरें लाया हूँ २०

सार-सङ्कलन २३

विज्ञान वार्ता २८

सम्पादकीय ३२

० न. पै.
रुपये

सम्पादक—डॉ० शिवगोपाल मिश्र

विज्ञान

विज्ञान परिषद्, प्रयाग का मुखपत्र

विज्ञानं ब्रह्मेति व्यजानात्। विज्ञानाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। विज्ञानेन जातानि जीवन्ति। विज्ञानं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति। तै० उ० ।३।५।

भाग ९९ | बैशाख २०२१ विक्र०, १८८५ शक अप्रैल १९६४ | संख्या १

अन्तर्राष्ट्रीय शान्त सूर्य वर्ष सम्बन्धी लेखमाला: पुष्प—१

सूर्य कलंक—प्रस्तावना

कुलदीप चड्ढा

पिछले कुछ वर्षों में अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर अनेक राजनैतिक उतार-चढ़ाव देखने में आये हैं। परन्तु तनाव की इस अवस्था में भी एक विशेष क्षेत्र में संसार के सभी प्रमुख देशों ने आशातीत सहयोग और सहकारिता का उदाहरण प्रस्तुत किया है। यह क्षेत्र सामान्यत: विज्ञान का क्षेत्र है और विशेषतया उल्लेखनीय चर्चा है अन्तर्राष्ट्रीय भू-भौतिकीय वर्ष (International Geophysical year) की। जुलाई सन् १९५७ से दिसम्बर १९५८ तक अन्तर्देशीय सहकारिता के आधार पर इस विशाल यज्ञ का सूत्रपात किया गया, जिसका ध्येय था "भू" अर्थात् पृथ्वी और इससे सम्बद्ध विभिन्न 'भौतिकीय' अर्थात् प्राकृतिक क्रियाओं की विशद पड़ताल।

इस स्थल पर अन्तर्राष्ट्रीय भू-भौतिकीय वर्ष (अ० भू० व०) की विस्तृत प्रस्तावना देना हमारा ध्येय नहीं पर उक्त अध्ययन के लिए १९५७-५८ के वर्ष का ही चुना जाना कुछ चर्चा की अपेक्षा रखता है।

हम पृथ्वीवासियों का जीवन अनेक प्रकार से सूर्य से सम्बद्ध है। सूर्य प्रत्यक्षतः तो नियमबद्ध-सा व्योम पिंड है पर सूक्ष्म अनुसन्धान ने सिद्ध किया है कि इसके कुछ व्यापारों में उतार-चढ़ाव भी घटित होता है। इस उतार-चढ़ाव को सामूहिक रूप से सौर-सक्रियता (Solar Activity) की संज्ञा दी गयी है। यह उतार-चढ़ाव भी, स्थूल रूप से नियमित सा है और औसतन ११ वर्ष के चक्र में पूरा होता है। इस ११ वर्ष की अवधि में, यह सक्रियता एक विशेष क्रम से बढ़ती हुई, एक विशेष अवसर पर,

चरम सीमा तक पहुँच जाती है। इस अवस्था को 'अधिकतम सौर-सक्रियता' कहते हैं। इस अवस्था के बाद, सक्रियता में कुछ कमी आनी शुरू होती है और अन्ततः यह अत्यन्त शिथिल हो जाती है। इस अवस्था को 'न्यूनतम सौर-सक्रियता' की संज्ञा दी गयी है।

सौर सक्रियता में सूर्य के अनेक व्यापार वर्गीकृत हैं। परन्तु इनमें सबसे अधिक महत्वपूर्ण है सूर्य-कलंकों (Sun-spots) की क्रिया। प्रत्यक्षतः सूर्य कलंक गहरे काले रंग के और अनियमित आकर के क्षेत्र हैं, जो सूर्य के धरातल पर प्रकट होते और लोप होते रहते हैं। गत कुछ दशाब्दियों के अन्वेषण ने सिद्ध किया है कि इनके प्रकट होने का कारण सूर्य के अभ्यन्तर की कुछ क्रियाएँ हैं। दूसरी ओर, सूर्य कलंकों का पृथ्वी के अनेक व्यापारों पर भी प्रभाव देखा गया है—कुछ क्षेत्रों में तो यह प्रभाव बहुत महत्वपूर्ण है।

इसी प्रभाव को सामने रखते हुए सन् १६२४ में अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर एक आयोग की स्थापना हुई। इस आयोग का उद्देश्य था, सहकारिता के आधार पर सूर्य और पृथ्वी के पारस्परिक सम्बन्धों का अध्ययन। इस आयोग के सदस्य ऐसे विज्ञानी थे, जिन्हें सौर-भौतिकी, नक्षत्र-भौतिकी, भू-भौतिकी, जलवायु-विज्ञान, रेडियो-संचार और सम्बद्ध विषयों में विशेषज्ञता प्राप्त थी। १६२४ से १६५४ के बीच इस आयोग ने, वैज्ञानिक संघों की अन्तर्राष्ट्रीय सभा (International Council of Scientific Unions) के तत्वावधान में ८ प्रतिवेदन (reports) प्रकाशित किए। इस प्रकार सौर सक्रियता के महत्व के प्रति वैज्ञानिक संसार की सजगता काफी पुरानी है।

इसके अतिरिक्त सौर सक्रियता के अध्ययन के महत्व का एक और भी पक्ष है। सूर्य पृथ्वी का निकटतम नक्षत्र है। इस कारण एक नक्षत्र के रूप में हम इसका अध्ययन अधिक सुविधा से कर सकते हैं। यह मानना असंगत न होगा कि अन्य नक्षत्रों का स्वभाव भी मूलतः सूर्य के ही समान है। इसलिए सूर्य का अध्ययन नक्षत्र विद्या के मूल तत्वों को स्पष्ट करने में सहायक सिद्ध हो सकता है। परमाणु-शक्ति के आविष्कार के पश्चात् यह प्रायः निर्विवाद रूप से माना जाने लगा है कि नक्षत्रों के कलेवर में घटने वाली और उनके धरातल पर प्रकट होने वाली बहुत सी क्रियाएँ, उनके अभ्यन्तर में होने वाली परमाण्विक अथवा नाभिकीय (Nuclear) प्रतिक्रियाओं पर निर्भर करती हैं और इन प्रतिक्रियाओं का ज्ञान आधुनिक नक्षत्र विद्या का एक प्रमुख ध्येय है।

जैसा कि ऊपर संकेत किया जा चुका है, सूर्य-कलंक सूर्य की आभ्यान्तरिक गतिविधि के प्रकट परिणाम हैं। अतः इनका अध्ययन नक्षत्रों की बनावट और विकास आदि का युक्तियुक्त ज्ञान प्राप्त करने में सहायक हो सकता है।

इस प्रकार सूर्य-कलंकों का अध्ययन जहाँ एक ओर नक्षत्र विज्ञान के विकास में सहायता देगा, वहाँ दूसरी ओर वह अनेक भू-भौतिकीय व्यवहारों को स्पष्ट करेगा। जैसा कि हम बाद में यथा-स्थान प्रकट करेंगे सौर सक्रियता का प्रभाव जलवायु के अतिरिक्त दूर संचार पर भी पड़ता है। आज के युग में दूर संचार की निर्बाध व्यवस्था, सुरक्षा साधनों के निमित्त भी अत्यन्त आवश्यक है। सूर्य-कलंकों की इस व्यवस्था पर प्रभाव के महत्वपूर्ण उदाहरण गत महायुद्ध में देखने को मिले। ज्यों-ज्यों युद्ध और शांति के विभिन्न व्यापारों में रेडियो और रडार का प्रयोग अधिकाधिक व्यापक होता जाता है, सूर्य कलंकों के प्रभाव के अध्ययन की आवश्यकता भी बढ़ती जा रही है। इसीलिए अ० भू० व० का आयोजन सौर-सक्रियता की "अधिकतम" अवधि के अनुसार किया गया। इस समूचे आयोजन में केवल सूर्य सम्बन्धी जानकारी के अध्ययन का महत्व इतना अधिक है कि अनेक

विज्ञानी अ० भू० व० को "सौर-वर्ष" (Solar year) कहना अधिक पसन्द करते हैं। अवधि के १८ मासों तथा परवर्ती अनेक मासों में भी संसार की लगभग १०० वेधशालाओं के दूरदर्शक, सूर्य की प्रत्येक मिनट की गतिविधि को आँकने के प्रयास में व्यस्त रहे। ज्यों ही सूर्य एक स्थल पर अस्ताचल की ओट में आ जाने के कारण, किसी विशेष दूरदर्शक की पहुँच से बाहर हो जाता, तब तक किसी अन्य देश में तैनात दूरदर्शक पूरी सजगता के साथ, उसको अपने अवलोकन के क्षेत्र में घेर लेता।

आजकल के युग में सूर्य के अध्ययन का साधन प्रकाश-दूरदर्शकों तक ही सीमित नहीं। रेडियो-दूरदर्शक के नाम से एक बिल्कुल अलग प्रकार का यंत्र, सूर्य के बारे में एक नई प्रकार की जानकारी एकत्र करने में, अपने अनेक संस्करणों में तैनात खड़ा है। अप्रत्यक्ष रूप से ब्रह्माण्ड किरणों (Cosmic Rays), अयनमंडल (Ionosphere) आदि का अध्ययन भी सूर्य सम्बन्धी जानकारी में परिवर्धन करता है। अ० भू० व० में इन सभी साधनों की सहायता से सूर्य सम्बन्धी ज्ञान में वृद्धि का प्रयास किया गया। इस का परिणाम क्या निकला, यह जानने में शायद अभी काफी समय लगेगा क्योंकि इस महान् आयोजन में ६७ देशों ने सक्रिय योग दिया और संसार के दूरदराज कोनों में बिखरे इन ६७ देशों के लगभग ढाई हजार केंद्रों पर उक्त जानकारी संकलित की गई। अतएव यदि इस जानकारी के विश्लेषण के निमित्त १०-१५ वर्ष लग जाने का अनुमान लगाया गया हो, तो यह अनुचित न होगा।

२५-३० अरब रुपये के व्यय से पूरे लिए गये इस यज्ञ में हमारे भारत देश ने भी समुचित योग दिया। स्वर्गीय डा० कार्यमाणिक्यम् श्रीनिवास कृष्णन् की अध्यक्षता में एक राष्ट्रीय समिति १९५३ में बनाई गयी। अ० भू० व० के दौरान भारत के कोने-कोने में फैले ६० केन्द्रों पर विशेष कार्यक्रमों के अनुसार अनुसन्धान कार्य किया गया। इनमें कुछ केन्द्र विशेष तौर पर अ० भू० व० के लिए ही खोले गए थे। उक्त ६० केन्द्रों में जलवायु की खोज पड़ताल में पहिले से काम कर रहे सामान्य केन्द्र शामिल नहीं हैं।

अ० भू० व० की अन्तर्राष्ट्रीय समिति ने, सारे आयोजन को अनुसन्धान के विषयों के अनुसार जिन १४ विभागों में बाँटा, भारत ने इन सभी में योगदान दिया। लगभग इन सभी विभागों अथवा विषयों पर सौर सक्रियता का प्रभाव हावी है। अतः अनुसन्धान में लगे कार्यकर्ताओं को इस सक्रियता की दैनिक स्थिति से अवगत करवाने के लिए कोडाइकनाल में अवस्थित सौर वेधशाला के अवलोकनों के आधार पर आकाशवाणी से विशेष प्रसारण किए जाते रहे। इस सूचना को एकत्र करने के लिए कोडाइकनाल की वेधशाला में अत्यन्त जागरूकता से सूर्य का पर्यवेक्षण जारी रखा गया। इस कार्य में हैदराबाद की निज़ामिया वेधशाला ने भी उल्लेखनीय सहयोग दिया। इन दो वेधशालाओं में अनुसन्धान का माध्यम था सूर्य से आने वाली प्रकाश-तरंगें। पर जैसा ऊपर प्रकट किया जा चुका है, आजकल इस माध्यम से स्पर्धा करने वाली रेडियो नक्षत्रविद्या की प्रणाली भी विकसित हो चुकी है। गत अ० भू० व० के दौरान, दिल्ली और हैदराबाद की सौर रेडियो वेधशालाओं ने उपयोगी जानकारी एकत्र की।

इस प्रकार अ० भू० व० का एक मुख्य ध्येय था सौर-सक्रियता का अध्ययन और इसी अध्ययन के निमित्त सन् १९५७-५८ की अवधि भी चुनी गयी, क्योंकि इस अवधि में सक्रियता के अधिकतम होने की संभावना थी। जब १९५८ के अन्त में भी सौर-सक्रियता के शिथिल होने के चिन्ह दिखाई न दिए तो अनुसन्धान के इस आयोजन को "अन्तर्राष्ट्रीय

भू भौतिकी सहयोग" (International geophysical Cooperation) के नाम से १९५९ में भी जारी रखने का निश्चय किया गया।

जहाँ सौर-सक्रियता के "अधिकतम" पर्व में इसके प्रभावों की विलक्षणता आँकी जा सकती है वहाँ "न्यूनतम" अवधि में इनका अभाव लक्षित किया जा सकता है। इस कारण 'न्यूनतम' अवधि के अन्तर्गत, धरती और सूर्य के पारस्परिक व्यवहारों की अनुसन्धान, प्रकृति के नियमों को निश्चितता देने में सहायक होगी। सौर-सक्रियता में "न्यूनतम" के १९६४ में घटने की संभावना थी। इसलिए दो एक वर्ष पूर्व, इस अवधि के दौरान भी, सार्वदेशिक स्तर पर अनुसन्धान का निश्चय किया गया। अचेष्ट सूर्य का अन्तर्राष्ट्रीय वर्ष (Interntionla year of Quiet Sun) के नाम से यह आयोजन जनवरी १९६४ से प्रारम्भ हो रहा है। सूर्य-कलंकों का महत्व का यह एक और प्रमाण है।

अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र को कटुता से मुक्त करा कर, परस्पर विरोधी देशों में सहयोग कराने का श्रेय विज्ञान को है—और विज्ञान में भी इस सहयोग को क्रियान्वित कर पाने की क्षमता जिन विषयों में थी, सूर्य कलकों का महत्व उनमें सर्वोपरि है। इन्हीं सूर्य कलंकों के महत्व की व्याख्या हम आगामी लेखों में करेंगे। इस प्रयास का ध्येय, सूर्य-कलंकों के महत्वपूर्ण और मनोरंजक-विधा के प्रति अधिकाधिक रुचि पैदा करता है। संभव है, सूर्य-कलंकों का यह प्राथमिक परिचय, किन्हीं जिज्ञासु और मननशील हृदयों में, गहरे-गंभीर अनुसन्धान की लालसा पैदा कर सके। इसी विचार से प्रस्तावित लेखों में सूर्य कलंकों से सम्बद्ध सब प्रकार की विशेष जानकारी संकलित की गयी है। हाँ, साथ में यह भी प्रयत्न किया गया है कि प्रस्तावित विवरण बोझिल न बन जाय।

इस प्रकार, जहाँ यह चर्चा सूर्य-कलंकों बारे में विशद अनुसन्धान की प्रस्तावना बन सकती है, वहाँ आशा है कि विज्ञान के विशिष्ट पक्षों में रुचि रखने वालों के लिए भी ये निबन्ध लाभप्रद होंगे।

[क्रमशः]

प्रोफेसर बी० एन० प्रसाद राज्य-सभा के सदस्य

राष्ट्रपति डा० सर्वपल्ली राधाकृष्णन् ने प्रयाग विश्वविद्यालय के गणित विभाग के भूतपूर्व अध्यक्ष डाक्टर बी० एन० प्रसाद को राज्य सभा का सदस्य नियुक्त करके जिस सुरुचि का प्रदर्शन किया है वह सर्वथा सराहनीय है। डा० प्रसाद जैसे गणितज्ञ के लिए यह सम्मान उपयुक्त है। उनके सम्मानित होने से न केवल उनका राष्ट्रीय सम्मान हुआ है वरन् वैज्ञानिकों को सामूहिक रूप में मान्यता मिली है। विश्वास है कि डा० प्रसाद दिल्ली जाकर वैज्ञानिक समस्याओं को प्रधानता देते रहेंगे।

डा० प्रसाद आजीवन हिन्दी के उपासक रहे हैं। वे वहाँ जाकर हिन्दी के हित में कार्य करते रहेंगे—ऐसा हमारा विश्वास है।

डा० प्रसाद विज्ञान परिषद् के आजीवन सभ्य हैं। इस विज्ञान परिवार की ओर से उन्हें शुभकामनायें एवं बधाइयाँ देते हैं।

पपीते की खेती

एस० एन० लाल श्रीवास्तव

पपीते की खेती भारत में चारों तरफ होती है। यद्यपि हमारे दैनिक साधारण फलों में, स्वाद एवं मूल्य में प्रथम श्रेणी में इसकी गणना होती है, फिर भी इसकी खेती अन्य कम मूल्य वाले फलों की तुलना में नगण्य है।

यह एक ऐसा फल है जो वर्ष भर वृक्ष से ताजा तोड़ा जा सकता है। यद्यपि यह पाया गया है कि ग्रीष्मकाल के फल अत्यधिक स्वादिष्ट होते हैं, परन्तु शीतकालीन फलों के समान वृक्ष पर अधिक समय तक नहीं लगे रहते हैं। यह बहु फलित एवं शीघ्र फलने वाला फल-शस्य है जो कि बिना शाखा के पन्द्रह फीट की ऊँचाई तक बढ़ जाता है। इसका जीवन-चक्र बहुत छोटा होता है, फिर भी प्रायः देखा गया है कि अनेक वर्षों तक इसका वृक्ष अनुपयोगी दशा में पड़ा रहता है। इसकी लकड़ी बेकार होती है जो किसी भी अच्छे काम में नहीं लाई जा सकती है। इसकी जड़ उथली एवं तन्तुवत् होती है।

भारत में इसका वितरण

राज्य	क्षेत्र (एकड़)	राज्य	क्षेत्र (एकड़)
आंध्र और मद्रास	१०००	मध्य भारत	६००
असम	५५००	मध्य प्रदेश	४३४
भोपाल	६	मैसूर	१००
बिहार	६७००	सौराष्ट्र	१०००
बम्बई	२७००	ट्रावन्कोर एवं कोचीन	६८०
कुर्ग	५०	उत्तर प्रदेश	६७२
हैदराबाद	४१६	योग	२३१७३

तना

इसका तना छिद्रिष्ठ, रेशेदार और दुर्बल होता है। जलावन या लकड़ी के कार्य के लिए अनुपयोगी है। वृक्ष ऊपर की ओर शुण्डाकार होता है। शाखायें बहुत कम प्रसारित होती हैं।

पत्ते

फल कक्ष में लगते हैं, धड़ पर निशान छोड़ देते हैं। पुराने पत्ते नीचे की ओर रहते हैं। नसें प्रमुख होती हैं।

फूल

पपीते में तीन तरह के फूल लगते हैं : (१) नर (२) मादा (३) उभय लिङ्ग। नर फूल को छोड़कर शेष फूल अप्रधान होते हैं। मादा और उभय लिङ्ग के पुष्प बिना पुष्प शाखा के होते हैं और नर पुष्प

में लम्बी पुष्प शाखा लगी रहती है। पुष्प का रङ्ग हल्का पीला होता है। एक वृक्ष में एक ही लिङ्ग की जाति पैदा होती है जिनमें प्रायः नर और मादा पुष्प अलग-अलग वृक्ष पर एवं मादा एवं उभय लिङ्ग पुष्प एक ही वृक्ष पर एक साथ पाये जाते हैं। गनेश खिंड शोध केन्द्र पर वाशिंगटन प्रभेद पर किये गये प्रयोगों के आधार पर मादा पुष्प की संख्या ६०%, नर पुष्प २०% एवं उभय लिङ्ग २०% थी। नरीसायम् (१९४९) और स्टोरे (१९५३) ने पपीते के लिङ्ग संबंधी विभिन्न सिद्धांतों का विवेचन पपीते की पैतृकी नामक पुस्तक में किया है।

उत्पत्ति

इसकी उत्पति प्रमुखतया अमेरिका के उष्ण प्रदेशों से मानी जाती है। उष्ण प्रादेशिक जलवायु में इसकी कृषि सफलतापूर्वक होती है। भारत की जलवायु इसकी कृषि के लिए बहुत उपयुक्त है और यहाँ पर बहुत विकसित अवस्था में पैदा होते हुए देखा गया है। इसके विकास एवं निर्गमन के इतिहास का कोई स्पष्ट विवरण नहीं मिलता कि भारत में इसका उत्पादन कब से आरम्भ हुआ। संस्कृत भाषा में पपीते का कहीं भी उल्लेख प्राप्य नहीं है। पपीते का पौधा भारत में ३२५ वर्ष पहले वर्तमान था तथा इस बात से यह अनुमान लगाया जाता है कि अमेरिका के पता लगने के बाद यह पौधा यहाँ पुर्तगालियों द्वारा लाया गया। इतिहास के अध्ययन से पता चलता है कि सत्रहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में भारत से पपीतों के बीज यूरोप भेजे गये थे।

जलवायु

यह उष्ण जलवायु में पैदा होने वाला पौधा है, जो अत्यधिक शुष्क वायु-प्रिय, परन्तु तेज बहुकर्तृक-वायु अप्रिय, सरल एवं शीतोष्ण जलवायु में साधारण अच्छा पैदा होता है परन्तु उससे अनेकानेक व्याधियों को लगने की आशंका रहती है।

मृदा

प्रायः सभी तरह की मृदा में उगाया जा सकता है परन्तु जल निकास का समुचित प्रबन्ध होना चाहिए। प्रमृःामय मिट्टी में इसकी पैदावार सबसे अच्छी होती है। पहाड़ी भूमि जिसपर प्रमुखतया जङ्गल एवं घासों को काट कर पहले-पहल कृष्य की गयी हो उसमें इसकी उपज अच्छी होती है।

स्थान का चुनाव

स्थान का चुनाव किसी शहर के आस-पास होना चाहिए जहाँ पर अच्छी सड़कों एवं यातायात के साधनों की सुविधा हो। वाणिज्य के लिए वृक्षारोपण में ये आवश्यक निर्देशन है, अन्यथा विक्रय करने में कठिनाई होगी। स्थान ऊँचा हो तथा सिंचाई और जल-निकास की सुविधा हो।

अभिन्यास

इसका अभिन्यास निम्न विभिन्न तरीकों से होता है :—

(अ) वर्गाकार पद्धति :—इसमें वृक्षों को दस-दस फीट की दूरी पर दोनों तरफ लगाते हैं। यह सरलतम, अच्छा ढङ्ग है और साधारण मनुष्य भी अपना सकते हैं। इस तरीके से वृक्षारोपण करने पर ४३५ वृक्ष लग सकते हैं। इस ढङ्ग से अभिन्यास आसानी से हो जाता है। सिंचाई एवं जुताई के कामों में सुविधा होती है।

(ब) विज्वर वर्गाकार :—प्रत्येक वर्ग के बीच में एक पाँचवाँ वृक्ष लगाते हैं। इसमें बीच-बीच में 'पूरक' पौधे लगाये जाते हैं जो समयोपरान्त निकाल दिये जाते है। इस पद्धति में करीब दूने वृक्ष रोपित होते हैं।

(स) षड्भुजाकार पद्धति :—इस ढङ्ग में वर्गाकार से १६% अधिक वृक्ष लगते हैं। इस ढङ्ग से दस-दस फीट की दूरी पर ५०४ वृक्ष प्रति एकड़ लग सकते हैं।

वृक्षारोपण और खाद देने के लिए गड्ढे की तैयारी

गड्ढे का खुदाव ३'×३'×३' होना चाहिए। बरसात के पहले गड्ढों की खोदी हुई ऊपरी मिट्टी के दो हिस्सों में खाद के दो भाग को मिला कर भर देना चाहिए। गड्ढे में भरी हुई मिट्टी जमीन की सतह से ६" ऊपर तक रहे और वर्षा के बाद जब मिट्टी बैठे तब गड्ढों की सतह जमीन की सतह से ६" ऊपर तक रहे ताकि वर्षा के बाद मिट्टी जमीन की सतह से नीची न रहे। रोपने के समय प्रत्येक गड्ढे में नीचे लिखी खाद डालना चाहिए।

गोबर की खाद—१ मन

रेड़ी की खली—४ सेर

लकड़ी की राख—५ से १० सेर तक

अधिक वृद्धीय पौधों तिक्तातु शुल्वीय (Ammonium Sulphate) या क्षारातु भूयीय (Sodiurn niarate)—१ पाव

लकड़ी की राख—१० सेर

चूना—१ सेर

हड्डी की बुकनी—२ छटाँक

प्रयेद

बीज की बुवाई और पौधों का हस्तांतरण

पौधों को बीज-शैया से हस्तांतरित करने का उचित समय बरसात आरम्भ होने के दो सप्ताह बाद जब जुलाई में सब मिट्टी ठंडी हो जाय तो होता है। वृक्षारोपण करते समय शिशु पौधों के साथ थोड़ी सी मृदा जड़ के साथ निकालना आवश्यक है। नवजात पौधों का रोपण सीधे करना चाहिए। रोपने के बाद एक हल्की सिंचाई कर देनी चाहिये। बीज की बुवाई के लिए अच्छे विकसित और बड़े फल का चुनाव करना आवश्यक होता है पपीते के बीज १२ से १६ दिन में अंकुरित हो जाते हैं। जब बीजों के ऊपर के श्लिषीयत् आवरण को दूर करने के लिए उनको राख से रगड़ देना चाहिये तथा तीन माह तक छाया में सुखाया बीज भली प्रकार अंकुरित होता है। अभी तक वैज्ञानिक पपीता के नवजात पौधों के बढ़ने के आरम्भ-काल में मादा और नर पौधों में अन्तर नहीं समझ पाये हैं। इस लिये स्थायी स्थान पर शिशु पौधों को रोपते समय तीन-तीन पौधों को एक साथ लगाना चाहिए। मादा तथा नर पौधों का स्पष्टीकरण कर एक गड्ढे में केवल एक पेड़ रखना चाहिये। मादा फूल वाले पौधे अच्छा फल देते हैं यद्यपि उभय लिङ्ग वाले पौधे कभी-कभी फल देते हैं। एक एकड़ खेत के लिए (षट् भुज पद्धति में) करीब ५०४×३=१५१२ नवजात पौधों की आवश्यकता पड़ती है। अंकुरण में सफलता और अंकुरित कमजोर नवजातों का ध्यान रखने के बाद एक एकड़ में १५१२×२=३०२४ बीजों की आवश्यकता पड़ेगी। फल के सूखने पर एक औंस में २००० बीज होते हैं। इस तरह एक एकड़ जमीन में पपीते को रोपने के लिए डेढ़ औंस बीज की आवश्यकता पड़ती है जिसका मूल्य एक रुपया होता है। बीज-शैया काष्ठ के बक्से में बनाना चाहिये। गोबर एवं कम्पोस्ट खाद का मिश्रण आवश्यक है। बीज शैया में ऊपर थोड़ा बालू का छिटकाव कर देना चाहिये।

परागण

नवजात पेड़ों के लिंग को पहचानने और उनका संवरण करते समय इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि नर पौधे खेत में कुछ पड़े रहें। अगर नर पौधों का पराग उपलब्ध न हो सका तो मादा पौधों में फल लगने में ह्रास तो नहीं हो सकता पर फलों में अंकुरण-शक्ति वाले बीज नहीं रह पायेंगे जिससे भविष्य में बीज लगाने के लिये बेकार रहेंगे। चालीस-पचास मादा पेड़ों को पराग देने के लिये

एक नर वृक्ष यथेष्ट होता है। एक एकड़ में दस बारह नर पेड़ों की आवश्यकता पड़ती है।

प्रसार

साधरणतः सभी जगह बीज के द्वारा ही पपीते की खेती होती है, क्योंकि इस तरह बीज से पौधे आसानी से अंकुरित हो जाते हैं। परन्तु कलम लगाना भी एक सफल ढङ्ग है। पुराने पेड़ों की शाखाओं को काटकर वैज्ञानिक पद्धति से लगाने में काफी सफलता मिलती है।

पानी-निकास

रोपा करने के बाद इस प्रमुख बात पर ध्यान रखना चाहिये। पपीते के पौधे बहुत कोमल होते हैं जो चौबीस घण्टे तक पानी में उगे रहना नहीं सहन कर सकते। सम्पूर्ण पौधा पीला हो जाता है। ऊपरी जमीन का वरण के बजाय गड्ढों से पानी के निकास का प्रबन्ध पपीते की खेती के लिये एक प्रबल गुण है यही कारण है कि पपीता घरों के आस-पास कूड़ा-कर्कट के ढेर में सफलतापूर्वक बढ़ता है।

अन्तराकर्षण

अधिक फैलने लेकिन कम फल देते वाले आम, लीची, फलों के बीच-बीच में रोपने के लिये पपीता का पेड़ सबसे अच्छा होता है। यदि केवल इस फल की ही खेती करना हो तो पेड़ों के बीच के खाली स्थान में तरकारी और टपारी आदि की खेती हो सकती है।

आयुष्य और विस्थापन

बहुत सरस एवं दुर्बल होने के कारण इसके वृक्ष अन्य फलों के वृक्षों की तुलना में बहुत कम उम्र के होते हैं। उनके जीवन के प्रथम तीन वर्ष केवल फलोत्पादन करने में लग जाते हैं और इसी में उनकी प्रायः सारी शक्ति नष्ट हो जाती है। तीन फसलों तक ही पपीतों की आर्थिक उम्र मानी जा सकती है।

यदि पेड़ों के बीच बिना किसी क्षति उठाये नये पेड़ लग सकते हैं तो रिक्त स्थानों में नये-नये पेड़ों को लगाना चाहिये। पहले के पेड़ों को तीन बार फलने के बाद वहाँ से हटा देना चाहिये। इस तरीके से अच्छे फल मिलते हैं और मिट्टी की अवन्ध्यता भी कम नहीं होती है।

●	●	पुराने पेड़
×	×	नये पेड़
●	●	●
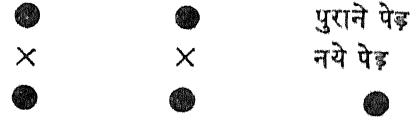
पैदावार

प्रति वर्ष हर एक पेड़ में बीस से पच्चीस पुष्ट फल लगते हैं। एक एकड़ में औसतन ५०,४०० से ६३००० पौंड या २३ से २८ टन वजन के फल प्राप्त होंगे। पेड़ पर ही फल अच्छी तरह पकते हैं। समतल मैदानों में पपीते छः से आठ महीने तक पकते हैं परन्तु पहाड़ियों के ठंडे स्थानों में सिर्फ चार से पाँच महीने यानी फरवरी और जनवरी तक ही पकते हैं।

खाद्य महत्व

नाइट्रोजन %	वसा %	कार्बोहाइड्रेट %	कैलसियम %	विटामिन (एक सौ ग्राम में) ए. बी. सी.	ऊर्जा (कैलोरी) (एक सौ ग्राम में)
०·५४	०·१	६·२८	०·०१	२५००···४६	४१

एक एकड़ खेती में आय और व्यय

एकवर्षीय

	रु०	नया पैसा
१—३'×३'×३' क्षेत्र का पाँच सौ गड्ढे खोदने के लिए तीन आने प्रति गड्ढे।	९३	७५
२—१½ औंस पपीते का बीज १६ रुपये प्रति पौंड के हिसाब से।	१	५०
३—पाँच सौ गड्ढों में खाद देने में बारह आने प्रति गड्ढे।	३७५	०
४—खाद मिलाने का खर्च, एक रुपये में २५ गड्ढे के हिसाब से।	२०	०
५—पच्चास रुपये प्रति-माह के हिसाब से १ वर्ष के लिए एक माली।	६००	०
६—एक कच्चा कुआँ खोदने में खर्च।	५०	०
७—बाल्टी वगैरह में खर्च।	५०	०
८—विपणन खर्च	२५	०
	१२२५	३५

आय

१—कच्चे तोड़े हुए फलों के दाम।	२५	०
२—पक्के फलों का दाम, आठ आने प्रति फल	६२५०	०
	६२७५	०

लाभ

बचत = ६२७५ − १२२५ = ५०५० या करीब ५ हजार रुपया।

रोग और कीड़े

पपीते का शत्रु कीड़ा अधिक हानि नहीं पहुँचाता है परन्तु पक्षियों और शल्यकी के द्वारा पपीतों के तने और फलों पर आक्रमण अत्यधिक होता है।

(१) पर्ण-परिसकुंचन (Leaf curl)

यह सबसे भीषण व्याधि है जो पपीते की कृषि के लिए बहुत हानिकारक है। पत्ते, घुंघराले और मुड़ जाते हैं। इस व्याधि का पुर्नजन्म मिट्टी से होता है। जो पौधे इस रोग से आक्रांत होते हैं उनमें फल नहीं लगता है। पौधे की वृद्धि रुक जाती है। पानी के निकास का उचित प्रबन्ध एवं आक्रांतिक पौधों को उखाड़ देना चाहिए।

(२) स्तम्भ गलन (Stem rot)

तना सड़ जाता है जिससे दुर्गन्ध युक्त तरल पदार्थ निकलने लगता है। वहाँ की छाल अपने आप निकलने लगती है। तेज वायु के चलने पर पूरा पौधा गिर जाता है। पानी के निकास का प्रबंध होना चाहिये। बोर्डो मिक्सचर २-२-५० का प्रयोग २१ और ३० दिन के अन्तर पर करने से बहुत लाभ होता है। मित्रा (१९३२) के किये गये प्रयोगों द्वारा ४ या ५% लाय साल घोल, या ५०% कार्बोलिक अम्ल का घोल लगाने से फायदा होता है।

(३) आद्र मरण

यह व्याधि शिशु पौधों को अधिक होती है। शिशु पौधों पर इसका आक्रमण बहुत जोर पकड़ता है। यह एक कवक से होता है जिसका नाम पुयकति (Pythium aphanidermatum) है। जमीन को ऊपर करके रोपण क्रिया करना चाहिए। यह मिट्टी-जनित रोग है इसलिए इसका संक्रमण जहाँ पर हो गया हो वहाँ पर रोपण क्रिया नहीं करना चाहिये। नीरवान (१९५३) में ६-६-५० के अनुपात में बोर्डो मिक्सचर प्रयोग करने का आदेश दिया है।

नींद का सुख

डा० शिव गोपाल मिश्र

मनुष्य की चार अवस्थायें मानी गई हैं-जाग्रत, सुप्त, सुषुप्त, तुरीय। इनमें से दूसरी अवस्था ही निद्रा या नींद के नाम से सुविख्यात है। क्या पशु और क्या मनुष्य, सभी निद्रा के वश में माने गये हैं—अर्थात्, सबों को समान रूप से निद्रा की आवश्यकता पड़ती है। फिर भी हमारे ऋषियों मुनियों ने नींद पर विजय प्राप्त कर ली थी। महारथी अर्जुन का एक नाम 'गुडाकेश' था क्योंकि उन्होंने नींद को अपने वश में कर लिया था। पशुओं में कुत्ते की नींद सबसे अनोखी है। वह उसी नींद में सोता और उसी में जागता रहता है इसीलिये विद्यार्थियों के लिये "श्वान निद्रा" का आदेश दिया जाता है।

नींद का समय अधिकांशतः रात्रि है किन्तु दिन में भी नींद आ सकती है। संसार में अच्छे-अच्छे घरों एवं सुखद शैयाओं का उपक्रम अच्छी नींद लाने के लिये ही किया जाता है। यदि नींद अत्यावश्यक न होती तो इतनी व्यवस्था न करनी पड़ती। अच्छी नींद के लिये सभी ललकते रहते हैं। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि गरीब और अमीर की नींद अलग अलग प्रकार की होती है। वास्तव में नींद तो वह अवस्था है जिसमें शरीर को आराम प्राप्त होता है। दिन भर की थकावट को दूर करने के लिये नींद उपयोगी है। वैसे जहाँ कहीं भी जब भी शारीरिक थकान बहुत अधिक हो जाती है, आखें झपने लगती हैं और नींद आ जाती है। तब इसकी परवाह नहीं रह जाती कि बिस्तर पर लेटा जाय, या जमीन पर अथवा बैठे या खड़े खड़े ही निद्रा का अनुशासन माना जाय। रात्रि के समय एवं घर में बिस्तर पर लेट कर नींद बुलाने का क्रम तो बहुत बाद का है।

निश्चित समय तक कार्य करने के उपरान्त नैत्यिक कार्यों से फ़ुरसत पाकर टाँग पसार कर नींद को बुलाने की प्रथा आधुनिक सभ्यता की देन कही जाय तो कोई अतिशयोक्ति न होगी। वरना जिस समय सारा ससार सोता रहता है उस समय रात्रि में पहरेदार, रेलगाड़ी के चालक, विमान चालक, सैनिक आदि जागते रहते हैं। हमारे धार्मिक ग्रन्थ 'गीता' में भी लिखा है कि संयमी पुरुष रात्रि में जगते हैं जबकि सारा संसार सोता रहता है।

नींद अत्यन्त आवश्यक एवं सर्वप्रिय मानी गई है। एक स्वस्थ मनुष्य को कम से कम ६ घन्टे सोना आवश्यक है। बच्चों के लिये इससे भी अधिक सोना चाहिये। कुछ लोग नैपोलियन की इस उक्ति को दुहराते हैं—किसी भी मनुष्य के लिये छः घन्टे सोना काफी है, बेवकूफ के लिये ७ घन्टे और औरतों के लिये आठ घन्टे। छत्रपति शिवाजी, महाराणा प्रताप जैसे वीर योद्धा अपने घोड़ों पर बैठे-बैठे सो लिया करते थे। जुलियस सीजर के भी सम्बन्ध में ऐसी ही कहानी कही जाती है। कुछ लोग तो नियमित नींद के इतने पाबन्द होते हैं कि चाहे जो कुछ भी होता रहे, वे सो जाते हैं और अपने नियत समय पर ही उठते हैं। इंगलैंड के सुप्रसिद्ध राजनीतिज्ञ ग्लैडस्टन का कथन है कि केवल दो अवसरों को छोड़कर शायद ही कभी वे अपनी नींद खराब किये हों।

मनुष्य के लिये तीन चीजें अत्यन्त आव-

श्यक हैं। वायु, भोजन और नींद। यदि कुछ घन्टों तक वायु न मिले तो मनुष्य मर जावेगा, किन्तु भोजन के न मिलने पर वह कई दिन तक जीवित रह सकता है; उदाहरणार्थ अधिक से अधिक साठ दिन तक बिना खाये जीवित रहना सम्भव है। बिना जल के एक सप्ताह से अधिक जीना कठिन है। किन्तु यदि नींद न आवे या कोई न सोवे तो वह बिना नींद के अधिक से अधिक २३१ घन्टे अर्थात् ६ दिन १५ घन्टे तक जी सकता है। कम घन्टे सो करके स्वस्थ रहना आसान है, किन्तु बिल्कुल न सोना घातक है। युद्ध के दिनों में सैनिक अधिकारियों अथवा राजनीतिज्ञों को कम सोने को मिलता है। इसका दुष्प्रभाव यह देखा गया है कि अधिक कार्य करने एवं विश्राम न ले सकने के कारण उन्हें अनेक रोग हो जाते हैं। यह कहा जाता है कि चीन के लोग अपराधियों को न सोने का दण्ड देते हैं। ऐसे दण्ड के द्वारा बड़ा से बड़ा अपराधी अपने अपराधों को बताते देखा गया है। तात्पर्य यह कि सभी दृष्टियों से नींद का महत्वपूर्ण स्थान है।

इतने पर भी, यह देखा गया है कि आजकल के सभ्यतम राष्ट्रों में अधिकांश जनता नींद न आने अर्थात् उनिद्र रोग से पीड़ित है। यह अनुमान लगाया जाता है कि ब्रिटेन में लगभल २५ लाख व्यक्ति ऐसे हैं जिन्हें रात्रि में बिस्तर पर लेट जाने पर नींद नहीं आती। अमरीका में तो ऐसे व्यक्तियों की संख्या दो करोड़ से भी अधिक होगी। औद्योगीकरण के कारण चारों ओर व्याप्त ध्वनि तथा सामाजिक स्तर के उठने से उसमें प्रतिष्ठा की प्राप्ति इत्यादि ये सभी बातें आजकल के मनुष्य को विकल बनाये हुये हैं। वह चाहते हुये भी सो नहीं सकता। फलतः नींद लाने के लिये उसे गोलियाँ खानी पड़ती हैं। स्पष्ट है कि अमरीका तथा इंगलैंड में इन नींद लाने वाली गोलियों की काफी खपत होगी।

किन्तु प्रश्न यह है कि नींद क्यों नहीं आती? नींद न आने का मुख्य कारण है चिन्ता का उत्पन्न होना। यदि मस्तिष्क से उन चिन्ताओं को दूर कर दिया जाय, जो हमें परेशान किये हैं तो तुरन्त नींद आ सकती है, परन्तु चिन्ताग्रस्त मनुष्य के लिये चिंता-मुक्त हो पाना कठिन है। यह देखा गया है कि अर्धचेतन अवस्था में भी मनुष्य के मस्तिष्क से विद्युत धारायें निकलती रहती हैं। ये धारायें ऐल्फा, बीटा तथा थीटा तरङ्गें कहलाती हैं और ये केन्द्रीय स्नायु प्रणाली में प्रविष्ट होती रहती हैं जिससे शरीर के समस्त अङ्ग इन तरङ्गों से प्रभावित होते रहते हैं। यदि आप यह चाहें कि ये तरंगें प्रत्येक इन्द्रिय तक प्रसारित न हों तो ऐसी दशा में हृदय को रक्त संचार करना बन्द कर देना होगा अर्थात् मनुष्य की मृत्यु हो जावेगी। इस अर्धचेतन अवस्था में जितनी भी तरंगें उठती हैं वे अति लघु होती हैं किन्तु विचारों के कारण उनकी शक्ति बढ़ जाती है अतः मस्तिष्क को सोचने के लिए अधिक रक्त की आवश्यकता होती है। फलतः यदि मस्तिष्क में रक्त बढ़ता रहता है तो नींद आनी दुर्लभ हो जाती है। अतः नींद लाने के लिये आवश्यक है कि मस्तिष्क सोचने का कार्य बन्द कर दे। यही कारण है कि नींद लाने के लिये आँखें बन्द करने के साथ-साथ मस्तिष्क में किसी भी बात के विषय में सोचना भी बन्द करना पड़ता है।

सोचने की क्रिया को मन्द करने या शिथिल करने का एक उपाय है और वह है शारीरिक थकान। थकान चाहे मस्तिष्क की हो चाहे अन्य अङ्गों की, उसके कारण ऐसे 'विष' उत्पन्न होते हैं और रक्त में मिलते रहते हैं जिससे सोचने की शक्ति में व्यवधान पड़ने लगता है। यह प्रायः देखा गया है कि कठोर परिश्रम के बाद मनुष्य की आँखें स्वतः झपने लगती हैं और वह किसी प्रकार से कोई भी बात नहीं सोच पाता, तुरन्त सो जाता है। इसीलिए यह कहा जाता है कि निर्धन किसान दिन भर के परिश्रम के बाद रात्रि में गहरी नींद सोता है जब कि ऊँचे-ऊँचे

मुलायम गद्दों में भी लेटा धनिक व्यक्ति चिन्ता के कारण रात भर करवटें बदलता रह जाता है।

चिन्ताओं से मुक्त होने का एक अन्य उपाय है—दवाओं का उपयोग अथवा सुरापान। इनके कारण मस्तिष्क, जो कई तहों से बना होता है, धीरे-धीरे प्रभावित होने लगता है। बारम्बार सुरापान करने अथवा अधिक सुरापान से मस्तिष्क की सभी तहें निश्चेष्ट हो जाती हैं। थोड़ी मात्रा में मद्य या शराब, नींद लाने वाली सिद्ध होती है किन्तु अधिक पीने से स्मृति नष्ट होने लगती है और अन्ततः शराब या दवा से जो नींद आती है वह 'बेहोशी' का रूप धारण कर लेती है। फलतः दवाओं को या सुरापान को आदत या लत नहीं बना लेना चाहिये। इसीलिये डाक्टरों का कहना है कि घूमना-फिरना और शारीरिक काम करके नींद बुलाने का साधन सर्वोत्कृष्ट है।

भारतवर्ष कृषि प्रधान देश रहा है। इसके वासियों ने सदैव ही खेतों पर कठोर श्रम किया है अतः उन्होंने 'निद्राहीनता' या 'उन्निद्रता' का कभी अनुभव नहीं किया। प्रकृति के सहचर होने का उन्हें यही लाभ रहा है किन्तु जैसे-जैसे बड़े-बड़े नगरों की स्थापना हुई और औद्योगीकरण प्रारम्भ हुआ है कि लोगों को इस 'उन्निद्र रोग' ने दबोचना प्रारम्भ कर दिया है।

वृद्धों के लिये घूमना, युवकों के लिए कठोर श्रम करना—ये दो सरल उपाय हैं नींद को बुलाने के। हमें इन्हीं उपायों द्वारा नींद लाने का प्रयत्न करना चाहिए। दवाओं के द्वारा नींद बुलाना ठीक नहीं। वे न केवल धनलेवा हैं वरन् अन्ततः जान-लेवा भी हैं।

●●

अलौह धातुओं के खनिज अयस्क

रमेश चन्द्र तिवारी

लौह-धारित तमाम खनिज अयस्कों का उपयोग आजकल लोहे के उत्पादन के लिए किया जा रहा है। उद्योगों में लोहे के अतिरिक्त और भी धातुओं का प्रयोग दिन प्रति दिन बढ़ता जा रहा है। सोना, चाँदी, जस्ता, ताँबा, थोरियम, सीस, एल्यूमिनियम, शक्तिशाली यूरेनियम, प्लेटिनम आदि इसके उदाहरण हैं। एल्यूमिनियम जैसी धातुओं को तमाम आकर्षक एवं गृहस्थी की चीजें बनाने के लिए प्रयोग किया जा रहा है। हम इन्हीं धातुओं को संचित रखने वाले अयस्कों का परिचय यहाँ देंगे। पृथ्वी के गर्भ में ये सभी न्यूनाधिक रूप से पाये जाते हैं। एक ही धातु के कई अयस्क विभिन्न अवस्थाओं एवं संगठनों में पृथ्वी के अन्तर से निकाले गये हैं। किसी में उस विशिष्ट धातु की मात्रा काफी होती है और किसी में कम।

सोना :—"धातुओं का राजा" सोना सभी धातुओं से आकर्षक, टिकाऊ तथा चमकदार होता है। यह मुख्य रूप से तो स्वतंत्र अवस्था में (अन्य धातुओं

के मिश्रण रूप में नहीं) पाया जाता है परन्तु कभी-कभी चाँदी के साथ मिला हुआ पाया गया है। सोना क्वार्ट्ज चट्टानों में पतली नसों के रूप में पाया जाता है और जब चट्टानें टूट फूट कर रेत के रूप में इकट्ठा हो जाती हैं तो इकट्ठा रेतों को छानकर सोना अलग कर लिया जाता है।

प्राकृतिक सोना कोमल (कठोरता २·६ मोहनाप के अनुसार) भारी तथा पीले रंग की धातु है एवं चट्टानों के बीच परत तथा पपड़ी के रूप में पाया जाता है। इसके अतिरिक्त **टेल्यूराइड अयस्क** जो पीले रङ्ग अथवा श्वेत रङ्ग का खनिज है उसमें भी सोना पाया जाता है। इस अयस्क की कठोरता ३ है तथा विशिष्ट गुरुत्व लगभग ६ है। सोना अन्य खनिजों से भी निकाला गया है।

रजत (चाँदी) :—सिक्कों, आभूषणों तथा अन्य बहुत-सी व्यापारिक वस्तुओं के निर्माण हेतु आजकल चाँदी का अत्यधिक प्रयोग हो रहा है। चाँदी के कुल उत्पादन का ·२५-७५% भाग का व्यापारिक उपयोग किया जाता है। फोटोग्राफिक चित्रों के उत्पादन में इसका मुख्य हाथ है। संसार की ५० प्रतिशत चाँदी का निस्सारण जस्ता तथा ताँबे के निर्माण के पश्चात् बचे अवशेष से किया जा रहा है।

सोने की तरह चाँदी भी प्राकृतिक अवस्था में पायी जाती है। इसकी कठोरता २·५ से ३ तथा आपेक्षिक गुरुत्व १०·५ है। परन्तु इस अवस्था में चाँदी बहुत कम पायी गयी है। इसके व्यापारिक उत्पादन का मुख्य अयस्क **अर्जेन्टाइट** (सिलवर सल्फाइड) खनिज है। चमकीला खनिज सीस, जस्ता तथा ताँबा के साथ पाया जाता है। इसकी कठोरता २·५ तथा विशिष्ट गुरुत्व ६·३ है।

एल्यूमिनियम :—अत्यन्त हल्का, असंक्षारक तथा काफी मजबूत होने के कारण एल्यूमिनियम अच्छे किस्म के हवाई जहाजों के निर्माण हेतु प्रयोग किया जाता है। जेट विमान, राकेट आदि में इसी धातु का प्रयोग मुख्य रूप से हो रहा है। सारे विश्व में एल्यूमिनियम का निस्सारण (Extraction) बाक्साइट खनिज से किया जाता है। यह खनिज जलीय एल्यूमिनियम आक्साइड का मिश्रण है। इस खनिज की उत्पत्ति शीतोष्ण जलवायु में एल्यूमिनियम-धारित चट्टानों के टूटने-फूटने से होती है। लोहे की उपस्थिति के कारण यह अयस्क लाल रङ्ग का होता है जब कि एल्यूमिनियम एक सफेद रङ्ग की धातु है। बाक्साइट अयस्क की कठोरता ३ तथा आपेक्षिक गुरुत्व २·५ होता है। इस खनिज के अतिरिक्त **कैओलिनाइट** (जलीय एल्यूमिनियम सिलिकेट, जिसे चाइना क्ले भी कहते हैं) तथा **क्रायोलाइट** खनिजों में भी एल्यूमिनियम पर्याप्त मात्रा में पाया जाता है परन्तु व्यापारिक एल्यूमिनियम के उत्पादन के लिए इनका उपयोग नहीं किया जाता है। हमारे देश में **हिन्दुस्तान एल्यूमिनियम कार्पोरेशन, मिर्जापुर** में बिहार से प्राप्त बाक्साइट अयस्क से एल्यूमिनियम धातु का निस्सारण किया जा रहा है।

जस्ता (Zinc) :—जस्ता एक ऐसी धातु है कि इस पर जङ्ग नहीं लगता, इसलिए इसे लोहे के ऊपर कलई करके उसे जङ्ग लगने से बचाया जाता है। जस्ता को ताँबे के साथ मिलाने पर पीतल का निर्माण होता है। जस्ता तथा सीस एक ही अयस्क में साथ साथ उपस्थित रहते हैं।

इस धातु का मुख्य खनिज अयस्क **स्फेलराइट** है। इसको **जिंक-ब्लेण्ड** तथा **ब्लैकजैक** भी कहते हैं। रासायनिक सङ्गठन के अनुसार यह जिंक सल्फाइड है। यह काले, लाल, भूरे, हरे, पीले तथा सभी रङ्गों में मिलता है। इसकी कठोरता ३·५ से ४ तक तथा आपेक्षिक गुरुत्व ४ होता है। इस अयस्क के अतिरिक्त जस्ता **जिन्काइट** (जिन्क आक्साइड), **स्मिथसोनाइट** (जिन्क कार्बोनेट), **वाइलेमाइट** (जिन्क सिलिकेट), **फ्रेन्कलीनाइट** इत्यादि खनिजों में भी पाया जाता है। हेमीमोरफाइट तथा स्मिथसोनाइट को **कैलोमीन** के नाम से भी पुकारा जाता है।

ताम्र या ताँबा (Copper) :—ताँबे का

मुख्य उपयोग विद्युत् उद्योग में होता है, क्योंकि इसका वैद्युत अवरोध (Resistance) बहुत कम होता है। ताँबा तथा टिन की मिश्रधातु पीतल के रूप में प्रयोग किया जाता है। इसके अतिरिक्त ताँबा अन्य धातुओं के साथ अच्छी-अच्छी मिश्रधातु बनाता है।

अन्य धातुओं की अपेक्षा ताँबे के अयस्कों की संख्या अधिक है जिनमें मुख्य है **कैल्कोपाइराइट** (कापर तथा आयरन सल्फाइड), **कैल्कोसाइट** (क्यूप्रस सल्फाइड) तथा **ब्रोनाइट** (कापर आयरन सल्फाइड)। प्रथम अयस्क की कठोरता ३·५ से ४ तथा आपेक्षिक गुरुत्व ४·२ है और यह गाढ़े हरे रङ्ग का खनिज है। शेष दो की कठोरता तथा आपेक्षिक गुरुत्व क्रमश: २·५ व ३·५ तथा ३ व ५ है। ब्रोनाइट हल्का नीला एवं हरे रङ्ग का होता है।

यूरेनियम :—अभी कुछ ही वर्ष पूर्व प्राप्त यह धातु परमाणु शक्ति का एकमात्र साधन है। एटम बम बनाने तथा अन्य शक्तिशाली मशीनों को चलाने के लिए इसी धातु से काम लिया जा रहा है। यह बड़ी ही कीमती धातु है तथा भूमि पर आग्नेय चट्टानों में पायी जाती है। इसकी प्राप्ति बहुत कम है।

इस धातु के खनिज अयस्क तो बहुत हैं पर व्यापारिक उत्पादन के लिए **यूरेनाइट अयस्क** का प्रयोग किया जाता है। यह भारी तथा कठोर और काले रङ्ग का खनिज है जिसकी कठोरता ५·५ तथा आपेक्षिक गुरुत्व ६ होता है। **पिचब्लेन्ड** में यूरेनाइट काफी मात्रा में एकत्रित रहता है। **कार्नोटाइट** जो **वैनेडियम** धातु का अयस्क है उसमें भी **यूरेनियम** पाया जाता है। इसके अतिरिक्त **थूरोफेन** जो कि यूरेनाइट के साथ मिला रहता है उसमें भी यूरेनियम के सभी खनिज अयस्क रेडियो सक्रिय होते हैं। रेडियो सक्रिय प्रकृति के कारण ही यूरेनियम अत्यन्त महत्वपूर्ण धातु घोषित किया गया है।

मैगनीशिम :—अत्यन्त हल्का होने के कारण इस धातु को एल्यूमिनियम के साथ मिश्रित करके हल्के-फुल्के निर्माण कार्यों में प्रयोग किया जाता है। इस धातु के मुख्य अयस्क **मैगनेसाइट** (मैगनीशियम कार्बोनेट) तथा **डोलोमाइट** (कैल्सियम मैगनीशियम कार्बोनेट) हैं। प्रथम अयस्क मणिभीय होता है। यह श्वेत, पीला तथा भूरा रङ्ग का होता है। इसकी कठोरता ४ तथा आपेक्षिक गुरुत्व ३ है।

पारा (Mercury) :—यह एक ऐसी धातु है जो साधारण ताप पर तरल अवस्था में रहता है। इसका मुख्य उपयोग रसायन तथा दवाइयाँ बनाने में होता है तथा इनसे वैज्ञानिक यन्त्र भी बनाये जाते हैं। इसका प्रयोग तापमापी यन्त्रों के निर्माण में भी होता है।

इस धातु का मुख्य तथा उत्तम अयस्क **सिनाबार** (मरक्यूरिक सल्फाइड) है। इसकी कठोरता २·५ तथा आपेक्षिक गुरुत्व ८·१ होता है। यह साधारणतया पपड़ी के रूप में पाया जाता है।

टाइटैनियम :—इसका गलनांक ताप बहुत अधिक होता है तथा यह हल्का भी होता है इसीलिए इस धातु को राकेट निर्माण तथा पेंट आदि में प्रयुक्त किया जाता है। इसके मुख्य खनिज अयस्क **रुटाइल** (टाइटैनियम आक्साइड) तथा **इल्मेनाइट** (टाइटैनियम तथा लौह आक्साइड) हैं। उसके रवे-काले अथवा भूरे रङ्ग के होते हैं। यह आग्नेय एवं परिवर्तित चट्टानों के अन्दर पाया जाता है। इसकी कठोरता ६ तथा आपेक्षिक गुरुत्व ४·५ है। यह काले रङ्ग का होता है।

एण्टीमनी (Antimony) :—इसका प्रयोग सीस तथा अन्य धातु को कठोर बनाने के लिए किया जाता है। बैटरी बनाने के लिए जो सीस प्रयुक्त होता है उसे अम्लों से अप्रभावित रखने के लिये एन्टीमनी मिलाया जाता है। इसके अतिरिक्त सीस की चद्दरें तथा सीस की नलियों के निर्माण में भी एन्टीमनी

मिलाया जाता है। ताँबा, टिन तथा शीशे के साथ यह मिश्रधातु भी बनाता है। इस धातु का मुख्य अयस्क **स्टिबनाइट** है। इसे एन्टीमोनाइट तथा एन्टीमोनी ग्लांस भी कहा जाता है। यह मटमैले रंग का चमकदार खनिज होता है। इसकी कठोरता २ तथा आपेक्षिक गुरुत्व ४.६ है तथा **एन्टीमनी ट्राई सल्फाइड** के रूप में एन्टीमनी धारण किये रहता है।

सीस (लेड) :— यह चाँदी के साथ पाया जाता है तथा विश्व का एक तिहाई उत्पादन मोटरकारों की बैटरी के निर्माण के लिए किया जा रहा है। इसके अतिरिक्त यह धातु के पेन्ट के निर्माण, कैबल के आवरण के रूप में तथा अन्य निर्माण कार्यों के लिये प्रयोग किया जा रहा है।

इस धातु का मुख्य अयस्क **गैलेना खनिज** (लेड सल्फाइड) है। इसके रवे वर्गाकार होते हैं तथा अयस्क स्वयं वर्गाकार होता है। इसकी कठोरता २.५ तथा आपेक्षिक गुरुत्व ७.५ होता है। **सेरूसाइट** (लेड कार्बोनेट) तथा **एँग्लोसाइट** (लेड सल्फेट) खनिजों से भी लेड धातु का उत्पादन छोटे पैमाने पर किया जाता है। सेरू-साइट खनी अवस्था में पाया जाता है तथा सुई के आकार के सफेद रवों का गुच्छा ही इसकी पहिचान है। इसकी कठोरता ३.५ तथा आपेक्षिक गुरुत्व ६.५ है। **एंग्लोसाइट** जो गैलेना खनिज के आक्सीकरण के फलस्वरूप बनती है। यह रंगहीन अथवा मटमैले रंग का होता है जिसकी कठोरता ३ तथा आपेक्षिक गुरुत्व ६.३ है।

प्लेटिनम : इस धातु का वृहत् उपयोग आभूषणों के निर्माण हेतु किया जाता है। यह इरिडियम, पैलेडियम, ओस्मियम, रुथेनियम तथा रोडियम समूह का सदस्य है। इसका प्रयोग बिजली के काम तथा अन्य रासायनिक उद्योगों में भी होता है।

प्लेटिनम प्राकृतिक अवस्था में नहीं पाया जाता। केवल छोटे-छोटे टुकड़े ही तलछटों के रूप में खानों में पाये जाते हैं। यह भारी तथा टिकाऊ मटमैले रंग की होती है। इसकी कठोरता ४.५ तथा आपेक्षिक गुरुत्व २१.५ होता है। इसका एक मात्र अयस्क **स्पेरीलाइट** (प्लेटिनम आर्सेनाइड) खनिज है यह भारी, कठोर तथा सफेद रंग का होता है तथा काली धारियाँ पड़ी रहती हैं तथा इसकी कठोरता तथा आपेक्षिक गुरुत्व क्रमशः ६ से ७ एवं १०.५ होता है।

थोरियम :—थोरियम का मुख्य उपयोग आजकल रासायनिक उद्योग तथा गैस-मेण्टल बनाने के लिए किया जा रहा है। परमाणु-शक्ति के क्षेत्र में प्लेटिनम प्रयोग करने के लिए भी कार्यक्रम बनाये जा रहे हैं। इसके दो मुख्य अयस्क **मोनाज़ाइट** (थोरियम धारण करने वाला एक खनिज) तथा **थोराइट** (थोरियम सिलिकेट) खनिज हैं। प्रथम खनिज, भारी, भूरे-पीले रंग का तथा अत्यधिक रेडियोसक्रिय होता है। इसकी कठोरता ५-५.५ तथा आपेक्षिक गुरुत्व ५.६ है।

आर्सेनिक :—यह धातु सीस को कठोरता प्रदान करने के लिए प्रयुक्त होती है। इसके लवण आर्सेनिक ट्राइआक्साइड का उपयोग कीटाणु-नाशक के रूप में किया जाता है। लेड **आर्सेनेट** को कपास तथा आलू पर लगे कीड़ों को मारने के लिये काम में लाया जाता है। इसके मुख्य अयस्क **आर्सेनोपाइराइट** (मिसपिकेल) जो लोहे का सल्फरसेनाइड मटमैले रंग का होता है और साधारणतया रवादार अवस्था में पाया जाता है। इस अयस्क की कठोरता तथा आपेक्षिक गुरुत्व क्रमशः ५.५ से ६ तथा ७ है। इसके अतिरिक्त **आर्पिमेन्ट** (आर्सेनिक ट्राइसलफाइड) तथा **रीलगर** (आर्सेनिक सल्फाइड) में भी आर्सेनिक पर्याप्त मात्रा में देखा गया है। प्रथम अयस्क पीले रंग का होता है जब कि द्वितीय लाल रंग का होता है। दोनों को पेंटों को रंग प्रदान करने के लिये प्रयुक्त किया जाता है।

उपर्युक्त सभी अयस्क न्यूनाधिक मात्रा में हमारे देश में भी पाये जाते हैं। जस्ता के अयस्क आसाम, बंगाल, दार्जिलिंग तथा अन्य स्थानों में पाये जाते हैं। एल्युमिनियम बिहार के लोहरदागा क्षेत्र तथा

मध्य प्रदेश के अमरकंटक स्थान पर पाया जाता है। कुछ और खनिज अयस्क खानों का पता अभी हाल में चला है जो कि मिर्जापुर, नैनीताल, अल्मोड़ा आदि क्षेत्रों में स्थित हैं। इनका विस्तृत अध्ययन किया जा रहा है।

●●

पौधों में प्रणय

अ० बि० सोरवाणी

जीवों में प्रणय की भावना प्राकृतिक देन है। विभिन्न प्राणियों में प्रणय की विभिन्न विधियाँ होती हैं जिनसे हम भलीभाँति परिचित हैं, किन्तु पौधों में भी प्रणय होता यह शायद बहुत कम लोगों को ज्ञात होगा। पौधों में भी नर तथा मादा लिङ्ग-भेद होते हैं। नरों की संख्या अधिक रहती है और उन्हें मादा की तलाश में खूब भटकना पड़ता है। इस कार्य के लिये वे कीड़ों का सहारा लेते हैं, मादा स्थायी होती है और नरों को आकर्षित करने के लिए कुछ द्रव पदार्थ स्रावित करती है। नर और मादा को मिलाने का कार्य कीड़े करते हैं। कुछ पौधों में यह कार्य इतनी विचित्र विधि से होता है जिसे देख मनुष्य मात्र को भी आश्चर्य होने लगता है। इसका एक अनोखा उदाहरण युक्का (Yucca) नामक पौधे में प्रणय की विधि है।

जैसा कि चित्र में दिखाया गया है इस पौधे में नीचे कई पत्ते होते हैं जिनकी चोटी नुकीली और कांटेदार होती हैं। वर्षा ऋतु में जुलाई-अगस्त के बीच पत्तियों के बीच से एक डंठल निकलता है जिस पर घण्टी के आकार के कई श्वेत पुष्प लगते हैं जो रात में खूब चमकीले मालूम होते हैं। प्रणय का कार्य रात में होता है और वह भी एक विशेष प्रकार के पतंगे द्वारा जिसका नाम है प्रोन्यूबा युकासेला (Pronuba yuccasela)।

मादा प्रोन्यूबा रात के समय अण्डे देने के लिये किसी सुरक्षित स्थान की खोज में निकलती है और युक्का के श्वेत चमकदार पुष्पों पर आ कर बैठती है। मादा के शरीर पर कई पराग (नर) चिपक जाते हैं और मादा उड़ कर दूसरे पुष्प पर जा कर बैठती है। अब इस मादा का कार्य बड़ा मनोरंजक होता है।

मादा प्रोन्यूबा पुष्प के अण्डकोष में छेद करती है और एक अण्डा देती हैं। प्रत्येक अण्डा देने के बाद वह उड़कर अण्डकोष की चोटी पर जा बैठती है और अपने साथ लाये गए पराग का गोला बना कर उस पर रखती है तथा उन्हें अपनी जीभ से अन्दर ढकेल देती है। यह कार्य वह कई बा रकरती है ताकि उसके द्वारा लाए गए पराग (नर) मादा पुष्प से निश्चित रूप से संयोग कर सकें। प्रणय की यह विधि वास्तव में मनुष्य मात्र को आश्चर्यचकित कर देती है और प्रकृति की रचना की दाद देती हैं कि किस प्रकार एक प्राणी, एक पौधे के प्रणय कार्य में पूरी सहायता देता

है। इतना ही नहीं, यह सम्बन्ध आगे चलकर इतना घनिष्ट हो जाता है कि इस पतंगे और पौधे दोनों का जीवन ही जुड़ जाता है।

देखा गया है कि पतंगे के अण्डे से बच्चे निकलते हैं और प्रणय के बाद अण्डकोष से फल बनता है जिसमें बीज रहते हैं। बीज तथा पतंगे के बच्चे एक ही फल में साथ-साथ बढ़ते हैं। जब बीज बाहर गिरने लगते हैं तो कीड़े के बच्चे भी फल की दीवार में छेद बना कर बाहर जमीन पर आ गिरते हैं और एक कोषा बना लेते हैं। पौधे के बीच और पतंगे की कोषावस्था दोनों ही कुछ दिनों तक आराम करते हैं।

दूसरे वर्ष बीज अंकुरित होकर उससे पौधा बनता है और पतङ्गा भी कोषा से बाहर आ जाता है और फिर से पौधों के प्रणय में सहायता करता है।

युक्का के प्रणय का यह अनोखा तरीका वनस्पति शास्त्र के विद्वानों के लिए अभी भी एक विचित्र उदाहरण के रूप में उपस्थित है।

भारत में यह पौधा अब कई बगीचों में देखा जा सकता है। दो वर्ष पूर्व युक्का का एक पौधा जबलपुर के विज्ञान महाविद्यालय में लगाया गया। इसमें बड़े सुन्दर फूल लगे किन्तु फल एक भी नहीं था। कारण स्पष्ट है, जबलपुर में जब तक पतङ्गा प्रोन्यूबा नहीं लाया जावेगा तब तक युक्का में भी प्रणय नहीं होगा। कई अन्य स्थानों पर भी इस पौधे को लगाया गया किन्तु फल बिल्कुल नहीं मिले। जब प्रोन्यूबा पतङ्गा ऐसे स्थानों पर लाया गया तभी इस पौधे में फल लगने आरम्भ हुये।

प्रकृति की कितनी विचित्र लीला है। फ्रांसिस डार्विन ने तो यहाँ तक कह डाला कि यदि इस संसार में प्रोन्यूबा पतङ्गा नहीं रहता तो संसार में युक्का पौधा भी नहीं होता।

●●

प्रोफेसर कोर्टे द्वारा भाषण

पश्चिमी जर्मनी के बान विश्वविद्यालय के रसायन विभाग के अध्यक्ष प्रोफेसर एफ० कोर्टे ने अप्रैल १ तथा २ को प्रयाग के रसायन विभाग में दो महत्वपूर्ण व्याख्यान दिये। उन्होंने पिछले १५ वर्षों में जर्मनी में पादप रसायन पर जो कार्य किये हैं उनमें चरस के वृक्ष (हशीश प्लांट) से सम्बन्धित शोधें अत्यन्त ज्ञानवर्धक सिद्ध हुई हैं।

प्रोफेसर कोर्टे के स्वागत में दोनों दिन चाय का आयोजन किया गया था।

विश्वविद्यालय के अतिरिक्त प्रोफेसर कोर्टे ने कायस्थ पाठशाला की रसायन परिषद् में भी भाषण दिए।

विदेशों में होने वाले पादप रसायन सम्बन्धी शोध कार्यों से परिचित होने के लिए प्रयाग विश्वविद्यालय के शोध छात्रों एवं अध्यापकों के लिए यह सुनहरा अवसर था। प्रो० कोर्टे यहाँ से जापान जावेंगे जहाँ १४-१५ अप्रैल को पादप रसायन सम्बन्धी गोष्ठी का आयोजन हुआ है और जिसमें विश्व भर के वैज्ञानिक भाग ले रहे हैं।

—२६

प्रोफेसर लिनस कार्ल पॉलिंग

डाक्टर जटाधारी पाण्डेय
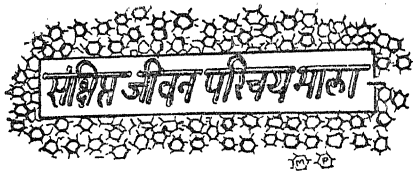
प्रो० पॉलिङ्ग के नाम से विश्व के प्राय: सभी वैज्ञानिक भलीभाँति परिचित हैं। किन्तु इस वर्ष से और भी लोग परिचित हो गये क्योंकि उन्हें १९६३ का शन्ति सम्बन्धी नोबेल पुरस्कार (Nobel Peace Prize) प्राप्त हुआ। प्रो० पॉलिङ्ग अमेरिका के रसायन शास्त्र के एक सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक हैं। इनका जन्म २८ फरवरी सन् १९०१ में ओरेगन राज्य (अमेरिका) के पोर्टलैंड नामक स्थान में हुआ।

१९२२ में इन्होंने ओरेगन स्टेट कालेज से बी० एस० (केमि० इञ्जी०) की परीक्षा उत्तीर्ण की। कैलीफोर्निया इन्स्टीट्यूट आफ टेक्नोलोजी, पेसाडेना में आप १९२२-२३ तक रसायन विभाग में सहायक (Assistant) रहे। उसके पश्चात् सन् १९२५ में कैलीफोर्निया इन्स्टीट्यूट आफ टेक्नोलोजी से उनको पी० एच० डी० की डिग्री प्राप्त हुई। १९२३-२५ तक आप वहीं पर टीचिङ्ग फेलो, १९२६-२७ तक रिसर्च फेलो के रूप में काम करते रहे। सन् १९२७ में इसी विभाग में आप सहायक अध्यापक नियुक्त हुये। दो ही वर्ष के भीतर (१९२९ में) एसोसियेट प्रोफेसर और सन् १९३१ में रसायन विभाग के प्रोफेसर चुन लिये गये। धीरे-धीरे विज्ञान अनुसन्धान के कार्य में आपकी रुचि बढ़ती रही। इसी रुचि से प्रेरित हो कर आपने अनेक विश्व-प्रसिद्ध स्थानों का भ्रमण किया। इनमें से ओरेगन स्टेट कालेज, शिकागो विश्वविद्यालय, प्रिंसटन, कैम्ब्रिज, लन्दन, येल तथा आक्सफोर्ड से एस-सी० डी० (SC.D) की डिग्री प्राप्त हुई। १९४८ में आपको पेरिस से डाक्टरेट की मानद पदवी सन् १९४९ में टम्पा से डाक्टर आफ ह्यूमन की उपाधि तथा १९५० में न्यु ब्रुन्सविक से यू० जे० डी० (U.I.D) की पदवियाँ प्राप्त हुईं।

प्रो० पॉलिंग सन् १९२८-३३ तक कैलीफोर्निया विश्वविद्यालय में भौतिक एवं रसायनशास्त्र के अध्यापक भी रहे। एक वर्ष के लिए (१९३२) आप मेसेचेस्ट्स इन्स्टीट्यूट आफ टेक्नोलोजी में भी कार्य करते रहे। सन् १९३७-३८ तक कार्नेल विश्वविद्यालय में जार्ज फिशर बेकर अध्यापक के रूप में रहे। १९३७ में ही प्रो० पॉलिंग गेट्स एण्ड क्रेलिन रसायन प्रयोगशाला (Gates and crellin Labs of Chemistry) के संचालक (Director) तथा रसायन एवं रसायन इन्जीनियरिंग, कैलिफोर्निया इन्सटीट्यूट आफ टेक्नालोजी के अध्यक्ष नियुक्त हुये। सन् १९४९ में अमेरिकन केमिकल सोसाइटी (American Chemical Society) ने प्रो० पॉलिंग

को अपना अध्यक्ष चुना। आप अमेरिकन एकेडमी आफ आर्ट्स एण्ड साइन्स (American acad. of Arts & Sciences) के फेलो भी हैं। साथ ही आप अन्य अनेक समितियों के सदस्य हैं—जैसे नेशनल एकेडेमी आफ साइन्स, अमेरिकन फीलॉसोफीकल सोसाइटी आदि। आपको १९४७ में रॉयल सोसाइटी का डेवी मेडल पुरस्कार (Davy Medal of Royal Society, London) प्राप्त हुआ। १९३१ में लैंगम्यूर पुरस्कार (Langmiur Prize) के विजेता रहे। प्रो० पॉलिंग और भी अन्य पुरस्कारों के विजेता रहे जिनमें प्रमुख के नाम निम्न हैं :— निकोल्स मेडल १९४१, विलार्ड गिब्स मेडल, १९४६, डेवी मेडल १९४७, रिचार्ड्स मेडल १९४७, मेडल फार मेरिट १९४८, तथा गिल्बर्ट न्यूटन लेविस मेडल १९-५१ आदि।

प्रो० पॉलिंग के अनुसन्धान कार्य ने सारे रसायन-शास्त्र में हलचल मचा दी। इनका पूर्व कार्य एक्स किरणों (X-rays) द्वारा क्रिस्टल की संरचना ज्ञात करने से सम्बन्धित था। इनकी नवीनतम खोजें प्रोटीन की संरचना के सम्बन्ध में हैं। आपने समीनो अम्ल तथा बडपिप्टोइड के क्रिस्टलोग्राफीय अध्ययन द्वारा प्रोटीन की संरचना स्पष्ट की।

क्रिस्टल संरचना के माध्यम से ही इन्होंने रासायनिक बन्ध की प्रकृति का अध्ययन किया। सन् १९२६ में बेंजीन तथा उनके सहजातों की रचना पर एक शोध निबन्ध प्रकाशित कराया। इनको रचना का अध्ययन इन्होंने बोर परमाणु (Bohr Atom) के रूप में की। इसके बाद इन्होंने अपने बहुत से लेखों में तरंगयांत्रिकी (Wave Mechanics) के सिद्धान्तों को रासायनिक समस्या में प्रयुक्त किया और संस्पन्दन सिद्धान्त (Resonance theory) को विकसित किया। इन अध्ययनों से प्रो० पॉलिंग ने असंयुग्मित अणुओं (Unconjugated molecules) में बन्ध ऊर्जा की योगशीलता तथा सहसंयोजक त्रिज्या एवं संयुग्मित अणुओं में संस्पंदन ऊर्जा (Rosonance energy) तथा अन्तर्वर्ती बन्ध (intermediate bond) की प्रकृति की पहचान की। इन्होंने विद्युत ऋणात्मकता को सहसंयोजक बंध ऊर्जा (coavlent boud energy) ज्ञात करने के लिये एक प्रमुख साधन बताया। प्रो पॉलिंग द्वारा प्रस्तुत प्रारम्भिक बन्ध-ऊर्जा, सहसंयोजक त्रिज्याओं तथा विद्युत ऋणात्मकताओं की सारणी अब भी व्यवहार में लाई जाती है।

इसके अतिरिक्त प्रो० पॉलिंग ने अन्य क्षेत्रों में भी कार्य किया है। इन्होंने Metallic State तथा immuno chemical reaction की एक नई व्याख्या दी। प्रोटीन तथा बहुपेप्टाइडों के लिये भी इन्होंने नया स्वरूप प्राप्त किया। इस प्रकार प्रो० पॉलिंग ने अपने अनुसन्धान कार्य द्वारा विज्ञान के अनेक अंगों की सेवा की। इनके अलौकिक अनुसन्धानों के फलस्वरूप सन् १९५४ में आपको रसायन का नोबुल पुरस्कार प्राप्त हुआ। प्रो० पॉलिंग ने विज्ञान-जगत् को एक और भी भेंट दी जिससे इनका नाम सदा विख्यात रहेगा। आपने दो सुप्रसिद्ध पुस्तकों की रचना की जिनमें एक "The Nature of Chemical Bond" (१९४०) तक दूसरी " Collége Chemistey" (१९५०)। इसके अतिरिक्त इन्होंने "General Chemistry" (१९४७) तथा अन्य पुस्तकें लिखी हैं। इधर कुछ वर्षों से आपने परमाणविक प्रयोगों के विरुद्ध वैज्ञानिकों का संगठन करके आवाज उठानी प्रारम्भ की है।

खबरें लाया हूँ

डा० शिवगोपाल मिश्र

१. पशुओं की जातियाँ दस लाख से ऊपर हैं

जर्मनी के सुप्रसिद्ध वनस्पतिवेत्ता कार्ल फान लिन्ने को केवल स्तनपेयी, पक्षी एवं कीट ये तीन प्रकार के पशु ज्ञात थे। कुल मिलाकर उसे ४२३६ जीवित पशु प्रजातियाँ ज्ञात हो सकी थीं किन्तु इस समय जर्मनी में ही इससे १० गुनी प्रजातियाँ विद्यमान होंगी। यह अनुमान लगाया गया है कि इस समय सम्पूर्ण विश्व में १० लाख १७ हजार ७ सौ पशुओं की प्रजातियाँ पाई जाती हैं और यह संख्या भी वास्तव में विद्यमान प्रजातियों की संख्या के आधे से अधिक न होगी। तात्पर्य यह कि अभी भी संसार में ऐसी पशु-प्रजातियाँ बची हुई हैं जिनका अध्ययन नहीं हो पाया।

जहाँ लिन्ने को पशु और पौदे ये दो वर्ग जीवित प्राणियों के ज्ञात थे वहीं आज वैज्ञानिकों के अनुसार कम से कम चार वर्ग के प्राणी हैं। जिन दो वर्गों का लिन्ने को आभास तक नहीं हुआ था, वे हैं (१) आदिम प्राणी जिनमें केवल कोशाक्रोड (Cell core) होती है और जो विभाजन द्वारा पुनरुत्पादित होते हैं तथा (२) एककोशीय प्राणी जिनमें भी एक कोशाक्रोड होता है। पशु तथा पौदे अन्य दो वर्ग हैं।

पशु जगत में कीटों की संख्या सर्वाधिक है। यह अनुमान किया जाता है कि जीवित पशु प्रजातियों में से लगभग दो तिहाई कीट की प्रजातियाँ होंगी अर्थात् लगभग ६-७ लाख प्रजातियाँ होंगी। गुबरैलों की प्रजातियों की संख्या २ लाख ४० हजार, तितलियों की १ लाख ५ हजार, मधुमक्खी, चींटी इत्यादि की ६५ हजार तथा मक्खियों (डाइप्टेरा) की लगभग ६० हजार होगी।

रीढ़ वाले पशुओं की प्रजाति संख्या ६ हजार होगी जिनमें से लगभग २८ हजार पक्षियों की ही प्रजातियाँ हैं। सर्प (घिसटने वाले) जाति का क्रमशः ह्रास हो रहा है और अब केवल ४-५ हजार प्रजातियाँ प्राप्त हैं। प्राचीनकाल में इनकी संख्या बहुत अधिक थी। स्तनपेयियों की प्रजाति संख्या ७ हजार के लगभग है।

ऐसा है यह अनोखा प्राणिमय जगत। यदि सभी जीवित प्रजातियों को मनुष्य देखने लगे तो न जाने कितना समय देखने में ही बीत जाय। उनके नाम याद करना या उन्हें पहचान पाना तो और भी कठिन होगा।

२. पूर्वपुरुष कुत्तों का भोजन करते थे

आजकल कुत्तों को पालतू जानवरों के अन्तर्गत परिगणित किया जाता है, किन्तु वैज्ञानिक शोधों से यह पता चला है कि प्राचीनकाल में आवश्यकता के समय कुत्तों का मांस खाया जाता था। अतः इसी दृष्टि से उन्हें घरों के आस-पास रखा जाता था। इसके प्रमाण इस तथ्य से प्रकट होते हैं कि पश्चिमी, तथा मध्य अफ्रीका तथा न्यूजीलैंण्ड में आज भी कुत्तों को मांस के लिए पाला जाता है। चीनी शब्द 'चाऊचाऊ' का अर्थ भी 'स्वादिष्ट भोजन' है।

धीरे-धीरे कुत्तों को अन्य कार्यों के लिए रखा जाने लगा, समाज में भी उसका मान बढ़ा और अन्त में कुत्ते और मनुष्य के बीच प्रगाढ़ 'स्वामिभक्ति' का उदय

हुआ जिसके लिए आजकल कुत्तों को महत्व प्राप्त है।

वैज्ञानिकों में बड़ा मतभेद है इस प्रश्न पर कि कुत्तों के पूर्वज कौन थे—शृगाल या वृक (भेड़िये)। इस समय संसार भर में कुत्तों की ४०० जातियाँ पाई जाती हैं। अतः यह प्रश्न स्वाभाविक है कि इन सबके मूल में कौन सी जाति रही होगी। अभी तक कुत्तों की प्राचीन हड्डियों के जो अवशेष प्राप्त हुये हैं उनसे पता चलता है कि वे १० हजार वर्ष पुराने हैं। यही नहीं डेनमार्क के एक दलदल से प्राप्त पालूत पशुओं में से केवल कुत्तों की ही हड्डियाँ प्राप्त हुई जिसके आधार पर यह कहा जाता है कि सम्भवतः भेड़, बकरी, घोड़ा आदि के पूर्व भी कुत्ते रहे होंगे। किन्तु यह कैसे ज्ञात हो कि अमुक हड्डियाँ पालूत पशु-कुत्ते की ही होंगी।

यह देखा गया है कि एक ही जाति के पशुओं में पालतू और जंगली प्रजाति के पशुओं की हड्डियों में काफी अन्तर पाया जाता है। पशुओं को पालतू बनाने से उनमें अपने शत्रुओं के प्रति भय का ह्रास होगा। इसका प्रभाव यह पड़ा होगा कि उनके शरीर छोटे पड़ गये होंगे और दाँत कम नुकीले तथा छोटे हो गए होंगे। पालतू बनाने से पशुओं के मस्तिष्क मण्डल (सीरेब्रम) छोटे पड़ गये होंगे। अतः इस दृष्टि से परीक्षा करने पर पता चलता है कि कुत्तों के पूर्वज भेड़िये ही हो सकते हैं, सियार नहीं। इसके पूर्व जर्मनी के प्रोफेसर कोनराड लोरेंज ने यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया था कि कुत्तों के पूर्वज सियार ही होंगे। उन्होंने 'मनुष्य और कुत्ता' नामक अपनी पुस्तक में यह लिखा है कि चाऊचाऊ नामक कुत्ते की जाति को छोड़कर शेष सभी जातियाँ सियार से विकसित हुई हैं। उन्होंने चाऊचाऊ को भेड़ियों से विकसित माना है। किन्तु अब उनकी यह धारणा बदल चुकी है।

अनुसन्धानों के फलस्वरूप यह सिद्ध हो चुका है कि बहुत पहले कम से कम छः प्रजाति के कुत्ते अस्तिव में थे। ये सभी अवश्य ही भेड़िये जैसे आकार के रहे होंगे। ग्रीस के अत्यन्त प्राचीन लेखक जेनोफोन ने ४०० ई० पू० अपनी पुस्तक में ६ प्रकार के कुत्तों का उल्लेख किया है। निश्चित रूप से इन्हीं प्रकारों से अन्य सभी प्रजातियाँ उत्पन्न हुई होंगी।

३. मनुष्यों के मस्तिष्क के भीतर भी एक घड़ी है

मनुष्य की सबसे विलक्षणता है दिन तथा रात्रि के आवर्तो विवर्तो के द्वारा प्रभावित होने की। रात्रि के बाद दिन या दिन के बाद रात्रि यह क्रम मनुष्यों के मस्तिष्कों को समान रूप से प्रभावित करता है। अतः ऐसा सोचा जाता है कि उनके मस्तिष्कों के भीतर भी घड़ी कार्य कर रही है। किन्तु यह घड़ी किस प्रकार चालित है? क्या बाह्य प्रभावों के द्वारा यह चालू रहती है अथवा पृथ्वी के घूमने से प्रभावित होती रहती है या माता के दूध से उसे चालित रखने की शक्ति प्राप्त होती है? वैज्ञानिकों ने प्रयोगों द्वारा यह ज्ञात किया है कि जन्म के समय शिशु की 'घड़ी' बाहर की घड़ी से ठीक आधा घंटे आगे रहती है और इसके ठीक होने में पूरे एक मास का समय लगता है। वस्तुतः मस्तिष्क में ही यह घड़ी रहती है।

४. हमारी अस्थियों के भीतर 'कूड़ादान' है

जब से नाभिकीय परीक्षणों में वृद्धि हुई है तब से उन क्षेत्रों के शिशुओं में अस्थि रोग एवं कैन्सर में बढ़ती हुई है। यद्यपि ऐसे परीक्षण मानव मात्र के लिए सब प्रकार से हानिकारक सिद्ध होते हैं, किन्तु शिशुओं पर इनका सर्वाधिक प्रभाव पड़ता है। इसका कारण यह है कि शिशु दुग्ध पर जीवन निर्वाह करते हैं अतः दुग्ध के माध्यम से उनके शरीर में स्ट्रांशियम ९० प्रवेश पाता है। यह स्ट्रांशियम ९० नाभिकीय परीक्षणों के फलस्वरूप वायु-मण्डल में छा जाता है जिसमें से यह वनस्पतियों द्वारा अवशोषित होकर पशुओं में और दूध में चला जाता है। यह देखा गया है कि पिछले ४ वर्षों में स्ट्रांशियम ९० की मात्रा में दुगुनी वृद्धि हुई है।

स्ट्रांशियम ६० को रेडियधर्मी स्ट्रांशियम भी कहा जाता है। यह कैलशियम की भाँति अस्थियों के निर्माण में महत्वपूर्ण कार्य करता है। एक बार अस्थियों में स्थान ग्रहण कर लेने के बाद यह वहाँ पर बहुत दिनों तक रहा आता है। यह ज्ञात है कि स्ट्रांशियम ६० का अर्धजीवन काल २८ साल है अतः जब तक कि स्ट्रांशियम ६० की मात्रा घटकर आधी हो जाय, २८ वर्ष बीत चुकेंगे। ५६ वर्ष में ¾ प्रभाव दूर हो जावेगा। किन्तु कैलसियम के साथ-साथ एकत्र होने के कारण यह हमारी अस्थियों में अवाँछित रूप में पड़ा रहेगा और जब समाप्त होगा तो अस्थि-कैंसर हो जावेगा। अतः अब के प्रभावित लोगों को काफी समय बाद कैंसर आदि की शिकायत हो तो कोई आश्चर्य की बात न होगी। किन्तु कितनी मात्रा में स्ट्रांशियम ६० घातक होगा, यह अभी ठीक से नहीं ज्ञात हो पाया।

जर्मनी में किये गये परिमापों से यह ज्ञात होता है कि शिशुओं में अस्थिकैलसियम की प्रति एक ग्राम मात्रा पर १ इकाई (पिकोक्यूरी) विकिरण की मात्रा पाई गई है। यह मात्रा वहाँ के सम्बन्धित शहरों की वायु के १ घन मीटर में वर्तमान विकिरण के तुल्य है। यह भी ज्ञात है कि नवजात शिशु के शरीर में ३० ग्राम अस्थि कैलसियम होता है जब कि एक वर्षीय बालक के शरीर में १०० ग्राम और युवक पुरुष के शरीर में १ से लेकर २ पौंड तक कैलसियम पाया जाता है। किन्तु युवक लोगों में प्रति ग्राम कैलसियम पीछे ०·३ इकाई विकिरण शोषित होता है अर्थात् शिशुओं की अपेक्षा कहीं कम। चूँकि बच्चे अपने शरीर के अनुसार अधिक कैलशियम ग्रहण करते रहते हैं अतः उनके शरीर में स्ट्रांशियम ६० की अधिक मात्रायें प्रवेश पाती रहती हैं। ऐसी स्थिति में यह सुझाव रखा जा सकता है कि छोटे-छोटे बच्चे कम दूध पियें तो उनके शरीर में स्ट्रांशियम ६० की कम मात्रा प्रविष्ट हो। किन्तु ऐसा करना सम्भव नहीं। स्ट्रांशियम और कैलशियम परस्पर ऐसे सम्बद्ध हैं कि मनुष्य की शारीरिक क्रियायें उन दोनों में अन्तर नहीं रख पातीं, इसीलिए अस्थियों के भीतर स्ट्रांशियम अवांछित पदार्थ-कूड़े की भाँति सञ्चित होता रहेगा।

५. जटिल से जटिल प्रोटीनों पर विजय प्राप्त

यह भलीभाँति ज्ञात है कि शरीर के उचित प्रकार से कार्य करते रहने के लिये कम से कम २० ऐमिनो अम्लों की आवश्यकता होती है। यह भी देखा गया है कि इन अम्लों से कई अम्ल मिलकर बहु-पेप्टाइड बनाते हैं जिनसे अन्ततः प्रोटीन की उत्पत्ति होती है। आधुनिक वैज्ञानिक प्रगति के द्वारा ऐसी विधियाँ विकसित की जा चुकी हैं जिनके द्वारा प्रोटीनों की संरचनाओं की गुत्थी सुलझाने में वैज्ञानिकों को काफी सहायता मिली है। सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक सैंगर ने इंसुलिन नामक हार्मोन में लगभग ५० ऐमिनो अम्लों की उपस्थिति सिद्ध की है। राइबोन्यूक्लियेज नामक प्रोटीन में १२४ ऐमिनो अम्ल ज्ञात किये जा चुके हैं। आज तक ज्ञात सबसे बड़ा प्रोटीन हीमोग्लोबिन है। यह लाल रक्त कणिकाओं में विद्यमान रंजक है। इसमें ५७४ ऐमिनो अम्ल देखे गये हैं।

प्रत्येक जीवित प्राणी में इन ऐमिनो अम्लों की एक विशिष्ट व्यवस्था होती है। यदि इनमें से एक भी ऐमिनो अम्ल कम हो या गलत ढङ्ग से व्यवस्थित हो जाय तो भीषण दोष आ सकते हैं। ऐसा एक उदाहरण रक्ताल्पता का है जिसमें बच्चों के शरीर में लाल रक्त कणिकायें ठीक से नहीं बन पातीं अतः रोगी को जीवन के लाले पड़ जाते हैं। एक दूसरा रोग फिनाइल कीटोन यूरिया है जो किसी एक ऐमिनो अम्ल की अत्यधिक मात्रा में उत्पत्ति के कारण होता है। इसका प्रभाव मस्तिष्क पर सीधे पड़ता है जिससे कि अधिकांशतः रोगी में पागलपन के लक्षण प्रकट होने लगते हैं।

६. देखिये आप अपनी कार को दूर रखें

यह देखा गया है कि बेंजपाइरीन, जो तारकोल से उत्पन्न एक पदार्थ है कैंसर उत्पन्न करता है। आधुनिक युग में जब चारों ओर कारें पेट्रोल का धुँआ निकालती हुई चली जाती हैं अथवा बच्चे से लेकर बुड्ढे लोग तक सिगरेट पी-पीकर धुँआ निकालते हैं या हर शहर की अलकतरे की पुती हुई सड़कों पर भी जो धूल उड़ती रहती है उसके द्वारा कैंसर होने की सम्भावनायें घटी नहीं, बढ़ी ही हैं।

इन सभी में बेंजपाइरीन उत्पन्न होता है और वही इस दुष्परिणाम के लिये उत्तरदायी है। जीव विज्ञान वेत्ताओं ने बहुत पहले सन् १६४१ में ही बेंजपाइरीन के कुपरिणामों का प्रभाव जीवित कोषाओं पर ज्ञात किया है। उन्होंने यह देखा है कि अवशोषित होने के अनन्तर यह पूरे कोशा को छा लेता है। अन्ततः राइबोन्यूक्लीइक अम्ल प्रभावित हो जाता है जो प्रोटीन उत्पादन के लिए उत्तरदायी होता है। यदि बेंजपाइरीन के अतिरिक्त कोई अन्य हाइड्रोकार्बन लिया जाय तो ऐसे घातक प्रभाव नहीं देखे जाते।

★

१—फसलों के उत्पादन के संबंध में भविष्यवाणी

किसान लोग शीघ्र ही अपनी फसलों के उत्पादन के विषय में सही-सही भविष्यवाणी करने में समर्थ हो जायेंगे। पूर्व काल में ऐसा करना असम्भव था। अब वे इस सम्बन्ध में निश्चय कर सकेंगे कि उन्हें अपने खेतों में कब खाद डालना चाहिए और किस समय फसलों की सिंचाई करनी चाहिए। वे यह भी निश्चय कर सकेंगे कि कितनी रासायनिक खाद तथा जल का प्रयोग किया जाये। अमेरिकी कृषि विभाग के वैज्ञानिकों ने, ग्रीन डेल (मैरीलैण्ड) में एक ऐसा सिद्धान्त (फारमूला) मालूम कर लिया है जिसकी सहायता से फसलों के लिए रासायनिक खाद तथा जल की मात्रा आदि के विषय में ठीक-ठीक निश्चय किया जाने लगा है। इस विषय में और अधिक भरोसे के साथ कार्य किये जाने के लिए अब वे अपने आँकड़ों को शुद्ध करने के साथ-साथ उसके स्रोतों का सुधार कर रहे हैं।

विश्व के कृषि सम्बन्धी वैज्ञानिक चिरकाल से फसलों के विषय में भविष्यवाणी करने की विधियों को उन्नत करने का प्रयत्न करते रहे हैं। इस विषय में पूर्व-काल में जो अनुसन्धान किये गये हैं उनसे यह जानकारी प्राप्त हो गयी है कि भूमि की नमी, दिन की लम्बाई तथा मिट्टी में विद्यमान पोषण तत्वों जैसी स्थानीय परिस्थितियों का पौधों पर प्रभाव पड़ता है। इन बातों को स्वीकार करते हुए, यहाँ के वैज्ञानिकों ने यह पता लगाने के लिए एक कार्यक्रम प्रारम्भ किया कि पौधों की वृद्धि के विषय में भविष्यवाणी करने के के लिए क्या इन स्थानीय तत्वों का प्रयोग किया जा सकता है। उनके प्रयत्नों के परिणामस्वरूप एक उल्लेखनीय सही सिद्धान्त का विकास हो गया है। पौध-विशेषज्ञ, जे० जे० हिगिन्स तथा जे० आर० होन और जीव-विज्ञान शास्त्री, ई० जे० कोच द्वारा इस सिद्धान्त का विकास किया गया है। इस सिद्धान्त के अन्तर्गत पौधों की वृद्धि पर पड़ने वाले स्थानीय प्रभावों को मापा जाता है। इस सिद्धान्त के अनुसार पौधों के विकास पर पड़ने वाले ४ प्रबल प्रभावों—तापमान, उपलब्ध नमी, प्रकाश की तीव्रता तथा दिन की

लम्बाई को नापा जाता है। किसी भी स्थानीय प्रभाव के महत्व का पता लगाने के लिए इस सिद्धान्त का प्रयोग किया जा सकता है। तत्पश्चात् उत्पादन के विषय में वांछित परिणाम हासिल करने के लिए उस प्रभाव का ठीक-ठीक प्रयोग किया जा सकता है।

उक्त सिद्धान्त पर अमल कर किसान, किसी विशिष्ट फसल का विकास करने के लिए यह निश्चय कर सकता है कि क्या इसके लिए अधिक पोषण तत्वों की आवश्यकता है और उसे वे पोषण-तत्व कब दिये जाने चाहिए। इसके अलावा सिंचाई की आवश्यकता तथा सिंचाई करने के लिए उपयुक्त समय का भी निश्चय किया जा सकता है। इस जानकारी के फलस्वरूप ठीक समय पर रासायनिक खाद डालकर तथा सिंचाई कर के धन एवं श्रम की बचत की जा सकती है।

यह नया सिद्धान्त पौदे की पत्ती के विकास तथा किसी स्थानीय परिस्थिति के मध्य विद्यमान सम्बन्ध पर आधारित है। यहाँ कृषि-विभाग के "प्लाण्ट इण्टोडक्शन स्टेशन" पर बोयी गयी फसलों के साथ की गयी जाँचों से प्राप्त आँकड़ों की सहायता से तीनों वैज्ञानिकों ने उक्त सिद्धान्त का विकास किया है।

ऋतु के किसी महीने में पौधा जिस गति से बढ़ेगा, उसके विषय में भविष्यवाणी करने के लिए गणित के एक समीकरण का प्रयोग किया जाता है। निश्चित अवधि में प्रत्येक स्थानीय स्थिति द्वारा पौधे के विकास में दिये जाने वाले योग को दृष्टि में रखकर भविष्यवाणी की जाती हैं। उक्त सिद्धान्त का विकास करने वाले वैज्ञानिकों का विश्वास है कि आगे चलकर उपयोगी आर्थिक कार्यों के लिए किसान लाग इस सिद्धान्त का प्रयोग करगे। सम्भवतः उनके कृषि सेवा संघटनों के वैज्ञानिकों की सहायता से यह कार्य सम्पन्न होगा। स्थानीय मौसम सम्बन्धी केन्द्रों से तापमानों तथा दिनों की लम्बाई सम्बन्धी आवश्यक सूचना प्राप्त की जायेगी। प्रकाश की तीव्रता तथा मिट्टी की नमी के विषय में आंकड़े प्राप्त करने के लिए सर्विस एजेन्सियाँ विशेष उपकरणों का प्रयोग करेंगी।

स्थान पर जा कर की गयी जिन जांचों का हिगिन्स, हौन तथा कोच द्वारा प्रयोग किया गया था वह राष्ट्र की सबसे बड़ी फसल मक्का, रेशे के रूप में बड़े पैमाने पर बोयी जाने वाली फसल, केनाफ, बहुमूल्य औद्योगिक तेल सबसे बड़ा साधन क्रेम्बे तथा रेफारोसिया पर की गयी थीं, जिसका राष्ट्र की कीटाणु नाशक औषधियों सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए एक साधन के रूप में अध्ययन किया जा रहा है। इस सिद्धांन्त को अमल में लाकर किसान श्रम, जल तथा रासायनिक खाद की ही बचत नहीं कर सकेंगे, बल्कि वे इसकी सहायता से उन स्थानीय परिस्थितियों के प्रभाव की भी नाप कर सकेंगे जो महत्वपूर्ण फसलों के लिए महत्वपूर्ण हैं। इसके प्रयोग से वैज्ञानिक लोग इस सम्बन्ध में भविष्यवाणी कर सकेंगे कि किसी देश के खेती-बाड़ी योग्य प्रमुख क्षेत्रों की विविध स्थानीय परिस्थितियों में कौन-कौन सी फसलें अधिक अच्छी होंगी।

सिद्धान्त का विकास करते समय, वैज्ञानिकों के दल ने पत्ती में होने वाले बनावट सम्बन्धी परिवर्तनों को देखकर पौधे की वृद्धि का दैनिक रिकार्ड तैयार करने के लिए सर्व प्रथम एक नई विधि मालूम की। वे परिवर्तन पत्ती के कुल विकास के १० वें भाग के रूप में अंकित किये गये कुल आंकड़ों की दृष्टि से, धीमे विकास के दिनों में केनाफ के विकास की दैनिक गति पत्ती के $\frac{१}{१०}$ वें भाग से कुछ अधिक और तेज विकास के दिनों में विकास की दैनिक गति $\frac{१}{१०}$ भाग से कुछ अधिक थी।

इसके साथ-साथ औसत तापमान, मिट्टी में विद्यमान नमी, दिन की लम्बाई तथा प्रकाश का तीव्रता के विषय में दैनिक आंकड़े एकत्र किये गये। अमेरिका ऋतु सम्बन्धी ब्यूरो के सौर-विकिरण आंकड़ों का प्रयोग किया गया।

पत्ती के विकास तथा स्थानीय परिस्थितियों सम्बन्धी रिकार्डों के पारस्परिक सम्बन्ध ने पौधे की वृद्धि तथा परिस्थितियों के प्रभावों के मध्य विद्यमान निकट सम्बन्ध को स्पष्ट रूप से प्रदर्शित कर दिया। यह देखा गया था कि जब कई दिनों तक तापमान बढ़ता चला गया तब कैनाफ के विकास की गति बढ़ गयी थी। इसके विपरीत, जब तापमान कम हो गया तब पौधे के विकास की गति कम हो गयी। जून तथा सितम्बर में कैनाफ के लिए दिन की लम्बाई महत्वपूर्ण थी, किन्तु जुलाई तथा अगस्त में इतनी महत्वपूर्ण नहीं थी।

पौधे की वृद्धि की गतियों की स्थानीय परिस्थितियों सम्बन्धी आँकड़ों के साथ तुलना करने से पता चला कि कुछ ऐसे दिन हैं जब पौधों की वृद्धि की गतियों तथा परिस्थितियों सम्बन्धी कारणों में कोई संगति नहीं होती है। कुछ ऐसे दिन भी होते हैं जब परिस्थितियों का प्रभाव अन्य दिनों की तुलना में अधिक पड़ता है।

स्थानीय परिस्थितियों सम्बन्धी आँकड़ों तथा पौधों पर पड़ने वाले उनके प्रभाव का विश्लेषण करने के लिए वैज्ञानिकों ने विद्युदणु गणक यन्त्रों का प्रयोग किया है। इसके परिणामस्वरूप एक ऐसी तालिका तैयार कर ली गई है, जिसके द्वारा यह पता लगाया जा सकता है कि प्रत्येक स्थानीय परिस्थिति का प्रतिदिन फसल पर क्या प्रभाव पड़ता है। पौधों की वृद्धि पर स्थानीय परिस्थितियों के महत्व के विषय में ठीक-ठीक आँकड़े प्राप्त करने के लिए हजारों गणनाएँ की गयी थीं। विद्युदणु-गणना यन्त्रों की सहायता के बिना ऐसा कर सकना अव्यावहारिक, सम्भवतः असम्भव होता।

अन्त में, अपने आँकड़ों की शुद्धता की जाँच करने के लिए वैज्ञानिकों के दल ने ग्लेन डेल में १९६२ के जून, जुलाई, अगस्त तथा सितम्बर में केनाफ के विकास के सम्बन्ध में जाँच की। इनको ग्राफांकित कर जाँच सम्बन्धी पौधों की वास्तविक वृद्धि भी रिकार्ड की गई थी। समस्त ऋतु में इन ग्राफों की रेखाएँ समानान्तर रहीं। अन्य पौधों के विषय में की गयी जाँचों के भी वैसे ही परिणाम निकले।

बार-बार निरीक्षण करके तथा वातावरण सम्बन्धी कारणों के प्रभाव का माप करने के अधिक उन्नत उपकरणों की सहायता से कार्य-विधि का सुधार करने के लिए अनुसन्धान किये जा रहे हैं। पत्तियों के विकास को स्थानीय परिस्थितियाँ किस सीमा तक प्रभावित करती हैं, इस सम्बन्ध में अभी भी आँकड़े एकत्र करने का कार्य जारी है।

२. आणविक जेनरेटर

हिम को पिघला देने वाली गर्मी में एक दिन एक शक्तिशाली हिम-भंजक जहाज पर सवार अमेरिका और कनाडियन वैज्ञानिक और टैकनिशियन उत्तरी ध्रुव से केवल ७०० मील दूर स्थित एक्सेल ही बर्ग नामक निर्जन द्वीप पर पहुँचे। यह घटना २१ अगस्त, १९६१ की है। द्वीप पर पाँव रखते ही इस टोली ने एक मौसम अनुसन्धान केन्द्र की स्थापना का कार्य तत्काल प्रारम्भ कर दिया, जिसे आगे चल कर ऐतिहासिक महत्व प्राप्त होने वाला था।

उस दिन से ही यह मानव रहित केन्द्र प्रत्येक तीन घण्टे बाद ९ सेकण्ड तक बराबर 'संकेत' प्रसारित करता आ रहा है। यह 'संकेत' जो सीधे ग्रहण करने वाले दूरवर्ती केन्द्रों पर स्थापित गणक यंत्र में पहुँचता है, वैज्ञानिकों को यह बतलाता है कि इस द्वीप पर वायु की गति और दिशा, हवा का दबाव और ताप कैसा है।

यह केन्द्र कनाडा के बर्फीले उत्तरी क्षत्र में समानव मौसम-चौकियों के बीच स्थापित मौसम-पर्यवेक्षण संजाल की कमी को पूरा करता है। किन्तु जिस विशेषता के कारण यह केन्द्र अन्य केन्द्रों से भिन्न है, वह यह है कि यह किसी भी अन्य स्वतः चालित

मौसम केन्द्र की अपेक्षा अधिक समय तक अबाध रूप से अपने आप चालू रहा है।

इतने समय तक सुचारु रूप से इस केन्द्र के चालू रहने का कारण यह है कि इसके पुर्जों को चालू रखने के लिए रेडियो-आइसोटोपों से उत्पन्न बिजली प्रयुक्त होती है। यह संयंत्र संसार का पहला अणु-शक्ति-चालित मौसम केन्द्र है।

इस संयंत्र का मर्मस्थल एक नन्हा इर साधारण किस्म का बिजली उत्पादक यंत्र है, जिसे 'स्नैप' कहते हैं। यह निश्चित रूप से अणु युग के प्रमुख आविष्कारों में से एक है। इसका नाम 'सिस्टम फॉर न्यूक्लियर औक्जिलियरी पावर' के प्रथम अक्षरों, अर्थात् 'एस० एन० ए० पी०' को जोड़ कर रखा गया है।

इसे अमेरिकी अणुशक्ति आयोग की ओर से चलाये गये अनुसन्धान द्वारा विकसित किया गया है। इसमें किसी इंजीनियर की कल्पनाओं के समस्त गुण निहित हैं।

उदाहरण के लिए, इसके लिए किसी रखरखाव या मरम्मत की आवश्यकता नहीं पड़ती। यह ठोस, हल्का और भद्दा है, इसमें से धुआँ, गंध या आवाज नहीं निकलती; इसमें कोई सचल पुर्जा नहीं; इस पर मौसम की गतिविधियों का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। फिर भी, यह अबाध और नियमित रूप से बहुत अधिक समय तक बिजली का करेण्ट प्रदान करता है।

एक 'स्नैप' इकाई का सार्वजनिक प्रदर्शन पहली बार १६ जनवरी, १९५९ को अमेरिकी प्रेसिडेण्ट की मेज पर हुआ था। वह इकाई छुहारे के आकार के एक धातु के डिब्बे में बन्द थी और उसका वजन केवल ४ पौण्ड था। लेकिन उसके द्वारा उत्पन्न बिजली की मात्रा परम्परागत किस्म की लगभग ७०० पौंड वजनी बैटरी द्वारा उत्पन्न बिजली के बराबर थी।

उसके बाद 'स्नैप' यंत्रों का प्रयोग अनेक प्रकार के विशिष्ट कार्यों में होता आ रहा है। उदाहरण के लिए, ४-५ पौण्ड वजनी एक 'स्नैप' यंत्र ट्रांजिट नामक भू-उपग्रह में उसके सौर रंध्रों को चालू करने के लिए लगाया गया है। वह भू-उपग्रह एक मानव निर्मित 'सितारा' है, जो जहाजों और विमानों का मार्ग निर्देशन करने के लिए रेडियो संकेत सम्प्रेषित करता है। अंतरिक्ष में स्नैप यंत्र का यह पहला प्रयोग है, और यह दो वर्ष से अधिक समय से चालू है। इससे जितनी बिजली उत्पन्न हुई है, उतनी बिजली उत्पन्न करने के लिए परम्परागत किस्म की ४,००० पौण्ड से अधिक बैटरियों की आवश्यकता होगी।

सितम्बर १९६३ में, एक अन्य अमेरिकी भू-उपग्रह में २७ पौंड वजनी 'स्नैप' यंत्र लगाया गया। यह भू-उपग्रह विश्व का पहला अंतरिक्ष वाहन था, जो एक मात्र आणविक बिजली से संचालित हुआ।

एक वृहत्तर 'स्नैप' यंत्र बाल्टीमोर, मेरीलैण्ड, के निकट एक नौकानयन केन्द्र की फ्लैश लाइट के लिए बिजली प्रदान कर रहा है। आशा है कि यह १० वर्ष तक चालू रहेगा। १० वर्ष की इस अवधि में इसकी ओर मनुष्य को किसी प्रकार का ध्यान देने की आवश्यकता नहीं पड़ेगी। इस प्रकार के कार्य के लिए प्रयुक्त परम्परागत बैटरियों की बार-बार मरम्मत करनी पड़ती है और वे आकार में बड़ी और वजन में अधिक भारी होती हैं।

एक अन्य स्नैप यंत्र, जो इतना छोटा है कि उसे एक घन फुट आकार वाले बक्स में बन्द किया जा सकता है, समुद्र जल के भीतर एक ध्वनि-सूचक उपकरण को चालू करने के लिए तैयार हो रहा है। जहाज, इस ध्वनि-सूचक उपकरण से अपने स्थान का निर्धारण करके इसका प्रयोग एक प्रकाश स्तम्भ के रूप में करेंगे। इसे समुद्री जल में २०० फुट नीचे स्थापित किया जायगा। आशा है कि यह १० वर्ष तक चालू रहेगा। और इसका प्रभाव क्षेत्र २० मील तक विस्तृत होगा आशा है कि इस प्रकार के ध्वनि-सूचक उपकरण जल प्रवाहों, मछली के स्थानों, चट्टानों, रेल के टीलों तथा नौकानयन सम्बन्धी अन्य

महत्वपूर्ण स्थानों को निर्दिष्ट करने के लिए प्रयुक्त होंगे।

अमेरिकी अरगुशक्ति आयोग के अध्यक्ष, डा० ग्लेन टी० सीबोर्ग ने कहा है कि अंततोगत्वा 'स्नेप' इकाइयों का प्रयोग दावाग्नि-सूचक यंत्रों, समुद्री तार प्रेषक-यन्त्रों तथा संचार-प्रसारक केन्द्रों को संचालित करने के लिए होने लगेगा। स्नेप यन्त्रों का प्रयोग दूरवर्ती स्थानों पर ऐसे किसी भी कार्य में हो सकेगा, जिसमें अधिक समय बिजली की आवश्यकता होगी।

'स्नेप' यन्त्र एक ऐसे वैज्ञानिक सिद्धान्त पर आधारित है, जिसकी खोज हुए अभी लगभग १५० वर्ष व्यतीत हुए हैं। इस सिद्धान्त को 'थर्मोइलेक्ट्रिक कनवर्शन' कहते हैं। इसके अनुसार बिजली का करेण्ट उस समय उत्पन्न होता है, जब दो असमान धातुएँ एक बन्द सरकिट में संयुक्त होती हैं और जब दोनों जोड़ों का तापक्रम भिन्न-भिन्न होता है।

किसी स्नेप यन्त्र के मुहरबन्द डिब्बे के भीतर स्ट्रांशियम-९० नामक रेडियो-आइसोटॉप की एक लघु मात्रा से निरन्तर आणविक कण उत्पन्न होते रहते हैं। आणविक कणों के इस निस्सरण के फलस्वरूप ताप उत्पन्न होता है। पुराने सिद्धान्त के आधार पर, 'थर्मोकपुल्स' नामक छड़ जैसे नन्हें यन्त्र इस ताप को बिजली में परिणत कर देते हैं।

उत्तरी ध्रुव प्रदेश के मौसम पर्यवेक्षण केन्द्र में, इस विधि से उत्पन्न ताप केन्द्र के अन्य पुर्जों को जमने और क्षरित होने से रोकता भी है। भूतकाल में इस प्रकार जमाव के कारण बैटरियाँ बिल्कुल बेकार हो जाया करती थीं।

अन्तरिक्ष-वाहनों के लिए बिजली उत्पन्न करने के सम्बन्ध में, स्नेप यन्त्रों की एक श्रेष्ठता यह है कि वे प्रक्षेपण के समय राकेट की सवारी के धक्कों से अप्रभावित बने रहते हैं। साथ ही, इन पर अन्तरिक्ष में विकिरण का कोई बुरा प्रभाव नहीं पड़ता। उन सभी अन्तरिक्ष वाहनों में, जिनको दीर्घ काल तक बिजली की आवश्यकता होती है, भूतकाल में सूर्य की धूप को बिजली में परिवर्तित करने के लिए सोर सेल लगाये गये थे। किन्तु बहुत समय तक अन्तरिक्ष में विकिरण से प्रभावित होकर सोर सेल प्रायः क्षरित हो जाते हैं।

स्नेप यन्त्र उन तीन प्रकार के छोटे और हल्के विद्युत उत्पादक यन्त्रों में से एक है जिन्हें इस समय अमेरिका में विकसित किया जा रहा है। शेष दोनों यन्त्रों में से एक अभी प्रयोगशाला में परीक्षण की अवस्था से गुजर रहा है और उसे 'थरमियोनिक कनवर्शन' कहते हैं।

थर्मियोनिक सिद्धान्त का प्रतिपादन सबसे पहले अमेरिकी आविष्कर्ता, टामस ए० एडिसन ने इस शताब्दी के प्रारम्भ में किया था। यह सिद्धान्त इस तथ्य पर आधारित है कि जब धातुओं को तप्त किया जाता है, तो उनमें से इलेक्ट्रॉनों का निस्सरण होता है। थर्मियोनिक यन्त्र में दो धात्विक बेलन होते हैं जिन्हें 'स्लीव' कहते हैं। इनमें से एक दूसरे के भीतर होता है। इनके अतिरिक्त कुछ अन्य विद्युतीय पुर्जे भी होते हैं। भीतरी स्लीव के अन्दर थोड़ी मात्रा में आणविक ईंधन को तप्त किया जाता है। इसके कारण एक बेलन से बिजली की कोण्ट निकलने लगती है। इस प्रकार के एक नमूने के यन्त्र का, जिसकी लम्बाई ६ इंच है, परीक्षण हाल में पूरा हुआ है। इसने ३०५ घण्टे के इस परीक्षण में ३८·५ किलोवाट घण्टा बिजली उत्पन्न की।

तीसरे प्रकार के यन्त्र में, फुएल सेल, जिनकी खोज लगभग १०० वर्ष पूर्व हुई थी, हाइड्रोजन और ऑक्सीजन जैसे ईंधनों की रासायनिक शक्ति को सीधे बिजली में परिणत कर देते हैं। इस समय इसके पुर्जों की लागत कम करने के उद्देश्य से प्रयोग हो रहे हैं, ताकि इन्हें साधारण प्रयोग में लाना सम्भव हो सके। फुएल सेल का निर्माण अपोलो समानव केन्द्र-यान तथा दो चालकों को ढोने वाले जेमिनी अन्तरिक्ष-यान में प्रयुक्त करने के लिए हो रहा है।

स्नेप यन्त्र, थर्मियोनिक यन्त्र तथा फ़ुएल सेल बिजली उत्पन्न करने वाली साधारण बैटरियों से इस अर्थ में भिन्न हैं कि वे बिजली संग्रहीत नहीं करते, बल्कि उस समय तक बिजली उत्पन्न करते रहते हैं, जब तक उनका ईंधन समाप्त नहीं हो जाता। इसके विपरीत, अच्छी से अच्छी बैटरियों में बार-बार ईंधन भरना पड़ता है; यहाँ तक कि यदि उनका प्रयोग न हो तो भी उनकी शक्ति क्षीण होती जाती है। कुछ बैटरियों में ईंधन भरने में कभी-कभी कई घण्टे और कई दिन लग जाते हैं।

'स्नेप' नामक इन नये यन्त्रों की क्रिया चुपचाप, बिना धुआँ उगले ही चालू रहती है। अतः वे घनी आबादी वाले क्षेत्रों के लिए विशेष उपयुक्त सिद्ध हो सकते हैं। उन्हें दूरस्थ निर्जन स्थानों पर प्रयुक्त करना इसलिए लाभप्रद होगा कि उपयोग के स्थान पर ही एक नन्हें यन्त्र को ले जाकर प्रयुक्त किया जा सकता है। इससे भारी-भारी यन्त्रों को दूर तक ले जाने में जो व्यय पड़ता है, वह इनके सम्बन्ध में नहीं पड़ेगा।

●●

विज्ञान वार्ता

१. नवीन कण की खोज

अमेरिकी वैज्ञानिकों ने एक उप-आणविक कण की खोज की है, जिससे अणु के भीतर होने वाली गति-विधियों पर प्रकाश पड़ने की सम्भावना है। उन्होंने बताया कि 'ओमेगा-माइनस' नामक इस कण की खोज से एक ऐसे सिद्धान्त की पुष्टि होती है, जो द्वितीय महायुद्ध के बाद अणु के भीतर विद्यमान तथा-कथित दर्जनों आधारभूत कणों के बीच पहली बार एक नियमित क्रम की स्थापना करता है।

श्री राल्फ पी० शट के नेतृत्व में भौतिक-वैज्ञानिकों की एक टोली ने ब्रुकहेवेन नेशनल लेबोरेटरी के अप्टन, न्यूयार्क में स्थापित अणु-विभंजक यन्त्र है।

इस नवीन कण की खोज महत्वपूर्ण है, क्योंकि यह एक ऐसे नये सिद्धान्त का प्रयोगात्मक प्रमाण है, जो विश्व भर के सैद्धान्तिक भौतिक वैज्ञानिकों के मस्तिष्क में उत्पन्न हो चुका था। वे ज्ञात उप-आणविक तत्वों की वृद्धिशील संख्या का रहस्य जानने के लिए प्रयत्नशील रहे हैं। खोज करने वाले भौतिक-वैज्ञानिकों में, अमेरिका के डा० मुरे गेल-मैन, इजरायल के युवाल नीमेन, जो केलिफोर्निया इन्स्टिट्यूट ऑव् टेक्नोलोजी में गेल-मेन के एक सहायक हैं; जापान के प्रोफेसर वाई० ओनूकी तथा ब्रिटेन के डा० जे० सी० वार्ड सम्मिलित हैं।

उनके सिद्धान्तों के अन्तर्गत समस्त पर्यवेक्षित कणों पर—जिनकी संख्या व्याख्या के अनुसार ३० से लेकर १०० तक है—विचार किया गया है, उनका

क्रम निर्धारित किया गया है और उन शक्तियों पर प्रकाश डाला गया है, जो उन्हें एक दूसरे से सम्बद्ध रखती हैं। यह बहुत कुछ तत्वों की एक आणविक तालिका जैसी है, जो अणुओं के रासायनिक व्यवहार में क्रम का निर्धारण करती है।

प्रोफेसर ओनूकी ने १९६० में यह सुझाव देकर सिद्धान्त में एक नया मोड़ उत्पन्न किया था कि कणों को केवल उनके गुणों के आधार पर अथवा उनके व्यवहार के अनुसार परस्पर सम्बद्ध करने के बजाय, गणितीय आधार पर परस्पर सम्बद्ध करना चाहिए। डा० गेल-मेन ने ८ गणितीय या संख्यात्मक सूत्र तैयार किये और महात्मा बुद्ध के आठ उपदेशों के नाम पर सिद्धान्त को 'अष्टसूत्री विधि की संज्ञा दी।

इस सिद्धान्त में 'ओमेगा-माइनस' के अस्तित्व की कल्पना की गयी थी, जिसे अब ब्रुकहेवेन की वैज्ञानिक टोली ने ढूंढ़ लिया है। उन्होंने ब्रुकहेवेन के विशाल अणु-विभंजक यन्त्र में खण्डित अणु के कणों को एक नये 'बबुल चैम्बर' में पहुँचाया, जहाँ लिए गये १ लाख चित्रों में से एक में अलभ्य ओमेगा-माइनस के 'पथ' दिखलायी पड़ें।

अब नये सिद्धान्त के बल पर, भौतिक वैज्ञानिक कणों के नये 'परिवारों' के विषय में भविष्यवाणी कर सकते हैं और उन्हें उप-आणविक संजाल में व्यवस्थित कर सकते हैं।

इससे भी अधिक महत्वपूर्ण बात यह है कि इस सिद्धान्त को एक सही अर्थ में समन्वित अणु-सिद्धान्त की दिशा में एक नया कदम माना जा रहा है। इस प्रकार के एक सिद्धान्त के अनुसार केवल दो और सम्भवतः थोड़े से ही, असली आधारभूत कण हैं जब कि शेष इन्हीं कणों के भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में पाये जाने वाले रूप हैं।

२. नये उपकरण की सहायता से मांस की जाँच

एक अमेरिकी चिकित्सक ने एक ऐसे उपकरण का आविष्कार किया है, जिसकी सहायता से शरीर से मांस को पृथक् किए बिना ही दूरवीक्षण यंत्र द्वारा मांस की जाँच की जा सकती है।

यह उपकरण 'हाइपोडर्मिक माइक्रोस्कोप' के नाम से पुकारा जाता है। इसका कारण यह है कि इस यंत्र में एक दूरवीक्षण यंत्र को एक ऐसी सुई से सम्बद्ध कर दिया जाता है, जो शरीर में त्वचा के भीतर औषाधियाँ पहुँचाने के लिए प्रयोग में लायी जाती हैं। इस उपकरण की सहायता से चिकित्सक त्वचा के नीचे शरीर में औषाधियाँ पहुँचाने वाली सुई (हाइपोडर्मिक नीडल) में से त्वचा के नीचे का भाग देख सकता है।

इस उपकरण के आविष्कर्ता डा० चार्ल्स लौंग द्वितीय हैं, जो क्लीवलैण्ड (ओहायरे) के वैस्टर्न रिजर्व यूनिवर्सिटी स्कूल औव् मेडिसिन में औषधि-विज्ञान एवं पुनर्संस्थापन विषय के सहायक प्रोफेसर हैं। स्नायु सम्बन्धी रोगों तथा नेत्र-रोगों सम्बन्धी अमेरिकी राष्ट्रीय संस्थान की ओर से प्रदान किये गये एक अनुदान के अन्तर्गत, डा० लौंग ने दो दृष्टि-विज्ञान वैज्ञानिकों—शिकागो स्थित इलिनौय इन्स्टिट्यूट औव टैक्नोलाजी के डोनाल्ड ए० पोण्टारेली तथा एनेटोली बूशेनको से परामर्श लिया।

उक्त वैज्ञानिकों ने कई महीनों तक परीक्षण किए, नए उपकरण के मध्य में दो छोटे बंडल हैं, जिनमें १०,००० काँच के रेशे (ग्लास फाइबर) हैं। वे इतने छोटे हैं कि सूई के भीतर ठीक बैठ जाते हैं। एक बण्डल रोगी के शरीर में प्रकाश ले जाता है। दूसरा बण्डल उस प्रकाश को पकड़ लेता है, जो अध्ययन किये जाने वाले सूक्ष्म कोषों से झलकता है। वह बण्डल उस प्रकाश को पुन: सुई से सम्बद्ध दूरवीक्षण यंत्र में पहुँचा देता है। दूरवीक्षण यंत्र द्वारा यह प्रतिबिम्ब बड़े रूप में दिखाई पड़ता है।

इससे पूर्व, चीर-फाड़ द्वारा रोगी के शरीर से मांस पृथक् करके दूरवीक्षण यंत्र द्वारा उसकी जाँच की जाती थी।

उक्त उपकरण की सहायता से मौके पर रोगी के शरीर के भीतर ही रक्त-धमनियों तथा सूक्ष्म कोषों आदि की परीक्षा की जा सकती है । निदान तथा अनुसंधान के लिए शरीर के भीतर होने वाले इन सामान्य तथा असामान्य परिवर्तनों तथा औषाधियों के कारण होने वाले परिवर्तनों को देखा जा सकता है । कैमरे की सहायता से जाँच सम्बन्धी परिणामों का स्थायी रिकार्ड रखा जा सकता है ।

३. लघुतम आकार का ताप दीप्त लैम्प

अमेरिका में विश्व का सबसे छोटा ताप द्वारा प्रकाशित (इन्केण्डेसेण्ट) लैम्प निर्मित हुआ है । इसका व्यास एक इंच के केवल ३/१०० अंश के बराबर तथा लम्बाई एक इंच के केवल ८/१०० अंश के बराबर है ।

इस नन्हें लैम्प का वजन एक औंस के १/१००० (१/३६ ग्राम) अंश के बराबर है । इस के भीतर के कुण्डलीदार तार का व्यास मनुष्य के सिर के एक बाल के लगभग १/५० अंश के बराबर है । यह लैम्प इतना छोटा है कि इसे त्वचा में चुभाई जाने वाली सुई के भीतर अच्छी तरह स्थापित किया जा सकता है ।

यह लैम्प विद्युदणु, आप्टो-इलेक्ट्रिक और चिकित्सा के क्षेत्र में अनेक दृष्टियों से उपयोगी सिद्ध हो रहा है । इसे हृदय-गह्वर के भीतर प्रविष्ट किया गया है ताकि रक्त-प्रवाह का चित्र खींचने के लिए वहाँ प्रकाश की व्यवस्था की जा सके । दन्त-चिकित्सकों ने इसे अपने जांच करने वाले औजारों के सिरों पर लगाया है, ताकि इसके द्वारा वे मुँह के भीतरी भागों को प्रकाशित कर सकें ।

यह नन्हा और हल्का बल्ब औद्योगिक और इंजिनियरिंग के क्षेत्र में भी अनेक प्रकार से प्रयुक्त हो रहा है । उदाहरण के लिए, इसे विद्युदाणविक और फोटो-इलेक्ट्रिक यंत्रों, ट्रांजिस्टर संकेतकों और मीटर-स्केल प्रकाशक उपकरणों के भीतर स्थापित किया गया है ।

अनेक सूचना-सूत्रों से प्राप्त सूचनाओं को फिल्म पर एक साथ ही अंकित करने के लिए, इस प्रकार के बहुत से लैम्पों को एक दूसरे की बगल में रख कर, किन्तु स्वतंत्र रूप से सम्बद्ध और नियन्त्रित करके अनेक-मार्गी साँचों का निर्माण किया गया है । प्रति वर्ग इंच क्षेत्र में २४० लैम्पों से जटित एक साँचे का प्रयोग इसी प्रकार के कार्यों के लिए तथा विद्युदणु-नेत्रों द्वारा उभरे हुए कार्डों और टेपों से सूचनाएँ ग्रहण करने के लिए किया गया है ।

इस लैम्प का निर्माण पाइन बुक, न्यूजर्सी की इलेक्ट्रिक कम्पनी के पिनलाइट डिवीजन ने किया है । इसमें केवल ३ मिलिएम्प बिजली प्रयुक्त होती है। किन्तु इसमें लगे लेन्सों द्वारा केन्द्रित और निर्दिष्ट होने के कारण इसकी रोशनी की तीव्रता सामान्य मात्रा से १० गुनी अधिक हो जाती है ।

४. ध्वनि द्वारा देखने की क्रिया का प्रदर्शन

अति तीव्र तीव्रता वाली ध्वनि-लहरियों द्वारा 'देख सकना' मनुष्य के लिए भी उसी प्रकार सम्भव है, जिस प्रकार चमगादड़ों और शिशुमारों के लिए । अमेरिका के एक वैज्ञानिक ने इस बात का प्रदर्शन किया है कि किस प्रकार आँखों पर पट्टी बाँध कर भी मनुष्य अपनी श्रवणेन्द्रिय की सहायता से साधारणतः अन्य ध्वनियों की 'प्रतिध्वनियों' का पता लगा कर १० फुट की दूरी पर स्थित किसी छोटी वस्तु के स्थान का पता लगा सकता है, और यह बता सकता है कि उस वस्तु का आकार क्या है । जिन व्यक्तियों पर ये परीक्षण किये गए, वे खुली हथेली और बँधी मुट्ठी का अन्तर बताने में समर्थ रहे । वे घेरे बन्दी वाले तार से लेकर और पानी के पाइप तक की मोटाई वाले अल्युमिनियम के भिन्न-भिन्न पीपों को पहचानने में समर्थ रहे । वे यह भी बता सकते थे कि एक पीपे और उसके व्यास के आधे का दूने व्यास वाले अन्य पीपे में क्या अन्तर है । वे २.५ से लेकर १० फुट तक की दूरी को पहचानने में भी सफल रहे ।

जिस वैज्ञानिक ने ये परीक्षण किए, उसका नाम

राल्फ जी० वील है। वह वरवैंक, कैलिफोर्निया के लौकहीड एयर-क्राफ्ट कारपोरेशन में ध्वनि सम्बन्धी इंजीनियर हैं। उसने उच्च फ्रीक्वेंसी वाली ध्वनि-रेखाएँ उत्पन्न करने के लिए एक विद्युदणु यन्त्र का प्रयोग किया। परीक्षण के लिए चुने गए व्यक्तियों को उसने एक 'शान्त-कक्ष' में, जिसे 'एनेकोइक' (प्रतिध्वनि-विहीन) कक्ष भी कहते हैं, अपने यन्त्र के पार्श्व में बिठा दिया। इस कक्ष में फाइबरग्लास की दर्जनों खपच्चियाँ लगायी गयी थीं, जो उस ध्वनि को छोड़ कर जो 'लक्ष्यों' से टकराती थीं, शेष सभी ध्वनियों को आत्मसात कर लेती थीं।

इन परिस्थितियों में परीक्षण के लिए प्रयुक्त व्यक्ति प्रति सेकेण्ड १८,००० चक्रों तक की ध्वनियों की प्रतिध्वनियाँ सुनने में समर्थ रहे। एक प्रौढ़ व्यक्ति सामान्यतः १० हजार चक्रों तक की प्रतिध्वनियाँ सुन सकता है, जो चिड़ियों की पतली सीटी-सी ध्वनि के समान होती है। परीक्षणों से पता चला कि प्रतिध्वनि के स्थान-निर्धारण का श्रेष्ठतम संकेत ऐसे 'खटकों' या सीटी की ध्वनियों में निर्मित होता है, जिनकी तीव्रता किसी वस्तु से टक्कर होने पर परिवर्तित हो जाती है।

बहुत दिनों से वैज्ञानिकों को इस बात की जानकारी है कि ह्वैल, शिशुमार, चमगादड़ें, समुद्री शेर और पक्षियाँ उच्च-फ्रीक्वेंसी वाली ध्वनियाँ उत्पन्न करती हैं और उन प्रतिध्वनियों द्वारा जो वस्तुओं से टकरा कर उनके पास वापिस लौटती हैं, इस बात का पता लगा लेती हैं कि उनके लिए आहार की वस्तुएँ या रुकावटें किस स्थान पर स्थित हैं। इस प्रकार वे अत्यन्त अंधेरे में भी अपना सही रास्ता ढूँढ़ लेती हैं।

श्री वील ने कहा कि उनका ध्वनि-निस्सारक यन्त्र केवल प्रयोगशाला के प्रयोगों के लिए ही है। किन्तु उनके अनुसन्धान द्वारा स्थापित मूल सिद्धान्त अन्ततोगत्वा ऐसे संवेदनशील यन्त्रों के आविष्कार को जन्म दे सकते हैं, जिनकी सहायता से अंधे व्यक्ति वस्तुओं को पहचान सकेंगे अथवा जो अन्य उपयोगों में आ सकेंगे।

५. पंखहीन अनुसंधान-यान

अमेरिका में एक ऐसे विचित्र पंखहीन यान का सफल परीक्षण हुआ है, जो अन्तरिक्ष से साधारण विमानों की भाँति पृथ्वी पर उतरने के लिए आकल्पित हुआ है। इस यान का नाम वैज्ञानिकों और टैक्निशियनों ने 'लिफ्टिंग बाडी' रखा है। यह यान अमेरिकी राष्ट्रीय उड्डयन एवं अन्तरिक्ष प्रशासन के एडवर्ड्स (कैलिफोर्निया) स्थित उड्डयन अनुसन्धान केन्द्र पर अनेक बार उड़ाया जा चुका है।

यह यान सिरे पर चौरस और तले पर गोल है। अतः प्रेक्षकों ने इसकी तुलना स्नानागार के टब से अथवा एक उल्टे खटमल से की है। किन्तु इस यान के ढाँचे के विचित्र किनारे यान को भूमि से ऊपर उठने में उसी प्रकार सहायक होते हैं, जिस प्रकार विमानों के लिए उनके पंख। अधिकृत रूप से इसे 'एम–२' नाम दिया गया, क्योंकि यह उन अनेक आकारों में से दूसरा आकार है, जिसका प्रयोग सम्भवतः वायुमण्डल में पुनः प्रवेश करने वाले अन्तरिक्ष-वाहनों के लिए किया जायेगा। वैज्ञानिकों की दृष्टि में यह यान अन्तरिक्ष-यात्रा से अन्तरिक्ष-यात्री को सुरक्षित रूप में पृथ्वी पर वापिस लाने और उसे एक ऐसा वाहन प्रदान करने सम्बन्धी कठिन समस्या के समाधान की दृष्टि से विपुल सम्भावनाओं से युक्त है जिसे वह स्वेच्छानुसार जैसे भी चाहे घुमा-फिरा सके और इस प्रकार सुरक्षित स्थान पर उतर सके।

स्वीकारोक्ति

कई वर्ष पूर्व साइन्स कांग्रेस के अवसर पर सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक डा० हाल्डेन ने एक परिपत्र में भारतीय वैज्ञानिकों तथा राष्ट्रीय प्रयोगशालाओं के सम्बन्ध में कुछ ऐसी बातें कही थीं, जो उस समय हमारी सरकार को अटपटी प्रतीत हुई थीं, किन्तु सन्तोष की बात यह है कि अब हमारे माननीय शिक्षा मन्त्री श्री छागला ने उन्हें स्वीकार करने में किसी प्रकार की हिचकिचाहट नहीं की वरन् उन्होंने दृढ़ता के साथ यह अभिमत व्यक्त किया है कि राष्ट्रीय प्रयोगशालाओं के निदेशकों को ऐसे वैज्ञानिक होना चाहिए जो अपने हाथ से भी काम करे। वास्तव में स्वतन्त्रता प्राप्त करने के पश्चात् वैज्ञानिक क्षेत्र में अराजकता-सी फैल गई थी। अधिकारी वैज्ञानिक केवल प्रशासकीय कार्य करते रहते थे और प्रयोगशालाओं में कार्य करते रहने वाले नवयुवक कर्मठ वैज्ञानिकों की शोधों के प्रकाशन के समय उनमें अपना नाम भी सम्मिलित करके तत्सम्बन्धी शोध का पूरा-पूरा श्रेय प्राप्त करते रहते थे। कभी-कभी तो वे कार्यकर्ता का नाम न देकर शोधों को अपने नाम से प्रकाशित करा लेते थे। इसका प्रतिफल यह हुआ कि नवयुवक वैज्ञानिकों में असन्तोष की लहर फैलने लगी और वे इस ताक में रहने लगे कि क्यों न हम विदेशों में जाकर स्वतन्त्रता पूर्वक शोध कार्य करें। कुछ काल तक यह प्रवृत्ति जोरों पर रही। हमारे तरुण वैज्ञानिक स्वदेश नहीं आ रहे। परन्तु शायद तब उन्होंने वास्तविकता जानने का प्रयास नहीं किया था। करते भी कैसे शोध कार्य से हटाकर वैज्ञानिक संगठन दृढ़ करने के बहाने उन्होंने स्वयं कुछेक वैज्ञानिकों को प्रोत्साहन दिया था। इसका परिणाम यह हुआ कि सभी वैज्ञानिक इसी ओर बहने लगे। यदि प्रारम्भ से ही अच्छे वैज्ञानिकों को समस्त सुविधायें प्रदान करते हुए उन्हें निरन्तर वैज्ञानिक मार्ग पर ही चलने के लिए प्रेरित किया गया होता तो स्थिति इतनी भयावह न हुई होती। तब नये वैज्ञानिकों के सम्मुख एक निश्चित दिशा होती और अनुभवी किन्तु वयोवृद्ध वैज्ञानिक उन्हें प्रेरणा प्रदान करते। किन्तु यहाँ पर ज्ञान की धारा उलटी बहने लगी। नीचे के लोग कार्य करते रहे और ऊपर वाले उन्हें दबाते रहे।

अब यह विद्रोह प्रकट रूप धारण कर चुका है। इसीलिए माननीय छागला जी ने घोषणा की है कि ३० वर्ष तक की आयु सर्वाधिक उपलब्धि का काल होता है अतः नवयुवक वैज्ञानिकों को सभी प्रकार की सुविधायें प्रदान की जानी चाहिए और उच्चाधिकारियों को भी कार्य करना चाहिए। वास्तव में, यदि सही दिशा अपनाई गई तो अच्छे परिणाम प्राप्त होंगे जिनके द्वारा सही अर्थ में वैज्ञानिकों को सुविधायें मिलें तो भारत में पुष्ट वैज्ञानिक परिपाटी बन सकेगी।

भारत को वैज्ञानिक क्षेत्र में आगे बढ़ने के लिए आवश्यक है कि यहाँ के वैज्ञानिक अपने दायित्व को निभावें।

:६
२
5
१ वि०
६४

१, सूर्य—एक परिचय ३२

२. जैव-चुम्बकीय घटना ३७

३. धातुओं का क्षरण एवं उनका संरक्षण ४०

खबरें लाया हूँ ४३

संक्षिप्त जीवन-परिचय-माला ४७

सार-सङ्कलन ५०

विज्ञान वार्ता ५५

पुस्तक-समीक्षा ६०

सम्पादकीय ६२

'० न. पै.
४ रुपये

सम्पादक—डॉ० शिवगोपाल मिश्र

विज्ञान

विज्ञान परिषद्, प्रयाग का मुखपत्र

विज्ञानं ब्रह्मेति व्यजानात् । विज्ञानाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते ।
विज्ञानेन जातानि जीवन्ति । विज्ञानं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति । तै० उ० ।३।५।

भाग ९९ | ज्येष्ठ २०२१ विक्र०, १८८५ शक मई १९६४ | संख्या २

सूर्य-कलंक (२)

सूर्य—एक परिचय

कुलदीप चड्ढा

जिस प्रकार इस संसार में अनेक आकार-प्रकार के जीव-जन्तु विचरते हैं, उसी प्रकार स्रष्टा की विशाल सृष्टि, ब्रह्माण्ड में अनेक आकार-प्रकार के व्योम-पिंड विहार करते हैं । जहाँ एक ओर लाखों-करोड़ों मील व्यास के विशालकाय नक्षत्र हैं, वहीं इंच अथवा सेंटीमीटर के परिमाण से छोटी क्षुद्र उल्काएँ भी अपनी स्वतंत्र सत्ता रखती हैं—स्वेच्छा से विहार करने वाले अणु-परमाणुओं की भी अलग ही बिरादरी है ।

जीव जन्तुओं की ही भाँति ये व्योमविहारी भी विशाल ब्रह्माण्ड के प्रांगण में, आपस में गुट बनाकर निवास करते हैं । हमारी मानवी परिभाषा में ये गुट परिवार, नगर, प्रदेश, राष्ट्र आदि की छोटी-बड़ी इकाइयों में परिगणित होते हैं । ब्रह्माण्ड के व्योम-विहारियों के गुट भी कुछ इसी प्रकार के छोटे-मोटे वृन्दों में बँधे हैं । इस सभी समुच्चय को हम **ब्रह्माण्ड** का नाम देते हैं । ज्योतिर्विदों की गणना के अनुसार इस ब्रह्माण्ड में लगभग २६ करोड़ नीहारिकाएँ हैं । नीहारिकाएँ लाखों-करोड़ों नक्षत्रों की समुच्चय हैं और वे ब्रह्माण्ड में ठीक उसी प्रकार बिखरी हुई हैं जैसे कि आकाश में तारे । इन नीहारिकाओं के आयामों का परिचय हम अपनी नीहारिका की पैमाइश प्रस्तुत करके ही करेंगे । दूर से देखने पर यह नीहारिका एक तश्तरी की भाँति दिखाई देती है, जिसका मध्यवर्ती उभार ऊपर-नीचे दोनों दिशाओं में एक-सा है इस तश्तरी की लम्बाई लगभग १००,००० प्रकाश वर्ष (light years) है और बीच के उभार की मोटाई २०,००० प्रकाश वर्ष है ।

कहना न होगा कि प्रकाश वर्ष समय की नहीं, अन्तर की इकाई है । वास्तव में सापेक्षवाद के देश-काल के सातत्य में प्रकाश की गति की स्थिरता के

कारण, अन्तर और समय में सीधा सम्बन्ध है। प्रकाश की किरणें एक सेकेंड में १८६,००० मील का अंतर तय करती हैं अर्थात् ३ लाख किलोमीटर का। इस हिसाब से एक वर्ष की अवधि में प्रकाश की किरणें लगभग ६०,००,००,००,००,००० मील का अन्तर तय कर लेंगी। वास्तव में ग्रह-नक्षत्रों के अन्तर इतने विशाल हैं कि उन्हें मीलों में प्रकट करते-करते लेखनी थक जाती है। उदाहरण के लिए आप उक्त अन्तर को देखें। ऐसे क्या, इससे हजारों लाखों गुने बड़े अन्तरों का नक्षत्र-विद्या में प्रायः ही हवाला देना पड़ता है। अतः शून्यों से लबालब संख्याएँ लिखने के स्थान पर इकाई का बदल देना एक विलक्षण सूझ थी। अस्तु।

१००,००० प्रकाश वर्ष लम्बी नीहारिका में, पदार्थ समान रूप से वितरित न हो कर, सर्पिल के रूप में फैला हुआ है। इस रूप का कारण यह भी है कि यह नीहारिका एक लट्टू की भाँति घूम रही है, अपने अक्ष के गिर्द। इस परिभ्रमण (Rotation) का एक चक्कर कोई २५ करोड़ वर्षों में पूरा होता है। इससे शायद यह प्रतीत हो कि इस प्रकार तो परिभ्रमण की गति बहुत मंथर होगी पर वास्तव में रेखागत चलन का परिमाण, नीहारिका के अक्ष से दूरी के साथ तीव्रता से बढ़ता जाता है और चूँकि नीहारिका का व्यास हजारों आलोक वर्ष है, अधिकांश पिंड तो घंटे भर में लाखों-करोड़ों मील की दूरी तय करते होंगे।

इस प्रकार के परिभ्रमण में व्यस्त हमारी नीहारिका में अनेक रंग-रूप के पदार्थ हैं।

सबसे अधिक प्रकट रूप तो है उन विशालकाय पिंडों का, जो अपनी ज्योति से चमकते हैं। तारक अथवा नक्षत्र कहलाने वाले इन ज्योति पुञ्जों की हमारी नीहारिका में संख्या का अनुमान दस अरब है।

हमारा सूर्य भी इन दस अरब नक्षत्रों में एक है।

इस प्रकार, नीहारिका एक बड़े परिवार का रूप है, जिसके प्रमुख सदस्य ये नक्षत्र हैं। इसीलिये नीहारिका को तारक पुञ्ज (Galaxy) या विश्व (Universe) भी कहा जाता है।

इन अरबों नक्षत्रों में से प्रायः प्रत्येक स्वयं में एक छोटा-सा विश्व—एक छोटा-सा परिवार है। इस स्थल पर भी हम उदाहरण अपने सूर्य का ही लेंगे।

हमारी नीहारिका में सूर्य की स्थिति, नीहारिका के अक्ष से कोई ३०,००० प्रकाश वर्ष हट कर है। इस अन्तर के कारण अक्ष के गिर्द घूम रही इस नीहारिका में हमारे सूर्य की गति, घंटे भर में कोई ६$\frac{1}{2}$ लाख मील है।

नीहारिका की भाँति, सूर्य, स्वतंत्र रूप से भी अपने अक्ष के गिर्द घूम रहा है। वास्तव में सूर्य न तो एक ठोस पदार्थ ही है और न उसका समूचा शरीर ही एक गति में इस परिभ्रमण में रत है। धरती से देखने पर सूर्य की मध्य रेखा इस चक्कर को २७ दिन में पूरा करती प्रतीत होती है। ज्यों-ज्यों हम अपना ध्यान सूर्य के ध्रुव प्रदेशों की ओर सरकाते जावें, परिभ्रमण अवधि धीरे-धीरे बढ़ती जावेगी। ध्रुवों के निकट पूरा चक्कर लगभग ३७ दिनों में पूरा होता है।

ऐडम्ज नामक विज्ञ ने अपने अवलोकनों के आधार पर प्रकट किया कि सूर्य की परिभ्रमण गति केवल मध्य रेखा से दूरी पर ही निर्भर नहीं करती, प्रत्युत गहराई पर भी। उन्होंने अपनी गणनाएँ, पूरा चक्कर लगाने की अवधि के स्थान पर, प्रतिदिन की कोणीय गति (Angular Velocity) के आधार पर दी हैं। उदाहरण के तौर पर, सूर्य की मध्य रेखा पर, सूर्य की ऊपरी सतहों की कोणीय गति १५° है और ३०° अक्षांश पर १४·६°। इसकी तुलना में सूर्य कलंकों की गहराई में यह गति १४·४ और १३·७° है।

इस नक्षत्र, सूर्य, का व्यास कोई ८६४००० मील है अर्थात् लगभग १४००००० किलोमीटर। इसमें पदार्थ की मात्रा का भार धरती की अपेक्षा कोई

सवा तीन लाख गुना अधिक है। गणित की पद्धति से इसे ५०×१०^२७ मन में व्यक्त कर सकते हैं।

पीले सफेद प्रकाश में चमकने वाले इस सूर्य के गिर्द कुछ छोटे आकार के ६ पिण्ड चक्कर काटते हैं। ये पिंड स्वयं प्रकाशित नहीं, प्रत्युत वे सूर्य के प्रकाश की तापशक्ति ग्रहण करके, अपने सारे व्यापार पूरे कर पाते हैं। इसलिए इन्हें ग्रह (Planets) कहते हैं। हमारी पृथ्वी भी इन ६ ग्रहों में गिनी जाती है। पृथ्वी के अतिरिक्त सूर्य की परिक्रमा करने वाले ग्रहों के नाम हैं—बुध (Mercury), शुक्र (Venus) मंगल (Mars), बृहस्पति (Jupiter), शनि (Saturn), वारुणि (Uranus), वरुण (Neptune) और प्लूटो।

इन ग्रहों में से, पृथ्वी समेत अनेक ग्रहों के गिर्द उपग्रह घूमते हैं। हमारी पृथ्वी का उपग्रह चन्द्रमा है। इन उपग्रहों, ग्रहों और सूर्य को मिलाकर जो छोटा-सा परिवार बनता है, उसे सौर-मंडल (Solar-system) कहते हैं।

हमारी पृथ्वी इस मंडल की मँझोली-सी सदस्या है। आकार में यह सभी ग्रहों के आकार के प्रायः बीचोबीच है और इसका सूर्य से अन्तर भी सब ग्रहों के अन्तरों से लगभग बीचोबीच है। इस अन्तर का परिमाण है ६३००००० मील अथवा लगभग १४६००००० किलोमीटर।

इस प्रकार सूर्य विशाल ब्रह्माण्ड की संख्यातीत नीहारिकाओं में से एक का सदस्य है—वहाँ भी अरबों तारों में वह एक है। दूसरी ओर इसके गिर्द अनेक ग्रह, अपने उपग्रहों समेत चक्कर काटते हैं।

यह सब जान लेने के बाद, आइए स्वयं सूर्य के बारे में कुछ विस्तार से चर्चा करें।

सूर्य का प्रत्यक्ष भाग अर्थात् उसका धरातल, **प्रभा-मण्डल** (Photosphere) कहलाता है। पर जिस प्रकार हमारी पृथ्वी के चारों ओर वायुमंडल के रूप में हवा का सागर है, वैसे ही सूर्य के गिर्द भी तप्त वायुओं का मंडल है। इस मंडल के दो भाग हैं—वायु मंडल का निचला भाग **वर्ण मण्डल** (Chromosphere) कहलाता है। इसकी ऊँचाई लगभग १० हजार किलोमीटर है। वायुमण्डल का बाहरी भाग **किरीट** (Corona) कहलाता है जहाँ वर्णमण्डल प्रभामण्डल के चारों ओर लगभग समान मोटाई का क्षेत्र है, वहाँ किरीट अनिश्चित अथवा कम निश्चित आकार का क्षेत्र है।

दूर से देखने में हमें सूर्य का प्रभामण्डल सुनहरी थाल के से रूप में दिखाई देता है। पर निकट से देखने पर यह सौम्य रूप कुछ विकारों से आच्छादित प्रकट होता है। जब सूर्य के धरातल का सूक्ष्म निरीक्षण किया गया तो प्रभामण्डल का रूप दानेदार-सा प्रकट हुआ। इस रूप के अंशों अर्थात् दानों को **कणिकाएँ** (Granules) कहते हैं।

कभी-कभी इन कणिकाओं में एक विलक्षण-सी उज्ज्वलता निकलती है जिसे **उज्ज्वाला** (Flare) कहते हैं। इन्हीं उज्ज्वल क्षेत्रों में कुछ समय बाद गहरा काला क्षेत्र प्रकट होता है जो उज्ज्वालाओं की अपेक्षा कहीं अधिक स्पष्टतया दिखाई देता है। इस क्षेत्र का ही नाम **सूर्य-कलंक** (Sunspot) है। सूर्य-कलंकों के लोप होने के बाद भी संबद्ध क्षेत्र में कुछ समय तक उज्ज्वालाएँ बनी रहती हैं।

सूर्य-कलंकों के पड़ोस में एक अन्य प्रकार का भी प्रकाश-खण्ड दृष्टिगोचर होता है, जिसे **फैकुले** कहते हैं। यदि उज्ज्वाला का रूप बिजली की कौंध के तुल्य है, तो फैकुले का छोटे-छोटे मेघ-खण्डों के तुल्य है। इन्हें प्लेज (Plage) भी कहा जाता है। फैकुले के संगठन तत्वों को **फ्लाँकुली** (Flocculi) कहा जाता है।

जिस समय उज्ज्वालाएँ प्रकट होती हैं उस समय सूर्य के सिरों पर प्रायः गहरी लाल **वन्हियाँ** (Prominences) भी देखी जा सकती हैं। जिस समय ये वन्हियाँ सूर्य के सिरे पर दिखाई देने के स्थान पर सूर्य के प्रमुख बिम्ब पर प्रकट होती है तो इनका रूप

गहरे-भूरे नागों का-सा होता है। इस दशा में इन्हें **तन्तुक** (Filaments) कहा जाता है।

जब सौर-वन्हियाँ अत्यन्त विशाल वेग से प्रकट होती है तो इन्हें **प्रस्फोट-वन्हियाँ** (Eruptive-prominences) कहा जाता है।

सूर्य तथा अन्य ज्योतित पिण्डों की जानकारी उनसे निकलने वाले प्रकाश के विश्लेषण द्वारा प्राप्त होती है। प्रत्येक पदार्थ गर्म होने पर कुछ विशेष रंगों का प्रकाश देता है। यह प्रकाश पदार्थ के तापमान तथा दाब आदि भौतिक परिस्थितियों के साथ बदलता रहता है। किसी विशिष्ट अवस्था में पदार्थ से निकलने वाले प्रकाश को पदार्थ का **वर्णक्रम** (Spectrum) कहते हैं।

पदार्थ के वर्णक्रम को जब विशेष यन्त्रों की सहायता से फैलाया अथवा छितराया जाता है, तो विभिन्न रंग की किरणों का प्रभाव बारीक अथवा मोटी रेखाओं या फिर कुछ चौड़े पट्टों के रूप में प्रकट होता है। इसे **रेखा-वर्णक्रम** (Line-spectrum) अथवा **पट्ट-वर्णक्रम** (Band-spectrum) कहा जाता है।

संभवतया पाठकों को ज्ञात ही हो, कि विभिन्न रंग का प्रकाश विभिन्न लम्बाई की तरंगों के रूप में प्रकट किया जाता है। इस संदर्भ में रेखा वर्ण पट्ट में प्रकट होने वाली प्रकाश रेखाओं को विशेष तरंग दैर्ध्य के रूप में उल्लिखित किया जाता है।

डॉप्लर के सिद्धान्त के अनुसार, जब प्रकाश का स्रोत तीव्र गति से द्रष्टा की ओर अथवा विपरीत दिशा में प्रधावन करता हो तो उससे निकलने वाली प्रकाश की तरंगों की लम्बाई बदल जाती है। इसी प्रकार जीमन नामक विज्ञ ने सिद्ध किया कि यदि प्रकाश का स्रोत, चुम्बकीय क्षेत्र से घिरा हो तो भी मूल प्रकाश की तरंग दैर्घ्य (wave-length) बदल जायगी। इन दो तथा इस प्रकार के अन्य सिद्धान्तों के आधार पर, सूर्य के विभिन्न भागों से भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में आने वाले प्रकाश के विश्लेषण से, सूर्य के कलेवर में उठने वाली उहा-पोह तथा विद्युच्चुम्बीय परिवर्तनों का आभास मिल सकता है।

इसी प्रकार, जब प्रकाश किसी कम तापमान के क्षेत्र से गुजरता है तो उसमें से कुछ विशेष रंगों की किरणें सोख ली जाती हैं। सोखी जाने वाली किरणों का रंग कम तापमान के क्षेत्र की बनावट और भौतिक लक्षणों आदि पर निर्भर करता है। सूर्य के वर्णक्रम में इस प्रकार की अवशोषण रेखाओं को सर्वप्रथम **फ्रानहौफ़र** ने देखा था। उसी के नाम पर इन्हें **"फ्रानहौफ़र रेखाएँ"** कहा जाता है। सूर्य के बारे में बहुत सी जानकारी इन्हीं फ्रानहौफर रेखाओं के अध्ययन द्वारा प्राप्त हुई थी।

सूर्य का समूचा प्रकाश कम गहरे पीले रंग का है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, सूर्य एक स्वतः प्रकाश्य पिंड है और निश्चित आकार-प्रकार के स्वतः प्रकाश्य आकाश पिंडों को **नक्षत्र** कहा जाता है। नक्षत्रों से निकलने वाले प्रकाश के आधार पर, ज्योतिर्विदों ने उनका वर्गीकरण किया है। इस वर्गीकरण के एक सिरे पर ऐसे विशालकाय नक्षत्र हैं, जिनकी आभा लाल रङ्ग की है। ऐसे नक्षत्रों को **लाल-दानव** (Red-demon) कहा जाता है। दूसरे सिरे पर अपेक्षतया छोटे कलेवर के नक्षत्र हैं, जिनका प्रकाश उज्ज्वल श्वेत आभा लिए है। ऐसे नक्षत्रों को **श्वेत-वामन** (white-dwarfs) कहा जाता है।

सूर्य इन दोनों अतिगत स्थितियों के बीचों-बीच है और इसे पीत-वामन (Yellow-dwarf) कहा जाता है।

इसी पीत-वामन सूर्य के शरीर पर प्रकट होने वाले सूर्य-कलंकों का हम कुछ विस्तार से अध्ययन करेंगे। निस्सन्देह सूर्य के बारे में जो जानकारी ऊपर दी गई है, उसके अनेक अंश विज्ञ पाठकों को पहिले से ही ज्ञात होंगे। तो भी सूर्य-कलंकों का परिचय देने से पूर्व, सौर-विज्ञान पर एक विहंगम दृष्टिपात आवश्यक है, क्योंकि इस पृष्ठभूमि पर सूर्य-कलंक तथा संबद्ध व्यापारों को समझना अधिक सरल और युक्तियुक्त होगा।

......(क्रमशः)

जैव-चुम्बकीय घटना

डा० शिवगोपाल मिश्र

हिब्रू धर्म की मान्यता है कि चारपाई को सदैव उत्तर-दक्षिण दिशा में करके सोया जाय। उसे पूर्व-पश्चिम करके सोना वर्जित है। इसी तरह जापान-वासियों में यह विश्वास प्रचलित है कि सोते समय सिर को उत्तर दिशा में रखना चाहिए। सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक हिप्पोक्रेट्स ने अपनी चिकित्सा-पद्धति में हवा, जल और स्थान को महत्व प्रदान किया था। 'स्थान' से अवश्य ही इसी प्रकार के नियमों की ओर संकेत रहा होगा। हिन्दू धर्म के अनुसार भी दक्षिण की ओर पाँव करके सोना मना है क्योंकि दक्षिण दिशा में यमराज का वास माना गया है। जो भी हो, ये ऐसे तथ्य हैं जिन्हें हँस करके ठुकराया नहीं जा सकता।

आधुनिक युग में ऐसे तथ्यों में निहित वैज्ञानिक सत्य को खोजने के प्रयास हुए हैं। यहाँ पर कुछ ऐसी घटनाओं का और उल्लेख किया जा रहा है जिनसे ऊपर कही गई बातों की पुष्टि होती है।

जर्मनी में प्राय: यह देखा गया है कि होटलों में स्थान सुरक्षित कराते समय कुछ यात्री ऐसे कमरे पसन्द करते हैं जिनमें लेटने का स्थान उत्तर-दक्षिण दिशा में ही हो। ऐसे स्थान सुरक्षित करने के आर्डरों पर प्राय: होटलों के मैनेजर हँसते हैं और यह कहते सुने जाते हैं कि अवश्य ही ये यात्री "झक्की" होंगे। परन्तु उन्हें यात्रियों की सुविधा को ध्यान में रखने के लिए आवश्यक है कि उनकी माँगों की पूर्ति करें अत: प्राय: वे कुतुबनुमा लेकर उनके बिस्तरों को ठीक उत्तर-दक्षिण दिशा में लगाने का प्रबन्ध करते हैं। वे जब रात्रि में शान्ति के साथ इन यात्रियों को सोते पाते हैं तो इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि अवश्य ही इन में कोई अदृश्य शक्ति कार्य करती है जिसके विरुद्ध लेटने पर उनमें बेचैनी छा जाती है और जिसके पालन से उनका उनका मानसिक सन्तुलन ठीक रहता है। ध्यान शताब्दियों पूर्व पैरासेलसस के इस कथन की ओर आकृष्ट होता है कि समस्त जीवित प्राणी चुम्बकीय शक्ति द्वारा प्रभावित होते हैं।

इसी प्रकार का किन्तु इससे कुछ भिन्न प्रेक्षण बर्लिन के प्रोफेसर गुन्थर बेकर का है जिन्होंने दीमकों को सदैव पूर्व-पश्चिम की दिशा में विश्राम करते पाया। उन्होंने दक्षिणी रोडेशिया से लायी गयी दीमक-रानियों को चाहे जिस प्रकार भी हिलाया-डुलाया, छोड़ देने पर वे सदैव पूर्व-पश्चिम दिशा में बैठी पायी गयीं। बेकर ने यह अनुमान लगाया कि अवश्य ही ये रानियाँ पृथ्वी की चुम्बक शक्ति द्वारा प्रभावित हैं अत: उन्होंने इनको एक कृत्रिम चुम्बकीय क्षेत्र में रखा। तब तो यह देखा गया कि दीमक-रानियाँ पहले सी स्थिति नहीं प्राप्त कर पायीं। तात्पर्य यह कि वाह्य चुम्बकीय प्रभाव का उन पर विपरीत प्रभाव पड़ा। ऐसा प्रभाव "चुम्बकीय प्रभाव" कहलाता है। यह प्रभाव न केवल दीमकों तक ही सीमित है वरन् कीचड़ में रहने वाले कतिपय घोंघों एवं मछलियों में भी देखा जाता है। इससे यह निष्कर्ष निकला कि सभी जीवित प्राणी कम या अधिक मात्रा में चुम्बकत्व द्वारा प्रभावित होते हैं।

उपर्युक्त दो प्रकार के अनुभवों से यह सिद्ध होने लगा है कि मनुष्य पर शक्तिशाली "चुम्बकीय क्षेत्र" का प्रभाव पड़ सकता है। इसकी पुष्टि के लिए व्या-यामशालाओं में शक्तिशाली वैद्युत चुम्बकों के द्वारा

लोगों पर चुम्बकीय प्रभावों का अध्ययन किया गया और यह देखा गया कि चुम्बकत्व के कारण सर दर्द, चक्कर, मचली जैसे विकार उत्पन्न होने लगे। किन्तु मनुष्य केवल ऐसे शक्तिशाली चुम्बकीय क्षेत्र द्वारा ही नहीं प्रभावित होता वरन् पृथ्वी की चुम्बकत्व शक्ति द्वारा भी प्रभावित होता रहता है। इसका सबसे बड़ा प्रमाण है अमरीका के वैज्ञानिकों द्वारा किया गया चार वर्षीय प्रयोग। इस प्रयोग के अन्तर्गत उन्होंने पृथ्वी के चुम्बकत्व में होने वाले परिवर्तनों के साथ-साथ रोगियों की मानसिक स्थिति का भी अध्ययन किया। उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला है कि चुम्बकीय उत्पातों एवं स्नायु-सम्बन्धी विकारों में गहरा सम्बन्ध है। जब भी कोई बहुत बड़ा चुम्बकीय उत्पात (तूफान) प्रेक्षित किया गया, ठीक उसके दूसरे दिन रोगियों में मानसिक असन्तुलन बढ़ते देखा गया। यही नहीं, मानसिक विकार से ग्रसित व्यक्तियों की संख्या में वृद्धि भी हुई। किन्तु जब चुम्बकीय मौसम "शांत" रहा तो मानसिक विकार भी नहीं के बराबर पाये गये। पहले ये प्रयोग वर्जीनिया के दो अस्पतालों में किये गये। बाद में ये प्रयोग न्यूयार्क में दोहराये गये, यहाँ के छ: अस्पतालों की जाँच-पड़ताल से यह स्पष्ट हो गया कि चुम्बकीय उत्पातों के साथ मानसिक विकारों में कहीं अधिक गहरा सम्बन्ध है।

किन्तु मानसिक विकार और चुम्बकीय प्रभाव में सम्बन्ध कैसे स्थापित हो? एक महत्वपूर्ण प्रश्न का सन्तोषप्रद उत्तर नहीं मिल पाया फिर भी बेकर तथा उनके सहयोगियों का कहना है कि उन्होंने इसका उत्तर ढूंढ़ निकाला है। उन्होंने मेढकों तथा मनुष्यों की केन्द्रीय स्नायु प्रणाली में प्रवाहित होने वाली विद्युत धाराओं का मापन किया है। उन्होंने यह देखा है कि चेतन स्नायुओं में होकर मस्तिष्क की ओर धारा प्रवाहित होती है जबकि मोटरीय स्नायुओं (motoric nerves) द्वारा विपरीत दिशा में धारा बहती है। शरीर वैज्ञानिकों को बहुत काल से यह ज्ञात है कि जीवित प्राणियों में विद्युतधारा विद्यमान है किन्तु इसके लिए शरीर के तरल में विलयित लवण ही उत्तरदायी माने जाते थे। जबकि बेकर तथा उनके सहयोगियों द्वारा प्रेक्षित की गई विद्युत-धारायें इससे सर्वथा पृथक हैं। ये धारायें बीच में प्रतिरोध आ जाने पर भी प्रवाहित होती रहती हैं और प्रतीत होता है मानो दिष्टधारा किसी बन्द परिपथ में बह रही हो अर्थात् स्नायु-प्रणाली एक बन्द परिपथ की भाँति आचरण करती है। यही कारण है कि यह प्रणाली वाह्य चुम्बकीय क्षेत्र द्वारा प्रभावित होती है क्योंकि यह भली-भाँति ज्ञात है कि यदि किसी दिष्टधारा वाले बन्द परिपथ को चुम्बकीय क्षेत्र में लाया जाय तो वह चुम्बकीय क्षेत्र द्वारा प्रभावित होता है। अतः शरीर के भीतर स्थित विद्युत पृथ्वी की चुम्बकीय शक्ति द्वारा अथवा अन्य किसी चुम्बकीय शक्ति द्वारा प्रभावित होती है। यही कारण है कि पृथ्वी की चुम्बकीय शक्ति या अन्य किसी चुम्बकीय क्षेत्र में परिवर्तन होते ही मानसिक विकार उत्पन्न होने लगते हैं।

यदि स्नायु किसी कारणवश अपना कार्य बन्द कर देती हैं तो शरीर शून्य-सा होने लगता है। इसका कारण यह है कि स्नायुओं के कार्य इन दिष्ट धाराओं के द्वारा नियन्त्रित हैं अतः स्नायुओं के निष्क्रिय होने का तात्पर्य यह हुआ कि धारा द्वारा संकेतों का प्रेक्षण भी स्थगित हो गया है। इस तथ्य से अमरीकी वैज्ञानिकों ने यह निष्कर्ष निकाला है कि पशुओं में प्रारंभिक अवस्था में केवल दिष्टधारा प्रवाहित होती थी और उसी से सारे स्नायुवीय कार्य नियन्त्रित होते थे। यही कारण है कि अधिकांश पशु पृथ्वी के चुम्बकीय क्षेत्र द्वारा इतने अधिक प्रभावित होते हैं।

जिन मनुष्यों में चुम्बकीय तूफानों के उठते ही मानसिक विक्षोभ होने लगता है उनमें आदिम स्नायु-प्रणाली का विद्यमान होना ही है। यही कारण है कि बहुत से लोग न तो रात्रि में ठीक से सो पाते हैं और न सोच पाते हैं, क्योंकि उनकी स्नायु-प्रणाली एवं बाहरी चुम्बकीय क्षेत्र में संतुलन स्थिर नहीं हो पाता।

जैव-चुम्बकीय घटना की एक दूसरी विवेचना अमरीकी प्रोफेसर डा० आर० जोनार्ड द्वारा प्रस्तुत की गई है। उनका अभिमत है कि चुम्बकत्व द्वारा अनेक **'ऐंजाइम'** (प्रकिण्व) प्रभावित होते हैं। किसी भी जीवित प्रणाली में ऐंजाइमों का महत्वपूर्ण स्थान होता है। वे अनेक रासायनिक प्रक्रियाओं का संचालन करते हैं और उत्प्रेरक की भाँति कार्य करते हैं। इन ऐंजाइमों में ताम्र से युक्त ऐंजाइम बाह्य चुम्बकीय शक्ति द्वारा प्रभावि होते हैं। जिसके फलस्वरूप सम चुम्बकीय से विषम चुम्बकीय रूप में परिवर्तन हो जाता है। इस परिवर्तन के फलस्वरूप ऐंजाइम की कार्य-प्रणाली में अन्तर आ जाता है और अन्ततः इसका प्रभाव जीवित प्राणी की अनेक क्रियाओं पर पड़ सकता है।

चुम्बकत्व द्वारा ऐंजाइमों की क्रिया में परिवर्तन के द्वारा कतिपय 'चुम्बकीय पौदों' की विचित्रता का भी विवेचन सम्भव हो सका है। यह देखा गया है कि यदि टमाटर के पेड़ को किसी चुम्बक के सिरे से बाँध दिया जाय तो चुम्बक के दक्षिणी सिरे की ओर जो फल लगे होंगे वे जल्दी पक जावेंगे। इसी प्रकार यह भी देखा गया है कि कुछ बीज तीव्र चुम्बकीय क्षेत्र में जल्दी उगते हैं। कुछ पेड़ों की शाखायें चुम्बकीय बल रेखाओं द्वारा झुक जाती हैं और अनेक जीवाणुओं का पुनरुत्पादन रुक जाता है।

किन्तु इन समस्त प्रयोगों में काफी सतर्कता की आवश्यकता होती है क्योंकि वातावरण का प्रभाव पड़ सकता है और एक साथ कई एक कारण दृश्य लक्षणों के लिए उत्तरदायी हो सकते हैं। यहाँ तक कि ब्रह्माण के प्रभावों का भी योग हो सकता है। अमरीका के दो वैज्ञानिकों ने यह देखा है कि ड्रासोफिला नामक मक्खी के प्रजनन पर संभोग क्रिया के समय वायुमण्डलीय दाब प्रभावकारी होता है। यदि बैरोमीटर की ऊँचाई अधिक रहे तो अनेक मक्खियाँ जन्म लेंगी और यदि दाब कम रहे तो उनकी संख्या अत्यल्प हो जावेगी किन्तु प्रजनन सम्बन्धी इस प्रेक्षण पर न केवल दाब ही कार्यशील होता है वरन् वायु का आयनन भी प्रभाव डालता है। फलतः वैज्ञानिकों ने आयनन के इस प्रभाव को दूर करने के लिए मक्खियों की कालोनियों को शक्तिशाली चुम्बकीय क्षेत्र में रखा। ऐसी दशा में वायु के दाब और मक्खियों के प्रजनन में कोई भी सम्बन्ध नहीं पाया गया बल्कि यह देखा गया कि प्रजनन की क्रिया सूर्य के उत्पातों से सीधे सम्बन्धित है। यदि सूर्य शान्त रहा तो मक्खियों की संख्या अधिक थी और यदि अनेक उत्पात हुए तो उनकी संख्या घट गई।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि चुम्बकीय क्षेत्र के द्वारा वायु के आयन (ion) जीवों तक नहीं पहुँच पाते और वे सूर्य की सक्रियता द्वारा सीधे प्रवाहित होते हैं। हाल ही में जीव एवं चुम्बकीय शक्ति के मध्य घनिष्ट सम्बन्ध की पुष्टि का एक और उदाहरण इलिन्वाय (अमरीका) के एक चिकित्सक दम्पति, बार्नोथी द्वारा प्रस्तुत किया गया है। उनका अभिमत है कि चुम्बकत्व का प्रभाव रक्त में देखा जा सकता है। उन्होंने ४२०० गौस के चुम्बक के ध्रुवों के बीच में चूहों को ३५ दिनों तक रखा और नित्यप्रति उनके रक्त की परीक्षा की। यह देखा गया कि उनके रक्त में ल्यूकोसाइट का अनुपात सामान्य स्तर से २१% कम हो गया किन्तु जैसे ही चूहों को चुम्बक क्षेत्र से दूर कर लिया गया, ल्यूकोसाइट में २६% की अविलम्ब वृद्धि देखी गई जो धीरे-धीरे घटती चली गई। उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला है कि चुम्बकत्व के द्वारा ल्यूकोसाइट का जीवनकाल घट जाता है। इस निष्कर्ष से चूहों में उत्पन्न किये गये कैन्सर के निरोध पर भी प्रकाश पड़ता है। चिकित्सक दम्पति ने यह ज्ञात किया है कि शक्तिशाली चुम्बक क्षेत्र द्वारा अल्पकाल के लिए चूहों में ट्यूमर कोशाओं की वृद्धि रोकी जा सकती है। परन्तु जैसे ही चुम्बक हटा लिया जाता है ट्यूमर बढ़ने लगता है। इसमें सन्देह नहीं कि भविष्य में ऐसे

ज्ञान द्वारा मनुष्यों के कैंसर रोग का भी इलाज संभव हो सकेगा। किन्तु इसके लिए काफी वजनी एवं वृहदाकार चुम्बकों की आवश्यकता पड़ेगी।

जैव-चुम्बकत्व (bio-magnetism) घटना से सम्बन्धित प्रयोगों में काफी धन एवं समय लगता है अतः यह अनुभव किया जाता है कि ऐसी सरल प्रयोग-विधियाँ आविष्कृत हों जिससे कम धन खर्च हो और आश्चर्यजनक परिणाम प्राप्त हो सकें।

तरुण वैज्ञानिकों के लिए इस दिशा में कार्य करने के लिए अछूता क्षेत्र पड़ा है। वे आगे बढ़ें और और यश कमावें।

धातुओं का क्षरण एवं उनका संरक्षण

कृष्ण बिहारी पाण्डेय

दिल्ली का लौह-स्तम्भ सदियों से शीत, ग्रीष्म एवं वर्षा झेलता आ रहा है पर उस पर जंग का कहीं निशान भी नहीं है, जब कि हमारी नित्य उपयोग की लौह वस्तुएँ थोड़ी सी असावधानी से मोर्चे के कारण नष्ट हो जाती हैं। हममें से बहुत कम लोग यह जानते हैं कि ऐसा क्यों होता है।

इस प्रकार की प्रक्रिया लोहे तक ही सीमित नहीं है अपितु ताम्र आदि धातुएँ भी इस प्रकार वायुमंडल से प्रभावित होती हैं। वास्तव में वायुमंडल में उपस्थित पदार्थ धातुओं के साथ क्रिया करके उसे नष्ट कर देते हैं या अनुपयोगी रूप में बदल देते हैं। किसी रसायन द्वारा धातुओं के विनाश की इस क्रिया को "धातु-क्षरण" कहते हैं।

धातु-क्षरण प्राकृतिक चक्र है। धातुएँ अयस्कों से प्राप्त की जाती हैं और क्षरित होकर वे फिर उसी अवस्था में परिवर्तित हो जाती हैं। जैसे—लौह आक्साइड अयस्क से लौह प्राप्त किया जाता है और क्षरित होकर यह पुनः लौह आक्साइड बन जाता है। ताम्र सल्फाइड अयस्क से ताम्र सल्फाइड बन जाता है। इस लेख में हम लौह-क्षरण तक ही अपने आपको सीमित रखेंगे। लौह क्षरण के लिए दो परम आवश्यक अवयव हैं—

(१) जल (आर्द्रता) तथा (२) वायु (आक्सीजन)। जल तथा वायु के संयुक्त आक्रमण से लौह का क्षरण निम्न प्रकार होता है—

$$Fe + H_2O + O \rightarrow Fe(OH)_2$$

$$2\,Fe(OH)_2 + H_2O + O \rightarrow 2Fe(OH)_3$$
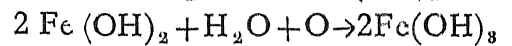
आक्सीजन रहित जल (जिसमें आक्सीजन न घुली हो) में क्षरण नहीं होता और इसी प्रकार शुष्क वायु (आर्द्रता रहित) भी क्षरण नहीं कर सकती।

साधारणतः हम धातु क्षरण को दो शीर्षकों में विभक्त करते हैं—

(१) वायुमंडलीय क्षरण (Atmospheric Corrosion) जो क्षरण वायुमंडल में रखी धातुओं पर होता है।

(२) डूबी धातुओं का क्षरण (Immersed

Corrosion) : जो क्षरण किसी विलयन में पूर्णतया या आंशिक रूप से डूबी धातु पर होता है।

वायुमंडलीय क्षरण

इस क्षरण के सम्बन्ध में निम्नलिखित तथ्य उल्लेखनीय हैं :—

(अ) क्रांतिक आर्द्रता—वर्षाकाल में धातु क्षरण अपेक्षाकृत अधिक होता है अतएव धातु क्षरण की मात्रा आर्द्रता की मात्रा पर निर्भर करती है। धातु क्षरण सम्पन्न होने के लिए निश्चित मात्रा से अधिक आर्द्रता की उपस्थिति अनिवार्य है। आर्द्रता की इस मात्रा को क्रांतिक आर्द्रता कहते हैं।

(ब) वैद्युती सेल का निर्माण :--क्षरण जनित पदार्थ (Corrosion Products) बहुधा जल ग्राही (Hygroscopic) होते हैं। वे विलयन में परिवर्तित होकर धातु की सतह पर विद्युतीय सेल का निर्माण कर देते हैं। इस वैद्युती सेल में यही विलयन विद्युद्विश्लेष्य का तथा धातु धनाग्र का तथा इसमें उपस्थित अशुद्धियाँ ऋणाग्र का कार्य करते हैं। इस प्रकार इस वैद्युत सेल द्वारा धातु का क्षरण होता है। स्पष्ट है कि शत प्रतिशत शुद्ध धातु में इस प्रकार के वैद्युत सेल का निर्माण नहीं हो सकता अतः धातु क्षरण भी नहीं हो सकता। दिल्ली के लौह स्तम्भ के क्षरित न होने का स्यात् यहीं रहस्य है।

वायुमंडल में उपस्थित लवण (सोडियम क्लोराइड आदि) इस प्रकार निर्मित सेल की चालकता को बढ़ा देते हैं। इस प्रकार क्षरण की गति भी बढ़ जाती है।

(स) भौतिक असमानता :—-यदि धातु के किन्हीं दो भागों की भौतिक अवस्था (ताप, आकार आदि) भिन्न हैं, तो उन भागों के बीच विभवान्तर उत्पन्न हो जाता है, जिसके कारण धातु निर्लित वैद्युत सेल द्वारा क्षरित होती है। अतः पूर्णतया शुद्ध धातु भी भौतिक अवस्था की इस भिन्नता के कारण क्षरित होती है। *किसी भी धातु के सभी भागों की भौतिक अवस्था को* समान रखना असम्भव है, जब तक कि सम्पूर्ण धातु एक रवा (Crystal) न हो।

(द) आक्सीजन द्वारा क्षरण निरोधन :—धातु का जो भाग आक्सीजन के अधिक सम्पर्क में रहता है वह विद्युत ऋणात्मक होता है तथा जो भाग आक्सीजन के कम सम्पर्क में रहता है वह अपेक्षाकृत विद्युत धनात्मक होता है। चूँकि वैद्युत सेल में धनाग्र ही विलयित होता है अतएव धातु के उन्हीं भागों में क्षरण अधिक होगा जहाँ आक्सीजन की उपस्थिति कम होगी। धातुओं में समतल की अपेक्षा कटे-फटे भागों में क्षरण का अधिक होना इस सिद्धान्त की पुष्टि करता है।

डूबी-धातुओं का क्षरण

इस क्षरण पर निम्नलिखित अवयवों का प्रभाव पड़ता है :—

हाइड्रोजन आयन की सान्द्रता; धातु का अधिविभव; क्षरण जनित पदार्थ; द्रव में आक्सीजन के विसरण की गति। इस प्रकार का क्षरण मात्र धातु की प्रकृति निर्भर नहीं करता अपितु पूर्ण संस्थान के गुणों पर निर्भर करता है, जैसा कि निम्नलिखित तालिका से स्पष्ट है।

विभिन्न विलयनों में विभिन्न धातुओं के क्षरण की गति।

इस प्रकार के क्षरण का अध्ययन **बेंकाफ** (Bengough) तथा उनके सहयोगियों ने सन् १९२७-३३ में किया तथा निम्नलिखित अवयवों का प्रभाव ज्ञात किया—

(१) सांद्रता
(२) आक्सीजन की उपस्थिति
(३) धातु के डूबे भाग की लम्बाई
(४) संवाहन धारा
(५) धातु की शुद्धता एवं व्यवहार
(६) धातु के सतह की प्रकृति।

धातु / विलयन	लौह	जस्ता	मैगनीशियम
जल	तीव्र	मध्यम	मंद
$\frac{N}{10}$ सोडियम क्लोराइड	मंद	तीव	मध्यम
सांद्र पोटेसियम हाइड्रॉक्साइड	तीव्र	मध्यम	मन्द

इनके अनुसार जहाँ भी क्षरण में हाइड्रोजन उत्पन्न होकर ध्रुवाच्छादन करती है वहाँ आक्सीजन गैस की उपस्थिति से ध्रुवाच्छादन समाप्त होता है तथा क्षरण की गति में वृद्धि होती है।

धातु-संरक्षण

धातुओं को क्षरण द्वारा विनष्ट होने से बचाने लिए निम्नलिखित विधियाँ उपयोग में लाई जाती है :—

(१) संरक्षक आवरण का निर्माण

(२) धातु संकर (Alloy) का निर्माण

संरक्षक आवरण के उदाहरण हैं—

(अ) आक्साइड झिल्ली—धातु की किसी आक्सीकारक के साथ प्रतिक्रिया कराने से उसकी सतह पर धातु के आक्साइड की एक पतली, पारदर्शक तथा अप्रवेश्य झिल्ली बन जाती है जो धातु को बाह्य आक्रमण से बचाती है।

(ब) सल्फाइड झिल्ली—धातु को गंधक के साथ गरम करने पर सल्फाइड की झिल्ली धातु की सतह पर बन जाती है। यह आक्साइड झिल्ली की अपेक्षा प्रवेश्य है इसलिए उन्हीं धातुएँ के लिए उपयुक्त है जिन पर आक्साइड झिल्ली न बन सके।

(स) सेलेनाइड झिल्ली—यह आवरण विशेषत: मैगनीशियम धातु के लिए है। धातु को सेलेनिक अम्ल (H_5SeO_3) अथवा अम्लीय सोडियम सेलेनेट Na_2SeO_3 के साथ प्रतिक्रिया कराने मैगनीशियम सेलेनाइड MgSe बन जाता है और इसके ऊपर सेलेनियम धातु की पर्त जम जाती है। ऊपर की सेलेनियम धातु के समाप्त हो जाने पर मैगनीशियम सेलेनाइड का सेलेनियम मैगनीशियय धातु को क्षरित होने से बचाता है।

इस क्रिया को स्वत: पूरक प्रक्रम (Self Healing Process) कहते हैं।

(द) धात्वीय आवरण जस्ते तथा टिन आदि धातुओं का आवरण अन्य धातुओं को क्षरण से बचाता है। धात्वीय आवरण निम्न विधियों से निर्मित होता है—

(१) पिघली हुई धातु के छिड़काव द्वारा

(२) पिघली हुई धातु में डुबोने से

(३) विद्युल्लेपन द्वारा

(य) रंजक तथा मीना (Paint and Enamel): इनके द्वारा भी धातु को क्षरण से बचाया जा सकता है। वर्णक के रूप में निम्नलिखित वस्तुएँ प्रयुक्त होती हैं—लौह आक्साइड; लाल लेड, एल्यूमिनियम वर्णक; श्वेत लेड।

(२) धातु संकर का निर्माण :—किसी धातु को अन्य उपयुक्त धातु के साथ द्रवीकृत करके, मिश्रण को ठंडा करने से धातु संकर का निर्माण होता है। रसायनों के आक्रमण में एक धातु, जो अपेक्षाकृत विद्युद्धनीय

होती है, स्वयं क्षरित होकर दूसरी धातु को क्षरण से बचाती है। एक धातु का दूसरी धातु के लिए यह आत्मोत्सर्ग स्वार्थान्ध मानवों के लिए सीख है। धातु संकर के उदाहरण हैं— निकिलइस्पात (निकिल तथा लोहा); क्रोमियम तथा लोहा, काँसा (ताम्र तथा जस्ता) इत्यादि।

धातु-क्षरण द्वारा धातुओं का जो विनाश होता है उसके कारण हमें दैनिक जीवन में भारी क्षति उठानी पड़ जाती है। इस सम्बन्ध में ऐल्यूमिनियम वर्णक तथा अन्य वर्णकों एवं मीनाओं द्वारा धातु-संरक्षण के आविष्कार ने हमारी इस क्षति की सम्भावना को न्यून कर दिया है।

●●

खबरें लाया हूँ—४

डा० शिवगोपाल मिश्र

१. पुरातनी जलवायु का परिमापन संभव

यह भलीभाँति ज्ञात है कि आइसोटोपों द्वारा काल-निर्धारण सम्भव है। समुद्री जल के वाष्पीकरण के समय हल्के हाइड्रोजन आइसोटोप ही बादल तथा वर्षा जल में प्रविष्ट हो पाते हैं जबकि भारी हाइड्रोजन आइसोटोप समुद्री जल में रहे आते हैं। इसी प्रकार अनेक प्राणियों में तथा क्षरणशील चट्टानों में भी आइसोटोपों में विभिन्न अनुपात पाये जाते हैं।

पृथ्वी के निर्माण के बाद जल के भीतर घोंघों के विकास की कहानी बड़ी मनोरंजक है। उस समय कैसी जलवायु रही होगी, इसका पता कार्बोनेट तापमापी के द्वारा चल सकता है। इसका कारण यह है कि वायुमण्डल के आक्सिजन तथा जल में विलयित बाइकार्बोनेट के मध्य आइसोटोपीय विनिमय होता रहता है जो ताप पर निर्भर है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि जब भी कोई प्राणी जल में से कैलसियम ग्रहण करेगा तो उसकी खोल में आइसोटोपों का वही अनुपात स्थिर हो जावेगा जो उस समय ताप के अनुसार रहा होगा। फलतः प्राणियों में आइसोटोपों का जो अनुपात होगा वह अन्य प्रक्रियाओं से भिन्न हो सकता है। उदाहरणार्थ गंधक। बैक्टीरिया के शरीर में जिस भाँति गंधक निक्षेपित होगा उसका संघटन ज्वालामुखी से मिलने वाले गंधक से सर्वथा भिन्न होगा।

प्राचीन प्राणि-अवशेषों की परीक्षा कुछ ही प्रयोगशालाओं में की जाती है। अमेरिका में ऐसी दो प्रयोगशालाओं में कार्य सम्पन्न होता है—कनाडा में एक, न्यूजीलैण्ड रूस तथा जर्मनी में एक-एक।

२. समुद्रों से मीठा जल

आश्चर्य की बात है कि जिन समुद्रों से मनुष्य हजारों वर्ष पहले से नमक प्राप्त करता रहा है उनके जल को वह मीठा बनाने में असमर्थ रहा है। मीठे जल की समस्या उग्र रूप धारण करती जा रही है, क्योंकि जनसंख्या के बढ़ने के कारण अब उन शुष्क

एवं वीरान प्रदेशों को भी बसाने का प्रयत्न किया जावेगा जो निर्जन थे। ऐसी स्थिति में समुद्री जल को मीठे जल में परिणत करने की समस्या विश्वव्यापी समस्या है।

संसार के ७५% भाग में समुद्र हैं अतः उनसे मीठा जल प्राप्त किया जा सके तो बड़े से बड़े रेगिस्तान लहलहाते उद्यानों में परिणत हो जायँ। बड़े-बड़े औद्योगिक नगरों से इतना नमकीन पदार्थ बह-बह कर नदियों में मिलता रहता है कि उनके जल दिन-प्रतिदिन और खारी बनते जा रहे हैं। फलतः अमरीका में कुछ उद्योग तो इसीलिए प्रारम्भ नहीं किये जा सकते क्योंकि मीठा जल ही उपलब्ध नहीं हो पाता।

ऐसा नहीं है कि खारे जल को मीठे जल में परिणत करने की विधियाँ हमें ज्ञात न हों परन्तु वे इतनी सस्ती नहीं पड़तीं कि सुगमता से उन्हें प्रयुक्त किया जा सके। अमरीका में खारे पानी को शुद्ध करने की ६०० प्रकार की विधियाँ प्रस्तावित हुई हैं, किन्तु उनमें से केवल तीन ही कार्यरूप में परिणत हो सकी हैं। वे हैं—वाष्पन विधि, हिमीकरण विधि तथा विद्युत-अपोहन विधि। समुद्री जल को जमाने पर जो बर्फ जमती है उसमें नमक का लेश भी नहीं रहता। अपोहन विधि में सोडियम और क्लोरीन आयनों को दूर-दूर करके बीच के कक्ष में शुद्ध जल प्राप्त किया जा सकेगा। इस विधि से सिंचाई इत्यादि के लिए जल प्राप्त करना अधिक मँहगा पड़ता है।

हाल ही में सूर्य विकिरणों को शुद्ध जल प्राप्त करने के लिए प्रयुक्त किया गया है। यह विधि वैसे काफी पुरानी है। सन् १८६० में चिली में खारे पानी से मीठा पानी प्राप्त करने के लिए इसका प्रथम उपयोग हुआ था। चिली वासियों ने हौज में समुद्री जल भर करके उसे सूर्य के प्रकाश में रहने दिया। उससे जो भाप बनी उसे काँच के गुम्बद में ठंडा होने दिया। किन्तु इस विधि में काफी बड़े क्षेत्र में पानी को भरकर उसके ऊपर काँच की चादरें लगानी होंगी। यह विधि अत्यन्त मँहगी पड़ेगी।

आइसबर्गों को पिघला कर भी शुद्ध जल प्राप्त करना सम्भव है। यह भी प्रस्तावित किया गया है कि समुद्री जल के विद्युत् विश्लेषण द्वारा जो हाइड्रोजन प्राप्त हो उसे पाइप लाइनों द्वारा उन क्षेत्रों में ले जाया जाय जहाँ सिंचाई करनी है। फिर वहाँ हाइड्रोजन को वायु के साथ मिश्रित करके पानी उत्पन्न कर लिया जाय। किन्तु ऐसा करने में पाइप लाइनों की मोटाई कई किलोमीटर होनी चाहिए जिससे कि हाइड्रोजन गैस की इतनी मात्रा प्रेषित की जा सके जो सिंचाई के लिए आवश्यक जल का निर्माण कर सके।

३. प्लीहा का रहस्योद्घाटन

प्लीहा द्वारा रक्त कोषों का निर्माण एवं क्षय नियन्त्रित होता है। यह स्पंज की भाँति कार्य करती है। इसमें श्वेत रक्त कण बनते रहते हैं। इनका नाम लिम्फोजाइट (Lmyphozyte) है और ये बीमारियों से लड़ने की क्षमता रखते हैं। प्लीहा में कुछ प्रतिपिंड (Antibody) भी निर्मित होते हैं किन्तु ये समस्त कार्य अन्य अंगों द्वारा भी सम्पादित हो सकते हैं जैसे कि यकृत अथवा मज्जा द्वारा। यही नहीं, यदि प्लीहा को निकाल दिया जाय तब भी शरीर का कार्य सुचारु रूप से चलता रहता है।

शरीर में लाल रक्त कोषों का जीवन कुछ ही सप्ताह तक का होता है जिसके बाद उन्हें हटाने या नष्ट करने का कार्य प्लीहा करती है। आधुनिक काल में चिकित्सा की रेडियो-आइसोटोप प्रविधि ने प्लीहा के कार्यों को बिलकुल स्पष्ट कर दिया है। यह देखा गया है कि रेडियधर्मी क्रोमियम के यौगिक प्लीहा में संचित होते हैं। इसके लिए लाल रक्तकोषों को रेडियो क्रोमियम से संदूषित करके रोगियों में प्रविष्ट किया गया। यह देखा गया कि प्लीहा ने इन संदूषित रक्त कणों को स्वच्छ करके क्रोमियम को आत्मसात कर लिया है। इस प्रकार प्लीहा रक्त को शुद्ध करने का कार्य करती है। यही नहीं, इस विधि के द्वारा प्लीहा

का फोटो लिया जा सकता है क्योंकि अपने विकरण द्वारा यह प्रभायुक्त हो जाती है। इसके पूर्व प्लीहा के आकार को हाथ के द्वारा स्पर्श-विधि से ज्ञात किया जाता था जिसमें भूल हो जाने की आशंका बनी रहती थी। कभी-कभी जहाँ प्लीहा के बढ़ने का अनुमान लगाया गया वहाँ पर वह आशंका निर्मूल सिद्ध हुई।

४. पेट्रोलियम उत्पन्न करने वाले बैक्टीरिया

पेट्रोलियम की उत्पत्ति के सम्बन्ध में अनेक धारणायें हैं। रूसी रसायनज्ञ मेंडलीफ का अभिमत था कि धातु कार्बाइडों पर जल की क्रिया से पेट्रोलियम की उत्पत्ति हुई होगी किन्तु १९३५ में जर्मनी के रसायनज्ञ ट्राइब्स ने यह दिखलाया कि पेट्रोलियम में क्लोरोफिल के विघटन से उत्पन्न पदार्थ एवं हेमिन भी वर्तमान रहते हैं फलतः पेट्रोलियम की उत्पत्ति कार्बनिक स्रोतों से हुई होगी। इससे भी पूर्व रूस की वैज्ञानिक महिला डा० गिंसबर्ग करागिचेवा ने खनिज तैल में असंख्य जीवित जीवाणु देखे थे। इसकी पुष्टि अमरीकी वैज्ञानिकों ने भी की।

ऐसा अनुमान है कि समुद्र की तलेटी पर रहने वाले असंख्य प्लैंकटन, ऐल्गी, मछली तथा अन्य प्राणी मरने के पश्चात् अकार्बनिक पदार्थों के साथ बहुतकाल तक पड़े रहे और किसी प्रकार विषैले सल्यूरस हाइड्रोजन के सम्पर्क में आये। फिर अनेक क्रियाओं के बाद उनसे तैल की उत्पत्ति हुई। किन्तु कैसे?

वैज्ञानिकों ने यह ज्ञात किया है कि पृथ्वी के गर्भ में २००० मीटर की गहराई तक कार्बनिक जीवन संभव है। न तो दाब न ताप और न आक्सीजन की कमी ही कतिपय सूक्ष्म जीवाणुओं एवं बैक्टीरिया के विकास को रोक सकते हैं। पेट्रोलियम में जो बैक्टीरिया मिले हैं वे अवातजीवी हैं। ये जीवाणु अनेक प्रकार के कार्बनिक पदार्थों का निर्माण कर सकते हैं। किन्तु यह भी सम्भावना है कि पेट्रोलियम को पृथ्वी की सतह तक लाते समय ये जीवाणु कहीं से प्रविष्ट हो गये हों और पेट्रोलियम का निर्माण उनका कोई योगदान न हो? प्रोफेसर स्वार्ज का कथन है कि यदि वास्तव में ये जीवाणु पैट्रोलियम निर्मित करने के लिए उत्तरदायी हैं तो भविष्य में ये पेट्रोलियम को अन्य प्रकार के पदार्थ में भी परिणत कर सकते हैं। इस दिशा में पेट्रोलियम में कतिपय बैक्टीरिया को प्रविष्ट करके उत्पन्न यौगिकों का अध्ययन किया जा रहा है। इसमें सन्देह नहीं कि भविष्य में पेट्रोलियम बैक्टीरियोलॉजी द्वारा अनेकानेक उपयोगी पदार्थों की सृष्टि हो सकेगी।

५. बाल्य मृत्यु और उसका निदान

बच्चों का पैदा होना उतना सुखकर नहीं लगता जितना कि उनका मर जाना। यह देखा गया है कि संसार के सभी देशों में बाल-मृत्यु अब भी एक गुत्थी के रूप में है। यह अनुमान लगाया जाता है कि संसार के समस्त औद्योगिक राष्ट्रों में जर्मनी ऐसा है जहाँ बाल-मृत्यु सर्वाधिक है। वहाँ ३·३% बालकों की मृत्यु होती है। गर्भवती स्त्रियों में से दो तिहाई के बच्चे होते हैं, शेष एक तिहाई का गर्भपात हो जाता है। यह गर्भपात कई कारणों से हो सकता है—भ्रूण का न बढ़ना, अस्वास्थ्यकर स्थिति, धूम्रपान तथा निद्रा लाने वाली औषधियों का उपयोग। यही नहीं, इन गर्भपातों में विकृत अंगों वाले शिशुओं का जन्म होता है। कभी-कभी बहुत कम भार वाले शिशु उत्पन्न होते हैं। कभी-कभी १½ से लेकर ३ पौंड के बच्चे उत्पन्न होते हैं। समय के पूर्व शिशु के जन्म का कारण माताओं पर कार्याधिक्य एवं अधिक श्रम का पड़ना है। श्रमिक वर्ग की माताओं को अन्तिम समय तक काम में लगे रहना पड़ता है। उदाहरणार्थ, जिन सौ स्त्रियों को गर्भपात हुआ उनमें से ६० ने गर्भ के आठ महीने बाद तक कार्य किया। अतः स्पष्ट है कि गर्भिणी स्त्रियों के लिये अधिक कार्य करते रहना कितना घातक है। इसी दृष्टि से जर्मनी के प्रोफेसर किरखाफ ने यह प्रस्ताव रखा है कि जब तक बच्चे पंद्रह वर्ष के न हो जायं माताओं को घर के भीतर ही काम करना चाहिए। उन्हें किसी भी दशा में कारखानों से नहीं जाना चाहिए।

समय से पूर्व उत्पन्न होने वाले शिशुओं की रक्षा बड़ी कठिन है। विशेषत: उनके शरीर के ताप को स्थायी रखना कठिन है। अमरीका में इन्फ्रा-लाल हीटर द्वारा शिशुओं के शरीर को गर्म रखा जाता है। स्वीडन में प्रशीतन विधि प्रयुक्त होती है जिसमें शिशु को ठंडे जल में रखा जाता है। इससे उनको कम आक्सिजन की आवश्यकता पड़ती है।

एक और समस्या है और वह है माताओं द्वारा प्रयुक्त की जाने वाली औषधियाँ तथा बच्चे जनाते समय प्रयुक्त मूर्छना लाने वाली दवायें। क्या इनका प्रभाव शिशुओं पर न पड़ता होगा? उत्तर है—हाँ। माताओं द्वारा खाई गई थैलिडोमाइड की टिकियों का भी बुरा प्रभाव गर्भस्थ शिशु पर पड़ता है। कुछ स्त्रियाँ गर्भाधान रोकने की दृष्टि से क्विनीन खाती हैं किन्तु ऐसा करना भी घातक है।

यह भी देखा गया है कि अधिकांश बाल-मृत्यु जन्म के तीन-चार मास बाद होती हैं। इसका कारण यह है कि इस अवस्था को प्राप्त करके शिशुओं में एका-एक प्रतिपिण्ड उत्पन्न करके रोगों से लड़ने की क्षमता का लोप हो जाता है। कभी-कभी जन्म के समय लगने वाले आघातों से भी शिशुओं की मृत्यु हो सकती है। माताओं के रक्तदोष से भी बच्चे की मृत्यु हो जाती है अतः उन्हें चाहिए कि वे लगातार अस्पतालों में जाकर रक्त परीक्षा कराती रहें।

कभी कभी मातायें बच्चों को दूध पिलाकर सुला देती हैं किन्तु बच्चे जगते नहीं। इसका कारण यह बताया जाता है कि गाय का दूध कष्टकर (एलर्जिक) होता है किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि दूध की बूँदे श्वास नली में पहुँचकर गतिरोध उत्पन्न करती हैं जिससे मृत्यु हो जाती है।

ऐसी स्थिति में माताओं को चाहिए कि वे गर्भाधान से प्रसव तक की अवधि में कम-से-कम तीन बार अस्पताल अवश्य जायँ। एक तो प्रारम्भ में, दूसरे मध्यकाल में और तीसरे प्रसव के पाँच-छः सप्ताह पूर्व।

समस्त राष्ट्रों में स्वीडन सबसे भाग्यमान है। वहाँ शिशु-मृत्यु दर १·६६% है। इसका कारण यही है कि वहाँ चिकित्सा की सुविधायें सर्वसुलभ हैं। जहाँ माताओं को घर के बाहर कार्य करना पड़ता है वहाँ उन्हें प्रसव से १० सप्ताह पूर्व विश्राम की अनुमति मिलनी चाहिए। उनके लिए ऐसे कार्ड बनने चाहिए जिसमें उनकी स्वास्थ्य-परीक्षा के नियमित आँकड़े अंकित रहने चाहिए। माताओं को प्रसवकाल में जितनी भी छुट्टी लेनी पड़े उसे बीमारी मानकर पूरी तनख्वाह मिलनी चाहिए। इसमें सन्देह नहीं कि माताओं के स्वास्थ्य को ध्यान में रखने से ही बाल-मृत्यु में कमी की जा सकती है।

कतिपय देशों की बाल-मृत्यु-दर (प्रति सहस्र उत्पन्न शिशुओं पर)

जनतन्त्र जर्मनी	३३
स्वीडन	१६·६
हालैंड	१६·८
नार्वे	१८·७
आस्ट्रेलिया	२१·५
डेनमार्क	२२·५
ग्रेट ब्रिटेन	२३ १
न्यूजीलैंड	२३·६
अमरीका	२६·४

—३०

सुप्रसिद्ध गणितज्ञ डा० गणेशप्रसाद

संपादक

भारत सदा से महापुरुषों की जन्मभूमि होने के लिए विख्यात रहा है। गणित का सूत्रपात इसी देश से हुआ। भास्कराचार्य, लीलावती, रामानुजम् आदि के नामों से लोग भली-भाँति परिचित हैं। बीसवीं शताब्दी में विज्ञान के विविध क्षेत्रों में भारत ने जो प्रगति की उसके प्रमाण हैं—चन्द्रशेखर बेंकट रमन, आचार्य प्रफुल्लचन्द्र राय, जगदीशचन्द्र बोस तथा गणेश प्रसाद जिन्होंने क्रमशः भौतिक विज्ञान, रसायन विज्ञान, वनस्पति-शास्त्र तथा गणित में अभूतपूर्व कार्य किये।

गणित का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है। सामान्य गणित और उच्चतर गणित, इन दो शाखाओं में दूसरी शाखा अत्यन्त महत्वपूर्ण होने के साथ जटिल भी है। सामान्य शिक्षित व्यक्ति अथवा जन-साधारण यह कल्पना भी नहीं कर सकता कि भौतिक, रासायनिक या जैविक-विज्ञान-शाखाओं की तुलना में गणित का उपयोग क्या है किन्तु वास्तविकता यह है कि उच्चतर गणित के द्वारा अनेकानेक नवीन सम्भावनाओं की खोज एवं तथ्यों की पुष्टि होती है। इस दृष्टि से एक गणितज्ञ का पद तथाकथित वैज्ञानिकों से कम नहीं। डा० गणेश प्रसाद ऐसे ही गणितज्ञ वैज्ञानिक थे जिनको उत्पन्न करके भारत माँ की कोख पवित्र हो गई।

विद्यार्थी जीवन - डा० गणेश प्रसाद का जन्म १५ नवम्बर सन् १८७६ को उत्तर प्रदेश के छोटे से नगर, बलिया, में हुआ था। बलिया तथा उसके आस-पास के क्षेत्र को अनेक महापुरुषों को जन्म देने का गौरव प्राप्त है। गणेशप्रसाद के पिता मुन्शी श्री रामगोपाल जी कायस्थ गणितज्ञ न होकर एक सामान्य कानूनगो थे। उनके तीन पुत्र और थे किन्तु उन सब में गणेशप्रसाद ही योग्य निकले।

बालक गणेश प्रसाद ने बलिया के जिला स्कूल से अपनी पढ़ाई प्रारम्भ की। पढ़ने की धुन में इन्होंने स्वास्थ्य पर ध्यान नहीं दिया। फलतः बचपन से ही ये दुर्बल रहे और खेल-कूद से मुँह मोड़ते रहे। कहा जाता है कि पाँचवी कक्षा में अनुत्तीर्ण हुए और वह भी गणित में। उस समय भला यह कौन कह सकता था कि ऐसा फिसड्डी छात्र भविष्य में भारत का सर्वोपरि गणितज्ञ बनेगा। अपनी इस असफलता से लज्जित हो उन्होंने परिश्रम करना प्रारम्भ किया और इसका परिणाम यह हुआ कि वे उत्तरोत्तर प्रगति ही करते रहे। जब इन्ट्रेंस का परीक्षाफल घोषित हुआ तो इनका नाम प्रथम श्रेणी में था। अब उच्च शिक्षा की लालसा लिये वे प्रयाग के म्योर सेण्ट्रल कालेज में प्रविष्ट हुए। वातावरण और परिश्रम का फल यह हुआ कि यहाँ उन्होंने सभी परीक्षाएँ प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण कीं। क्या सहपाठी और क्या गुरु, सभी इन्हें

आदर की दृष्टि से देखने लगे। इनकी लगन से ईर्ष्या करने वाले छात्र इन्हें 'दार्शनिक' कहकर कक्षा में चिढ़ाया करते थे किन्तु गणेशप्रसाद तनिक भी विचलित नहीं हुए। उन्हें तो धुन थी महान् गणितज्ञ बनने की।

इस बीच एक दुर्घटना घटी—उनकी पत्नी की मृत्यु हो गई। किन्तु गणेशप्रसाद जी की पत्नी की मृत्यु भी उनके पथ से विचलित न कर सकी। वे अब एकांत भाव से गणित की सेवा में लग गये। एम० ए० के बाद इन्होंने अनुसन्धान प्रारम्भ कर दिया। उस समय प्रयाग विश्व-विद्यालय में गणित में कोई भी अनुसन्धान नहीं करता था फलतः बहुत दिनों तक उन्हें डी० एस-सी० डिग्री के लिए शोध निबन्ध लिखने की अनुमति ही नहीं मिल पाई। किन्तु जैसा कि कहा जा चुका है, वे धुन के पक्के थे। उन्होंने डी० एस-सी० लेकर ही दम लिया। इस प्रकार उन्हें प्रयाग विश्वविद्यालय का प्रथम डी० एस-सी० होने का गौरव प्राप्त है।

भारत में कार्य करने के बाद उनकी लालसा विदेश जाने की हुई। सौभाग्यवश उन्हें एक उपयुक्त छात्रवृत्ति मिल गई और वे कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय जाकर कार्य करने लगे। वहाँ पर प्रोफेसर हाब्सन के अनुरोध पर उन्होंने 'फिलासफिकल सोसाइटी' तथा लन्दन की 'मैथमेटिकल सोसाइटी' के समक्ष अपने खोज-सम्बन्धी निबन्ध पढ़े। इससे संसार भर के गणितज्ञों के बीच उनकी चर्चा होने लगी। शीघ्र ही कैम्ब्रिज से डिग्री लेकर डाक्टर गणेशप्रसाद जर्मनी के गोटिंजन विद्यापीठ में जाकर क्लैन, हिलबर्ट तथा जोमरफील्ड जैसे गणितज्ञों के पास रहकर गणित-सम्बन्धी ज्ञान प्राप्त किया।

विदेश से लौटने पर—विलायत से लौटने के बाद उन्हें नौकरी के लिए भटकना नहीं पड़ा। आते ही म्योर सेण्ट्रल कालेज में अतिरिक्त प्रोफेसर के रूप में उनकी नियुक्ति हो गई। किन्तु एक वर्ष भी नहीं व्यतीत हुआ था कि क्वींस कालेज बनारस के प्रोफेसर महामहोपाध्याय पं० सुधाकर द्विवेदी पद से निवृत्त हुए और यह पद डा० गणेशप्रसाद को प्रदान किया गया। इस प्रकार वे प्रयाग में कार्य प्रारम्भ भी नहीं कर पाये थे कि उन्हें बनारस जाना पड़ा। वहाँ उन्हें चार कक्षाओं में चार घण्टे प्रतिदिन गणित पढ़ाना पड़ता था। शेष समय में वे शोध छात्रों के साथ विचार-विमर्श करते थे। धीरे-धीरे गणित के कार्यों में वे इतने व्यस्त होते गये कि लोगों से मिलना-जुलना बन्द कर दिया। हाँ, कालेज जाने में वे पाबन्द थे। रात में बाजार से पूड़ियाँ मँगाकर खाते और सो जाते थे।

इसी बीच उन्होंने कलकत्ता की मैथमेटिकल सोसाइटी से अपना सम्पर्क स्थापित किया। १९१० में उन्होंने अपना पहला निबन्ध पढ़ा। फिर १९१२ में इसी वर्ष उनकी एकमात्र पुत्री कृष्णाकुमारी की मृत्यु हो गई। इस घटना ने डा० साहब को झकझोर डाला।

महान कार्य का समारम्भ—उनकी विद्वता से प्रभावित होकर कलकत्ता विश्वविद्यालय के उपकुलपति आशुतोष मुखर्जी ने १९१४ में इन्हें रास बिहारी घोष चेयर पर गणित का आचार्य नियुक्त कर दिया। डा० साहब ने वहाँ ४ वर्ष बिताये; फिर काशी विश्व-विद्यालय के सेन्ट्रल हिन्दू कालेज में प्रिन्सिपल पद प्राप्त होने पर बनारस लौट आये। इसी वर्ष (१९१८) उन्होंने 'बनारस मैथिमेटिकल सोसायटी' की स्थापना की और गणित के शोध छात्रों के लिए छात्रवृत्ति की योजना की। कार्याधिक्य के कारण डा० साहब का स्वास्थ्य बिगड़ने लगा। किन्तु उन्हें काम की धुन में इसका कुछ ध्यान न रहता। वे बुखार की दशा में भी कार्य करते रहते। इसका फल यह हुआ कि उन्हें डेढ़ वर्ष बाद प्रिन्सिपल पद का त्याग कर देना पड़ा और केवल गणित के आचार्य के रूप में काम करने को बाध्य होना पड़ा। १९२३ में विश्वविद्यालय के अधिकारियों से मनमुटाव हो जाने पर उन्होंने इस

आचार्य पद से भी इस्तीफा दे दिया। कलकत्ता विश्वविद्यालय ने इस अवसर का लाभ उठाया। उन्हें उच्च गणित की हार्डिंज प्रोफेसरी प्रदान की गई जो भारतीय गणितज्ञ के लिये उच्च सम्मान था। वहाँ वे अपने अन्तिम समय ६ मार्च, १९३५ तक उसी पद पर रहे। इस अवधि में भारतवर्ष भर के गणित के छात्र उनके निरीक्षण में कार्य करते रहे।

अपने छात्र जीवन से लेकर अपनी मृत्यु तक डा० गणेश प्रसाद गणित सम्बन्धी त्रुटियों की ओर विद्वानों का ध्यान आकर्षित करते रहे। उन्होंने अपने प्रथम निबन्ध में, जो १९०० में छपा था, प्रख्यात गणिताचार्य केले की भूल दिखाई थी। इसी प्रकार मृत्यु से कुछ वर्ष पूर्व उन्होंने एक फ्रांसीसी गणितज्ञ के निबन्ध के सम्बन्ध में संशोधन किये। इनका ख्याति का प्रमुख कारण था इनका शोध निबन्ध—ताप के गुण और पदार्थ की संरचना—(Properties of Heat and Constitution of Matter) इसे उन्होंने कैम्ब्रिज में शोध काल में लिखा था। इसकी प्रशंसा जर्मनी के डाक्टर क्लैन ने की थी। इसके बाद उन्होंने जो भी कार्य किया वह भारतीय एवं विदेशी पत्रिकाओं में लगातार प्रकाशित होता रहा। फल यह हुआ कि उनका नाम संसार के सर्व-प्रथम पाँच या छह गणितज्ञों में लिया जाने लगा।

डा० गणेश प्रसाद ने बनारस मैथेमेटिक्ल सोसायटी की स्थापना द्वारा उच्च गणितीय शोध में प्रचुर योग दिया। यदि यह कहा जाय कि भारतवर्ष में गणित में शोध की उच्च परम्परा की नींव उन्होंने डाली तो कोई अत्युक्ति न होगी। इन्होंने कलकत्ता मैथेमेटिकल सोसाइटी को भी उन्नत बनाया। सन् १९३२ में भारतीय विज्ञान कांग्रेस के गणित और भौतिक विज्ञान विभाग के सभाति चुने गये। विज्ञान परिषद, प्रयाग के सभापति पद पर रहते हुए इन्होंने गणितज्ञों के जीवन पर कई भाषण दिए।

डा० गणेश प्रसाद ने कुल ११ गणित ग्रंथों की रचना की। इनमें से कई आज भी भारतीय एवं विदेशी विश्वविद्यालयों की उच्च श्रेणियों में पढ़ाये जाते हैं। इन ग्रंथों में एक ग्रंथमाला १९वीं शताब्दी के कुछ महान् गणितज्ञों पर भी है।

व्यक्तित्व डा० साहब अत्यन्त सरल व्यक्ति थे। उनकी सफलता का मूलाधार था उनका नियमित जीवन। वे समय के पक्के थे। एक भी क्षण बर्बाद नहीं होने देते थे। उन्हें हिन्दी से विशेष अनुराग था। उनका अभिमत था कि उच्च से उच्च विषय का अध्यापन हिन्दी के माध्यम से हो। उन्होंने विज्ञान परिषद्, प्रयाग से सम्बन्ध जोड़ने के अनन्तर हिन्दी में लिखना भी प्रारम्भ किया था। गणितज्ञों के जीवन से सम्बन्धित ग्रंथमाला को हिन्दी में प्रस्तुत करने का कार्य उन्होंने रामदास जी गौड़ को सौंपा था।

आगरा विश्वविद्यालय की स्थापना में भी डा० साहब ने सक्रिय भाग लिया था। उनकी मृत्यु भी आगरा में ही हुई। वे यूनिवर्सिटी कौंसिल की बैठक में भाग लेने के बाद बैठे ही थे कि अचानक बीमार पड़ गये। लाख प्रयत्न करने पर भी उनको मृत्यु उसी दिन, ९ मार्च, १९३५ की रात्रि में साढ़े सात बजे हो गई।

उनमें विलक्षण स्मरण शक्ति थी। अपने प्रत्येक छात्र को वे जानते थे और अपने विषय के सम्बन्ध में जो कुछ भी पढ़ते थे वह उन्हें स्मरण रहता था। इनसे छात्रों को शोध कराने में बड़ी सहायता मिलती थी। उनके छात्रों में से आज कई अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त कर चुके हैं।

अल्पायु में ही स्त्री-सुख से वंचित हो जाने के बाद डा० साहब ने फिर से विवाह न करके ब्रह्मचर्य जीवन को गले लगाया। वे रूखा-सूखा भोजन करके लोहे के पलंग पर बिना बिस्तर लगाये सो जाते थे। वे महिलाओं से नहीं मिलते थे, यहाँ तक कि अपने बँगले पर उनके आने पर रोक लगा रखी थी। वे जितना भी धन अर्जित करते रहे उसे गरीब विद्यार्थियों की सहा-

यता या शिक्षा संस्थानों को दान के रूप में देते रहे। परिवार से उनका सम्बन्ध विच्छेद हो चुका था क्योंकि जब वे विदेश से लौटे तो लोगों ने उनसे प्रायश्चित करने को कहा परन्तु यह अन्धविश्वास एवं रूढ़िवादिता उन्हें अच्छी न लगी फलत: उनके परिवार के लोग नाराज हो गये। रुष्ट हो डा० साहब ने भी आजीवन उनसे कोई सम्पर्क नहीं रखा। इसी स्पष्टवादिता के कारण उन्हें जीवन में कई बार कष्ट उठाने पड़े परन्तु वे दृढ़ चरित्र के व्यक्ति थे। वे ईश्वर को मानते थे। उनका जीवन ऋषि तुल्य था।

ऐसे महान गणितज्ञ पर भारत को गर्व होना स्वाभाविक है।

❀❀❀

१. प्राकृतिक गैस का उपयोग

संयुक्त राज्य अमेरिका में प्राकृतिक गैस उद्योग की गिनती बड़े शक्ति-स्रोतों में की जाती है। पूँजी-विनियोजन की दृष्टि से इसका स्थान देश के उद्योगों में छठा है। किन्तु इस बड़े अध्यवसाय के तेजी से बढ़ कर वर्तमान स्थिति तक पहुँचने में ३ दशक से कुछ ही अधिक समय लगा है और अब देश के कुल शक्ति-साधनों में २९ प्रतिशत हिस्सा प्राकृतिक गैस का हो गया है। निस्सन्देह, तेजी से हुई उस प्रगति का कारण यह है कि प्राकृतिक गैस का प्रयोग राष्ट्र के प्राय: सभी हिस्सों में शुरू कर दिया गया। तैयार की गई गैस १८१६ में, बाल्टिमोर (मैरिलैंड) में उसका वितरण करने वाली कम्पनी बनने के समय से, मुहैया की जाती थी पर प्राकृतिक गैस ने सामान्यत: उसका स्थान ले लिया है।

यद्यपि प्राकृतिक गैस का उपयोग व्यापारिक स्तर पर पहले-पहल १८२१ में फ्रेडोनिया (न्यूयार्क) में, मुख्यत: रोशनी के लिए, किया गया था किन्तु प्राकृतिक गैस-उद्योग की शुरुआत १८८३ से समझी जा सकती है। तब पिट्सबर्ग (पैन्सिल्वेनिया) में गैस की पाइप-लाइनें डाली जा चुकी थीं, फिर भी इसका बड़े पैमाने पर उपयोग १९३० से कुछ ही पहले शुरू हुआ।

प्राकृतिक गैस का विकास करने में देरी होने का कारण बहुत कुछ तेल के कुओं की खुदाई है, उपेक्षा नहीं। प्राकृतिक गैस का महत्व तेल में भारी दिलचस्पी के कारण कम हो गया था। तेल का पहला कुआँ टाइटसविल (पैन्सिल्वेनिया) में १८५९ में खोदा गया था। प्राकृतिक गैस आम तौर पर शहरी मण्डियों से इतनी दूर पाई जाती थी कि वहाँ पहुँचाने की अपेक्षा वहीं तैयार की गई गैस उपलब्ध करना सस्ता पड़ता था। उस समय गैस पहुँचाने के लिए लोहे के पाइप कम बनने से बहुत मँहगे पड़ते थे। इसलिए तेल निकालने वाले इस कार्यवाही को ऊल-जलूल समझते थे।

१९३० आस-पास समूचे अमेरिका में प्राकृतिक गैस की माँग बहुत तेजी से बढ़ गई, जिससे एकदम उसे एक आवश्यक गतिशील उद्योग समझा जाने लगा। बहुत थोड़े समय में यह प्रतीत होने लगा कि देश ने इस साफ, रूप-परिवर्तनशील और अपेक्षाकृत सस्ते तथा तरह-तरह के उपयोग वाले ईंधन के लाभ मालूम कर लिए हैं।

पास-पड़ोस में जहाँ कहीं प्राकृतिक गैस उपलब्ध हुई, वहीं घरों में कोयले की अंगीठियों की जगह गैस के चूल्हे रख लिए गये। इन लाखों परिवारों की तरह और बहुत लोग गैस पाने के लिए लालायित हो उठे। प्राकृतिक गैस पहुँचाने की पहली दूरगामी पाइप लाइन १९३१ में पूरी हुई। यह १,००० मील से भी अधिक लम्बी थी। उसके बाद दबादब पाइप-लाइनें डाली गई और अब तो मेन, वरमौंट और हवाई को छोड़ कर सभी राज्यों में गैस की पाइप-लाइनें हैं। गैस पहुँचाने वाली ये पाइप-लाइनें १,६५,००० मील लम्बी और वितरण की पाइप-लाइनें ४,१०,०० मील लम्बी हैं।

यों अमेरिका में सब तरह की शक्ति की खपत ३ दशकों में दुगनी से अधिक हो गई है, पर गैस की खपत इसी काल में ७ गुनी हो गई है। केवल कैलिफोर्निया राज्य में एक दिन के भीतर जितनी प्राकृतिक गैस प्रयुक्त होती है वह अमेरिका के सबसे बड़े हूवर बाँध की कुल विद्युत शक्ति के बराबर होती है।

घरों, व्यापार-व्यवसायों और कारखानों आदि के ३ करोड़ ४० लाख उपभोक्ताओं में से ९४ प्रतिशत प्राकृतिक गैस से काम लेते हैं (शेष अब भी निर्मित या मिश्रित गैस प्रयुक्त करते हैं।) इस समय लगभग १,५२५ गैस वितरण कम्पनियाँ हैं; प्रायः १०० अन्तर्राज्यीय और राज्यीय पाइप-लाइन कम्पनियाँ और लगभग ८,००० संगठन या व्यक्ति प्राकृतिक गैस की खोज करने या तैयार करने में लगे हैं।

प्राकृतिक गैस की घरेलू और औद्योगिक खपत ५६ प्रतिशत और क्षेत्रीय प्रयोग तथा कार्बन ब्लैक के लिए खपत १७ प्रतिशत है।

इसके अतिरिक्त, यह कहना अनुचित न होगा कि प्रत्येक अमेरिकी किसी न किसी तरह गैस से लाभ उठाता है क्योंकि हरेक व्यक्ति इस बहुप्रयोजनीय ईंधन या उसके गौण उत्पादनों के प्रयोगों द्वारा तैयार की गई या उनके मेल से बनी चीजों का प्रतिदिन उपयोग करता है। उदाहरण के तौर पर, अमेरिकी होटलों, स्कूलों, सैनिक भोजनालयों आदि में प्रतिदिन जो १० करोड़ ८० लाख भोजन परोसे जाते हैं वे गैस से ही तैयार होते हैं।

पैट्रो-कैमिस्ट्री के क्षेत्र में प्राकृतिक गैस की सफलता सबसे आश्चर्यजनक है। अपने मुख्य घटक मैथेन के अलावा प्राकृतिक गैस में प्रोपेन और ब्यूटेन जैसे हाइड्रोकार्बन भी होते हैं जिनके जटिल व्यूहाणुओं का भेदन होकर फिर उनसे नाइलोन, आर्लोन, डाइनल और एक्रिलन जैसे कृत्रिम रेशों का निर्माण किया जाता है। इसके अलावा डायनामाइट के लिए नाइट्रिक एसिड में, बिजली के तारों आदि से लगी आग को बुझाने वाले यन्त्रों में प्रयुक्त होने वाले कार्बन टैट्राक्लोराइड में और एलकोहल तथा प्लास्टिक में भी काम किया जाता है। अमेरिका में बनने वाला अधिकांश अमोनिया प्राकृतिक गैस से तैयार किया जाता है और अमोनिया का सबसे अधिक उपयोग रासायनिक खाद में होता है।

प्राकृतिक गैस से निकले बहुमूल्य तरल हाइड्रोकार्बनों को अन्य द्रव्यों से मिला कर कृत्रिम रबड़, दवाएँ, कृमिनाशक, विलायन और अन्य चीजें बनाई जाती हैं।

प्राकृतिक गैस के सम्बन्ध में संभवतः सबसे आश्चर्यजनक संभावना शक्ति-परिवर्तक के रूप में है। ५०० कम्पनियाँ कम से कम ४ यन्त्रों का विकास कर रही हैं। इनसे प्राकृतिक गैस, हाइड्रोजन और मिट्टी के तेल जैसे इंधनों से बिजली बनाई जाती है। इनमें

से एक सबसे प्रभावकारी 'फ्युएल सेल' है जो बिजली की बैटरी के समान बिजली को सिर्फ जमा नहीं करता, बल्कि बिजली पैदा करता है। सेल में निरन्तर पहुँचाये जाने वाले जारक और ईंधन की प्रतिक्रिया से विद्युत-धारा बनने लगती है।

प्राकृतिक गैस के अधिकाधिक लोकप्रिय होते जाने के फलस्वरूप गैस-सेवा उपलब्ध करना बड़ी पूँजी लगाने का काम हो गया है। आज अमेरिका के इस छठे नम्बर के उद्योग में सिर्फ पाइप-लाइनों और वितरण-व्यवस्था की कम्पनियों में लगी पूँजी ही २३ अरब डालर (११ खरब १५ अरब रुपये) तक पहुँच गई है। पिछले कुछ वर्षों में इसके नये निर्माण-कार्यों में पूँजी-विनियोग की वार्षिक औसन १ अरब ८० करोड़ डालर (६ अरब रु०) हो गई है और उसके कर्मचारियों को वेतनों के रूप में १ अरब डालर (५ अरब रु०) दिये जाते हैं।

२. आणविक जेनरेटर

हिम को पिघला देने वाली गर्मी में एक दिन एक शक्तिशाली हिमभंजक जहाज पर सवार अमेरिका और कनाडियन वैज्ञानिक और टैकनिशियन उत्तरी ध्रुव से केवल ७०० मील दूर स्थित एक्सेल हीबर्ग नामक निर्जन द्वीप पर पहुँचे। यह घटना २१ अगस्त, १९६१ की है। द्वीप पर पाँव रखते ही इस टोली ने एक मौसम अनुसन्धान केन्द्र की स्थापना का कार्य तत्काल प्रारम्भ कर दिया, जिसे आगे चल कर ऐतिहासिक महत्व प्राप्त होने वाला था।

उस दिन से ही यह मानव रहित केन्द्र प्रत्येक तीन घंटे बाद ६ सेकंड तक बराबर 'संकेत' प्रसारित करता आ रहा है। यह 'संकेत' जो सीधे ग्रहण करने वाले दूरवर्ती केन्द्रों पर स्थापित गणक यंत्र में पहुँचता है वैज्ञानिकों को यह बतलाता है कि इस द्वीप पर वायु की गति और दिशा, हवा का दबाव और ताप कैसा है।

यह केन्द्र कनाडा के बर्फीले उत्तरी क्षेत्र में समानव मौसम-चौकियों के बीच स्थापित मौसम-पर्यवेक्षण संजाल की कमी को पूरा करता है। किन्तु जिस विशेषता के कारण यह केन्द्र अन्य केन्द्रों से भिन्न है, वह यह है कि यह किसी भी अन्य स्वतः चालित मौसम केन्द्र की अपेक्षा अधिक समय तक अबाध रूप से अपने आप चालू रहा है। इतने समय तक सुचारु रूप से इस केन्द्र के चालू रहने का कारण यह है कि इसके पुर्जों को चालू रखने के लिए रेडियो-आइसोटोपों से उत्पन्न बिजली प्रयुक्त होती है। **यह संयंत्र संसार का पहला अणु-शक्ति चालित मौसम केन्द्र है।**

इस संयंत्र का मर्मस्थल एक नन्हा और साधारण बिजली उत्पादक यंत्र है, जिसे **'स्नेप'** कहते हैं। यह निश्चित से अणु युग के प्रमुख आविष्कारों में से एक है। इसका नाम 'सिस्टम फौर न्यूक्लियर औक्जिलियरी पावर' के प्रथम अक्षरों, अर्थात् 'एस० एन० ए० पी०' को जोड़ रखा गया है।

इसे अमेरिका अणुशक्ति आयोग की ओर से चलाये गये अनुसन्धान द्वारा विकसित किया गया है। इसमें किसी इंजीनियर की कल्पनाओं के समस्त गुण निहित हैं।

उदाहरण के लिए, इसके लिए किसी रखरखाव या मरम्मत की आवश्यकता नहीं पड़ती; यह ठोस, हल्का और भद्दा है; इसमें से धुआँ, गंध या आवाज नहीं निकलती, इसमें कोई सचल पुर्जा नहीं; इस पर मौसम की गतिविधियों का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। फिर भी, यह अबाध और नियमित रूप से बहुत अधिक समय तक बिजली को करेण्ट प्रदान करता है।

एक 'स्नैप' इकाई का सार्वजनिक प्रदर्शन पहली बार १६ जनवरी, १९५९ को अमेरिकी प्रेसिडेण्ड की मेज पर हुआ था। वह इकाई छुहारे के आकार के एक धातु के डिब्बे में बन्द थी, और उसका वजन केवल ४ पौंड था। लेकिन उसके द्वारा उत्पन्न बिजली की मात्रा परम्परागत किस्म की लगभग ७०० पौण्ड वजनी बैटरी द्वारा उत्पन्न बिजली के बराबर थी।

उसके बाद 'स्नैप' यंत्रों का प्रयोग अनेक प्रकार के विशिष्ट कार्यों में होता आ रहा है। उदाहरण के लिए, ४.५ पौंड वजनी एक 'स्नैप' यंत्र ट्रांजिट नामक भू-उपग्रह में उसके सौर-रन्ध्री को चालू करने के लिए लगाया गया है। वह भू-उपग्रह एक मानव निर्मित 'सितारा' है जो जहाजों और विमानों का मार्ग निर्देशन करने के लिए रेडियो संकेत सम्प्रेषित करता है। अंतरिक्ष में स्नैप-यंत्र का यह पहला प्रयोग है, और यह दो वर्ष से अधिक समय से चालू है। इससे जितनी बिजली उत्पन्न हुई है, उतनी बिजली उत्पन्न करने के लिए परम्परागत किस्म की ४,००० पौण्ड से अधिक बैटरियों की आवश्यकता होगी।

सितम्बर १९६३ में, एक अन्य अमेरिकी भू-उपग्रह में २७ पौण्ड वजन का 'स्नैप' यंत्र लगाया गया। यह भू-उपग्रह विश्व का पहला अंतरिक्ष वाहन था, जो एक मात्र आणविक बिजली से संचालित हुआ।

एक वृहत्तर 'स्नैप' यन्त्र बाल्टीमोर, मेरीलैण्ड, के निकट एक नौकानयन केन्द्र की फ्लैश लाइट के लिए बिजली प्रदान कर रहा है। आशा है कि यह १० वर्ष तक चालू रहेगा। १० वर्ष की इस अवधि में इसकी ओर मनुष्य को किसी प्रकार का ध्यान देने की आवश्यकता नहीं पड़ेगी। इस प्रकार के कार्य के लिए प्रयुक्त परम्परागत बैटरियों की बराबर मरम्मत करनी पड़ती है और वे आकार में बड़ी और वजन में अधिक भारी होती हैं।

एक अन्य स्नैप यंत्र, जो इतना छोटा है कि उसे एक घनफुट आकार वाले बक्स में बन्द किया जा सकता है, समुद्र जल के भीतर एक ध्वनि-सूचक उपकरण को चालू करने के लिए तैयार हो रहा है। जहाज, इस ध्वनि-सूचक उपकरण से अपने स्थान का निर्धारण करके इसका प्रयोग एक प्रकाशस्तम्भ के रूप में करेंगे। इसे समुद्री जल में २०० फुट नीचे स्थापित किया जायगा। आशा है कि यह १० वर्ष तक चालू रहेगा और इसका प्रभाव क्षेत्र २० मील तक विस्तृत होगा। आशा है कि इस प्रकार के ध्वनि-सूचक उपकरण जलप्रवाहों, मछली के स्थानों, चट्टानों, रेल के टीलों तथा नौकानयन सम्बन्धी अन्य महत्वपूर्ण स्थानों को निर्दिष्ट करने के लिए प्रयुक्त होंगे।

अमेरिकी अणुशक्ति आयोग के अध्यक्ष, डा० ग्लेन टी० सीबोर्ग ने कहा है कि अंततोगत्वा 'स्नैप' इकाइयों का प्रयोग दावाग्नि-सूचक यंत्रों, समुद्री तार प्रेषक यन्त्रों, तथा संचार-प्रसारक केन्द्रों को संचालित करने के लिए होने लगेगा। स्नैप यंत्रों का प्रयोग दूरवर्ती स्थानों पर ऐसे किसी भी कार्य में हो सकेगा, जिसमें अधिक समय तक बिजली की आवश्यकता होगी।

'स्नैप' यन्त्र एक ऐसे वैज्ञानिक सिद्धान्त पर आधारित है, जिसकी खोज हुए अभी लगभग १५० वर्ष व्यतीत हुए हैं। इस सिद्धान्त को 'थर्मो-इलैक्ट्रिक कनवर्शन' कहते हैं। इसके अनुसार, बिजली की करेण्ट उस समय उत्पन्न होती है, जब दो असमान धातुएँ एक बन्द सरकिट में संयुक्त होती हैं और जब दोनों जोड़ों का ताप भिन्न-भिन्न होता है।

किसी स्नैप के मुहरबन्द डिब्बे के भीतर स्ट्रांशियम-९० नामक रेडियो-आइसोटोप की एक लघु मात्रा से निरन्तर आणविक कण उत्पन्न होते रहते हैं। आणविक कणों के इस निस्सरण के फलस्वरूप उत्पन्न होती है। पुराने सिद्धान्त के आधार पर, 'थर्मोकपुल्स' नामक छड़ जैसे नन्हें यन्त्र इस ऊष्मा को बिजली में परिणत कर देते हैं।

उत्तरी ध्रुव प्रदेश के मौसम पर्यवेक्षण केन्द्र में, इस विधि से उत्पन्न ऊष्मा केन्द्र के अन्य पुर्जों को जमने और क्षरित होने से रोकता भी है। भूतकाल में इस प्रकार जमाव के कारण बैटरियाँ बिलकुल बेकार हो जाया करती थीं।

अन्तरिक्ष-वाहनों के लिए बिजली उत्पन्न करने के सम्बन्ध में, स्नैप यन्त्रों की एक श्रेष्ठता यह है कि वे प्रक्षेपण के समय राकेट की सवारी के धक्कों से अप्रभावित बने रहते हैं। साथ ही, इस पर अन्तरिक्ष में विकिरण का कोई बुरा प्रभाव नहीं पड़ता। उन

सभी अन्तरिक्ष वाहनों में, जिनको दीर्घकाल तक बिजली की आवश्यकता होती है, भूतकाल में सूर्य की धूप को बिजली में परिवर्तित करने के लिए सौर सेल लगाये गये थे। किन्तु बहुत समय तक आन्तरिक्ष में विकिरण से प्रभावित होकर सौर सेल प्रायः क्षरित हो जाते हैं।

स्नैप यन्त्र उन तीन प्रकार के छोटे और हल्के विद्युत उत्पादक यन्त्रों में से एक है जिन्हें इस समय अमेरिका में विकसित किया जा रहा है। शेष दोनों यन्त्रों में से एक अभी प्रयोगशाला में परीक्षण की अवस्था से गुजर रहा है और उसे 'थरमियोनिक कन-वर्शन' कहते है।

थर्मियोनिक सिद्धान्त का प्रतिपादन सबसे पहले अमेरिकी आविष्कर्ता, टामस ए० एडिसन ने इस शताब्दी के प्रारम्भ में किया था। यह सिद्धान्त इस तथ्य पर आधारित है कि जब धातुओं को तप्त किया जाता है, तो उनमें से इलेक्ट्रानों का निस्सरण होता है। थर्मियोनिक यन्त्र में दो धात्विक बेलन होते हैं जिन्हें 'स्लीव' कहते हैं। इनमें से एक दूसरे के भीतर होता है। इनके अतिरिक्त कुछ अन्य विद्युतीय पुर्जे भी होते हैं। भीतरी स्लीव के अन्दर थोड़ी मात्रा में आण-विक ईंधन को तप्त किया जाता है। इसके कारण एक बेलन से बिजली की करेण्ट निकलने लगती है। इस प्रकार के एक नमूने के यन्त्र का, जिसकी लम्बाई ६ इंच है, परीक्षण काल में पूरा हुआ है। इसने ३०५ घण्टे के इस परीक्षण में ३८·५ किलोवाट घण्टा बिजली उत्पन्न की।

तीसरे प्रकार के यन्त्रों में फुएल सेल जिनकी खोज लगभग १०० वर्ष पूर्व हुई थी, हाइड्रोजन और आक्सीजन जैसे ईंधनों की रासायनिक शक्ति को सीधे बिजली में परिणत कर देते हैं। इस समय इसके पुर्जों की लागत कम करने के उद्देश्य से प्रयोग हो रहे हैं, ताकि इन्हें साधारण प्रयोग में लाना सम्भव हो सके। फुएल सेल का निर्माण अपोलो समानव केन्द्र-यान तथा दो चालकों को ढोने वाले जैमिनी अन्तरिक्ष-यान में प्रयुक्त करने के लिए हो रहा है।

स्नैप यन्त्र, थर्मियोनिक यन्त्र तथा फुएल सेल बिजली उत्पन्न करने वाली साधारण बैटरियों से इस अर्थ में भिन्न हैं कि वे बिजली संग्रहीत नहीं करते, बल्कि उस समय तक बिजली उत्पन्न करते रहते हैं, जब तक उनका ईंधन समाप्त नहीं हो जाता। इसके विपरीत, अच्छी से अच्छी बैटरियों में बार-बार ईंधन भरना पड़ता है; यहाँ तक कि यदि उनका प्रयोग न हो तो भी उनकी शक्ति क्षीण होती जाती है। कुछ बैट-रियों में ईंधन भरने में कभी-कभी कई घण्टे और कई दिन लग जाते हैं।

'स्नैप' नामक इन नये यन्त्रों की क्रिया चुपचाप, बिना धुँआ उगले ही चालू रहती है। अतः ये घनी आबादी वाले क्षेत्रों के लिए विशेष उपयुक्त सिद्ध हो सकते हैं। उन्हें दूरस्थ निर्जन स्थानों पर प्रयुक्त करना इसलिए लाभप्रद होगा कि उपयोग के स्थान पर ही एक नन्हें यन्त्र को ले जाकर प्रयुक्त किया जा सकता है। इससे भारी-भारी यन्त्रों को दूर तक ले जाने में जो व्यय पड़ता है, वह इनके सम्बन्ध में नहीं पड़ेगा।

विज्ञान वार्ता

१. मनुष्य दीर्घकाल तक युवा रह सकेगा

अमेरिका के राष्ट्रीय स्वास्थ्य संस्थान (यू० एस० नेशनल इंस्टिट्यूट ऑव् हेल्थ) की वृद्धावस्था सम्बन्धी विज्ञान का अध्ययन करने वाली शाखा के प्रधान अधिकारी डा० नाथन डब्ल्यू शौक (बाल्टीमोर) ने कुछ ऐसे नए वैज्ञानिक तथ्यों की खोज की है, जिनके द्वारा इस रहस्य का उद्घाटन होने की आशा बढ़ गई है कि समस्त प्राणी क्यों वृद्धावस्था की ओर अग्रसर होकर अन्त में मृत्यु को प्राप्त होते हैं। जरोनटोलौजी (वृद्धावस्था सम्बन्धी विज्ञान) सम्बन्धी छठीं अन्तर्राष्ट्रीय कांग्रेस में उक्त सूचना देते हुए डा० शौक ने संसार के अन्य भागों से आये हुए वैज्ञानिकों को बताया कि आयु में वृद्धि होने के साथ शरीर के विभिन्न अंगों की कार्यक्षमता और संचित शक्ति में कमी होती जाती है।

उन्होंने कहा कि शरीर के सूक्ष्म कोणों का क्षय भूखे रहने के कारण भी हो सकता है। उदाहरणार्थ, 'कोरोनरी रक्तवाहिनी' में रुकावट पड़ने पर हृदय की मांस-पेशियों के सूक्ष्म-कोषों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। सूक्ष्म-कोषों को मिलने वाले आक्सीजन तथा उन पोषण-तत्वों के परिमाण में कमी होने पर भी, जिनका वृद्ध शरीर के सूक्ष्मकोणों तक पहुँचना परमावश्यक रहता है, शरीर के सूक्ष्म-कोषों का धीरे-धीरे नाश हो सकता है। सूक्ष्म-कोषों के इस प्रकार के क्षय की गति उतनी तेज नहीं रहती।

डा० शौक ने यह भी कहा कि यद्यपि मस्तिष्क की कार्यक्षमता में ३० वर्ष की आयु से शनैः-शनैः क्षय होने लगता है, परन्तु शरीर के विभिन्न अवयवों की क्षमता के ह्रास की गति में अन्तर होता है। उदाहरणार्थ, ज्ञान-तन्तु के स्पन्द-प्रवाह में ह्रास की गति बहुत धीमी रहती है क्योंकि ३० वर्ष की आयु वाले व्यक्ति की तुलना में ६० वर्ष की आयु वाले व्यक्ति में ज्ञान-तन्तु के स्पन्दन-प्रवाह में केवल १५ प्रतिशत का ह्रास होता है, लेकिन इसी आयु के व्यक्तियों के गुर्दे का कार्यक्षमता में ५० प्रतिशत ह्रास हो जाता है। युवा और वृद्ध पुरुषों के रक्त में शर्करा का परिमाण बराबर होता है। लेकिन, अधिक आयु प्राप्त होने पर यदि एक बार रक्त में शर्करा की मात्रा बढ़ जाए तो उसे सामान्य स्थिति में लाने में अपेक्षाकृत अधिक समय लगता है।

२. अन्तरिक्ष-विज्ञान सम्बन्धी परीक्षण

पृथ्वी के रेडियो-दर्पण 'अयनमण्डल' का अनुसन्धान करने सम्बन्धी व्यापक अनुसन्धान कार्यक्रम में भारत समेत ३१ राष्ट्रों के वैज्ञानिक परस्पर सहयोग कर रहे हैं। इस अनुसन्धान-कार्यक्रम के अन्तर्गत अयनमण्डल के विस्तृत अध्ययन के हेतु अमेरिका द्वारा 'बिकोन' भू-उपग्रह अन्तरिक्ष में प्रक्षिप्त किया जाएगा।

इस अवसर पर 'बिकोन' उपग्रह की सहायता से वैज्ञानिक-अनुसन्धान के इतिहास में पहली बार 'लैसर-किरण' के सम्बन्ध में एक महत्वपूर्ण परीक्षण भी किया जायगा। अमेरिका के इस अन्तरिक्ष-अनुसन्धान कार्यक्रम में इतने अधिक देशों द्वारा सहयोग करने के परिणाम स्वरूप पृथ्वी पर दूरगामी रेडियो-संचार प्रणाली

में उल्लेखनीय सुधार सम्भव हो सकता है। पृथ्वी के एक स्थान से प्रेषित रेडियो-सन्देश अयनमण्डल से टकरा कर पुन: पृथ्वी के किसी अन्य दूरस्थ स्थान पर वापस ग्रहण कर लिए जाते हैं।

उक्त परीक्षण की अवधि में संसार के विभिन्न भागों में स्थित ८० 'डू इट योर सेल्फ' स्टेशनों द्वारा अयनमण्डल का निरीक्षण करने के लिए सीधे उपग्रह से संकेत ग्रहण किए जाएँगे। भारत में तीन अन्तरिक्ष-अनुसन्धान स्टेशन इस अनुसन्धान में सहयोग करेंगे। इन स्टेशनों में उपग्रह द्वारा प्रेषित आँकड़ों से अयन-मण्डल सम्बन्धी अध्ययन का दायित्व निम्न व्यक्तियों पर रहेगा :—

अहमदाबाद—भौतिक अनुसन्धान परीक्षणशाला के डा० एच० आर० रामनाथन्।

हैदराबाद विद्युदणु अनुसन्धान-परीक्षणशाला के डा० ई० बी० राव।

नई दिल्ली राष्ट्रीय भौतिक प्रयोगशाला के रेडियो प्रोपोगेशन यूनिट के डा० वाई० यू० सोम्याजुलू।

राष्ट्रीय उड्डयन एवं अन्तरिक्ष प्रशासन के अनुसार आयोन-स्फियर बिकोन सैटलाइट' नामक यह उपग्रह डेल्टा राकेट द्वारा केपकैनेडी फ्लोरिडा से १७ मार्च को प्रातःकाल अन्तरिक्ष में प्रक्षिप्त किया जाना था। यह अयनमण्डल से काफी ऊँचाई पर (लगभग ७५० मील) एक वृत्ताकार कक्षा में पृथ्वी की परिक्रमा करेगा।

इस अनुसन्धान कार्यक्रम में संसार में इतने अधिक देशों का सहयोग प्राप्त करना इसलिए सम्भव हो सका है क्योंकि उपग्रह द्वारा निरन्तर ऐसे रेडियो संकेत प्रेषित किए जाएँगे, जिन्हें ग्रहण करने के लिए जटिल उपकरणों और यंत्रों से युक्त निरीक्षण-केन्द्रों की आवश्यकता नहीं पड़ेगी।

.३ वान एलन विकिरण पट्टी के भी परे

अमेरिका द्वारा प्रक्षिप्त 'एक्सप्लोरर-१८' नामक उपग्रह ने यह नई खोज की है कि वान एलन विकिरण पट्टियों के बाहर भी अन्तरिक्ष में विकिरण-प्रभावित एक बड़ा क्षेत्र विद्यमान है। लेकिन यह विकिरण क्षेत्र इतना घना नहीं कि समानव अन्तरिक्ष यात्रा के लिए कोई बड़ा खतरा उत्पन्न कर सके। 'एक्सप्लोरर-१८' उपग्रह द्वारा इस बात की भी पुष्टि की गई है कि एक अतिस्वन विमान की तरह पृथ्वी भी सौर-आंधियों द्वारा उत्पन्न 'शॉक वेवों' (प्रचण्ड टक्कर के फलस्वरूप उत्पन्न लहरें) से आवेष्ठित है। इन लहरों का सृजन पृथ्वी के चुम्बकीय क्षेत्र के सौर-कणों से टकराने के फलस्वरूप होता है।

इन खोजों से इस सम्बन्ध में नई जानकारी प्राप्त होती है कि सूर्य से निःसृत अपार शक्ति किस प्रकार पृथ्वी की ओर उन्मुख होती है। 'एक्सप्लोरर-१८' द्वारा प्राप्त प्रारम्भिक परिणामों पर राष्ट्रीय उड्डयन एवं अन्तरिक्ष प्रशासन के ग्रीनबेल्ट, मेरीलैण्ड स्थित गोडार्ड अन्तरिक्ष उड्डयन केन्द्र में आयोजित गोष्ठी में विशेषरूप से प्रकाश डाला गया। इस गोष्ठी में लगभग ५०० वैज्ञानिकों ने भाग लिया।

'नैसा' के अनुसार एक्सप्लोरर-१८ (इन्टर प्लेनेटरी मौनिटरिंग प्लेटफार्म) अमेरिका द्वारा अब तक छोड़े गए उपग्रहों में सबसे अधिक सफल और उपयोगी वैज्ञानिक-उपग्रह सिद्ध हो रहा है।

१३८ पौण्ड वजन का यह उपग्रह जिसमें ८ यन्त्र फिट हैं, २६ नवम्बर को पृथ्वी से १,२२,८०० मील की ऊँचाई पर अन्तरिक्ष में स्थापित किया गया था और चूँकि उसकी कक्षा बाहर की ओर झुक जाती है, अतएव अन्तरग्रही-अन्तरिक्ष के बारे में विस्तृत जानकारी प्राप्त करने का वैज्ञानिकों को पहली बार उत्तम अवसर प्राप्त हो रहा है।

'नैसा' के अनुसार यह उपग्रह अभी भी ठीक प्रकार कार्य कर रहा है और इस सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त कर रहा है कि चुम्बकीय क्षेत्र के बाहर क्या कुछ हो रहा है। चुम्बकीय क्षेत्र अन्तरग्रही अन्तरिक्ष का वह क्षेत्र है, जो पृथ्वी की चुम्बकीय शक्ति द्वारा प्रभावित है।

इसके पूर्व प्रक्षिप्त अन्य उपग्रहों से यह जानकारी

प्राप्त हुई थी कि चुम्बकीय मण्डल के बाहर का अन्तरिक्ष आंधियों से, जिनका निर्माण अत्यन्त प्रचण्ड गति वाले सौर-कणों से होता है—युक्त है। 'एक्सप्लोरर-१८' ने यह पता लगाया है कि पृथ्वी के चुम्बकीय क्षेत्र के बाहरी हिस्से में सौर-आंधियों के टकराने के फलस्वरूप सूर्य द्वारा पृथ्वी के प्रकाशित भाग के ऊपर ५० हजार मील तक एक विकिरण-क्षेत्र का सृजन होना है।

इस घर्षण के फलस्वरूप ऐसी शॉक-वेवी (प्रचण्ड टक्कर के फलस्वरूप उत्पन्न लहरें) का सृजन होता है, जो किसी वायु-सुरंग के चारों ओर बहने वाला अत्यन्त वेगवान वायुधारा के समान होती है।

४. प्राकृतिक गैस का संग्रह

अमेरिका में किये गये एक प्रयोग के अन्तर्गत, प्राकृतिक गैस को भूमि के नीचे बनी कंक्रीट की एक टंकी में 'जमा कर' संग्रह करने में पहली बार सफलता प्राप्त हुई है। बाद में गैस को पिघला कर सामान्य उपयोग में लाया गया।

इस विधि का लाभ यह है कि इससे संग्रह करने के स्थान में बहुत बचत होती है। जब गैस को शून्य फारेनहाइट से २६० अंश नीचे के तापमान पर शीतित कर दिया जाता है, तब वह द्रव का रूप धारण कर लेती है। उस दशा में उसे संग्रहीत करने के लिए पहले के स्थान के १.६०० के बराबर ही स्थान की आवश्यकता होती है। द्रव को गैस के रूप परिणत करने के लिए केवल उसका तापमान बढ़ा देना ही पर्याप्त होता है।

यह प्रयोग अमेरिकन गैस एसोसियेशन की ओर से कराया गया। उसका-कहना है कि संग्रह को यह विधि, विशेष रूप से उन क्षेत्रों के लिए जो गैस की खानों वाले क्षेत्रों से दूर पड़ते हैं, लाभकर और व्यावहारिक है। इस विधि द्वारा गर्मी के दिनों में बड़े-बड़े नगरों के निकट बहुत बड़ी मात्रा में गैस को संग्रहीत किया जा सकता है, और उसे जाड़े के दिनों में, जब गैस की मांग बढ़ जाती है, प्रयुक्त किया जा सकता है।

अमेरिका में जितनी गैस प्रयुक्त होती है, उसका एक-चौथाई भाग गर्मी के दिनों में पम्प द्वारा गैस और खनिज तेल की खानों में और भूमि के नीचे बनी प्राकृतिक खन्दकों में पहुँचा कर संग्रहीत रखा जाता है, और जाड़ा आने पर उसका प्रयोग होता है। किन्तु ६३० घन फुट गैस को जमा कर १ घन फुट द्रव में परिणत कर देने से उस दशा में स्थान की बहुत बचत हो सकती है, जब संग्रह के लिए कृत्रिम टंकियों का प्रयोग होता हो।

५. अन्तरिक्ष में जल जैसे व्यूहाणुओं की खोज

अमेरिकी वैज्ञानिकों को नक्षत्रों के बीच वाले अन्तरिक्ष में हाइड्रोजन-युक्त आक्सीजन के अस्तित्व का पता लगाने और माप करने में पहली बार सफलता प्राप्त हुई।

इस आधारभूत खोज से पदार्थ के वितरण और उसकी क्रिया-प्रतिक्रिया के सम्बन्ध में गहरी जानकारी प्राप्त हुई है। आशा है कि इससे वैज्ञानिकों को सृष्टि के स्वरूप का निर्धारण करने में सहायता मिलेगी।

यह खोज कैम्ब्रिज, मैसाचूसेट्स, के मैसाचूसेट्स इन्स्टिट्यूट ऑव टैक्नोलौजी के रेडियो-खगोल वैज्ञानिकों की एक टोली ने की है। वैज्ञानिकों ने एक रेडियो-दूरवीक्षण यन्त्र को सृष्टि के रेडियो-स्रोत की ओर उन्मुख किया और ऐसी रेडियो-लहरियों का पता लगाया जो आत्मसात हो गयीं। किन्तु उनके आत्मसात होने का ढंग ठीक वैसा ही था, जैसा कि प्रयोगशाला के एक पूर्वकालिक प्रयोग के अन्तर्गत, आक्सीजन और हाइड्रोजन के संयोग के अन्तर्गत पाया गया।

इस संयोग के अन्तर्गत जल-व्यूहाणुओं के ३ अणुओं में से २ सम्मिलित होते हैं। वैज्ञानिकों ने बताया कि दीर्घकाल में एक क्षण ऐसा भी आता है, जब एक अन्य हाइड्रोजन अणु संयोग में आ मिलता है और जल

व्यूहाणु का निर्माण कर देता। यह इस बात का पहला संकेत है कि नक्षत्रों के बीच के अन्तरिक्ष में जल का अस्तित्व हो सकता है।

यह खोज उस पहले अवसर की द्योतक है, जब रेडियो द्वारा संयुक्त रूप में तत्वों का पता लगाया गया और उनकी माप की गयी। नक्षत्रों के बीच के अन्तरिक्ष में, हाइड्रोजन सबसे प्रचुर मात्रा में पाया जाने वाला पदार्थ है। उसके अस्तित्व की खोज सर्वप्रथम १९५१ में की गयी थी। विख्यात 'हाइड्रोजन-लाइन' वेव-लेंथ के फलस्वरूप नक्षत्रावलियों के तिकोने स्वरूप का विस्तृत रूप से नापना सम्भव हुआ। आशा है कि नई खोज से खगोल-वैज्ञानिक खोज पर गहरा प्रभाव पड़ेगा।

६. हारमोन-उपचार से बौने बच्चों का विकास

मृत मनुष्यों की कफ वाली गिल्टी से निकाला गया एक हारमौन (शरीर के भीतर का एक पौष्टिक रासायनिक तत्व) अमेरिका के बौने बच्चों के शरीरिक विकास में सहायक हो रहा है। इस हारमोन की सहायता से इस प्रकार के बच्चे बढ़कर प्रौढ़ों जैसा सामान्य जीवन व्यतीत करने में समर्थ हो सकते हैं।

वैज्ञानिकों ने अनुमान लगाया है कि संसार में बौने बच्चों की संख्या कई हजार है। इस समय इस प्रकार के १३ बौने बच्चों को विकासकारी हारमोन की सुई दी जा रही है। उनका यह प्रयोगात्मक हारमोन-उपचार बाल्टिमोर, मैरीलैंड, के जौन्स हौपकिन्स विश्वविद्यालय में पैडियाट्रिक इण्डोक्राइनोलौजी क्लियिक में हो रहा है।

वैज्ञानिकों का कहना है कि इस उपचार के परिणाम बहुत ही आशाजनक हैं। १४ वर्ष के एक लड़के का हारमोन-उपचार दो वर्ष पूर्व प्रारम्भ हुआ। उस समय उसका कद ८ वर्ष के सामान्य बालक के कद के बराबर था। आशा है कि यदि उसकी दवा जारी रही तो वह बढ़ कर पाँच फुट लम्बा हो जायेगा। हारमोन की सुई न देने पर वह अधिक से अधिक केवल ४ फुट लम्बा होता। इसी प्रकार एक अन्य बालक, जिसका कद ७ वर्ष की आयु में केवल ३० इंच था, १५ वर्ष के हारमौन-उपचार के दौरान बढ़ कर ७३½ इंच लम्बा हो गया।

यह परीक्षण-योजना अमेरिका के नेशनल इंस्टिट्यूट ऑव आर्थ्राइटिश एण्ड मेटाबोलिक डिजीजेज' द्वारा संचालित है, और इसका निर्देशन डा० राबर्ट एम० ब्लिजर्ड कर रहे हैं। उन्होंने कहा कि इसमें मुख्य कठिनाई यह है कि एक बच्चे के उपचार के लिए सामान्यत: २०० मनुष्यों से लेकर ३०० मनुष्यों तक की गिल्टियों से हारमोन प्राप्त करना आवश्यक होगा। कफ-सम्बन्धी गिल्टी मस्तिष्क की जड़ के निकट मटर के आकार की एक गिल्टी होती है। अभी तक कृत्रिम रूप से इस गिल्टी के निर्माण के प्रयत्न असफल रहे हैं, जबकि पशुओं के हारमोन प्रभावकारी नहीं सिद्ध हुए हैं।

अधिक से अधिक बच्चों का उपचार करने के उद्देश्य से हारमोनों की पूर्ति को बढ़ाने के लिए एक नेशनल पिटुएटरी एजेंसी की स्थापना की गयी है। यह एजेंसी तुरन्त मरे हुए व्यक्तियों के चिकित्सकों और परिवार वालों से इस बात का अनुरोध करती है कि वे उनके शरीर से कफ की गिल्टी निकालने की अनुमति दे दें।

७. घातक गैसों की न्यूतम मात्रा

अमेरिकी वैज्ञानिकों ने एक ऐसा यन्त्र विकसित किया है, जो उद्योग और अन्तरिक्ष सम्बन्धी अनुसन्धान में गैसों और धूल कणों का पता लगा सकता है।

इस यन्त्र का निर्माण विशेष रूप से जहरीले बोरॉन मिश्रणों के अस्तित्व का पता लगाने के लिए हुआ था। इन मिश्रणों का प्रयोग राकेट-चालन सम्बन्धी अनुसन्धान में विस्तार के साथ होता है। किन्तु इस यन्त्र को अन्य नशीले और प्रदह्मान भापों,

जैसे क्लोरिनेटेड हाइड्रोकार्बन्स, नाइट्रोजन डायोक्साइड तथा पेट्रोलियम, की न्यूनतम मात्राओं का पता लगाने के लिए भी किया जा सकता है।

यह यन्त्र इतना संवेदनशील है कि कुछ ही सेकण्डों के भीतर यह १ अरब में १० अंश के बराबर न्यून मात्रा में पेण्टाबोरेन के अस्तित्व का पता लगा सकता है। आठ घण्टे तक के खुले प्रभाव के अन्तर्गत, इतनी कम मात्रा भी विषैली सिद्ध हो सकती है।

यह यन्त्र एक गैस पाइलाट में से पम्प द्वारा हवा को निकालती है। जब तक कोई गन्दगी न आये तब तक लपट का कोई रंग नहीं होता। जब कोई विषैला तत्व आता है, तो लपट एक विशेष रंग धारण कर लेती है। उदाहरण के लिए पेण्टाबोरेन के मामले में रोशनी का रंग धुँधला हरा हो जाता है।

एक प्रतिमानित वैकूम ट्यूब जिसे फोटो-मल्टीप्लायर कहते हैं, हरे रंग की तीव्रता को नापता है, जो उस समय विद्युदाणविक विधि द्वारा एक लीटर में परिवर्तित हो जाती है। जब पूर्व निश्चित विन्दु पर मीटर का अंक पहुँच जाता है, तब अलार्म स्विच बन्द हो जाती है।

इस यन्त्र को इलिनोय इन्स्टिट्यूट ऑव टेक्नोलौजी के शिकागो स्थित अनुसन्धान संस्थान ने विकसित किया।
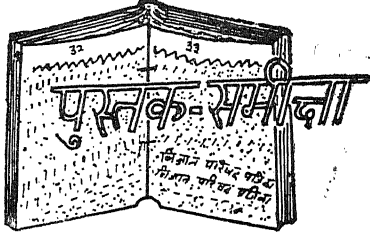
हिन्दी विश्वकोष

भाग ३ नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, पृष्ठ संख्या ५०४, मूल्य १२·५० न० पै० (साधारण संस्करण), १५·०० न० पै० (विशेष संस्करण)

हिन्दी विश्वकोष भाग ३ में ६१ विद्वानों द्वारा लिखित ८२८ लेख हैं। इसमें "किंग लियर" से 'गैजेल मीदों' तक के शीर्षक समाविष्ट हैं। पिछले दो भागों की तुलना में इस भाग की विशेषता यह है कि इसकी छपाई नागरी प्रचारिणी सभा के मुद्रणालय में ही हुई है। बढ़िया किस्म का कागज प्रयुक्त हुआ है और चित्रों एवं ब्लाकों की संख्या काफी है। साथ ही इस भाग के तैयार होने में अपेक्षतया कम समय लगा है।

कहने की आवश्यकता नहीं कि हिन्दी विश्वकोष के समस्त खंडों का प्रकाशन जितनी शीघ्रता से हो सके उतना ही उत्तम हो किन्तु व्यावहारिक रूप से अनेक कठिनाइयाँ उपस्थित होती हैं। उदाहरणार्थ प्रस्तावित शीर्षकों पर अधिकारी विद्वानों से लेख प्राप्त करना। इससे भी कठिन कार्य है समस्त सामग्री में एकरूपता लाना। इसमें संदेह नहीं कि इस समय जो सम्पादक मंडल है वह सर्वथा उपयुक्त है किन्तु फिर भी कुछ न कुछ त्रुटियों का रह जाना स्वाभाविक है। उदाहरणार्थ, इस खण्ड में यह प्रयत्न किया गया है कि अनेक पारिभाषिक शब्दों के अंग्रेजी समानार्थी शब्दों को कोष्ठकों में स्थान दिया जाय किन्तु ध्यानपूर्वक देखने पर पता चलता है कि इस नियम का सर्वथा पालन नहीं हो पाया। एक ही पृष्ठ में (पृ० १४, प्रथम स्तम्भ) तीन प्रकार की शैलियाँ देखने को मिलती हैं—हिन्दी शब्दों के आगे कोष्ठकों में अंग्रेजी शब्द; अंग्रेजी शब्दों के साथ ही हिन्दी में उच्चारण तथा केवल हिन्दी अक्षरों में अंग्रेजी शब्दों का प्रयोग। यथा उत्सर्जन (excretion), जननांग (रिप्रॉडक्टिव आर्गन्स) तथा हाइपोडर्मिक इंप्रेग्नेशन। इस प्रकार के अनेकानेक उदाहरण प्रस्तुत करके यह सिद्ध किया जा सकता है कि विश्वकोष के निर्माण में जिस एकरूपता की अपेक्षा की जाती है उसका अभाव सा है। आशा है अगले भागों में सम्पादकों का ध्यान इस ओर अवश्य जावेगा।

इसी प्रकार एक अन्य अभाव और भी खटकने वाला है। उदाहरणार्थ पृ० १६ से ४० तक में नाना प्रकार के कीटों के रेखाचित्र प्रस्तुत किये गये हैं किन्तु उनके विभिन्न अंगों को सूचित करने वाले निर्देशों का सर्वथा अभाव है। आश्चर्य तो यह कि इसी के बाद एक अन्य लेख में उपर्युक्त त्रुटि का निराकरण देखा जाता है। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि लेखकों द्वारा प्रस्तुत चित्रों को जिस-तिस रूप में ही रहने दिया गया है।

एक अन्य विचित्रता भी है। केन्द्रीय सरकार ने

"पारिभाषिक शब्द संग्रह" नाम से जो पारिभाषिक कोष प्रकाशित किया है उसकी शब्दावली तथा विश्व-कोष की शब्दावली में काफी अन्तर है। ऐसी दशा में किसी भी पाठक के लिए यह निश्चित कर पाना कठिन हो जाता है कि वह किस शब्दावली को प्रामाणिक माने।

हिन्दी विश्वकोष में हिन्दी के साथ अंग्रेजी में भी रासायनिक सूत्रों एवं समीकरणों का अंकित किया जाना मध्यम मार्ग का अनुसरण समझा जावेगा। इसमें सन्देह नहीं कि भविष्य में सूत्रों को भी हिन्दी अक्षरों द्वारा व्यक्त किया जाता है। इस दिशा में विश्व-कोष उचित मार्ग-दर्शन करेगा।

अंग्रेजी शब्दों के हिन्दी उच्चारणों में अभी भी काफी विषमता है। पृ० १६१ पर ऐलकालायड (alkalaid) उच्चारण अत्यन्त दीर्घता लिये हुए है। उसी पृष्ठ पर "इलके पेट्रोलियम" का व्यवहार हुआ है जो भ्रामक है इसे तनु पेट्रोलियम होना चाहिए था। पृष्ठ २०० पर कोबाल्ट के विवरण में "...... इसका लेश पाया गया है" इस वाक्य में लेश शब्द का प्रयोग ठीक से नहीं हुआ। इसी प्रकार "पर भंगुरता अल्प कार्बन डालकर कम की जा सकती है" वाक्य में 'अल्प' विशेषण खटकने वाला है। इस वाक्य को इस प्रकार लिखा जाना चाहिए था—अल्प मात्रा में कार्बन डालकर भंगुरता कम की जा सकती है"।

पृष्ठ २८८ पर बेंजोक्विनोन का सूत्र $C_6H_4O_2$ दिया है। हिन्दी में इसका सूत्र नहीं दिया गया। इसी पृष्ठ पर उपयोग के स्थान पर 'उपगोग' छपा हैं जो छापे की त्रुटि है। फोटोग्राफी में 'परिवर्धक' (developer)—यह प्रयोग गलत है—इसे 'व्यक्तकारी' होना चाहिए। पृ० ३२८ पर clavage के लिए 'भाजन' प्रयुक्त हुआ है जो सर्वथा भ्रामक है। इसके स्थान पर विदार या विदरण अधिक उपयुक्त होगा।

ऊपर हमने केवल वैज्ञानिक लेखों से सम्बन्धित अंश की आलोचना की है। यदि साहित्यिक की जाँच पड़ताल की जाय तो पता चलेगा कि उनमें भारतीय वातावरण का अभाव है। उदाहरणार्थ 'गद्य' शीर्षक लेख के पढ़ने से ऐसा आभास होता है कि लेखक ने इसे केवल अँग्रेजी पुस्तकों के आधार पर ही लिखा है। संदर्भ ग्रन्थों में अँग्रेजी ग्रन्थों की ही सूची है। क्या भारतीय भाषाओं के गद्य साहित्य का उल्लेख अप्रासंगिक होता ?

विश्वकोष में संग्रहीत अनेक भौगोलिक स्थानों का विवरण बेकार सा है। यदि उनके स्थान पर अन्य किसी सामग्री का संकलन होता तो श्रेयस्कर होता।

हमें आशा है कि अगले संस्करण में ऊपर कथित त्रुटियों को दूर करने का प्रयत्न किया जावेगा।

विज्ञान प्रगति :

कौंसिल आफ सांइटिफिक एण्ड इण्डस्ट्रियल रिसर्च, नई दिल्ली, जनवरी १९६४ अङ्क मूल्य ५० न० पै०।

जनवरी १९६४ के अङ्क से 'विज्ञान प्रगति' सर्वथा नूतन चोले के साथ प्रकट हुई है। यह पत्रिका विगत १३ वर्षों से हिन्दी के माध्यम से तकनीकी साहित्य का प्रकाशन करती रही है। किन्तु इस दीघ अवधि के बाद यह अनुभव किया जाने लगा कि 'विज्ञान प्रगति' को लोक प्रिय बनाना आवश्यक है फलतः इस अङ्क के साथ ही उसके आकार में वृद्धि करते हुए उसकी सामग्री में मूलभूत परिवर्तन करके उसे जनोपयोगी बनाने का सद् प्रयास हुआ है। इसमें सन्देह नहीं कि लेखों के चयन, विभिन्न स्तम्भों की योजना एवं चित्रों के समावेश द्वारा 'विज्ञान प्रगति' में चार चाँद लग गये हैं। इस सम्पादन को इसके लिए बधाई देते हैं और आशा करते हैं कि भविष्य में 'विज्ञान प्रगति' और भी आकर्षक एवं शिक्षाप्रद बन सकेगी। हाँ, भाषा सम्बन्धी नीति सुदृढ़ रहे, इसकी कामना करते हैं। यदि केन्द्र से प्रकाशित होने वाली इस वैज्ञानिक पत्रिका को समस्त पत्रिकाओं का प्रेरणा-

स्रोत बनना है तो सम्पादकों को काफी सतर्क रहना होगा। न केवल जनरुचि का ध्यान रखना होगा, वरन भाषा और शैली सम्बन्धी कठोर नियमों का पालन भी करना होगा। हमें विश्वास है कि योग्य सम्पादक इसमें सफल होंगे।

प्रस्तुत अङ्क का एक लेख—प्रयोगशाला से जन साधारण की ओर - अत्यन्त सूचना प्रद है। सत्येन बोस की जीवनी एवं सूर्य कितना शान्त है शीर्षक लेख नवीन सामग्री प्रस्तुत करते हैं। यदि अगले अंकों में भारतीय वैज्ञानिकों की जीवनियाँ अबाध रूप से प्रकाशित होती रहें तो जन साधारण को अपने देश की वैज्ञानिक विभूतियों का परिचय प्राप्त हो सकेगा।

सम्पादकीय

भारतीय शोध संस्थानों की दुर्गति

यूगोस्लाविया के भौतिकज्ञ प्रोफेसर स्टेवान डेडीजर ने भारत की लोकसभा के सदस्यों के समक्ष भाषण देते हुये भारतीय शोध संस्थानों में व्याप्त जिस राजनीति की ओर संकेत किया है वह वास्तव से हम सबों के लिये लज्जा का विषय है। उन्होंने अपने आपको और स्पष्ट करते हुये बताया कि इन शोध संस्थानों एवं प्रयोगशालाओं में राजनीति बरते जाने का प्रमुख कारण है विदेशी विनिमय तथा मानवीय-शक्ति के ऊपर प्रभुत्व एवं नियन्त्रण रखना। उन्होंने इस बात पर खेद प्रकट किया कि भारत की लोक सभा के सदस्य विज्ञान के प्रति उदास रहते हैं। वे देश में होने वाली शोधों अथवा अन्य महत्वपूर्ण खोजों से सर्वथा अनभिज्ञ रहते हैं। वे यह सोचते हैं कि इनसे उनको क्या प्रयोजन है। इसी प्रवृत्ति के कारण ही वैज्ञानिकों एवं राजनीतिज्ञों के बीच गहरी खाईं बन गई है। जब तक यहाँ के राजनीतिज्ञ विज्ञान की ओर अधिकाधिक अभिरुचि नहीं दिखाते तब तक देश का कल्याण नहीं हो सकता। आखिर तक भारत कब के औद्योगीकरण के लिए आवश्यक उपकरणों को इसी प्रकार बाहर से मँगा मँगाकर के काम चलाया जावेगा!

अवश्य ही हमारे राजनीतिज्ञों को इसी दिशा में सोचना होगा। यह नहीं है कि हमारे वैज्ञानिक आवश्यक उपकरणों को जुटा नहीं सकते किन्तु कठिनाई यह है कि उन्हें न तो वैसा करने दिया जाता है और न उन्हें उसके लिये सुविधायें ही प्रदान की जाती हैं।

यदि एक ओर आवश्यक सामान इसी प्रकार से आता रहा और दूसरी ओर देश की शान स्थिर रखने के उद्देश्य से लीक से हट करके संस्थाओं में शोध भी चलता रहा तो यह 'राजसी ठाठ' कहा जावेगा। इसमें सन्देह नहीं कि भारतवर्ष इस ठाठ का भार सहने में असमर्थ होगा और उसकी अपार जनशक्ति वृथा जावेगी। फलतः देश की प्रयोगशालाओं में ऐसे शोध-कार्य अपनाये जाने की आवश्यकता है जो हमारी आवश्यकताओं को पूरा करे। किन्तु यदि इन्हें 'विलासिता के अड्डों' में परिवर्तित करके रखा गया तो देश का अहित होगा!

भाग ९९
संख्या ३-४
ज्येष्ठ-आषाढ़
सं० २०२१ वि०
जून-जुलाई १९६४

१, अंक स्थानेहिम् ६५
२. न्यूनतम सौर-हलचल की अवधि में सूर्य सम्बन्धी अध्ययन ७०
३. सागरीय सभ्यता ७३
४. परमाणु-घड़ी ७६
५. कास्मिक धूलकण ७८
६. जीव की उत्पत्ति ८१
खबरें लाया हूँ ८५
संक्षिप्त जीवन-परिचय-माला ८८
विज्ञान वार्ता ९०
सार-सङ्कलन ९६
सम्पादकीय १०४

प्रति अंक ४० न. पै.
वार्षिक ४ रुपये

सम्पादक—डॉ० शिवगोपाल मिश्र

हमारी प्रकाशित पुस्तकें

	मूल्य
१—विज्ञान प्रवेशिका भाग १—श्री रामदास गौड़, प्रो० सालिगराम भार्गव	३७ नये पैसे
२—वैज्ञानिक परिमाण—डा० निहालकरण सेठी	१ रु०
३—समीकरण मीमांसा भाग—१ पं० सुधाकर द्विवेदी	१ रु० ५० नये पैसे
४—समीकरण मीमांसा भाग २—पं० सुधाकर द्विवेदी	६२ नये पैसे
५—स्वर्णकारी—श्री गंगाशंकर पचौली	३७ नये पैसे
६—वर्षा और वनस्पति—श्री शंकरराव जोशी	३७ नये पैसे
७—व्यंग चित्रण—ले० एल० ए० डाउस्ट, अनुवादिका—डा० रत्न कुमारी	२ रुपया
८—तैरना डा० गोरख प्रसाद	१ रुपया
९—वायुमंडल की सूक्ष्म हवायें—डा० संत प्रसाद टंडन	७५ नये पैसे
१०—खाद्य और स्वास्थ्य—डा० ओंकार नाथ पर्ती	७५ नये पैसे
११—फल संरक्षण—डा० गोरख प्रसाद, वीरेन्द्र नारायण सिंह	२ रु० ५० नये पैसे
१२—शिशु पालन—श्री मुरलीधर बौड़ाई	४ रुपया
१३—मधुमक्खी पालन—श्री दयाराम जुगड़ान	३ रुपया
१४—घरेलू डाक्टर—डा० जी घोष, डा० उमाशंकर प्रसाद, डा० गोरख प्रसाद	४ रुपये
१५—उपयोगी नुसखे, तरकीबें और हुनर—डा० गोरखप्रसाद, डा० सत्यप्रकाश	३ रु० ५० न०पै०
१६—फसल के शत्रु—श्री शंकरराव जोशी	३ रु० ५० नये पैसे
१७—साँपों की दुनिया—श्री रामेश वेदी	४ रुपया
१८—पोर्सलीन उद्योग—श्री हीरेन्द्र नाथ बोस	७५ नये पैसे
१९—राष्ट्रीय अनुसंधानशालाएँ	२ रुपये
२०—गर्भस्थ शिशु की कहानी—अनु० प्रो० नरेन्द्र	२ रुपया ५० नये पैसे
२१—रेल—इंजन परिचय और संचालन—श्री ओंकारनाथ शर्मा	६ रुपया
२२—भारतीय कृषि का विकास—डा० शिवगोपाल मिश्र	५ रुपया

अब आप इन पुस्तकों के लिए सीधे निम्न पते पर पत्रव्यवहार करें क्योंकि अब लाला रामनारायण लाल बेनीप्रसाद हमारे एक मात्र वितरक नियुक्त हुए हैं।

मिलने का पता :

लाला रामनारायणलाल बेनीप्रसाद
कटरा, इलाहाबाद

विज्ञान परिषद्, प्रयाग का मुखपत्र

विज्ञानं ब्रह्मेति व्यजानात्। विज्ञानाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते।
विज्ञानेन जातानि जीवन्ति। विज्ञानं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति। तै० उ० ।३।५।

भाग ९९	ज्येष्ठ-आषाढ़ २०२१ विक्र०, १८८६ शक जून-जुलाई १९६४	संख्या ३-४

अंक स्थानेहिम्

दयालसिंह कोठारी

सांख्यिक अनुभूति समग्र प्राणिवर्ग की अमूल्य धरोहर व आवश्यकता रही है। संख्या-बोध की यह क्षमता भिन्न-भिन्न अंश में सर्वव्यापी है। मनुष्येत्तर प्राणियों में चार-छ: तक के समूह को पहचानने की क्षमता पाई जाती है। एमर्सन एन्ड्रियु के Numbers Please के प्रारम्भिक पृष्ठों को उलटने से यह भी भली प्रकार ज्ञात हो जाएगा कि काग किस प्रकार उसकी जान के ग्राहक व्यक्तियों के समूहों से जो तम्बू में छिपे थे, अपनी रक्षा तब तक करता रहा जब तक कि दल के सदस्यों की संख्या चार से अधिक न हो गई। 'हिस्ट्री आफ मेथेमेटिक्स' के ग्रंथकार स्मिथ ने वानरों को छ: तक लेखा रखने में सक्षम बताया है। मनुष्य भी भिन्न-भिन्न युगों में भिन्न देशों में अपनी कुशाग्रता के अनुसार पर्याप्त बड़े-बड़े समूहों का लेखा रखता रहा है। फ्लोरियन केजोरी के अनुसार आर्किमिडीज़ ने पृथ्वी से सूर्य तक दूरी के व्यास के गोले को भरने वाले बालु कणों की संख्या दशक प्रणाली में ५१ स्थान घेरेगी बताया जब कि जैनग्रंथों में कालचक्र के लिए प्रयुक्त 'शीर्षप्रहेलिका' हेमचन्द्र सूरि के अनुसार १९४ स्थान घेरती है। यह इतनी बड़ी है कि सारे ब्रह्माण्ड को बालुकणों से भर सकती है। अन्य देशों में अपेक्षाकृत काफी छोटी संख्याएँ, कोटि के परिमाण की ही, प्रयुक्त हुई हैं।

आधुनिक युग में भारतीय अंक प्रणाली के सहारे हमें बड़ी से बड़ी संख्या लिखने व परिगणन करने में भले ही कोई कठिनाई न हो परन्तु इससे पूर्व संख्या-लेखन व परिगणन इतना आसान न था। सांख्यिक अभिव्यक्ति के लिए शब्दों, वर्णों संकेतों, गणिकाओं व अबेकस का प्रयोग होता था। शब्दों व वर्णों द्वारा संख्या लेखन भारत की देन है। ऋग्वेद में 'जीवेम शरद शतम्' व अष्ट करणय मम ददत्तो में सौ व आठ इसके पर्याप्त साक्ष्य हैं। सूर्य सिद्धान्त में 'वसुद्वय

'अष्टाद्रि रूपाङ्क सप्ताद्रितिथयो युगे' के द्वारा ग्रन्थकार ने महायुग में दिनों की संख्या १५७७ ९१७ ८२८ प्रकट करने के लिए उक्त श्लोक में वसु, द्वय, अष्ट, अद्रि, रूप अंक, सप्त, अद्रि, तिथि शब्दों का उपयोग क्रमशः ८, २, ८, ७, १, ९, ७, ७, १५ को व्यक्त करने के लिए किए हैं । महावीराचार्य्य ने गणित सार संग्रह में शब्द प्रणाली के द्वारा बड़ी सुन्दरता से १२३४५६५४३२१ को 'एकादिषऽन्तानि क्रमेण हीनानि' के द्वारा अभिव्यक्त किया है । भारत में 'कटपयादि' व अक्षरपाली व आर्य भट्टीय प्रणालियों में वर्णो के द्वारा संख्याएँ व्यक्त की हैं । यूनान एवं अरब में भी वर्णमालाओं के द्वारा संख्याएँ लिखी गईं। सांकेतिक प्रणालियाँ मिश्र की चित्र प्रणाली, चीन की खूँटों वाली प्रणाली, रोमन प्रणाली, अमेरिका की मय प्रणाली तथा भारत की ब्राह्मी खरोष्ठी अंक प्रणाली में प्रयुक्त हुई हैं । अबेकस व गणिकाओं बालु अथवा धूलिकणों व गोलियों के द्वारा संख्या व्यक्ति की तुलनात्मक विधियाँ हैं ।

यहाँ पर इन सभी प्रणालियों का विस्तृत वर्णन करना असंगत होगा परन्तु इनमें निहित कतिपय दोषों का उल्लेख आवश्यक होगा जिनका उन्मूलन नवीन भारतीय अंक प्रणाली में हुआ है । मिश्र की अंक प्रणाली को ही लीजिए । इसमें १, १०, १०० आदि के उत्तरोतर क्रम से एक कोटि तक के लिए अलग-अलग संकेत थे और बीच की अन्य संख्याएँ लिखने के लिये जोड़ का सिद्धान्त काम में लिया जाता था जैसे ४३ = १० + १० + १० + १० + १ + १ + १ = ∩ ∩ ∩ ∩ । । । दशक प्रणाली होते हुये भी इस प्रणाली में दो प्रमुख दोष थे । एक तो यह कि किसी संख्या को लिखने में कई संकेत प्रयुक्त होते थे । दूसरा दोष यह था कि परिगणन में यह सर्वथा अनुपयुक्त थी । सुमेरिया वासियों ने संकेतों की इस भीड़ को हटाने के लिए एक युक्ति सोची । उन्होंने कहा कि किसी संकेत के बांई ओर यदि छोटी संख्या का संकेत रख दिया जाए तो संख्या का मान उतने ही गुना बढ़ जाएगा जैसे

१००० = १० × १०० = ⊲ ।—
१० × १००

नानाघाटसे प्राप्त शिलालेखों में भी यही युक्ति अपनाई गई है परन्तु इसमें छोटा अंक बाईं ओर न लिखकर दाईं ओर लिखा जाता था जैसे २०,००० = १००० × २० = TO । रोमन प्रणाली में संकलन व व्यवकलन के सिद्धान्तों को अपनाया गया जैसे XXVIII = १० + १० + ५ + १ + १ + १ = २८ अथवा XL = १० + ३० = ४० । कारपिन्सकी के अनुसार व्यवकलन के सिद्धान्त का प्रयोग १३० ई० पू० का है । स्मिथ ने अपने ग्रन्थ History of Mathematics में रोमन प्रणाली में यदा-कदा गुणन सिद्धांत के उपयोग के दृष्टान्त दिये हैं जैसे XCIIM (— १० + १०० + १ + १) १००० = ९२,००० । अमेरिका की मय प्रणाली में भी, जो अट्ठारह व बीस पर आधारित थी गुणन सिद्धान्त का उपयोग हुआ है ।

उक्त प्रणालियों पर दृष्टिपात करने से ज्ञात होगा कि संख्या लेखन आज की तरह आसान नहीं था । फिर परिगणन तो और भी अधिक क्लिष्ट था । केलेन्डर का संशोधक जुलियस सीजर लीप वर्ष व अन्य दो वर्षों के दिनों का योगफल निम्न परिक्रमों के अनुसार ज्ञात करता था —

CCC L XVI ३६६
CCC L XV ३६५
CCC L XV ३६५

CCC CCC CCC LLL XXX VVVI
= CCC CCC CCC LLL XXXX VI
= CCCCCC CCC LLL XL VI
= CCC CCC CCC CL XL VI
....
= CCC CCC CCCC XC VI
= MXC VI = १०९६

योगफल का जहाँ यह हाल है वहाँ गुणा भाग आदि का क्या हाल होगा ४५×२८ के ही गुणनफल को लीजिए। इसे लिख कर गुणाकरना कितना कठिन होगा इसकी कल्पना नहीं की जा सकती।

XLV
XXVIII

इस प्रकार संख्या-लेखन व परिगणन दोनों ही दृष्टियों से प्राचीन अंक प्रणालियाँ निरर्थक थीं। इसका कारण संकेतों की भीड़, दशमलवीय आधार, शून्य व स्थानीय मान का अभाव था। ये कम-से-कम संकेतों के द्वारा कम-से-कम स्थान में बड़ी से बड़ी संख्या लिखी जा सकें, इसी दौड़ में विश्व के प्रगतिशील राष्ट्र संलग्न रहे किन्तु उन्हें सफलता न मिल सकी।

भारत ने इन दोषों को बड़े सुन्दर ढंग से दूर किया जिसके फलस्वरूप नवीन अंक प्रणाली आविष्कृत हुई। आधुनिक रूप में स्थानीय क्रम का सर्वप्रथम प्रयोग-कर्त्ता भारत ही रहा है। 'हिन्दू गणित का इतिहास' के रचयिता डा० अवधेश नारायण तथा विभूतिशरण दत्ता के अनुसार स्थानीय मान का सर्वप्रथम शास्त्रीय प्रयोग जैन ग्रन्थ अनुयोग द्वार (१५० ई० पू०) के वाक्य 'अंक स्थाने हिम्' में प्रयुक्त हुआ है। सूर्य सिद्धान्त में अंक शब्द नौ के लिए प्रयुक्त हुआ था क्योंकि स्थानीय मान के सिद्धान्त के आविष्कार के बिना अंङ्कों की संख्या सीमित नहीं हो सकती तथा उस दशा में अंक शब्द-शब्द प्रणाली में किसी संख्या विशेष को व्यक्त नहीं कर सकता है। बिजनौर में पारसनाथ किले से प्राप्त श्रमण भगवान महावीर की प्रतिमा पर खुदा संवत् ३० आधुनिक अंक प्रणाली में लिखा गया है जो इस बात को सिद्ध करता है कि इस काल तक भारतीय अङ्क प्रणाली पुष्पित व पल्लवित हो सकी।

स्थानीय मान के सिद्धान्त के द्वारा अंक को दोहरी शक्ति प्राप्त हो गई। अब १ का मान एक ही न रहा वरन् जिस स्थान पर उसे प्रतिष्ठित किया जाए उसी के अनुसार हो जाता है जैसे १११ मे १ का मान १, १०, व १०० है। जिस प्रकार किसी व्यक्ति का सेनानायक, सुरक्षा मंत्री व राष्ट्रपति के पदों पर अलग-अलग मान होता है उसी प्रकार एक ही अंक का भिन्न स्थानों पर भिन्न मान होता है। ६३ व ३६ में यद्यपि दो ही अंक है परन्तु उनका मान अलग-अलग होता है।

किसी संख्या के आगे शून्य लगाने से उस संख्या में प्रयुक्त अंको का मान दस गुना हो जाता है परन्तु स्त्री के ललाट पर उसका मान क्या हो जाता है इसे 'बिहारी' ने व्यक्त करते हुए कहा है :—

कहत सबै बेंदी दिए आँक दस गुनो होत,
तिय ललाट बेंदी दिए अगनित बढ़त उदोत।

स्थानीय मान के प्रयोग के द्वारा संख्या-लेखन व परिगणन में आने वाली कठिनाइयाँ पूर्णतः हल हो गयीं। आधुनिक रूप में स्थानीय मान के सिद्धान्त का विचार मनुष्य में किस प्रकार आया होगा यह तो आविष्कारक ही जाने। संभवतः इसकी प्रेरणा उस आदि मानव से प्राप्त हुई होगी जो अंगुलियों के द्वारा अपने पशुओं की गणना करता था। दस पशु गिन लेने पर वह अपने साथी को एक अँगुली, बीस पर दो, सौ पर दस अँगुली व साथ ही तीसरे साथी को एक अंगुली खड़ी करने के लिए कहता। इस प्रकार किसी समय प्रथम द्वियीय व तृतीय साथियों की एक दो व तीन अँगुलियाँ १+२०+३००=३२१ पशुओं को प्रकट करती थीं। यदि मनुष्य प्रारम्भ में ही इस विचार को ग्रहण कर लेता तो गणित का स्वरूप आज से कहीं आगे होता। अबेकस से गणना करने वाले भी अपने यंत्र के पत्थरों और गोलियों से शिक्षा ग्रहण न कर सके और स्थानीय मान के आधुनिक मर्म को न पा सके। वे केवल यहाँ तक सोच सके कि अबेकस का पत्थर गिरगिट की तरह रंग बदलता है जैसा कि डायोग्निस की सोलन को दी गई इस शिक्षा से स्पष्ट होता है जिसमें कहा गया है कि दुष्टों से मित्रता

रखने वाला व्यक्ति अबेकस के पत्थरों की तरह है जो कभी कम व कभी अधिक प्रदर्शित करता है।

स्थानीय मान के सिद्धान्त के प्रयोग से हम आज इतने अभ्यस्त हो गए हैं कि संख्याओं के लेखन में हम उसका बेखटके प्रयोग करते हैं। अंक प्रणाली के द्वारा ही नहीं वरन् शब्द-प्रणाली में भी उसका उपयोग करते हैं। उदाहरण के लिए राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त ने 'रंग में भंग' काव्य में उल्लेखित घटनाकाल बड़े सुन्दर ढङ्ग से व्यक्त करते हुए लिखा है :—

जिस समय से इस कथा का है यहाँ वर्णन चला,
था अनल निधि गुण अवनि का तब विक्रमी संवत भला।

यहाँ अनल, निधि, गुण व अवनी शब्द क्रमश: शब्दों से सम्बन्धित ३, ६, ३ व १ अंकों को प्रकट करते है जिन्हें स्थानीय क्रम में रखने से घटना काल विक्रम संवत १३६३ का ज्ञात होता है। अंक पर्याय-वाची शब्दों का भी पद्य में प्रयोग पर्याप्त मात्रा में हुआ है। उदाहरणार्थ आचार्य धर्मविजय सूरि के निर्वाण 'काल को मोहम्मद मुनीर कुरेशी यों प्रकट करते है :—

एक हजार नहसद व हफ्ताद नो बुबदए मुनीर।
बसत व यक मर्दा सहशम्बा धर्म विजय बरफ्त॥

इस प्रकार संख्याओं की अभिव्यक्ति से किसी घटना का समय आसानी से याद हो जाता है वहाँ काव्य में विविधता या चमत्कार भी आ जाता है।

आधुनिक अङ्क प्रणाली का आधार दस है इसलिए दाँई ओर से बाँई ओर बढ़ने पर प्रत्येक अंक का मान दस गुना हो जाता है। यदि दस के आधार के स्थान पर अन्य आधार रखा जाए तो स्थानीय मान भी उतने ही गुना बढ़ जाएगा। जैसा कि पीछे बताया गया है मयों की अंक प्रणाली के आधार १८ व २० थे। फ्रान्स के वैज्ञानिक बुफन ने १० के बजाय अंक प्रणाली का आधार बारह, लेंग्राज ने ७ अथवा ११ और लाइबनीज ने २ का समर्थन किया है। विद्युत गणिकाओं में आधार २ को ही प्रधानता दी गई है। किसी व्यक्ति को ४२० कहने पर वह चौंक उठेगा परन्तु यदि हम दस के बजाय पाँच के आधार से संख्याओं को व्यक्त करें तो उसका सम्बन्ध कानून की उस धारा से हटकर दूसरे क्रम वाली धारा पर चला जाएगा जिसमें उल्लेखित दुर्गुणों का समावेश मनुष्य अपने में बर्दाश्त नहीं कर सकता है। ४२० का पाँच के आधार पर मान होगा $० \times १ + २ \times ५ + ४ \times ५^२ = ० + १० + १०० = ११०$। जब हम पाँच के आधार का प्रयोग करते हैं तो शून्य के अतिरिक्त चार संकेत ही संख्याओं की अभिव्यक्ति के लिए पर्याप्त होंगे। इस आधार के प्रयोग से संख्या के दाईं ओर शून्य लगाने से बिहारी के दोहे के विपरीत प्रत्येक अंक का मान दस गुना न होकर पाँच गुना ही होगा। संवत् १६६४ को ७ के आधार वाली प्रणाली में लिखने के लिए निम्न प्रकार से लिखना होगा :—

$७^३ = ३४३, ७^२ = ४९, ७^१ = ७, ७^० = १$

३४३) १६६४ (५   ४९) २४९ (५   ७) ४ (०
      १७१५   २४५   ०
      ―――――   ―――   ―
       २४९   ४   ४

१) ४ (४
   ४
   ―
   ×

इस प्रकार संवत् १६६४ को सप्त आधार वाली प्रणाली से ५५०४ लिखेंगे। इसी आधार से ५५४ व ४१३ का योगफल निम्न प्रकार से ज्ञात करेंगे :

 ५५४
 ४१३
―――――
१३००

योगफल १३०० का दशमलवीय प्रणाली में मान होगा $१ \times ७^३ + ३ \times ७^२ + ० \times ७^१ + ० = ३४३ + १४७ + ० + ० = ४९०$।

अमरीका के विख्यात पहेलीकार साम लोयड

ने स्थानीय मान को बड़े सुन्दर ढंग से एक प्रश्न के उत्तर में व्यक्त किया है। गणितज्ञ ने प्रश्न किया है कि एक चाँदी की इकतीस इंच लम्बी छड़ में से एक श्रमिक को यदि प्रतिदिन एक इंच टुकड़ा देना है तो कम से कम उस छड़ के कितने टुकड़े किये जाएं कि श्रमिक को उसका पारिश्रमिक प्रदान किया जा सके। लोयड ने इसके उत्तर को बड़े सुन्दर ढंग से व्यक्त करते हुए कहा है कि दो के आधार पर ११११ में प्रत्येक अंक का जो स्थानीय मान है उस लम्बाई के व जितने अंक हैं उतने टुकड़े अर्थात् $१+१\times२+१\times२^२+१\times२^३+१\times२^४=१+२+४+८+१६=३१''$ की छड़, को १'', २'', ४,'' ८', १६'' की लम्बाई के पाँच टुकड़ों में विभक्त कर इनके आदान-प्रदान से श्रमिक का दैनिक पारिश्रमिक ३१ दिन तक चुकाया जा सकता है।

इस प्रकार निर्विवाद सिद्ध है कि शून्य व स्थानीय मान पर आधारित भारतीय दशमलवीय अंक प्रणाली संख्या लेखन व परिगणन की दृष्टि से सर्वश्रेष्ठ सिद्ध हुई। यही कारण है कि इस अंक प्रणाली के उदय के साथ अन्य प्रणालियाँ इस प्रकार लुप्त हो गईं जिस प्रकार सूर्योदय पर ओस बिन्दु लुप्त हो जाते हैं। भारत से यह अंक प्रणाली अरब में प्रविष्ट हुई जहाँ अंक को आज भी 'हिन्दसा' के नाम के पुकारा जाता है। अरब से यह अंक-प्रणाली यूरोपीय देशों में गई। स्मिथ के अनुसार यूरोप में नवीन अंक प्रणाली वाली प्रथम पाण्डुलिपि ९७६ ई० (स्पेन की) तथा मुद्रा ११३८ ई० की सिसिली (इटली) की है। साइमन स्टेवीन द्वारा सोलहवीं शताब्दी में दशमलव के चिह्न 'बिन्दु' का उपयोग कर एक से छोटी संख्या को लिखने का क्रान्तिकारी सुधार कर दिए जाने पर सांख्यिक भाषा किसी भी संख्या अथवा भिन्न को स्थानीय मान के क्रम से अभिव्यक्त करने में सफल होने से, पूर्ण हुई। ऋणात्मक अथवा धनात्मक घातांक के उपयोग से संख्या लेखन साक्षेप्यता की ओर अधिक अग्रसर हुई।

नवीन अंक प्रणाली भारत को अमूल्य देन है, यह बतलाते हुए लाप्लास ने नेपोलियन को लिखा है:— "वह देश भारतवर्ष ही है जिसने दस संकेतों से किसी भी संख्या को व्यक्त करने का प्रतिभाशाली आविष्कार किया। यह प्रणाली जिसमें प्रत्येक संकेत निरपेक्ष मान व स्थानीय मान रखता है इतना सुन्दर व महत्वपूर्ण विचार है जिसका हम अंक-प्रणाली व परिगणन की सहजता के कारण मूल्यांकन नहीं कर पाते हैं।" लाप्लास ने अंकगणित को प्रथम श्रेणी के आविष्कारों में प्रतिष्ठित किया है। इसकी महानता को इस बात से भी समझा जा सकता है यदि हम यह स्मरण रखें कि संसार के दो महानतम प्राचीन गणितज्ञ आर्किमिडीज तथा अपोलोनियस इसकी कल्पना भी न कर सके। फ्लोरियन केजोरी ने History of Greek Mathematics में शून्य व स्थानीय मान के पूर्ण विकास के लिए हिन्दुओं के ऋणी बतलाते हुआ कहा है कि "समस्त गणितीय आविष्कार में इस आविष्कार के समान किसी आविष्कार ने मान व प्रतिभा को मुखरित नहीं किया है। जबकि प्राचीन पद्धतियाँ उत्तरमात्र लिपिबद्ध करने में समक्ष थीं वहाँ भारतीय अंक प्रणाली, जिसे भूल से अरबी प्रणाली कह दिया जाता है, हमें परिगणन की अद्भुत क्षमता प्रदान करती है।" लान्सिलोट होगबन यूनानी वर्णाङ्क प्रणाली पर करारी चोट करते हुए Science for Citizens में कहा है कि "हिपार्कस की त्रिकोणमिति व डायोफेन्टस की बीजगणित यूनानी वर्णों की अन्धकार अंक प्रणाली के कारागार में बन्दी पड़ी रही जब कि शून्य व स्थानीय मान पर आधारित हिन्दू अंक प्रणाली ने विज्ञान के विकासोन्मुख विचारों को व्यक्त करने की अपूर्व सामर्थ्य प्रदान की।"

स्थानीय मान का आविष्कार भारत के किस सपूत ने किया और वह किस काल में फला-फूला होगा यह तो भूत के अन्धकारमय गर्भ में छिपा है परन्तु यह निश्चित है कि इतिहास की पृष्ठभूमि में अनुयोगद्वार में प्रदीप्त 'अंक स्थानेहिम' की उल्का द्वारा, प्राप्त हुआ प्रकाश अनन्तकाल तक गणित संसार को सूर्य तरह आलोकित करता रहेगा।

न्यूनतम सौर-हलचल की अवधि में सूर्य सम्बन्धी अध्ययन

डा० हरबर्ट फ्रीडमैन

इस वर्ष न्यूनतम सौर-हलचल का समय जैसे-जैसे अधिकाधिक निकट आता जा रहा है, वैसे-वैसे सूर्य और पृथ्वी के पारस्परिक सम्बन्धों के बारे में नए-नए और दिलचस्प वैज्ञानिक तथ्य प्राप्त हो रहे हैं। इन तथ्यों के फलस्वरूप सूर्य और पृथ्वी के पारस्परिक सम्बन्धों के विदित स्वरूप में निरन्तर परिवर्तन हो रहे हैं।

पृथ्वी के ऊपरी वायुमण्डल में, १०० किलोमीटर से लेकर २०० किलोमीटर की ऊँचाई तक ऊष्मा का प्रसारण इतनी कुशलता से होता है कि ऊँचाई बढ़ने के साथ-साथ वायुमण्डलीय तापमान में कोई परिवर्तन नहीं होता।

दिन में पराबैंगनी किरणों और एक्स किरणों को शोषित करने के फलस्वरूप ही पृथ्वी का ऊपरी वायुमण्डल गर्म होता है। सूर्यास्त होने पर वायुमण्डल का तापमान तेजी के साथ गिरता है और इसी कारण दैनिक तापमानों में काफी उतार-चढ़ाव दृष्टिगोचर होता है। जब सौर-हलचल अपने चरम विन्दु पर होती है, तो पराबैंगनी और एक्स-किरणें इतनी शक्तिशाली होती हैं कि दोपहर को वायुमण्डल का तापमान बढ़कर २,२०० डिग्री कैलविन तक पहुँच जाता है। रात्रि में यही तापमान घट कर १,४०० डिग्री कैलविन रह जाता है।

जैसे-जैसे सौर-हलचल अपने न्यूनतम बिन्दु की ओर अग्रसर होती है, वैसे-वैसे पराबैंगनी और एक्स-किरणों का परिमाण और प्रभाव क्षीण होता जाता है। दिन का तापमान १ हजार डिग्री कैलविन से अधिक नहीं पहुँचता और रात में न्यूनतम तापमान लगभग ६०० डिग्री कैलविन रहता है।

दैनिक तापमानों में यह बड़ा परिवर्तन ऊपरी वायुमण्डल की रचना को बहुत अधिक प्रभावित करता है। सौर-हलचल के चरम सीमा पर पहुँच जाने पर ऊपरी वायुमण्डल कई परतों में बँट जाता है। पहली परत में अक्सिजन की, इसके ऊपर की दूसरी परत में हीलियम की तथा तीसरी परत में, जो कि काफी विस्तृत होती है, हाइड्रोजन की प्रचुरता होती है।

ऊपरी वायुमण्डल में हीलियम की पट्टी की उपस्थिति सर्वप्रथम कई वर्ष पूर्व एक बेल्जियन वैज्ञानिक एम० निकोलेट ने दिखलाई थी। १,५०० किलोमीटर की ऊँचाई पर अमेरिकी संचार उपग्रह पर अधिक खिचाव पड़ने का जो संकेत मिला था, सम्भवतः उसका कारण यह हीलियम-पट्टी ही थी। इसके पूर्व तक वैज्ञानिकों का यह अनुमान था कि पृथ्वी का वायुमण्डल अधिकांशतः हाइड्रोजन से युक्त है। लेकिन, हाइड्रोजन में इतनी घनता नहीं कि 'इको' संचार-उपग्रह पर उल्लिखित अतिरिक्त खिचाव डाल सके। १९६२ में प्रक्षिप्त ब्रिटिश उपग्रह 'एरियल' ने दिन में पृथ्वी से ९०० मील की ऊँचाई पर तथा रात्रि में पृथ्वी से ६५० मील की ऊँचाई पर हीलियम की विद्यमानता की सूचना दी।

जैसे ही परावैंगनी किरणों और एक्स-किरणों के परिमाण में कमी होती है, वायुमण्डल ठण्डा होकर संकुचित हो जाता है, हाइड्रोजन का प्रवाह बहुत धीमा हो जाता है और वह ऊपरी वायुमण्डल में घनीभूत हो जाता है। सौर-हलचल की चरम अवस्था में इसी हाइड्रोजन का प्रवाह बहुत तेज गति ग्रहण कर लेता है। परिणामतः तापमान घटने पर हीलियम की तुलना

में हाइड्रोजन का अनुपात काफी बढ़ जाता है। अभी हाल में 'नेवल रिसर्च लेबोरेटरीज' के डा० जोन एच० हौफमैन ने यह ज्ञात किया कि हीलियम-अयन की पट्टी वस्तुतः लुप्त ही हो गई थी।

उपग्रह-वेधशालाओं के विकास के फलस्वरूप अब हमें सूर्य में होने वाली एक्स-रे हलचलों के बारे में आँकड़े प्राप्त होने लगे हैं। १९६० में उपग्रह ट्रांजिट दो-ए के साथ प्रक्षिप्त किए गए 'सोलर रेडिएशन-१' अन्तरिक्षावाहन ने इस प्रकार की एक्स-रे हलचलों के लगभग सौ नमूने एकत्रित किए थे। इनमें से २०% हलचलों के उपरान्त कोई उल्लेखनीय परिवर्तन दृष्टिगोचर नहीं हुआ, लेकिन शेष ५० प्रतिशत हलचलें विभिन्न आकार और शक्ति के सौर-विस्फोटों से सम्बद्ध थीं।

बड़े सौर-विस्फोटों के दौरान में सूर्य से रेडियो-ध्वनियों का निस्सरण हुआ। ये रेडियो-ध्वनियाँ सूक्ष्म तरंगों से लेकर मोटर तरंग तक के द्वारा स्पष्ट रूप से ग्रहण की गईं। आवृति के स्वरूपों में लक्षित इन परिवर्तनों का सम्बन्ध अत्यन्त प्रचण्ड गतिवाले इलेक्ट्रोनों के विस्फोट एवं अनिल मण्डल में निहित गैस में उत्पन्न आघात-तरंगों (आकस्मिक प्रचण्ड विस्फोट से उत्पन्न तरंगें) से हो सकता है।

पृथ्वी को चारों ओर से घेरे हुए 'वान एलन विकिरण पट्टी' में फँसे हुए अत्यधिक प्रचण्ड शक्ति वाले इलेक्ट्रान पृथ्वी के वायुमण्डल से टकराने पर एक्स-किरणों का सृजन करते हैं। भविष्य में उपग्रहों के द्वारा किए जाने वाले परीक्षणों में इस बात का पता लगाने का प्रयास किया जाएगा कि सौर-विस्फोटों के उपरान्त भी क्या इसी प्रकार की प्रक्रिया की पुनरावृत्ति होती है ? सौर-एक्स-रे की मापों द्वारा सौर-हलचल द्वारा प्रभावित क्षेत्रों में विद्यमान चुम्बकीय क्षेत्रों के आकार, अस्तित्व-काल, शक्ति और प्रक्रिया के स्वरूप के बारे में जानकारी प्राप्त हो सकती है। सूर्य के किसी भाग में हलचल बढ़ने पर उससे निःसृत एक्स-किरणों का विस्तार इतनी तेजी से होता है कि उसको बहुत जल्दी पकड़ा जा सकता है। अतः वैज्ञानिक इसे एक अत्यन्त सम्वेदनशील प्रक्रिया मानते हैं।

उपग्रहों द्वारा एक्स-किरणों की निरन्तर माप करके उससे कहीं अधिक सही और उत्तम भविष्यवाणी की जा सकती है, जो भूमि स्थित यन्त्रों के द्वारा निरीक्षण करके सम्भव हो सकती है। कुछ वर्ष पूर्व, सूर्य का अध्ययन करने वाले वैज्ञानिकों ने 'सूर्य' का एक 'सैद्धान्तिक नमूना' बनाया था, जिसमें सूर्य के बाहरी वायुमण्डल को गैसों की तीन वृत्ताकार परतों—फोटोस्फियर, क्रोमोस्फियर और कोरोना—से युक्त दिखाया गया था।

फोटोस्फियर, अथवा दृष्टिगोचर प्रकाश-पुंज, सबसे पहली परत बताई गई थी। यह परत केवल कुछ सौ किलोमीटर मोटी है तथा इसका तापमान अपने आधार पर—६ हजार डिग्री तक है। दूसरी परत क्रोमोस्फियर की है, जो सम्भवतः १० हजार से लेकर २० हजार किलोमीटर तक मोटी है। इस परत का तापमान ४ हजार कैलविन से प्रारम्भ होता है और कोरोना-परत (सूर्य का अनिलमण्डल) के निकट पहुँचते-पहुँचते १० लाख डिग्री तक पहुँच जाता है। तीसरी परत, कौरौना (अनिलमण्डल) जो केवल सूर्य ग्रहण के समय दृष्टिगोचर होता है, पतली और अत्यन्त गरम गैस का झीना वृत्ताकार आवरण होता है जो सूर्य की डिस्क से लाखों किलोमीटर की ऊँचाई तक पहुँचता है।

सौर-वायुमण्डल का नवीनतम चित्र इससे सर्वथा भिन्न है। यह चित्र अन्तरिक्ष-अनुसंधान तथा भूमि से किए गए निरीक्षणों पर आधारित है। इसके अनुसार क्रोमोस्फियर और कोरोना का स्वरूप वृत्ताकार नहीं। इसके विपरीत 'क्रोमोस्फियर' से गैस के फव्वारे छूटते रहते हैं जो आधार पर कई सौ किलोमीटर चौड़े होते हैं तथा १० हजार किलोमीटर तक की ऊँचाई तक पहुँचते हैं। किसी भी क्षण इस प्रकार के १ लाख फव्वारे क्रोमोस्स्फियर पर छूट रहे होते हैं। इन फव्वारों के बीच में सूर्य के अनिलमण्डल (कोरोना) की ऊँचाई

फोटोस्फियर से केवल २ हजार मील तक रहती है। कोरोना का निर्माण १० लाख के तापमान वाले अयनों और इलेक्ट्रोन-कणों के पुंज से होता है और यही एक्स-किरणों का स्रोत है।

तीन वर्ष पूर्व राकेट में सन्नद्ध एक कैमरे के द्वारा सूर्य का पहला एक्स-रे चित्र प्राप्त किया गया था। इस चित्र से कोरोना में कुछ अत्यधिक सघन स्थानों की उपस्थिति का पता चला था तथा यह भी मालूम हुआ था कि कोरोना (अनिलमण्डल) का लगभग समस्त तत्व-पुंज सम्पूर्ण कोरोना के केवल एक छोटे से भाग में केन्द्रित था।

नेवल रिसर्च लेबोटरीज के वैज्ञानिक श्री रिचर्ड एल० ब्लैक द्वारा हाल में किए गए राकेट-परीक्षण के फलस्वरूप सूर्य के नए एक्स-रे चित्र प्राप्त हुए हैं, जिनमें भी अपेक्षाकृत शान्त सूर्य को इस अवधि में इसी प्रकार की विशेषताएँ दृष्टिगोचर हुई हैं। राकेट में आरूढ एक 'स्लिट-टेलिस्कोप' द्वारा कोरोना के एक्स-रे सक्रिय सघन भागों का निरीक्षण किया गया। इस निरीक्षण के फलस्वरूप जो चित्र प्राप्त हुआ है, वह अत्यन्त जटिल एवं सूक्ष्म है। १० लाख डिग्री या इसके अधिक के तापमान वाली एक्स-किरणों के स्रोत काफी विस्तृत दायरे में स्थित छोटे-छोटे स्थानों पर केन्द्रित थे।

कोरोना में विद्यमान समस्त गैस अपने प्रचण्ड तापमान के कारण अत्यन्त अयनयुक्त है। उदाहरणार्थ, कोरोना के स्पेक्ट्रम में लोहे के ऐसे अयन दृष्टिगोचर होते हैं, जिनके २६ इलेक्ट्रोनों में से १५ इलेक्ट्रोन गर्म गैस में होने वाली प्रचण्ड टक्करों के फलस्वरूप नष्ट हो गए हैं। राकेट-परीक्षणों से जो पराबैंगनी स्पेक्ट्रा प्राप्त हुए हैं, उनमें अनेक अयनों के प्रचुर परिमाण में विद्यमान होने का पता चलता है। इससे हमें क्रोमोस्फियर और कोरोना में तापमानों का निर्धारण करने में मदद मिलती है।

सूर्य से नि:सृत होने वाली रेडियो सूक्ष्म तरंगों और एक्स-किरणों की तीव्रता इलेक्ट्रोनों की घनता पर निर्भर करती है। यह पता चला है कि १९५४ और १९५७ के मध्य सूक्ष्म तरंगों की तीव्रता में ६ गुनी वृद्धि हुई है। इन्हीं तीन वर्षों में 'एक्स-रे' किरणों की तीव्रता में हुई ७ गुनी वृद्धि से इलेक्ट्रान घनता में बृद्धि होने का संकेत मिलता है। कोरोना (अनिलमण्डल) का वास्तविक तापमान आज भी विवाद का विषय है। तापमान पता लगाने की एक विधि द्वारा कोरोना का जो तापमान प्राप्त किया गया है वह ३० लाख डिग्री केलविन से भी अधिक है।

●●

सागरीय सभ्यता

डा० शिवगोपाल मिश्र

सभ्यता के विकास में सागरों का महत्वपूर्ण हाथ रहा है। पुराणों में 'समुद्र मंथन' का उल्लेख आता है जिसमें १४ रत्नों की उत्पत्ति सागर से ही मानी गई है। देशों के बीच आवागमन के साधन भी सागर ही रहे हैं। 'नई दुनिया' की खोज साहसिक समुद्री यात्रा का ही परिणाम है। यही नहीं, अब तो उन्नत से उन्नत राष्ट्रों की यही धारणा बनने लगी है कि भविष्य में सागर हमारी सभ्यता के अविभाज्य अङ्ग बन जावेंगे और इस नाभिकीय सभ्यता या युग के पश्चात् सागरीय सभ्यता का ही विकास होगा। किन्हीं अर्थों में यह प्रागुक्ति सच जान पड़ती है। उदाहरणार्थ, आज की सामाजिक एवं प्रौद्योगिक क्रान्तियों को ध्यान में रखते हुए यह प्रतीत होता है कि यदि भविष्य में हमें सुख और शान्ति कहीं मिल सकती है तो वह सागरों में ही। आज का युग जिन सुख-साधनों की खोज में लगा है उनके नाम इस प्रकार हैं : सुरक्षा आवास, जल, जलवायु, प्राप्ति के साधन, उद्योग तथा ज्ञान। यदि ध्यान पूर्वक देखा जाय तो इन सातों की पूर्ति सागरों द्वारा सम्भव है।

सुरक्षा की खोज

नित्यप्रति परमाणु बमों तथा नाभिकीय शस्त्रास्त्रों के नव-नव निर्माण एवं उनके प्रयोगों के कारण राष्ट्रीय सुरक्षा की समस्या गम्भीर बनती जा रही है। यदि एक ओर अन्तरिक्ष को भेदने वाले भयंकर अस्त्र हैं तो दूसरी ओर समुद्र के भी गर्भ को विलोडित करने वाले विविध जल-यान बन चुके हैं। फिर भी सुरक्षा की दृष्टि से सैनिक संगठन को सागरीय क्षेत्रों में ही सुदृढ़ बनाया जा सकता है। मिसाइलों के सूत्र-पात के साथ-साथ स्थल-सुरक्षा के समस्त साधन निष्फल सिद्ध हो चुके हैं जब कि इस दिशा में सागर अब भी दुर्गम एवं अपराजेय सिद्ध हो सकते हैं। पोलैरिस का निर्माण यह इंगित करता है कि भविष्य में युद्ध के स्थल पृथ्वी में न होकर जल में होंगे। साथ ही कोई भी राष्ट्र यह नहीं चाहेगा कि उसकी भूमि में नाभिकीय युद्धास्त्रों के अड्डे रहें। वह उन्हें या तो अन्तरिक्ष अथवा समुद्र में स्थानान्तरित करना चाहेगा। इस दृष्टि से जल-सेना एवं जल से छोड़े जाने वाले अस्त्रों का प्रयोग बढ़ेगा। तब सागर ही इसके लिए उपयुक्त रणक्षेत्र सिद्ध होंगे।

आवास की समस्या

जिस गति से जनसंख्या बढ़ रही है, इसको देखते हुए यह कहना पड़ता है कि भविष्य में न केवल भोजन समस्या उग्ररूप धारण कर सकती है वरन् आवास समस्या भी। इस आवास समस्या को हल करना ही होगा क्योंकि रहने के स्थान के अभाव में नाना प्रकार के रोगों के होने अथवा औद्योगिक उन्नति के कारण मनुष्य को धुआँ, शोर आदि का शिकार होना पड़ेगा। आखिर मनुष्य चींटियाँ नहीं हैं। उन्हें रहने के लिए स्थान चाहिए। स्थान की खोज के हेतु वैज्ञानिक तत्पर हैं। वे चन्द्र और मंगल ग्रहों की यात्राओं की तैयारियाँ कर रहे हैं किन्तु इसके पूर्व कि पृथ्वी का मानव वहाँ सुख-सुपास का अनुभव कर सके, काफी शोधें होनी हैं। तब तक हमें समुद्रों की शरण में जाना होगा। निस्संदेह समुद्रों के रास्तों से होकर उन

महाद्वीपों या द्वीपों में जन-संख्या को भेजना होगा जहाँ आबादी कम है यथा आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैंड, कनाडा या दक्षिणी अमेरिका। इसके लिए यातायात के साधनों में विकास करना होगा। यद्यपि वायु मार्ग द्वारा एक द्वीप से दूसरे द्वीप तक मनुष्यों को सरलता से पहुँचाया जा सकता है किन्तु वायुमार्ग अभी ही काफी व्यस्त बन चुका है फलतः जल मार्ग द्वारा ही स्थानान्तरण का कार्य सम्पन्न कराना सरल होगा। इससे स्पष्ट है कि भविष्य में नवीन प्रकार के जलयान एवं नूतन समुद्री विद्या की आवश्यकता होगी। सम्भव है कि हवा में उड़ने वाली मोटर इस कार्य के लिए प्रयुक्त हो सके। यही नहीं 'इंधन-सेल' के विकास एवं नमकीन जल को मीठे जल में परिणत किये जाने की सफल योजनाओं के साथ ही साथ उन अनेक द्वीपों में रहना सुकर हो सकेगा जो अभी तक वीरान रहे हैं।

जल की खोज

रेगिस्तानों में जल की समस्या विकट रूप धारण किये है। अमरीका के कुछ क्षेत्रों में मीठा जल उपलब्ध ही नहीं हो पाता फलतः वैज्ञानिकों ने खारी पानी को मीठे पानी में परिवर्तित करने की अनेक विधियाँ ढूंढ़ निकाली हैं। इतने पर भी यह अनुमान लगाया जाता है कि भविष्य में मीठे जल की समस्या उग्र से उग्रतर रूप धारण करती जावेगी। हालैंड, स्पेन, इटली, दक्षिणी अफ्रीका, इजरायल तथा भारत भी इसी समस्या से ग्रस्त हैं। जल कितना आवश्यक है, कहने की बात नहीं। क्या पीने के लिए, क्या कपड़े धोने के लिए, क्या सिंचाई के लिए—पानी अत्यावश्यक है। जनसंख्या में वृद्धि होने के साथ-साथ जल की पूर्ति घटती ही जावेगी और औद्योगिक उन्नयन के साथ ही जल का अधिकाधिक संदूषण भी होता रहेगा। यह भी अनुमान लगाया जाता है कि १९७३ के पश्चात् शुष्क काल प्रारम्भ होगा और यदि यह मान लिया जाय कि जनसंख्या की वृद्धि के साथ ही साथ रहन-सहन के स्तर को न गिरने दिया गया तो यह आवश्यक हो जाता है कि अधिकाधिक मीठे जल की पूर्ति का प्रबन्ध किया जाय। यह केवल एक ही उपाय द्वारा सम्भव है और वह है सागरों के खारी जल को मीठा बना करके।

खारी जल को मीठे जल में परिवर्तित करने की घटना कोई नूतन न होगी क्योंकि बहुत पहले से नाविक लोग अपने पीने भर के लिए मीठा जल तैयार करते रहे हैं। किन्तु करोड़ों लोगों के उपयोग के लिए मीठे जल की तैयारी पूर्व-योजना की अपेक्षा रखने के साथ ही काफी धन व्यय किये जाने की माँग करती है। अमरीका में खारे पानी को मीठे जल में परिवर्तित करने में प्रति एक हजार गैलन पर १$\frac{3}{4}$ से ४ डालर खर्च पड़ता है जब कि म्यूनिसपैलिटियों द्वारा उतने ही मीठे जल की पूर्ति ३५-४० सेण्ट में की जाती है। अतः जब प्रति गैलन मीठे पानी का खर्च काफी घट जावेगा तभी उसे सरलता से प्रयुक्त किया जा सकता है।

जलवायु

जलवायु पर समुद्रों का गहरा असर है। समुद्र ही बादलों को उत्पन्न करके वर्षा कराते हैं। उचित वर्षा के न होने से भूमि में वायुक्षरण प्रारम्भ हो जाता है जिसके कारण सारी भूमि धूलि के रूप में उड़कर आकाश में बादल बन कर छाने लगती है। दूसरी ओर यदि वर्षा अधिक हुई तो भूमि पर पानी ही पानी भरा रहता है। नदियों में बाढ़ें आ जाती हैं। बाढ़ें और क्षरण—इन दोनों का नियन्त्रण वायु तथा वर्षा के समुचित अध्ययन द्वारा ही सम्भव है। इसके लिए हमें समुद्री विज्ञान को विकसित करना होगा। यह कार्य खारे जल से मीठा जल प्राप्त करने से कहीं अधिक कठिन है। फिर भी अमरीका में वैज्ञानिकों ने इस दिशा में कार्य करना प्रारम्भ कर दिया है।

आशा है कि ऋतु विज्ञान में समुद्रों के महत्व को समुचित स्थान प्रदान करके भविष्य में जलवायु पर नियन्त्रण प्राप्त किया जा सकेगा।

साधन स्रोतों की खोज

भविष्य में हमें जिन सामग्रियों की आवश्यकता होगी उन्हें हम जैवकीय, खनिज तथा ऊर्जा सम्बन्धी इन तीन विभागों में बाँट सकते हैं। इन तीनों की पूर्ति सागरों द्वारा सम्भव है। आज तक यह सोचा भी नहीं गया कि समुद्र भी अक्षय स्रोत हैं मानवीय आवश्यकताओं के। समुद्रों से हमें अक्षय खाद्य सामग्री प्राप्त हो सकती है। उनमें नाना प्रकार के जीव एवं वनस्पतियाँ पाई जाती हैं। उदाहरणार्थ समुद्रों से खाने योग्य हजारों किस्म की मछलियाँ पकड़ी जा सकती हैं।

समुद्रों के धरातल तो मानों खनिजों के अक्षय भण्डार हों। यह पता लगाया जा चुका है कि समुद्री सतहों से मैंगनीज, कोबाल्ट, निकेल, लोह तथा ताम्र-धातुयें प्राप्त की जा सकती हैं किन्तु उनके धरातल से भी अधिक धनी स्रोत है समुद्री जल। उसमें ४१ तत्व पाये जाते हैं। इनमें से कुछ तो अत्यधिक मात्रा में वर्तमान हैं यथा—मैगनीशियम, गंधक, कैलसियम, पोटैशियम, ब्रोमीन, कार्बन, बोरान, सिलिकान तथा फ्लोरीन। कुछ तत्व कम मात्रा में पाये जाते हैं किन्तु आजकल वे अत्यन्त महत्वपूर्ण सिद्ध हो रहे हैं यथा – सीजियम, यूरैनियम, मालिब्डनम। अभी तक समुद्रों स केवल ब्रोमीन तथा मैगनीशियम का ही दोहन सम्भव हो सका है। किन्तु यह ज्ञात हो जाने पर कि समुद्रों में अनेक तत्व सन्निहित हैं उनका दोहन क्रमशः सम्भव हो सकेगा। यही नहीं, समुद्र अनन्त ऊर्जा के भी स्रोत सिद्ध हो सकते हैं। समुद्री जल स्वयं एक महत्वपूर्ण पदार्थ है। इससे नाभिकीय प्रक्रियाओं के लिए 'भारी हाइड्रोजन' उपलब्ध किया जाता है। समुद्रों में उठने वाले ज्वार-भाटा से भी ऊर्जा प्राप्त करके छोटी-छोटी पनचक्कियाँ चलाई जा सकती हैं।

उद्योगों की दिशा में

नित प्रति नये-नये उद्योगों का जन्म होता रहता है किन्तु उनके लिए कोई न कोई आधार चाहिए। समुद्रों के द्वारा न जाने कितने उद्योगों का सूत्रपात हो सकता है और न जाने कितने उद्योगों को जीवन-दान मिल सकता है। समुद्रों के भीतर केबिल बिछाने, पाइपलाइन बनाने, सुरंगे खोदने, या उत्खनन के कार्य सहज ही प्रारम्भ किये जा सकते हैं। उद्योगों से बचे उच्छिष्ट पदार्थों को समुद्र में डालने की प्रथा पुरानी है। अवांछित अनेकानेक रेडियो-धर्मी पदार्थों को बिना किसी भय के समुद्र में प्रवाहित किया जा सकता है किन्तु अत्यन्त घातक अवशेषों का भण्डारन सतर्कता सहित करना होगा। इसके लिए समुद्र के गर्भ में इन अवशेषों के साथ होने वाली प्रतिक्रिया का पूर्वअध्ययन आवश्यक होगा जिससे कि अधिक काल तक समुद्री जल विकिरणों से संदूषित न रह सके।

फिर भी, समुद्र में ऐसी सामग्रियों का भण्डारन तो हो ही सकता है जिन्हें शीतल, स्थायी ताप तथा आक्सीजन-विहीन वातावरण की आवश्यकता हो। ज्यों-ज्यों भूमि की कमी होती जावेगी, स्थल पर ऐसे आगारों का निर्माण कठिन होता जावेगा। तब सम्भव है कि विभिन्न सरकारें अपने समुद्रों के कुछ भागों को भण्डारों में परिवर्तित कर दें। समुद्री जल के यथासम्भव उपयोग द्वारा जलीय कृषि (हाइड्रोपानिक्स) का विकास भी सोचा जा रहा है। जैसे-जैसे समुद्रों के विषय में ज्ञान बढ़ता जावेगा, वैसे-वैसे सम्बन्धित उद्योगों में भी वृद्धि होती जावेगी।

ज्ञान पिपासा का शमन

लोगों का अभिमत है कि जिस प्रकार पृथ्वी के

सम्बन्ध में अधिकाधिक ज्ञान प्राप्त करने के लिए अन्तरिक्ष विज्ञान अथवा अन्य ग्रहों की यात्रायें सहायक सिद्ध हो रही हैं, ठीक उसी प्रकार समुद्री ज्ञान से लाभ उठाया जा सकता है क्योंकि पृथ्वी की सतह के ७१% में समुद्र ही समुद्र हैं। पृथ्वी की आन्तरिक रचना को समझने के लिए अमरीका की 'मोहोल' योजना अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इसके अन्तर्गत समुद्र की तलेटी से नीचे छेद करके पृथ्वी की जानकारी उपलब्ध की जावेगी। समुद्र के भीतर से होकर पृथ्वी के गर्भ में पहुँचने के प्रयत्न इसलिये किये जा रहे हैं कि इस प्रकार से लगभग १५००० फुट कम खुदाई करनी होगी।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट होने लगता है कि आगामी युग समुद्रों का युग होगा और जो सभ्यता विकसित होगी उसके लिए 'सागरीय सभ्यता' या 'समुद्री सभ्यता' ही उपयुक्त शब्द होंगे।

परमाणु-घड़ी

कृष्ण बिहारी पाण्डेय

परमाणु-घड़ी किसी घड़ी का व्यावसायिक नाम नहीं है और न ही यह कोई ऐसी घड़ी है जो परमाणु शक्ति द्वारा चलायी जाती है, अपितु यह एक आयु-मापक विधि है जिसके द्वारा पचीस हजार वर्ष तक के पुराने कार्बनिक पदार्थों की आयु ज्ञात की जा सकती है। इस आयु-मापक विधि का आविष्कार अमेरिका के महान् रसायन-वेत्ता डा० लिब्बी ने किया है और इसी महान कार्य के लिए उन्हें १९६० के लिए विज्ञान में नोबुल पुरस्कार प्रदान किया गया है। इसी विधि का प्रयोग करके आज विश्व के कोने-कोने में वैज्ञानिक अनेक प्राचीन ध्वंसावशेषों, खनिजों तथा प्रागैतिहासिक वनस्पति एवं जीव-अवशेषों की आयु ज्ञात करने में समर्थ हुए हैं।

परमाणु घड़ी के कार्य-करण सिद्धान्त का अध्ययन हम निम्न तीन शीर्षकों द्वारा कर सकते हैं :—

(१) ऊपरी वायुमंडल में ब्रह्माण्ड (cosmic) किरणों की क्रियाशीलता के फलस्वरूप रेडियोकार्बन का उत्पादन :—बाह्याकाश से वायुमण्डल पर गिरती हुई कास्मिक किरणें न्यूट्रान उत्पन्न करती हैं। ये न्यूट्रान वायुमण्डल में उपस्थित नाइट्रोजन से टकराते हैं, जिसके परिणामस्वरूप रेडियो सक्रिय कार्बन या रेडियो कार्बन का निर्माण होता है।

(२) वनस्पतियों द्वारा रेडियो कार्बन का शोषण

उपर्युक्त रेडियो कार्बन आक्सीजन से संयोग करके रेडियो सक्रिय कार्बन डाइ आक्साइड बनाता है जो वायुमण्डल में उपस्थित सामान्य कार्बन-डाइ-आक्साइड से मिश्रित हो जाती है। चूंकि धरती का सम्पूर्ण वनस्पति जगत कार्बन-डाइ-आक्साइड का शोषण करता है अतः उसके द्वारा साधारण कार्बन के साथ अवश्य ही रेडियो कार्बन की भी एक निश्चित मात्रा शोषित होती है।

(३) रेडियो सक्रिय कार्बन के आधार पर आयु निर्धारण: - जिस कार्बनिक पदार्थ की आयु ज्ञात करनी होती है, सर्वप्रथम हम उसमें साधारण कार्बन तथा रेडियोसक्रिय कार्बन का अनुपात ज्ञात कर लेते हैं। तत्पश्चात् किसी सद्यः पतित कार्बनिक पदार्थ में साधारण कार्बन तथा रेडियो सक्रिय कार्बन का अनुपात ज्ञात करते हैं। इन दो अनुपातों के आधार पर हम यह ज्ञात कर सकते हैं कि इस कार्बनिक पदार्थ की निश्चित मात्रा में सद्यःपतित अवस्था (अर्थात् जब से इसने कार्बन डाइ आक्साइड का शोषण बन्द किया) में रेडियोकार्बन की मात्रा कितनी थी और इस समय उसमें कितना रेडियो कार्बन उपस्थित है। अब हम निम्नलिखित सूत्र द्वारा आयु निर्धारण कर सकते हैं।

$$N = N_0 e^{-yt}$$

जहाँ N_0 = सद्यःपतित अवस्था में रेडियो कार्बन के परमाणुओं की संख्या।

N = इस समय उपस्थित रेडियो कार्बन के परमाणुओं की संख्या।

t = पदार्थ की आयु (सेकेण्डों में)

तथा y है रेडियो कार्बन का क्षय-स्थिराङ्क, जिसका मान डा० लिब्बी ने ज्ञात किया है।

डा० लिब्बी ने अपनी परिकल्पना की सत्यता की जाँच ऐसी वस्तुओं का प्रयोग करके किया जिनकी आयु ऐतिहासिक विधि द्वारा पूर्णतया निर्धारित हो चुकी थी। इस संसर्ग में उन्होंने शिकागो संग्रहालय द्वारा प्रदत्त मिश्र के फरौह सिसोस्ट्रिस तृतीय (Pharaoh Sesostris III) की शव-नौका के एक टुकड़े की आयु ज्ञात की।

इस काष्ठ-खंड को एक विद्युत् भट्ठी द्वारा काष्ठ-कोल में परिणत किया गया, फिर इस काष्ठकोल को चूर्ण करके गाइगर गणक द्वारा इसकी रेडियो सक्रियता को नापा गया और इस प्रकार इसकी आयु ३६२१ वर्ष निर्धारित की गई जब कि इसकी वास्तविक आयु ३७५० वर्ष थी।

डा० लिब्बी एवं उनके सहयोगियों ने अपनी इस विधि का प्रयोग करके अनेक महत्वपूर्ण तिथियों का स्पष्टीकरण किया है। इस प्रकार उन्होंने यह ज्ञात किया है कि उत्तरी अमेरिका का हिम युग २५००० वर्ष पूर्व नहीं अपितु १०००० वर्ष पूर्व है।

परमाणु घड़ी डा० लिब्बी द्वारा विज्ञान को एक महान् देन है। इसके द्वारा भूगर्भ शास्त्र, पुरातत्त्व विज्ञान, प्राणि शास्त्र तथा वनस्पति शास्त्र पर अद्भुत प्रकाश पड़ा है।

●●

नेहरू विश्वविद्यालय

यह निश्चय किया गया है कि दिल्ली में खुलने वाला नवीन विश्वविद्यालय देश के दिवंगत नायक पं० जवाहरलाल नेहरू के नाम पर होगा। सभी विज्ञान-प्रेमी इस कार्य की प्रशंसा किए बिना न रहेंगे।

कास्मिक धूलकण

रमाशंकर दीक्षित 'सरोज'

'कास्मिक' या 'ब्रह्मांड-धूलकणों' की खोज बिलकुल ही नयी है। कुछ वर्ष पूर्व यह माना जाता था कि आँखों से दिखाई देने वाले व्योम के पीछे का सम्पूर्ण आकाश पूरी तरह से शून्य और खाली है, पर आज पृथ्वी पर दिन-प्रति-दिन गिरने वाले पुच्छल तारों या उल्काओं से यह प्रमाणित हो गया है कि, जिसे हम शून्याकाश समझते आये हैं, उसमें विभिन्न पदार्थ बराबर इधर से उधर आ जा रहे हैं। शून्य आकाश में विचरण करने वाले इन पदार्थों में कुछ धातुधारी हैं, कुछ पाषाणधारी, जिनमें से कुछ पिन की घुंडी-जितने छोटे और कुछ सैकड़ों मन के। इनमें से करोड़ों पृथ्वी पर नित्य प्रति टकराते हैं; किन्तु इन पाषाण और धातुकणों में से अधिकांश उस समय धूलकणों में परिवर्तित हो जाते हैं जब वे पृथ्वी के वातावरण में प्रवेश करते हैं। बात यह है कि पृथ्वी के वातावरण में प्रवेश करने पर उन्हें वातावरण का विरोध करना पड़ता है जिससे उनका घर्षण होता है। इस क्रिया से ताप पैदा होता है, जो उन्हें इतना अधिक गरम कर देता है कि वे धूलकणों में बदल जाते हैं। इस प्रकार से हम देखते हैं कि वे अपने प्राकृतिक रूप में पृथ्वी के धरातल तक नहीं पहुँच पाते।

धूलकणों के गिरने की मात्रा

शून्य आकाश से 'कास्मिक' या 'ब्रह्मांड धूलकण' बहुत बड़ी मात्रा में पृथ्वी पर निरन्तर गिरते हैं जिससे पृथ्वी का आकार और वजन बराबर बढ़ता है। यह एक निरन्तर होने वाली प्रक्रिया है जो आज भी हो रही है और संभवतः आगे भी होती रहेगी। ऐसा अनुमान लगाया गया है कि प्रतिदिन लगभग १७ लाख मन 'ब्रह्मांड' धूलकण पृथ्वी के वातावरण में समा जाते हैं। इस प्रकार एक वर्ष में पृथ्वी का भार ५ करोड़ ६० लाख मन बढ़ जाता है। यद्यपि देखने में यह एक बहुत बड़ी-सी मात्रा लगती है, किन्तु पृथ्वी का आकार भी बहुत बड़ा है। यदि गणना की जाय तो पता चलेगा कि एक वर्ष में पृथ्वी के एक वर्गमील में केवल ११ सेर ब्रह्मांड-धूलकण जमा हो पायी है— एक एकड़ में सवा तोले से कुछ अधिक। यही कारण है कि हम इसी पृथ्वी पर रहते हुए भी यह नहीं जान पाते हैं कि बाहर आकाश से पृथ्वी के वातावरण में प्रतिदिन ही इतनी अधिक मात्रा में धूल कण आकर जमा हो रहे हैं।

धूलकणों के आकार

आयोवा-विश्वविद्यालय के प्रोफेसर वारेन जे० थामसन कई वर्षों से इन धूलकणों के संबन्ध में शोध कर रहे हैं। उन्होंने अमेरिका के अनेक बड़े खलिहानों को अपने परीक्षण के लिए चुना और बड़े-बड़े फार्मों पर सन् १९५२ में कई महीनों तक शून्याकाश के पथ-यात्री इन धूलकणों को एकत्र करने का काम करते रहे। उन्होंने इन एकत्रित किये हुए धूलकण को बहुत सावधानी के साथ तौला और अणुवीक्षण-यंत्र के द्वारा बहुत बारीकी के साथ उनका अध्ययन किया। यह कम आश्चर्य की बात न थी कि इन धूलकणों के आकार पृथ्वी में उत्पन्न और इसके वातावरण में पाये जाने वाले धूलकणों के

आकार से सर्वथा विपरीत थे। ये ब्रह्मांड-धूलकण देखने में काफी छोटे और गोलाई लिये हुए थे। इनका व्यास एक मिलीमीटर के दसवें भाग से लेकर सौवें भाग तक पाया गया। अधिकांश धूलकणों में चुम्बकीय गुण था और जब इनका विश्लेषण किया गया तो ये लाहे, सिलकन और आक्सीजन तत्वों से निर्मित प्रमाणित हुए।

पृथ्वी के जन्म के विषय में एक नयी विचारधारा

ब्रह्मांड-धूलकणों की खोज ने बहुत सी रहस्य की गाँठे खोल दी हैं। ज्योतिष-शास्त्र के ज्ञाता यह बहुत पहले से ही जानते हैं कि जहाँ आकाश में अनेक प्रकाशमान तारे हैं, वहीं कुछ ऐसे स्थल भी हैं, जो पूरी तरह अंधकार के आवरण से ढके हैं। इस प्रकार के अन्धकार युक्त के स्थल आकाश-गंगा में भी बहुत बड़ी संख्या में हैं। पहले तो इन अंधकार-स्थलों को 'अंधे तारे' समझा जाता था, (अर्थात् वे तारे, जो प्रकाशमान नहीं थे) परन्तु हाल की खोजों से यह बात गलत सिद्ध हुई है। आकाश में पाये जाने वाले ये अंधकार-स्थल ऐसी शीतल गैसों और धूलकणों की अंधेरे स्थल इसलिए अंधे लगते हैं कि उन सितारों का प्रकाश, जो इन अंधेरे स्थलों के पीछे हैं, इन्हें पार करके बाहर नहीं निकल पाता अर्थात् ये स्थल पार-दर्शक-स्थल नही हैं। ऐसा अनुमान किया जाता है कि ये स्थल ऐसी शीतल गैसों और धूलि कणों की मात्राएँ हैं, जो अभी तक अपने को प्रकाशमान सितारों के रूप में परिवर्तित नहीं कर सकी हैं। अब यह तथ्य भी लगभग प्रमाणित हो गया है कि, सारे ब्रह्मांड में इन शीतल गैसों और धूलकणों के बादलों के रूप में इतना पदार्थ फैला हुआ है जितना कि सारे ब्रह्मांड के सितारे। इस तथ्य के वैज्ञानिकों को पृथ्वी के जन्म के विषय में एक नयी विचारधारा मिली है और इसने पृथ्वी, ग्रहों यहाँ तक कि, सूर्य के जन्म के सिद्धान्त को भी नया दर्शन दिया है।

बहुत समय पहले यह सोचा जाता था कि प्रारम्भ में सूर्य बना और इसके बनने के पश्चात्, जब अकस्मात् कोई बड़ा सितारा उसके पड़ोस से होकर निकला, तो उसके आकर्षण के कारण सूर्य के पिघले धरातल में बड़े जोरों की एक लहर उत्पन्न हुई। यह लहर इतनी ऊँची और इतनी वृहत् थी कि, इसके उठने के साथ-साथ इससे बड़े-बड़े टुकड़े छिटक कर दूर आकाश में जा पड़े और वे सूर्य के चारों ओर घूमने लगे। यही टुकड़े आज के सूर्य मंडल ग्रह कहलाते हैं। इससे स्पष्ट है कि जितने भी सूर्य-मंडल के ग्रह हैं, वे सब आयु में सूर्य से कम उम्र के हैं। किन्तु ज्योतिष-शास्त्र और रसायन शास्त्र ये आधुनिक अध्ययनों के फलस्वरूप जो चकित देनेवालो खोजें हुई हैं, उनके अनुसार पृथ्वी और सूर्य की आयु लगभग बराबर है। सागरों और चट्टानों का ऐतिहासिक अध्ययन विशेष रूप से पृथ्वी में पाये गये तेजोद्गार पदार्थों के अध्ययन से यह ज्ञात हुआ है कि पृथ्वी लगभग २०० करोड़ वर्ष पहले बनी थी और सूर्य की आयु भी इतनी ही है। इन तथ्यों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि, पृथ्वी सूर्य के बाद नहीं बनी और न यह आयु में अपने से बड़े सूर्य से पैदा हो हुई है। ब्रह्मांड-धूलकणों की गवेषणा ने रहस्य की गाँठ खोल दी है। बहुत से ज्योतिर्विज्ञ अब इस बात पर विश्वास करने लगे हैं कि सूर्य और उसके ग्रह—अर्थात् पृथ्वी, चन्द्रमा, मंगल आदि—सूर्य के साथ ही साथ निर्मित हुए हैं। सूर्य तथा ग्रहों के निर्माण की विधि है, अंधे बादलों के अन्दर पदार्थों का एक साथ एकत्रित होकर एक से द्रव्य में परिवर्तित होना। इन अंधे बादलों में अधिकतर पदार्थ परमाणु के रूप में बिखरे हुए हैं और शेष पदार्थ ऐसे कणों के रूप में हैं, जिनका आकार प्रकाश किरण की एक तरंग से अधिक बड़ा नहीं होता (अर्थात् एक मिलीमीटर का एक हजारवां भाग)!

सूर्य की उत्पत्ति

सूक्ष्म कण प्रकाश-किरणों के दबाव से इधर-उधर घूमा करते हैं। इन अंधे-बादलों पर सितारों का प्रकाश

चारों ओर से पड़ता है। किन्तु अन्धे बादलों के गर्भ या आन्तरिक भाग बाह्य कणों की छाया से ढक जाते हैं और केवल एक ओर से ही उन पर प्रकाश-किरणें पड़ती हैं। इस क्रिया के कारण प्रकाश की किरणों का दबाव इन सूक्ष्म कणों को एक दूसरे की ओर ढकेलता सा है और इस तरह ये एक दूसरे से मिलकर एक होते जाते हैं। इनका आकार जब कुछ बड़ा हो जाता है, तो ये बड़े कण गुरुत्वाकर्षण के कारण एक-दूसरे को अपनी ओर खींचने लगते हैं। धीरे-धीरे करोड़ों वर्ष के बाद इस क्रिया के फलस्वरूप ये कण वृहदाकार हो जाते है और ज्यों-ज्यों इनका आकार बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों इनमें अपने से छोटे टुकड़ों को अपनी ओर आकर्षित करने की क्षमता बढ़ती चली जाती है। इस तरह एक बार जब इनका बढ़ना आरम्भ हो जाता है, तो ये बढ़ते ही चले जाते हैं। इनकी ओर खिचाव के फलस्वरूप छोटे-छोटे टुकड़े और सूक्ष्म कण अत्यधिक गति एवं शक्ति के साथ इन वृहदाकार खण्डों से टकराने लगते हैं। इसी से सितारों में भी उष्णता पैदा हो जाती है। जब ऐसा होने लगता है तब ये सितारे प्रकाश देने लगते हैं। इस सिद्धांत के अनुसार सूर्य एक ऐसे ही परमाणु और सूक्ष्म कणों वाले बड़े बादल से पैदा हुआ था जब कि उसके ग्रह—पृथ्वी, चन्द्र, मंगल, बुद्ध, शुक्र आदि छोटे बादलों से पैदा हुए। यह क्रिया आज भी उसी प्रकार से चल रही है।

प्रचलित मत का खंडन :

यह नवीन सिद्धान्त सबको चकित करने वाला और साथ ही नयी सम्भावनाओं को जन्म देने वाला है। पृथ्वी के जन्म और सूर्य-मंडल-सम्बन्धी अब तक प्रचलित मत का खडन प्राप्त परिणामों के आधार पर हो जाता है। यदि उपर्युक्त सिद्धान्त सत्य है और सूर्य के ग्रह किसी सितारे के निकल आने की आकस्मिक घटना से पैदा होने से सम्बन्धित नहीं हैं, तो जिस प्रकार हमारे सूर्य के चारों ओर ग्रह हैं, वैसे दूसरे तारों के चारों ओर भी ग्रह होंगे ही। ज्योतिष-शास्त्रियों को ऐसे प्रमाण भी मिले हैं कि सूर्यमंडल के समीप के कई सितारे ऐसे हैं, जिनके सूर्य के समान ही ग्रह हैं, और जो उन सितारों के चारों ओर सूर्य-मंडल में उपस्थित ग्रहों के समान ही घूमते रहते हैं। दूसरे सितारों के ये ग्रह अदृश्य अवश्य हैं किन्तु उनकी उपस्थिति इस तथ्य से जान ली गयी है कि उनके गुरुत्वाकर्षण के कारण इन सितारों का स्थल बराबर इधर-उधर बदलता रहता है—उसी अनुपात में, जिस अनुपात में इनके ग्रह इनके चारों ओर चक्कर लगाते हैं।

उपर्युक्त तथ्यों और सिद्धान्तों से प्राप्त यह परिणाम बिलकुल ही नवीन तथा वैज्ञानिकों को आश्चर्य में डाल देने वाला सिद्ध हुआ है। अकेले आकाश गंगा में ही लगभग ४००० करोड़ सितारे हैं और यदि इन सभी सितारों के सूर्य के समान ग्रह भी हुए तो उनकी संख्या तो सहस्रों खरबों में होगी। फिर यदि वास्तव में, सितारों के ग्रह पाये जाते हैं, तो इनमें बहुत से ग्रह ऐसे भी अवश्य होंगे, जिनमें ताप व दाब की उचित दशाएँ उपस्थित होंगी – चट्टानों, वायु और पानी का इस प्रकार वितरण होगा, जिससे वहाँ पर जीवन पनप सकता हो और यदि ऐसा है, तो फिर यह विश्वास सदैव के लिये विनष्ट हो जाता है कि पृथ्वी ही एक ऐसा ग्रह है जहाँ हर प्रकार के के जीवधारी बसते हैं और जहाँ उनके बसने की आवश्यक दशाएँ उपलब्ध हैं।

जीव की उत्पत्ति—१

डा० कृष्ण बहादुर

यह एक अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रश्न है कि सर्वप्रथम पृथ्वी पर जीव कैसे बने ? पिछले २० वर्षों से वैज्ञानिक इस रहस्य की खोज में हैं। रूस के वैज्ञानिक ओपारिन, इंग्लैण्ड के वैज्ञानिक बर्नाल, पेरी, और ब्रिग्स, इटली के वैज्ञानिक सेण्ड्रागोलो और अमरीका के वैज्ञानिक ऊरे, कैल्विन और एबल्स के नाम इस दिशा में खोज करने के कारण अमर रहेंगे। प्रो० हेल्डेन ने भी, जो आजकल भारतवर्ष में ही हैं, जीव की उत्पत्ति के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण कार्य किया है।

जीव की उत्पत्ति

प्राय: पिछले २० वर्ष से तय हो चुका है कि जीव की उत्पत्ति न कोई दैवी शक्ति से हुई है न हमारी पृथ्वी पर जीव कहीं दूसरे ग्रहों से ही आये हैं। हमारी पृथ्वी पर ही कुछ विशेष प्रतिक्रियाओं के फलस्वरूप पहिले ऐसे कार्बनिक यौगिक बने जिनसे आज के जीवों के पूर्वजों का शरीर बना। इन कार्बनिक यौगिकों के बनने में भी सम्भवत: कोई ऐसी दशा की आवश्यकता न पड़ी होगी जो आज हमारी कल्पना के परे हो।

पृथ्वी का इतिहास लगभग ५ अरब वर्ष पुराना है। हमारा विश्व लगभग ६ अरब वर्ष पुराना है। सूर्य लगभग ५ अरब वर्ष पहिले बना। पृथ्वी और अन्य ग्रह लगभग ४½ अरब वर्ष पूर्व बने। पृथ्वी पर लगभग ४ अरब वर्ष पहिले पानी बना जिससे पृथ्वी के ऊपर की सतह ठण्डी हो गई। जीवों के चिह्न अधिक से अधिक २ या २½ अरब वर्ष पूर्व तक मिलते हैं। इस तरह ४ अरब से २½ अरब के बीच की अवधि अर्थात् लगभग १½ अरब वर्ष की अवधि ऐसी थी जब पृथ्वी पर पानी था और था वायुमंडल, परन्तु एक भी जीव नहीं थे। उस समय कुछ ऐसी क्रियायें हुईं जिनसे आदि जीवों के शरीर-निर्मायक यौगिक बने।

शरीर निर्मायक यौगिक

ऐसे कौन से यौगिक रहे होंगे जिनसे सर्वप्रथम आदि जीवों का शरीर बना ? यह एक अत्यन्त कठिन प्रश्न है। वर्तमान कोशिका (cell) में अनगिनत प्रकार के कार्बनिक यौगिक होते हैं। वर्तमान समय के सब जीव साधारणत: प्रोटीन के बने हैं। उनमें न्यूक्लिक अम्ल, एडिनोसिन फास्फेट, शर्करा, वसा, हार्मोन, एंजाइम इत्यादि अनेक प्रकार के अन्य अणु भी होते हैं जिनके बिना कोशिका की जीवन-लीला चल ही नहीं सकती। इन विभिन्न प्रकार के यौगिकों में प्रोटीन का विशेष महत्व है क्योंकि ये न केवल जीवों के शरीर बनाने में काम आते हैं वरन् समस्त एंजाइम प्रोटीन के बने होते हैं। बिना एंजाइम के कोशिका की कोई भी क्रिया सम्भव नहीं।

प्रोटीन अमीनो अम्लों से मिलकर बनते हैं। ये अमीनो अम्ल संयुक्त होकर पहले पेप्टाइड बनाते हैं। बड़े पेप्टाइड अणु बढ़ कर, सिकुड़ कर और परस्पर उलझ कर विशिष्ट प्रकार के आकार ग्रहण करते हैं। ये आकार प्रोटीन कहलाते हैं। प्रोटीन अणुओं में सैकड़ों, हजारों या लाखों तक अमीनो अम्ल अणु हो सकते हैं। वैसे तो संश्लेषण द्वारा बहुत तरह के अमीनो अम्ल बनाये जा सकते हैं परन्तु जीव द्वारा प्राप्त प्राकृतिक प्रोटीन अणुओं को बनाने में प्राय: १८

ग्रमीनो ग्रम्ल ही काम में ग्राते हैं। इन्हें प्राकृतिक ग्रमीनो ग्रम्ल कहते हैं। यह भी एक रहस्य ही है कि इन प्राकृतिक ग्रमीनो ग्रम्लों की संख्या इतनी सीमित है।

१९५३ में ग्रमरीका के वैज्ञानिक मिलर ने यह ज्ञात किया कि यदि ग्रमोनिया, मीथेन, हाइड्रोजन ग्रौर कार्बन मोनोक्साइड ग्रौर पानी के वायुमंडल में विद्युतस्फुलिंग उत्पन्न की जाय तो बहुत से ग्रमीनो ग्रम्ल, नाइट्रोजन के ग्रन्य यौगिक ग्रौर ऐसे ग्रमीनो ग्रम्ल जो प्रोटीन में नहीं होते बनते हैं। वस्तुतः इसके पहिले ही लिग्रोब ने १९१३ में यह देखा था कि ग्रमोनिया, फार्मैल्डिहाइड ग्रौर पानी के वायुमंडल में शांत विद्युतविसर्ग द्वारा ग्रमीनो ग्रम्ल बनते हैं। इस प्रयोग के ग्राधार पर मिलर ने यह प्रस्तावित किया कि ग्रादि काल में जब पृथ्वी के वायुमंडल में उनके प्रयोग वाली गैसें थीं, बिजली चमकने से बनी चिनगारियों द्वारा ग्रमीनो ग्रम्ल बने।

नवीन खोज

१९५४ में प्रयाग विश्वविद्यालय में यह खोज की गयी कि यदि पानी के निर्जीव मिश्रण में कार्बनिक यौगिक ग्रौर ग्रकार्बनिक लवणों को मिला कर इस मिश्रण पर सूर्य का प्रकाश पड़ने दिया जाय तो मिश्रण में केवल प्राकृतिक ग्रमीनो ग्रम्ल ही संश्लेषित होते हैं। मिश्रण में कौन से ग्रमीनो ग्रम्ल संश्लेषित होंगे, यह इस बात पर निर्भर करता है कि कौन मे कार्बनिक यौगिक, कौन से ग्रकार्बनिक उत्प्रेरक प्रयुक्त किये गये हैं ग्रौर मिश्रण को कितने समय प्रकाश में रक्खा गया है। इस तरह प्रयाग विश्वविद्यालय के वैज्ञानिकों का मत है कि पृथ्वी की सतह पर जब कार्बनिक यौगिक बन गये तो भूमि के ग्रकार्बनिक उत्प्रेरकों की सहायता से पानी में सूर्य के प्रकाश की सहायता से प्राकृतिक ग्रमीनो ग्रम्ल बने।

दूसरी कठिन समस्या पेप्टाइड के बनने की है। ग्रमीनो ग्रम्ल का एक ग्रणु ग्रपने कार्बोक्सि समूह द्वारा दूसरे ग्रमीनो ग्रम्ल के ग्रमीनो समूह से संयुक्त होता है। इस प्रतिक्रिया में पानी का एक ग्रणु बनता है ग्रौर क्रिया में ऊर्जा व्यय होती है। इन कारणों से साधारणतः लोगों ने समझा कि यह क्रिया जल रहित वातावरण में ही उच्च ताप पर सम्पन्न हो सकती है।

ग्रमरीका के वैज्ञानिक फाक्स ने ग्रमीनो ग्रम्ल के मिश्रण को १८०° सें० पर ग्राठ-दस घंटों तक गरम करके यह देखा कि गरम किये मिश्रण में पेप्टाइड बन जाते हैं जिनका ग्रणु-भार १०,००० तक हो सकता हैं। ग्रतः उन्होंने यह कल्पना की कि ज्वालामुखी पहाड़ों के ग्रास-पास जहाँ १८०° सें० का ताप उपलब्ध हो सकता है सर्वप्रथम वहीं पेप्टाइड बने।

प्रयाग विश्वविद्यालय में यह खोज की गई कि पेटाइड बनने की क्रिया पानी में भी संभव है। लेखक ने स्वयं यह देखा कि यदि ग्रमीनो ग्रम्ल के जलीय मिश्रण में कुछ ग्रकार्बनिक लवण-उत्प्रेरक डाल दिये जायँ ग्रौर इसमें शर्करा या ग्रन्य कोई कार्बोहाइड्रेट या कार्बनिक ग्रम्ल मिला दिया जाय तो यह मिश्रण प्रकाश की उपस्थिति में पेप्टाइड संश्लेषित कर लेता है। पानी में पेप्टाइड के इस सुगमता से बनने की यह विधि विशेष महत्वपूर्ण है क्योंकि जैसा ऊपर कहा जा चुका है पानी में प्रकाश की सहायता से ग्रमीनो ग्रम्ल तो बन ही जाते हैं। इस तरह के मिश्रण यदि ग्रधिक समय प्रकाश में रक्खे गये तो न केवल उनमें ग्रमीनो ग्रम्ल ही बन जायंगे वरन् उनमें पेप्टाइड भी मिलने लगेंगे।

पेप्टाइड बनाने की इस विधि का ग्रध्ययन डा० पर्ती ने नैनीताल में भी किया। जीव की उत्पत्ति में प्रकाश द्वारा पानी से ग्रमीनो ग्रम्ल ग्रौर पेप्टाइड बनने की क्रिया ग्रत्यन्त महत्वपूर्ण है। १९५८ में लेखक ने "ग्रणु विकास की जलीय रेखा" नामक ग्रपना मत रक्खा जिसमें यह कहा गया कि जीव बनाने वाले ग्रधिकांश यौगिक पानी में ही बने ग्रौर विकसित हुए। फाक्स ने इसके विपरीत "ग्रणु-विकास की ऊष्म

रेखा" नाम का सिद्धान्त रक्खा जिसके अनुसार जीव उत्पत्ति में ऊष्मा का भी विशेष हाथ था।

पावी में पेप्टाइड बनने की प्रक्रिया इतनी महत्वपूर्ण थी कि इंलैण्ड के प्रसिद्ध वैज्ञानिक ब्रिग्स ने लेखक के कुछ प्रयोग दोहराये और उन्होंने भी देखा कि उनके प्रायः सभी मिश्रणों में पेप्टाइड बन रहे थे। उन्होंने बने हुए पेप्टाइडों में क्षीण इस्टरेज और प्रोटोलिटिक एंजाइम के गुण भी देखे। लेखक ने यह देखा कि इन मिश्रणों में यदि समुचित उत्प्रेरकों का उपयोग किया जाय तो बने पदार्थों में फास्फेटेज एंजाइम के गुण आ जाते हैं जो मिश्रण को ५ मिनट गरम करने पर नष्ट हो जाते हैं।

न्यूक्लिओटिड संश्लेषण

अन्य लोगों ने न्युक्लिओटिड के संश्लेषण की विधि ज्ञात की। पैंनमपरूमा ने न्युक्लिओटिड और एडिनोसिन फास्फेट बनने की विधि की खोज की। प्राकृतिक रूप से कोशिका के विभिन्न प्रकार के अणुओं के निर्जीव अवस्था में संश्लेषण की विधियाँ दुनिया भर के वैज्ञानिक ढूंढने लगे। परन्तु इस समय एक दूसरा महत्वपूर्ण प्रश्न उपस्थित हुआ। यदि सब प्रकार के अणुओं के प्रकृति में बनने की विधियाँ ज्ञात भी हो गयीं तो क्या इनसे जीवित कोशिका बन सकेगी? स्पष्ट है कि नहीं। यदि एक कोशिका में उपस्थित समस्त प्रकार के अणुओं को एक परखनली में रख कर हिलाया जाय तो भी एक जीवित कोशिका नहीं बनेगी। तो फिर ऐसी कौन सी क्रिया थी कि इन सब यौगिकों ने एक जीवित कोशिका बना ली?

वैज्ञानिक मौन

अधिकांश वैज्ञानिकों के पास इस प्रश्न का कोई उत्तर नहीं था। कुछ यह समझते थे कि इन यौगिकों के परस्पर क्रिया-प्रतिक्रिया स्वरूप कभी संयोग से अकस्मात् एक जीवित कोशिका बन गई। १९६३ में लेखक और उनकी पत्नी ने यह मत रक्खा कि प्रथम कोशिका अकस्मात् नहीं बनी वरन् इसलिए बनी कि पदार्थ का नैसर्गिक गुण ही है कि वह प्रजनन करे और पदार्थों के संतुलित समूह का यही गुण है कि वह उस पर होने वाले मंद प्रभावों को अपने में उचित परिवर्तन करके प्रायः निराकृत कर दे। वस्तुतः यही कारण था कि सर्वप्रथम बने यौगिकों के सूक्ष्म कण उचित परिस्थिति में जीव के गुण दिखलाने लगे।

जीव के गुण

इससे एक दूसरे जटिल प्रश्न को हल करने के लिये हम बाध्य होते हैं और वह यह है कि आखिर जीव के गुण हैं क्या? विभिन्न वैज्ञानिकों ने जीव के गुण विभिन्न प्रकार बतलाये हैं और आज तक जीव की आदर्श परिभाषा नहीं बन पाई है। परिभाषा चाहे न बने पर इतना तो हो ही सकता है कि कुछ ऐसे गुण निश्चित कर लिये जायँ कि उनके होने पर हम उस वस्तु को जीवित कहें!

हेल्डेन, पेरी और बर्नाल के मत के अनुसार इस प्रकार के पदार्थों के समूह को जिनमें स्वयं ही सतत क्रियायें चलाते रहने का गुण हो एक निश्चित घेरे में बंद होने की क्रिया को जीव की उत्पत्ति कहना चाहिए। हारविच के अनुसार जीवित वस्तु के लिए यह आवश्यक है कि वह प्रजनन कर सके और इसमें परिस्थिति के थोड़े-थोड़े परिवर्तन पर स्वयं थोड़ा बदल कर उस नई निर्माण परिस्थिति में सुचारु रूप से रह सकने का गुण हो। इन मतभेदों में विस्तृत रूप से पहुँचना इस लेख में कठिन है परन्तु यहाँ एक सरल सी परिभाषा दी जाती है जिसे संतुष्ट करने पर कोई भी वस्तु जीवित कही जा सकेगी। यद्यपि यह भी सच है कि कुछ ऐसी भी वस्तुयें मिलेंगी जिनके बारे में हमें अन्य साधनों द्वारा ज्ञात है कि वे जीवित हैं, परन्तु वे इस परिभाषा में नहीं आतीं।

यदि कोई वस्तु आकार में बड़ी हो और यह बढ़ने की क्रिया भीतर से बाहर की ओर हो और इस क्रिया का कारण यह हो कि उस वस्तु का पदार्थ उसके भीतर संश्लेषित हो रहा हो; यदि यह वस्तु संख्या में बढ़े

और नई वस्तुओं का जन्म पुरानी वस्तु द्वारा हो, स्वतंत्र नहीं, और यदि उस वस्तु में उपचयन की क्रियायें हों, जिसमें उपचयन क्रिया उन किसी भी प्रकार की क्रियाओं को कहा जायेगा जिनसे बाह्य वातावरण के अणु वस्तु में प्रवेश करें और उन प्रतिक्रियाओं के फलस्वरूप इस प्रकार बाहर से आये अणुओं का कम से कम कुछ भाग उस वस्तु के शरीर के पदार्थ बनाने में उपयोग हो जाय तो हम ऐसी वस्तु को निश्चित ही जीवित कहेंगे।

इस परिभाषा में उस वस्तु की रासायनिक प्रकृति के विषय में कुछ नहीं कहा गया। हेल्डेन, पेरी और बर्नाल इसमें सहमत हैं कि सम्भव है इस पृथ्वी के आदि-काल में और अन्य ग्रहों में अभी भी ऐसे जीव रहे हों जो हमारे वर्तमान जीवों से रासायनिक दृष्टि से बिल्कुल भिन्न हों।

आदि जीव

पृथ्वी के आदि जीव निश्चित ही एक प्रकार के कण रहे होंगे जिनमें उक्त वर्णित जीव के गुण थे। हम जीवित कण कहते ही अपनी वर्तमान कोशिका का ध्यान करते हैं। क्या इन सर्वप्रथम बने जीवित कणों में न्यूक्लियस था? क्या वे आज की कोशिका की भाँति ही जटिल थे? क्या उनकी जीवन लीला वर्तमान कोशिका की भाँति ही चलती थी? इस तरह के अनेक प्रश्न उपस्थित होते हैं। साधारण जीवविज्ञान के ज्ञाता जो कोशिका की जटिलता को भली-भाँति जानते हैं इस प्रकार की वस्तु बनना सर्वथा असंभव समझते हैं। परन्तु यह बात इतनी असम्भव नहीं जितना कि उनका एकांगी ज्ञान उन्हें मानने को बाध्य करता है।

१८४४ में लाफ ने अपने प्रयोगों द्वारा यह सिद्ध कर दिया कि जीव-विकास में यद्यपि सामूहिक रूप से जीव का शरीर अधिक जटिल होता गया और उसमें नये नये गुण आते गये, परन्तु एक स्वयंभू एकाकी कोशिका के व्यक्ति गुणों में वृद्धि नहीं वरन् कमी ही हुई। जहाँ एक-कोशिका वाले जीवों में एक ही कोशिका में विभिन्न प्रकार के गुण थे, बहु-कोशिका का रूप ग्रहण करने पर उनके किसी भी कोशिका में उतने गुण नहीं रह गये जितना उस एक कोशिका में थे अर्थात् सर्वप्रथम बनी कोशिका में, जिसमें जीव-विकास प्रारम्भ नहीं हुआ था, बहुत से गुण थे।

१८६२ में डीलन ने अपने प्रयोगों द्वारा सिद्ध कर दिया कि वर्तमान काल की कोशिका के भीतर के अंग जैसे न्यूक्लियस, माइक्रोकांडिया, क्रोमोसोम, जीन, फ्लैजिला इत्यादि कोशिका के भीतर के पदार्थ के विकास द्वारा निर्मित हुए हैं और इन अंगों की उत्पत्ति कोशिका के भीतर के पदार्थ के विकास से सम्बन्ध रखती है न कि जीव की उत्पत्ति से अर्थात् प्रारम्भ की कोशिकाओं में ये अंग नहीं थे और ये कोशिका के विकास द्वारा बाद में उत्पन्न हुए हैं।

अब कल्पना कीजिये उन प्रारम्भ के बने कोशिका वाले जीवों की, जिन कोशिकाओं में वर्तमान कोशिका के आन्तरिक अंग नहीं थे और इन विभिन्न अंगों के बिना भी उस कोशिका में जीव के गुण ही नहीं थे वरन् वर्तमान कोशिका से अधिक गुण सम्पन्न थे। यह आरम्भ के जीव कैसे बने? जैसे ऊपर कहा जा चुका है इन जीवों की रचना इसलिए हुई कि पदार्थ मात्र का यह गुण है कि उचित स्थिति में वह प्रजनन करे और परिस्थिति के मंद परिवर्तन के साथ अपने में परिवर्तन ला कर उसके प्रभाव को कुछ हद तक निराकृत कर दे।

(क्रमशः)

खबरें लाया हूँ—५

डा० शिवगोपाल मिश्र

१. पूर्वजों की आयु

प्राचीन ग्रंथों के अवलोकन से ऐसा प्रतीत होता है कि हमारे पूर्वज अत्यन्त स्वस्थ रहते थे और सुखी जीवन बिताते थे। "जीवेम शरद: शतम" इस वाक्य से भी यही विचारधारा बनने लगती है कि हमारे पूर्वज 'शतायु' तो अवश्य होते रहे होंगे क्योंकि हमारे देश तथा रूस में आज भी सौ वर्ष या इससे अधिक आयु तक जीवित रहने वालों की संख्या काफी पाई जाती है। किन्तु जर्मनी के नृतत्व शास्त्र वेत्ता डा० गाटफ्राइड कुर्थ ने एक पुस्तक प्रकाशित की है जिसके आधार पर पूर्वजों की औसत आयु २० वर्ष ही सिद्ध होती है। आइये हम डा० कुर्थ की जानकारी पर विस्तार से विचार करें :—

डा० कुर्थ की खोजें ऐसे कंकालों पर आधारित हैं जो साइप्रस, जोर्डन, स्वीडन आदि देशों के कब्रस्थलों से प्राप्त किये गये थे अथवा बहुत से व्यक्तियों द्वारा उन्हें प्रदान किये गये थे। इन कंकालों के सूक्ष्म परीक्षण से उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला है कि प्रस्तर युग से लेकर मध्य युग (३००,००० ई० पू० से १३००० ई० पू०) तक जीवन काल केवल २० वर्ष था। यह औसत आयु है क्योंकि कब्रस्थलों से प्राप्त कंकाल दो आयु वर्ग के थे—एक तो १० से २० वर्ष तक और दूसरे ३० से ४० वर्ष तक। यह भी ज्ञात हुआ है कि अधिकांश शिशुओं की मृत्यु १ वर्ष के भीतर हुई होगी। अत. यदि शिशुओं और नौजवानों को मृत्युओं को बराबर-बराबर माना जाय तो इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि आधी से अधिक जनसंख्या की मृत्यु युवावस्था में ही हो गई होगी। ऐसी स्थिति में यह कह पाना कठिन है कि भूतकाल में किस प्रकार से प्रजनन कार्य होता रहा।

आधुनिक युग में ही जाकर मृत्यु दर घटी है। प्राचीन युग में जबकि लोगों की मृत्युएँ ३२-४० वर्ष के बोच में होती रही हैं आधुनिक युग में यही आयु ६०-७० वर्ष के बीच है। इस अवस्था में इस वृद्धि का मूल कारण है स्वास्थ्य-विज्ञान का विकास और चिकित्सा शास्त्र की आश्चर्यजनक प्रगति। प्राचीन युग में शिशुओं की मृत्यु दर अधिक होने के कारण ही विश्व भर की जनसंख्या में कोई वृद्धि नहीं हो पाती थी। यही कारण था कि भोजन की समस्या कभी भी इतना उग्ररूप नहीं धारण कर पाई जितना आधुनिक युग में। उन्नीसवीं शती से जो जनसंख्या वृद्धि हुई है वह इसके पूर्व कभी भी नहीं हुई।

२. पूर्वजों में दंतरोग (Paradentosis)

जैसे कि ऊपर कहा जा चुका है, हमारे पूर्वजों के पास स्वास्थ्य सुरक्षा सम्बन्धी आज की जैसी सुविधायें उपलब्ध नहीं थीं। इसका पुष्ट प्रमाण जर्मनी के नृतत्व शास्त्रवेत्ता डा० श्रेंज ने अपने एक लेख में प्रस्तुत किया है। उनका अभिमत है कि दंत रोग जिसे लोग "आधुनिक रोग" कहते हैं वह एक अत्यन्त प्राचीन रोग है और उससे हमारे पूर्वज बुरी तरह से ग्रस्त रहते थे। उदाहरणार्थ, प्रस्तर युग में लोग मांस पर जीवन निर्वाह करते थे। फिर धीरे-धीरे फसलें भी उगाई जाने लगीं . भोजन पकाने का सारा कार्य पत्थर के बर्तनों में होता था। अन्न की कुटाई-पिसाई—ये

सभी कार्य पत्थर के उपकरणों द्वारा ही सम्पन्न किये जाते थे। ऐसा करने से भोजन के साथ प्रचुर मात्रा में पत्थर उनके आमाशयों के भीतर जाता रहता था। इसका पुष्ट प्रमाण यह है कि कब्रस्थलों से प्राप्त प्राचीन नरकंकालों में यह पाया गया है कि ३० वर्षीय कंकाल में भी जबड़ों को अत्यन्त क्षीण एवं दाँतों को जर्जर देखा गया है। यह भी प्रतीत होता है कि चालीस वर्ष तक में लोगों के सारे दाँत झड़ जाते रहे होंगे। कुछ प्राचीन इतिहासवेत्ताओं का अभिमत है कि ऐसे ही दंत रोगों के कारण प्राचीन पुरुषों की आयु चालीस से अधिक नहीं होती थी। फलतः यह कहा जा सकता है कि शाकाहारी बनने के साथ-साथ पूर्व-पुरुषों में दंत रोग की उत्पत्ति हुई।

डा० श्रेंज के ये परिणाम लगभग १००० जबड़ों के अध्ययन पर आधारित हैं।

३. जीवन का सूत्रपात : जैविक नियन्त्रण

मनुष्य ने इंजीनियरी के क्षेत्र में जो सफलता प्राप्त की है उसके मूल में जेम्स वाट का वाष्प इंजन निर्माण ही है। वाट ने इंजन की चाल आदि पर नियन्त्रण रखने के लिए "नियन्त्रकों" की व्यवस्था भी की जिसके बल पर इंजन की चाल को कम या ज्यादा किया जा सकता है। वस्तुतः ऐसे नियन्त्रकों पर ही सारी इंजीनियरी आधारित है—चाहे घड़ी हो या रेफ्रिजरेटर, सबों में समान रूप से एक न एक नियन्त्रक रहता है।

किन्तु प्रकृति में ऐसे "नियन्त्रकों" की उत्पत्ति जेम्स वाट के आविष्कार से लाखों वर्ष पूर्व हो चुकी थी। और आश्चर्य है कि जेम्स वाट ने अपने आविष्कार में प्रकृति के इन नियन्त्रकों से कोई लाभ नहीं उठाया। ऐसे नियन्त्रक हमारे जीवन के मूल अंग हैं किन्तु जैसा कि सभी क्षेत्रों में होता रहता है, इनका पता सन् १६२५ में म्यूनिक के शरीर विज्ञान वेत्ता रिचार्ड वैगनर को लगा। उसने इनका नाम "फीडबैक" (Feed back) अर्थात् "पश्चपोषी" रखा। उनके अनुसार मांसपेशियों का नियन्त्रण 'स्विच विधि' से स्पाइन मेडुला द्वारा होता है। उन्होंने अनेक वर्षों में जो ज्ञान अर्जित किया है उसके आधार पर उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला है कि कोशा विभाजन से लेकर क्या वानस्पतिक और क्या पाशव कार्य सभी में ऐसा "नियंत्रण" कार्य कर रहा है। यही नियंत्रण जीवन का मूलभूत सिद्धान्त है। यह सिद्धान्त है :— नियन्त्रण प्रक्रम द्वारा जीवन शक्ति की मात्रा स्थिर रखी जाती है। इसमें किसी प्रकार का भी परिवर्तन या फेर होता है तो इसकी सूचना पहले केन्द्र को दी जाती है जिसपर वहाँ से तुरन्त "प्रतिक्रिया" होती है जिससे सामान्य अवस्था पुनः प्राप्त हो जाती है। उनका कथन है कि मानव शरीर की सबसे छोटी इकाई जिसमें 'स्पर्श' अनुभव करने की शक्ति विद्यमान है वह है कोशाओं की भित्ति। यदि इन भित्तियों में ऐसी "पश्चपोषी" विधि न हो तो वाह्य प्रक्षेपों या उत्तेजनों के अनन्तर सामान्य या विश्रान्त स्थिति को प्राप्त होना कठिन हो जाय। यह सामान्य स्थिति अथवा सन्तुलन प्रक्रम जीवन या जीव के तुल्य है। अतः जब सर्वप्रथम ऐसी नियंत्रक शक्ति का उद्भव हुआ तभी ही जीवन का उद्भव हुआ होगा। चूँकि ऐसे नियंत्रकों का जन्म वाह्य उत्तेजनाओं को ही सन्तुलित करने के लिये हुआ है अतः सन्तुलन के बाद अवशिष्ट उत्तेजना शरीरों के भीतर रही आती है और यदि वाह्य प्रक्षोभ या उत्तेजन बन्द हो जायँ तो शरीर मृतक बन जाय। अतः कहा जा सकता है कि जीवन का विकास विचलित करने वाली वाह्य शक्तियों के कारण प्राप्त हुआ होगा और यदि प्रकृति परिवर्तित न होती तो रहे जीवन का अन्त हो जाय।

४. बुढ़ापा

बहुत वर्षों से मनुष्य की वृद्धावस्था पर विजय पाने के लिए वैज्ञानिक एवं चिकित्सा-विशेषज्ञ प्रयत्नशील रहे हैं। कुछ दिनों तक यह सोचा जाता

रहा कि जिन हार्मोनों की मन्द गति के कारण जवानी से बुढ़ापा आता है, यदि उन्हीं हार्मोनों को शरीर में प्रविष्ट किया जाय तो बुढ़ापा दूर हो सकता है। इस बीसवीं शती के प्रारम्भ में फ्रांस के काय चिकित्सक ब्राउन सेक्कार्ड से यह सूचना दी कि उन्हें अपने में शरीर में पशु-ग्लांडों को प्रयुक्त करके तरुणाई प्राप्त करने में सफलता मिली है। बस, फिर क्या था सभी वैज्ञानिकों का ध्यान इस दिशा में आकृष्ट हुआ। किन्तु अभी हाल ही में जर्मनी में हुई एक मीटिंग में डा० एच० कैसर ने यह बताया है कि बुढ़ापे पर विजय प्राप्त करने के प्रयास, जिनमें हार्मोन प्रयुक्त किये गये, असफल सिद्ध हुये हैं। उलटे यह ज्ञात हुआ कि मानव शरीर की अधिकांश हार्मोन ग्रंथियां (ग्लांड) बुढ़ापे में भी उतनी ही क्रियाशील रहती हैं जितनी कि जवानी में। अतः बुढ़ापे एवं हार्मोन उत्पादन के मध्य कोई विशिष्ट सम्बन्ध नहीं देखा जाता। फलतः हार्मोन इंजेक्सन द्वारा बुढ़ापा रोकने की बात सर्वथा निराधार है। भले ही उसके द्वारा कुछ ऐसी क्रियायें प्रभावित होती हों जो बुढ़ापे से सम्बन्धित हों।

डा० स्टाइनमान का अभिमत है कि इस बुढ़ापे की तीन अवस्थायें होती हैं जिनमें से प्रथम तो अनदेखी ही बीत जाती है, दूसरी में कतिपय भीषण प्रकोप होते हैं (यथा हृदय के रोग) और तीसरी में गौण दोष उत्पन्न होते हैं यथा हृदय का बन्द होना। ये तीनों अवस्थायें साथ-साथ चलती रहती हैं। तीनों में ही समान रूप से संकुचन प्रक्रम कार्य करता है जिसके फलस्वरूप गुर्दे, यकृत तथा मस्तिष्क, ये तीन प्रभावित होते हैं। इस संकुचन प्रक्रम में विशेष रूप ते जल की मात्रा में कमी होती है जिसके प्रभाव आँखों की रोशनी, मेरुदण्ड आदि पर पड़ते हैं। यदि मनुष्य के शरीर का हार्मोन सन्तुलन अल्पायु में ही खो जाता है तो बिना बुढापे के ही बुढ़ापा आ जाता है।

अब यह स्वीकार किया जाने लगा है कि थायराइड ग्लांड हार्मोन तथा ऐड्रेनल ग्लांड का कार्टिजोन उत्पादन – ये वृद्धावस्था में भी नहीं बन्द होते। स्त्रियों में सेक्स ग्लांड अथवा पुरुषों में वीर्य का बनना अन्त तक बन्द नहीं होता।

बुढ़ापे में लोगों को "रक्त चाप" की शिकायत हो जाती है। डाक्टरों का अभिमय है कि बुड्ढों को चाहिए कि वे सदैव रक्तचाप के विषय में सोचें नहीं क्योंकि वास्तव में बुढ़ापे में रक्त का दाब कम होता रहता है अतः उसके सन्तुलन में तथाकथित रक्तचाप (जो अधिक दाब को सूचित करता है) सहायक होता है।

तात्पर्य यह है कि मनुष्य सम्बन्धी अनेक पूर्वमान्यतायें नवीन शोधों के आधार पर बदलती हुई दिखाई दे रही हैं। आवश्यकता इसी बात की है कि ऐसे परिवर्तनशील मापदण्डों के प्रति हम सभी समान रूप से जागरूक रहें।

—३१

प्रो० गेरहार्ड डोमाक (Domagk)

डा० शिवगोपाल मिश्र

प्रो० डोमाक की ख्याति फुफ्फुस विशेषज्ञ के रूप में अत्यधिक थी। यद्यपि सन् .९३९ में इन्हें नोबेल पुरस्कार मिल चुका था, किन्तु जो इनके गुणों से परिचित थे वे यही कहते "अरे, इन्हें एक क्या ऐसे पाँच पूरस्कार मिलने चाहिए।" सलफोनैमाइड की खोज तथा राजयक्ष्मा की अचूक दवायें काण्टेबेन तथा नियोटेबेन की खोज द्वारा इन्होंने न जाने कितने पीड़ितों को जीवनदान दिया होगा।

प्रो० डोमाक का जन्म जर्मनी के एक छोटे से गाँव लैगो में सन् १८९५ में हुआ था। इनके पिता एक सामान्य अध्यापक थे। इनकी शिक्षा कील, ग्राइफ्सवाल्ड तथा म्यूनिच विश्वविद्यालयों में सम्पन्न हुई। इन्होंने वैज्ञानिक क्षेत्र को चुना। इनकी प्रारम्भिक थीसिस (शोध निबन्ध) संक्रामक जीवाणुओं के विनाश पर थी। उन्होंने १९२७ से बायर रिसर्च इंस्टीच्यूट में कार्य करना प्रारम्भ किया। साथ ही साथ ये मेन्स्टर विश्वविद्यादय में प्रोफसर-पद पर भी कार्य करते रहे। प्रारम्भ से ही इनकी धारणा बन गई थी कि मनुष्य के शरीर को अनेक संक्रामक जीवाणुओं से बचाने के लिए या तो शरीर में आन्तरिक शक्ति उत्पन्न करनी होगी अथवा जीवाणुओं के प्रभाव को क्षीण बनाना होगा।

सलफोनैमाइड पदार्थ तथा अन्य राजयक्ष्मा प्रतिरोधी दवाओं से सम्बन्धित प्रयोग १९३२-३५ में सम्पादित हुए। इस अवधि में इन्होंने कठोर परिश्रम द्वारा इन दवाओं की क्षमता की पुष्टि की और १९३५ में शोध निबन्धों में अपनी खोज के परिणाम प्रकाशित कराये।

इन प्रयोगों के करते समय डोमार्क का ध्यान सदैव इस ओर रहा कि कहीं कोई ऐसा और पदार्थ न बनता हो जो मनुष्यों के अन्य अंगों को हानि पहुँचावे अथवा कहीं ऐसा न हो कि राज-यक्ष्मा या दूसरे रोग अच्छे हो जायँ और कोई भीषण संक्रामक रोग उत्पन्न हो जाय। सचमुच यह सच्चे चिकित्सक का ही काम हो सकता है।

इन्हें अपनी खोज से होने वाले लाभों का पहले कोई भी आभास नहीं था। ये तो इसी बात से डरते रहते थे कि कहीं इस खोज से और कहीं कोई दूसरी क्षति न पहुँचे, किन्तु ईश्वर का आशीर्वाद समझें कि डोमाक के हाथों सफलता ही सफलता लगी।

इनकी इस खोज के कारण क्या अमरीका, क्या जापान और क्या स्पेन, सर्वत्र ही सम्मान हुआ। १९५० में वेरोना में जो अन्तर्राष्ट्रीय चिकित्सीय परिषद् हुई उसके स्मृत पदक पर प्रोफेसर डोमाक का चित्र उत्कीर्ण था। प्राप्त मानद डिग्रियों की संख्या भी असंख्य थी।

कैंसर के सन्बन्ध में भी इन्होंने कार्य किया। इनका

अभिमत था कि यह जीवाणुओं द्वारा उत्पन्न होने वाला रोग नहीं अतः जीवाणु प्रतिरोधी पदार्थों के प्रयोग से कैंसर-उन्मूलन असम्भव है। कैंसर के कोषा इन दवाओं की उपास्थिति में भी वृद्धि करते हैं और स्वस्थ कोषों की जीवनी शक्ति का अपहरण करते रहते हैं। इतने अनुभव होने पर भी इन्हें कैंसर की कोई रामबाण दवा नहीं मिल सकी।

राजयक्ष्मा के विरुद्ध अभियान में सफलता के रहस्य का उद्घाटन इन्होंने सन् १६६० में लिडाऊ नोबल पुरस्कार कमेटी के समक्ष किया। इन्होंने काण्टेबेन तथा नियोटेबेन नामक जिन दो औषधियों का आविष्कार किया वे स्टेप्टोमाइसिन की अपेक्षा कहीं अधिक शक्तिशाली थीं। इनका मान क्रमशः १० लाख तथा १ करोड़ था।

इनका दृढ़ विश्वास था कि यद्यपि विश्व में राज्ययक्ष्मा (टी० बी०) को प्रथम कोटि का शत्रु रोग नहीं कहा जा सकता फिर भी इसके समूल विनाश किये जाने का प्रयास किया जाना चाहिए। इसके लिए इन्होंने यह प्रस्तावित किया कि जिन लोगों को राजयक्ष्मा है और जिनकी साँस से वायु के दूषित हो जाने की आशंका है उन्हें नगरों से हटाकर ऐसे स्थानों पर ले जाना चाहिए जहाँ से फिर रोग के फैलने की गुंजाइश न रह जाय। इससे परिवार के लोग असंतुष्ट भले हों, किन्तु रोग को दूर किये जाने का सर्वश्रेष्ठ उपाय यही है। राबर्ट काख की ५०वीं मरण-जयन्ती के उपलक्ष्य में लिखी गई अपनी पुस्तक में इन्होंने लिखा है कि राजयक्ष्मा का प्रारम्भ में ही इलाज आवश्यक है। इसमें सन्देह नहीं कि आधुनिक औद्योगिक प्रदेशों में अब इस रोग का उतना भय नहीं है किन्तु अभी भी अनेक उष्ण प्रदेश हैं जहाँ यह महामारी का रूप धारण किये है। यदि एक भी राज्यक्ष्मा का रोगी बचा रहा, चाहे वह अफ्रीका के सुदूर प्रान्त में ही क्यों न हो, उसके द्वारा सारे विश्व का संहार हो सकता है।

ये अत्यन्त अध्यवसायी थे। चाहे जितनी भी कठिनाइयाँ क्यों न आयी हों, ये अपने कार्य में तल्लीन रहे। ये अत्यन्त सरल थे। चिकित्सा सम्बन्धी किसी भी प्रश्न को सुलझाने में एवं प्रश्न-कर्ताओं को सन्तुष्ट करने में इन्हें रस आता था।

ऐसे महान जनसेवी की मृत्यु ६३ वर्ष में ही हो गई।

१. उत्तम कोटि के जीवाणु और विषाणु

अमेरिकी वैज्ञानिकों ने एक गोष्ठी में यह बताया है कि बहुत से 'उत्तम' कोटि के जीवाणु और विषाणु विकासोन्मुख राष्ट्रों में कृषि-उत्पादन के लिए एक वरदान सिद्ध हो सकते हैं। उदाहरण के रूप में, उन्होंने निम्नलिखित किस्म के जीवाणुओं का उल्लेख किया :—

—वे जीवाणु, जो मिट्टी को उर्वर बनाने के लिए हवा से नाइट्रोजन ग्रहण कर महँगे उर्वरकों की आवश्यकता का उन्मूलन करते हैं।

—उन विषाणुओं के सम्बन्ध में प्रयोगशाला में अनुसन्धान, जो मनुष्य को हानि पहुँचाये बिना फसलों और पशुओं के रोगाणुओं का विनाश करते हैं।

—वे जीवाणु, जो कूड़ा-करकट को सड़ाने के साथ ही साथ 'अलगा' (एक प्रकार की समुद्री घास) जैसे प्रोटीन-युक्त खाद्य-पदार्थों को शीघ्रता से बढ़ाते हैं।

कोर्नेल विश्वविद्यालय, न्यूयार्क, के डा० मार्टिन अलेक्जैण्डर ने कहा कि व्यापारिक पैमाने पर नाइट्रोजनग्राही जीवाणुओं के उत्पादन की सरल विधियों को विदेशों में प्रयुक्त करने से प्रत्येक १ डालर व्यय से १,००० डालर मूल्य के अतिरिक्त खाद्य पदार्थ उपलब्ध हो सकते हैं। उन्होंने कहा कि इन विधियों को अपनाने पर विकासोन्मुख देशों के किसानों को महँगे व्यापारिक उर्वरक नहीं खरीदने पड़ेंगे।

डा० आर० सी० डासन ने अमेरिकी और यूरोपीय प्रयोगशालाओं पर हो रहे अनुसन्धान पर प्रकाश डाला, जो विशेष रूप से पौधों और पशुओं के रोगाणुओं का निरोध करते हैं। दूध जैसे धवल रंग के वे बीजाणु (स्पोर) इसके उदाहरण हैं, जिन्होंने अमेरिका में फसलों को नष्ट करने वाले जापानी गुबरैलों की रोकथाम की। उन्होंने कहा कि यदि अफ्रीका में 'त्सेत्से' नामक मक्खी को नियन्त्रित करने वाले विषाणु की खोज कर ली जाये, तो वहां पशुओं के उत्पादन के लिए विशाल क्षेत्र उपलब्ध हो जायँगे। यह मक्खी पशु और मनुष्यों में निद्रा-रोग उत्पन्न करती है, जिससे बहुत से स्थानों पर पशु-पालन का प्रयत्न असम्भव हो जाता है।

उन्होंने कहा कि पौधों और पशुओं के रोगाणुओं को विषाणुओं द्वारा नियन्त्रित करने से अमित लाभ की सम्भावना है क्योंकि इन विषाणुओं से मनुष्य के लिए उस प्रकार का खतरा नहीं होता, जो कभी-कभी रोगाणुनाशक रसायनों से उत्पन्न हो जाता है।

अमेरिकी सेना के अनुसन्धान एवं विकास कार्यालय के डा० कार्ल लामान्ना और अटलांटा, ज्वोर्जिया, के नेशनल इन्स्टिट्यूट आफ हेल्थ कम्युनिकेबुल डिज़ीज़ सेण्टर के डा० एम० एम० ब्रुक ने कहा कि निम्नलिखित प्रकार के उपायों द्वारा अमेरिका के लोग विदेशों में छूत के रोगों की रोकथाम में सहायता पहुँचा सकते हैं :—

—मलेरिया, पीला बुखार और रोहा जैसे रोगों के तात्कालिक निदान और उपचार की सरल विधियों का विकास।

—अपने-अपने देशों की आवश्यकताएं पूरी करने के लिए बहुत बड़ी संख्या में अमेरिका आने वाले विदेशी छात्रों के लिए उपयुक्त प्रशिक्षण की व्यवस्था। डा० लामान्ना ने कहा कि उन्हें सूक्ष्म जीव विज्ञान सम्बन्धी कठिन समस्याओं से अवगत करने के बजाय ऐसा प्रशिक्षण देना चाहिए, जो उनकी आवश्यकताओं के अनुकूल हों।

२. अन्तरिक्ष-यान के लिए नये तार

अमेरिका में बिजली के ऐसे तार विकसित हुए हैं, जो कट या कुचल जाने पर अपने आप उसी प्रकार 'भर' या जुड़ जाते हैं, जिस प्रकार मनुष्य की त्वचा। ये तार विशेष रूप से अन्तरिक्ष-यानों में प्रयुक्त करने के लिए बनाये गये हैं, जिनमें कभी-कभी स्पन्दन, विकिरण, या ताप में शीघ्रता से परिवर्तन के कारण बिजली का परिपथ क्षतिग्रस्त हो जाता है।

इन तारों के मध्य में टिन, मैगनीशियम और ऐल्यूमिनियम के मिश्रण से निर्मित मूलाधार है। जब तार टूट जाता है, तो टूटने वाले स्थान के दोनों छोरों में गलगच्छे या बारीक रोयें निकल कर खाली जगह को भर देते हैं। तात्विक व्यूहाणुओं के ये नन्हें और कोमल गुच्छे कुछ ही दिनों में बढ़ कर लगभग एक इंच के $\frac{1}{25}$ अंश (१ मिलिमीटर) के बराबर हो जाते हैं। एक दूसरे को स्पर्श करने पर वे १ वाट के बराबर बिजली वहन कर सकते हैं। इतनी बिजली अन्तरिक्ष-यान की अधिकांश परिपथ प्रणाली के लिए पर्याप्त होती है।

यद्यपि इन गलगुच्छों का विकास लगभग १२५ अंश फारेनहाइट के बराबर वाले तापमान के अन्तर्गत तीव्रतम गति से होता है, किन्तु यह अन्तरिक्षयान के बन्द भीतरी भागों में सामान्यतः पाये जाने वाले ७० अंश फारेनहइट के तापमान में भी सक्रिय होता है। वैज्ञानिक अभी निश्चित रूप से यह बताने में असमर्थ हैं कि धात्विक गलगुच्छों के अंकुरण और विकास का कारण क्या है। यह विधि मिन्नियापोलिस हनीवेल रेग्यूलेटर कम्पनी द्वारा विकसित हुआ है, जिसने कटा सरकिटों को अपने आप जोड़ देने की भी एक विधि विकसित की है। इस द्वितीय विधि के अन्तर्गत तार पर धातु का एक ऐसा मिश्रण चढ़ाया जाता है, जो अत्यन्त कम ताप पर ही पिघल सकता है, किन्तु कड़ा हो जाने पर उसमें से बिजली संचारित हो सकती है। यदि अति तप्त होने से परिपथ कट जाये, तो अपर लपेटी धातु की चद्दर पिघल जाती है, जिससे कटान भर जाता है और कड़ा होकर फिर विद्युत संचारित करने लगता है।

३. लघुतम कण की खोज

पिछले ७, ५०० वर्षों से पदार्थ के लघु से लघुतम कणों की जो खोज चालू है, उसका अन्त, हो सकता है अब निकट हो। अमेरिकी वैज्ञानिकों को इस बात का प्रमाण मिला है कि प्रोटोन और न्यूट्रोन, जिनके कारण ही सृष्टि के अन्तर्गत पदार्थ में प्रायः समस्त भार का सन्निवेश होता है, और जो निर्माण करने वाले खण्ड हैं, शक्तियों के जेली जैसे पुंज होते हैं, उनके भीतर न तो कोई कड़ा मर्माधार होता है, और न ही कोई अन्तर्मार्ग।

ये खोजें हारवर्ड विश्वविद्यालय और मैसाचूसेट्स ये इन्स्टिट्यूट ऑव् टैक्नोलौजी द्वारा कैम्ब्रिज, मैसाचूसेट्स, में निर्मित नये 'इलेक्ट्रोन एक्सेलरेटर' की सहायता से सम्भव हुई हैं। यह एक्सेलरेटर (विद्युत्धर्मी कणों में तीव्र गति का संचार करने वाला यन्त्र) १९६३ के प्रारम्भ में चालू हुआ। यह विश्व में इस प्रकार के द्वितीय सबसे शक्तिशाली एक्सेलरेटर से तीन गुना अधिक शक्तिशाली है।

हारवर्ड विश्वविद्यालय के डा० रिचर्ड विल्सन ने बताया कि वैज्ञानिकों ने इस यन्त्र का प्रयोग इलेक्ट्रॉनों में प्रकाश की गति की ९९.९९९९७ प्रतिशत गति का जो मानव द्वारा अब तक उत्पन्न उच्चतम वेग है — संचार करने के लिए किया। इलेक्ट्रॉनो के लक्ष्य

प्रोटॉन जैसे तत्व थे ; और इलेक्ट्रॉन अपने पथ से जिस प्रकार मुड़े या हटे, उससे लक्ष्य के ढाँचे के विषय में सूचना प्राप्त हुई।

लघुतम कणकी खोज ईसा से ५०० वर्ष पूर्व उस समय प्रारम्भ हुई, जब यूनानी दार्शनिकों ने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया कि पदार्थ का निर्माण अविभाज्य इकाइयों या 'अणुओं' द्वारा हुआ है, जो इतने सूक्ष्म हैं कि आँख से देखे नहीं जा सकते। किन्तु आधुनिक विज्ञान ने यह सिद्ध कर दिया कि स्वयं अणुओं का निर्माण और भी लघुतम 'प्राथमिक' कणों द्वारा हुआ है।

४. वैज्ञानिकों द्वारा कृत्रिम सेल्युलोस् का निर्माण

अमेरिकी वैज्ञानिकों को प्रयोगशाला में कृत्रिम साधनों द्वारा सेल्यूलोस् का निर्माण करने में सफलता मिली है। उन्होंने इस प्रकार के कृत्रिम सेल्यूलोस् का निर्माण करने में उन्हीं उपायों का अनुकरण किया, जिनका प्रयोग हरी पत्तियों वाले पौधे प्राकृतिक सेल्यूलोस् का निर्माण करने में करते हैं। इस सफलता से पौधों के विकास की प्रक्रिया सम्बन्धी मनुष्य के ज्ञान में अत्यधिक वृद्धि हुई है।

सेल्यूलोस् प्रकृति में विद्यमान समस्त जैविक घोलों में सबसे अधिक प्रचुरता से पाया जाने वाला घोल है। यह काष्ठ, रुई और अन्य सुपरिचित प्राकृतिक उत्पादों में निहित प्रमुख पदार्थ तथा कागज, रेयन, सेलोफेन और प्लास्टिक जैसे मानव-निर्मित उत्पादों के निर्माण में प्रयुक्त महत्वपूर्ण सामग्री है। वैज्ञानिकों को सेल्यूलोस् के रासायनिक स्वरूप की जानकारी बहुत पहले से प्राप्त है, किन्तु अभी तक उन्हें कोई ऐसी विधि ज्ञात नहीं हो सकी थी, जिसके द्वारा वे "कृत्रिम सेल्यूलोस्" का निर्माण कर सकते।

जिन वैज्ञानिकों ने यह जटिल प्रयोग किया, वे हैं ; बर्कले में केलिफोर्निया विश्वविद्यालय के सहायक अनुसन्धानकर्ता जीव-रसायनशास्त्री, जार्ज ए० बार्बर और एलेन स्लबीन तथा जीव-रसायन विज्ञान के प्रोफेसर डा० विलियम जेड० हैसिड। डा० हैसिड उन वैज्ञानिकों में भी सम्मिलित थे, जिन्होंने बर्कले में 'सुक्रोज्' का (जो साधारण चीनी होती है) प्रयोगशाला में कृत्रिम रूप से निर्माण किया। यह सफलता १९४४ में प्राप्त हुई थी।

सेल्यूलोस् सम्बन्धी इस सफलता के सिलसिले में वैज्ञानिकों ने मूलतः ग्लूकोज को परस्पर सम्बद्ध करके सेल्यूलोस् व्यूहाणुओं का निर्माण किया। किन्तु ऐसा करने के लिए, उन्हें उन रासायनिक प्रक्रियाओं को चुनना और दुहराना पड़ा, जो सजीव पौधे के भीतर प्राकृतिक रूप में होती हैं। उन्होंने 'ग्वानोसाइन डाइफास्फेट ग्लूकोज' नामक एक मध्यवर्ती घोल का कृत्रिम रूप से निर्माण करके, और उसके बाद, अनेक जटिल प्रक्रियाओं के अन्तर्गत अन्य तत्वों का प्रयोग करके यह कार्य सम्पन्न किया।

डा० हैसिड ने कहा कि इस बात की कोई सम्भावना नहीं कि कृत्रिम सेल्यूलोस् किसी समय प्राकृतिक सेल्यूलोस् को हटा कर उसका स्थान ग्रहण कर लेगा, क्योंकि अभी भी सजीव पौधे ही सेल्यूलोस् के सबसे सक्षम उत्पादक हैं। किन्तु जिस विधि से सेल्यूलोस् का निर्माण होता है, उसकी जानकारी रसायन उद्योग में उपयोगी सिद्ध होगी और इससे वैज्ञानिकों को आधारभूत जीव-वैज्ञानिक प्रक्रियाएं समझने में सहायता मिलेगी।

५. चिकित्सकों द्वारा बिजली का प्रयोग

अमेरिका के अनेक चिकित्सक, रोगी के जीवन की लम्बाई की सूचना देने वाले सम्भाव्य साधन के रूप में, मस्तिष्क के भीतर रक्त--प्रवाह की माप करने के लिए बिजली प्रयोग कर रहे हैं। वाशिंगटन में, जार्जटाउन विश्वविद्यालय के न्यूरोलाजिकल अनुसन्धान के निदेशक, डा० स्टेनली ए० रेडवान -- जीमनोविक्ज् ने, जो इस विधि के प्रणेताओं में से एक हैं, कहा कि इस

विधि द्वारा रोगी की 'सार्थक आयु' का पता चल जाता है, जो प्राय: उसकी जन्म-तिथि संगत आयु से संगत आयु से भिन्न होती है।

उन्होंने कहा कि मस्तिष्क की रक्तवाहक शिराओं में विकार उत्पन्न हो जाने से कोई पीड़ा उत्पन्न नहीं होती। किन्तु यदि रोगी नाम या अन्य तथ्य याद करने में असमर्थ हो जाये, अथवा उसके व्यक्तित्व में कुछ परिवर्तन दिखलायी पड़े, तो विकार का सन्देह किया जा सकता है। उन्होंने कहा कि मस्तिष्क की रक्त-शिराओं की दशा जीवन की लम्बाई का निर्धारण करने में एक महात्वपूर्ण तत्व है। डा० जीमनोविक्ज़ सिर से २२ इलेक्ट्रोड सम्बद्ध करके और मस्तिष्क की रक्त-शिराओं में बिजली की पीड़ा न उत्पन्न करने वाली धारा संचारित करके रक्त-प्रवाह का माप करते हैं। उन्होंने कहा कि इसी प्रकार की विधि द्वारा हृदय की मांस पेशियों में रक्त पहुँचाने वाली रक्त--शिराओं के विकारों का भी पता लगाया जा सकता है। इस प्रकार के विकारों के परिणामस्वरूप रोगी की हृदय की गति अचानक बन्द हो सकती है और वह मृत्यु का शिकार हो सकता है।

६. कीटाणुओं पर नियंत्रण करने के लिए विषाणु

बन्दगोभी को हानि पहुँचाने वाले कीड़े 'केबेज लूपर' तथा मक्का को हानि पहुँचाने वाले कीड़े 'कार्न इयरवर्म' पर नियंत्रण करने के लिए अमेरिकी कृषि विभाग द्वारा ऐसे विषाणुओं का सफलता पूर्वक प्रयोग किया गया है, जो भारी संख्या में उत्पन्न किये गये हैं। उनसे मनुष्यों को किसी प्रकार की हानि नहीं पहुँचती है, किन्तु फसलों को हानि पहुँचाने वाले दो प्रकार के कीड़े नष्ट हो जाते हैं। इयरवर्म नामक कीड़ा 'काटन बोलवर्म' तथा 'टोमैटो फूटवर्म' के नामों से भी प्रसिद्ध हैं, क्योंकि वह इन फसलों को भी हानि पहुँचाता है।

परीक्षणों से पता चला है कि प्रारम्भ में इन विषाणुओं को छिड़कने से कृत्रिम रूप में पौधों को क्षति पहुँचाने वाले कीटाणुओं में व्यापक रोग फैल जाता है और इस प्रकार फसलों को हानि पहुँचाने से पूर्व उन कीटाणुओं पर नियंत्रण हो जाता है। अमेरिकी कृषि विभाग के वैज्ञानिक अब यह निश्चय करने का प्रयत्न कर रहे हैं कि किस-किस समय, कितनी बार तथा कितनी मात्रा में विषाणुओं का प्रयोग किया जाना चाहिये।

७. निकली हुई धातु की वस्तुओं को निकालने की विधि

अचानक गलती से निगल ली गई धातु की वस्तुओं को पेट से चीर-फाड़ किये बिना ही बाहर निकाल लेने के लिए अमेरिका में दो चुम्बकीय उपकरण विकसित हुए हैं। ये दोनों उपकरण इस कठिन कार्य को २ या ३ मिनट में ही कर सकते है और ऐसा करने के लिए रोगी को अस्पताल में ले जाने का बेहोशी की दवा देने की भी आवश्यकता नहीं पड़ती। ये उपकरण बाल में लगायी जाने वाली पिन को निगल लेने के बाद अंतड़ी या पेट से खींच कर बाहर निकाल लेने में उपयोगी सिद्ध हो चुके हैं।

भूत काल में, चिकित्सक निगले हुए धात्विक पदार्थ को पेट से बाहर खींच लाने के लिए गले के भीतर एक तार प्रविष्ट करके उसमें बँधा छोटा चुम्बक पेट में लटका देते थे। जब वह चुम्बक धातु की वस्तु को स्पर्श करता तो वह वस्तु उस से सँठ जाती। फिर चुम्बक और उस वस्तु को बाहर खींच लिया जाता था। चिकित्सक एक फ्लोरोस्कोप से रोगी के शरीर के भीतर की इस क्रिया को देखता रहता था।

किन्तु इस विधि को कुछ प्रकार की वस्तुएं निकालने में प्रयुक्त करना खतरे से खाली नहीं। 'खुली हुई सेफ्टी पिन इसी प्रकार की एक वस्तु है। हो सकता है कि चुम्बक पिन को उस अवस्था में खींचे जब उसका तेज नुकीला सिरा ऊपर की ओर उन्मुख हो। ऐसा होने पर पेट और अँतड़ी की नाजुक दीवारों के

छिद्रित होने का भय रहता है। नये उपकरणों में एक बटनदार चुम्बक' (स्विचेबुल मैगनेट) है, जिसके बटन को इच्छानुसार दबाकर चुम्बकीय शक्ति उत्पन्न या बन्द की जा सकती है। इसे एक फ्लोरोस्कोप की सहायता से आगे बढ़ते हुए खुली सेफ्टी पिन की स्प्रिंग के पास ले जाया जा सकता है। वहाँ पहुँचने पर बटन दबाकर चुम्बक को इस प्रकार चालू किया जा सकता है, ताकि पिन घूम कर उलटी हो जाये और उसका सिरा नीचे और कुन्द सिरा ऊपर की ओर होकर चुम्बक के साथ खिंचने लगे।

'बटनदार चुम्बक' मूलतः स्टेनलेस स्टील के एक तार द्वारा निर्मित होता है, जिसकी लम्बाई ३० इंच और जिसका व्यास १/४ इंच होता है। तार के अंतिम छोर पर एक चुम्बक होता है। तार और चुम्बक प्लास्टिक की एक ट्यूब में बन्द होते हैं जिस पर लोहे का एक ढक्कन होती है। चिकित्सक अपने हाथ के सिरे से तार को ट्यूब में इस प्रकार फैला सकता है, ताकि चुम्बक लोहे के ढक्कन को स्पर्श करने लगे। ऐसा होने पर ढक्कन में चुम्बकीय शक्ति का संचार हो जाता है। चुम्बक को फिर अपनी ओर खींच कर चिकित्सक ढक्कन को चुम्बक की शक्ति से रहित बना सकता है।

दूसरा उपकरण एक 'घुमावदार चुम्बक' होता है। किन्तु इसके अन्तिम सिरे के निकट एक स्प्रिंगदार कब्जा लगा होता है, जिसके कारण उस सिरे को ऊपर की ओर घुमा कर अँतड़ी के उस ऐंठनदार भाग तक पहुँचाया जा सकता है, जहाँ पहले किसी उपकरण का पहुँचना जा असम्भव था।

ये दोनों ही उपकरण शेनेक्टेडी, न्यूयार्क की जेनरल इलेक्ट्रिक रिसर्च लेबोरेटरी द्वारा विकसित हुए हैं। इन उपकरणों का परीक्षण गला-आंत्र विभाग के निदेशक, डा० आर्थर क्यू० पेण्टा, उस नगर के सेण्ट-क्लेयर और एलिस अस्पतालों में कर रहे हैं। उन्होंने बताया कि परीक्षण के दौरान उन्होंने इन उपकरणों का प्रयोग निगले गये सिक्कों, धातु के खिलौनों, सुइयों, पिनों तथा काफी के डिब्बे की कुंजी को पेट से बाहर निकालने के लिए भी किया है।

उन्होंने कहा कि फ्लोरोस्कोप के निर्देशन के अन्तर्गत इन उपकरणों को पेट या अंतड़ी के भीतर इधर-उधर घुमाने-फिराने के लिए विशेष प्रशिक्षण की आवश्यकता नहीं पड़ती। ये दोनों उपकरण 'एलनिको-पंचम' नामक मिश्रित धातु से निर्मित चुम्बक हैं। 'एलनिको-पंचम' जेनरल इलेक्ट्रिक लेबोरेटरी में विकसित हुआ है और इस समय उपलब्ध सब से शक्तिशाली चुम्बकीय सामग्रियों में से एक है। यद्यपि इन उपकरणों में प्रयुक्त चुम्बक का व्यास केवल १/४ इंच के बराबर है, फिर भी यह १ पौण्ड वजनी पदार्थ को उठा सकता है। अभी इन उपकरणों का प्रयोग परीक्षण के लिए ही हो रहा है और सामान्य रूप से विक्रय के लिए इनका उत्पादन नहीं हो रहा है।

८. हिन्द महासागर की पड़ताल

हिन्द महासागर के अन्तर्राष्ट्रीय अनुसन्धान-अभियान की योजना के सम्बन्ध में अप्रैल मास में दो उल्लेखनीय घटनाएं हुईं।

कैलफोर्निया के स्टैनफर्ड विश्वविद्यालय का जीव-जन्तुओं की खोज करने वाला जहाज 'टे वेगा' मछलियों, घोंघों और सीप आदि की बहुमूल्य किस्में लेकर कोचीन बन्दरगाह (दक्षिण भारत) में पहुँचा। अनुसन्धान-कार्यक्रम का निर्देशन करने वाली एक महिला उस जहाज पर थीं।

वहां से १,००० मील दूर एक और अनुसन्धान-कारी अमेरिकी जहाज 'पायोनियर' दो भारतीय वैज्ञानिकों को लेकर हिन्द महासागर के नीचे पहाड़ों और घाटियों का पता लगाने में अमेरिकी विशेषज्ञों का हाथ बटायेंगे।

डा० डिक्सी ली-रे पिछले जून में प्रो० रौल्फ बोलिन के नेतृत्व में हिन्द महासागर में 'टे वेगा'

जहाज के पहले दौरे के समय आई थीं। डा० रे अब दूसरे दौरे पर निकली हैं। उनका यह दौरा १४ मार्च को कोलम्बो से शुरू हुआ था। यह जीवशास्त्रियों और समुद्रमापकों तथा ८ विद्यार्थियों की खोजबीन का नेतृत्व कर रही हैं।

जो दो भारतीय वैज्ञानिक 'पायोनियर' जहाज पर कलकत्ता पहुँचे हैं उन के नाम हैं लेफ्टिनेण्ट-कर्नल के० एल० खोसला (भारतीय भू-सर्वेक्षण विभाग की भू-मापन एवं अनुसन्धान शाखा के उपनिदेशक) तथा डा० एम० सूब्बाराव (आन्ध्र विश्व विद्यालय के शिक्षक)।

'पायोनियर' जहाज गत फरवरी में सैनफ्रांसिस्को से रवाना हुआ था। इसके वैज्ञानिक विद्युदाणविक उपकरणों से समुद्रतल की पड़ताल करेंगे।

इस कार्यवाही में भाग लेने वाले ३२ देशों में अमेरिका प्रमुख है। वह अपने ११ जहाजों के अतिरिक्त अनुसन्धान-कार्य की १ करोड़ ३५ लाख डालर लागत में से आधा खर्च भी देगा।

९. विश्वविद्यालयों द्वारा विज्ञान-गोष्ठियों का आयोजन

पिछले दिनों नई दिल्ली में दो दिन की एक गोष्ठी हुई थी, जिसमें १६ भारतीय विश्वविद्यालयों के विज्ञान विषयक ३२ प्रोफेसरों ने 'विश्वविद्यालय अनुदान आयोग' और अमेरिका की 'अन्तर्राष्ट्रीय विकास एजेन्सी' के प्रतिनिधियों के साथ भाग लिया।

यह गोष्ठी कालेजों के विज्ञान तथा गणित विषयक शिक्षकों के लिए १६ ग्रीष्मकालीन पाठ्यक्रमों की तैयारी के सिलसिले में की गई थी। ये ग्रीष्मकालीन पाठ्यक्रम भारत के सभी भागों के विश्वविद्यायों में ८ जून से १५ जुलाई तक चलेंगे। इन पाठ्यक्रमों का आयोजन 'विश्वविद्यालय अनुदान आयोग' ने अमेरिका की अन्तर्राष्ट्रीय विकास एजेन्सी से मिल कर किया है। आशा है कि इन पाठ्यक्रमों में कालेजों के लगभग ८०० शिक्षक भाग लेंगे।

अमेरिका की विकास एजेन्सी इस कार्यक्रम के लिए ५,७०,००० डालर (२७ लाख रुपये) का अनुदान दे रही है। इसके अलावा अमेरिकी कृषि-सामग्री की बिक्री से प्राप्त धन में से भी १८ लाख रुपये दिये जा रहे हैं।

१०. एक नवीन रासायनिक उर्वरक फैक्टरी

विशाखापत्तनम् (आन्ध्र प्रदेश) में कायम किये जाने वाले भारत के एक सबसे बड़े रासायनिक खाद कारखाने के लिए कुल मिला कर २३.६ करोड़ रुपये (४ करोड़ ९७ लाख डालर) के दो अमेरिकी विकास-ऋण दिये जाने के बारे में अप्रैल मास में वाशिंगटन में समझौतों पर हस्ताक्षर किये गये। ये ऋण 'कोरोमण्डल फर्टिलाइजर्स लिमिटेड' को दिये जा रहे हैं। इस नई कम्पनी की स्थापना भारतीयों और अमेरिकियों के सहयोग से की गई है।

नये कारखाने के १९६७ के अन्त तक चालू हो जाने की आशा है। इसमें प्रतिवर्ष ३, ६५,००० टन अमोनियम फास्फेट और १६,५०० पौण्ड यूरिया तैयार किया जायेगा। कारखाने में पूरे जोरशोर से काम होने पर, आन्ध्र-प्रदेश में रासायनिक खाद की जितनी खपत होती है उस के एक-तिहाई से अधिक भाग की पूर्ति हो सकेगी। इसके आलावा यह कारखाना मैसूर, मद्रास, उड़ीसा और मध्यप्रदेश की कुछ आवश्यकताओं को भी पूरा करेगा।

इस कारखाने में जो रासायनिक खादें तैयार की जायेंगी वे इस क्षेत्र में होने वाली चावल, गन्ना और तम्बाकू जैसी मुख्य फसलों के लिए विशेष रूप से उपयुक्त होंगी और इतनी मात्रा में उपलब्ध हो सकेंगी कि फसलों की पैदावार में १० लाख टन वार्षिक की वृद्धि हो सके। इसके अलावा नये कारखाने से साल भर में लगभग १० करोड़ रुपये की विदेशी मुद्रा की बचत हो सकेगी।

'कोरोमण्डल फर्टिलाइजर्स, लिमिटेड' की स्थापना मद्रास की पैरी कम्पनी, कैलिफोर्निया कैमिकल कम्पनी और इलिनौय के 'इण्टरनेशनल मिनरल्स एण्ड कैमिकल्स कार्पोरेशन' ने मिलकर की है।

पिछले सप्ताह जिन दो समझौतों पर हस्ताक्षर किये गये, उनमें से एक ऋण अमेरिकी निर्यात-आयात बैंक द्वारा दिया जायेगा। यह ऋण कुल मिला कर २ करोड़ ७० लाख डालर (१२.६ करोड़ रुपये) का होगा। १०.७ करोड़ रुपये (२ करोड़ २५ लाख डालर) का दूसरा ऋण अमेरिका की अन्तर्राष्ट्रीय विकास एजेन्सी देगी।

१. जैमिनी और चान्द्र उड़ानों की तैयारी

प्रथम समानव अंतरिक्ष उड़ानें १६६१ में सम्पन्न हुई। उसके तीन वर्ष बाद, अब, बाह्य अंतरिक्ष की यात्राओं के विषय में अमेरिकी अन्तरिक्ष-यात्रियों और उनके सह-कर्मियों का दृष्टिकोण क्या है ?

हाल में, जब अन्तरिक्ष-यात्री जेम्स लोवेल से पूछा गया कि अंतरिक्ष यात्रा सम्बन्धी कठिनाइयां क्या हैं, तो उन्होंने अपनी तथा दो मनुष्यों को ढोने के लिए बन रहे जैमिनी अंतरिक्ष-यान की उड़ानों के लिए प्रशिक्षण प्राप्त कर रहे २८ अन्य चालकों की ओर से विचार व्यक्त करते हुए कहा :

"अमेरिका में यात्रा के जितने भी ढंग अपनाये जा रहे हैं, उनमें अंतरिक्षीय उड़ान प्रायः अधिकतम सुरक्षित ढंग है। सोचिये तो कि हमने कितने करोड़ मील की यात्रा बगैर किसी दुर्घटना के पूरी की है ?"

तीन मनुष्यों को ढोने वाले अपोलो अंतरिक्ष-यान की चान्द्र यात्रा के सम्बन्ध में लेफ्टनेण्ट कमाण्डर लोवेल ने कहा : "हम सभी अंतरिक्ष-यात्रियों की आकांक्षाएं एक सी हैं। हम सभी यह यात्रा करने के लिए आतुर हैं।"

"किन्तु, मेरा मत है कि यह यात्रा टोली के रूप में काम करने की भावना से ही पूरी होगी। चाहे हम यहाँ पृथ्वी पर वापिस लौट आये हों, या अंतरिक्ष-यान में हों, अथवा सचमुच चन्द्रमा की सतह पर पहुँच रहे हों, हर दशा में टोलीबद्ध ढंग पर काम करना ही सबसे महत्वपूर्ण बात है; यात्रा के लक्ष्य को पूरा करने के लिए हम सभी को एक साथ मिल कर कार्य करना होगा।"

उन्हें तथा ८ अन्य चालकों को १६६२ में राष्ट्रीय उड्डयन एवं अन्तरिक्ष प्रशासन (नैसा) के अंतरिक्ष-यात्रियों की दूसरी टोली के लिए चुना गया था। उस

समय, अंतरिक्ष-यात्री नील आर्मस्ट्रांग ने कहा था कि "अज्ञात की सामान्य चुनौती" ही वह बात थी, जिससे प्रेरित होकर उन्होंने इस कार्य के लिए स्वेच्छा से अपनी सेवाएं अर्पित की थीं।

हाल में, अंतरिक्ष-यात्री आर्मस्ट्रांग ने कहा : "मुझे तो यह सारा धन्धा ही चित्ताकर्षक प्रतीत होता है। मैं समझता हूँ कि शून्य गुरुत्वाकर्षण (भारहीनता) जैसी स्थितियों का अनुभव प्राप्त करना; यह देखना कि इन अंतरिक्ष-वाहनों को हम किस प्रकार नियंत्रित कर सकते हैं; उड़ान के दौरान बाह्य अन्तरिक्ष में किसी अन्य वस्तु के साथ यान के संगमित होने और उस पर सवार होने की क्रिया से गुजरना; और अन्तिम चरण के रूप में, यान से पृथक होकर चन्द्रमा की सतह पर उतरने की दिशा में प्रथम कदम उठाना बहुत ही आह्लादकारी अनुभव सिद्ध होगा।"

अन्तरिक्ष-यात्री एडवर्ड ह्वाइट भी इस विचार से सहमत थे। उन्होंने कहा : "मैं समझता हूँ कि हमें बहुत सारे रोमांचकारी अनुभव होंगे। जैमिनी उड़ान सम्बन्धी तैयारी जोरों पर है और मैं एक, अथवा अनेक, जैमिनी उड़ानों की उत्सुकता से प्रतीक्षा कर रहा हूँ। मैं समझता हूँ कि हममें से किसी को भी सुलभ हो सकने वाला सबसे बड़ा रोमांचकारी अनुभव उस समय प्राप्त होगा, जब हम पहली बार चन्द्रमा पर उतरेंगे।"

अन्तरिक्ष-यात्री इलियट उन इने-गिने अन्तरिक्ष-यात्रियों में हैं, जिन्हें पर्याप्त अनुभव प्राप्त है। उन्होंने वैज्ञानिक पहलुओं पर विचार व्यक्त करते हुए कहा : 'मूलतः मैं अन्तरिक्ष कार्यक्रम को एक विशाल अनुसंधान कार्यक्रम मानता हूँ। अन्तरिक्ष के क्षेत्र में बहुत से ऐसे पक्ष हैं, जिनके विषय में जानकारी प्राप्त की जा सकती है, और ऐसा करना आवश्यक भी है। हम इन सभी के विषय में खोज करेंगे। इनमें से कुछ पक्ष खगोल विज्ञान से सम्बद्ध होंगे, जब कि कुछ का सम्बन्ध प्राणिविज्ञान और सूर्य से ऊर्जा के निस्सरण से होगा। अनेक ऐसे पक्ष हैं, जो हमें नया दृष्टिकोण और अब तक की अपेक्षा अधिक व्यापक जानकारी प्रदान करेंगे।'

डा० राबर्ट वोआस ने 'नैसा' के ह्यूस्टन, टेक्सास, स्थित समानव अन्तरिक्ष-यान केन्द्र पर उनके साथ प्रतिदिन काम किया। वह प्रत्येक व्यक्ति से अच्छी तरह परिचित हैं और अन्तरिक्ष-यात्रियों और उनके परिवारों के घनिष्ठ मित्र हैं। अन्तरिक्ष-यात्रियों के विषय में अपना विचार व्यक्त करते हुए, उन्होंने कहा : 'वे कठोर जीवन बिताते, कठिन श्रम करते और जम कर खेलते हैं। उनकी जीवन-प्रणाली ऐसी ही है। यदि आप सर्वत्र उनका पीछा करें, तो एक दिन में वे तरह-तरह के जितने सारे काम करते हैं, उनकी मात्रा को देखकर आपकी दम फूलने लगेगी।

'वे बहुत कठिन परिश्रम करते हैं, किन्तु जब आराम करने और खेलने का समय आता है, तो वे जी खोल कर खेलते हैं। किन्तु यह उनके प्रशिक्षण सम्बन्धी कार्यक्रम में सम्मिलित नहीं है। निस्सन्देह, इन सभी व्यक्तियों के लिए मनोरंजन का एक समय होता है। वे अपने लिए सामाजिक मेल-मिलाप का आयोजन करते हैं, जिनमें वे और उनकी पत्नियाँ आपस में मिलती-जुलती हैं। इस प्रकार वे घनिष्टता के सूत्र में आबद्ध टोली का निर्माण करते हैं।'

डा० वोआस ने अंतरिक्ष-यात्रियों की व्यंग-विनोद की क्षमता की सराहना करते हुए कहा कि वे अपने प्रशिक्षण-कार्यक्रम के कुछ दवाबों और तनावों को हल्का करने के लिए आपस में खूब हँसते हँसाते— यहाँ तक कि अपनी और अपने सहयोगियों की खिल्ली उड़ाने में भी नहीं चूकते। उन्होंने कहा : "उनमें से कितने ही अपने विनोदी स्वभाव के लिए प्रसिद्ध हैं। बैली शिर्रा प्रभावकारी ढंग पर कहानी सुनाने में कुशल और बहुत ही विनोदी व्यक्ति हैं। इसके विपरीत, 'गस' या ग्रिसम का हँसी-मजाक बहुत ही क्रूर होता है। तीर आप तक पहुँच गया, लेकिन

आपको यह आभास भी नहीं हुआ कि आपको ही निशाना बनाया गया है। आप देखेंगे कि उन सभी का अपना-अपना मौका आता है, जब वे खुल कर हंसी मजाक करते हैं।'

अपने पेशे के स्वरूप तथा लोगों के बीच अपने विचारों को भली-भाँति व्यक्त करने की योग्यता के कारण प्रत्येक अंतरिक्ष-यात्री भाषण करने के लिए अनेक स्थानों से निमंत्रित होता है। किन्तु उनका कार्यक्रम इतना बँधा-कसा होता है कि उन्हें इस प्रकार के बाहरी क्रियाकलापों के लिए बहुत ही कम अवकाश मिल पाता है।

राष्ट्रीय उड्डयन एवं अंतरिक्ष प्रशासन (नैसा) के एक अधिकारी, जीन होर्टन, ने स्थिति को स्पष्ट करते हुए कहा :

'यदि हमें अपने अंतरिक्ष-कार्यक्रम को अत्यावश्यकता की भावना के साथ जारी रखना है, तो इनमें से अधिकांश अनुरोधों को अस्वीकार करना पड़ेगा। कभी-कभी इस प्रकार का निर्णय बहुत ही कटु सिद्ध होता है, क्योंकि कितने ही ऐसे उचित उद्देश्य होते हैं, जिनका समर्थन करना अन्तरिक्ष-एजेंसी की दृष्टि में वांछनीय होता है. और साथ ही, कर-अदा करने वाले नागरिकों को समय-समय पर इन व्यक्तियों के सम्पर्क में आने का अवसर मिलना ही चाहिए।

'हम राष्ट्रीय और प्राविधिक-वैज्ञानिक संगठनों के वार्षिक सम्मेलनों में इन व्यक्तियों के भाषण के आयोजन का पूरा प्रयत्न करेंगे, बशर्ते कि यह स्पष्ट हो जायगा कि इसके परिणामस्वरूप विचारों और जानकारियों का उपयोगी आदान-प्रदान सम्भव होगा।'

जब कभी अन्तरिक्ष-यात्री भाषण सम्बन्धी कोई अनुरोध स्वीकार कर लेते हैं, तो वे प्राय: अपने कार्यकलाप के सम्बन्ध में बड़ी गम्भीरता के साथ भाषण करते हैं। डा० वोआस ने कहा :

'ये सभी व्यक्ति जनता के समक्ष भाषण करते समय अपने उत्तरदायित्व से पूर्णतया अवगत होते हैं। बड़ी-बड़ी सभाओं में भाषण करते समय, वे स्वभावतः व्यंग-विनोद की भाषा का प्रयोग करने में हिचकते हैं, क्योंकि उन्हें भय होता है कि कहीं लोग यह न समझ लें कि वे एक गम्भीर विषय का मजाक उड़ा रहे हैं।

'जन-साधारण से भेंट-मुलाकात करते समय उनमें से कोई भी अपने आपको पेशेवर अन्तरिक्ष-यात्री होने का आभास नहीं देता। जिस कुशलता के साथ वे आम लोगों से मिलते-जुलते तथा बड़े श्रोता समूहों के सामने, टेलिविजन पर और सम्वाददाताओं के समक्ष अपने लक्ष्यों को भली-भाँति स्पष्ट करते हैं, उसे देख कर मुझे आश्चर्य चकित होना पड़ा है। किन्तु यह योग्यता उनमें आसानी से नहीं आयी है, क्योंकि वे इस क्षेत्र में निश्चय ही पेशेवर नहीं हैं—पेशे की दृष्टि से वे केवल परीक्षणगत चालक ही हैं।'

सामान्य श्रोता-समूहों के समक्ष भाषण करने की योग्यता बढ़ाने के लिए अनेक अन्तरिक्ष-यात्रियों ने जिन साधनों का प्रयोग किया है, उनमें से एक है—टोस्टमास्टर्स इण्टर्नेशनल नामक संगठन में भाषण करने का अभ्यास। इसे स्पष्ट करते हुए अन्तरिक्ष-यात्री टामस स्टैफोर्ड ने कहा : 'टोस्टमास्टर्स इण्टर्नेशनल आत्म-सुधार के लिए निर्मित अत्यन्त लोकप्रिय संगठन है। जिस समय मैं कक्षा-गत प्रशिक्षण का अध्यापक और उड्डयन का शिक्षक था, मैंने देखा कि छात्रों के समक्ष अपने विचारों को प्रभावकारी ढंग पर प्रस्तुत करने में मुझे इस बात से बहुमूल्य सहायता मिली कि मैं टोस्टमास्टर्स संगठन में शामिल था।'

२. मौसम-नियन्त्रण से लाभ

परिभाषा के अनुसार, विशुद्ध विज्ञान ज्ञान की खोज में निहित है। उस ज्ञान को व्यावहारिक प्रयोग में लाना शिल्पोद्योग का विषय है। पिछले कुछ दशाब्दों में खोज और प्रयोग की इस संयुक्त प्रक्रिया

ने इतनी अधिक प्रगति कर ली है कि कम से कम अधिकतम विकसित देशों में तो जीवन का स्वरूप ही परिवर्तित हो गया है। नवीन सामग्रियों एवं प्रविधियों ने वास्तुशिल्प के नवीन रूपों, सचार और परिवहन की नई और तीव्रतर किस्मों और यहाँ तक कि मनोरंजन के नये रूपों को भी, प्रश्रय दिया है। खाद्य-सामग्रियों के उत्पादन और परिशोधन की विधियाँ भी मनुष्य द्वारा जीविकोपार्जन के लिए अपनाये गये पेशों में हो रहे परिवर्तनों के साथ-साथ ही परिवर्तित हुई हैं। किन्तु, मनुष्य के वातावरण में भविष्य में होने वाले सबसे बड़े परिवर्तनों में से कुछ सम्भवत: विज्ञान के एक ऐसे पहलू की देन होंगे, जिसका महत्व क्रमश: बढ़ता जा रहा है—और वह है मौसम को परिवर्तित करने की विधियों के सम्बन्ध में हो रहा अनुसन्धान।

यह अनुसन्धान इस समय २० देशों में प्रगति की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं से गुजर रहा है। इसके अन्तर्गत, घर के बाहर किये जाने वाले कार्यों के लिए मौसम की सुखद स्थितियाँ उत्पन्न करने का ही, प्रयत्न नहीं हो रहा है, बल्कि कुछ उससे भी महत्वपूर्ण उद्देश्य पूरा करने का प्रयत्न किया जा रहा है। वैज्ञानिकगण एक ओर तो वर्षारहित शुष्क क्षेत्रों में वर्षा लाने के लिए, और दूसरी ओर, बाढ़ की आशंका वाले क्षेत्रों में वर्षा की मात्रा कम करने के लिए अथक प्रयत्न कर रहे हैं।

अनुसन्धानकर्त्ता कुहरे को मिटाने, ओले की वर्षा को रोकने, बिजली को नियन्त्रित करने, तथा आंधी तूफान, झंझावात और अन्य वायु-मण्डलीय संकटों को रोकने की विधियाँ ढूंढ़ रहे हैं। उनकी सफलता के फलस्वरूप, जहाँ जीवन और सम्पत्ति की प्रति वर्ष होने वाली भयंकर क्षति पर रोकथाम लग सकती है, वहीं विश्व की तीव्र गति से बढ़ रही जनसंख्या के लिए खेती की उपज में अमित वृद्धि भी हो सकती है।

मानवता के लिए इन अगणित लाभों की पूर्व-कल्पना से प्रेरित होकर अमेरिकी कांग्रेस ने १९५८ में एक कानून स्वीकार किया, जिसके अन्तर्गत अमेरिकी राष्ट्रीय विज्ञान प्रतिष्ठान को यह निर्देश दिया गया कि वह अपने वैज्ञानिक कार्यक्रम में जो पहले ही से व्यापक है, अनुसन्धान के इस क्षेत्र को भी शामिल कर ले। यह प्रतिष्ठान एक सरकारी एजेंसी है और इसका कार्यालय वाशिंगटन में है।

फलस्वरूप, प्रतिष्ठान ने अपने वायुमण्डलीय विज्ञान-अनुसन्धान के अङ्ग के रूप में 'मौसम परिवर्तन कार्यक्रम' प्रारम्भ किया। इस अनुसन्धान पर वह प्रतिवर्ष ६० लाख डालर से अधिक धन खर्च कर रहा है। यह अनुसन्धान अधिकांशत: अमेरिकी विश्वविद्यालयों में और प्रतिष्ठान के बोल्डर (कोलाराडो) स्थित 'वायुमंडलीय विज्ञान सम्बन्धी राष्ट्रीय केन्द्र' पर संचालित है।

इसके अन्तर्गत वैज्ञानिक तूफानों के स्वरूप वायुमंडलीय चक्र, वर्षा-जल के जमाव और वर्षण के भौतिक एवं रसायन विज्ञान का; तथा प्रकृति की ऋतु-निर्माण सम्बन्धी रहस्यपूर्ण प्रक्रियाओं में निहित अन्य बातों का जिनके विषय में अभी बहुत कम जानकारी प्राप्त है, अध्ययन कर रहे हैं।

कार्यक्रम का यह पाँचवाँ वर्ष चल रहा है। इसके फलस्वरूप मौसम को परिवर्तित करने के लिए विचित्र और आश्चर्यजनक धारणाओं का प्रादुर्भाव हो रहा है। वैज्ञानिकगण प्रयोगशाला में और क्षेत्रीय परीक्षणों के अन्तर्गत जलाशयों और महासागरों की सतह पर रासायनिक पदार्थ छिड़क कर पानी को भाप बन कर उड़ जाने से रोकने का प्रयत्न कर रहे हैं। प्रयोगशाला के भीतर किये गये अन्य परीक्षणों से यह सिद्ध हो चुका है कि ध्वनि-तरंगों का उपयुक्त प्रयोग करके बादलों की भाप में समाविष्ट पानी की नन्हीं-नन्हीं बूँदों को एक दूसरे से इस प्रकार टकराया जा सकता है, ताकि वे वर्षा की बूँदें बन कर बरस पड़ें।

कुछ इससे भी अधिक आश्चर्यजनक योजनाओं के

अन्तर्गत, वैज्ञानिक पृथ्वी के धरातल से सम्प्रेषित विद्युत-प्रवाह द्वारा बादलों के स्वभाव को, तथा कृत्रिम बादलों की पट्टियों द्वारा सूर्य के ताप और विकिरण को कम करके समस्त महाद्वीपों की जलवायु को परिवर्तित कर देने की सम्भावनाओं की जाँच कर रहे हैं।

अभी तक तो ये गतिविधियां विशुद्ध विज्ञान के क्षेत्र तक ही सीमित हैं। वह दिन अभी दूर है, जब सिद्धान्तों को सामान्य रूप से व्यवहार में लाया जा सकेगा किन्तु, उस समय तक मौसम की भविष्यवाणी सम्बन्धी उन्नत विधियों द्वारा—जिनमें बादलों का चित्र खींचने और तूफानों की टोह लेने वाले परिक्रमागत अमेरिकी उपग्रहों का उपयोग किया जाता है—सम्भाव्य मौसमी संकटों की चेतावनी इतने पहले दी जा सकती है, ताकि उन संकटों के उत्पन्न होने के पहले ही उनके विरुद्ध सुरक्षात्मक उपाय अपनाये जा सकें।

वैज्ञानिक विमानों, गुब्बारों और राकेटों द्वारा बादलों पर सूखी बर्फ छिड़कने या 'बोने' की विधियों को भी सुधारने का प्रयत्न कर रहे हैं। सम्भवतः कुछ ही दिनों में बादलों पर हिम छिड़कने की यह क्रिया अन्तरिक्षीय वाहनों द्वारा सम्पन्न होने लगेगी। बादलों पर हिम छिड़कने की विधि का परीक्षण सबसे पहले १६४६ में एक अमेरिकी वैज्ञानिक ने किया। आज भी, अनुकूल परिस्थितियों में थोड़ी वर्षा उत्पन्न करके मौसम को परिवर्तित करने की यही विधि सामान्यतः प्रयुक्त हो रही है। निस्सन्देह, मौसम को नियन्त्रित करने के मार्ग में अभी भी दुरूह समस्याएँ उपस्थित हैं। किन्तु उनमें से कोई भी उतनी दुरूह नहीं, जितनी वे हैं, जिन वैज्ञानिकों ने अन्य क्षेत्रों—जैसे अन्तरिक्ष और चिकित्सा—में हाल के वर्षों में विजय प्राप्त कर ली है।

जब इन विधियों का कुशल अभ्यास कर लिया जायेगा, तो जलवायु में उनके फलस्वरूप उत्पन्न न्यूनतर परिवर्तन भी अगणित लाभों को जन्म देगा। और वह भी समय आ सकता है, जब मरुस्थलों को हरे-भरे उद्यानों में परिणत करना करना सम्भव हो जाये।

इस प्रकार के परिवर्तनों से मनुष्य के भविष्य पर गहरा प्रभाव पड़ सकता है। जलवायु किसी भी क्षेत्र के इतिहास, संस्कृति और अर्थ-व्यवस्था के लिए प्रमुख बाधक तत्व रहा है और अभी भी है। मौसम-नियन्त्रण 'ब्रह्माण्डीय इंजिनियरिंग' की नवीन वैज्ञानिक धारणा का मार्ग प्रशस्त कर सकता है। और यह धारणा इतनी विशाल है कि यदि कभी इसे इसकी पूर्ण सम्भाव्यता की सीमा तक विकसित किया जा सका, तो उसके फलस्वरूप मनुष्य अपनी आवश्यकताएँ और इच्छाएँ पूरी करने के लिए स्वेच्छानुसार अपने वातावरण को परिवर्तित करने में समर्थ हो जायेगा।

३. मिट्टी तथा जल का संरक्षण

अमेरिका के भूस्वामियों और कृषकों ने पिछले ३० वर्षों की अवधि में वैयक्तिक भूमियों पर मिट्टी और जल के रख-रखाव, उपयोग और विकास की दिशा में पर्याप्त प्रगति की है। इन वैयक्तिक भूमियों के अन्तर्गत राष्ट्र के कुल भूक्षेत्र का २५ प्रतिशत भाग सम्मिलित है। अमेरिकी कृषि विभाग की 'मिट्टी संरक्षण सेवा' ने अप्रैल, १६३५ में कांग्रेस द्वारा अपनी स्थापना के समय से ही इस क्षेत्र में नेतृत्व किया है।

प्रारम्भ में 'मिट्टी संरक्षण सेवा' का कार्य और उत्तरदायित्व अधिकांशतः मिट्टी क्षरण पर नियंत्रण स्थापित करना ही था। हवा के झोकों और पानी के बहाव के कारण होने वाले क्षरण से मिट्टी को जो गहरी क्षति पहुँच रही थी, उसे देख कर, तथा मिट्टी संरक्षण क्षेत्र के अग्रणी नेताओं द्वारा, जिनमें मिट्टी संरक्षण के 'जनक' श्री ह्यू एच० बेनेट भी सम्मिलित

थे, दी गयी चेतावनियों को सुन कर राष्ट्र भयभीत हो उठा था।

उस समय से लेकर अब तक, मिट्टी संरक्षण सेवा के जीवन के २८ वर्षों में उसका उत्तरदायित्व-क्षेत्र बहुत विस्तृत हो गया है। प्रारम्भ में जहाँ उसे केवल मिट्टी या भूमि की क्षरण सम्बन्धी प्रदर्शन-योजनाएँ संचालित करनी पड़ती थीं, वहाँ अब उस पर लगभग १५ विशिष्ट कार्यक्रमों का दायित्व है, जिनमें से ६ कार्यक्रम प्रमुख हैं।

ये ६ प्रमुख कार्यक्रम हैं : (१) स्थानीय स्तर पर संचालित संरक्षण जिलों के माध्यम से प्राविधिक सहायता; (२) जलोत्सारण क्षेत्र की सुरक्षा और बाढ़ की रोक-थाम सम्बन्धी योजनाएँ और नदियों के बेसिन सम्बन्धी जाँच-पड़ताल; (३) राष्ट्रीय सहकारी मिट्टी सर्वेक्षण (नेशनल कोआपरेटिव स्वायल सर्वे); (४) ग्रेट प्लेन्स सम्बन्धी संरक्षण कार्यक्रम; (५) हिम-सर्वेक्षण; तथा (६) ऋण लागत-वितरण तथा ग्राम्य क्षेत्रीय विकास (रूरल एरियाज डेवलपमेंट) के संरक्षण से सम्बद्ध कार्यक्रमों में प्राविधिक सहायता।

मिट्टी संरक्षण सेवा (स्वायल कंजर्वेशन सर्विस) एक प्राविधिक एजेंसी है। इसके प्रदर्शन-काल में इस निष्कर्ष पर पहुँचा गया कि यदि स्थानीय टोलियाँ मिट्टी और पानी के उपयोग सम्बन्धी कार्यक्रमों को स्थानीय स्तर पर संगठित करने और बढ़ावा देने के विषय में स्वयं ही विवरण तैयार करें तो यह एजेंसी राष्ट्र के लिए अधिक उपयोगी सिद्ध हो सकती है। इस निर्णय के फलस्वरूप 'मिट्टी संरक्षण जिलों' की स्थापना हुई। ये जिले सहयोग करने वाले किसानों और पशु-पालकों के स्थानीय संगठन हैं। इन्हें राज्यीय कानून के अन्तर्गत संगठित किया गया है। इनका निर्देशन स्थानीय स्तर पर चुने गये अवैतनिक सुपरवाइजरों के बोर्ड करते हैं।

मिट्टी संरक्षण सेवा का एक आधारभूत अङ्ग 'राष्ट्रीय मिट्टी सर्वेक्षण' (नेशनल स्वायल सर्वे) है जिसके माध्यम से मिट्टियों और उनकी क्षमताओं के विषय में विस्तृत सूचना सुलभ की जाती है। मिट्टी-वैज्ञानिक बड़ी सावधानी से एक-एक खेत में जाकर मिट्टी की किस्मों की जाँच करते हैं और अपनी खोजों को हवाई मानचित्रों में अङ्कित कर लेते हैं। मिट्टी संरक्षण सेवा ने मिट्टी के वर्गीकरण की एक राष्ट्र-व्यापी प्रणाली कायम कर रखी है। उसकी ओर से मिट्टी सर्वेक्षण सम्बन्धी रिपोर्टें प्रकाशित होती हैं, जिनका उपयोग भूस्वामी, योजना-आयुक्त, उद्योगपति और भूमि-विकासकर्त्ता भूमि के उपयोग सम्बन्धी योजनाएँ बनाने और स्थानों का चुनाव करने में मार्ग-निर्देशिका के रूप में करते हैं।

ग्रेट प्लेन्स संरक्षण कार्यक्रम की स्वीकृति कांग्रेस ने १९५६ में दी। उस कार्यक्रम का उद्देश्य राष्ट्र के १० राज्यों में फैले हुए पश्चिमी-मध्य मैदानी क्षेत्र के सम्बन्ध में, जहाँ समय-समय पर लम्बी-लम्बी अवधियों के सूखे पड़ते रहते हैं, आधारभूत संरक्षण योजनाएँ तैयार और कार्यान्वित करने के लिए किये गये दीर्घकालीन ठेकों द्वारा किसानों और पशु-पालकों को सहायता प्रदान करना है। कार्यक्रम का एक प्रमुख लक्ष्य उस भूक्षेत्र को, जो गेहूँ तथा अन्य फसलों के उत्पादन की दृष्टि से अनुपयुक्त है, घास उगने वाले क्षेत्र में परिणत कर देना है।

मिट्टी संरक्षण सेवा की प्राविधिक सहायता संरक्षण से सम्बद्ध अनेक कार्यक्रमों को भी प्राप्त होती है। इस प्रकार के कार्यक्रमों में, किसानों और पशु-पालकों को संरक्षण-ऋण प्रदान करने वाला कृषक गृह प्रशासन (फार्म्स होम एडमिनिस्ट्रेशन) कार्यक्रम तथा कृषि संरक्षण कार्यक्रम, जो संरक्षण की विधियाँ लागू करने के लिए लागत में हिस्सा बटाता है, मुख्य हैं। मिट्टी संरक्षण सेवा 'ग्राम्य क्षेत्रीय विकास' सम्बन्धी उन प्रयत्नों में भी सहयोग प्रदान करता है, जिनका उद्देश्य ग्रामीण समुदायों की आय और रहन-सहन के स्तरों को ऊँचा करना होता है।

यद्यपि खेती में पैमाने पर मशीनों के प्रयोग और प्रविधियों में विस्तृत सुधार फलस्वरूप अमेरिका में फार्मों और किसानों की संख्या बहुत कम हो गयी है, फिर भी उसका कृषिजन्य उत्पादन इतिहास में उच्चतम स्तर पर पहुँच गया है। आजकल अमेरिका का एक किसान इतना अधिक खाद्य उत्पन्न करता है, जो २६ व्यक्तियों के आहार के लिए पर्याप्त होता है। इसके विपरीत, १६०० में उनका उत्पादन केवल ७ व्यक्तियों के लिए और १६५० में १५ व्यक्तियों के लिए पर्याप्त होता था। उत्पादन-क्षमता में इतनी वृद्धि होने के कारण खेती में रोजगार की मात्रा कम हो गयी है, और बहुत से किसान नगरों में जाकर बसने लगे हैं। प्रतिवर्ष लगभग १० लाख एकड़ कृषि-भूमि का उपनगरीय क्षेत्रों में मकान, सड़क और हवाई अड्डे बनवाने तथा उद्योग या अन्य कृष्येतर कार्यों के लिए होने लगा है।

४. दक्षिण ध्रुव की सामूहिक खोज

अब तक जितने भी बड़े आविष्कार हुए हैं, वे सभी एकाकी कार्य करने वाले व्यक्तियों के दिमाग की उपज हैं। गैलिलियो, न्यूटन, एडिसन और आइन्स्टाइन के सिद्धान्तों सरीखे जिन मूलभूत सिद्धान्तों के आधार पर विज्ञान के क्षेत्र में महत्वपूर्ण प्रगति की गई है, वे अलग-अलग व्यक्तियों के बौद्धिक प्रयत्नों के परिणाम थे। इनके विपरीत, नये तौर-तरीकों में सामूहिक अनुसन्धान को बढ़ावा दिया जाता है।

आज, नये ज्ञान की खोजबीन करने और उपलब्ध जानकारी के आधार पर व्यावहारिक सिद्धान्त स्थिर करने का प्रायः सभी कार्य सामूहिक रूप से किया जाता है। इसका कारण यह है कि अत्यन्त आधुनिक वैज्ञानिक योजनाओं ने बहुत विशाल रूप धारण कर लिया है, जिसके परिणामस्वरूप वैज्ञानिक अपने साधनों को एक जगह जुटाने के लिए विवश हो हो गये हैं।

इन दिनों दक्षिणी ध्रुव-क्षेत्र के बारे में जो खोज-बीन की जा रही है वह सामूहिक रूप से किये जाने वाले सफल अनुसन्धान का उदाहरण है।

कुछ वर्ष पूर्व, दक्षिणी ध्रुव संसार का सबसे दुर्गम क्षेत्र था। किन्तु वैज्ञानिकों और टैक्निशियनों ने सामूहिक रूप से कार्य करके दक्षिणी ध्रुव अथवा सातवें महाद्वीप को अगम्य नहीं रहने दिया और अब तक अज्ञात इस प्रदेश के बारे में वैज्ञानिक दृष्टि से कई महत्वपूर्ण अनुसन्धान किये हैं।

संसार का यह हिमाच्छादित क्षेत्र भारत के आकार से चार गुने से भी अधिक बड़ा है। यहाँ जगह-जगह स्थायी अनुसन्धान-केन्द्र हैं जो सारे साल खोज-बीन काकार्य करते हैं। इन केन्द्रों का संचालन विभिन्न वैज्ञानिक विषयों में कुशल सैकड़ों अनुसन्धानकर्ताओं द्वारा किया जाता है। ये वैज्ञानिक १२ विभिन्न देशों से आये हैं और इस प्रदेश के रहस्यों का पता लगाने के लिए प्रतिकूल परिस्थितियों के बावजूद यहाँ रह रहे हैं। इस प्रदेश में हवाएँ ६० मील प्रति घंटे की गति से चलती हैं और सर्दियों में यहाँ का तापमान शून्य से ५६ शतांश नीचे चला जाता है। संसार की ६० प्रतिशत बर्फ इसी क्षेत्र में है।

दक्षिणी ध्रुव में वैज्ञानिकों की सबसे बड़ी टोली अमेरिका की है। ये वैज्ञानिक पाँच केन्द्रों में रहते हैं। सर्दियों में जब रात छः महीने की होती है, तब लगभग ३०० वैज्ञानिक और टैक्निशियन अनुसन्धान का कार्य करते हैं। गर्मियों में अमेरिकी वैज्ञानिकों और टैक्निशियनों की संख्या बढ़ कर लगभग ४,००० हो जाती है।

जिन अन्य देशों के वैज्ञानिक विभिन्न केन्द्रों का संचालन कर रहे हैं, उनमें आर्जेण्टीना, आस्ट्रेलिया, बेल्जियम, चिली, फ्रांस, जापान, न्यूजीलैण्ड, नार्वे, दक्षिणी अफ्रीका, सोवियत रूस और ब्रिटेन शामिल हैं।

दक्षिणी ध्रुव क्षेत्र में अपनी अनुसन्धान-योजनाओं पर कार्य करते हुए, जीवशास्त्री समुद्री जीव-जन्तुओं

का अध्ययन करते हैं। इस खोजबीन के परिणामस्वरूप शायद अन्तत: संसार की बढ़ती हुई आबादी को भोजन-प्राप्ति का एक नया साधन उपलब्ध हो जाये। यहाँ भू-रचनाशास्त्री भूमि में पाये जाने वाले खनिज पदार्थों की जाँच करते हैं और अन्य महाद्वीपों की बनावट का अध्ययन करते हैं। भौतिकशास्त्री अन्तरिक्ष से होने वाले विकिरण के बारे में जाँच-पड़ताल करते हैं, क्योंकि यह प्रदेश मानव द्वारा उत्पन्न रेडियो-तरंगों की बाधा से अपेक्षाकृत मुक्त है।

अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग का एक उदाहरण १९६३-६४ में देखने में आया, जब ३०० अमेरिकी वैज्ञानिकों तथा कई अन्य देशों के २७ वैज्ञानिकों ने गर्मी का का सारा मौसम या उसका कुछ हिस्सा दक्षिणी ध्रुव-क्षेत्र के स्थायी अमेरिकी केन्द्रों में या समुद्र में चलने वाले अमेरिकी जहाजों पर बिताया।

५. बर्फ के नीचे खोजबीन

विस्कौन्सिन विश्वविद्यालय द्वारा आयोजित एक परीक्षण में नार्वे के एक विशेषज्ञ ने बर्फ की मोटाई मापी, जिससे विश्वविद्यालय के वैज्ञानिकों को तलछट की परतों के नीचे चट्टानों की गहराई को आंकने में मदद मिली।

दक्षिणी समुद्र के पक्षियों के बारे में जानकारी प्राप्त करने के लिए, जौन्स हौपकिन्स विश्वविद्यालय के चार जीवशास्त्रियों ने इंगलैण्ड के डा० विलियम जे० स्लेडन के साथ मिलकर कार्य किया। ये लोग केप क्रोजियर में कुछ जंगली पैंगुइनों और स्कूआओं को पकड़ने में सफल हो गये। अगले वर्ष इन पक्षियों से उनके बारे में बहुत सी जानकारी प्राप्त हो सकेगी।

दक्षिणी ध्रुव क्षेत्र के बारे में किये जाने वाले अन्य परीक्षणों में खगोल-विज्ञान और सौर-विज्ञान को विशेष महत्व दिया जा रहा है। १९६४ में सूर्य में कम धब्बे होने की आशा है। इस वर्ष सूर्य के बारे में जो आंकड़े इकट्ठे किये जायेंगे, उनकी तुलना १९५७-५८ के अन्तर्राष्ट्रीय भू-भौतिक वर्ष के दौरान प्राप्त आंकड़ों से की जायगी। १९५७-५८ में सूर्य में अधिक से अधिक धब्बे थे।

●●

शोक प्रस्ताव

विज्ञान परिषद् की यह सभा प्रधान मंत्री श्री जवाहर लाल नेहरू के आकस्मिक निधन पर शोक और श्रीमती इन्द्रा गांधी, श्रीमती विजय लक्ष्मी पण्डित एवं परिवार संतप्त सदस्यों के प्रति हार्दिक समवेदना प्रकट करती है। श्री जवाहरलाल नेहरू का विज्ञान परिषद् के प्रति अतीव स्नेह था और इस परिषद् को उनका आशीर्वाद सदा प्राप्त था। वे विज्ञान परिषद् की वैज्ञानिक साहित्यक सेवाओं की प्रशंसा करते थे। सन् १९५६ में श्री नेहरू जी ने परिषद् भवन का कोण-शिलान्यास किया था। श्री नेहरू का भारतीय स्वतंत्र के इतिहास में नाम सदा अमर रहेगा। उनके त्याग और तपस्या के फलस्वरूप देश न केवल स्वतंत्र हुआ वरन् स्वतंत्रता अनन्तर भी देश ने सर्वतोमुखी उन्नति की। श्री नेहरू जी इस देश के रत्न थे, उन्हें पाकर मानव जाति को गौरव मिला। वे शान्ति और समृद्धि के महान् पोषक थे।

प्रयाग वासियों को श्री नेहरू जी पर गर्व है, क्योंकि प्रयाग न केवल उनकी जन्मभूमि है प्रत्युत अनेक वर्षों तक तपोभूमि भी रहा। हमारी कामना है कि ईश्वर दिवंगत आत्मा को शान्ति एवं सद्गति और संतप्त परिवार को धैर्य प्रदान करें।

राष्ट्र की महान क्षति

२७ मई बुधवार को राष्ट्र के महान नेता; पं० जवाहर लाल नेहरू का निधन हो गया। यह राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी की मृत्यु के पश्चात् की महानतम् घटना है। पं० नेहरू का अभाव प्रतिपल एवं प्रति पग खलने वाला है किन्तु दैवी विधान के समक्ष किसी की भी नहीं चल पाती।

भुवनेश्वर सम्मेलन के बाद पं० नेहरू का स्वास्थ्य चिन्ताजनक ही बना रहा किन्तु इधर देहरादून में अवकाश के क्षणों के बिताने के पूर्व उन्होंने जो प्रशंसनीय व्याख्यान दिए थे और जिस शारीरिक स्वस्थता का परिचय दिया था उससे यह आशा बँधने लगी थी कि हमारे नेता शीघ्र ही स्वास्थ्य-लाभ कर सकेंगे। किन्तु हाय रे दैव ! यह आशा निराशा ही रही।

ऐसी बात नहीं थी कि देश नेहरू जी के बाद क्या होगा, इस प्रश्न पर विचार नहीं कर रहा था। नेहरू जी के जीवन के अंतिम पाँच वर्षों में हर व्यक्ति यही प्रश्न करता था कि नेहरू के बाद कौन ? नेहरू जी ने स्वयं इस प्रश्न का कई बार उत्तर भी दिया था। किन्तु फिर भी जब उस दिन एकाएक उनके स्वर्गवास की खबर फैली तो अपने इस सर्वप्रिय नेता की अकस्मात् मृत्यु पर किसी को विश्वास ही नहीं हो रहा था। परन्तु वज्रपात तो हो ही चुका था। वह ज्योति जिसने स्वतन्त्रता प्राप्त करने के बाद पूरे १७ वर्ष तक देश ही नहीं वरन् समूचे संसार को आलोकित किया सदा के लिए अस्त हो गई। भारत माँ की गोदी सूनी हो गई। उसका पुत्र-रत्न जवाहर लाल उससे छिन गया।

नेहरू जी की मृत्यु से देश के प्रत्येक धर्मावलम्बी, प्रत्येक वृद्ध, प्रत्येक स्त्री तथा प्रत्येक बच्चे को महान धक्का लगा है। अगर वह किसी का पथप्रदर्शक था, तो किसी का प्राणों से भी प्यारा वीर बहादुर था। कांग्रेस का तो वह मूलाधार था।

नेहरू जी की मृत्यु से जनित शोक को व्यक्त करने के लिए देश और विदेश में जो भी शोक-सभायें हुईं हैं अथवा जो भी विचार प्रकट किए गए हैं उनसे पता चलता है कि नेहरू जी कितने प्रिय थे। उनके लिए सर्वप्रिय अशोक जैसा सम्मान जनता के हृदय में था। यदि पिछले ५० वर्षों को 'नेहरू युग' की संज्ञा दी जाय तो कोई अत्युक्ति न होगी।

भला वह कौन-सा क्षेत्र था जहाँ नेहरू व्याप्त न रहा हो अथवा जहाँ उसके व्यक्तित्व से लोगों को प्रेरणा न मिली हो। वृद्ध होकर भी वह तरुणाई का प्रतीक था। 'आराम हराम है' उसका नारा था। देश की चतुर्मुखी उन्नति के लिए उसने अपना सर्वस्व अर्पित कर दिया। वह सच्चा बलिदानी था।

वह जिस प्रकार से देश की विदेश नीति का एकमात्र सूत्रधार था उसी प्रकार देश की आन्तरिक सुरक्षा एवं औद्योगिक वैज्ञानिक उन्नति का भी नियंत्रक था। देश की वैज्ञानिक प्रगति के लिए उसने क्या नहीं किया। राष्ट्रीय प्रयोगशालाओं की स्थापना, परमाणु ऊर्जा का विकास, नदी घाटी योजनाओं का संगठन, पंचवर्षीय योजनाओं का सूत्रपात—ये सब अकेले नेहरू की ही सूझ के परिणाम थे।

जिस स्वतन्त्र भारत की वल्लरी को अपने कठोर परिश्रम के स्वेद बिन्दुओं से सींचा उसे जीवित रखने के लिए आजीवन रक्तदान भी देता रहा। वाह रे कर्मठ पुरुष ! वाह रे सेनानी, वाह रे अमर आत्मा। भारत के नाम के साथ ही नेहरू का भी नाम लिया जावेगा।

'विज्ञान परिवार' नेहरू जी की आत्मा की शांति के लिए परमेश्वर से प्रार्थना करता है।

विज्ञान

सितम्बर १६६४
भाग ६६

विषय-सूची

सूर्यकलंक—४	...	...	१३७
जीव की उत्पत्ति—३	...	...	१४०
पशु जगत में सुगन्धित पदार्थों का महत्व	...	...	१४६
रोग उत्पादक जीव	...	...	१४८
संक्षिप्त जीवन परिचय माला—३३	...	...	१५२
सार संकलन	...	...	१५४
विज्ञान वार्ता	...	...	१६१
पुस्तक समीक्षा	...	...	१६५
सम्पादकीय	...	...	१६७

विज्ञान परिषद, प्रयाग

प्रति अंक ४० पैसे
वार्षिक ४ रुपये

सम्पादक- डा० शिवगोपाल मिश्र

विज्ञान

विज्ञान परिषद्, प्रयाग का मुखपत्र

विज्ञानं ब्रह्मेति व्यजानात् । विज्ञानाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते ।
विज्ञानेन जातानि जीवन्ति । विज्ञानं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति । तै० उ० ३।५।

भाग ९९ | भाद्रपद २०२१ विक्र०, १८८६ शक
सितम्बर १९६४ | संख्या ६

सूर्य-कलंक—४

स्थिति, आकार और विस्तार

कुलदीप चड्ढा

सूर्य का परिचय देते समय, हमने दूसरे लेख में प्रकट किया था कि सूर्य के प्रत्यक्ष धरातल को प्रभामण्डल कहते हैं। यह प्रभामण्डल, कणिकाएँ कहलाने वाले, छोटे-छोटे क्षेत्रों से बना है, जो बिजली के लट्टुओं की तरह टिमटिमाते रहते हैं। कभी-कभी इनमें से कोई लट्टू जब बुझ जाता है तो उसके स्थान पर काला क्षेत्र दिखाई देता है। प्रायः ही कुछ समय उपरान्त पास-

चित्र—१
कणिकाओं से बना, सूर्य का प्रभामंडल। काली कणिकाएँ, उग रहे कलंकों की द्योतक हैं।

पड़ोस का क्षेत्र भी इसी कालिख में लिप्त हो जाता है। यही है किसी कलंक के उत्पन्न होने का संकेत (चित्र १)।

सूर्य की अपेक्षा चन्द्रमा अधिक सौम्य व्योम-पिंड माना जाता है। पर यदि हम पूर्ण चन्द्र को थोड़ी देर जरा गौर से देखें तो उसके बिम्ब पर कुछ धब्बे दिखाई देते हैं। सैकड़ों वर्षों के अध्ययन और अवलोकन ने सिद्ध किया है कि चन्द्रमा के ये धब्बे उसके शरीर के स्थायी अंग हैं। चन्द्रमा के सामान्य शरीर की पृष्ठभूमि पर, इन धब्बों की स्थिति, निश्चित और स्थित रहती है।

इसके विपरीत सूर्य के कलंक, सूर्य के शरीर के स्थायी चिन्ह नहीं। उत्पन्न होने के बाद प्रत्येक कलंक स्थिति, आकार और विस्तार के एक विकास-क्रम से गुजरता है। प्रस्तुत लेख में हम इसी क्रम का उल्लेख करेंगे।

स्थिति

जहाँ तक स्थिति का सम्बन्ध है, सूर्य-कलंक, सूर्य के केवल आधे कलेवर पर ही दिखाई देते हैं। यह क्षेत्र, सूर्य की मध्य रेखा के ५° उत्तर और ५° दक्षिण से प्रारम्भ करके दोनों ओर लगभग ४०°
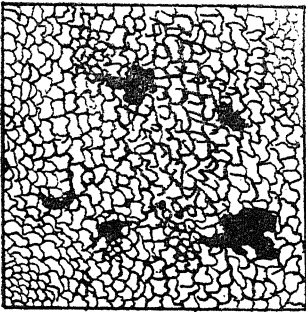
तक फैला है। इस क्षेत्र में भी, उनकी गति की दिशा निश्चित है। वे सदा सर्वदा, लेकिन धीमी गति से, सूर्य की मध्य रेखा की ओर सरकते रहते हैं। इस सरकने की क्रिया को सर्वप्रथम शाइनर ने लक्षित किया था। इस गति का अवसान, अन्त में, सूर्य की मध्यरेखा के दोनों ओर लगभग ५° पर पहुँच कर होता है। कभी-कभी कोई कलंक मध्यरेखा की ओर आगे को भी सरक जाता है। पर सूर्य-कलंकों के अवलोकन के ३०० सालों के इतिहास में, शायद ही कोई कलंक सूर्य की मध्यरेखा को लाँघ कर, दूसरे गोलार्द्ध में जाता देखा गया हो।

इसी प्रकार उच्च अक्षांशों की भी एक सीमा है, जिसके उत्तर या दक्षिण में कलंक नहीं देखे जाते। यह सीमा है लगभग ४०°।

धरती से देखते समय सूर्य-कलंक, सूर्य की उस पृष्ठ-भूमि पर प्रगट होते हैं जो समूचे तौर पर पश्चिम से पूर्व की ओर घूमती होती है। इसके कारण सूर्य-कलंकों की मध्यरेखा की ओर गति तिरछी दिशा में प्रतीत होती है, जैसा कि चित्र २ में दिखाया गया है।
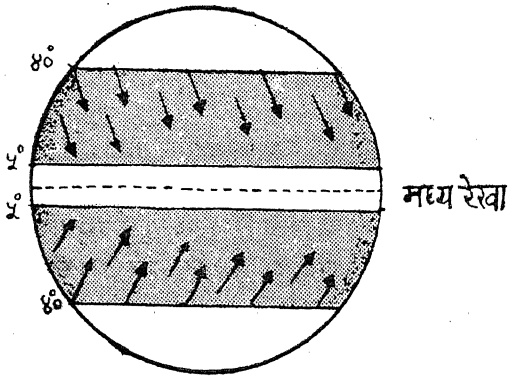
चित्र—२
कलंक, सूर्य के सीमित धरातल पर ही प्रकट होते हैं, जिन्हें धूमिल दिखाया गया है। तीर चिह्न कलंकों के आभासित चलन की दिशा दर्शाते हैं।

आकार

सूर्य-कलंकों की स्थूल परिभाषा यह है कि वे सूर्य के धरातल के स्थायी काले चिन्ह हैं।

उनके नाम का कारण यही है कि उनका रंग गहरा काला है पर वास्तव में, लैंगले नामक विज्ञानी के अनुसार, वे पूर्णिमा के चन्द्रमा की तुलना में ५०० गुणा अधिक प्रभापूर्ण हैं। उनके काला दिखाई देने का कारण केवल मात्र यही है कि वे सूर्य की अत्यन्त उज्ज्वल पृष्ठभूमि पर प्रकट होते हैं। सूर्य के चकाचौंध करने वाले प्रकाश की तुलना में ही वे काले प्रतीत होते हैं।

सूर्य पर प्रकट होने वाले इन काले धब्बों का आकार, नितान्त अनिश्चित और अनियमित है। इसके कारण इन्हें सफेद कागज पर काली स्याही के छींटों की उपमा दी जाती है।

पर यह तो है कलंकों का स्थूल रूप। दूरदर्शकों की सहायता से कलंकों को ध्यानपूर्वक देखने पर, उनके आकार की कुछ बारीकियाँ प्रकट होती हैं। नंगी आँखों से जो क्षेत्र केवल काली स्याही के छींटे सा प्रतीत होता है, दूरदर्शी द्वारा देखने पर यह प्रायः कुछ छोटे-बड़े कलंकों का पुञ्ज प्रकट होता है। ऐसे पुंज के, किसी अकेले बड़े सदस्य को देखने पर, सूर्य की एक और बारीकी प्रकट होती है। इस कलंक का बीच वाला भाग गहरा काला होता है। इस भाग और सूर्य के बीच, सूर्य-कलंक की सीमा के लगभग समानान्तर, एक कम गहरा पट्ट होता है। इस कम गहरे भाग को उपच्छाया कहते हैं और अधिक गहरे काले भाग को प्रच्छाया (चित्र ३)।
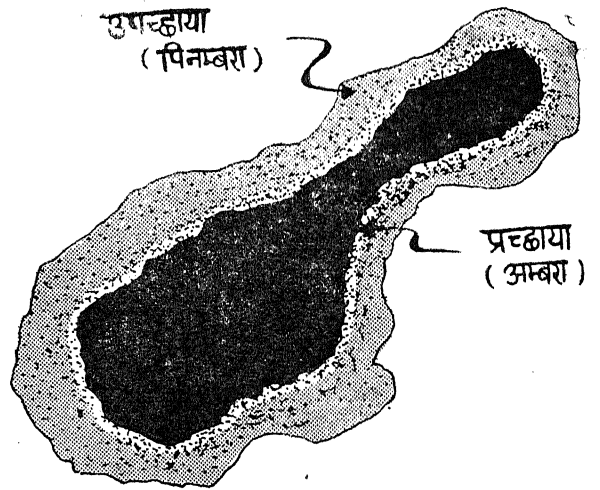
चित्र—३
बड़े कलंक का एक आभास

यह रूप एक विकसित कलंक अथवा कलंक-पुंज का है। इस स्थिति तक पहुँचने से पूर्व (तथा बाद भी), कलंक जो रूप-आकार धारण करता है, उसके आधार पर कलंकों को अनेक जातियों में बाँटा गया है। यह काम कुछ दशक पूर्व शुरू हुआ और आजकल उसका वाल्दमियर द्वारा संशोधित रूप प्रायः सर्वमान्य है। इस वर्गीकरण में सूर्य-कलंकों को ९ श्रेणियों में बाँटा गया है। ये वर्ग, रोमनलिपि के अक्षरों में व्यक्त किए जाते हैं। इस वर्गीकरण में कलंकों के चुम्बकीय क्षेत्रों को भी ध्यान में रखा जाता है। अतएव इनकी वितृस्त व्याख्या फिर कभी की जायगी।

विस्तार

सूर्य-कलंकों का आकार, केवल रूपरेखा में ही नहीं, प्रत्युत विस्तार में भी अनियमित है। बड़े और छोटे कलंकों के विस्तार में हजारों गुणा का अन्तर हो सकता है। जहाँ बिल्कुल छोटे-छोटे कलंकों को, दूरदर्शकों की सहायता से भी देखना कठिन होता है, बड़े कलंक नंगी आँखों से भी देखे जा सकते हैं।

कलंकों के विस्तार अथवा क्षेत्रफल को प्रायः एक विशेष इकाई के माध्यम से प्रकट किया जाता है, जो सूर्य के धरातल के क्षेत्रफल का १० लाखवाँ भाग है। इसे संक्षेप में हम "दशलक्ष भाग" कहेंगे। नंगी आँखों से प्रायः वे ही कलंक देखे जा सकते हैं, जिनका क्षेत्रफल १००० दशलक्ष भाग अथवा इससे अधिक हो।

जीवन-काल

यदि हम किसी अकेले कलंक के जीवन पर अपना ध्यान केन्द्रित करें, तो इसकी उक्त प्रकार की गतिविधि के साथ ही हम उसमें विकास का भी एक निश्चित क्रम लक्षित करेंगे। किसी कलंक के प्रकट होने के बाद उसका विस्तार बढ़ने लगता है। अपनी विस्तृत अवस्था में कई बार, यह बँटकर दो या अधिक कलंकों का रूप धारण कर सकता है, या फिर पड़ोसी कलंकों से मिलकर एक विशाल कलंक का भाग बन सकता है। विकास की इन विविध गतिविधियों के बावजूद, इस प्रकार के एक अकेले कलंक का जीवन, ११ वर्षीय चक्र का एक अत्यन्त स्वल्प सा भाग होता है। वास्तव में कुछ कलंक केवल कुछ दिनों अथवा घंटों के मेहमान होते हैं, पर कुछ अन्य अनेक मासों तक सचेष्ट रहते हैं। इतिहास में सबसे दीर्घजीवी कलंक सन् १८४०—४१ में देखा गया, जिसका जीवन-काल १८ मास था।

'सूर्य एक परिचय" के अध्याय में प्रकट किया गया था कि सूर्य अपने अक्ष के गिर्द २७ दिनों में एक चक्कर पूरा करता है। उक्त प्रकार के दीर्घजीवी कलंक, सूर्य की इस परिभ्रमण गति के कारण, निश्चित समय पर सूर्य के सिरे पर पहुँच जाते हैं और फिर दृष्टि से ओझल हो जाते हैं पर १३-१४ दिन बाद वे सूर्य के दूसरे सिरे पर पुनः दिखाई देते हैं। हाँ, इसी बीच वे थोड़ा-सा सूर्य की मध्यरेखा की ओर भी सरक चुके होते हैं। कुछ कलंक तो इस प्रकार अनेक बार प्रकट और अस्त होते रहते हैं।

सूर्य-कलंकों के इस विकास का आभास, एक प्रत्यक्ष उदाहरण से साफ मिल सकेगा। सन् १९४६ में १९ और २० जुलाई के बीच सूर्य के पूर्वी सिरे पर एक विशाल कलंक देखा गया, जिसने सूर्य के मध्य भाग को जुलाई २६ और २८ के बीच में पार किया। कलंक की स्थिति मध्यरेखा से १७° उत्तर को थी। २ अगस्त को यह कलंक पुनः सूर्य के पश्चिमी सिरे पर देखा गया। सूर्य के मध्य भाग में पहुँचने तक इसका क्षेत्रफल सूर्य के लाखवें भाग से ४०० गुणा अधिक था, अर्थात् ४००० दशलक्ष भाग के तुल्य।

यह विकास, सूर्य-कलंकों के ११ वर्षीय चक्र का ही भाग है, जिसका सविस्तार वर्णन हम आगामी लेख में करेंगे।

(क्रमशः)

●●

जीव की उत्पत्ति—३

डा० कृष्ण बहादुर

जीवाणु गोल अंडाकार या कुछ लम्बाई लिये कण हैं जिनमें एक बाह्य झिल्ली होती है और बीच का भाग अधिक गाढ़ा होता है। सेन्ट्रीफ्यूज होने पर या केवल रक्खे रहने पर भी ये अपना आकार नहीं त्यागते। जब ये बनते हैं तो इनका व्यास लगभग ०·२ माइक्रॉन होता है परन्तु धीरे-धीरे बढ़कर सात-आठ दिन में ये एक माइक्रॉन व्यास के हो जाते हैं। फिर इनमें छोटी सी कली (bud) निकलती है जो बढ़ती है और कुछ समय में पहिले वाले जीवाणु के आकार की हो जाती है। यह नई इकाई या तो पहिले वाले जीवाणु से अलग होकर स्वतन्त्र हो जाती है या पहिले वाले जीवाणु से लगी रहती है और स्वयं भी कलियाँ देने लगती है।

इच्छानुसार जीवाणु

बाहर के विलियन में उचित परिवर्तन करने से तथा जीवाणु बनाते समय उचित रसायनों में मिलाने पर ऐसे जीवाणु बनाये जा सकते हैं जो सदैव एक दूसरे से लगे रहकर कलियाँ देते हुए बढ़ें। ऐसे जीवाणु शीघ्र एक गुच्छे के रूप में हो जाते हैं और 'कोरल' (मूँगे के द्वीप) की भाँति शाखाओं का जाल सा बना लेते हैं। ऐसे भी जीवाणु बनाये जा सकते हैं जो बिलकुल गोल हों और जिनसे कलियाँ शीघ्र ही स्वतन्त्र हो सकें।

इन जीवाणुओं को इनके उचित "कल्चर माध्यम" में बोया जा सकता है। इस प्रकार के कल्चर में डालने पर ये साधारण सूक्ष्म जीवों की भाँति यूँ ही इसमें उगने और बढ़ने लगते हैं। इन्हें एक कल्चर से दूसरे में इस प्रकार बराबर बदला जा सकता है। यदि इस प्रकार कल्चर बदल कर इन्हें इनके पौष्टिक पदार्थ प्रदान किये जायँ तो ये अनिश्चित काल तक जीवित रह सकते हैं।

उचित विधि का चुनाव करके इच्छा के अनुसार आकार के जीवाणु बनाये जा सकते हैं। ये जीवाणु केवल तरल कल्चर माध्यम में ही बढ़ते हैं और किसी प्रकार के ठोस कल्चर माध्यम में नहीं उगते।

जीवाणु बनाना

प्रकाश द्वारा बने पेपटाइड या ऊष्मा की सहायता से बने पेपटाइड से जीवाणु बनाये जा सकते हैं। इस प्रकार के जीवाणु १०-१५ दिन में प्राकृतिक प्रोटीन का परीक्षण देने लगते हैं और इनमें न्यूक्लिक अम्ल और इंजाइम भी बन जाते हैं। इस अवस्था में यह वर्तमान समय के एक-कोशिका वाले जीवों की भाँति दिखते हैं। इनके अन्दर का आकार भी बड़ा जटिल हो जाता है। परन्तु इस अवस्था में भी ये किसी प्रकार के ऐगार-माध्यम में नहीं उगते।

ऐसे भी जीवाणु बनाये जा चुके हैं जो मुख्यत: अकार्बनिक प्रकृति के हैं। इनको भस्म करने पर लगभग ८८% भार भस्म के रूप में बच रहता है। एक प्रकार के जीवाणु का जो मुख्यत: क्यूप्रस ऑक्साइड के हैं, संयोजन इस प्रकार है:—ताम्र लगभग ६० प्रतिशत (जो क्यूपरस आक्साइड के रूप में है), कार्बन लगभग ४·२ प्रतिशत, नाइट्रोजन लगभग ०·२८ प्रतिशत और शेष आक्सीजन, हाइड्रोजन, कैल्सियम, मैगनीसियम, फास्फेट, क्लोराइड, सोडियम, पोटेशियम और मॉलिब्डेट। इनमें न तो प्रोटीन है, न पेपटाइड या अमीनो अम्ल ही। इन्हें "क्यूप्रस आक्साइड जीवाणु" नाम दिया गया है। ये जीवाणु भी आकार में बढ़ते हैं, कलियाँ देते हुये गुणित होते हैं और बढ़ने की क्रिया में बाह्य विलयन से पौष्टिक पदार्थ ग्रहण कर अपना शरीर बनाते हैं। इस प्रकार इनमें अपचयोपचय क्रिया भी होती है।

जीवाणु के टाइम-लैप्स फोटोमाइक्रोग्राफ

क्यूप्रस आक्साइड जीवाणु के बढ़ने के टाइम-लैप्स (काल व्यतीत होने पर) फोटोमाइक्रोग्राफ का चित्र दिखाया गया है। इसके लिये एक ही स्लाइड को सूक्ष्मदर्शी में लगाकर लगातार कई दिनों तक रक्खा जाता है और समय-समय पर उसके फोटो लिये जाते हैं। इस प्रकार टाइम-लैप्स फोटोमाइक्रोग्राम प्राप्त होते हैं। स्लाइड सूख न जाय इसके लिये देखे जाने वाले मिश्रण विन्दु के चारों ओर तरल पैराफिन का एक गोला बनाकर सब को एक साथ एक कवर ग्लास से ढँक देते हैं।

चित्र में क्यूप्रस आक्साइड जीवाणु का समय-समय पर लिया पहिला फोटोमाइक्रोग्राफ (चित्र १) देखा जा सकता है। जीवाणु प्रारम्भ में लगभग ०·२ माइक्रोन व्यास के थे। जैसे समय बीतता जाता है इनका आकार बढ़ता जाता है। अंत के फोटोमाइक्रोग्राफ में दिखाये जीवाणु के आकार की तुलना प्रारम्भ के जीवाणु के आकार से कीजिये। ये जीवाणु कितने बड़े हो गये हैं! इस समय इनका आकार लगभग १·२५ माइक्रोन है।

समय-समय के उपरान्त लिये गये दूसरे फोटोमाइक्रोग्राफ (चित्र २) में जीवाणुओं से कलियाँ निकलना और उनका बढ़ना दिखाया गया है। इसमें दो जीवाणु एक दूसरे से चिपके हैं और इनके ऊपर वाले जीवाणु (क) पर एक छोटी कली निकल रही है। प्रारम्भ के फोटोमाइक्रोग्राफ के इस जीवाणु की कली की तुलना ४८ घंटे बाद वाले फोटोमाइक्रोग्राफ वाले जीवाणु की कली से करने पर देखा जाता है कि यह कली बढ़कर जीवाणु क के लगभग बराबर हो गई है शून्य घंटे के फोटोमाइक्रोग्राफ में जीवाणु (ख) में कोई कली नहीं है। इसके चार घंटे उपरान्त लिये गये फोटो में 'ग' और 'घ' दो छोटी-छोटी कलियाँ निकल आई हैं। इन कलियों के बाद में लिये गये फोटो मे कलियाँ बढ़ रही हैं। ४८ घंटे में 'ग' कली बढ़ कर लगभग (ख) जीवाणु के बराबर हो जाती है।

कुछ-कुछ समय उपरान्त लिये गये तीसरे फोटोमाइक्रोग्राफ (चित्र ३) में दो लगभग बराबर हो चुके जीवाणुओं

जीवाणुओं को अलग होते दिखलाने वाले समय-समय पर लिये फोटो-माइक्रोग्राफ।
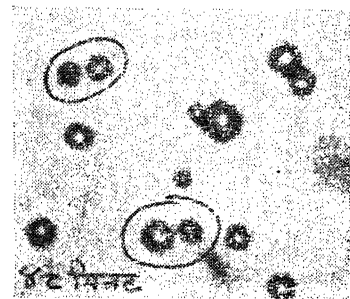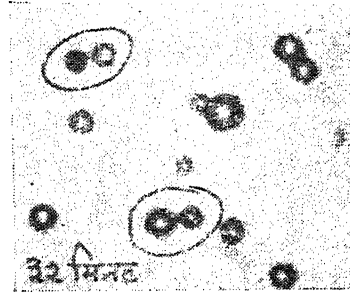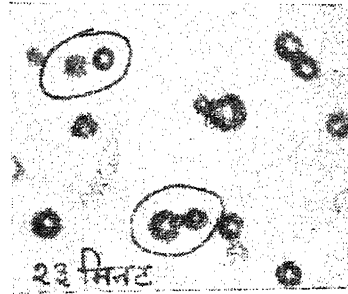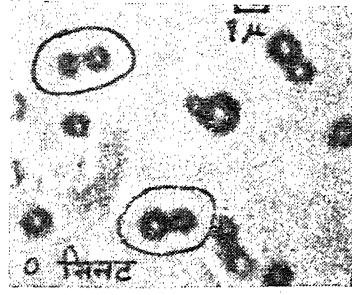
(फोटो १००० आवर्धन पर लिये गये)

चित्र १

जीवाणुओं में कलियाँ निकलना तथा उनका बढ़ना दिखलाने वाले समय-समय पर लिये फोटो-माइक्रोग्राफ अलग होना दिखाया गया है। जो जीवाणु अलग हो रहे हैं उनके चारों तरफ गोला खींच दिया गया है।
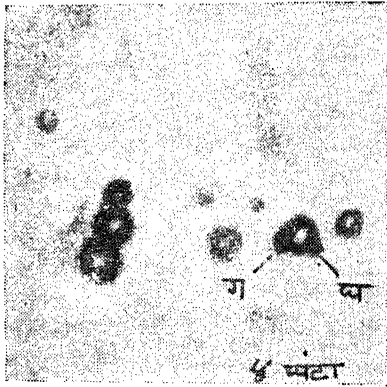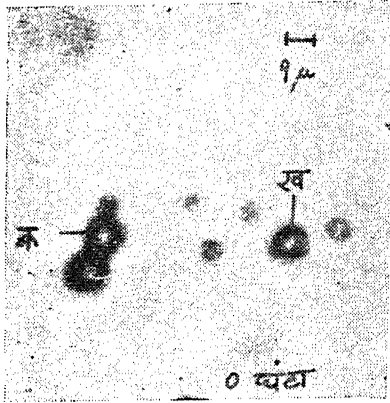
(१००० आवर्धन पर लिये गये)
चित्र २

ऊर्जा का प्रश्न

समस्त क्रिया के लिए ऊर्जा की आवश्यकता पड़ती है। जीव की उत्पत्ति पर विचार करते समय यह एक बहुत जटिल प्रश्न उपस्थित होता है कि आरम्भ के जीवों में ऊर्जा का स्रोत क्या रहा होगा? वर्तमान जीवों में यह एडिनोसिन फास्फेटों की क्रिया-प्रतिक्रिया द्वारा प्राप्त होता है और इस प्रतिक्रिया में कई इंजाइम काम करते हैं। जब आज के समान के प्रोटीन अणु (जो केवल जीवित इकाइयों में ही बनते हैं), बने ही नहीं थे तो उस समय एडिनोसिन फास्फेट की क्रिया का कोई प्रश्न ही नहीं था। प्रारम्भ के जीव कदाचित् कोई रासायनिक क्रिया द्वारा अपनी जीव-क्रिया को चलाने के लिये ऊर्जा प्राप्त करते थे। हमारे प्रयोग में यह देखा गया है कि उचित स्थिति में यीस्ट (खमीर) भी अपनी जीवन लीला चलाने के लिए आवश्यक ऊर्जा रासायनिक प्रतिक्रियाओं की ऊर्जा से प्राप्त करता है।

एक विशेष प्रकार की प्रकाश-रासायनिक प्रतिक्रिया की खोज की गई जो अन्धकार में विपरीत दिशा में चलती है और फलस्वरूप प्रतिक्रिया के पदार्थ अपनी पूर्व-स्थिति में वापस आ जाते हैं अर्थात् यदि इन्हें पुनः प्रकाश में रखा जाय तो पुनः पहिली वाली क्रिया होगी। जो पदार्थ यह क्रिया दिखलाता है वह मॉलिब्डिनम का एक यौगिक है। उचित रसायनों की उपस्थिति में वर्णरहित मॉलिब्डिनम का यौगिक अवकृत होकर एक नीले रंग का यौगिक बना लेता है। अंधकार में रखने पर यह पुनः आक्सीकृत हो वर्णहीन हो जाता है। एक ही मिश्रण में यह क्रिया बार-बार की जा सकती है। इस क्रिया में प्रोटान का अदल-बदल होता है और हर बार जो प्रकाश की ऊर्जा इसमें ग्रहीत होती है वह अंधेरे में मुक्त होती है।

इसी ऊर्जा से जीवाणुओं की जीवन-क्रिया चलती है और वे बढ़ते हैं।

"अर्गेनाइज्ड एलीमेंट" की कहानी

अभी हाल में ऐसे उल्कापिन्डों की जिनमें कार्बन की मात्रा अधिक होती है जाँच शुरू हुई। इन्हें "कार्बोनेशस कांड्राइट" कहते हैं। अभी तक छोटे-बड़े सब मिला कर कुल २२ कार्बोनेशस कंड्राइट दुनिया भर में प्राप्त है। हो सकता है अभी बहुत से टुकड़े पृथ्वी में छिपे पड़े हों। इनकी जाँच से यह पता लगा कि इनमें कुछ ऐसी आकार वाली वस्तुएँ दिखाई दी हैं जो जीव के समान लगती हैं। ऊरे, नेगी और क्लाज़ ने यह घोषित किया कि यह दूसरे ग्रहों के जीव हैं जो इन टुकड़ों के साथ पृथ्वी पर चले आये। कार्बोनेशस कांड्राइट में कार्बन अधिक होता है इसलिए यह अनुमान लगाया जाता है कि यह ऐसे किसी ग्रह के खंड हैं जहाँ कार्बन बहुत अधिक था। ऐसे ग्रह पर जीव के होने की सम्भावना भी की जा सकती है। परन्तु इनके जीव के शरीर की भाँति वाले कणों में, जिन्हें आर्गेनाइज्ड एलीमेंट, नाम दिया गया, सबसे अधिक लोहा, निकल और क्लोरीन है तथा उनमें प्रोटीन तो है ही नहीं। वाह्य दुनिया के प्रोटीनहीन ये जीव अपने संयोजन में पृथ्वी के वर्तमान जीवों से बहुत भिन्न हैं। इसलिए सेगान और फिट्ज़ जैसे वैज्ञानिकों का मत है कि ये दूसरे दुनिया के जीव नहीं वरन् अपनी ही पृथ्वी के कुछ पेड़ों के जैसे 'रेकवी' के पराग-कण हैं जो इन टुकड़ों में फँस गये हैं।

"आर्गेनाइज्ड एलिमेंट" की यह समस्या जटिल से जटिलतर होती गई और इनके विषय में उक्त वर्णित मतों में बहुत से वैज्ञानिक शामिल हो गये। इस वाद-विवाद का निर्णय करने के लिये 'नेसा' के पेसीडोना के "एक्सो बायलजो डिवीजन" ने सन् १९६३ में एक बड़ा एल्बम निकाला। इंग्लैंड के वैज्ञानिक डा० यम० एच० ब्रिग्स और अमरीका के वैज्ञानिक मासी कुनियन ने इस एल्बम का सम्पादन किया। इसमें कार्बोनेशस कांड्राइड के बहुत से फोटोमाइक्रोग्राफ हैं और संसार के समस्त वैज्ञानिकों के नाम खुला पत्र है कि वे अपना सुझाव भेजें कि ये वस्तुयें क्या हैं? इस एल्बम को पेसीडाना से निःशुल्क प्राप्त किया जा सकता है।

जीवाणुओं के आकार को बढ़ते दिखाने वाले समय-समय पर दिये गये फोटोमाइक्रोग्राफ
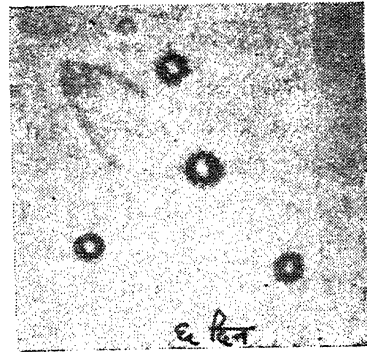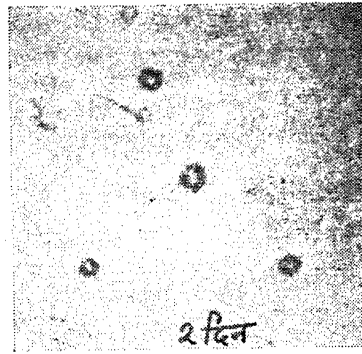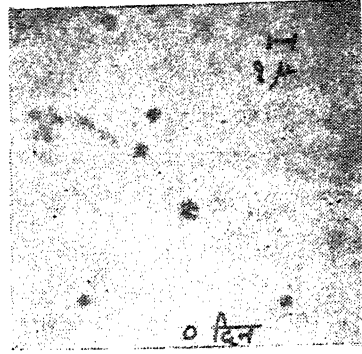
(१००० आवर्धन पर लिये फोटो)
चित्र ३

जब मैं गत वर्ष पेसीडोना में था तो यह एल्बम मुझे दिया गया। मैं जिस सिम्पोजियम में गया था वहाँ ब्रिग्स भी उपस्थित थे। मैंने उनसे कहा कि हमारी

परखनलियों में जिनमें हम जीवाणु बना रहे हैं[1] इस एल्बम में दिखाये गये आकार की वहुत वस्तुयें हैं। ब्रिग्स ने इनको देखने की तीव्र इच्छा प्रकट की। मैंने उनके पास लगभग २०० फोटो-माइक्रोग्राफ के निगेटिव भेजे। उन्होंने इन्हें देखने के बाद लिखा कि ये वस्तुयें आर्गेनाइज्ड एलिमेंट से बहुत मिलती हैं परन्तु हमारी वस्तुयें तो प्रोटीन, पेपटाइड और अमीनो अम्ल से बनी हैं और आर्गनाइज्ड एलीमेंट प्रोटीनरहित हैं। इस प्रश्न का उत्तर मैं उन्हें तुरन्त न दे सका क्योंकि इसके लिए और भी बहुत से सिद्धान्तों पर बातें करनी पड़तीं और अपने प्रयोगों को बिना सार्वजनिक रूप मे पूर्ण बतलाये यह सम्भव नहीं था परन्तु इतना तो निश्चित ही हो गया कि केवल पराग-कण से ही ऐसे आकार नहीं बनते बल्कि कुछ प्राकृतिक साधनों द्वारा भी इस प्रकार के कण बन सकते हैं।

प्रकाश द्वारा जीवाणु संश्लेषण

जैसा पहिले कहा गया है, यदि पानी के निर्जीव किये मिश्रण को जिसमें साइट्रिक अम्ल, पैराफार्मैल्डिहाइड या टार्टरिक अम्ल, लोहा और मॉलिब्डिनम आक्साइड के कलिल हों, प्रकाश में रख दिया जाय तो कुछ समय उपरान्त इस मिश्रण में अमीनो अम्ल बन जाते हैं। इस स्थिति में बने अमीनो अम्ल में हवा का आणविक नाइट्रोजन संयुक्त होकर अमीनो समूह में प्रकट होता है।

यदि इन मिश्रणों को जिसमें अमीनो अम्ल बन चुका है, प्रकाश में अधिक काल तक रक्खा जाय तो बने अमीनो अम्ल के अणु परस्पर क्रिया कर पेपटाइड बना लेते है। इन पेपटाइडों में से कुछ में फास्फटेस के गुण होते हैं।

यदि मिश्रण को प्रकाश में और समय के लिये रक्खा जाय तो छोटे-छोटे जीव-जैसे आकार वाले कण बनते हैं जो "जीवाणु" हैं। इन कणों में एक दीवाल होती है और इनके अन्तर की बनावट जटिल होती है। ये कण वाह्य विलयन से अमीनो अम्ल लेकर अपने अन्दर जटिल पेपटाइड बनाते हैं। यदि इन जीवाणुओं को मिश्रण से अलग करके विलयन और जीवाणु के शरीर के पदार्थ का विश्लेषण किया जाय तो ज्ञात होगा कि जीवाणु के शरीर के पदार्थ का संयोजन जटिल है और उसमें बहुत से अमीनो अम्ल, पेपटाइड और प्रोटीन के रूप में उपस्थित हैं। परन्तु बाहर के विलयन में केवल कुछ ही अमीनो अम्ल हैं।

अगर उक्त मिश्रण में कैलसियम, मैगनीसियम, पोटैसियम, सोडियम, फास्फेट, सल्फेट, क्लोराइड और जिंक जैसे खनिज, जो हमारी पृथ्वी के समस्त जीवों में सूक्ष्म मात्रा में उपस्थित है अल्प मात्रा में डाल दिया जाय और इसमें "फास्फेट बफर" डाल कर इसकी हाइड्रोजन आयन सान्द्रता संतुलित रक्खी जाय तो यह क्रिया अत्यन्त तीव्र गति से की जा सकती है।

अमीनो अम्ल विलयन में प्रकाश द्वारा जीवाणु संश्लेषण

यदि कुछ अमीनो अम्लों के जलीय मिश्रण को निर्वीजित करके प्रकाश में रख दिया जाय तो कुछ काल उपरान्त मिश्रण में कई अमीनो अम्ल बन जावेंगे। ये नवीन अमीनो अम्ल उपस्थित अमीनो अम्ल के अणुओं के टूटने तथा नये प्रकार के पुन: संयोग द्वारा बनते हैं। ये पुराने-नये अमीनो अम्ल अणु पुन: परस्पर प्रतिक्रिया कर पेपटाइड अणु बनाते हैं। यदि मिश्रण कोई शर्करा (जैसे सुक्रोस) और अकार्बनिक खनिज (जैसे लोह तथा मॉलिब्डिनम) के लवण मिला दिये जायँ तो यह क्रिया और भी तीव्र गति से होती है।

कुछ अमीनो अम्ल जैसे टाइरोसीन, हिस्टडीन और आर्जेनीन से यह क्रिया और भी जल्दी देखी जा सकती है। यदि इस मिश्रण को दीर्घकाल तक प्रकाश में रक्खा जाय तो उसमें जीवाणु प्रकट हो जाते हैं जो साधारण जीव के सभी गुण दिखाते हैं।

ब्रिग्स का प्रयोग

हमारे जीवाणु बनाने के प्रयोगों के विशेष-विभाग निम्न थे जिनमें प्रत्येक बहुत ही महत्व के थे और इन सब में हम लोगों की विधि भी अन्य वैज्ञानिकों से निराली थी।

[1] उस समय तक जीवाणु की खोज घोषित नहीं की गई थी।

(१) जल के विलयन में कार्बनिक कार्बन, संयुक्त नाइट्रोजन और अकार्बनिक खनिजों की उपस्थिति में अमीनो अम्ल का प्रकाश द्वारा संश्लेषण।

जैसा पहिले कहा गया है अमीनो अम्ल का संश्लेषण विद्युत की सहायता से लिग्रोव और बाद में मिलर ने किया। मिलर के प्रयोग की चर्चा विशेषकर अमरीका में खूब हुई। परन्तु इनमें प्राकृतिक ही नहीं वरन् और भी अमीनो अम्ल, तथा नाइट्रोजन के यौगिक बनते हैं। फिर यह प्रश्न रह ही जाता है कि जब जीव प्रगट होने के पूर्व तरह-तरह के अमीनो अम्ल प्राप्त थे तो फिर वर्तमान जीव में केवल १८ प्राकृतिक अमीनो अम्ल ही क्यों हैं? फिर संसार में बिजली ही कितनी चमकती है? उस काल में वर्षा अवश्य अधिक होती रही होगी परन्तु उस समय वायुमंडल में विद्युत-चालक गैसें और उनके लवण भी थे। फिर क्या उनकी उपस्थिति में बिजली चमकती रही होगी? ऐसे प्रश्नों का उत्तर पाना कठिन है।

इसकी तुलना में हमारे प्रयोगों की दशायें तो प्रकृति में सुगमता से स्थापित हो जायेंगी। जहाँ भी ये पदार्थ उपस्थित थे और सूर्य का प्रकाश पड़ा वहीं अमीनो अम्ल बने।

(२) ऐसे मिश्रणों में अमीनो अम्ल का बनना जिनमें संयुक्त नाइट्रोजन न हो अर्थात् अमीनो अम्ल का नाइट्रोजन हवा के आणविक नाइट्रोजन के संयुक्त होने से प्राप्त हो।

प्रयाग के डा० नीलरत्न धर के नाइट्रोजन स्थिरीकरण के प्रयोग विश्वविख्यात हैं। कृत्रिम मिश्रण में प्रकाश द्वारा नाइट्रोजन संयुक्त होने का यह एक अच्छा प्रयोग था।

(३) पानी में पेपटाइड बनाने की विधि पहिले ज्ञात नहीं थी। गरमी द्वारा पेपटाइड बनना केवल ज्वालामुखी के पास ही सम्भव है क्योंकि पानी प्रगट होने के बाद पृथ्वी पर १६०° सें० का ताप अन्य स्थान पर होना सम्भव नहीं था। फिर ज्वालामुखी के पास केवल एक छोटे से क्षेत्र में ही १६०° से० के आस-पास ताप रहा होगा। फिर क्या केवल इस छोटे से क्षेत्र के पास बने पेपटाइड से ही जीवों की रचना हुई?

पानी के विलयन में पेपटाइड बनाने के हमारे प्रयोग इतने सरल हैं कि प्रकृति में जहाँ भी पानी, प्रकाश और कार्बनिक यौगिक हों, वहीं पेपटाइड बनने की सम्भावना है। पानी में पेपटाइड बनने की क्रिया में जीव की उत्पत्ति के विषय पर खोज करने वाले बहुत कुछ जानना चाहते थे।

(४) इंजाइम के गुण दिखाने वाले यौगिक सर्व-प्रथम कैसे बने इसका उत्तर सब जानना चाहते थे। अब तो इंजाइम जीवों में बनते हैं पर जब जीव ही नहीं थे तब ये कैसे बने? इसका सुलझाना अत्यन्त आवश्यक था।

(५) सर्वप्रथम जीव गुण वाले कण कैसे बने यह प्रश्न तो सब ही के सामने था। इनके बनने की विधि और इनका सिद्धान्त दोनों अत्यन्त महत्व के थे।

इस प्रकार इन पाँचों अत्यन्त महत्व की बातों का सरल उत्तर हमारे प्रयोगों में होने के कारण इंग्लैण्ड के विख्यात वैज्ञानिक डा० ब्रिग्स ने हम लोगों के प्रयोगों को स्वयं करने का निश्चय किया। उन्होंने ऐसे प्रयोग छाँटे जिनको केवल एक बार करने में चार महीने से ऊपर समय लगता है।

भूल सुधार

'विज्ञान' के अगस्त अंक में पृष्ठ १३६ पर भूलवश पी० के० दरबारी के स्थान पर के० पी० भण्डारी छप गया था। जिसके लिये हम क्षमा प्रार्थी हैं।

पशु-जगत में सुगन्धित पदार्थों का महत्व

डा० शिवगोपाल मिश्र

तितलियों, मधुमक्खियों, चीटियों तथा अन्य प्राणियों में कुछ ऐसे सुगन्धित पदार्थ पाये जाते हैं जिनके माध्यम से वे दूर दूर तक यात्रायें करने अथवा ऋतुकाल को जानने में समर्थ होते हैं। यदि यह कहा जाय कि यह सुगन्धि इनमें "भाषा" का कार्य करती है तो अत्युक्ति न होगी। जर्मनी के प्रोफेसर कार्लसन ने सुगन्धित पदार्थों को "टेलीमोन" नाम से अभिहित किया है क्योंकि ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि ये हार्मोन जैसे पदार्थ होंगे।

यह देखने के लिये कीड़ों द्वारा उत्पन्न सुगन्धि कितनी दूर तक प्रभावशाली सिद्ध हो सकती है रेशम की तितलियों के साथ प्रयोग किये गये। इसमें मादा तितली को जाली के भीतर रखा गया और नर-तितलियों को एक तेज रेलगाड़ी में ले जाकर क्रमशः छोड़ा गया। ऐसा करने पर ११ किलोमीटर दूर छोड़ी गई नर तितलियाँ मादा के पास पहुँच गईं। अतः अवश्य ही मादा द्वारा उत्पन्न सुगन्धि उन्हें आकृष्ट करके वापस ले आई। यह सुगन्धि इसी मादक शक्ति द्वारा उनके प्रजनन में सहायक सिद्ध होती है। एक स्थान पर बैठी रहकर मादा तितली नर को मन्त्र-शक्ति द्वारा बुला लेती है।

मादा तितली में इस सुगन्धि की इतनी सूक्ष्म मात्रा होती है जिसका अनुमान इस प्रकार लगाया जा सकता है— एक ग्राम का हजारवाँ भाग एक मिलीग्राम होता है। इसका भी दसहजारवाँ भाग सुगन्धि की मात्रा को प्रदर्शित करेगा। अतः इस सूक्ष्म मात्रा का बहुत सा अंश तो पहले वायु में विलुप्त हो जावेगा और शेष अंश घटते-घटते जब दूर दिशा में पहुँचेगा तो उसकी मात्रा न जाने कितनी अल्प होगी। फिर कहीं दूर स्थित नर तितली के द्वारा उसका ग्रहण किया जाना ठीक उसी प्रकार है जैसे रेडियो सेट द्वारा सूक्ष्म रेडियो-तरगों का ग्रहण किया जाना। किन्तु नहीं, नर-तितली सुगन्धि को पाकर अन्धाधुन्ध उसी दिशा में उड़ चलती है। वह अपने को नहीं रोक पाती मानों वह मन्त्र-मुग्ध हो। वह मादा के पास पहुँचकर ही दम लेती है। अतः सन्देश-प्रेषण का साधन सुगन्धि ही है।

इसी प्रकार सुगन्धि द्वारा सन्देश-प्रेषण की कला दीमकों में भी पाई जाती है जिसका उपयोग वे आक्रमणकारी शत्रु की पहुँच बताने के लिये करती हैं। सन्देश पाते ही वे युद्ध की मुद्रा में तनकर खड़ी हो जाती हैं और कभी-कभी इतना उग्र रूप धारण कर लेती हैं कि परस्पर लड़कर विनष्ट हो जाती हैं।

चीटियाँ एक विचित्र गन्ध द्वारा अपने प्रस्थान-पथ को इंगति करती चलती हैं। मधुमक्खियाँ मधु से युक्त उद्यान पुष्पों की खोज पत्तियों या पत्थरों पर अपनी गन्ध छोड़कर करती हैं। एक बार अपने छत्ते में पहुँच कर पराग-कणों को रखने के बाद वह ऐसा नृत्य करती है कि उसमें से उसके पिछले भाग से एक गन्ध उत्पन्न होती है जो उसकी सहेली मधुमक्खियों को भी उसी दिशा में उड़कर पराग प्राप्त करने में सहायक होती है।

जो कीड़े सामूहिक रूप से रहते हैं उनमें भी इस सुगन्धि-उत्पादन का बड़ा महत्व होता है। इसी के द्वारा वे यह जान पाते हैं कि राजा और रानी ठीक से हैं या नहीं अथवा राजा-रानियों का स्थानान्तर हो या नहीं।

इस सुगन्धि का कृत्रिम उत्पादन करने में जर्मन वैज्ञानिक सफल हुए हैं। नोबेल पुरस्कार विजेता प्रोफेसर बुटेनांट ने २० वर्ष के अनथक प्रयास के पश्चात् रेशम के कीड़े की 'भाषा' का रहस्योद्घाटन किया है और वे उस सुगन्धि को कृत्रिम रूप से निर्मित करने में सफल हुए हैं। इस कृत्रिम पदार्थ का प्रभाव ठीक वैसा ही होता है जैसा कि मादा तितली का। हजारों की संख्या में नर तितलियाँ

कृत्रिम सुगन्धि के स्थान की ओर दौड़ती देखी गईं और उसे ढक देने पर वे वहाँ लगातार मँडराती रहीं ।

यह कृत्रिम सुगन्धित एवं आकर्षणकारी पदार्थ छिपाने की वस्तु नहीं रह गई । यह एक दोहरा असंतृप्त ऐलकोहल है जिसका सूत्र $C_{16}H_{30}O$ है । किन्तु इस यौगिक का विन्यास सूत्र सही होना आवश्यक है अन्यथा थोड़े से अन्तर होने पर नर तितलियाँ इससे आकृष्ट नहीं हो पावेंगी । यह अनुमान लगाया जाता है कि अन्य तितलियों में पाया जाने वाला सुगन्धित पदार्थ भी यही यौगिक होगा अथवा इसी के सदृश कोई दूसरा यौगिक । अन्य कीड़ों में उपस्थित सुगन्धित पदार्थों की खोज के लिये अनन्त कीड़ों को मार कर उनसे प्राप्त पदार्थ का विश्लेषण करना कोई चतुरता न होगी । इसके लिये तो ज्ञात यौगिकों के प्रति कीड़ों के आकर्षण का अध्ययन ही उपयोगी सिद्ध होगा ।

ऐसे अध्ययन से बहुत बड़े लाभ की सम्भावना है । यह ज्ञान हो जाने पर कि कौन सा कीड़ा किस सुगन्धित पदार्थ से आकर्षित होता है, उन अनेक कीड़ों को बन्दी बनाया जा सकता है जो फसलों अथवा फलों को भारी क्षति पहुँचाते हैं । इस विधि द्वारा नर-कीड़ों को मादाओं से दूर किया जा सकता है । नरों के अभाव में मादायें जितने भी अंडे देंगी वे उर्वर न हो सकने के कारण कोई भी कीड़ा उत्पन्न न कर पावेंगी ।

इस विधि से हानिकारक कीटों का नियन्त्रण अत्यन्त लाभकारी है क्योंकि इसमें केवल चुने हुये कीड़ों का विनाश होता है और प्रयुक्त विधि विषैली नहीं होती । साथ ही, कीड़ों को इस विधि के विरुद्ध प्रतिरोधकता उत्पन्न करने का कोई अवसर ही नहीं मिल पावेगा । डी० डी० टी० तथा अन्य कीटनाशकों के प्रति कीड़ों में प्रतिरोधकता का विकास तो आम घटना बन चुकी है ।

साथ ही यह विधि सस्ती सिद्ध हो सकती है । बस, समुचित सुगन्धित पदार्थों की उत्पत्ति के फार्मूले ज्ञात होने हैं । एक बार किसानों के हाथ में "जादू की पुड़िया" आ जाय, तो फिर तो वे इच्छानुसार अपने उद्यानों के फल-वृक्षों या फसलों का परागण करा कर उपज प्राप्त कर सकेंगे ।

●●

"भौतिक विज्ञान" पर "तैलंग पुरस्कार" प्रतियोगिता १९६४ सम्बन्धी घोषणा

गत वर्ष की भाँति इस वर्ष भी "विज्ञान" में प्रकाशनार्थ भौतिक विज्ञान पर तैलंग पुरस्कार प्रतियोगिता के लिये लेख आमन्त्रित किये जाते हैं । विगत वर्ष की भाँति इस वर्ष भी सर्वोत्कृष्ठ लेख पर ३०० रु० का पुरस्कार प्रदान किया जावेगा ।

लेखों के प्रकाशित होने की अवधि अक्टूबर, ६४ से दिसम्बर, ६४ तक है ।

लेखों में प्रतिपाद्य विषय का साङ्गोपाङ्ग वर्णन आवश्यक होगा । जो लेख उक्त पत्र में प्रकाशित होंगे वे अन्यत्र प्रकाशित न हुए हों और न किये जायँ ।

लेखों में यदि किसी आधुनिक 'वाद' या सिद्धान्त का प्रतिपादन किया जाय तो जहाँ से वह लिया गया है उचित उद्धरण प्रस्तुत किया जाय ।

यदि निर्धारित अवधि के अन्तर्गत लेख प्रकाशित न हुए तो विज्ञान में प्रकाशित इस वर्ष के सर्वोत्कृष्ठ लेख पर यह पुरस्कार प्रदान किया जा सकता है ।

प्रत्येक लेखक को पुरस्कर्ता द्वारा गठित "निर्णायक समिति" का निर्णय मान्य होगा ।

पुरस्कर्ता
बालमुकुन्द दीक्षित "तैलंग"
टीकमगढ़

रोग उत्पादक जीव

सुरेशचन्द्र तिवारी

संसार में प्रतिक्षण असंख्य मनुष्य एवं पशु-पक्षी नाना प्रकार के सामान्य एवं भयानक रोगों के कुप्रभाव से मौत के घाट उतरते हैं। इतना ही नहीं, मृत्यु से भी दुःखदाई जीवन तो उनका है जो विभिन्न रोगों के कारण लूले, लँगड़े हो जाते हैं अथवा मरणासन्न हैं। हैजा, प्लेग, मलेरिया, फाइलेरिया [हाथी पाँव], तपेदिक, निमोनिया (शीतज्वर), सन्निपात, बात रोग तथा उदर विकार आदि रोग आजकल अत्यन्त साधारण बन गये हैं। इनमें से बहुत से पहले 'राजरोग' की कोटि में आते थे।

प्राचीन काल में यह पता नहीं था कि बीमारियाँ कहाँ से फैलती हैं और क्यों पैदा हो जाती हैं। उन्नीसवीं शताब्दी के आस-पास एक विख्यात फ्रान्सीसी वैज्ञानिक लुई पास्चर ने यह बताया कि मानव शरीर के तमाम रोग एक प्रकार के अति सूक्ष्म जीव, बैक्टीरिया के द्वारा पैदा होते हैं जिसे जीवाणु कहते हैं। सन् १६६५ ई० लगभग में लन्दन में १००,००० लोग प्लेग के भयंकर प्रकोप से मरे थे। इसके भी पूर्व १४वीं शताब्दी में लगभग २५,०००,००० आदमी काली मृत्यु (Black Death) नामक रोग के शिकार हुये थे। हमारे देश इस शताब्दी में प्लेग तथा हैजे के अनेक आक्रमण हुए हैं।

बीमारी क्या है

शरीर में किसी भी प्रकार की गड़बड़ी अथवा अस्वस्थ दशा को ही रोग कहा जाता है। हमारे शरीर को अस्वस्थ बनाने में जीवाणु (बैक्टीरिया एक अतिसूक्ष्म कोशिकीय पौधा), वायरस, प्रोटोजोआ (एक कोशिकीय जीव) जैसे सूक्ष्म जीवों का प्रमुख हाथ रहता है। इनके अतिरिक्त फफूँदी तथा कृमि (टेपवर्म और हुकवर्म) भी तमाम भयानक रोगों के जन्मदाता हैं।

जीवाणु (बैक्टीरिया)

ये अतिसूक्ष्म जीव जिसे जीव-विज्ञान के अनुसार एककोशकीय पौधा कहा जाता है, आँखों से नहीं देखा जा सकता। इनको देखने के लिये सूक्ष्मदर्शी की आवश्यकता होती हैं। इनका सबसे छोटा आकार लगभग १ इञ्च का पचीस हजारवां अंश (१/२५०००) मापा गया है। अब तक विभिन्न रूप, रंग और आकार के एक सहस्त्र जीवाणुओं का पता चला है। इनमें कुछ रोगोत्पादक जीवाणु हैं जो भयानक तथा साधारण रोगों के जनक हैं। इन रोगोत्पादक जीवाणुओं को रोगजनक (पैथोजेन) कहा जाता है। आकार तथा रूप के अनुसार जीवाणुओं को मुख्य तीन समूहों में विभाजित किया गया है। प्रथम समूह में छड़ के आकार के जीवाणु आते हैं जैसे बेसिलस जीवाणु, द्वितीय समूह में वृत्ताकार, जैसे कोकाई जीवाणु तथा तृतीय समूह में सर्पिल तथा टेढ़े-मेढ़े आकार के स्पाइरिल्ली जाति के जीवाणु आते हैं। कोकाई जीवाणु या तो अंगूर के गुच्छों के रूप में पाये जाते हैं या श्रृंखला चेन) के रूप में। प्रथम आकार को स्टेफिलो कोकाई तथा द्वितीय आकार को स्ट्रेप्टो कोकाई कहते हैं। इसी प्रकार अन्य दो समूहों का भी नामकरण किया गया है जैसे स्ट्रेप्टो-बेसिलाई आदि।

जीवाणुओं का शरीर पर आक्रमण

रोगोत्पादक जीवाणु फोड़े-फुन्सी तथा घावों के द्वारा, श्वाँस लेते समय हवा से, भोजन के समय तथा दूध और पानी के द्वारा हमारे शरीर में प्रवेश करते हैं। टिटैनस (एक भयानक) रोग के जीवाणु धूल से, शरीर में हुये घावों के द्वारा प्रवेश कर जाते हैं। डिप्थेरिया, छोटी माता अंधेरे में साँस लेने पर, पेचिस तथा अन्य उदर

विकार और अन्त:ज्वर अशुद्ध भोज्य पदार्थों में उपस्थित जीवाणु के खाने के साथ पेट में जाने से ही तो पैदा होते हैं। मलेरिया तथा प्लेग के जीवाणु मच्छर और पिस्सू की सूँड़ द्वारा शरीर में प्रवेश करते हैं।

शरीर में जीवाणुओं का हानिकारक प्रभाव या तो उनकी वृद्धि के समय शरीर से विसर्जित रसायनिक विषाक्त पदार्थों के द्वारा होता है या उनकी मृत्यु के पश्चात् उनके शरीर के टूटने-फूटने तथा सड़ने-गलने से उत्पन्न विषों के कारण होता है। एक विशिष्ट रोग, एक ही जीवाणु के विशिष्ट प्रकार के रासायनिक पदार्थ के विसर्जन से पैदा होता है। जैसे ट्यूबरकुलस बेसिलस ट्यूवरक्यूलोसिस टाइफ्वायड जीवाणु से टाइफ्वाइड जैसे रोग फैलते हैं।

कुछ रोगोत्पादक जीव शरीर में प्रविष्ट हो जाने के पश्चात् भी बीमारी फैलाने में समर्थ नहीं होते और न तो उनका प्रजनन ही होता है। इसका मुख्य कारण शारीरिक तन्तुओं का विपरीत प्रभाव है जिससे इन जीवों का प्रभाव या तो छिप जाता है या नष्ट हो जाता है। लेकिन कुछ ऐसे जीव हैं जो शीघ्र ही शारीरिक तन्तुओं पर विजय प्राप्त कर मानव एवं पशु-पक्षियों को रोगग्रस्त कर देते हैं। बहुत से बैक्टीरिया बिना प्रजनन के भी पोषक (होस्ट) के शरीर में पड़े रहते हैं। उदाहरणार्थ डिप्लोकोकस बैक्टीरिया होस्ट के फेफड़े को प्रभावित कर निमोनिया ज्वर फैलाता है। लेकिन बहुत से लोगों के नाक तथा गले में ये बैक्टीरिया बिना कोई बीमारी फैलाये पड़े रहते हैं। ऐसे लोग जिनके शरीर में रोगोत्पादक जीवाणुओं की अधिकता होती है फिर भी वे इस बीमारी के शिकार नहीं होते उनको "वाहक" या carrier कहते हैं। ये लोग निम्न प्रतिरोधकता वाले व्यक्तियों के सम्पर्क में आकर उन्हें रोगग्रस्त कर देते हैं।

वाइरस

ये सूक्ष्म जीव भी तमाम बीमारियों को फैलाने मे हाथ बटाते हैं, जैसे छोटी चेचक, इनफ्लूएञ्जा, पीत ज्वर, रावत माता, गिल्टी, छोटी माता इत्यादि। इनका आकार $\frac{१}{२५००००००}$ इंच से $\frac{१}{८००००}$ इंच व्यास का होता है। ये सूक्ष्म जीव जीवित एवं निर्जीवित वस्तुओं की सीमा रेखा के बीच में पाये जाते हैं। इनकी बनावट बहुत ही साधारण तथा रवे की भाँति होती है, लेकिन ये बहुत ही जटिल अणु होते हैं। ये दूसरे भी पदार्थों को अवशोषित कर सकते हैं। इनकी प्रजनन विधि विस्तृत रूप से ज्ञात नहीं है। जब वाइरस का बहुभाजन मानव-शरीर कोष के अन्दर होता है तब जीव कोष की मृत्यु भी हो सकती है। कुछ वाइरसों का कुप्रभाव किन्हीं खास तन्तुओं पर ही होता है। इनफ्लूएञ्जा तथा साधारण शीत पैदा करने वाले वाइरसों का प्रभाव श्वासिक संस्थान पर पड़ता है। तथा पोलियोमायेलिटीज़ तथा रेबीज़ नामक बीमारियों को पैदा करने वाले वाइरसों का प्रभाव नाड़ी कोशिकाओं पर पड़ता है।

शरीर में वाइरसों की प्रविष्टि या तो शरीर से कटे हुये भागों से होती है अथवा मुँह तथा गले के नम भागों से। इनकी उत्पत्ति तथा प्रजनन केवल जीवित जन्तुकोषों अथवा वनस्पति कोषों में ही सम्भाव्य है तथा इनको जीवित रहने के लिये नये जीवित कोषों की आवश्यकता होती है। वाइरसों का स्थानान्तरण एक मनुष्य से दूसरे मनुष्य में खाँसी तथा छींक के द्वारा हवा के माध्यम से होता है। पीतज्वर के वाइरसों का फैलाव मच्छरों के द्वारा होता है। जब ये मच्छर किसी रोगी व्यक्ति के शरीर को काटने के बाद किसी दूसरे स्वस्थ मनुष्य को काटते हैं तो उसके शरीर में प्रस्तुत वाइरस स्वस्थ मनुष्य के शरीर में प्रविष्ट हो जाते हैं। इस तरह से ये सूक्ष्म जीव रोगों को भयानक एवं गम्भीर बना देते हैं।

प्रोटोजोआ

यह एक-कोशिकीय रोगउत्पादक सूक्ष्म-जीव समूह है, जो कि तमाम बीमारियों को उत्पन्न करने में सहायक होता है। अमीबा के आकार-प्रकार का एक प्रोटोजोआ समुदाय का सदस्य जिसको एन्टअमीबा हिस्टोलीटिका (Entamoeba histolytica) कहते हैं, जो मनुष्य को पेचिश रोग का शिकार बनाता

है। ये सूक्ष्मजीव मनुष्य की आँत में पहुँचकर आहार-नलिका की म्यूकस-सतह में घुस जाते हैं और उसमें एक फोड़ा बना देते हैं जिसकी वजह से पेचिश की बीमारी में खून तथा म्यूकस निकलता है।

इसी प्रकार निद्रा रोग को उत्पन्न करने वाले जीवाणु को ट्राइपैनोसोम (Trypanosome) कहा जाता है। यह बीमारी ज्यादातर अफ्रीका में ही पाई जाती है। इसको एक होस्ट से दूसरे होस्ट तक पहुँचाने का कार्य त्सी-त्सी मक्खी (Tse-tse fly) करती है। यह ट्राइपैनोसोम अफ्रीकी पशुओं में बहुत अधिक संख्या में पाया जाता है, लेकिन वहाँ के जानवरों को यह कोई भी हानि नहीं पहुँचाता। जब त्सी-त्सी (tse-tse fly) इन जानवरों को काटती है तो जानवरों के ट्राइपैनोजोम इस मक्खी के मुँह में आ जाते हैं। इन जीवाणुओं का बहुभाजन तथा प्रजनन मक्खी की आहार-नलिका में ही होता है। ३०-४० दिन के अन्दर मक्खी के अन्दर के ट्राइपैनोसोम अपनी प्रौढ़ अवस्था में आ जाते हैं और बीमारी फैलाने योग्य हो जाते हैं। इस अवस्था में जब यह मक्खी किसी मनुष्य को काटती है तो ये ट्राइपैनोसोम मनुष्य के शरीर में पहुँच जाते हैं और मनुष्य के मस्तिष्क के चारों ओर भरे द्रव (जिसको Spinal द्रव कहते हैं) में फैल जाते हैं तथा मनुष्य के अन्दर एक प्रकार की बेहोशी पैदा कर देते हैं और इसके फलस्वरूप आदमी की मृत्यु भी हो जाती है। इससे मनुष्य बेहोशी अवस्था में हमेशा के लिये सो जाता है, इसलिये इसको निद्रारोग या Sleeping Sickness का नाम दिया गया है। इन ट्राइपैनोसोम का शरीर लम्बा और पतला होता है जिसका आकार ६ से ८ म्यू ($1u = \frac{१}{१०००}$ मि मी०) होता है।

इसके अतिरिक्त कालाजार भी एक कोशिकीय जन्तु की ही देन है जिसको Leishmania donovani कहते हैं। इसका intermediate host ग्लोसीना नाम की मक्खी है। यह मक्खी जब किसी रोगग्रस्त मनुष्य के शरीर को काटती है, तो मनुष्य के प्रोटोजोआ-मक्खी में मुँह में प्रविष्ट हो जाते हैं। एक या दो सप्ताह बाद मक्खी के अन्दर के प्रोटोजोआ flagellate हो जाते हैं और नये होस्ट पर आक्रमण कर देते हैं। जब यह दूसरे मनुष्य को काटती है तो मनुष्य को बुखार हो जाता है जिसके कारण शरीर काला पड़ने लगता है। इसलिए इसको काला जार नाम दिया गया है।

मलेरिया को फैलाने वाले एक कोशिकीय जीवाणु का नाम Plasmodium है जिसके जीवनचक्र की कुछ अवस्था एनाफिलीज मच्छर के शरीर में पूरी होती है। जब यह मच्छर किसी स्वस्थ आदमी को काटता है, तो ये सूक्ष्मजीव मानव शरीर में प्रवेश कर जाते हैं। फलतः मनुष्य मलेरिया बुखार का शिकार बन जाता है।

वर्म या कृमि

उपरोक्त रोग उत्पादक जीवों के अतिरिक्त बहुत से कृमि भी बीमारियों के प्रसारण में हाथ बटाते हैं। इन कृमियों को तीन विभक्तों में बाँटा गया है।— (१) फ्ल्यूक्स (२) टेपवर्म तथा (३) राउन्ड वर्म।

यकृत फ्ल्यूक्स जानवरों तथा मनुष्यों में कई तरह की बीमारियाँ फैलाते हैं। इन फ्ल्यूक्स का जीवन-चक्र दो तरह के होस्ट पर आश्रित है। पहला होस्ट कोई भी रीढ़विहीन जानवर होता है [मोलस्क समुदाय] और दूसरा होस्ट कोई भी रीढ़धारी वर्ग का सदस्य [मनुष्य अथवा जानवर]। भेड़ों में पाया जाने वाला फ्ल्यूक जो कि Fasciola hepatica के नाम से ज्ञात है यह यकृत सड़न [Liver rot] नामक बीमारी पैदा करता है। ये भेड़ों को खून को चूस लेते हैं, जिसके फलस्वरूप उनका शरीर सूखता जाता है और इनका उपचार न होने पर भेड़ों की मृत्यु भी हो जाती है।

मनुष्यों में पाये जाने वाले फ्ल्यूक्स का जीवन-चक्र घोंघे तथा मछली के शरीर में पूरा होता है, मनुष्य जब प्रभावित मछलियाँ खाते हैं तो उसके अन्दर रहने वाले फ्ल्यूक्स मनुष्य के यकृत में घुस जाते हैं तथा खून को चूसना शुरू कर देते हैं। ये फ्ल्यूक्स एनीमिया तथा

यँकृत सड़न की बीमारी पैदा कर देते हैं। यह बीमारी ज्यादातर चीन तथा जापान में पाई जाती है।

रक्त फ्ल्यूक या सिस्टोसोमा भी मनुष्य के शरीर में पाया जाता है, इसका जीवन-चक्र इस प्रकार पूर्ण होता है। प्रौढ़ मादा फ्ल्यूक मनुष्य की आँत की खून कोशिकाओं में अण्डे देती है तथा ये अण्डे मल के साथ शरीर से बाहर निकल जाते हैं। ये अण्डे जल के सम्पर्क में आने पर छोटे लार्वे में परिणित हो जाते हैं तथा जल में तैरने लगते हैं। घोंघे के सम्पर्क में आकर वे घोंघे में घुस जाते हैं और शरीर के तन्तुओं को खाने लगते हैं। तत्पश्चात् एक प्रकार के sac में परिवर्तित हो जाते हैं, जिन्हें sporocyst कहते हैं। हर एक sporocyst से दूसरे प्रकार के लार्वे निकलते हैं जिनको Miracidium कहते हैं। ये लार्वे इस अवस्था में घोंघे से निकलकर पानी में तैरने लगते हैं और मनुष्य के नंगे पैर या शरीर के सम्पर्क में (नहाते अथवा कपड़े साफ करते समय) आने पर चमड़े में छेद करके शरीर में प्रवेश कर जाते हैं तथा रक्त केशिकाओं में पहुँच कर आँत में आ जाते हैं और पुनः प्रौढ़ अवस्था में परिवर्तित हो जाते हैं। ये कृमि सिस्टोसोमियासिस नामक बीमारी पैदा करते हैं। चीन तथा मिश्र में यह बीमारी अत्यन्त साधारण है क्योंकि यहाँ पर किसान नंगे पैर खेत में धान की रोपाई करते हैं तथा खेतों में विष्टा की खाद अधिक मात्रा में दी जाती है जिसके कारण फ्ल्यूक्स इन जगहों पर अधिकाधिक मात्रा में पाये जाते हैं।

बहुत से टेपवर्म भी मनुष्य की आँत में घुसकर पचा हुआ भोज्य पदार्थ चूसते रहते हैं। इनका भी जीवन चक्र दो प्रकार के होस्ट में पूर्ण होता है। पहला होस्ट मनुष्य तथा दूसरा होस्ट सुअर अथवा गाय या मछली होती है। टेपवर्म की कुछ अवस्थायें इन अन्तर्वर्ती होस्ट में पूरी होती हैं और जब मनुष्य इनके कच्चे मांस को खाता है तो टेपवर्म उस समय ब्लैडर वर्म की अवस्था में रहता है और मनुष्य के शरीर में पहुँचकर प्रौढ़ कृमि की अवस्था पूर्ण करता है। इन कृमियों के शरीर में रहने से मनुष्य का शरीर दुबला होता जाता है तथा पेट में रह रह करके दर्द होता है।

सौभाग्यवश मनुष्य को अधिक हानि पहुँचाने वाले राउन्ड कृमि बहुत ही कम है। एक पतला हुकवर्म जो कि $\frac{3}{4}$ इन्च का होता है जिनको "निकेटर" कहते हैं, मनुष्य की आँत में पाया जाता है। यह आंत में मुख के द्वारा लटका रहता है तथा खून चूसता रहता है। इसके अंडे मल के द्वारा शरीर से बाहर निकल जाते हैं। जहाँ पर गन्दगी अधिक रहती है सफाई ठीक से नहीं होती वहाँ पर ये जमीन पर पड़े रहते हैं। कुछ दिन के बाद ये लार्वे में परिणत हो जाते हैं और जमीन के अन्दर खाना शुरू कर देते हैं। जब ये लार्वे किसी आदमी के नंगे चर्म के सम्पर्क में आ जाते हैं तो मांस में घुसने लगते हैं जब तक कि ये रक्त केशिकाओं तक नहीं पहुँच जाते। यहाँ से ये रक्त-परिवहन के साथ फेफड़े में चले जाते हैं और फेफड़े से वायु नली द्वारा ये मुँह में जाते हैं। मुँह से पेट में निगल लिये जाते हैं और अन्त में आँत में पहुँच जाते हैं। यह बीमारी शीत तथा शीतोष्ण प्रदेशों में अत्यन्त साधारण है। इस बीमारी से मानव बहुत ही सुस्त और जोवन रहित महसूस करते हैं।

ट्राइक्ना नाम का कृमि जो ट्राइक्नोसिस पैदा करता है आँत तथा Lymph केशिकाओं, रक्तकेशिकाओं, और माँस में पाया जाता है, जिससे मनुष्य के पेट में दर्द होता रहता है और मनुष्य की मृत्यु भी हो जाया करती है। यह वर्म $\frac{1}{8}$ इंच आकार का होता है। मादाकृमि ही इस बीमारी को फैलाने में हाथ बटाती है।

हाथीपाव [Filaria] नामक प्रसिद्ध बीमारी भी कृमि की ही देन है इसका नाम फाइलेरिया वर्म है। जब यह शरीर में घुस जाता है तो Lymph channel को बन्द कर देता है जिसकी वजह से उस स्थान में सूजन पैदा कर सकती है। इस बीमारी को एक होस्ट से दूसरे होस्ट तक फैलाने का कार्य मच्छर किया करते हैं।

फफूँदी

इससे मनुष्यों को कोई खास हानि नहीं होती है। दाद नामक चर्मरोग फफूँदियों से ही फैलता है जिसमें चमड़े पर अँगूठी या गोले आकार के उभड़े हुये धब्बे बन जाया करते हैं। इनसे जमे हुये बालों को हानि होती है। जहाँ पर इनके प्रभाव से जख्म हो जाता है वहाँ के बाल नष्ट हो जाया करते हैं।

●●

संक्षिप्त जीवन परिचय माला—३३

तरुण वैज्ञानिक जयन्त नारलिकर

शमीम अहमद

विश्व की प्रगति मानव सभ्यता का उत्कर्ष केवल पात्र वैज्ञानिक ज्ञानार्जन के फलस्वरूप प्राप्त होता है। जिस देश के वैज्ञानिकों की शोध जितनी लाभदायक होती है, उसी आधार पर उस देश के योगदान की गणना की जाती है। अति प्राचीन काल से यह परंपरा चली आ रही है कि भारत सदैव किसी न किसी रूप में वैज्ञानिक उपलब्धियों में योगदान देता रहा है। जैसे जीव-विज्ञान के क्षेत्र में जगदीश चन्द्र वसु की उपलब्धियाँ, भौतिक विज्ञान में नोबुल लारिएट सी० वी० रमन की आश्चर्यजनक महत्वपूर्ण सफलता, गणितीय अध्ययन के महान शास्त्री रामानुजन को मूलभूत गवेषणाएँ इत्यादि। ठीक उसी प्रकार आज वर्तमान युग में भारत ने पुनः अपना योगदान—डा० जयन्त नारलिकर के रूप में प्रस्तुत किया है। यह योगदान, विश्व की मूलभूत गवेषणाओं में एक महान स्थान रखता है।

२५ वर्षीय नवयुवक वैज्ञानिक डा० जयन्त नारलिकर ने फ्रेड हायल नामक वैज्ञानिक के साथ, गुरुत्वाकर्षण के उन गूढ़तम रहस्यों के ऊपर का पर्दा उठाया है जिसके आधार पर भविष्य में ब्रह्माण्ड को एक चिर नवीन रूप की रूपरेखा प्राप्त हो सकेगी। वास्तव में वैज्ञानिक नारलिकर की धारणाओं ने आइन्सटाइन जैसे महान् वैज्ञानिक के सिद्धान्त में संशोधन प्रस्तुत किया है। डा० नारलिकर का यह योगदान वैज्ञानिक-ज्ञान-जगत के लिए उतना ही महत्वपूर्ण स्थान रखता है जितना कि एक नवजात शिशु का अपने देश के हित में। विज्ञान की इस नवीनतम गवेषणा के आगे चल कर क्या-क्या उपयोग संभव हो सकते हैं, ब्रह्माण्ड की कौन-कौन सी जटिलताएँ सरल होकर रह जायेंगी और इसके अतिरिक्त और कितनी नवीन विचारधाराओं के जन्म होंगे, यह भविष्य ही बता सकता है।

डा० जयन्त नारलिकर का जन्म २६ जुलाई सन् १६३८ ई०, को कोल्हापुर, महाराष्ट्र में हुआ था। आपकी आरंभिक शिक्षा बनारस में हुई क्योंकि उस समय आपके पिता वी० वी० नारलिकर जो आज भी भारत के गणितज्ञों में एक प्रमुख स्थान रखते हैं, का कार्यक्षेत्र वहीं था। सन् १६५६ ई० में आपने बी० एस-सी० की परीक्षा में विशेष योग्यता के साथ प्रथम स्थान प्राप्त किया बी० एस-सी० करने के पश्चात् आप कैम्ब्रिज के फिट्ज विलियम कालेज में आ गए। इसी कालेज से आपने सन् १६६३ ई० में डाक्टरेट की उपाधि प्राप्त की।

डा० विष्णु जयन्त नारलिकर की गणित दीक्षा का श्रेय आपके पिता श्री वी० वी० नारलिकर को है। वी० वी० नारलिकर, दीर्घकाल तक बनारस विश्वविद्यालय में गणित के अध्यक्ष पद पर रहने के बाद, आजकल राजस्थान लोक-सेवा आयोग के अध्यक्ष हैं।

डा० जयन्त को प्रेरणा की द्वितीय श्रोत उनकी मां स्वयं है जो बम्बई विश्वविद्यालय की संस्कृत की स्नातिका हैं और जिनका अंग्रेजी साहित्य पर भी अच्छा अधिकार है।

अब प्रश्न उठता है कि आखिर इस भारतीय वैज्ञानिक की देन क्या है ? इसको समझने के लिए वास्तव में भूमिका के रूप में हमें और सिद्धान्तों को संक्षेप में समझना होगा।

गुरुत्वाकर्षक प्रयोगों के क्षेत्र में न्यूटन का नाम सर्वप्रथम आता है। कारण यह है कि न्यूटन ने ही वास्तव में एक सिद्धान्त प्रस्तुत किया जिसके अनुसार पदार्थ अपनी पूर्ववत् अवस्था को उसी हालत में रखने में कोशिश करता है लेकिन जब पदार्थ के ऊपर

बल लगता है तो उसकी दशा में परिवर्तन उत्पन्न होता है। यह परिवर्तन त्वरण के नाम से अभिहित किया गया और इसको निरपेक्ष माना गया। इसी को न्यूटन का जड़ता का नियम भी कहा जाता है। न्यूटन की इस धारणा के ऊपर उसके बाद अनेक वैज्ञानिकों ने अपने तरीके से सोचना आरंभ किया। न्यूटन के इस सिद्धान्त को, कि त्वरण के मान का मापन एक निरपेक्ष आकाश की अपेक्षा किया जाता है, मैच नामक वैज्ञानिक ने अपना संशोधन प्रस्तुत करते हुए इस प्रकार खंडित किया कि त्वरण का मापन निरपेक्ष आकाश के सापेक्ष की अपेक्षा सुदूर पिण्डों के सापेक्ष करना आवश्यक है। इसी सिद्धान्त का समर्थन आइन्सटाइन ने भी अपने सिद्धान्त में किया और सामान्य सापेक्षवाद के सिद्धान्त में इसी तथ्य को स्पष्ट किया है।

यद्यपि आइन्सटाइन के सूत्र ने ब्रह्माण्ड की अनेक जटिलताओं को सुलझाने में काफी योग दिया लेकिन फिर भी आइन्सटाइन सिद्धान्त दोषमुक्त न रह सका। उदाहरणार्थ, किसी वस्तु के पृथ्वी पर गिरने की दशा को ले लीजिए। गणितीय विधियों से यह विहित है कि दो पदार्थों के बीच उत्पन्न खिंचाव बल $F = G\frac{m_१ m_२}{d^२}$ होता है। यदि देखा जाय तो हमें यह भी विदित होगा कि यह बल आकर्षण बल है। यदि G के पहले एक ऋण मात्र चिन्ह लगा दिया जाय तो बल की दिशा बदल कर विकर्षण बल में परिवर्तित हो जायगी। इस घटना का प्रमाण हमारे दैनिक कार्य-कलापों में कहीं नहीं मिलता, इसका क्या कारण है? इसी को आइन्सटाइन का सिद्धान्त नहीं हल कर सकता है।

इसी कारण होयल तथा नारलिकर ने पदार्थों के बीच का आकर्षण निकालने में आइन्सटाइन द्वारा अपनाए गए गणितीय उपकरणों को दूर रख करके पृथ्वी के विस्तार तथा पदार्थ के घनत्व का सहारा लिया है। वास्तव में नारलिकर-मत होयल के 'सतत् संरचना' सिद्धान्त की उपसिद्धि भी कहा जा सकता है क्योंकि इससे उपरोक्त मत को पुष्टि मिलती है।

आइन्सटाइन मत का दूसरा दोष यह है कि उन्होंने सूर्य के गुरुत्वक्षेत्र को स्थिर और स्थायी मान लिया है जबकि होयल के मतानुसार यदि सभी पदार्थ हटा लिए जाँय तो गुरुत्वाकर्षण भी समाप्त हो जायगा।

वैज्ञानिक की प्रतिभा का परिकलन उसके कार्य की मात्रा से नहीं बल्कि उसके गुण एवं उपयोगिता के आधार पर किया जाता है। हमारे भारतीय वैज्ञानिक जयन्त नारलिकर के सिद्धान्त की विलक्षणता, एक नवीन आधारभूत धारणा के जन्म देने में हैं।

आज डा० जयन्त के कार्य पर भारत को गर्व है। हमें आशा है कि भविष्य में अन्य भावी वैज्ञानिक भी देश का मस्तक ऊँचा करने में कोई कसर न उठा रखेंगे।

●●

सार संकलन

१. कृषि-क्षेत्रीय क्रान्ति में विज्ञान का योगदान

अमेरिका में कृषि के क्षेत्र में जो अनुसन्धान हो रहा है, वह केन्द्रीय, राज्य और काउण्टी सरकारों, निजी उद्योगों, किसानों और निजी प्रतिष्ठानों का सरकारी प्रयास है, जिसका उद्देश्य किसानों और मानव-प्राणियों के लाभार्थ नवीन जानकारियों की खोज करना है।

यह अनुसन्धान ही अमेरिकी कृषि की क्षमता और उत्पादकता के लिए अधिकांशतः उत्तरदायी है। निस्सन्देह, इसमें अन्य बातों ने भी योग प्रदान किया है। हमें सौभाग्य से बौद्धिक स्वतन्त्रता का एक ऐसा वातावरण उपलब्ध है, जो व्यक्तिगत पहल को प्रोत्साहित और पुरस्कृत करता है। किन्तु अनुसन्धान ने ही वह चिनगारी प्रदान की है, जिसमें कृषि-क्षेत्रीय क्रान्ति को गतिशील बनाया और उसे बराबर गतिशील बनाये हुए है।

अमेरिका में संगठित कृषि-अनुसन्धान का इतिहास १८६२ से प्रारम्भ हुआ, हालांकि वहाँ कृषि का प्रादुर्भाव ३ शताब्दी पहले उस समय हुआ जब वहाँ की भूमि पर लोग आ कर बसने लगे थे। उस समय वहाँ की अर्थ-व्यवस्था मुख्यतः कृषि-प्रधान थी। वहाँ के अधिकांश लोग अन्य देशों से आये हुए परिश्रमी और आत्मनिर्भर किसान थे, जो कृषि-सम्बन्धी अपने परम्परागत अनुभवों को नवीन और अछूते वातावरण पर लागू करने के लिए आतुर थे। प्रारम्भ में आ कर बसने वाले लोगों ने जमीन को साफ किया और सदियों पुरानी विधियों पर आधारित कृषि का विकास किया। जब किसी एक स्थान की कृषि-योग्य भूमि की उत्पादन-क्षमता का पूर्ण विदोहन हो जाता था तो वे वहाँ से हट कर दूसरे स्थान पर चले जाते थे और उस पर कृषि करने लगते थे।

किन्तु जैसे-जैसे देश विकसित होने लगा, वैसे-ही-वैसे नये और प्रेरणादायक विचार भी विकसित और कार्यान्वित होने लगे। अन्य बातों के अतिरिक्त, व्यापक रूप से प्रचलित भूमि और मकान का स्वामित्व ऐसी सामाजिक मान्यताओं को जन्म देने लगा, जो अधिकांश आप्रवासियों के समक्ष पहले कभी नहीं आयी थीं। नव-विकासोन्मुख देश का वातावरण परिवर्तन और प्रयोग का, भूतकालीन विधियों के प्रति असन्तोष का और श्रेष्ठतर विधियां विकसित करने की आकांक्षा का वातावरण था।

अधिकाधिक भूमि पर कृषि होने के साथ-साथ अधिकाधिक कृषि-समस्याएं भी उत्पन्न हुईं। इन समस्याओं को हल करने के लिए अधिक वैज्ञानिक ज्ञान की एक तीव्र उत्कण्ठा उत्पन्न हुई। उसके बाद इस अपूर्व धारणा ने जन्म लिया कि ऐसे प्रत्येक व्यक्ति को शिक्षा की सुविधा उपलब्ध होनी चाहिए, जिसमें शिक्षा प्राप्त करने की क्षमता विद्यमान हो, ताकि उपार्जित ज्ञान का उपयोग खेती और राष्ट्र को लाभान्वित करने के लिए हो सके।

उस समय कुछ दूरदर्शी व्यक्तियों में यह मान्यता भी विकसित होने लगी कि एक न एक दिन विस्तारशील औद्योगिक समाज द्वारा भूमि का उपयोग होने लगेगा। वे समझने लगे कि कृषि की क्षमता बढ़ानी पड़ेगी, ताकि कम भूमि से अधिक लोगों के लिए भोजन की तथा सतत औद्योगिक विकास के लिए एक आधार की व्यवस्था की जा सके।

ये सभी उल्लेखनीय नयी धारणायें थीं—ऐसी धारणायें जो शिक्षा और कृषि के मान्य आदर्शों से सर्वथा भिन्न थीं।

नये राष्ट्र की कृषि सम्बन्धी आवश्यकताएं पूरी करने के लिए पहला महत्वपूर्ण कदम १८६२ में उठाया गया, जब कांग्रेस ने मौरिल अधिनियम स्वीकृत किया,

जिसमें प्रत्येक राज्य में खेती और मशीनी कलाओं की शिक्षा देने के लिए किसी कालेज को सार्वजनिक भूमियों का अनुदान देने की व्यवस्था की गयी। किन्तु नये कृषि कालेजों के पास कृषि विषयक ऐसा वैज्ञानिक ज्ञान बहुत ही कम था जिसे वे अपने छात्रों को प्रदान करते। अतः १८८७ में, प्रत्येक कृषि कालेज के अंग के रूप में प्रयोगात्मक केन्द्रों की वित्तीय सहायता के लिए संघीय कोष सुलभ किये गये।

इससे यह सीखा गया कि कालेज की चहारदीवारियों तक ही सीमित रखने पर अनुसन्धान और शिक्षा से कोई विशेष लाभ नहीं। अतः १९१४ में, एक राष्ट्र-व्यापी विस्तार-सेवा की स्थापना की गयी, जिसका उद्देश्य देश के प्रत्येक किसान को कृषि की नवीन विधियों की शिक्षा प्रदान करना और व्यावहारिक रूप में उनका प्रदर्शन करना था।

प्रारम्भिक प्रयास बहुत ही विनम्र किस्म के थे और लक्ष्य भी सीधे-सादे थे। प्रमुख कृषि वैज्ञानिकों ने शीघ्र ही अपने अनुसन्धानों के महत्व का प्रदर्शन किया।

प्रारम्भिक सफलताओं में से एक यह खोज थी कि पशुओं में 'टिक' बुखार कीड़ों द्वारा फैलता है। इस खोज ने मलेरिया, पीला बुखार और अन्य मानवीय रोगों के नियन्त्रण का मार्ग प्रशस्त किया।

यह खोज भी की गयी कि पौधों के रोग कीटाणुओं द्वारा फैलते हैं। खोज द्वारा अनेक पौध रोगों के कीटाणुओं की पहचान की गयी। कपास को मुरझाने वाले रोग के सम्बन्ध में की गयी खोजों से पता चला कि कपास के ऐसे बीजों और पौधों को चुन कर उत्पन्न करना सम्भव है, जिनमें रोग का प्रतिरोध करने की क्षमता हो।

इस प्रारम्भिक अनुसन्धान के फलस्वरूप पौध-प्रजनन की ऐसी विधियां विकसित हुईं, जिनके द्वारा ऐसे पौधे उत्पन्न करना सम्भव हो गया, जिनमें दृढ़ता, देश के विशिष्ट क्षेत्रों में बढ़ने की क्षमता, तथा रोगों को रोकने की सामर्थ्य जैसे गुण विद्यमान हों। बहुत से पौधे उत्पन्न किये गये, जो जोतने-बोने, और काटने के लिए प्रयुक्त मशीनों के उपयुक्त थे। उदाहरण के लिए चरी के पौधे को छोटा किया गया ताकि उसे एक कम्बाइन मशीन द्वारा काटा जा सके। इसी प्रकार सोयाबीन के पौधे को इस प्रकार बढ़ाने की विधि विकसित की गयी ताकि वह खड़ा रहे।

कालांतर से कृषि अनुसन्धान के फलस्वरूप ऐसे पशु विकसित हुए, जो कम से कम चारे पर पल कर कम से कम समय में अधिक मोटे तगड़े हो सकें। साथ ही, अनुसन्धान के फलस्वरूप मुर्गियों और पशुओं की किस्मों और उत्पादन में आशातीत सुधार हुए। अब वहाँ पर सारे परिवार के लिए पर्याप्त मांस प्रदान करने वाली मुर्गियां, अच्छे मांस वाले सुअर और दोगली नस्ल की ऐसी भेड़ें जो श्रेष्ठतर अन्न उत्पादन कर सकें, उपलब्ध हैं। वहाँ ऐसी मुर्गियाँ हैं, जो साल में २०० अण्डे तक देती हैं। सौ वर्ष पूर्व अण्डे का उत्पादन इसका आधा भी नहीं था।

कृषि-अनुसन्धान ने मिट्टी, वन और जल का प्रयोग अधिक विवेक के साथ करने के साधन प्रदान किये हैं। उसने किसानों को विपणन की और उपजों की किस्में सुधारने की श्रेष्ठतर विधियाँ प्रदान की हैं।

कृषि-अनुसन्धान ने देश के लोगों के आहार में सुधार किया है। पोषक तत्वों सम्बन्धी अनुसन्धान के फल-स्वरूप अब वे अधिक पौष्टिक भोजन प्राप्त कर रहे हैं। जिसमें मांस, मुर्गियाँ, दूध, फल और सब्जियाँ सम्मिलित हैं। पर्याप्त भोजन मिलने के कारण लोग रोग के शिकार नहीं होते और उनकी उत्पादन-क्षमता बढ़ जाती है।

कृषि-अनुसन्धान के फलस्वरूप ऐसी मशीनें मिली हैं जो खेत की एक पट्टी में एक साथ ही पौधे रोप सकती हैं, उर्वरक फैला सकती हैं और रोगों और कीड़ों को रोकने के लिए दवाइयां छिड़क सकती हैं। साथ ही अनेक ऐसी मशीनें भी बनी हैं, जो किसानों का समय और श्रम बचाती हैं और उनकी क्षमता बढ़ाती हैं।

इस प्रकार विज्ञान ने अनेक प्रकार से कृषि को लाभ पहुँचाया है। इन सभी विकासों ने कृषि-क्षमता को बढ़ाने में अपूर्व योग प्रदान किया है। इनमें फसलों और पशुओं की सुधरी किस्में, मिट्टी, और

जल-प्रबन्ध की श्रेष्ठतर विधियाँ, उर्वरक प्रयोग के नये ढंग तथा मशीनीकरण विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

जार्ज वाशिंगटन के समय में, जब अमरीका विश्व में अपना स्थान प्राप्त करने के लिए संघर्षरत था, उसकी आवश्यकताएँ पूरी करने के लिए ९० प्रतिशत जन-संख्या को खेती करनी पड़ती थी। अब केवल ८ प्रतिशत जन-संख्या ही आवश्यकता के लिए पर्याप्त कृषि-पदार्थ उत्पन्न कर लेती है। इस प्रकार, उन्मुक्त श्रम शक्ति सड़कों, पुलों, कारखानों और घरों के निर्माण में, कोयले और लोहे की खानें चलाने में, रेल, विमान और मोटर सेवाएं चालू रखने में, स्कूलों और कालेजों में शिक्षा का विकास करने में तथा नगर, राज्य और संघ की सरकारें चलाने में संलग्न हैं।

केवल पिछले ५० वर्षों में, अमरीकी जन-संख्या लगभग दूनी हो गयी है किन्तु इस अवधि में वहाँ के कृषि-श्रमिकों की संख्या आधी घट गयी है। इसका कारण यह है कि अनुसन्धान के फलस्वरूप ऐसी विधियाँ मालूम हो गयी हैं, जिनके द्वारा वे एक घन्टे में इतना अधिक उत्पादन करते हैं जो ५० वर्ष पूर्व के उतने समय के उत्पादन के चार गुने से अधिक होता है।

१९१० में एक बुशल अनाज पैदा करने और काटने के लिए फार्म दर १$\frac{1}{3}$ घन्टे श्रम करना पड़ता था, जब कि एक बुशल गेहूँ उत्पन्न करने के लिए १ घण्टे से अधिक श्रम की आवश्यकता पड़ती थी। आज, एक बुशल अनाज की लागत १२ मिनट के श्रम के बराबर है, गेहूँ तो ११ मिनट से भी कम श्रम द्वारा उत्पन्न हो सकता है। अब एक गैलन दूध उत्पन्न करने में पहले से आधा श्रम लगता है जब कि एक गांठ कपास पहले के ३/४ श्रम द्वारा उत्पन्न हो सकती है।

इस अवधि में फसलों के उत्पादन में प्रति एकड़ ६० प्रतिशत की वृद्धि हुई है, जब कि पशुओं के उत्पादन में ८५ प्रतिशत की वृद्धि हुई है।

किन्तु कृषि को विकास के वर्तमान स्तर पर लाने में एक शताब्दी तक कठिन श्रम करना पड़ा है। इसका आशय यह नहीं कि अन्य देशों को भी इस प्रकार की सफलता पाने में इतना ही समय लगेगा। अब संसार के अनेक देशों में तीव्रतर प्रगति सम्भव और आवश्यक भी है। हम मानते हैं कि किसी एक देश की प्राविधियां उसी रूप में दूसरे देशों में लागू नहीं हो सकतीं। किन्तु हम दूसरे देशों को वैज्ञानिक जानकारी प्रदान कर सकते हैं, और भिन्न-भिन्न देशों की आवश्यकताओं के अनुरूप उसे परिवर्तित कर सकते हैं।

२. पूर्व-गणना

तीव्र गति से हो रहे परिवर्तनों वाले इस विश्व में, अगले वर्ष या दशाब्द की गतिविधियों की पूर्व-कल्पना एक आकर्षक बात है। किन्तु जब वैज्ञानिक भविष्य पर दृष्टि-पात करते हैं, तो वे उसकी पूर्व-कल्पना नहीं, बल्कि उसकी 'पूर्व-गणना' करते हैं।

यदि पूर्व-गणना (एक्स्ट्रापोलेशन) शब्द (गणित में) पहले से विद्यमान न होता, तो उसे गढ़ना आवश्यक होता। यह शब्द भविष्य के अंचल में किसी ज्ञात स्थिति की प्रस्थापना सम्बन्धी प्रक्रिया का बोधक होता है।

न्यूयार्क में 'इन्स्टिट्यूट ऑव एलेक्ट्रिकल एण्ड इलेक्ट्रोनिक इंजिनियर्स' के एक हाल के अधिवेशन में, 'भविष्य की एक झांकी' शीर्षक के अन्तर्गत, कुछ विस्तृत पूर्व-गणना सम्पन्न हुई। लगभग ७५,००० वैज्ञानिकों, इंजिनियरों और निर्माताओं ने अधिवेशन की प्रदर्शन-सामग्रियों और भाषणों में इस विषय की झलक देखी और सुनी।

कुछ ही वर्ष पूर्व, जब सूक्ष्मीकरण की सम्भावनाएँ दृष्टिगोचर होने लगीं, तो वैज्ञानिक सिगार के बक्स के आधे आकार के बराबर आकार वाले टेलिविजन कैमरा, या डाकटिकट से भी छोटे और पतले लाउडस्पीकर जैसी वस्तुओं के निर्माण की 'आश्चर्यजनक' भविष्यवाणी करने लगे। इस प्रकार की वस्तुएँ—पिछले वर्ष की पूर्व गणना के मूर्त परिणाम के रूप में—न्यूयार्क के अधिवेशन में प्रदर्शित थीं।

पुनः, भविष्य की गहराई में झाँकते हुए, अधिवेशन में भाषण करने वाले वक्ताओं ने त्रि-आयामी टेलिविजन की सम्भावनाओं के विषय में और ऐसे गणक-यन्त्रों के बारे में चर्चा की, जो अपनी गलतियों से सबक ले सकते हैं, और नई तथा अनिश्चित परिस्थितियों के अनुरूप अपने-आपको परिवर्तित कर सकते हैं।

इस प्रकार की भविष्यवाणियों में अटकलबाजी की आवश्यकता बहुत ही कम होती है। आधुनिक वैज्ञानिक योजनाएँ इतनी जटिल हैं कि वर्षों की तैयारी आवश्यक होती हैं। इन कार्यक्रमों की तर्कसंगत आयोजना द्वारा विश्वसनीय भविष्यवाणियाँ की जा सकती हैं।

उदाहरण के लिए, आगामी २५ वर्षों में अन्तरिक्ष-अनुसन्धान के क्षेत्र में लगातार होने वाली प्रगतियों की भविष्यवाणी करने के लिए किसी अन्तर्दृष्टि की आवश्यकता नहीं। पृथ्वी की परिक्रमा करने वाली समानव प्रयोगशालाएँ, चन्द्रमा के धरातल पर वैज्ञानिक अड्डे तथा शुक्र या अन्य निकटवर्ती ग्रहों तक मनुष्य की यात्रा इन्हीं प्रगतियों में कुछ हैं। इन सभी योजनाओं की रूप-रेखाएँ अमेरिका में निर्माण की विभिन्न अवस्थाओं में पहुँच चुकी हैं।

हाल में, अमेरिका के नोबेल पुरस्कार विजेता भौतिक वैज्ञानिक तथा अमेरिकी अणुशक्ति आयोग के अध्यक्ष, डा० ग्लेन टी० सीबोर्ग, द्वारा की गई भविष्यवाणियों के सम्बन्ध में अब केवल प्रश्न है—"कितनी शीघ्र"।

डा० सीबोर्ग का विश्वास है कि यदि महासागरों के साधनों का सक्षम प्रयोग किया जाये, तो विश्व में खाद्य-पदार्थों की पूर्ति १० गुनी बढ़ जायेगी; कि तीव्र गति से हो रहे चिकित्सा-अनुसन्धान रोगों का प्रायः उन्मूलन कर देंगे; और यह कि समुद्र से असीमित मात्रा में पेय जल प्राप्त किया जा सकता है। इन सभी क्षेत्रों में अमेरिका में हो रहे अनुसन्धानों से आशाजनक परिणाम प्राप्त होने लगे हैं।

टैक्सास विश्वविद्यालय के इंजिनियरिंग स्कूल के डीन जौन जे० मैक्केट्टा ने हाल में निम्नलिखित भविष्य-वाणियाँ कीं, जिन्हें किसी भी दशा में मात्र आकाश-कुसुमी नहीं कहा जा सकता।

—३० वर्ष के भीतर मनुष्य के जीवन की औसत लम्बाई बढ़ कर ८५ वर्ष तक पहुँच जायेगी।

—कृत्रिम हृदय, फेफड़े और शरीर के अन्य अंग बनने लगेंगे, जो विकारग्रस्त और रुग्ण अंगों को प्रतिस्थापित करेंगे।

—मोटर-गाड़ियाँ विद्युदाणविक नेत्रों द्वारा अपने आप संचालित होंगी और उनमें ईंधन के लिए गेसोलिन के बजाय टिकाऊ और देर तक चलने वाले फ़ुएल सेल का प्रयोग किया जायेगा।

—पृथ्वी से चन्द्रमा तक और वहाँ के पृथ्वी तक की यात्राएँ नियमित रूप से होने लगेंगी।

डीन मैक्केट्टा ने कहा—'वैज्ञानिक सफलताएँ तीव्र गति से बढ़ रही हैं। यह गति धीमी से मध्यम और मध्यम से तीव्र स्तर पर पहुँच जाने के बाद, अब 'भयंकर स्तर पर पहुँच रही हैं।'

कुछ अमेरिकी वैज्ञानिकों का पूर्वानुमान है कि भविष्य में ईंधन के लिए मिट्टी के तेल और कोयले के स्थान पर आणविक तथा अन्य प्रणालियों का, जो अभी भी प्रयोगात्मक अवस्था में हैं, प्रयोग होने लगेगा। वैज्ञानिकों का कहना है कि उस दशा में तेल और कोयले को कृत्रिम वस्तुओं के उत्पादन के लिए कच्ची सामग्री के रूप में प्रयुक्त करने के हेतु सुरक्षित रखा जायेगा और वही उनका 'सही उपयोग' होगा। इस प्रकार निर्मित कृत्रिम वस्तुएँ सन, रुई, रबर और अधिकांश लकड़ियों का स्थान ले लेंगी। अतः इस समय उन्हें उगाने के लिए जो जमीन प्रयुक्त हो रही है, वह अन्य कार्यों के लिए उपलब्ध हो जायेगी।

अनेक वैज्ञानिकों का विश्वास है कि अब से कुछ दशाब्दों के बाद, मनुष्य वंश-परम्परा के रहस्यों को समझ जाने में समर्थ होगा, और इच्छानुसार, पौधों, पशुओं और मनुष्यों की वंशगत विशेषताओं को परिवर्तित कर सकेगा। ऐसा होने पर मनुष्य वंशानुगत विकारों को दूर करने, रोगों का प्रतिरोध करने की क्षमता बढ़ाने और मनुष्य की बुद्धि को विकसित करने में समर्थ हो जायेगा।

एक वैज्ञानिक ने कहा—'ऐसी हर वांच्छनीय बात, जो सिद्धान्त में सम्भव होगी, व्यवहार में सम्भव हो जायेगी, चाहे टैक्निकल कठिनाइयाँ कितनी भी क्यों न हों। भविष्य के विषय में एक बात तो सर्वथा निश्चित है और वह यह है कि आगे भविष्य में बहुत ही गहरे परिवर्तन होने वाले हैं।'

हाल में प्रेसिडेण्ट जान्सन ने वाशिंगटन में एक नये विज्ञान-भवन का उद्घाटन करते हुए वैज्ञानिक प्रगति की सराहना की। उन्होंने कहा—'मानव जाति की वर्तमान पीढ़ी के समक्ष भारी साहसिकता से परिपूर्ण जीवन व्यतीत करने की चुनौती है। पिछली सदियों में जो आविष्कार और अनुसन्धान हुए, वे अधिकांशतः अलग-अलग राष्ट्रों के लाभ के लिए हुए। आज हमारा विश्वास यह है कि आने वाले दशाब्दों में होने वाली खोजों और अनुसन्धानों का उद्देश्य सभी राष्ट्रों के प्रत्येक मनुष्य के कल्याण और आकांक्षा को बढ़ावा देना होगा।

३. व्यर्थ वस्तुओं से खाद्य-पदार्थों का उत्पादन

अधिकांश लोगों के लिए आहार सदैव एक रोचक विषय रहा है। अनुसन्धान के फलस्वरूप आहार के साधनों की मात्रा और किस्म को बढ़ाने की नयी-नयी विधियाँ बराबर प्रकट हो रही हैं। किन्तु हर दशा में खाद्य-पदार्थों की पूर्ति बढ़ाने का अर्थ उनके उत्पादन में वृद्धि होना ही नहीं है। खाद्य-पदार्थों को सुरक्षित रखना भी लगभग इतना ही महत्वपूर्ण है क्योंकि जब आप खाद्य-पदार्थ सुरक्षित रखते हैं तो आप उसकी मात्रा में भी वृद्धि करते हैं। फिर, परिवहन की बात आती है। यदि आप दूर से आये खाद्य-पदार्थ को खरीदने में असमर्थ हैं, तो व्यावहारिक दृष्टि से, वह एक ऐसा आहार सिद्ध होगा जिसे आप खा नहीं सकेंगे। अतः यदि आप खाद्य-पदार्थ को अधिक सस्ती दर पर भेजने की कोई विधि ढूँढ निकालें, तो व्यावहारिक दृष्टि से आप खाने के लिए उपलब्ध खाद्य-पदार्थ की मात्रा भी बढ़ा लेंगे।

विज्ञान इन सभी पहलुओं पर सक्रिय है। हाल में न्यूयार्क नगर में रसायन उद्योग ने एक प्रदर्शनी कर के अपनी प्रगति और अपने कुछ नये उत्पादों पर प्रकाश डाला। एक प्रदर्शन-सामग्री द्वारा खाद्य-पदार्थों के संरक्षण और जमावट की एक नई विधि पर प्रकाश डाला गया। निस्सन्देह खाद्य-पदार्थों को छोटे-छोटे पैकेटों में जमा देना, उन्हें यातायात की दृष्टि से कम खर्चीला बनाना है। प्रदर्शन सामग्री में यह दिखलाया गया था कि खाद्य-पदार्थों के पानी को, जिसके कारण ही बहुत से खाद्य-पदार्थों का वजन भारी हो जाता है, किस प्रकार शीत द्वारा सुखा कर उसे जमाया जा सकता है।

आम तौर पर, खाद्य-पदार्थों के पानी को भाप के रूप में उड़ा कर, अर्थात् उन्हें सुखा कर जमाया जाता है। कभी-कभी ताप से यह क्रिया शीघ्र पूरी हो सकती है। और, अगर यह क्रिया ऐसे शून्य वातावरण में सम्पन्न हो, जहाँ हवा का दबाव सामान्य स्तर से बहुत कम हो, तो पानी अधिक आसानी से भाप बन कर उड़ जायेगा। बहुत से तथाकथित सूखे खाद्य-पदार्थ इसी प्रकार तैयार किये जाते हैं।

खाद्य-पदार्थों की जमावट की नई विधि, वस्तुतः समुद्र से पेय जल प्राप्त करने के साधन के रूप में विकसित हुई। इस विधि द्वारा इस समय राइट्सविल बीच (नार्थ कैरोलाइना) में प्रयोग के रूप में प्रतिदिन १५,००० गैलन ताजा पेय जल तैयार हो रहा है। समुद्र के खारे पानी को जमा कर क्षारहीन शुद्ध पानी के जमे हुए हिम-मनकों में परिवर्तित कर दिया जाता है। हिम के मनकों को खारे पानी से अलग कर दिया जाता है, और फिर गला कर ताजे पेय जल में परिवर्तित कर दिया जाता है। साधारण खाद्य-पदार्थों पर भी हिम-मनके तैयार करने की यह विधि लागू होती है। किन्तु इस मामले में उद्देश्य शुद्ध जल तैयार करना नहीं, बल्कि खाद्य-पदार्थ से पानी को पृथक करना होता है। यह विधि किसी भी जलयुक्त द्रव पदार्थ पर लागू हो सकती है।

रसायन उद्योग की उसी प्रदर्शनी में एक अन्य प्रदर्शन-सामग्री का सम्बन्ध भी शुद्ध जल से था। यह सामग्री शुद्ध पानी तैयार करने वाली एक स्वतःचालित मशीन थी। इस प्रकार शुद्ध किये हुए पानी में किसी प्रकार की कोई अशुद्धता नहीं रहती। निस्सन्देह पीने के लिए हमें इतने शुद्ध जल की आवश्यकता नहीं रहती, किन्तु यह शुद्ध जल प्रयोगशालाओं में प्रयुक्त होने की दृष्टि से बहुत ही महत्वपूर्ण होता है। यह मशीन अपने आप शुद्ध जल तैयार कर के उसे

सुरक्षित रखेगी और आवश्यकतानुसार उसे खर्च भी करेगी।

अन्तरिक्ष-युग के प्रारम्भ-काल से ही अन्तरिक्षीय आहार की समस्याएं वैज्ञानिकों को आकर्षित करती रही हैं। अन्तरिक्ष में चन्द्रमा या किसी अन्य ग्रह की लम्बी यात्रा में खाद्य-पदार्थ के लिए अनेक वैज्ञानिकों ने 'अलगा' (एक प्रकार की समुद्री घास, काई या फेन) का प्रयोग करने का सुझाव दिया है।

'अलगा' हरे रंग का वह काईदार अवशिष्ट पदार्थ होता है, जो कभी-कभी तालाबों के ऊपर छा जाता है। वास्तव में यह नन्हें पौधों का समूह होता है। ये पौधे धूप को पौध-पदार्थ में परिवर्तित करके बड़ी तीव्र गति से बढ़ते हैं। किन्तु इनमें एक और विशेषता पायी जाती है। वह यह है कि ये आक्सीजन उत्पन्न करते हैं। इस गुण के कारण ही वैज्ञानिकों ने अन्तरिक्षीय आहार के लिए इन पर विचार किया है। कुछ वैज्ञानिकों का कहना है कि बड़ी मात्रा में भारी खाद्य-सामग्रियों तथा हवा शुद्ध करने वाले सभी प्रकार के उपकरण ले जाने के बजाय, अन्तरिक्ष-यानों में कुछ प्रकार की 'अलगा' प्रणाली ले जाना सम्भव है। यह अलगा खाद्य-पदार्थ और ऑक्सीजन, दोनों ही उत्पन्न करेगी। वैज्ञानिक प्रयोगों के फलस्वरूप अलगा से एक प्रकार का आटा भी तैयार किया गया है।

इस दृष्टि से अलगा में रुचि यहाँ तक पहुँच गयी है कि रिचमौण्ड, कैलिफोर्निया, में एक पूरे आकार की योजना चालू हो गयी है, जिसका उद्देश्य पृथ्वी पर ही अलगा के गुणों की जाँच करना है। इस योजना के अन्तर्गत गन्दे नालों के पानी से बने छिछले तालाबों में इसे बढ़ाया जायेगा। आशा की जाती है कि अलगा इस व्यर्थ गन्दे पानी को पशुओं के लिए उपयुक्त उच्च कोटि के प्रोटीन में परिणत कर देगी और साथ-ही-साथ पानी को शुद्ध भी करेगी। इससे न केवल पानी को सुरक्षित रखने में, बल्कि पशुओं के लिए चारे की पूर्ति बढ़ाने में भी सहायता मिलेगी।

इस योजना को कैलिफोर्निया विश्वविद्यालय के डा० जेम्स मेयर और डा० राबर्ट कूपर चला रहे हैं। उनकी रुचि मुख्यतः इस बात का पता लगाने में है कि साधारण गन्दे पानी में कोई ऐसा तत्व तो नहीं है जो अलगा को विनष्ट कर देगा। वे इस बात का भी निश्चित आश्वासन प्राप्त करना चाहते हैं कि इस प्रकार के आहार के प्रयोग से किसी तरह की स्वास्थ्य सम्बन्धी समस्या तो उत्पन्न नहीं होगी, और साथ ही जिन पशुओं को 'अलगा' खिलायी जायेगी, उन तक पानी में पाये जाने वाले रोगाणु अलगा के माध्यम से नहीं पहुँचेंगे।

वैज्ञानिकों ने उस प्रणाली का एक सफल लघु रूप तैयार भी कर लिया है, जिसका प्रयोग सम्भवतः अन्तरिक्ष में होगा। इस प्रणाली को वे "माइक्रोटेरेला" कहते हैं। पूरे आकार की योजना के लिए बहुत बड़े तालाब का प्रयोग किया जाता है इसके अन्तर्गत, कीटाणु गन्दे पानी पर आक्रमण करते हैं और ऐसे पदार्थ उत्पन्न करते हैं, जिन्हें पचा कर अलगा बढ़ती है। तालाब में यह प्रक्रिया बराबर चालू रहेगी। तालाब से ठीक उतनी ही मात्रा में अलगा और शुद्ध पानी को हटाया जायेगा, जो गंदले पानी के निरन्तर प्रविष्ट हो रहे प्रवाह को सन्तुलित कर सकेगी।

एक ओर तो "अलगा" का पूरे पैमाने पर परीक्षण प्रारम्भ हो रहा है, दूसरी ओर, एक विचित्र प्रकार की खाद्य-सामग्री उपलब्ध खाद्य-पदार्थों की—और विशेष रूप से स्वास्थ्य के लिए आवश्यक मात्रा में प्रोटीन की—वृद्धि करने में योग दे रही है। यह खाद्य सामग्री है खमीर या फेन। 'खमीर' वह तत्व है, जिसके कारण रोटी फूलती है या बियर में उफान आता है। किन्तु यह खमीर अनेक प्रकार की व्यर्थ फेंकी जाने वाली वस्तुओं से उत्पन्न हो सकती है। इसे लकड़ी की लुगदी तैयार करने के बाद शेष बची शर्करा तथा पनीर बनाने के बाद बची दुग्ध-शर्करा जैसे पदार्थों से तैयार किया जा सकता है। एक प्रकार की खमीर का स्वाद तो भुने हुए अखरोट के स्वाद जैसा ही होता है। इसे 'टोरुला' खमीर कहते हैं।

साधारण से साधारण खाद्य-पदार्थ भी बहुत ही अधिक परिवर्तित हो सकता है। वाशिंगटन के कृषि-अनुसन्धान संस्थान को डा० राबर्ट ह्वाइट-स्टीवेन्स द्वारा दी गयी एक रिपोर्ट के अनुसार, रसायनशास्त्री ऐसे रासायनिक पदार्थों का अध्ययन कर रहे हैं, जो पशुओं के विकास को अनुशासित करते हैं। उन्होंने ऐसे रसायनों की खोज की है जो कीटाणुओं को हानि पहुँचाने में असमर्थ बना सकते हैं। साथ ही उन्होंने कुछ ऐसे रसायन भी खोज निकाले हैं जो उन्हें खाये जाने से सुरक्षित रखते हैं।

दूसरी ओर रसायनों की सहायता से कुछ ही समय में किसानों के लिए यह सम्भव हो जायेगा कि वे चाहें तभी मुर्गियों से अंडे उत्पन्न करें। डॉ० ह्वाइट-स्टीवेन्स के अनुसार ऐसे रसायन भी ढूँढ़े जा सकते हैं, जिनकी सहायता से किसानों के लिए यह सम्भव हो सकेगा कि वे अपनी गायों से मिलने वाले दूध की मात्रा को ठीक-ठीक नियन्त्रित कर सकें। इसी प्रकार मांस के लिए तैयार किये जाने वाले पशुओं को रसायन की सहायता से आवश्यकतानुसार मोटा और दुबला बनाया सकेगा।

इस प्रकार, वैज्ञानिक आहार की पुरानी समस्या के विषय में बराबर खोज कर रहे हैं। वे पुरानी विधियों को सुधारने के साथ-साथ नयी विधियाँ भी विकसित कर रहे हैं।

विज्ञान वार्ता

१. मैसूर में नया विश्वविद्यालय

बंगलौर में शीघ्र ही कृषि विज्ञान के मैसूर विश्व विद्यालय का उद्घाटन होने वाला है। यह भारत और अमेरिका की सरकारों के उन सहयोगात्मक प्रयत्नों में प्रगति का एक और प्रमाण होगा जो भारत में खाद्य-उत्पादन बढ़ाने के लिए ज्ञान-प्रसार और अनुसन्धान सम्बन्धी कार्यक्रम लागू करने के लिए किये जा रहे हैं।

यह विश्वविद्यालय अप्रैल १९६३ में मैसूर-सरकार द्वारा स्वीकृत कानून के अनुसार स्थापित हुआ है। इस का विकास अमेरिका के लैण्ड ग्राण्ट (कृषि) कालेजों के नमूने पर टेनीसी विश्वविद्यालय के अमेरिकी परामर्श-दाताओं की सहायता से किया जा रहा है। अमेरिकी लैण्ड ग्राण्ड कालेजों में अध्यापन, अनुसन्धान और ज्ञान-प्रसार पर विशेष बल दिया जाता है और उनके कारण अमेरिका में खेती बारी की कायापलट हो गई है।

२. विज्ञान के ३५४ छात्रों की वृत्ति

विज्ञान के प्रतिभाशाली छात्रों की खोज की प्रतियोगिता में ३५४ छात्र छात्रवृत्ति और १८६ छात्र योग्यता-पत्र पाने के योग्य घोषित किये गये हैं।

यह योजना दिल्ली क्षेत्र में प्रयोग के तौर पर सन् १९६२-६३ में शुरू की गयी थी। इसे अब पूरे देश में लागू कर दिया गया है। इस वर्ष प्रतियोगिता में सारे देश में करीब ७ हजार छात्र बैठे, जिनमें से १,२०० छात्रों को ६ केन्द्रों से साक्षात्कार के लिये बुलाया गया।

छात्रवृत्तियाँ इस शर्त पर दी जाती हैं कि छात्र मूल विज्ञान की बी० एस-सी कक्षा में भर्ती हों। पहले साल छात्रवृत्ति ५० रुपये प्रति मास होगी और दूसरे व तीसरे वर्ष में ७५ रुपये प्रति मास होगी।

इस प्रतियोगिता में उच्चतर माध्यमिक स्कूलों की आखिरी कक्षा के वे छात्र भाग ले सकते हैं, जिनको विज्ञान के विषयों में कम से कम ५५ प्रतिशत अंक मिले हों। इस योजना का उद्देश्य विज्ञान के प्रतिभाशाली लड़के-लड़कियों को प्रोत्साहित करना और स्कूलों को भी विज्ञान के प्रतिभाशाली छात्रों पर ज्यादा ध्यान देने के लिए प्रेरित करना है।

अनुमान है कि ३ जनवरी, १९६५ को होने वाली प्रतियोगिता में करीब १५०० छात्र भाग लेंगे।

३. बाह्य अन्तरिक्ष में आकृतियाँ

भूमण्डल पर मनुष्य विभिन्न वस्तुओं के परिचित रूपों को देखने का अभ्यस्त हो गया है, किन्तु जो थोड़ी सी अद्भुत भ्रान्तिजनक वस्तुएँ रह गई हैं उनमें नेकर क्यूब (दाईं ओर) भी है। इस चित्र को हाथ भर दूर रख कर देखें तो आप ऊपर के कथन का आशय समझ सकेंगे। जब आप लम्बाई-चौड़ाई वाली इस सरल आकृति पर दृष्टि गड़ायेंगे तो इसकी गहराई बदलती प्रतीत होगी। अगला हिस्सा पीछे और पिछला हिस्सा आगे लगने लगेगा। फिर यह अपनी पूर्वस्थिति में आती मालूम होगी। किसी भी एक रूप में उसका स्थिर रहना असंभव प्रतीत होगा।

तथापि, पृथ्वी पर धूल, वाष्प पर गैसों के वातावरण में रहने वाले मनुष्य को सामान्यतः नेकर क्यूब जैसी दर्शनात्मक भ्रांतियों की कोई परेशानी नहीं होती, क्योंकि वह अपने वातावरण से परिचित हो गया है।

उधर, जो लोग अन्तरिक्ष में कक्षागत केन्द्र बनाने और चन्द्रमा पर पहुँचने के लिए अभियान कर रहे हैं, संभव है वे वस्तुओं को देखें।

वैज्ञानिक और मनोविज्ञानशास्त्री अन्तरिक्ष में दृष्टि सम्बन्धी भ्रान्ति की समस्या की पड़ताल कर रहे हैं ताकि उस पर काबू पाया जा सके। क्योंकि यदि मनुष्य किसी प्रकार उन स्थितियों का अभ्यस्त न हो सके जिसमें वायुमण्डल नहीं है तो अन्तरिक्ष में भविष्य में बहुत सी खोजें नहीं हो सकें।

इस समस्या के समाधान की दृष्टि से अभी हाल में नैकर क्यूब अन्तरिक्ष-क्षेत्र के मनोवैज्ञानिकों के लिए केवल कौतुक की वस्तु ही नहीं रह गई है, क्योंकि इसका प्रयोग अन्तरिक्ष में समानव कक्षागत केन्द्रों का निर्माण करने के समय किया जा सकता है। निस्सन्देह ये केन्द्र स्थूल वस्तु ही होंगे, किन्तु इससे तो समस्या और भी जटिल हो जायेगी।
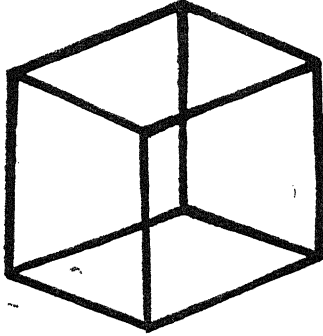
एक ऐसे अन्तरिक्ष-केन्द्र की कल्पना कीजिये जो घनाकृति में बड़ी नलिका के ढांचे का हो और वह अंधियारे आकाश में अत्यधिक चमकता दीख रहा हो। जब अन्तरिक्ष यात्री उसके पास पहुँचता है तो यह केन्द्र घन से आयत तथा अन्य अनेक सरल और टेढ़ी-तिरछी आकृतियों में बदलता मालूम होता है। घन की एक भुजा वास्तव में अन्तरिक्ष यात्री के निकट है, पर कौन सी यह जानना कठिन है क्योंकि आकृतियों और स्थितियो में परिवर्तन होता जाता है।

प्रश्न यह हो सकता है कि मनोवैज्ञानिकों को यह कैसे मालूम कि अन्तरिक्ष यानचालकों को इस तरह की भ्रान्ति होगी। अमेरिकी वायुसेना, जो अन्तरिक्ष-केन्द्रों के निर्माण में दिलचस्पी ले रही है, इस समस्या के बारे में कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय के ब्रिटिश मनोविज्ञानशास्त्री रिचर्ड लैंगटन ग्रेगरी से सहयोग कर रही है।

डा० ग्रेगरी और उनके साथियों ने इस समस्या को समझने के लिए एक अँधेरे कमरे में काले परदे लटका कर बिजली की एक छोटी रेलगाड़ी से जांचने का तरीका निकाला। चमकदार रंगों से पुते तारजाल के ढांचे छत से लटकाये गये और फिर परीक्षणवस्तु को छोटी रेलगाड़ी में रख दिया गया। जब बत्तियां बुझा दी जायें तो उस परीक्षणवस्तु को घने अन्धकार में सिर्फ कोई चीज चमकती दीखेगी।

रेल की पटरी २१ मीटर लम्बी थी। परीक्षण-वस्तु को चमकते ढांचे की ओर, उससे आगे और उसके चारों ओर घुमाया गया। उसे उसकी दूरी या निकटता और आकृतियों में परिवर्तन से बड़ी हैरानी हुई।

क्या इन कठिनाइयों को दूर किया जा सकता है? डा० ग्रेगरी को इस सुझाव में कुछ बुराई नहीं लगती कि अन्तरिक्ष-केन्द्रों के निर्माता अपने उन ढांचे के चारों ओर धूल गिरायें। इस तरह के मामूली धूल भरे वातावरण से धूप हल्की हो जायेगी और उससे केन्द्र के चारों ओर धुंधला प्रकाश-चक्र बन जायेगा। कुहासे या बादल से जिस प्रकार पृथ्वी पर छाया हल्की हो जाती है और दूरी की जानकारी ठीक-ठीक होती है उसी तरह वहां भी होगा।

संभव है, चन्द्रमा के वातावरण में देखने का अनुभव न होने से भी कठिनाई का सामना करना पड़े। पृथ्वी पर मनुष्य आकाश से प्रकाश आने और वस्तुओं के नीचे उनकी छाया पड़ने का अभ्यस्त हो गया है। वह उठाव या चढ़ाई और उतराव या गढहे के बारे में गलती नहीं करता। डा० ग्रेगरी चन्द्रमा के एक मॉडल के सहारे यह दिखलाते हैं कि चन्द्रमा के निकट पहुंचने पर अन्तरिक्ष-यात्री को कैसा दिखलाई पड़ेगा।

चूँकि छायाओं के कारण ठोस चीजों का भ्रम हो सकता है और पूर्णमासी के दिन ऐसी गलतफहमी की आशंका नहीं, इसलिए मनुष्य के चन्द्रमा पर उतरने का सबसे उपयुक्त समय वही रहेगा। दृष्टि सम्बन्धी भ्रान्तियों की बाधाओं का विचार किये बिना किसी भी समय चन्द्रमा पर उतरने में खतरा हो सकता है।

४. अन्तरिक्षयान 'रेंजर-७' ने चन्द्रमा के फोटो लिये

अमेरिका के अन्तरिक्षयान 'रेंजर'-७ ने पिछले मास अपना लक्ष्य पूरा कर लिया, जिसके फलस्वरूप संसार के लोगों को पहली बार चन्द्रमा के निकट से लिये गये फोटो देखने को मिले।

'रेंजर' द्वारा लिये गये फोटो पृथ्वी पर भेजे गये और वे कैलिफोर्निया में गोल्डस्टोन के मार्गान्वेषी केन्द्र में प्राप्त किये गये। तुरन्त उन्हें चुम्बकीय फीते पर उतार लिया गया और जनता को दिखाने के लिए उनकी ३·५ मिलीमीटर फिल्में भी ले ली गईं।

अमेरिका के 'राष्ट्रीय उड्डयन एवं अन्तरिक्ष प्रशासन' ने यह आशा प्रकट की है कि भविष्य में चन्द्रमा पर यन्त्रपुंज वाले यान भेज कर उसकी छानबीन करने और १६७० तक 'अपोलो' यान द्वारा मनुष्य को चन्द्रमा पर पहुँचाने की दृष्टि से इन चित्रों से बहुमूल्य जानकारी मिलेगी।

'रेंजर' यान का निर्माण, मार्गान्वेषण और निर्देशन करने वाली, पैसाडीना (कैलिफोर्निया) की जेट-चालन प्रयोगशाला के योजना-अधिकारियों ने बतलाया कि चन्द्रमा पर अन्तरिक्षयान के टकराने से लगभग १३ मिनट पहले टैलिविजन-कैमरों ने पूरी तरह काम शुरू कर दिया और यान के चन्द्रमा पर टकराने से आधे सैकिण्ड पहले तक गोल्डस्टोन के सन्देश-ग्राहक केन्द्र में बिना रुके 'उत्कृष्ट दृश्य-संकेत' प्राप्त होते रहे।

प्रेसिडेण्ट लिण्डन जौनसन ने 'रेंजर' योजना के व्यवस्थापक डा० विलियम एच० पिकरिंग और उनके साथियों को टैलिफोन करके बधाई दी। उन्होंने चन्द्रमा की खोज लगाने वाले यान की सफलता को 'शानदार-कार्यसिद्धि' बतलाया और कहा कि उससे अन्तरिक्ष के शान्तिपूर्वक अनुसन्धान में और अधिक योगदान मिलेगा।

अमेरिका के 'राष्ट्रीय उड्डयन एवं अन्तरिक्ष प्रशासन' के अधिकारियों ने बताया कि चन्द्रमा के पृष्ठ से लगभग १३०० मील दूरी पर जब कैमरों को पहले-पहल चालू किया गया तो उन्होंने ३०० से ४०० वर्गमील तक के क्षेत्र के चित्र लिये। चन्द्रमा के ये फोटो लगभग वैसे ही थे जैसे पृथ्वी पर स्थित विशाल दूरबीनों से लिये जाते हैं।

कैमरों ने यान के चन्द्रमा के 'मेघ-सागर' में टकराने से पहले क्षण में जो अन्तिम फोटो लिये उनमें ६० वर्ग-फुट का क्षेत्र आ गया। इन फोटो में मोटरकार जितनी छोटी वस्तु भी पहचानी जा सकती है। 'रेंजर' चन्द्रमा के आलोकित पृष्ठ पर विषुवतीय रेखा के पास जा कर टकराया।

'मेघ-सागर' को जो कि चन्द्रमा के अनेक पठारों में से है, अन्तरिक्षयान के मुख्य लक्ष्यस्थल के रूप में चुना गया था, क्योंकि पृथ्वी से इसका पृष्ठ बहुत समतल लगता है और इस कारण वहाँ 'अपोलो' योजना के अन्तर्गत अन्तरिक्षयान से मनुष्य को उतारा जाना संभव दीखता है।

'रेंजर'-योजना का एक मुख्य प्रयोजन इस समतल दीख पड़ने वाले पृष्ठ की निकटता से देखने-जानने का था ताकि यह पता चल सके कि क्या वहाँ चट्टानें, शिलाएँ या बहुत सी खाइयाँ हैं और क्या वहाँ यान मनुष्य को लेकर उतर सकता है। 'रेंजर' द्वारा लिये लगभग ४००० फोटो के यह लगता है कि मनुष्य वहाँ उतर सकेगा।

'रेंजर-७' को पृथ्वी से चन्द्रमा तक पहुँचने के लिए २४३,६६५ मील की यात्रा करनी पड़ी। टकरा कर नष्ट होने के समय उसकी गति ५८५० मील प्रति घंटा थी।

८०६ पौण्ड वजन का रेंजरयान २८ जुलाई को फ्लोरिडा के केप-कैनेडी अड्डे से ऐटलस-एगना राकेट की मदद से छोड़ा गया था। छूटने के ८ मिनट बाद 'राष्ट्रीय उड्डयन एवं अन्तरिक्ष प्रशासन' के अधिकारियों ने बताया था कि ऐटलस राकेट ने प्रथम चरण में योजनानुसार कार्य किया और दूसरी चरण के एगना राकेट ने यान को पृथ्वी से १२० मील की ऊँचाई पर ऐसी कक्षा में स्थापित कर दिया जहाँ से वह ठीक समय पर चन्द्रमा की ओर अग्रसर हो सके।

अड्डे से छूटने के २४ घण्टे बाद अन्तरिक्षयान अपनी २।। लाख मील की यात्रा का आधा हिस्सा पार कर चुका था। उस समय उसने एक ऐसी नाजुक क्रिया सफलतापूर्वक पूरी कर ली जिससे वह चन्द्रमा के आलोकित पृष्ठ की ओर पहुँचने के सही मार्ग पर चल पड़ा। यदि पृथ्वी से रेडियो-संकेत भेज कर उसके मार्ग की दिशा ठीक न की जाती तो रेंजर-७ चन्द्रमा के प्रकाशित पृष्ठ के बजाय अंधेरे भाग में जा टकराता और उसके ६ टैलिविजन-कैमरे चन्द्रमा के फोटो न उतार पाते।

अमेरिका के उड्डयन एवं अन्तरिक्ष प्रशासन ने चन्द्रमा के फोटो लेने के लिए जो ४ यान भेजने की योजना बनाई है उसमें 'रेंजर-७' दूसरा यान है। पहला रेंजर ३० जनवरी को छोड़ा गया था और वह कार्यक्रम के अनसार २ फरवरी को चन्द्रमा पर जा टकराया था। वैज्ञानिकों ने उसे 'शान्ति-सागर' के जिस स्थान पर भेजा था उससे वह केवल ३० मील हट कर टकराया था। लेकिन उसके कैमरों ने काम नहीं दिया था और उनसे चन्द्रमा के कोई भी चित्र पृथ्वी पर प्राप्त नहीं हुए थे।

कैमरों के ठीक काम न करने के कारणों की गहरी छानबीन के बाद नये रेंजर यान की टैलिविजन प्रणाली में आवश्यक सुधार किये गये और उनकी पुनः परीक्षा करके यह जाँच लिया गया कि अब की बार वे विफल नहीं होंगे।

रेंजर अन्तरिक्षयान ८। फुट ऊँचा है और षडभुजाकृति के निचले हिस्से में उसका व्यास ५ फुट है। फैली हुई सौर चरखियाँ और ऊँचे स्पर्शसूत्र (एण्टेना को मिलाकर अन्तरिक्षयान का फैलाव १५ फुट और ऊँचाई १०। फुट है।

'रेंजर' में ३८३ पौण्ड वजन की टैलिविजन-व्यवस्था की गई और उसकी शक्ल कटी हुई नोक के समान थी वह ५९ इंच ऊँचा, नीचे २७ इंच चौड़ा और चोटी पर १६ इंच चौड़ा था।

छहों कैमरों में बहुत बढ़िया लैन्स लगे थे। पृथ्वी से चन्द्रमा पर प्रकाश की स्थिति का ठीक-ठीक अनुमान न होने से लैन्सों को भिन्न परिस्थितियों में काम करने के लिए स्थिर किया गया था। इन कैमरों से प्रकाश की उन सभी स्थितियों में फोटो लेने की व्यवस्था थी जो पृथ्वी पर दोपहर से शाम के झुटपुटे तक होती हैं।

५. वैज्ञानिकों को अनुसन्धान-कार्य के लिए अनुदान

अमेरिका के कृषि-अनुसन्धान विभाग ने हाल में पाँच ऐसी अनुसन्धान योजनाओं की घोषणा की, जिनका संचालन भारत में भारतीय वैज्ञानिकों द्वारा किया जायेगा। इन योजनाओं का सम्बन्ध हाट-व्यवस्था, भूमि-क्षरण, अनाज की किस्मों के मूल्यांकन, कीटाणुओं की कोष-रचना तथा पराग के अध्ययन से है। ये अनुदान कुल मिला कर १३,४७,८५८ रु० के हैं और 'शान्ति के लिए आहार'-कोष (पी-एल ४८०) में से दिये जा रहे हैं।

लुधियाना के पंजाब कृषि-विश्वविद्यालय को डा० ए० ए० कहलोन और डा० डी० एस० अठवाल द्वारा संचालित दो योजनाओं के लिए ७,२०,५६५ रु० दिये जायेंगे।

नई दिल्ली के भारतीय कृषि संस्थान के डा० एन० पी० दत्त और डा० टी० डी० विश्वास मिट्टी के स्वरूप पर जान्तविक पदार्थों के प्रभाव का और डा० एम० एस० स्वामीनाथन् और डा० ए० टी० नटराजन् पराग के विशिष्ट गुणों का अध्ययन करेंगे। नई दिल्ली की इस संस्था को कुल ४,४५,५३८ रु० का अनुदान दिया जायेगा।

१,७२,७५५ रु० का पांचवां अनुदान कीटाणुओं के कोषों में पाये जाने वाले अम्लों का अध्ययन करने के लिए दिया जायगा। इस सम्बन्ध में खोजबीन मुख्यतः इलाहाबाद विश्वविद्यालय की डा० राधा पन्त करेंगी।

पुस्तक समीक्षा

१. भाषा

त्रैमासिक, वर्ष ३, अंक ६, मार्च १९६४ केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय, शिक्षा मंत्रालय, भारत सरकार।

समालोचित अंक में चार लेख अत्यन्त महत्वपूर्ण है। वे हैं—भाषा समस्या, कोशनिर्माण में शब्दक्रम योजना, प्राविधिक अनुवाद और परिभाषिक शब्दावली तथा जापान में वैज्ञानिक शब्दावली का निर्माण। 'भाषा समस्या'' में हिन्दी के सुप्रसिद्ध कवि रामधारी सिंह दिनकर ने ऐसे मार्मिक तथ्यों की ओर संकेत किया है जो मनन योग्य हैं। कुछ अंश उद्धृत हैं :—

''जिस भाषा के पाठक बहरे हैं उस भाषा का लेखक एक दिन मूक हो जायेगा। श्रेष्ठ पुस्तकों का प्रणयन असम्भव हो जायगा। दुर्भाग्य की बात है कि भारतीय भाषाओं को प्रोत्साहन केवल गरीब जनता से प्राप्त होता है। जो लोग पढ़-लिख कर ऊँची जगहों पर पहुँच गए हैं वे भारतीय भाषाओं के लिए पैसे खरचने को तैयार नहीं हैं। वे केवल यह कह कर अपनी जवाबदेही से छुट्टी ले रहे हैं कि इन भाषाओं में है क्या जिसके लिए हम पैसे खर्च करें।''

''आज जो स्थिति है उसमें अँग्रेजी तो मुट्ठी भर वर्ग विशेष के लोगों के उपयोग की भाषा है। जब इस देश में जनता का राज्य है अतएव जन भाषाओं को अँग्रेजी की आधीनता से छुड़ाकर उन्हें ऊपर उठाये बिना स्वराज्य सार्थक नहीं होगा।''

कोशनिर्माण में शब्दक्रम योजना के अन्तर्गत शब्द-क्रम की उन विभिन्न सम्भावनाओं पर विचार प्रस्तुत किये गये हैं जो किसी भी कोश निर्माण में सहायक सिद्ध हो सकती है।

''जापान में वैज्ञानिक शब्दावली लेख शब्दावली तैयार करने में काफी सहायक सिद्ध हो सकता है। केवल कुछ ही वर्षों में जापानी विद्वानों ने अपनी भाषा को इस योग्य बना लिया है कि उसमें विज्ञान की विविध शाखाओं के विचारों को व्यक्त किया जा सके। उक्त लेख का निम्न अंश पठनीय है :—

''उन्नीसवीं'' शती में कतिपय जापानी विद्वानों ने यत्न किया कि जापान में रोमन लिपि का प्रयोग किया जाय परन्तु यह आन्दोलन बीसवीं शती के आरम्भ में ही समाप्तप्राय हो गया क्योंकि जापानियों ने अनुभव किया कि रोमन लिपि के कारण भाषा में अनेक दोष उत्पन्न हो जाते हैं और अपनी लिपि के द्वारा ही वे आधुनिकतम विचार सुगमता से व्यक्त कर सकते हैं।''

१९४८ से १९५८ के बीच विज्ञान के बारह मुख्य विषयों के ७२००० शब्द बनाये जा चुके हैं। रसायन शब्दावली में देशी तथा अन्तरीरष्ट्रीय शब्द स्वीकृत हुए हैं परन्तु सबसे बड़ी विशेषता यह है कि तत्वों तथा यौनिकों के लिये देशी शब्दो के ही यथा सम्भव चुना गया है। हिन्दी मे केवल ११ तत्वों के देशी नाम स्वीकृत हुए हैं। यह अत्यन्त शोच्य है। हमारे वैज्ञानिकों को चाहिए कि जापान से कुछ शिक्षा ग्रहण करें।

२. विज्ञानलोक

वर्ष ५, अंक ४, मई १९६४, मेहरा न्यूज पेपर्स, आगरा।

प्रस्तुत अंक में ६ लेख हैं—इनमें से, ''रसायनों से जीवोत्पादन'' शीर्षक लेख प्रेमानन्द चन्दोला द्वारा लिखित है। लेखक ने बड़े हो ढंग से जीवविकास की कहानी लिखते हुए अन्त में भारतीय वैज्ञानिकों की नूतन खोजों का वर्णन किया है। उसने पाँच चित्र भी दिये

हैं जिससे जीवोत्पादन की प्रक्रिया समझ में आ सके। इस लेख में एक ओर जहाँ डा० बहादुर तथा पर्ती के द्वारा नवीन खोज को विस्तार से प्रस्तुत करने का प्रयास है वही दो-एक बातें ऐसी हैं जो भ्रामक जान पड़ती हैं। प्रथम तो यह कि डा० बहादुर तथा पर्ती की खोज अलग-अलग करके प्रस्तुत की गई हैं। दूसरे यह कि इन दोनो वैज्ञानिकों के दो चित्र दिए गए हैं उनके नीचे लिखे गये नाम गलत हैं। डा० पर्ती को बहादुर लिखा गया है और डा० बहादुर को डा० पर्ती। ऐसी भूल असाधारण भूल मानी जावेगी। विज्ञान लोक के सम्पादक जी से हमारा अनुरोध है कि अगले अंक में भूल सुधार करके नवोदित पाठकों को पथभ्रष्ट होने से बचावें।

३. विज्ञान प्रगति

मई १९६४ अंक, कौंसिल आफ साइंटिफिक एंड इण्डस्ट्रियल रिसर्च, नई दिली।

श्री ओउम् प्रकाश शर्मा के प्रधान सम्पादकत्व में "विज्ञान प्रगति" के कलेवर एवं सामग्री संकलन में जो नूतनता देखने को प्राप्त हो रही है, उससे यह आशा होती है कि यह पत्रिका निकट भविष्य में जनता की प्रिय पत्रिका बन जायगी।

प्रस्तुत अंक में पिछले अंकों की अपेक्षा लेखों की संख्या में काफी वृद्धि हुई है। यही नहीं, कई नवीन स्तम्भ और समाविष्ट हुए हैं विशेषतः 'विज्ञान प्रवेश' नामक स्तम्भ जिसके अन्तर्गत भौतिकी के तीन सामान्य सिद्धान्तों का रोचक एवं जनोपयोगी विवरण प्रस्तुत हुआ है। समस्त लेखों तथा स्तम्भों के अन्तर्गत रंगीन एवं सादे चित्रों के समावेश के कारण उनकी उपादेयता में और भी वृद्धि हुई है।

सामान्यतः इस पत्रिका के समस्त लेख प्रथम बार प्रकाशित प्रतीत होते हैं किन्तु इसका प्रथम लेख— "प्लाज्मा—पदार्थ की चौथी अवस्था" विज्ञान परिषद् से प्रकाशित होने वाली हमारी पत्रिका (विज्ञान) में इससे प्रायः एक वर्ष पूर्व छप चुका है। आशा है भविष्य में यदि कोई ऐसा लेख विज्ञान प्रगति में छपेगा तो या तो उसमें अन्यत्र प्रकाशित होने का हवाला दिया रहेगा या साभार उद्धृत लिखा रहेगा। इससे पाठकों को सामग्री की नवीनता के विषय में पता चलेगा।

विज्ञान प्रगति की इस नवीन सज्जा एवं नये रूप को बधाई।

४. विज्ञान जगत

मई १९६४ अंक, इण्डियन प्रेस, इलाहाबाद। सम्पादक, आर० डी० विद्यार्थी।

समालोच्य अंक की सम्पूर्ण सामग्री पठनीय एवं ज्ञानवर्द्धक है। विशेषतः सर्पदंशन के सम्बन्ध में जो भी सामग्री प्रस्तुत की गई है वह श्लाघ्य है। सीमेंट अथवा आपका लान शीर्षक लेख भी महत्वपूर्ण है किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि अक्रिय गैसों की सक्रियता शीर्षक लेख इस पत्रिका के पाठकों के सामान्य स्तर से ऊपर का है।

"पौधों का वातावरण" यह शीर्षक कुछ भ्रामक जान पड़ता है। यदि इसके स्थान पर "वातावरण और पौधे" या अन्य कोई ऐसा ही शीर्षक दिया गया होता तो ज्यादा अच्छा होता।

वैज्ञानिक पत्रिकाओं में हिन्दी के शिष्ट एवं सही प्रयोग के कारण आशा बँधने लगी है राष्ट्रभाषा के विरोधी लोगों का शीघ्र ही मुँह बन्द हो जायेगा।

सम्पादकीय

खाद्य-समस्या

वर्षा ऋतु के प्रारम्भ होते ही उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश तथा पश्चिमी बंगाल में खाद्यान्नों के भावों में जो वृद्धि हुई वह उग्र रूप धारण करती गई। अन्त में अगस्त मास के प्रारम्भ में यहाँ तक नौबत आ गई कि अनेक गल्ले की दुकानें लुट गईं और जगह-जगह दंगे हुये। यही नहीं, कई व्यक्ति भूख के कारण मरते भी सुने गये। सरकार विरोधी दलों ने अविश्वास प्रस्ताव लाकर यह सिद्ध करना चाहा कि खाद्य स्थिति शोचनीय है और यदि सरकार स्थिति को काबू में नहीं ला सकती तो इस्तीफा दे दे।

उक्त सभी तथ्य यह स्पष्टतः लक्षित करते हैं कि देश की खाद्य-स्थिति ठीक नहीं और बहुत काल तक इस स्थिति को झूठे वादे या आश्वासनों से दबाया नहीं जा सकता। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद से लेकर अब तक कृषि की उन्नति पर जितनी राशि व्यय की जा चुकी है और प्रति वर्ष उपज वृद्धि के जो झूठ-सच आँकड़े प्रस्तुत किये जाते रहे हैं उसके आधार पर तो यही स्वप्न बनता रहा है कि १९६७ तक न सही तो १९७२ तक तो अवश्य ही हमारा देश खाद्य के मामले में आत्म-निर्भर हो जावेगा। किन्तु ११ वर्षों तक लगातार विपुल राशि व्यय करते रहने पर जो परिणाम प्राप्त हो रहे हैं वे अत्यन्त निराशाजनक हैं।

देश में, विशेषतः उत्तर प्रदेश में भुखमरी जैसे स्थिति उत्पन्न हो गई है। सरकारी यन्त्र इस स्थिति को किसी प्रकार भी सँभालने में असमर्थ सा हो गया है। आखिर अमरीका से गेहूँ मँगाकर कब तक देशवासियों का पेट भरा जावेगा! सरकार दोषी है जनता का धन व्यय करके भी खाद्योत्पादन न बढ़ाने के लिये किन्तु सरकार से भी अधिक दोषी है देश की खेतिहर जनता।

जिस गति से प्रति एकड़ उत्पादन में ह्रास हो रहा है, उसके लिये कृषकवर्ग बहुत कुछ उत्तरदायी है। यदि वह अपने कर्त्तव्य को समझता और संकटकालीन स्थिति मानकर खाद्योत्पादन में वृद्धि करने के लिये जी-जान से जुट जाता तो कोई ऐसा कारण नहीं दिखाई देता जिससे उपज न बढ़ती। किन्तु भारतीय कृषक वर्ग अपने कर्त्तव्यों के प्रति सर्वथा उदास है। उसे यह परवाह नहीं है कि उनकी लापरवाही से राष्ट्र पर कैसी विपत्ति-घटायें छा जावेंगी। वह कम उत्पादन करके भी संतुष्ट है क्योंकि महँगाई के कारण उसे उतने से ही आवश्यकता

के लिये पर्याप्त धन मिल जाता है। सरकार द्वारा प्रदत्त उन समस्त सुविधाओं को उपयोग में लाने से वह मुकरता है। वह भूमि को अपनी सम्पत्ति मानता है और उसका उपभोग दुरुपयोग के रूप में करता है। वह भूमि के स्वामी के रूप में नाना प्रकार के मुकद्दमों में व्यस्त रहना चाहता है। उसे प्रति एकड़ में पैदावार बढ़ाने की कोई चिन्ता नहीं। वह अपने लड़कों को शहरों में भेजकर पैसा कमाना चाहता है। वस्तुतः देश भर को खिलाने का जो कार्य-भार उस पर है, वह उसके प्रति उदासीन है। यही कारण है कि देश में खाद्य-संकट बना हुआ है।

खाद्य-संकट से निवृत्ति पाने के दो ही उपाय हैं—प्रथम तो यह कि किसानों में भूमि का समवितरण हो और पैदावारों पर कठिन निगरानी रखी जाय। दूसरा यह कि सरकार अधिकाधिक सहकारी फर्मों की स्थापना करके अन्नोत्पादन में हाथ बटाये। इस प्रकार के सन्तुलन स्थापित हो जाने के अनन्तर खाद्य-संकट उत्पन्न होने की कोई गुंजाइश नहीं रह जावेगी।

एक बार उत्पादन की स्वरोन्नति हो जाने के बाद अन्न के यातायात अथवा वितरण में कठिनाई उत्पन्न होने की किंचित सम्भावना नहीं रह जाती। भले ही देश में खाद्यान्नों के मूल्यों में वृद्धि हो जाय किन्तु उनका अभाव नहीं रह जायगा। वास्तव में इसी अभाव की पूर्ति ही सरकार तथा कृषक दोनों का लक्ष्य होना चाहिए। इसी में राष्ट्र का कल्याण निहित है।

———

विषय-सूची

सूर्यकलंक—५	१
जीव की उत्पत्ति—४	८
अन्तरिक्ष में राकेट	११
विष	१३
संक्षिप्त जीवन परिचय माला—३३	१५
सार संकलन	१७
विज्ञान वार्ता	२४
सम्पादक के नाम पत्र	२७
सम्पादकीय	२८

विज्ञान परिषद् प्रयाग

सम्पादक- डा० शिवगोपाल मिश्र

हमारी प्रकाशित पुस्तकें

विज्ञान

विज्ञान परिषद्, प्रयाग का मुखपत्र

विज्ञानं ब्रह्मेति व्यजानात्। विज्ञानाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते।
विज्ञानेन जातानि जीवन्ति। विज्ञानं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति। तै० उ० ३।५।

भाग १०० | आश्विन २०२१ विक्र०, १८८६ शक
अक्टूबर १९६४ | संख्या १

सूर्य-कलंक —५

११ वर्षीय चक्र

कुलदीप चड्ढा

१७वीं शती के प्रारम्भ में आविष्कार के बाद सूर्य-कलंकों के बारे में जिस सबसे महत्त्वपूर्ण जानकारी का उद्घाटन हुआ, वह थी, उनके प्रकट और लुप्त होने में सामूहिक नियमितता। गत लेख में हमने एकाकी सूर्य कलंकों के विकास आदि का विवरण दिया था। इस विवरण के अन्तर्गत--और इससे पूर्व अन्यत्र भी—हमने सूर्य-कलंकों के सामूहिक विकास और ह्रास की नियमितता की ओर संकेत किया था। प्रस्तुत लेख में हम इसी नियमितता पर अधिक विस्तार से प्रकाश डालेंगे।

सूर्य-कलंकों की सामूहिक व्यापकता को मापने के दो आधार हो सकते हैं—(क) उनकी संख्या, और (ख) उनका विस्तार अथवा क्षेत्रफल। किसी समय यह निश्चित कर पाना कि सूर्य के धरातल का कितना क्षेत्रफल सूर्य-कलंकों से ढका है, काफी विषम पैमाइश की अपेक्षा रखता है। दूसरी ओर केवल संख्या की गणना भी अपर्याप्त जानकारी प्रस्तुत करती है क्योंकि जैसा गत लेख में दर्शाया गया है, एकाकी सूर्य-कलंकों के क्षेत्रफल में हजारों सैकड़ों गुने का अन्तर हो सकता है।

यद्यपि सूर्य पर कलंकों की बहुतायत की अभिव्यक्ति की आवश्यकता को बहुत पहले से महसूस कर लिया गया था परन्तु उक्त कारणों से इस समस्या का समाधान कुछ चिन्तन की अपेक्षा रखता था। अंत में सन् १८४९ में सूर्य-कलंकों में रुचि रखने वाले एक प्रमुख विज्ञानी वुल्फ़ ने इस समस्या का समाधान किया। उन्होंने, तथा उनके सहायक वुल्फर ने, यह प्रस्तावित किया कि सूर्य-कलंकों का प्रकटीकरण "सूर्य-कलंक अंक" (Sun Spot Number) नामक एक राशि से किया जा सकता है। इस राशि, R, का आधार निम्न सूत्र है—

$$R = G(A + 10B)$$

इस राशि R को उनके प्रणेताओं के नाम पर कभी-कभी "वुल्फ-वुल्फर संख्या" के नाम से भी अभिहित किया जाता ।

इस सूत्र में A से छोटे-छोटे कलंकों की संख्या, और B से विशाल कलंक अथवा कलंकों के पुञ्ज दर्शित किये गए हैं। इस प्रकार इस सूत्र में सूर्य-कलंकों की संख्या तथा विस्तार, इन दोनों तत्वों का समुचित प्रतिनिधित्व

कर दिया गया है। हाँ, राशि G की व्याख्या होनी शेष है।

इस राशि के सम्बन्ध में यह ज्ञातव्य है कि आजकल सूर्य-कलंकों की गणना संसार में अनेक स्थलों पर की जा रही है। विभिन्न स्थानों पर छोटे-बड़े भिन्न-भिन्न प्रकार के दूरदर्शी स्थापित हैं। अपने आकार तथा अन्य गुणों-अवगुणों के कारण ये सभी दूरदर्शी कलंकों की संख्या को नितान्त समान रूप से नहीं गिन पाएंगे। फिर भी, भौगोलिक स्थिति के कारण कुछ स्थलों पर धुन्ध, कोहरा, बादल आदि, एक स्थल से दूसरे स्थल पर अधिक हो सकते हैं। ये सभी तत्व सूर्य-कलंकों की गणना में कम-अधिक अवरोध पैदा कर सकते हैं। इसलिए, ऐसा प्रायः ही होता है कि विभिन्न स्थलों पर मापी गई सूर्य-कलंकों की गणनाएँ और इन पर आधारित सूर्य-कलंक अंक परस्पर भिन्न हों। ऐसा स्पष्ट हो चुका है कि कुछ विशेष स्थलों पर मापा गया अंक अन्य स्थानों पर मापे गए अंक से सदा ही कुछ अधिक होता है। इसी प्रकार किसी अन्य विशेष स्थल पर मापा गया अंक सदैव कुछ कम ही होता है अतः अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर सूर्य-कलंक अंक को एकरूपता देने के विचार से स्थान विशेष पर मापी गई संख्या $(A + १०B)$ को एक विशेष स्थिरांक G से गुणा कर दिया जाता है। यह स्थिरांक अलग-अलग वेधशालाओं के लिए अलग-अलग है। तो भी इसका परिमाण १·० से थोड़ा अधिक अथवा थोड़ा कम होता है।

सन् १८४९ में उक्त सूत्र के निर्धारण के पश्चात् वैज्ञानिकों का सूर्य के धरातल पर सूर्य-कलंकों की व्यापकता को मापने का एक संतोषजनक साधन उपलब्ध हो गया है। तब से अब तक कलंक व्यापकता का सूचक यह अंक नियमित रूप के प्रेक्षित किया जा रहा है। दैनिक गणना के अतिरिक्त यह अंक साप्ताहिक, मासिक और वार्षिक औसत के रूप में भी गिना जाता है। स्थूल रूप से और अधिकांश कार्यों के लिए, केवल वार्षिक औसत को ही काम में लाया जाता है। इस औसत अंक का आज तक का विवरण आपको तालिका १ से उपलब्ध हो जाएगा।

यह तालिका १८४९ से प्रारम्भ न होकर सन् १७४९ से प्रारम्भ होती है। सन् १७४९ में वुल्फ़ और और वुल्फ़र का उक्त सूत्र तो ज्ञात न था; हाँ सूर्य-कलंकों में रुचि रखने वाले उनकी संख्या और विस्तार में उतार-चढ़ाव का व्यापक विवरण बड़े ध्यान से अंकित करते रहे थे। इसका आभास आज से ठीक २०० वर्ष पूर्व सन् १७६ में प्रकाशित, आस्ट्रिया के एक चिकित्सक जैकब वनिशेक की लिखी हुई पुस्तक से मिलता है, जिसमें उसने सूर्य-कलंकों की संख्या के उतार-चढ़ाव का विशद उल्लेख किया है। जिन वर्षों में सूर्य-कलंकों की संख्या अत्यन्त कम होती थी, उनमें भी प्राचीन काल के वैज्ञानिक, बड़ी सतर्कता से, सूर्य के धरातल पर कलंकों की खोज करते थे। इस निष्कर्ष के साक्षी हैं वनिशेक के शब्द "शायद ही कभी ऐसा हुआ हो कि सूर्य, कलंकों से सर्वथा मुक्त रहा हो।" इन्हीं विवरणों पर इस सूत्र को लागू करके, उक्त वर्षों में सूर्य-कलंकों की संख्या का अनुमान लगाया गया।

इन संख्याओं अथवा सूर्य-कलंक अंकों के सर्वेक्षण से सहज ही प्रकट हो जायगा कि यह उतार-चढ़ाव नितान्त क्रमहीन नहीं। वास्तव में काफी पहले से ही उतार-चढ़ाव में कुछ नियमितता का आभास मिलता है। विशेषतौर पर श्वाबे नामक जर्मन वैज्ञानिक ने सन् १८२६ से १८५० तक की २५ वर्ष की अवधि में उक्त उतार-चढ़ाव के निरीक्षण के उपरान्त, यह प्रस्ताव रखा कि सूर्य-कलंकों की संख्या में उतार-चढ़ाव १० वर्ष की अवधि में एक क्रम पूरा करता है। इसके कुछ वर्ष बाद अर्थात् सन् १८५२ में वुल्फ़ ने अपनी गणना के आधार पर उतार-चढ़ाव की उक्त अवधि का औसत अनुमान ११·१ वर्ष आँका। इस अवधि को "सूर्य-कलंक चक्र" (sunspot cycle) कहा जाता है।

श्वाबे द्वारा सूर्य-कलंक चक्र की विद्यमानता की घोषणा के बाद अब तक हम शायद १३ पूरे चक्रों में से गुजर चुके हैं। और चालू वर्ष में हम चौदहवीं बार सूर्य-कलंक संख्या के न्यूनतम में से गुजर रहे हैं। इस अवधि में तथा इससे पूर्व भी यह अनुमान किया गया था, कि सूर्य-कलंक-चक्र की अवधि निश्चित नहीं, बल्कि

कुछ बदलती रहती है। सबसे अधिक दीर्घजीवी सूर्य-कलंक-चक्र १७ वर्ष का रहा है और सबसे अल्पजीवी लगभग ७ वर्ष का। अतएव इस अवधि को अधिक क्षमता से निश्चित करना आवश्यक नहीं। **आज मोटे तौर पर इस अवधि को ११ वर्ष का माना जाता है और सूर्य-कलंक चक्र ११ वर्षीय चक्र के नाम से प्रसिद्ध है।**

ऊपर के विवरण से स्पष्ट है कि आधुनिक गणनाओं के आधार पर वुल्फ़ का अनुमान, श्वावे के अनुमान की अपेक्षा अधिक ठीक था तो भी सूर्य-कलंक चक्र का प्रणेता श्वावे को ही माना जाता है। इसी के अनुरूप सन् १८५७ में उसे इंगलैण्ड की रॉयल एस्ट्रोनोमिकल सोसायटी ने स्वर्ण-पदक प्रदान किया।

सूर्य-कलंकों की तालिका १ से यह प्रकट होगा कि प्रत्येक सूर्य-कलंक चक्र में सूर्य-कलंकों की अधिकतम और न्यूनतम संख्याएँ बराबर नहीं रहतीं। उदाहरण के तौर पर सन् १८१६ में जब एक सूर्य-कलंक चक्र में अधिकतम प्रकट हुआ, तब सूर्य-कलंकों की संख्या ४६ थी। इसकी तुलना में सन् १९४७ में यह संख्या १५० से भी ऊपर थी। इसी प्रकार यदि सन् १९४४ में न्यूनतम् संख्या १११ थी तो सन् १९०१ में २·५ थी।

कुछ विद्वानों के अनुसार, जिस प्रकार सूर्य-कलंकों की औसत संख्या क्रमशः घटती और बढ़ती हुई ११ वर्षीय चक्र का प्रतिपादन करती हैं, उसी प्रकार विभिन्न चक्रों से सम्बद्ध अधिकतम संख्या भी क्रम से घटती और बढ़ती रहती है। चित्र द्वारा कुछ सूर्य-कलंक चक्रों के अधिकतम अंकों को इसी महत्व से दर्शाया जा सकता है। प्रकट ही है कि उक्त विचार नितान्त निर्मूल नहीं। परन्तु इस उतार-चढ़ाव को किसी विशेष अवधि में नहीं बाँधा जा सकता। इसका एक कारण यह भी है कि सूर्य-कलंक अंकों का रिकार्ड अभी इतना पर्याप्त नहीं कि इस प्रकार के उतार-चढ़ाव का निश्चितता से प्रकट कर सकें।

भू-चुम्बकत्व (Terrestrial Magnetism) के क्षेत्र में भी सूर्य-कलंकों के अनुरूप ११ वर्षीय चक्र लक्षित किया गया है। इसके अतिरिक्त इस क्षेत्र में एक वृहद् अवधि के चक्र अर्थात् १०० अथवा ११० वर्षीय चक्र को भी लक्षित किया गया है। सूर्य-कलंकों के क्षेत्र में भी इसी अवधि के एक चक्र का परामर्श दिया गया है।

जैसा कि हम पहले भी संकेत कर चुके हैं और जैसा कि हम बाद में भी कुछ विस्तार से वर्णित करेंगे, सूर्य-कलंकों में विशाल-चुम्बकीय क्षेत्र होते हैं। इस दृष्टि से, हर सूर्य-कलंक चक्र, पूर्ववर्ती चक्र से भिन्न होता है। यदि सूर्य-कलंक संख्या के साथ-साथ चुम्बकीय क्षेत्र के प्रकार को भी ध्यान में रखा जाय तो, किन्हीं विद्वानों के अनुसार, सूर्य-कलंकों के विपर्यय का चक्र २२ वर्ष में पूरा होता है। अर्थात् केवल २२ वर्ष के बाद ही सूर्य-कलंक अंक तथा उनके चुम्बकीय क्षेत्रों के प्रकार, दोनों पहले से रूप में वापिस आते हैं।

एक सूर्य कलंक चक्र के अन्तर्गत सूर्य-कलंकों की संख्या में चढ़ाव और उतार की तीव्रता पर ध्यान देते हुए कुछ लोगों ने एक रोचक जानकारी ढूँढ़ निकाली है। मोटे तौर पर यह कहा जा सकता है कि जिस चक्र में सूर्य-कलंकों की अधिकतम संख्या अधिक होती है, उसमें इस संख्या तक पहुँचने में कम समय लगता है (ऐसे चक्र के प्रारम्भ में कलंकों का प्रथम प्रकटीभवन भी अधिक उच्च अक्षांशों पर होता है—अर्थात् ४० अथवा उससे भी अधिक)। और जिस चक्र में समय अधिक लगता है, उसमें अधिकतम संख्या कम होती है। यदि कलंकों की संख्या और तात्कालिक समय का एक ग्राफ खींचा जाए तो उक्त कारण से दोनों अक्षों और ग्राफ से घिरे हुए धरातल का क्षेत्रफल, प्रायः प्रत्येक चक्र में समान रहेगा। कुछ विद्वान् इसका कारण यह बताते हैं कि प्रत्येक चक्र में सूर्य-कलंकों की उत्पत्ति, सूर्य के अन्तर में होने वाले एक विक्षोभ से होती है, जिसका परिणाम प्रत्येक चक्र में लगभग समान होता है। कुछ अज्ञात कारणों से, इस विक्षोभ के लक्षण सूर्य के धरातल तक सभी चक्रों में समान गति से नहीं पहुँच पाते। यदि यह गति कम होती है तो विक्षोभ का प्रकटीभवन अधिक

समय में होता है, पर उसमें प्रकटीभवन की उत्कटता कुछ कम होती है अर्थात् न्यूनतम् से अधिकतम संख्या तक पहुँचने में समय तो अधिक लगता है, लेकिन अधिकतम की संख्या कम होती है।

चरम संख्या तक पहुँच कर जब सूर्य-कलंक कम होने लगते हैं, तो उनकी संख्या में ह्रास का क्रम प्रायः प्रत्येक चक्र में एक सा रहता है। इस कारण जिस चक्र में सूर्य-कलंक संख्या अधिक होती है, उसे सामान्यावस्था तक पहुँचने में अधिक समय लगता है। याद रहे कि ऐसे चक्र में न्यूनतम से अधिकतम तक पहुँचने में अपेक्षाकृत कम समय लगा था। अतएव कुल मिलाकर अधिक तीव्र और कम तीव्र सभी सूर्य-कलंकों में एक न्यूनतम से दूसरे न्यूनतम तक पहुँचने तक की कुल अवधि प्रायः बराबर रहती है।

उक्त विवरण से स्पष्ट होगा कि सूर्य-कलंक चक्र की लगभग ११ वर्ष की अवधि के अन्तर्गत भी दो भाग होते हैं। एक में सूर्य-कलंकों की संख्या बढ़ती रहती है और दूसरे में कम होती रहती है। और उतार और चढ़ाव की ये अवधियाँ चक्र विशेष में सूर्य-कलंकों की अधिकतम संख्या पर निर्भर करती हैं। तो भी चढ़ाव की अवधि प्रायः उतार की अवधि से कम होती है और औसत रूप से इन्हें क्रमशः चार और सात वर्ष की अवधि के रूप में प्रकट किया जाता है।

सूर्य-कलंकों की संख्या और विस्तार के बारे में हमने ऊपर जो कुछ भी लिखा है, उसका सम्बन्ध सूर्य के धरातल के उस भाग से है, जो पृथ्वी से दिखाई देता है; इसलिए इसका सम्पूर्ण सूर्य की सक्रियता से सीधा सम्बन्ध तो नहीं। पर हां, सूर्य २५-२७ दिन की अवधि में अपने अक्ष के गिर्द चक्कर काटता रहता है और इस प्रकार उसका प्रत्येक भाग कम से धरती पर से दिखाई देता है। इस दृष्टि से सौर सक्रियता की आधे धरातल तक सीमित पैमाइश भी, समूचे सूर्य की सक्रियता का भली भाँति प्रतिनिधित्व कर सकती है।

गत लेख में हमने सूर्य-कलंक चक्र के विकास के साथ-साथ कलंकों के तिरछे मार्ग द्वारा सूर्य की मध्य रेखा की ओर प्रचलन का उल्लेख किया था। यदि इसके साथ सूर्य-कलंकों की संख्या का भी समावेश कर लिया जाए तो एक चक्र विशेष में तीन प्रकार की गतिविधियाँ दृष्टिगोचर होती हैं :—

(क) कलंकों का क्रम से उच्च अक्षांशों से सूर्य की मध्यरेखा की ओर चलन

(ख) कलंकों का पश्चिम से पूर्व की ओर चलन

(ग) कलंकों की संख्या में पहले चढ़ाव और फिर उतराव।

सूर्य-कलंकों में रुचि रखने वाले वैज्ञानिक मैण्डर ने, इन तीन तत्वों को एक रोचक ढंग से प्रकट किया है—एक चित्र के रूप में। इस चित्र को वे तितली चित्र (Butterfly Diagram) कहते हैं। इस चित्र में उत्तान अक्ष (Vertical axis) समय का सूचक है और सपाट अक्ष (Horizontal axis) उत्तरी और दक्षिणी अक्षांशों का। इस ढंग से कलंकों की अभिव्यक्ति, तितली का सा रूप धारण कर लेती है। इस प्रकार के तितली चित्र, मैण्डर ने १८७४ से १९५३ के बीच के सूर्य-कलंक चक्रों के सम्बन्ध में प्रस्तुत किए हैं।

यद्यपि १६१० ई० से पूर्व भी सूर्य-कलंकों की क्रिया विद्यमान थी (उसके उतार चढ़ाव का मानवी हाथ से लिखा कोई विवरण उपलब्ध होना असम्भव था) तो भी कुछ परवर्ती विद्वानों की सूझ बूझ ने प्रकृति के हाथों से लिखे कुछ ऐसे रिकार्ड खोज निकाले हैं कि आज से कोई ३००० हजार वर्ष पूर्व तक का स्थूल ब्योरा मानव के लिए हस्तगत है। ये रिकार्ड क्या थे, हम उनका वर्णन यथा-स्थान करेंगे!

(क्रमशः)

तालिका—१

वर्ष	सूर्य-कलंक	वर्ष	सूर्य-कलंक	वर्ष	सूर्य-कलंक	वर्ष	सूर्य-कलंक
१७४९	८१	१७७०	१०१	१७९१	६६·५	१८१२	५·०
५०	८३·५	७१	८१·५	९२	६०	१३	१२
५१	४७·५	७२	६६·५	९३	४७	१४	१४
५२	४८	७३	३५	९४	४१	१५	३५·५
५३	३०·५	७४	३०·५	९५	२१·५	१६	४६
५४	१२	७५	७·०	९६	१६	१७	४१
५५	९·५	७६	२०	९७	६·५	१८	३०·५
५६	१०	७७	९२·५	९८	४	१९	२४
५७	३२·५	७८	१५४·५	९९	७	१८२०	१५·५
५८	४७·५	७९	१२६	१८००	१४०५	२१	६·५
५९	५४	१७८०	८५	१८०१	३४	२२	४
१७६०	६३	८१	६८	०२	३५	२३	२
६१	८६	८२	३८·५	०३	४३	२४	८·५
६२	६१	८३	२३	०४	४७·५	२५	१६·५
६३	४५	८४	१०	०५	४२	२६	३६·५
६४	३६·५	८५	२४	०६	२८	२७	४९·५
६५	३१	८६	१८३	०७	१०	२८	६२·५
६६	११·५	८७	१३२	०८	८	२९	६७
६७	३८	८८	१३१	०९	२·५	१८३०	७१
६८	७०	८९	११८	१८१०	०	३१	४८
६९	१०६	१७९०	९०	११	१·५	३२	२७·५

वर्ष	सूय-कलंक	वर्ष	सूर्य-कलंक	वर्ष	सूर्य-कलंक	वर्ष	सूर्य-कलंक
१८३३	८·५	१८५५	६·५	१८७७	१२·५	१८९९	१२
३४	१३	५६	४·५	७८	३·५	१९००	९·५
३५	५७	५७	२३	७९	६	१९०१	२·५
३६	१२१·५	५८	५५	१८८०	३२·५	०२	५
३७	१३८·५	५९	९४	८१	५४·५	०३	२४·५
३८	१०३	१८६०	९५·५	८२	५९·५	०४	४२
३९	८६	६१	७७	८३	६३·५	०५	६३·५
१८४०	६३	६२	५९	८४	६३·५	०६	५४
४१	३७	६३	४४	८५	५२	०७	६२
४२	२५	६४	४७	८६	२५·५	०८	४८·५
४३	१०·५	६५	३०·५	८७	१३	०९	४४
४४	१५·०	६६	१६·५	८८	७	१९१०	१८·५
४५	४०	६७	७·५	८९	६·५	११	५·५
४६	६१·५	६८	३७·५	१८९०	७	१२	३·५
४७	९८·५	६९	७४	९१	३५·५	१३	१·५
४८	१२४·५	१८७०	१३९	९२	७३	१४	९·५
४९	९६	७१	११२	९३	८५	१५	४७·५
१८५०	६६·५	७२	१०१·५	९४	७८	१६	५७
५१	६४·५	७३	६६·५	९५	६४	१७	१०४
५२	५४·०	७४	४४·५	९६	४२	१८	८०·५
५३	३९	७५	१७	९७	२६·०	१९	६३·५
५४	२०·५	७६	११·५	९८	२६·५	१९२०	३७·५

वर्ष	सूर्य-कलंक	वर्ष	सूर्य-कलंक	वर्ष	सूर्य-कलंक	बर्ष	सूर्य-कलंक
१९२१	२६	१९४३	१६·५	१९३२	११	१९५४	४·५
२२	१४	४४	११	३३	५·५	५५	३८
२३	६	४५	३३	३४	८·५	५६	१४१·५
२४	१६·५	४६	९२·५	३५	३६	५७	१९०
२५	४४·५	४७	१५१·५	३६	७८·५	५८	२००
२६	६४	४८	१३६	३७	११४·५	५९	१७१*
२७	६९	४९	१३४·५	३८	१०९·५	१९६०	१२०*
२८	७८	१९५०	८४	३९	८९	६१	७१*
२९	६५	५१	६९·५	४०	६८	६२	४१*
३०	३५·५	५२	३१·५	४१	४७·५	६३	३३*
३१	१२	५३	१४	४२	३७·५		

(* अनुमानित)

जीव की उत्पत्ति—४

डा० कृष्णबहादुर

हम लोगों ने जीवाणु पर जो प्रयोग किये, उन्हें ब्रिटेन के प्रसिद्ध वैज्ञानिक डा० यम० यच० ब्रिग्स ने अपनी प्रयोगशाला में स्वयं करना प्रारम्भ किया। उनका इस प्रयोग करने का मुख्य कारण प्रारम्भ में पानी में पेपटाइड बनने की क्रिया का अध्ययन करना था। जैसा कि पहिले के लेखों में कहा जा चुका है, अमीनो अम्ल से पेपटाइड बनने की क्रिया जीव की उत्पत्ति में अत्यन्त आवश्यक है। हम लोगों ने यह खोज की थी कि यदि अमीनो अम्ल का जलीय विलयन अकार्बनिक उत्प्रेरक और कार्बनिक कार्बन की उपस्थिति में प्रकाश में रक्खा जाय तो इस मिश्रण में पेपटाइड बन जाते हैं। इस विधि के अतिरिक्त, केवल उच्च ताप पर अमीनो अम्ल को गरम करके पेपटाइड बनाने का कार्य विशेष रूप से अमरीका में हुआ था।

डा० ब्रिग्स की रुचि

पैसेडीना में जब डा० ब्रिग्स से मेरी भेंट हुई थी तो उन्होंने पानी में पेपटाइड बनाने की विधि पर विशेष बातें की थीं और उनका मत था कि ये प्रयोग जीव की उत्पत्ति के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण हैं। बाद में उनके कई पत्र आये जिनमें उन्होंने हमारे प्रयोगों के विस्तृत विवरण माँगे। इन विवरणों के प्राप्त हो जाने पर उन्होंने हमारे प्रयोग स्वयं करने प्रारम्भ किये और १९६३ के मई माह में लिखा कि प्रकाश में रक्खे बहुत से मिश्रणों में उन्हें पेपटाइड प्राप्त हुए। मई में ही हम लोगों ने जीवाणु सम्बन्धी अपना कार्य विज्ञान जगत के सामने रक्खा। डा० ब्रिग्स ने अपने कार्य को और भी आगे बढ़ाया। उन्होंने केवल पेपटाइड बनने की क्रिया का ही अध्ययन नहीं किया वरन् उन्होंने हम लोगों के प्रयोगों को स्वयं करके देखने की ठानी। हमारे काम के प्रमुख अंग थे :—

(१) प्रकाश की सहायता से ऐसे मिश्रण में अमीनो अम्ल का बनाना जिसमें कार्बनिक कार्बन, संयुक्त नाइट्रोजन, अकार्बनिक उत्प्रेरक तथा पानी हों।

(२) कार्बनिक कार्बन, अकार्बनिक उत्प्रेरक और पानी के मिश्रण में जिसके ऊपर हवा हो, प्रकाश द्वारा अमीनो अम्ल बनाना जिसमें वायु का नाइट्रोजन संयुक्त होकर अमीनो अम्ल बनावे।

(३) अमीनो अम्ल, पानी और अकार्बनिक उत्प्रेरक के मिश्रण में प्रकाश द्वारा पेपटाइड बनाना।

(४) इस प्रकार बने पेपटाइड में इंजाइम के गुण दिखाई देना।

(५) प्रकाश की सहायता से ऐसे 'जीवाणु' बनाना जिनमें बढ़ने का, संख्या बढ़ाने का तथा बाहर से पदार्थ लेकर अपने शरीर पदार्थ, जो बाहर उपस्थित पदार्थों से भिन्न है, बनाने का गुण अर्थात् अपचयोपचय का गुण हो।

डा० ब्रिग्स के मिश्रण

उन्होंने अपने प्रयोग के लिए कई मिश्रण छाँटे जिनमें से प्रमुख ये थे :—

(१) ऐसा मिश्रण जिसमें साइट्रिक अम्ल मॉलिब्डिनम और लौह के आक्साइड के कलिल उत्प्रेरक के रूप में तथा पानी था।

(२) ऐसा मिश्रण जिसमें पैराफर्मैल्डिहाइड, मॉलिब्डिनम और लौह आक्साइड के कलिल उत्प्रेरक के रूप में तथा पानी था।

(३) ऐसा मिश्रण जिसमें टार्टरिक अम्ल, मॉलिब्डिनम और लौह के अक्साइड के कलिल उत्प्रेरक के रूप में और पानी था।

मैं यहाँ केवल इन्हीं तीन मिश्रणों का उल्लेख इसलिए कर रहा हूँ कि यदि इनमें अमीनो अम्ल, पेपटाइड, इंजाइम-प्रेरित क्रिया तथा जीवाणु का बनना देखा जाय तो हम लोगों के प्रयोग की सम्पूर्ण सत्यता स्वयं प्रगट हो जायेगी।

इन मिश्रणों को निर्बीजित करके ५०० वाट के बिजली के बल्ब के सामने लगातार चार महीने रक्खा गया। इसी प्रकार के विलयन बना कर उन्हें मोटे काले कपड़े से लपेट कर अँधेरे में रख दिया गया। चार माह बाद जब इन मिश्रणों का विश्लेषण किया गया तो पता लगा कि इन मिश्रणों में जीवन के गुण दिखाने वाले छोटे-छोटे कण बन गये थे। इन सब मिश्रणों में इन कणों को अलग करके मिश्रण के विलयन और इनके कणों के विश्लेषण अलग-अलग किये गये।

'जीव की उत्पत्ति' के लेखक

डा० कृष्ण बहादुर

"जीव की उत्पत्ति" शीर्षक लेख की अन्तिम किस्त पाठकों के समक्ष प्रस्तुत है। प्रयाग विश्वविद्यालय के रसायन-विभाग के प्राध्यापक डा० कृष्णबहादुर ने पिछले अनेक वर्षों से 'जीवन' की गुत्थी सुलझाने के उद्देश्य से जो भी प्रयोग किये हैं उनकी सफलता का ज्वलन्त प्रमाण है विदेशी वैज्ञानिकों द्वारा उनके प्रयोगों की पुष्टि।

हमें गर्व है कि "जीव की उत्पत्ति" सम्बन्धी लेख माला "विज्ञान" पत्रिका में एकाधिकार रूप में प्रकाशित हुई।—**सम्पादक**

मिश्रणों का परीक्षण

डा० ब्रिग्स ने देखा कि प्रकाश में रक्खे मिश्रणों में ही कण बने। कणों को अलग करने के बाद शेष विलयन में तो एक या दो ही अमीनो अम्ल वर्तमान थे और इस विलयन को जलविच्छेदित करने के बाद भी इनमें नये अमीनो अम्ल नहीं प्रकट हुये। परन्तु जब उन्होंने कणों का विश्लेषण किया तो उन्होंने देखा कि यद्यपि इन कणों में स्वतंत्र अमीनो अम्ल की संख्या कम है परन्तु जब इन कणों का जलविच्छेदन किया गया तो उनमें बहुत से अमीनो अम्ल प्रकट हुये जो इन कणों में पेपटाइड के रूप में उपस्थित थे।

डा० ब्रिग्स ने इन कणों में एडिनिन और ग्वानीन की भी उपस्थिति देखी तथा इनमें ग्लूकोस और फ्रक्टोस भी उपस्थित थे। साथ ही इनमें कई अन्य कार्बनिक अम्ल भी थे तथा इनमें इस्टरेस और फास्फटेस के गुण थे। किन्तु अँधेरे में रक्खे मिश्रण में कोई अन्तर नहीं देखा गया।

इस तरह ब्रिग्स ने अपने प्रयोगों द्वारा हम लोगों के सम्पूर्ण काम की पुष्टि कर दी ।

ब्रिटिश इंटर प्लेनेटरी सोसायटी का ब्रिग्स को जीवाणु पर बोलने का निमंत्रण

'जीवाणु' की खोज का समाचार सम्पूर्ण दुनिया में पहुँचा और इंग्लैण्ड की **"ब्रिटिश इंटरप्लेनेटरी सोसायटी"** ने डा० ब्रिग्स को जीवाणु के बारे में बोलने के लिये निमंत्रित किया । डा० ब्रिग्स से सोसायटी की एक बैठक में अपना वैज्ञानिक निबन्ध प्रस्तुत किया जिसका सारांश ऊपर दिया गया है। यह वैज्ञानिक निबन्ध ब्रिटिश इंटरप्लेनेटरी सोसायटी के जर्नल के आगामी अंग में छप रहा है ।

डा० ब्रिग्स ने इस वैज्ञानिक निबन्ध में यह स्पष्ट उल्लेख किया है कि अभी हाल में डा० बहादुर और पर्ती ने एक प्रकार के कणों का वर्णन किया है जिनको उन्होंने 'जीवाणु' नाम दिया है, जिसका अर्थ होता है "जीवन के कण" । इस वैज्ञानिक निबन्ध का उद्देश्य यही है कि उनके कार्य की पुष्टि हो और उसका विस्तार किया जाय ।

अपने वैज्ञानिक निबन्ध के सारांश में डा० ब्रिग्स ने कहा है कि यद्यपि 'जीवन' और 'जीव' की परिभाषा करना कठिन है परन्तु यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि इन कणों में जीवन के अधिकांश गुण उपस्थित हैं और यह सम्भव है कि उस काल में जब पृथ्वी पर जीव प्रकट नहीं हुये थे इस प्रकार के असंख्य कण समुन्द्र में बने हों और ये ही कण वर्तमान कोशिका वाले जीवों के पूर्वज हों ।

जल में ही जीव प्रकट हुए

इस प्रकार हम देखते है कि अमीनो अम्ल के बनने से लेकर जीवाणु बनने की सम्पूर्ण क्रिया जल में हो सकती है । इसके लिये न तो गैसों के मिश्रण में विद्युत स्फुल्लिगों के प्रवाहित करने की आवश्यकता है, न यही मानने की कि ज्वालामुखी के पास के उच्च ताप में जीव जन्मा । इन स्थितियों में अमीनो अम्ल से पेपटाइड बनने की क्रिया अवश्य होती है और यह भी सम्भव है कि और बहुत सी अन्य ऐसी विधियाँ भी हों जिनसे ये क्रियायें हो सकें ।

ऋग्वेद और अथर्ववेद में ठीक ही कहा गया है कि जीव की उत्पत्ति पानी में हुई और जीव आदि तत्वों की क्रिया-प्रतिक्रिया द्वारा बने ।

(समाप्त)

[पृष्ठ १६ का शेषांश]

माइन्ड' । उन्होंने इन वक्तव्यों को 'प्रास्पैक्ट्स फार वर्ल्ड पीस' कान्फ्रेंस में बोलते हुए दिया था । इस लम्बे भाषण (वक्तव्य के रूप में) में मानव जाति के लिए दो लक्ष्य बतलाये गए हैं । ये लक्ष्य हैं—'न्यूनतम गुप्तता, और 'न्यूनतम बल प्रयोग ।'

विज्ञान की अथक सेवाओं के उपलक्ष्य में उन्हें सन् १९६३ का "ऐनरिको फर्मी" पुरस्कार वाशिंगटन में ३ दिसम्बर' ६३ को राष्ट्रपति जान्सन द्वारा प्रदान किया गया । इस पुरस्कार के अंतर्गत उन्हें एक स्वर्ण-पदक, प्रशस्ति-पत्र और पचास हजार डालर मुद्रा के रूप में प्राप्त हुए ।

इस प्रकार अमेरिका के इस महाप्रज्ञावान पुत्र ने अपने ६० वर्षीय जीवन में अभी तक विश्व को बहुत सी अभूतपूर्व उपलब्धियाँ विज्ञान के क्षेत्र में तथा मानवीय मूल्यों को स्थापित करने के क्षेत्र में प्रदान की हैं । विश्व में शांति स्थापना के क्षेत्र में उनका योगदान वंदनीय है। उनके क्रांतिकारी वैज्ञानिक विचारों से यह भावना बलवती होती है कि अभी भी आइन्स्टीन की भाँति शांति के उद्घोषक जीवित हैं जो युद्ध की विभीषिका से विश्व को मुक्त करने में सफल होंगे ।

अन्तरिक्ष में राकेट

महावीर सिंह मुंडिया

अन्तरिक्ष सदैव से ही मनुष्य की जिज्ञासा का केन्द्र रहा है, और आज तो युगों की संचित मानव अभिलाषा पूर्ण होने जा रही है। यूरी गेगरिन, तितोव, शेपर्ड व पोपोविच की अन्तरिक्ष में उड़ान निस्सन्देह विज्ञान के इतिहास में युगान्तकारी घटनाएँ हैं।

पृथ्वी से १२० मील की ऊँचाई पर वायुमंडल पूर्णतः अन्तरिक्ष का रूप धारण कर लेता है। इतनी ऊँचाइयों पर हवा नहीं होती जिससे मनुष्य को भीषण कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। अन्तरिक्ष में दिन अथवा रात्रि नहीं होते और वहाँ का तापमान अत्यधिक तेजी से घटता-बढ़ता रहता है। भारी भरकम उल्काएँ जिनके भार कभी-कभी पृथ्वी के बराबर भी हो सकते हैं तीव्र गति से अन्तरिक्ष में चक्कर लगाती रहती हैं। पृथ्वी की गुरुत्वाकर्षण शक्ति अन्तरिक्ष में इतनी कम रहती है कि मनुष्य तथा अन्य वस्तुएँ भारहीन हो जाती हैं, अर्थात् उनमें भार नहीं रहता है। ऐसी स्थिति में पानी का गिलास एक स्थान पर नहीं पड़ा रहेगा; वह तो चक्कर ही काटता रहेगा।

बीसवीं शताब्दी में "राकेट विज्ञान" में अभूतपूर्व प्रगति हुई है। सर्वप्रथम सन् १९२६ में अमेरिका के प्रोफेसर गोडार्ड ने "द्रव ईंधन" राकेट आकाश में छोड़ा। यह राकेट २०० फीट की ऊँचाई तक गया और उसकी गति ६० मील प्रति घंटा थी। इसके बाद नाजी जर्मनी ने वी-२ राकेटों की सहायता से गत महायुद्ध में ब्रिटेन पर हमले किये। इन राकेटों की गति ३००० मील प्रति घंटा थी, तथा वे ९० मील तक आकाश में ऊपर जा सकते थे। अब तो राकेट लाखों मील तक जाने लगे हैं।

राकेट का सिद्धान्त

जब बन्दूक से गोली चलाई जाती है, उस समय बन्दूक को उलटी दिशा में धक्का लगता है और यदि चलाने वाला सावधान न रहे तो उसे एक भारी झटका लगाता है। इसे "प्रतिक्रिया का सिद्धान्त" कहते हैं। राकेट में भी यही सिद्धान्त काम में आता है। राकेट के "प्रज्वलन कक्ष" से जब गैस नीचे की ओर छूटती है तो राकेट परिणामतः ऊपर उठता है।
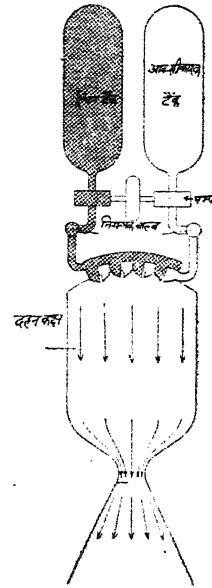
चित्र—१

प्रस्तुत चित्र में एक द्रव ईंधन राकेट दिखाया गया है। इसके ऊपर के हिस्से में दो टैंक हैं जिनमें ऐल्कोहल तथा द्रव आक्सीजन भरा जाता है। दो पम्पों के द्वारा ऐल्कोहल और आक्सीजन, प्रज्ज्वलन कक्ष में डाले

जाते हैं। प्रज्ज्वलन कक्ष के अन्दर रासायनिक प्रतिक्रिया होती है और ताप ३००० से० तक बढ़ जाता है। गर्म गैसें तीव्र गति से नीचे की ओर छूटती हैं, राकेट ऊपर उठता है और क्षण भर में ही गर्जन के साथ आकाश में अपने निर्दिष्ट स्थान की ओर चल देता है। यह सब केवल एक मिनिट में ही हो जाता है। इस एक मिनिट में राकेट २४ मील तक ऊपर पहुँच जाता है और ६ टन ईंधन खर्च हो जाता है। तब राकेट की सारी यात्रा स्वचालित यन्त्रों के द्वारा होती है और यन्त्रों की सहायता से वह निर्धारित लक्ष्य की ओर पहुँचता है। ईंधन के रूप में केरोसीन, पेट्रोल, टरपेंटाइन और ऐल्कोहल काम में लिये जाते हैं, तथा आक्सीकारक के रूप में आक्सीजन, परक्लोरिक अम्ल, हाइड्रोजन परॉक्साइड काम में लाये जाते हैं। ईधन तथा अक्सीकारक के मिश्रण से राकेट को ७००० मील प्रति घंटे की गति प्रदान की जा सकती है।

बहुखण्डीय राकेट

पृथ्वी की गुरुत्वाकर्षण शक्ति को पार करने के लिये राकेट का वेग १८००० मील प्रति घंटे होना चाहिए। यदि वेग इससे कम हुआ तो राकेट वापस पृथ्वी पर गिर जायगा। १८००० मील प्रति घंटे के वेग से जाने पर राकेट पृथ्वी की गुरुत्वाकर्षण शक्ति को पार कर पृथ्वी का एक उपग्रह बन जाता है। यदि वेग इस गति से भी तेज हो (२५००० मील प्रति घंटे) तो राकेट आगे ग्रहों की ओर दूर अन्तरिक्ष में निकल जाता है। जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं कि एक राकेट को ७००० मील प्रति घंटे से अधिक गति प्रदान नहीं की जा सकती है। इस समस्या का हल रूस के एक अध्यापक **जिल्कोवस्की** ने एक अनूठे रूप में निकाला। जिल्कोवस्की ने दो या तीन राकेट एक दूसरे के पीछे जोड़ दिये। यदि दो राकेट जोड़े जाते हैं तो **"द्विखण्डीय राकेट"** कहलाता है और यदि तीन जोड़े जाते हैं तो **"त्रिखण्डीय राकेट"** कहा जाता है। जब प्रथम राकेट का ईंधन खत्म हो जाता है तो अपने आप दूसरा राकेट स्वचालित यन्त्रों से चालू होकर ऊपर की ओर जाता है और इस प्रकार तृतीय राकेट भी चालू हो जाता है। फल यह होता है कि इस त्रिखण्डीय राकेट को १८००० मील प्र० घ० का वेग मिल जाता है। चार या पाँच खण्डीय (अथवा बहुखण्डीय राकेट के द्वारा २५००० मील प्र० घ० और इससे भी अधिक वेग प्राप्त किया जा सकता है।

राकेट विज्ञान में तीव्र गति से प्रगति हो रही है। परमाणु शक्त द्वारा चालित राकेट पृथ्वी से किसी भी ग्रह की ओर जाकर बिना ईंधन भरे वापस आ सकता है। **"आयन रायेट"** की गति ४०,००० मील प्र० घ० होगी और यह चन्द्रमा तक केवल ६ घंटे में ही पहुँच जायगा। मंगल ग्रह तक जाने में (१५ लाख मील) उसे केवल ३६ घंटे (डेढ़ दिन) लगेंगे। निश्चय ही यह विस्मयजनक एवं चमत्कारक है।

फोटान राकेट

पृथ्वी से निकटतम तारा 'अल्फा सेन्टारी' ४ प्रकाश वर्ष की दूरी पर स्थित है (एक प्रकाश वर्ष = ६२ खरब मील)। आयन राकेट को वहाँ पहुँचने में **५०००** वर्ष लग जायेंगे। निश्चित ही सितारों की दुनिया में पहुँचने के लिये ऐसे राकेटों का निर्माण होना चाहिए जिनकी गति और भी अधिक हो। राकेट की गति नीचे की ओर छूटने वाली गैसों की बौछार पर निर्भर है। यदि इस बौछार की गति बढ़ाई जा सके तो राकेट का वेग भी बढ़ जायगा। प्रकाश किरणों **(फोटान कण)** की गति १८६,००० मील प्रति सेकण्ड है। यदि इस प्रकार के फोटान की बौछार उपलब्ध हो तो राकेट भी अत्यन्त तेज गति से भागेगा। यह सिद्ध किया जा चुका है कि पदार्थ को पूर्णत: फोटान कणों में बदला जा सकता है। अब **"फोटान राकेट"** के निर्माण में वैज्ञानिक जुटे हुए हैं और प्राप्त आँकड़े इस तथ्य की पुष्टि करते हैं कि ऐसे राकेट का निर्माण किया जा सकता है। तब मनुष्य तारों की यात्रा भी कर सकेगा। और आश्चर्य नहीं यदि बीसवीं शताब्दी के अन्त तक मनुष्य ग्रहों की यात्रा ठीक उसी प्रकार कर सके जिस प्रकार से बस द्वारा स्थल की यात्रा करता है।

●●

विष

डॉ० शिव प्रकाश

विष एक ऐसा पदार्थ है जो जीवित प्रणाली में पहुँच जाने पर हानिकारक अथवा घातक प्रभाव डालता है। निकाय में विष साधारणतया मुख द्वारा निगलने अथवा साँस लेने से पहुँचता है अथवा अन्त:शिराओं द्वारा रक्त में पहुँचता है। कभी-कभी त्वचा द्वारा अवशोषण से भी यह निकाय में पहुँच जाता है।

विष के प्रकार

विष कई प्रकार के होते हैं और उनका विभाजन उनके रासायनिक संघटन, शरीर पर उनकी क्रिया तथा भौतिक लक्षणों के आधार पर किया जाता है। जो विष अपनी क्रिया द्वारा ऊतकों को नष्ट कर देते हैं उन्हें **संक्षारक विष** कहते हैं तथा जो श्लेष्मा भिल्ली को प्रज्वलित कर देते हैं वे **प्रकोपक विष** कहे जाते हैं। बहुत सी गैसें भी विषैली होती हैं। द्वितीय महायुद्ध में तो विषैली गैसों का प्रचुर मात्रा में उपयोग किया गया और मस्टर्ड गैस का तो इतना आतंक फैल गया कि उसका उपयोग शत्रु को नष्ट करने के लिये न किये जाने का समझौता करना पड़ा। उसमें ऐसी गैसें प्रयुक्त की गई थीं जिनसे सारे शरीर पर फफोले पड़ जाते थे और इतना कष्ट होता था कि सैनिक तड़प-तड़प कर दम तोड़ देते थे। शत्रु सेना की ओर "गैस मास्क" का उपयोग किया जाता परन्तु किसी-किसी गैस को रोक सकने में ये गैस मास्क भी असफल होते थे।

समाचार पत्रों में प्राय: "भोज्य विपाक्तता" के समाचार पढ़ने को मिलते हैं। यह भोज्य विपाक्तता खाद्य पदार्थ में विषैले दंडाणुओं की उपस्थिति अथवा सोडियम फ्लोराइड जैसे रासायनिक पदार्थों के मिश्रित हो जाने से होती है अथवा कभी-कभी खाद्य पदार्थ में फफूँदी की उत्पत्ति हो जाने से भी हो जाया करती है।

विष की क्रिया

विष की क्रिया स्थानीय हो सकती है अथवा परिचक्रणीय। तंत्र में विष के अवशोपित हो जाने पर सामान्य अभिक्रिया भी हो सकती है। दोनों क्रियाओं के एक साथ होने की भी सम्भावना रहती है। स्थानीय क्रिया में जो संक्षारक विष होते हैं वे श्लेष्मा भिल्ली अथवा ऊतकों के सम्पर्क में आने पर उनको नष्ट कर देते हैं या काफी हानि पहुँचाते हैं। अन्य विष भोजन तन्त्र की श्लेष्मा भिल्ली में प्रज्वलनशील अभिक्रिया आरम्भ कर देते हैं। अन्य प्रकार के विष स्नायु तंत्र अथवा शरीर के अन्य भागों जैसे फेफड़ा, हृदय, यकृत, वृक्क पर प्रभाव डालते हैं। स्थानीय क्रिया के पश्चात् विष साधारणतया रक्त प्रवाह में अवशोपित हो जाते हैं और फिर शरीर के महत्वपूर्ण अंगों पर हानिप्रद प्रभाव डालते हैं। वास्तव में देखा जाय तो विष शरीर के किसी भी भाग में प्रवेश पा जाने पर शरीर के प्रत्येक भाग में किसी न किसी अंश में पहुँच ही जाते हैं। निदान करने में जितना विलम्ब होगा, उतना ही भयंकर प्रभाव होता जाएगा।

विलयन के रूप में मुख द्वारा प्रवेश पाने वाला विष ठोस की अपेक्षा अधिक प्रभावी होता है। किन्तु यदि उसका प्रवेश अन्त:शिराओं द्वारा हुआ है तो प्रभाव अत्यन्त प्रबल होगा। यदि मनुष्य का पेट भरा हुआ है तो खाली पेट की तुलना में विष का प्रभाव कम होगा। स्वाभाविक है कि विष का प्रभाव मनुष्य के स्वास्थ्य पर भी निर्भर करेगा। स्वस्थ मनुष्य के शरीर पर विष का प्रभाव रोगी की अपेक्षा देर में होगा। विष की मात्रा का विष के प्रभाव से निकट सम्बन्ध है। परन्तु कुछ विष जब अधिक मात्रा में पहुँच जाते हैं तो उससे कै हो जाती है और परिणाम-स्वरूप अधिकांश विष बाहर निकल जाता है।

कुछ उदाहरण

अब हम कुछ उदाहरण लेते हैं—हाइड्रोसायनिक अम्ल रंगहीन तथा ज्वलनशील द्रव है। द्रव तथा जलीय विलयन दोनों की गंध कडुवे बादाम की तरह होती है। जितने विष ज्ञात हैं उनमें से यह एक अत्यन्त विषैला पदार्थ है। उच्च सांद्रता में यदि इसके धूम को सूँघ लिया जाय तो तुरन्त मृत्यु हो जाती है। हाइड्रोजन सायनाइड मस्तिष्क में, श्वसन केन्द्र में होने वाली सामान्य अपचयन विधियों को रोक देता है। विशुद्ध अवस्था में यह तड़ित की तीव्रता से कार्य करता है और उससे तत्क्षण मृत्यु हो जाती है। क्रिस्टलीय सायनाइड जैसे पोटैसियम सायनाइड अथवा सोडियम सायनाइड समान रूप से विषैले होते हैं क्योंकि पेट में उपस्थित हाइड्रोक्लोरिक अम्ल से जब इनकी अन्योन्य क्रिया होती है तो हाइड्रोसायनिक अम्ल बन जाता है। २·५ मि० ग्राम प्रति लिटर की सान्द्रता में हाइड्रोसायनिक गैस घातक सिद्ध होती है। कम मात्रा में होने पर पहले तो चक्कर आते हैं, फिर सरदर्द होता है और साँस धीरे-धीरे आने लगती है। तत्पश्चात् वमन और मूर्च्छा आ जाती है और फिर मृत्यु हो जाती है।

आर्सेनिक और उसके यौगिक भी बहुत विषैले होते हैं। इनमें न गंध होती है, न कोई स्वाद। आर्सेनिक का प्रभाव इस बात पर निर्भर करता है कि कितना पदार्थ प्रयुक्त हुआ है तथा वह रक्त में कितनी शीघ्रता से मिश्रित होता है। ठोस की अपेक्षा विलयन रूप में इसका अवशोषण अधिक होता है।

जल तथा अम्ल में घुलने वाले बेरियम यौगिक भी विषैले होते हैं। उनका प्रभाव तीव्र होता है और लगभग एक घण्टे में मृत्यु हो सकती है। परन्तु कभी-कभी यह प्रभाव बहुत धीमी गति से होता है। साधारणतया श्वसन क्रिया के रुक जाने के कारण मृत्यु हो जाती है। भोजन तन्त्र का एक्स-किरण चित्र लेते समय विशुद्ध बैरियम सल्फेट निगला जाता है। बैरियम सल्फाइट तथा बैरियम सल्फाइड भी विषैले पदार्थ हैं।

कार्बन मोनोक्साइड एक ऐसी विषैली गैस है जिसके सम्पर्क में मनुष्य के आने की सम्भावना रहती है। यह प्राय: देखा गया है कि जाड़े के दिनों में कमरे के अन्दर कोयले की भट्ठी जला कर रख छोड़ने पर यदि सभी कमरे व खिड़कियाँ बंद कर दी जायँ और वायु के आवागमन का कोई साधन न हो तो उसमें सोये हुये प्राणी सुबह या तो बेहोश पाये गये या कभी-कभी उनकी मृत्यु भी हो गई। रक्त में उपस्थित हीमोग्लोबिन में कार्बन मोनोक्साइड के लिये पर्याप्त बंधुता होती है और यह आक्सिजन की अपेक्षा कार्बन मोनोक्साइड को ३०० गुना अधिक तेजी से अवशोषित करता है। जब रक्त-कणिकायें कार्बन मोनोक्साइड से संतृप्त हो जाती हैं तो ऊतक में आक्सिजन का पहुँचना रुक जाता है और परिणाम स्वरूप दम घुट जाता है। जब रक्त ३०% संतृप्त हो जाता है तो बेहोशी हो जाती है और उसके पश्चात् तनिक भी वृद्धि होने पर मृत्यु हो जाती है।

विज्ञान और नैतिकता के समर्थक : ओपनहाइमर

व्रजेश्वर प्रसाद शर्मा

वर्तमान विज्ञान-संसार में 'द्वितीय आइन्स्टीन' के नाम से विख्यात अमेरिकी वैज्ञानिक डा० राबर्ट जे० ओपनहाइमर का नाम आइन्स्टीन, फर्मी, नील्स बोर और रथरफोर्ड की कोटि में रखा जाता है। उन्होंने न केवल विज्ञान को अपने मौलिक सिद्धांतों से समृद्ध किया है वरन् विश्व-राजनीति में उसको सर्वोत्कृष्ट स्थान भी दिलाया है। ओपनहाइमर एक अणु-विज्ञानी और वैज्ञानिकों के नैतिक दायित्व के सबसे सजग प्रहरी के रूप में विज्ञान की शक्ति को मानवीय विकास कार्यों में उपयोग में लाने के समर्थक रहे हैं। गैलीलियो के आध्यात्मिक शिष्य ओपनहाइमर ने गैलीलियो की भाँति ही अपना सम्पूर्ण जीवन सत्य के अन्वेषण में अर्पित किया है।

अल्बर्ट आइन्स्टीन ने सर्वप्रथम सन् १६०५ में विज्ञान-जगत के आराधकों के समक्ष 'द्रव्य और ऊर्जा के परस्पर सम्बन्ध' के अपने अभूतपूर्व सिद्धांत की घोषणा कर परमाणु-युग के प्रथम चरण का प्रारम्भ किया। उपर्युक्त सिद्धांत को यथार्थ में परिणत करने के लिए जिन वैज्ञानिक प्रतिभाओं ने अथक अनुसंधान किए, उनमें डा० ओपनहाइमर प्रमुख हैं। उन्हें परमाणु से ऊर्जा के अमित स्रोत की खोज करने वाले प्रमुख वैज्ञानिकों के साथ शोध करने का गौरव प्राप्त है। अद्भुत वैज्ञानिक प्रतिभा और परमाणु ऊर्जा के उत्पादन कार्य के अंतिम चरण का नेतृत्व करने के कारण ओपनहाइमर को 'द्वितीय आइन्स्टीन' के नाम से जाना जाता है। परमाणु ऊर्जा का सिद्धांत आइन्स्टीन ने दिया और उसे कार्यरूप में परिणत कर अंतिम चरण का रूप ओपनहाइमर ने दिया। अमरीका को विश्व का प्रथम अणु-शस्त्र सम्पन्न देश बनाने वाले वैज्ञानिकों में ओपनहाइमर मुख्य थे।

न्यूयार्क में २२ अप्रैल, १६०४ को एक यहूदी उद्योगपति के घर में जन्में, ओपनहाइमर शीघ्र ही एथिकल कल्चर स्कूल में भर्ती हो गए और बहुत बचपन में ही फ्रेंच और ग्रीक में निष्णात हो गए। बारह वर्ष की अल्पायु में न्यूयार्क की खनिज विज्ञान परिषद के सबसे युवा सदस्य बना लिए गए। उन्होंने प्लेटो के साहित्य को मूल ग्रीक में पढ़ा और अपने विज्ञान अध्यापकों को ध्रुवित प्रकाश के विशेष अध्ययन से चकित कर दिया। हारवर्ड से सन् १६२५ में वे स्नातक हुए। उनके जर्मन-प्रवासी यहूदी पिता ने जो कि कपड़े-उद्योग में सफलता अर्जित कर चुके थे, उन्हें कैम्ब्रिज भेजा, जहाँ से विद्याध्ययन कर वे फिर जर्मन विश्वविद्यालय, गोटिंजन, गये। यहीं से उन्होंने २३ वर्ष की उम्र में पी० एच०-डी० की सम्मानित उपाधि प्राप्त की।

संयुक्त राज्य लौटने पर ओपनहाइमर को बर्कले स्थित कैलिफोर्निया विश्वविद्यालय और कैलिफोर्निया इन्स्टीट्यूट ऑव टैक्नालाजी द्वारा फैकल्टी पद के लिए आमन्त्रण प्राप्त हुए। उन्होंने दोनों ही आमन्त्रण स्वीकार कर लिए। मार्च, सन् १६४३ में युद्ध के समय, उन्होंने सेना की ६००००००० डालर की लास-अलामास प्रयोगशाला का नेतृत्व किया और व्यक्तिगत रूप से प्रथम ३ परमाणु बम के निर्माण-कार्य का निर्देशन किया। शीघ्र ही वे हाइड्रोजन बम के विकास हेतु परमाणु ऊर्जा आयोग के मुख्य तकनीकी सलाहकार बने। तभी उन्हें मेकर्थी के उग्र प्रहार सहने पड़े। सन् १६४७ से वे

प्रिन्सटन के "इन्स्टीट्यूट आव एडवान्स्ड स्टडी" (सन् १९३३ में स्थापित एक समृद्ध विद्या-केन्द्र) के डायरेक्टर बने। इस अंतर्राष्ट्रीय ख्यातिप्राप्त इन्स्टीट्यूट को आइन्स्टीन, नील्सबोर, और टायनबी जैसी महाप्रज्ञाओं की ज्ञान-साधना का केन्द्र होने का गौरव प्राप्त है। अपने निजी वर्कशाप में उन्होंने कुछ विशेष उपलब्धियाँ परमाणु के 'अंतिम अविभाज्य कणों' की प्रकृति की खोज के क्षेत्र में प्राप्त की हैं। इन 'अंतिम अविभाज्य कणों' द्वारा सम्पूर्ण ब्रह्मांड और उसमें सन्निहित समस्त वस्तुयें निर्मित हुईं हैं। वे व्यक्ति के मानस को पहिचानने, उसके अंतर्मन में पैठने की क्षमता के लिए और बेलाग बात कहने के लिए विख्यात हैं।

ओपनहाइमर अनुभव करते हैं कि बिना किसी परिणाम की परवाह किये, सत्य की खोज में कभी भी अवरोधित नहीं होना चाहिए। अमेरिका में जब एक विशाल टावर पर बम-विस्फोट का सर्वप्रथम परीक्षण किया गया तो वे उस स्थान से केवल १७ मील दूर नियंत्रण स्टेशन से आवश्यक निर्देश प्रसारित कर रहे थे। उक्त परीक्षण के वे सर्वेसर्वा थे। बाद में वे हाइड्रोजन बम के निर्माण में भी सहायक हुए। परन्तु जब हिरोशिमा और नागासाकी के दिगंत में परमाणु-बम ने प्रलयंकारी नर्तन किया तब वे दहल उठे। उन्होंने स्वीकार किया—"भौतिकविज्ञानी पाप का ज्ञान पा गए हैं, और यह ज्ञान वे कभी खो न सकेंगे।" यद्यपि उन्होंने इस प्रस्ताव को अस्वीकृत कर दिया है कि वैज्ञानिक इस प्रकार के विनाशकारी परीक्षण खत्म कर दें तथापि वे कहते हैं कि वर्तमान युग असाधारण उपलब्धि, नवीन अनुभव, नूतन अंतर्दृष्टि और नये आधिपत्य का समय है।' फिर यह कैसे सम्भव है कि हमें विज्ञान को संकुचित वादियों में भटकने दें। "विश्व ज्ञान से अपना मुख नहीं मोड़ सकता" उन्होंने घोषित किया। दीर्घकाय, ऊँचा माथा, श्वेत-श्याम केश और नीली आँखों वाले ओपन-हाइमर विश्व के महानतम परमाणु भौतिक विज्ञानी हैं। उनके क्वांटम सिद्धांत के युद्धोत्तर अनुसंधानों ने न्यूक्लीयर विखण्डन का द्वार खोलने में सहायता की है।

जब सन् १९४६ में सेक्रेटरी ऑव स्टेट बायरन्स ने संयुक्त राज्य परमाणु नीति निर्धारण बोर्ड के लिए उनका नाम दिया तो उन्होंने स्पष्ट कहा कि 'परमाणु ऊर्जा या तो सभ्यता के लिए अभिशाप हो सकती है और या फिर वरदान।' यह उनका ही प्रयास था कि निम्नलिखित पंक्तियाँ बोर्ड की रिपोर्ट में स्थान पा सकीं—"परमाणु ऊर्जा उत्पादन योजना को लाभकारी संभावनाओं को विकसित और मूलभूत ज्ञान की वृद्धि को प्रोत्साहित करना चाहिए। इस योजना को केवल मानव की रचनात्मक और यथार्थ प्रवृत्तियों को आकृष्ट करना चाहिए न कि मानव की रक्षात्मक और विरोधी प्रवृत्तियों को। संक्षेप में, यह एक ऐसी योजना होनी चाहिए जो कि मानव के भविष्य की अच्छाई और रक्षा के इरादे को सम्मुख रखे।"

ओपनहाइमर विज्ञान के आराधक और नैतिक प्रहरी ही नहीं वरन् विज्ञान, नैतिकता, निर्भीकता की त्रिमूर्ति भी हैं। विज्ञान और विचार पर सरकारी अंकुश लगाने के तीव्र विरोधी, बौद्धिक स्वतंत्रता के प्रबल समर्थक ओपनहाइमर के उद्‌गार हैं—"विज्ञान के प्राणभूत बुनियादी खतरनाक विचारों को सोचने की पूर्ण स्वतंत्रता वैज्ञानिकों को मिलनी चाहिए।" आजकल वे वाशिंगटन में अमेरिकन वैज्ञानिकों के सर्वविदित प्रवक्ता हैं।

सत्य की अविरल, सत्वर खोज के साथ ही साथ ओपनहाइमर एक ऐसे पुरोधा विचारक हैं, जिनमें प्रचुर आकर्षण भी है। वह अपनी पत्नी कैथरीन हैरिसन के साथ रहते हैं और उनके दो युवा बच्चे प्रिन्सटन में रहते हैं। उन्हें खूब गर्म मैक्सिकन भोजन पसंद है। मनोरंजन के लिए वे घुड़सवारी करते हैं और 'लोगों से बातें करना' उनकी एकमात्र अभिरुचि है। भारत की सभ्यता, संस्कृति, शांतिवादी नीति और गाँधी में उनकी निष्ठा है। भारतीय साहित्य से वे परिचित हैं और संस्कृत साहित्य के श्रेष्ठ विद्वान हैं। उन्होंने मूल संस्कृत में वेदों और गीता का अध्ययन किया है।

ओपनहाइमर अपने जिस भाषण पर सबसे अधिक बल देते हैं, और जिस पर उन्हें गर्व है, वह है 'द ओपन

[शेषांश पृष्ठ १० पर]

सार संकलन

१. वैज्ञानिक क्रान्ति और मानव

आज वैज्ञानिक क्रान्ति आधुनिक समाज के सभी अंगों को काफी गहराई तक और अत्यन्त व्यापक रूप से प्रभावित कर रही है। वैज्ञानिक क्रान्ति के पदार्पण के साथ विज्ञान का महत्व हमारे राष्ट्रीय कल्याण की दृष्टि से इतना अधिक बढ़ गया है कि सरकार और विज्ञान के पारस्परिक सम्बन्ध हमारे लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण हो गए हैं।

वस्तुत: १९३८ में अणु-विखण्डन की खोज नए संसार में हमारे पदार्पण की द्योतक थी। दूसरे शब्दों में नवीन संसार में प्रवेश करने का संक्रान्ति-काल यहीं से प्रारम्भ हुआ।

इन वर्षों की अवधि में हमने यह सीखा है कि आधारभूत एवं व्यावहारिक (प्रयोगात्मक) विज्ञान, इंजिनियरिंग विकास और औद्योगिक उत्पादन पर विशेष ध्यान केन्द्रित करने का हमारे भविष्य पर बहुत उल्लेखनीय प्रभाव पड़ता है। शान्तिपूर्ण राष्ट्रीय लक्ष्यों—उदाहरणार्थ, आर्थिक विकास, स्वास्थ्य-सुधार, शक्ति-स्रोतों का विकास और अन्य राष्ट्रों की सहायता—की दिशा में सतत प्रगति संयुक्त वैज्ञानिक एवं टैक्नौलौजिकल प्रयासों को अनवरत जारी रखने पर ही सम्भव हो सकता है।

हम देखते हैं कि यदि संसार का कोई दूरस्थ भाग भयंकर भूकम्प अथवा बाढ़ से सहसा ही पीड़ित हो जाता है तो परिवहन और संचार के आधुनिकतम साधनों का उपयोग कर उस क्षेत्र की पीड़ित जनता की सहायता करने के लिए हम अपने तथा टैक्निकल दृष्टि से प्रगतिशील अन्य राष्ट्रों के विशाल साधन-स्रोतों का अविलम्ब उपयोग कर सकते हैं। वाह्य अन्तरिक्ष में यदि आज एक राष्ट्र कोई वैज्ञानिक परीक्षण करता है तो उसके सम्पन्न होने से पूर्व ही समस्त विश्व के वैज्ञानिक समाज में उसके प्रति अत्यन्त उत्सुकता और दिलचस्पी पैदा हो जाती है। आज, जोन डूनी की यह उक्ति बिल्कुल सत्य हो गई है कि 'कोई भी व्यक्ति अपने अस्तित्व को द्वीप की तरह पृथक् नहीं रख सकता।'

अन्तर्राष्ट्रीय विज्ञान के क्षेत्र में बढ़ती हुई एकता के फलस्वरूप कोई भी शक्तिशाली राष्ट्र समस्त मानव जाति के भविष्य को अत्यन्त उल्लेखनीय ढंग से प्रभावित किए बिना अपनी वैज्ञानिक और टैक्नौलौजिकल विकास सम्बन्धी नीति निर्धारित नहीं कर सकता। उदाहरणार्थ, यदि कोई शक्तिशाली राष्ट्र अपने शक्ति-स्रोतों के विकासार्थ जो भी नीति निर्धारित करता है, उस पर विकासोन्मुख देश अत्यन्त रुचि से दृष्टि रखेंगे। उनको उस सहायता की परमावश्यकता है, जो शक्ति के नए साधन सुलभ कर सकते हैं।

अणुशक्ति द्वारा संसार के सभी निवासियों के उपयोगार्थ विद्युत-शक्ति सुलभ करने के लिए हमें आणविक विद्युतशक्ति के विकास की दिशा में कुछ दूरी और तय करनी पड़ेगी तथा इसके उपरान्त सम्भवत: नियंत्रित अणुद्रवण द्वारा विद्युतशक्ति का उत्पादन करने की क्षमता भी प्राप्त करनी पड़ेगी। फिर भी, हमें इस बात का पूर्ण विश्वास है कि यदि मानव जाति ने धैर्य, सद्भावना और विवेक से कार्य किया तो यह दिन आकर रहेगा।

रेडियो आइसोटोप के व्यापक उपयोग ने रोगों से पीड़ित मानवों के कष्टों को कम करने और उनकी आयु बढ़ाने में महत्वपूर्ण सहायता प्रदान की है। अब प्रचुर

परिमाण में सुलभ ये नए पदार्थ औद्योगिक उत्पादन प्रणालियों एवं कृषि-उत्पादन क्षमता में सुधार और वृद्धि करने में अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हो रहे हैं।

औद्योगिक, चिकित्सा और अनुसन्धान-कार्यों के लिए रेडियो-आइसोटोप के उपयोग में अधिकाधिक वृद्धि होने के कारण हमें ऐसे प्रतिभाशाली और दक्ष वैज्ञानिकों की अधिकाधिक संख्या में आवश्यकता है, जो इनका उपयोग करने में पूर्ण पटु और समर्थ हों। पिछले कुछ वर्षों की अवधि में जो उल्लेखनीय सफलताएँ प्राप्त की गई हैं, उनको दृष्टि में रखते हुए हमें इस बात का पूर्ण विश्वास हो जाना चाहिए कि अणुशक्ति जहाजरानी के क्षेत्र में भी एक क्रान्ति प्रस्तुत कर सकती है। वह प्यासी धरती की प्यास बुझा सकती है, जल्दी ही खराब हो जाने वाले खाद्य-पदार्थों को काफी समय तक सुरक्षित रख सकती है और अन्तरिक्ष में विचरण करने वाले कृत्रिम उपग्रहों को विद्युत शक्ति सुलभ कर सकती है, जो इसी पीढ़ी में विश्वव्यापी रेडियो-टेलिविजन संजाल की स्थापना सम्भव बना सकते हैं। यही नहीं, अन्तर्ग्रहीय यात्रा पर जाने वाले हमारे अन्तरिक्ष यानों के लिए निकट भविष्य में ही संचालन शक्ति सुलभ करने में भी यह समर्थ हो सकती है। और, जब हमें यह ज्ञात होता है कि आणविक विस्फोटों द्वारा नहरों की खुदाई करना और पर्वतों को उड़ा कर मार्ग निकालना सम्भव है तो इस बारे में पूर्ण आश्वस्त होने के लिए कि हम अपने निर्धारित लक्ष्यों को निश्चय ही प्राप्त कर लेंगे, हम कोई भी धनराशि खर्च करने तथा कितनी भी सावधानी बरतने से नहीं कतराएँगे।

हमने शक्ति के इन नए तथा अद्भुत स्रोतों का सफलतापूर्वक उपयोग करने की दिशा में ही उल्लेखनीय प्रगति नहीं की है अपितु हम अत्यधिक गति वाले गणक यंत्रों और स्वचालित यन्त्रों सम्बन्धी क्रान्तिकारी और विलक्षण टैक्नोलौजी में भी तेजी के साथ पारंगत और निपुण होते जा रहे हैं।

जीवाणु-विज्ञान के क्षेत्र में इतने ही अधिक उल्लेखनीय परिवर्तन हुए हैं। सूक्ष्म जीवाणु कोषों, पौधों और पशुओं में इस प्रकार के परिवर्तन लाने की, जिनसे हमें अपनी आर्थिक स्थिति सुधारने में मदद मिल सकती है, इतनी असीम सम्भावनाएँ दृष्टिगोचर हो रही हैं कि उनका संक्षेप में वर्णन कर पाना सम्भव नहीं।

हम यह भी आशा कर सकते हैं कि नृवंश-विज्ञान के सम्बन्ध में हमने हाल में जो नई जानकारी एकत्र की है, उसका उपयोग मानवजाति की नस्लों में सुधार करने के लिए भी किया जा सकेगा। जूलियन हक्सले नामक नृवंश शास्त्री ने अभी हाल में कहा है कि इसकी बड़ी आवश्यकता है।

इन समस्त सम्भावनाओं तथा अत्यन्त तीव्रगति से बढ़ती हुई विश्व-जनसंख्या से सम्बन्धित महत्वपूर्ण एवं जरूरी समस्याओं पर हम जब एक साथ विचार करते हैं तो हमारे मस्तिष्क में यह आधारभूत प्रश्न उठ खड़ा होता है कि लोगों को क्या करना चाहिए?

जनसंख्या के विस्फोट से जनित अन्य समस्याओं को हल करने की दिशा में अपने प्रयास जारी रखते हुए हमें इस प्रश्न का उत्तर देना ही पड़ेगा। इन समस्याओं के समाधान खोजने में विज्ञान को निर्णायक भूमिका का निर्वाह करना ही है।

खाद्य-पदार्थों को तैयार करने तथा बरबादी को रोकने के लिए हमें नए-नए तरीकों की खोज करनी पड़ेगी ताकि हम अपने पशु-धन और फसलों का और अधिक पूर्णता के साथ उपयोग कर सकें।

भविष्य में संसार की मीठे जल सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए यह भी आवश्यक होगा कि हम समुद्र के खारे जल को मीठे जल में परिवर्तित करने में अधिकाधिक निपुणता प्राप्त कर लें।

यह बड़े सौभाग्य की बात है कि हमें इस समय भी ऐसी स्वचालित नवीन विधियों का ज्ञान है, जिनकी सहायता से हम इनमें से अधिकांश समस्याओं को सुलझाने में समर्थ हो जाएँगे। यह भी सम्भव है कि मानव जाति की नस्लों में सुधार करने तथा अधिक गहन और सूक्ष्म समाज-विज्ञानों और मनोविज्ञान का विकास कर हम भविष्य में ऐसा दिवस लाने में समर्थ हो जाएँ जब मनुष्य को स्वस्थ्य रखने के लिए किसी प्रकार की औषधि की आवश्यकता न पड़े।

विज्ञान के क्रान्तिकारी प्रभाव के फलस्वरूप उल्लेखनीय सामाजिक और आर्थिक परिवर्तन हो रहे हैं। भविष्य में लोगों को जो कार्य करने पड़ेंगे, उनका रूप उन कार्यों से सर्वथा भिन्न होगा, जो अधिकांश लोगों को इस समय करने पड़ रहे हैं। मानव जाति के असीम साहस और आशावादिता का सबसे अधिक उल्लेखनीय प्रमाण यह है कि अनेक शताब्दियों से इन महान् सम्भावनाओं और विकट समस्याओं द्वारा उत्पन्न चुनौती का सामना करते हुए भी मनुष्य अपने ग्रह की सीमाओं के अन्दर चंचल हो उठा और आज वह अपने ग्रह की सीमाओं से परे समानव अन्तरिक्ष यान भेजने में समर्थ हो गया है। चन्द्रमा और अन्ततोगत्वा सौरमण्डल के अन्य ग्रहों तक पहुँचने के प्रयास को सफल बनाने के लिए हमने अपनी समस्त टैक्नौलौजी के विशाल साधन स्रोतों को संगठित कर लिया है। असीम अन्तरिक्ष की ओर हम अपनी दृष्टि जितनी ही अधिक फेरते हैं, उतना ही अधिक हम यह अनुभव करते हैं कि इस ग्रह को मानवों के लिए अधिक सुखद गृह के रूप में परिणत करने के हेतु हमें अत्यन्त धैर्यपूर्वक सतत प्रयास जारी रखना चाहिए।

(डा० सीबोर्ग के भाषण के उद्धृत)

२. रासायनिक उर्वरक की आवश्यकता

यदि भविष्य में खाद्यान्नों और खाद्य-पदार्थों की कमी से बचना है तो यह परमावश्यक है कि विश्व के खाद्य-पदार्थों के उत्पादन में उल्लेखनीय वृद्धि की जाए। इस समय विश्व की लगभग २० प्रतिशत जनता—लगभग ५० करोड़ व्यक्ति—को आवश्यक मात्रा में पौष्टिक आहार प्राप्त नहीं हो रहा है। यही नहीं, उन व्यक्तियों की संख्या तो और भी अधिक है, जिनके आहार में विटामिनों, खनिज-तत्वों और प्रोटीन-तत्वों की काफी कमी रहती है।

यह अनुमान है कि १९८० तक विश्व की जनसंख्या में ५० प्रतिशत की वृद्धि हो जायेगी और यदि आहार को इसी स्तर पर स्थिर रखना है तो यह परमावश्यक होगा कि इस अवधि में खाद्य-पदार्थों के उत्पादन में भी कम से कम ५० प्रतिशत की वृद्धि हो। फिर भी, पोषण सम्बन्धी अत्यन्त गम्भीर न्यूनता को दृष्टि में रखते हुए अपर्याप्त पोषण और अपर्याप्त भोजन के अभाव से मुक्ति प्राप्त करने के हेतु उत्पादन में इससे भी अधिक वृद्धि करने की आवश्यकता पड़ेगी।

संसार के सभी भागों में निवास करने वाले लोग और अधिक मात्रा में तथा पहले से अधिक उत्तम भोजन चाहते हैं। विकासोन्मुख देशों में लोगों की आय में जैसे-जैसे वृद्धि होती जायेगी, भोजन सम्बन्धी उनकी माँगें भी निरन्तर बढ़ती जायेंगी। और, चूँकि विश्व की जनसंख्या तथा और प्रति व्यक्ति की भोजन सम्बन्धी माँग में निरन्तर वृद्धि होते रहने की आशा है, अतएव यह परमावश्यक है कि १९८० तक हमारे खाद्य-पदार्थों के उत्पादन में ७० प्रतिशत तक की वृद्धि हो जाये। इसका अभिप्राय यह हुआ कि हमारे कृषि-उत्पादन में हर वर्ष कम से कम २·७ प्रतिशत की वृद्धि होनी चाहिए। अमेरिका जैसे उन्नत राष्ट्र में १९४०-५५ की अवधि में कृषि-उत्पादन में प्रति वर्ष केवल २ प्रतिशत की वृद्धि हुई थी। इससे यह स्पष्ट है कि वृद्धि की गति और तीव्र होनी चाहिए।

प्रश्न यह उठता है कि कृषि-उत्पादन में इतनी तीव्र वृद्धि किस प्रकार की जा सकती है? इस सम्बन्ध में सामान्य रूप से दो कदम उठाये जा सकते हैं। १—कृषि भूमि में वृद्धि और २—कृषि-उत्पादन में वृद्धि।

अनेक देशों में और अधिक भूमि को कृषि के लिए सुलभ करने के मार्ग में अनेक बाधाएँ उपस्थित हैं। वहाँ या तो इस प्रकार की भूमि का बहुत अभाव है अथवा भूमि को कृषि योग्य बनाने पर काफी अधिक धन और समय खर्च होता है। दूसरा विकल्प यह है कि कृषि-उत्पादन में ही वृद्धि की जाये; अर्थात् वर्तमान कृषि-भूमि की उत्पादन-क्षमता को ही और अधिक बढ़ाया जाये। खाद्य-पदार्थों के उत्पादन में आवश्यक वृद्धि करने के लिए यह अधिक व्यावहारिक और कम खर्चीला उपाय है।

यदि उन्नत कृषि-विधियों, उत्तम कोटि के बीजों, पर्याप्त सिंचाई और उत्तम जल-निकासी विधियों तथा

कीड़ों-मकोड़ों और रोगों से फसलों की रक्षा करने सम्बन्धी प्रभावशाली उपायों के साथ-साथ पर्याप्त परिमाण में रासायनिक उर्वरक का उपयोग किया जाए तो कृषि-उत्पादन में तीव्र गति से अत्यन्त उल्लेखनीय वृद्धि की जा सकती है।

हाल के वर्षों में विश्व की कृषि-व्यवस्था की एक अत्यन्त उल्लेखनीय विशेषता यह रही है कि रासायनिक उर्वरकों की खपत बहुत तेजी से बढ़ी है। १९५० में विश्व में रासायनिक उर्वरकों की कुल खपत १ करोड़ ३७ लाख मेट्रिक टन थी, जो बढ़ते-बढ़ते १९६० में २ करोड़ ७७ लाख मेट्रिक टन तक पहुँच गई। संसार के सभी क्षेत्रों में इन रासायनिक उर्वरकों का समान रूप से वितरण नहीं हुआ। १९६१ में खर्च हुए रासायनिक उर्वरकों का केवल १/१० भाग उन कम विकसित देशों में खपा, जहाँ संसार की समस्त कृषि योग्य भूमि का ५० प्रतिशत क्षेत्र स्थित है।

१९६०-६१ में रासायनिक उर्वरकों की प्रति एकड़ पीछे खपत जापान में २७१ पौण्ड और अमेरिका में ३४ पौण्ड थी। लेकिन, ब्राजील, भारत और नाइजीरिया में यह प्रति एकड़ पीछे क्रमशः केवल १२.४, २.० और ०.१४ प्रतिशत ही थी। इन आंकड़ों से यह भली भाँति प्रकट है कि विकासोन्मुख देशों में रासायनिक उर्वरक कितनी न्यून मात्रा में प्रयुक्त किए जा रहे हैं। साथ ही इनसे इस बात का आभास भी मिलता है कि इन क्षेत्रों में रासायनिक उर्वरकों के प्रयोग के लिए कितनी अधिक गुंजाइश है।

अतीत की तरह भविष्य में संसार के विभिन्न देशों में इस्तेमाल होने वाले रासायनिक उर्वरकों का परिमाण भिन्न होगा। हम सुविधा की दृष्टि से रासायनिक उर्वरकों का विभिन्न परिमाण में इस्तेमाल करने वाले क्षेत्रों को तीन श्रेणियों में विभाजित कर सकते हैं :

१—अधिक विकसित देश—इस श्रेणी में अमेरिका, कनाडा, पश्चिमी यूरोप, जापान और ओसिनिया आते हैं; २—पूर्वी यूरोपीय देश और सोवियत रूस; ३—विकासोन्मुख देश।

विकसित देश टैक्निकल दृष्टि से कृषि के क्षेत्र में काफी आगे बढ़ चुके हैं; पूर्वी यूरोप के देश और सोवियत रूस इतना आगे नहीं हैं तथा विकासोन्मुख देशों ने अपनी कृषि-प्रणालियों में आधुनिक टैक्नॉलॉजी का उपयोग करने का कार्य अभी-अभी प्रारम्भ ही किया है।

१९५०-६० की अवधि में विकसित देशों ने अपने कृषि-उत्पादन में प्रति वर्ष २ से लेकर २.५ प्रतिशत तक की वृद्धि की है। इसका अभिप्राय है प्रतिवर्ष प्रति-व्यक्ति उत्पादन में १ से लेकर १.५ प्रतिशत तक की वृद्धि। कृषि-उत्पादन में हुई इस वृद्धि के फलस्वरूप पश्चिमी यूरोप और जापान के आहार और जीवन-स्तरों में पर्याप्त सुधार हुआ तथा उत्तरी अमेरिका कृषि प्रचुरता की दिशा में अग्रसर हुआ।

अधिकांश विकसित देशों में लोगों को जितना उत्तम कोटि का पोषक आहार सुलभ है तथा वहाँ की जनसंख्या की वृद्धि की गति जितनी धीमी है, उसे दृष्टि में रखते हुए यह आशा की जाती है कि अगले २० वर्षों की अवधि में प्रति वर्ष रासायनिक उर्वरक की खपत में केवल ३ प्रतिशत तक की वृद्धि होगी। उत्तरी अमेरिका और ओसीनिया में, जहाँ रासायनिक उर्वरक अभी सामान्य मात्रा में ही इस्तेमाल किए जा रहे हैं, खपत का प्रतिशत कुछ अधिक ऊँचा हो सकता है। इसी प्रकार, पश्चिमी यूरोप और जापान में, जहाँ रासायनिक उर्वरक पहले से ही बहुत अधिक मात्रा में प्रयुक्त हो रहे हैं, खपत का प्रतिशत ३ प्रतिशत से कुछ कम हो सकता है।

यदि रासायनिक उर्वरकों की खपत में प्रति वर्ष ३ प्रतिशत की वृद्धि होती रहे तो १९७० में २ करोड़ ६९ लाख टन तथा १९८० में ३ करोड़ ६१ लाख टन रासायनिक उर्वरकों की खपत होगी जबकि उसकी तुलना में १९६० में रासायनिक उर्वरकों की कुल खपत केवल २ करोड़ टन थी।

अधिकांश विकासोन्मुख देशों के समक्ष यह समस्या उपस्थित है कि उनके कृषि-उत्पादन में इतनी तीव्र गति से प्रगति नहीं हो रही कि बढ़ती हुई जनसंख्या की आवश्यकताओं की पूर्ति की जा सके। वस्तुतः अनेक विकासोन्मुख राष्ट्रों को अपने नागरिकों के आहार के

वर्तमान निम्न पोषण-स्तर को बनाए रखने के लिए भी अधिक परिमाण में विदेशों से खाद्य-पदार्थों का आयात करने के लिए विवश होना पड़ा है। अतएव, इन देशों के लिए यह अत्यन्त आवश्यक और अनिवार्य हो गया है कि वे अपने कृषि-उत्पादन में तीव्र गति से वृद्धि करें और यदि उन्हें भोजन सप्लाई के मामले में आत्म-निर्भर बनना है तो उन्हें पर्याप्त मात्रा में रासायनिक उर्वरकों का अवश्य ही उपयोग करना चाहिए।

१९५० में विकासोन्मुख देशों में रासायनिक उर्वरकों की कुल खपत ९ लाख टन थी, लेकिन १९६० तक यह खपत बढ़ कर २७ लाख टन तक पहुँच गई थी। १९६० में विकासोन्मुख देशों द्वारा अपनी कृषि योग्य भूमि में रासायनिक उर्वरकों की जिस मात्रा का उपयोग किया जाता था उससे प्रति एकड़ भूमि के हिस्से में लगभग ३ पौण्ड उर्वरक पड़ता था जबकि पूर्वी यूरोप के देशों और सोवियत रूस में प्रति एकड़ भूमि के हिस्से में १४ पौण्ड तथा विकसित देशों में प्रति एकड़ भूमि के हिस्से में ४५ पौण्ड उर्वरक पड़ता था।

कई ऐसी कठिनाइयाँ उपस्थित हैं जिनके कारण रासायनिक उर्वरकों के उपयोग में बहुत अधिक तेजी से वृद्धि नहीं की जा सकती। यद्यपि अनेक देश अब भी इन बाधाओं और कठिनाइयों से घिरे हैं, फिर भी इन पर विजय प्राप्त करने की दिशा में काफी प्रगति की जा चुकी है। हाल के वर्षों में अधिक प्रभावशाली विकास-कार्यक्रमों ने कृषि सुधार कार्यों, अनुसंधान प्रयासों और कम ऋण पर कर्ज देने सम्बन्धी सुविधाओं का विस्तार करने पर विशेष ध्यान केन्द्रित किया है। भूमि-सुधार नीतियाँ भी क्रियान्वित की जा रही हैं। विविध उपायों द्वारा किसानों को कृषि-उत्पादन की आधुनिकतम विधियों से परिचित कराया जाता है और इसके साथ ही उन्हें ऐसा आर्थिक प्रोत्साहन भी प्रदान किया जा रहा है जिससे वे रासायनिक उर्वरकों तथा अन्य आधुनिक विधियों का अधिकाधिक उपयोग करें।

जहाँ स्थानीय सरकारें अपनी विकास-योजनाओं में कृषि-कार्यों को प्राथमिकता प्रदान कर रही हैं, रासायनिक उर्वरकों के आयात तथा रासायनिक उर्वरक उद्योग के विकास के लिए अधिक धनराशि व्यय की जा रही है। यही नहीं, अधिक विकसित देशों के रासायनिक उर्वरक उद्योगों को अपने यहाँ पूंजी लगाने के लिए आकर्षित करने के उद्देश्य से वहाँ अधिक अनुकूल परिस्थितियों का निर्माण किया जा रहा है।

इन सब बातों को दृष्टि में रखते हुए यह कहा जा सकता है कि अगले २० वर्षों में विकासोन्मुख देशों में रासायनिक उर्वरकों की खपत में अत्यन्त तेजी से वृद्धि होगी। अनुमान है कि १९६०-८० की अवधि में प्रति वर्ष औसतन १५ प्रतिशत तक की वृद्धि होगी। इसका अभिप्राय यह हुआ कि उनमें रासायनिक उर्वरक की खपत २७ लाख टन प्रति वर्ष (१९६० में) से बढ़ कर १ करोड़ ९ लाख टन (१९७० में प्रति वर्ष तक पहुँच जायेगी। यदि इससे अगले दशक में प्रति वर्ष खपत में १० प्रतिशत की भी वृद्धि होती रहे तो १९८० तक रासायनिक उर्वरकों की कुल वार्षिक खपत २ करोड़ ८० लाख टन तक पहुँच जायेगी। रासायनिक उर्वरकों के उत्पादन और खपत में इतनी अधिक वृद्धि करना इस समय एक अत्यन्त कठिन कार्य प्रतीत होता है। लेकिन, इसे पूर्ण करना आवश्यक भी है और सम्भव भी है।

३. रङ्गभेद का रहस्य

१८०२ में भौतिक विज्ञानवेत्ता टामस यंग ने यह विचार प्रस्तुत किया था कि मनुष्य की दृष्टि रंगों का भेद करने में इसलिए समर्थ है क्योंकि नेत्र की कनीनिका कोनों (शंकुओं) में तीन ऐसे रंजक (पिगमेंट) हैं, जो विभिन्न रंगों को शोषित कर उनकी अनुभूति नाड़ी-मण्डल तक पहुँचा देते हैं। इसके बाद यह मान्यता प्रतिपादित की गई कि एक कनीनिका-कोन (शंकु में तीन में से कोई एक पिगमेण्ट विद्यमान होता है। १०० वर्षों से भी अधिक समय तक परीक्षण करते रहने के उपरान्त भी इस मान्यता को प्रमाणित नहीं किया जा सका, यद्यपि अब भी यह सबसे अधिक प्रचलित मान्यता है।

लेकिन, अब १६२ वर्षों के उपरान्त जोन होपकिन्स विश्वविद्यालय में शोध-कार्य करने वाले भौतिक शास्त्रियों

की एक टोली ने स्वनिर्मित अत्यन्त संवेदनशील विद्युदणु उपकरणों की सहायता से मानव नेत्र की कनीनिका में तीन भिन्न प्रकार के संवेदनशील कोनों (शंकुओं) की विद्यमानता को सिद्ध कर दिया है। इस प्रकार, उनके उक्त परीक्षण द्वारा टामस यंग के सिद्धान्त की प्रामाणिकता पूरी तरह सिद्ध हो गई है।

डा० विलियम मार्क्स तथा ग्राजुएट-छात्र विलियम डोबेली ने जॉन हॉपकिन्स विश्वविद्यालय में बायोफिजिक्स विषय के प्रोफेसर डा० एडवर्ड एफ० मैकनिकोल, जूनियर के साथ मिल कर शोध-कार्य करते हुए मानव नेत्र में एक 'ब्लू-रिसेप्टर' (रंग का भेद करने वाला तन्तु-तत्व) की विद्यमानता का पहली बार पता लगाया है। इसके पूर्व, इस सम्बन्ध में अनुसन्धान-कार्य करने वाले वैज्ञानिकों को प्रकाश-किरणों के प्रति संवेदनशील दो पिगमेण्टों का ही पता चल सका था। वह यह भी नहीं मालूम कर पाये थे कि कोनों में इन पिगमेण्टों की व्यवस्था किस प्रकार की गई है।

नेत्र का वह भाग, जो प्रकाश के प्रति संवेदनशील है, नेत्र-कनीनिका की वह परत है जिसमें तन्तुओं और शंकुओं का जाल तना हुआ है। मानव-नेत्र में लाखों कोनों और करोड़ों तन्तुओं का जाल फैला है। यह विश्वास किया जाता है कि रंग-भेद करने योग्य प्रकाश में केवल कोन (शंकु) ही सक्रिय रहते हैं।

जोन होपकिन्स विश्वविद्यालय में अनुसन्धान करने वाले इन वैज्ञानिकों ने 'माइक्रोस्पेक्ट्रोफोटोमीटर' का उपयोग कर सर्वप्रथम प्रकाश की एक किरण कनीनिका के उस कोन (शंकु) से गुजारी जिसका व्यास एक इंच के २|२५ हजारवें भाग के बराबर है। उक्त माइक्रोस्पेक्ट्रोफोटोमीटर का निर्माण भी उक्त विश्वविद्यालय के डा० मेकनिकोल और मार्क्स ने मिल कर किया था। इसके उपरान्त अन्य कई शंकुओं से किरणों को गुजार कर उक्त यन्त्र की सहायता से उनकी दृश्य ध्वनि में होने वाले परिवर्तनों का अध्ययन किया गया। इस निरीक्षण के फलस्वरूप तीन भिन्न प्रकार के पिगमेण्टों के अस्तित्व का पता चला। लाल रंग और हरे रंग के प्रति संवेदनशील पिगमेण्ट तो पहले ही पहचाने जा चुके थे। इस बार के निरीक्षण में नीले रंग के उस संवेदनशील पिगमेण्ट का भी पता चल गया जो अब तक वैज्ञानिकों की पकड़ में नहीं आ रहा था। संक्षेप में, उक्त अनुसन्धान से प्राप्त परिणाम ने डा० यंग की मान्यता को सही सिद्ध कर दिया।

इसी प्रकार का अनुसन्धान-कार्य हारवर्ड विश्वविद्यालय में थी पाल के० ब्राउन ने प्रोफेसर जाफे वाल्ड की देखरेख में किया। अलग-अलग परन्तु एक ही समय अनुसन्धान करते हुए दोनों एक ही निष्कर्ष पर पहुँचे।

डा० मेकनिकोल का कहना है कि यद्यपि स्पेक्ट्रोफोटोमीटर प्रकाश की तीव्रता को मापने के लिए प्रयोगशालाओं में सामान्यतः प्रयुक्त होता रहा है फिर भी विद्युदणु-विज्ञान में हाल के वर्षों में हुई उल्लेखनीय प्रगति के फलस्वरूप ही उक्त यन्त्र को इतना अधिक संवेदनशील बनाया जा सका कि कनीनिका के शंकु जैसी अत्यन्त सूक्ष्म वस्तु के निरीक्षण के लिए उसका उपयोग किया जा सका। डा० मेकनिकोल ने बताया है कि अभी तक नीले रंग के प्रति संवेदनशील पिगमेण्ट का पता न चलने का एक प्रमुख कारण यह था कि किसी के पास इतना शक्तिशाली और संवेदनशील यन्त्र न था कि कनीनिका के अलग-अलग शंकुओं का निरीक्षण कर सकता।

डा० मेकनिकोल ने यह भी कहा है कि 'रिसेप्टर' प्रकार के शंकुओं की ठीक-ठीक संख्या का पता लगाने तथा और अधिक सही 'स्पेक्ट्रा' प्राप्त करने के लिए इस प्रकार के और अधिक प्रयोग करने और उनके परिणामों को रिकार्ड करने की आवश्यकता है। अभी तक जो आंकड़े सुलभ हुए हैं, उनसे इस सम्भावना का भी संकेत मिलता है कि बहुत सम्भव है कि लाल रंग के प्रति संवेदनशील रिसेप्टरों में लाल और हरे रंग के पिगमेण्ट एक ही कोन में एक साथ उपस्थित हों। इस प्रश्न का उत्तर प्राप्त करने के लिए और अधिक परीक्षणों की आवश्यकता है।

डा० मेक निकोलस के अनुसन्धान का सम्बन्ध सामान्यतः नाड़ी-मण्डल की क्रिया से रहा है। वह यह

ज्ञात करने का प्रयास कर रहे हैं कि रंग भेद सम्बन्धी सूचना किस रूप में परिवर्तित होकर दृष्टि-तन्तुओं के माध्यम से नाड़ी-मण्डल में पहुँचती है और जब कनीनिका पर प्रकाश की किरणें पड़ती हैं तो एक विशिष्ट ज्ञान-तन्तु पर ही उसकी प्रतिक्रिया किस प्रकार होती है। रंग-भेद सम्बन्धी सिद्धान्त की पुष्टि से इन शंकाओं का समाधान खोजने की दिशा में वह एक कदम और आगे बढ़ गये हैं।

इसके अतिरिक्त, यह आशा की जाती है कि एक अकेले कोन (शंकु) में उपस्थित पिगमेण्टों की माप करने वाली विधि दृष्टि की दोषपूर्ण रंग-भेद क्षमता अथवा रंग-भेद न कर सकने सम्बन्धी दृष्टि की असमर्थता के कारणों का पता लगाने में भी सहायक सिद्ध होगी। इस प्रकार दृष्टि-दोषों और नेत्र-रोगों का अध्ययन करने में नेत्र विशेषज्ञों को उल्लेखनीय सहायता प्राप्त होगी।

डा० मार्क्स, इसके पूर्व गोल्डफिश पर दृष्टि की रंग-भेद क्षमता सम्बन्धी अनेक परीक्षण कर चुके हैं। गोल्डफिश के नेत्र की कनीनिका के शंकु अपेक्षाकृत आकार में बड़े होते हैं जिससे उनका अधिक आसानी से निरीक्षण किया जा सकता है। उन्होंने तथा उनकी पत्नी ने मिलकर एक नई अनुसन्धान-योजना पर कार्य करना प्रारम्भ किया है। इस अनुसन्धान-योजना के अन्तर्गत वे बहुत से 'ऑप्टिक नर्व-फाइबरों' पर प्रयोग कर यह ज्ञात करने का प्रयास करेंगे कि नेत्रों को दृष्टिगोचर होने वाले बाह्य जगत के दृश्यों के पूर्ण चित्र नाड़ी-मण्डल को प्रसारित करने के लिए 'ऑप्टिक नर्व-फाइबरों की बहुसंख्यक यूनिटें किस प्रकार मिलकर कार्य करती हैं।

——— ———

विज्ञान वार्ता

१. पिक्चरफोन

अमेरिका में एक ऐसी टैलिफोन-सेवा का परीक्षण हो रहा है जिसमें टैलिफोन पर बातचीत करने वाले एक-दूसरे को देख भी सकते हैं।

इसके लिए प्रयुक्त उपकरण को 'चित्र-फोन, (पिक्चरफोन) कहते हैं। इसमें टैलिफोन के अतिरिक्त, एक ऐसा यन्त्र भी लगा होता है, जो एक छोटे टैलिविजन से मिलता-जुलता है। उसमें एक कैमरा और एक पर्दा होता है। कैमरा बात करने वाले व्यक्ति का चित्र तत्काल खींच लेता है, जिसे बात सुनने वाले छोर के पर्दे पर प्रक्षिप्त किया जाता है।

यह उपकरण फैला हुआ नहीं होता और उससे एक औसत आकार की मेज का बहुत ही थोड़ा भाग घिरता है।

पहली बार २० अप्रैल, १९६४ को दूरवर्ती वार्ता के लिए चित्र-फोन का सार्वजनिक प्रदर्शन हुआ।

तब से अब तक ८ चित्र-फोन विश्व मेले में और ३ चित्र-फोन डिजनीलैण्ड में लगाये जा चुके हैं। ये सभी फोन एक दूसरे से सम्बद्ध हो सकते हैं।

प्रत्येक चित्र-फोन में तीन मुख्य भाग होते हैं : चित्र-नलिका वाला भाग, जिसमें पर्दा और कैमरा होते हैं; नियन्त्रण वाला भाग; और बिजली की पूर्ति करने वाला भाग।

बिजली संचित करने वाला हिस्सा इतना छोटा होता है कि उसे मेज के नीचे या किसी अन्य छिपे स्थान पर आसानी से बाँधा जा सकता है।

नियन्त्रण वाले हिस्से को मेज पर इस तरह रखा जाता है कि बात करने वाले का हाथ वहाँ तक उसी तरह आसानी से पहुँच सके, जिस तरह साधारण टैलिफोन पर। इस हिस्से में बात करने और सुनने के लिए प्रयुक्त परम्परागत टैलिफोन सेट शामिल होता है। इसमें स्पीकर-फोन भी लगा होता है, जिस पर हाथ का प्रयोग किये बगैर ही एक माइक्रोफोन-लाउडस्पीकर यन्त्र द्वारा बात कर या सुन सकते हैं। बात करने वाला इच्छानुसार दोनों में से किसी भी उपकरण का प्रयोग कर सकता है।

नियन्त्रण वाले हिस्से पर डायल करने की क्रिया परम्परागत विधि के बजाय बटन दबा कर 'टच-टोन' विधि से होती है। बटन दबा कर डायल करने की क्रिया अधिक आसान होती है और उसमें समय कम लगता है।

चित्र-नलिका वाले हिस्से का रूप अंडे जैसा होता है। यह हिस्सा बात करने वाले के चेहरे से लगभग ३ फुट दूर होता है। इतनी दूर होने पर, उसका पूरा चेहरा सुनने वाले छोर के पर्दे पर प्रकट हो सकेगा और वह भी आसानी से सुनने वाले व्यक्ति का चित्र देख सकेगा।

नियन्त्रण वाले हिस्से पर लगी हुई एक कुंजी द्वारा बात करने वाला व्यक्ति पर्दे पर अपना चित्र भी देख सकता है। यदि उसके बाद, वह यह चाहे कि उसका चित्र दूसरी ओर दिखलाई न पड़े तो वह चित्र-सम्प्रेषण को बन्द कर सकता है। ऐसा करने पर वह उपकरण साधारण टैलिफोन का काम देता है।

अभी यह कहना सम्भव नहीं कि आगे चल कर चित्र-फोन का प्रयोग कितना और किस कार्य के लिए होगा। किन्तु यह कहना अनुचित नहीं कि यह भी टैलिफोन और टेलिविजन की तरह ही आधुनिक जीवन का अंग बन जायेगा। दूर से किसी सम्बन्धी, मित्र या व्यवसायी से बातचीत करते समय उसे देखना सबों की आकांक्षा है।

२. विश्वव्यापी प्रतिरक्षा-संचार भू उपग्रह प्रणाली का आयोजन

"संकट के समय अत्यावश्यक सैन्य सन्देश" संचारित करने के लिए अमेरिका प्रतिरक्षा-संचार भू-उपग्रहों की एक स्वतन्त्र विश्व-व्यापी प्रणाली स्थापित करने का आयोजन कर रहा है। प्रेसिडेण्ट जौन्सन ने टैक्सास स्थित अपने विश्रामालय पर आयोजित एक प्रेस सम्मेलन में इस प्रणाली सम्बन्धी योजनाओं की घोषणा की। वाशिंगटन में प्रतिरक्षा विभाग में इन योजनाओं का विवरण प्रकाशित किया।

इन योजनाओं के अन्तर्गत, 'टाइटन ३-सी' नामक ३ प्रक्षेपक राकेटों द्वारा २४ भू-उपग्रह पृथ्वी से बहुत ऊंचाई पर अन्तरिक्ष में लगभग विषुवतीय कक्षाओं में स्थापित होंगे और भूमण्डल भर में स्थित अनेक महत्वपूर्ण सैनिक अड्डों के बीच दुतरफा ध्वनि-चक्रों की एक अन्तरिम प्रणाली का निर्माण करेंगे। प्रतिरक्षा विभाग ने कहा कि यह प्रणाली ध्वनि-प्रसारण को अवरुद्ध करने और वास्तविक आघात पहुँचाने के लिए किये गये प्रयासों को निष्क्रिय करने में अत्यधिक प्रभावकारी सिद्ध होगी।

आशा है कि इस शृंखला के अन्तर्गत प्रथम प्रक्षेपण १९६६ के प्रारम्भ में होगा। अनुमान लगाया गया है कि इस प्रणाली के लिए भू-उपग्रहों की व्यवस्था पर लगभग २ करोड़ डालर व्यय होंगे। प्रतिरक्षा विभाग ने कहा कि लगभग ३ वर्ष के दौरान इस अन्तरिम प्रणाली को एक "विकसित प्रणाली" द्वारा प्रतिस्थापित कर दिया जायेगा। विकसित प्रणाली एक "दीर्घजीवी और कम खर्चीली अन्तरिक्षीय प्रणाली होगी, जो एक साथ ही बहुत बड़ी संख्या में विभिन्न भूतलीय सैन्य-चौकियों को उपलब्ध होगी।"

३. दुर्घटनाग्रस्त विमानों के यात्रियों की रक्षा

प्लास्टिक के गुब्बारों के गद्दी जैसे प्रभाव के फलस्वरूप भविष्य के विमान-यात्री सम्भवतः विमान के भूमि पर उतरते समय लगने वाले जोरदार धक्के से अथवा विमान के टकराने पर लगने वाली चोट से सुरक्षित रहेंगे। ये गुब्बारे अत्यंत शीघ्रता के साथ फूल उठेंगे और यात्रियों को, धक्के के कारण समाने की सीट के पिछले भाग से टकराने के बजाय, उनकी सीटों पर ही जकड़े रखेंगे। इस विधि को 'एयर स्टाप' कहते हैं। यह विधि अमेरिका में राष्ट्रीय उड्डयन एवं अंतरिक्ष प्रशासन (नैसा) के लिए हो रहे अनुसंधानों के दौरान विकसित हुई है। इस विधि का परीक्षण कृत्रिम विमान दुर्घटना में मनुष्य के आकार वाले पुतलों पर किया गया है। इन परीक्षणों में प्रयुक्त गुब्बारे रबर और पारदर्शी प्लास्टिक से निर्मित होते हैं। वर्तमान कल्पना के अनुसार, इन थैलों को पिचकी हुई हालत में ही सुरक्षित रखा जायगा। इन्हें पिचका कर और मोड़ कर प्रत्येक सीट के नीचे और पीछे सुरक्षित रखा जायगा। यदि उतरते समय जमीन के साथ विमान के जोर से टकराने की सम्भावना होगी, तो विमान-चालक अपने नियंत्रण-पट पर लगी स्विच को दबा कर थैले को फुला देगा।

ये थैले दो भागों में फूलते हैं। एक भाग पैरों और घुटनों की रक्षा करता है, जबकि दूसरा भाग यात्री की टांगों, गोदी और छाती को बचाता है। जब विमान के धक्के से सिर, शरीर के ऊपरी भाग के साथ उछल कर थैले पर आ जाता है, तो सुरक्षित हो जाता है। थैले के कारण यात्री सीट से आगे की ओर लुढ़कने नहीं पाता और अकस्मात् लगने वाले धक्के को पचा लेता है।

४. एबू सिम्पेल मन्दिरों की रक्षा

एबू सिम्पेल मंदिरों को नील के पानी में डूबने से बचाने के लिए निश्चित योजनाएँ घोषित की गयी हैं। वास्तव में, नूबियन रेगिस्तान में यह काम पहले ही प्रारम्भ हो चुका है। नील नदी के पानी की दिशा बदलने वाले असुआन बांध का काम ज्यों ही समाप्त हो गया था, उसी समय इस्सेन की होचतिफऐजी पश्चिम जर्मन कम्पनी ने यूरोप की कई बड़ी कम्पनियों के साथ मिल कर यह काम प्रारम्भ कर दिया था।

दुनिया भर के अखबारों में प्रकाशित कई समाचारों द्वारा और मिस्र तथा सूडान की सरकारों द्वारा की गयी अपीलों से सबका ध्यान इस बात की ओर आकृष्ट हो गया है कि नये असुआन जलभंडार के बन जाने की आशंका है। कला और प्राचीन काल की दृष्टि से इस

प्रकार के २५ मंदिर बहुमूल्य हैं। इसके साथ ही, इनके बचाने का सवाल भी बड़ा कठिन है क्योंकि पानी से घिसे पत्थरों से बनने के बजाय ये मंदिर चट्टान में से काट कर बनाये गये हैं।

इनके बचाने के लिए चार विभिन्न योजनाएँ अन्तिम रूप से विचार के लिए आयी हैं। इनमें से जिसने सबसे अधिक लोगों का ध्यान आकर्षित किया है, वह है जिसमें बादशाह और बेगम नेफरतारी का मंदिर पानी के नलकों द्वारा छः मीटर ऊपर ले जाया जाए और वहाँ कंक्रीट के खम्भों पर खड़ा कर दिया जाए। इस योजना में खर्च होने वाली भारी रकम के कारण इसे छोड़ दिया गया है। दूसरी योजना के अनुसार, इन मंदिरों को पानी से बचाने के लिए बांधों का निर्माण किया जाएगा। चूंकि इस योजना के अनुसार, यह पवित्र स्थान ६० मीटर कन्दरा में छिप जाएगा अतः इस योजना का भी परित्याग कर दिया गया। होचतिफ ऐजी, इस्सेन ने जो प्रस्ताव रखा है और जिसे अब मान लिया गया है, वह उस अनुभव पर आधारित है जो इस कम्पनी ने पिछले दो साल में प्राप्त किया है जिसके अनुसार नूबिया के सबसे बड़े मंदिर कालाबशा को बताया गया है। होचतिफ चाहता है कि मंदिरों की चारों ओर की चट्टान से अलग कर लिया जाए, पानी से घिसे चिकने पत्थर तक काट लिये जाएँ, समीप ही मोटी ऊँची चौरस भूमि पर ले जाये जाएँ और वहाँ उन्हें फिर जोड़ दिया जाए।
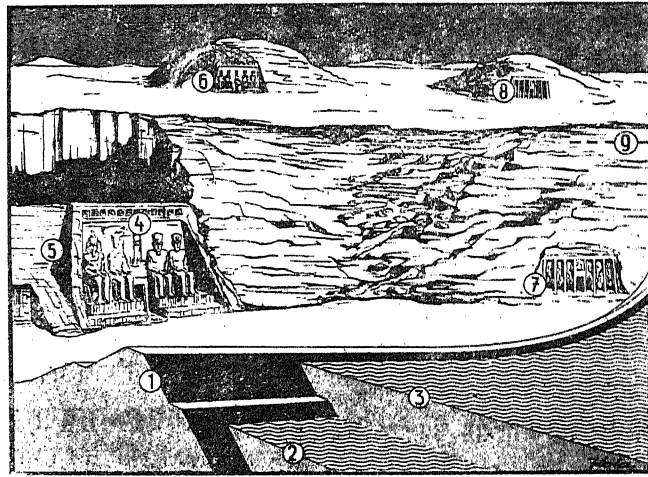
६ सालों में पूरा होने वाला यह काम तीन हिस्सों में बांटा गया है। पहले, एक बांध बनाया जाएगा जिससे इस जगह की रक्षा पानी से हो सके। इसके साथ ही मंदिरों के ऊपर की जमीन को इस हद तक बराबर कर दिया जाएगा जिससे छल्लों और दीवारों की मोटाई ८० मीटर रह जाएगी। बाहर के हिस्से खाली कर दिये जाएँगे। इसके बाद पानी के धीरे-धीरे १३ मीटर चढ़ जाने से दूसरी स्थिति शुरू होगी। इसके अनुसार मन्दिरों के बाहर के हिस्सों, छतों और दीवारों को करीब २५ टन फी पत्थर के टुकड़ों में काटा जाएगा। इसमें २२ मीटर रामसेंस और बड़े मन्दिर का ११०० टन वजन का हिस्सा शामिल होगा। बांध के ऊपर बनायी गयी मुख्य सड़क द्वारा खम्भों को ऊपर उठाया जाएगा जो नीचे के सार से अन्त में ६२ मीटर तक ऊपर हो जाएँगे, तब मन्दिरों को फिर जोड़ा जाएगा और उनकी छतों को फिर मिट्टी से भर दिया जाएगा। इसके बाद मन्दिरों की सूरत वैसी ही हो जाएगी जैसी पहले थी वे नील के किनारे रहेंगे और उस चौरस जमीन की सतह से २ मीटर नीचे नदी का पानी होगा।

इस प्रकार एबु सिम्बेल मन्दिरों के इस नये स्थान पर सुरक्षित हो जाने से उदय होने वाले सूर्य की किरणों फिर रामसेंस मन्दिर की ६० मीटर की गहराई तक जा सकेगी।

सम्पादक के नाम पत्र

इस नवीन स्तम्भ में पाठकों द्वारा भेजे गये पत्रों को संक्षिप्त रूप में प्रकाशित किया जावेगा।

—सम्पादक

लेखों की चोरी

महोदय,

मैं विज्ञान का पुराना पाठक हूँ। कुछ वर्षों से दिल्ली से निकलने वाली पत्रिका "विज्ञान प्रगति" का भी ग्राहक बन गया हूँ। मैंने मई १९६४ के अंक में इस पत्रिका में डा० सत्यनारायण प्रसाद द्वारा लिखित लेख "इंजीनियरी में कुशल जन्तु बीवर" नामक लेख पढ़ा। मुझे तुरन्त स्मरण हो आया कि 'विज्ञान' में भी इसके पूर्व एक ऐसा ही लेख छपा था। पूरी फाइलें पलट गया तो मुझे विज्ञान के मार्च १९५९ अंक में हूबहू यही लेख छपा मिला। किन्तु उसके लेखक दूसरे थे—नाम था चैतन्य कश्यप। उस पर सम्पादकीय टिप्पणी भी है। खोज करने पर पता चला कि उस समय विज्ञान के सम्पादक डा० सत्यनारायण प्रसाद थे।

तो क्या चैतन्य कश्यप के लेख की चोरी की गई या ये कश्यप जी डा० सत्यनारायण प्रसाद ही हैं? यदि यह छद्मनाम हो तो लिखें अन्यथा आप यह बतावें कि विज्ञान के क्षेत्र में यह चोरी नहीं तो और क्या है? चाहें तो आप 'विज्ञान प्रगति' के सम्पादक को इस सम्बन्ध में सूचित कर दें।

एक लेख का विभिन्न नामों से ५ वर्ष बाद फिर से छपना कितना बड़ा साहित्यिक अपराध है!

यही नहीं, एक दूसरी चोरी और दर्शा दूँ!

'विज्ञान प्रगति' के इसी अंक में महाबीर सिंह मुडिया का एक लेख छपा है—प्लाज्मा, पदार्थ की चौथी अवस्था। यह लेख इससे पूर्व 'विज्ञान' के अक्टूबर १९६३ अंक में प्रकाशित हो चुका है।

क्या सरकारी पत्रिकाओं में ऐसी ही बासी-तिवासी चीजें छपेंगी?

कृपया मुझे उत्तर देकर अनुगृहीत करें।

— एक पाठक

उत्तर—

प्रिय महोदय,

आपने हमारी पत्रिका में छपे लेखों को अन्यत्र प्रकाशित होने की जो सूचना दी उसके लिए हम आपके आभारी हैं। हमने स्वयं सितम्बर अंक में "विज्ञान प्रगति" के सम्पादक का ध्यान इस ओर आकर्षित किया है।

हमारी समझ में तो इसके लिए लेखक स्वयं उत्तरदायी है और दोषी भी। सम्पादकों को इसका पता कहाँ से चल पाता है कि कौन सा लेख पहले छप चुका है। किन्तु यदि इसी प्रकार से यह "तस्कर-व्यापार" चलता रहा तो लेखकों से यह प्रमाण-पत्र मांगा जावेगा कि लेख मौलिक है और अन्यत्र नहीं छपा"। यदि छपने के बाद पता चल जाता है कि लेख पहले छप चुका था तो लेखक को पारिश्रमिक से वंचित किया जा सकता है? इससे अधिक दण्ड हो ही क्या सकता है!

सम्पादक
"विज्ञान"

सम्पादकीय

वैज्ञानिक शोधें और उनका भविष्य

चतुर्थ पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत वैज्ञानिक शोधों पर होने वाले व्यय का जो पूर्वअनुमान लगाया गया है वह ११२९ करोड़ होगा। इसमें यह मान लिया गया है कि राष्ट्रीय आय का एक प्रतिशत वैज्ञानिक शोधों के लिये सुरक्षित कर दिया जावेगा। ये शोधें राष्ट्रीय प्रयोगशालाओं, सुरक्षा विभाग तथा विभिन्न विश्वविद्यालयों द्वारा सम्पादित होंगी।

यदि उपर्युक्त व्यय को अन्य राष्ट्रों द्वारा शोधों के लिये निर्धारित व्ययों की तुलना में देखा जाय तो तुरन्त पता चल जावेगा कि यह कोई ऐसी अनोखी बात नहीं है जिस पर वैज्ञानिक गर्व करें या जनता यह आवाज उठावे कि अधिक खर्च हो रहा है।

यदि १९६१-६२ में शोधों पर हुये व्यय पर दृष्टिपात किया जाय तो पता चलेगा कि हमारे देश में राष्ट्रीय आय का केवल ०·३२% ही व्यय हुआ जबकि उसी काल में रूस में राष्ट्रीय आय का ३%, अमरीका में २·९%, यू० के० में २·७% तथा स्वीडन में १·७% व्यय हुआ। अतः स्पष्ट है कि अत्यधिक उन्नत राष्ट्रों में वैज्ञानिक शोधों पर अपेक्षतया अधिक व्यय किया जाता है। विज्ञान के क्षेत्र में आगे बढ़ने के लिये आवश्यक है कि अधिकाधिक आय वैज्ञानिक शोधों में व्यय हो। यदि कोई राष्ट्र यह चाहे कि इस दिशा में कटौती करके वैज्ञानिक प्रगति कर सके, तो यह दुराशा-मात्र होगी। हमारे दिवंगत प्रधान मंत्री सदैव इस पर बल देते रहे कि भारत में वैज्ञानिक विकास की नींव पड़े। उन्हें इस दिशा में जो सफलता मिली है उसी के परिणामस्वरूप आज अनेक राष्ट्रीय प्रयोगशालायें विद्यमान हैं। अब आवश्यकता यह है कि इन प्रयोगशालाओं का उचित उपयोग हो। उनमें ऐसी शोधें हों जो राष्ट्र के विभिन्न अंगों की पूर्ति कर सकें।

वैज्ञानिक शोधों के क्षेत्र में विश्वविद्यालयों का प्रचुर योग रहा है। वे सदैव ही मूलभूत शोधों के केन्द्र रहे हैं। यह कहना अनुचित न होगा कि सरकार को इनका पूरा-पूरा ध्यान रखना चाहिए। अध्ययन एवं अध्यापन के अतिरिक्त विश्वविद्यालयों का सबसे महत्वपूर्ण योग है वैज्ञानिक शोध। आज न जाने भारत के कितने विश्वविद्यालय शोध के केन्द्र-बिन्दु बन चुके हैं। उनके प्रति सरकार को ध्यान रखना होगा अन्यथा वैज्ञानिक प्रगति में बाधा आ जावेगी।

क्या हम यह आशा करें कि राष्ट्रीय प्रयोगशालाओं की न्यूनतम उपलब्धियों से क्षुब्ध होकर हमारी सरकार विश्वविद्यालयों पर अपना क्रोध शमन नहीं करेगी वरन् उदार एवं सूक्ष्म दृष्टि का परिचय देते हुये वाञ्छित धनराशि प्रदान करके अपने कार्य को सुगम बनावेगी।

विज्ञान

नवम्बर १९६४
भाग १०१

विषय-सूची

आस्तिकता २९
सूर्यकलंक—५ ... ... ३५
तैलंग पुरस्कार प्रतियोगिता—१ ... ... ४०
पेनीसिलीन बनाम संक्रामक रोग ४२
हाथ मिलाइये ४५
जन्मदिवस पर स्मरण ४७
वैज्ञानिक संस्थाएँ—२ ... ... ४९
सार संकलन ५१
विज्ञानवार्ता ५४
सम्पादक के नाम पत्र ५७
पुस्तक समीक्षा ५८
सम्पादकीय ६०

विज्ञान परिषद्, प्रयाग

प्रति अंक ४० पैसे
वार्षिक ४ रुपये

सम्पादक- डा० शिवगोपाल मिश्र

हमारी प्रकाशित पुस्तकें

	मूल्य
१—विज्ञान प्रवेशिका भाग १—श्री रामदास गौड़, प्रो० सालिगराम भार्गव	३७ नये पैसे
२—वैज्ञानिक परिमाण—डा० निहालकरण सेठी	१ रु०
३—समीकरण मीमांसा भाग १—पं० सुधाकर द्विवेदी	१ रु० ५० नये पैसे
४—समीकरण मीमांसा भाग २—पं० सुधाकर द्विवेदी	६२ नये पैसे
५—स्वर्णकारी—श्री गंगाशंकर पचौली	३७ नये पैसे
६—वर्षा और वनस्पति—श्री शंकरराव जोशी	३७ नये पैसे
७—व्यंग चित्रण—ले० एल० ए० डाउस्ट, अनुवादिका—डा० रत्न कुमारी	२ रुपया
८—तैरना—डा० गोरख प्रसाद	१ रुपया
९—वायुमंडल की सूक्ष्म हवायें—डा० संत प्रसाद टंडन	७५ नये पैसे
१०—खाद्य और स्वास्थ्य—डा० ओंकार नाथ पर्ती	७५ नये पैसे
११—फल संरक्षण—डा० गोरख प्रसाद तथा वीरेन्द्र नारायण सिंह	२ रु० ५० नये पैसे
१२—शिशु पालन—श्री मुरलीधर बौड़ाई	४ रुपया
१३—मधुमक्खी पालन—श्री दयाराम जुगड़ान	३ रुपया
१४—घरेलू डाक्टर—डा० जी० घोष, डा० उमाशंकर प्रसाद तथा डा० गोरख प्रसाद	४ रुपया
१५—उपयोगी नुसखे, तरकीबें और हुनर—डा० गोरखप्रसाद तथा डा० सत्यप्रकाश	३ रु० ५० न० पै०
१६—फसल के शत्रु—श्री शंकरराव जोशी	३ रु० ५० नये पैसे
१७—साँपों की दुनिया—श्री रामेश वेदी	४ रुपया
१८—पोर्सलीन उद्योग—श्री हीरेन्द्र नाथ बोस	७५ नये पैसे
१९—राष्ट्रीय अनुसंधानशालाएँ	२ रुपये
२०—गर्भस्थ शिशु की कहानी—अनु० प्रो० नरेन्द्र	२ रुपया ५० नये पैसे
२१—रेल इंजन—परिचय और संचालन—श्री ओंकारनाथ शर्मा	६ रुपया
२२—भारतीय कृषि का विकास—डा० शिवगोपाल मिश्र	५ रुपया

आप इन पुस्तकों के लिए सीधे निम्न पते पर पत्रव्यवहार करें क्योंकि अब लाला रामनारायण लाल बेनीप्रसाद हमारे एकमात्र वितरक नियुक्त हुए हैं।

मिलने का पता :

लाला रामनारायण लाल बेनीप्रसाद
कटरा, इलाहाबाद

विज्ञान

विज्ञान परिषद्, प्रयाग का मुखपत्र

विज्ञानं ब्रह्मेति व्यजानात्। विज्ञानाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते।
विज्ञानेन जातानि जीवन्ति। विज्ञानं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति। तै० उ० ३।५।

भाग १०१ | कार्तिक २०२१ विक्र०, १८८६ शक नवम्बर १९६४ | संख्या २

आस्तिकता

डा० सत्य प्रकाश

आस्तिकता से क्या अभिप्राय है? पहला तो यह कि हम यह मानें कि शरीर से भिन्न हम कोई एक ऐसी सत्ता हैं जो शरीर के प्रतिक्षण परिवर्तित होते हुए भी जन्म से मृत्यु तक अक्षुण्ण बनी रहती है, और जिसके उद्देश्य-विशेष के लिए ही शरीर करण-मात्र है। दूसरा यह कि हम यह भी मानें कि शरीर के भीतर रहने वाले हम शरीर से पहले भी थे और शरीर छूट जाने के अनन्तर भी हम बने रहेंगे। तीसरा यह कि हम यह मानें कि शरीर के भीतर हम स्वयं नहीं आये, किसी अन्य सत्ता की प्रेरणा से हमें यह शरीर उपयोग के लिए मिला है। चौथा यह कि वही सत्ता जिसकी प्रेरणा से हम शरीर में आते-जाते हैं, वही उस सृष्टि का रचयिता भी है, जिसके हम एक छोटे से अंग हैं। पाँचवाँ यह कि वह सत्ता ज्ञान, शक्ति, और आनन्द देने वाली है, और उसका और हमारा एक घनिष्ट सम्बन्ध है। छठा यह कि हम यह मानें कि जिस प्रकार वही परम-सत्ता सृष्टि का रचयिता है, वही ज्ञान का भी आदिस्रोत है; और तुच्छ चेतन सत्ताओं के स्वातन्त्र्य की रक्षा करते हुए भी जिसे जितने ज्ञान की अपेक्षा है, उसकी व्यवस्था करती है। सातवाँ यह कि इस सत्ता द्वारा ही पाप-पुण्य, आचार-अनाचार, प्रत्यक्ष और परोक्ष, मुक्ति और बन्ध, सुख-दुःख आदि द्वन्द्वों की व्यवस्था होती है।

उन्नीसवीं शती का विकासवादी वैज्ञानिक इस अर्थ में नास्तिक था—पहला यह कि वह शरीर में व्यक्त चेतनता की व्याख्या जड़ पदार्थों की विशेष रासायनिक प्रक्रिया द्वारा उत्पन्न वैशिष्ट्य के आधार पर करता था, दूसरा यह, कि परिस्थितियों के प्रभाव और जीवन संघर्ष के नियमों के आधार पर ही विभिन्न जातियों के विकास को वह स्वीकार करता था। तीसरा यह, कि वह मानता था कि व्यक्ति तो मरणधर्मा है, पर उसमें यह क्षमता है, कि अपने समान ही किसी एक अथवा अनेक व्यक्तियों को जन्म दे जावे, और ये व्यक्ति अपने मरण से पूर्व उसी प्रकार अपने ही जैसे कुछ और व्यक्तियों को जन्म दे जावें, और इस भाँति परम्परा जीवित रहे। दूसरे शब्दों में यह कि व्यक्ति की बलि होती रहे और जाति अमर रहे, अथवा दीपक की प्रत्येक चिनगारी बुझती रहे, फिर भी ज्वाला का सातत्य बना रहे। चौथा यह कि जड़ प्रकृति के अनन्त कणों के मध्य अनन्त काल की अवधि में अकस्मात् प्रतिक्रियाओं के होते रहने के कारण ही सृष्टि के विभिन्न पिण्डों का जन्म हो गया।

अनुकूल परिस्थिति आने पर इन पिण्डों पर निम्न श्रेणी की चेतनताओं का प्रादुर्भाव हुआ, और इन चेतनताओं से ही मनुष्य के समान प्राणियों की विशिष्ट चेतनताओं का भी विकास हुआ। रसायनशालाओं में ऐसे-ऐसे यौगिकों का संश्लेषण किया गया, जो गुणों में प्रोटीनों से मिलते जुलते थे, और यह आशा बँधी कि ऐसे प्रोटीन भी संश्लेषित हो जायंगे जिनमें चेतनता-ऐसी विलक्षणता होगी, और जिनसे सम्पन्न कोशिकायें अपने से मिलती-जुलती अन्य कोशिकाओं को जन्म देने में समर्थ होंगी। पाँचवां यह कि अधिकतम व्यक्तियों की सुविधा देखते हुए जो कुछ भी अधिकतम कल्याण हो सकता है, वही आचार का मूल है, इसके अतिरिक्त पाप-पुण्य, धर्माधर्म आदि द्वन्द्व कुछ भी नहीं। छठा यह, कि जिस प्रकार जड़ एवं चेतन जगत् का श्रेणीबद्ध विकास हुआ, उसी प्रकार ज्ञान, भाषा और आचरण का भी विकास हुआ, और इतिहास जीवन के इस सर्वांगीण विकास का साक्षी है। सातवाँ यह कि पृथ्वी ही ऐसा पिण्ड है जिस पर जलवायु की ऐसी परिस्थितियाँ हैं, जहाँ वनस्पतियों और प्राणियों का-सा जीवन सम्भव है। कम से कम इस सौर-मण्डल में तो ऐसा और कोई पिण्ड प्रतीत नहीं होता जहाँ जीवन की सम्भावना स्पष्ट गोचर हो।

वैज्ञानिकों की तीन श्रेणियाँ हैं—नास्तिक विकासवादी वैज्ञानिक, आस्तिक वैज्ञानिक, और उदासीन वैज्ञानिक। अन्तिम वर्ग के वैज्ञानिक आस्तिकता, आत्म-अनात्म आदि विषयों को अपने क्षेत्र से बाहर का विषय मानते हैं। उनका कहना यह है कि उनके शास्त्र की मीमांसा उन्हीं क्षेत्रों तक सीमित है, जिनका ज्ञान इन्द्रियगम्य हो और जिनकी व्याख्या गणित और रसायन के सूत्रों की सहायता से की जा सके।

न्यूयार्क एकेडमी आव् साइन्सेज के भूतपूर्व एक अध्यक्ष डा० ए० क्रेसी मोरिसन (A. Cressy Morrison) ने सात तर्क उपस्थित किये जिनके आधार पर वैज्ञानिक को ईश्वर में विश्वास रखना आवश्यक हो जाता है।

पहला तर्क—असन्दिग्ध गणितीय नियमों द्वारा हम सिद्ध कर सकते हैं कि हमारा विश्व एक महान् शिल्पी चेतन सत्ता द्वारा विधिपूर्वक रचा गया होगा।

मान लें कि आपके पास दस सिक्के हैं, आप उन पर एक से लेकर दस तक के क्रमशः अंक लिख दें। अब इन सिक्कों को आपस में अच्छी तरह गड्ड-बड्ड कर दें। अब यदि हम इनमें से किसी एक विशेष सिक्के को पहली बार में ही निकालना चाहें, तो ऐसा करने की सम्भावना दस में एक होगी। यदि हम किन्हीं दो सिक्कों को एक क्रम में एक साथ निकालना चाहें, तो ऐसा करने की सम्भावना सौ में एक होगी। यदि हम किन्हीं तीन सिक्कों को एक क्रम में एक साथ निकालना चाहें, तो ऐसा करने की सम्भावना १००० में एक होगी, और यदि हम दसों सिक्कों को एक से दस तक के क्रम एक साथ निकालना चाहें, तो इसकी सम्भावना दस अरब (१,००००००००००) में एक होगी। यह तो केवल दस तक की गिनती वाले सिक्कों की बात हुई। अगर हजार तक को गिनती के क्रमशः सिक्के हम लेकर गड्ड-बड्ड कर दें, और फिर उन्हें उछालें, तो इसकी सम्भावना कि वे एक निश्चित क्रम में ही एक साथ लग जावे, इसकी सम्भावना निकालने के लिए आपको कितनी बिन्दियाँ लगानी पड़ेंगी, इसका हिसाब तो लगाइये। इस प्रकार जड़ पिण्डों से अकस्मात् दैवयोग से ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न होने वाली रचना बन जाय, जिसमें जीवन रह सके, इसकी सम्भावना तो नहीं के बराबर ही है। अकस्मात् दैवयोग वाले सिद्धान्त से कल्पना के अन्तर्गत आने वाले काल में ऐसे जगत् की रचना नहीं हो सकती, जैसा कि हम अपने जगत् को पाते हैं। हाँ, यदि कोई परम शिल्पी हो, तो वह "ज्ञानपूर्वक" चयन करके अभीष्ट रचना अवश्य शीघ्र तैयार कर सकता है। छापेखाने के टाइपों को लेकर केवल उछालते रहने पर आकस्मात् तुलसीदास का रामचरितमानस बन जाने की सम्भावना कितनी है, इसकी कल्पना करें।

हमारी पृथिवी अपनी धुरी पर प्रति घंटा १००० मील की गति से चक्कर लगा रही है। ऐसा न करके, यदि यह १०० मील प्रतिघंटा की गति से चक्कर लगाने लग जाय तो क्या होगा? फल यह होगा, कि दिन और

रात दोनों आजकल के दिन और रातों से दसगुने बड़े हो जायेंगे। फिर इसका परिणाम यह होगा, कि दिन में धूप की गरमी से समस्त वनस्पतियाँ जल जायँगी, और रात को जो कुछ भी अंकुर बच रहेंगे सब दिन में ठिठुर जायंगे।

और देखिये, सूर्य्य का ताप १२००० अंश फैरनहाइट है, और यह बिल्कुल हमसे इतनी दूर है, कि केवल आवश्यक मात्रा की गरमी ही हमें मिले। अगर यह गरमी थोड़ी सी भी कम हो जाय तो हम शीत में जम कर मर जायेंगे, और थोड़ी सी भी अधिक हो जाय, तो हम झुलसकर भुन जायेंगे। मानो कि किसी महान् शिल्पी ने सूर्य्य का ताप और हमसे सूर्य्य की दूरी जान बूझ कर ऐसी रक्खी है, कि हमारा जीवन सुखपूर्वक चल सके।

हमारी पृथिवी की धुरी अपनी कक्षा पर २३ अंश के लगभग झुकी हुई है। इस कारण हमारी ऋतुयें नियमानुसार होती हैं। यदि धुरी बिल्कुल सीधी होती तो कल्पना कीजिये कि क्या होता? सोचिये, कि यदि चन्द्रमा हमसे उतनी दूर न होता, जितना कि आज है; मान लीजिये कि यह केवल ५० हजार मील की दूरी पर ही होता, तो ज्वार-भाटा इतने जोरों से उठता कि महाद्वीपों का स्थल भाग दो बार ऐसा जलमय हो जाता, कि त्राहि-त्राहि मचने लगती, और कालान्तर में पर्वत भी चूर-चूर होकर विदीर्ण हो जाते। हमारी पृथिवी की पपड़ी आज जितनी मोटी है, अगर उससे केवल दस फुट और मोटी होती, तो जो कुछ हवा में ऑक्सिजन प्राप्त है, वह कुछ न रह जाता, और हमारा जीवन ही असम्भव था। हमारे समुद्र जितने गहरे हैं, उनसे कुछ ही फुट के अधिक गहरे होते, तो हवा में न तो कार्बन डाइऑक्साइड बचती और न ऑक्सिजन ही, तो वनस्पतियाँ भी विलुप्त हो जातीं। मान लीजिये कि हमारे वायुमण्डल का घनत्व उतना न होता जितना इस समय है, कुछ कम होता, तो पृथिवी पर उल्कापातों के कारण बराबर सर्वत्र आग लगती रहती और जीवन असम्भव हो जाता।

एक दो बातें नहीं, असंख्य ऐसी बाते हैं, जो इस बात का प्रमाण हैं, कि सृष्टि में एक अभीष्ट विधि-विधान है, जो महान् शिल्पी की महत् आयोजना का परिचायक है, और यह सृष्टि दैवयोग या अकस्मात् उत्पन्न कोई घटना नहीं है। बिना चेतन शिल्पी के ऐसी सृष्टि के उत्पन्न होने की सम्भावना करोड़ों अरबों में एक के बराबर भी न थी।

दूसरा तर्क · जीवन के प्रत्येक स्पन्दन में अपने अभीष्ट की सिद्धि की विचित्र सामर्थ्य विद्यमान है, जिसका होना सर्वव्यापक चेतना सत्ता के अस्तित्व का प्रमाण है।

"जीवन" क्या है, इसे कोई आज तक न समझ पाया। इसमें न तो तौल है, और न इसकी कोई माप ही है, पर न जाने इसमें कितना बल है? वर्धनशील वनस्पति की जड़ में इतनी क्षमता है, कि वह पर्वत की शिला को भी विदीर्ण कर सकती है, जीवन ने जल, स्थल और अन्तरिक्ष तीनों पर विजय प्राप्त की है, तत्त्वों पर इसका आतंक इतना है, कि वह इन्हें अपने अभीष्ट के अनुकूल नयी योजना दे देता है। शिल्पी के समान यह जीवन समस्त जीवित पदार्थों को विशेष आकृति देता है। कलाकार के समान यह जीवन प्रत्येक पौधे के प्रत्येक पत्ते को एक विशेष संरचना देता है, और प्रत्येक फूल को अभीष्ट रंगों से चित्रित करता है। जीवन एक महान् संगीतज्ञ है, और उसने प्रत्येक पक्षी के तरलकण्ठ में एक विशेष स्वर प्रदान किया है, और कीट-भृंगों को भी दैवी संगीत से सम्पन्न किया है। यही जीवन प्रकाण्ड ही नहीं, किन्तु सहृदय रसायनज्ञ भी है जिसने फलों और फूलों में ऐसे स्वाद और गन्ध प्रदान किये जो हमें चकित कर देते हैं कार्बन और आक्सिजन के चक्र के नियन्त्रण से इस महान् रसायनज्ञ ने प्राणियों और वनस्पतियों दोनों का जीवन सम्भव किया। दोनों की परस्परतन्त्रता इस महान् रसायनज्ञ की व्यवस्था की उत्कृष्टता का स्पष्ट प्रमाण है।

आदि जीवन के स्रोत प्रोटोप्लाज्म पर तो विचार कीजिये। इसका एक नन्हा सा बिन्दु जिसे हम आँख से भी नहीं देख पाते, जो पारदर्शक जेली के समान है पर इसमें विचित्र गति है, और इसमें सूर्य्य से ऊर्जा के

दोहन करने की सामर्थ्य है। इस प्रोटोप्लाज़्म की एक सूक्ष्म कोशिका के भीतर आगे व्यक्त होने वाले समस्त जीवन का इतिहास निहित है। इसके भीतर निहित जीवन का ही व्यक्तीकरण समस्त वनस्पति जगत् और प्राणिजगत् में होता है। समस्त जीवन का आविर्भाव यहीं से है, अतः प्रोटोप्लाज़्म की सामर्थ्य जन्तुओं और मनुष्यों की सामर्थ्य से कहीं अधिक है। क्या इस जीवन को "प्रकृति" ने बनाया है ? कदापि नहीं। वे शिलायें जो किसी समय आग का पिण्ड थीं, और वे समुद्र जिनमें किसी समय लवण तक न था, उन परिस्थितिओं को उत्पन्न कर ही नहीं सकते थे, जिनमें प्रोटोप्लाज़्म से व्यक्त होने वाला जीवन अपना अस्तित्व पा सकता। तो फिर आप ही बतावें कि प्रथमतः यह जीवन इस धरा पर आया ही कहाँ से ?

तीसरा तर्क—जन्तुओं या प्राणियों में जो मेधा है वह उदार कल्याणकारी सृष्टा के अस्तित्व की ओर संकेत करती है, अन्यथा तुच्छ असहाय प्राणियों के लिए सहारा ही क्या था !

एक छोटी सालमन मछली का उदाहरण लें। यह वर्षों तक समुद्र में रहती है, और फिर अपनी ही नदी की ओर वापस चली आती है, एवं नदी के प्रवाह की विपरीत दिशा में उस तट की ओर ऊपर को चलती है, जिस तट पर वह शाखा-सरिता मिली थी, जिसमें उस सालमन मछली का पहली बार जन्म हुआ था। अगर आप उस सालमन मछली को उठाकर किसी अन्य शाखा-सरिता में छोड़ दें, तो उस मछली को तुरन्त पता चल जायगा, कि वह कहीं अन्य स्थान पर धोखे से ला दी गयी है, और वह फिर समस्त विपरीत परिस्थितियों से संघर्ष करेगी, फिर नदी की मुख्य धारा में आ जायगी, फिर वहाँ से वह उलटी दिशा में चलेगी, और अन्त में उसी शाखा-सरिता से आ जायगी जहाँ पर उसका आदि जन्म हुआ था। सालमन मछली में इस प्रकार की विलक्षण मेधा है।

ईलों का उदाहरण और भी अधिक चमत्कारपूर्ण है। यौवन अवस्था के निकट में ये ईलें सभी तालाबों और नदियों से विदेश-भ्रमण के लिए चल देती हैं। हजारों मील की समुद्र यात्रा करके बरम्यूडा के निकट के गहरे समुद्री खण्डों में पहुँचती हैं। यहाँ ये अण्डे-बच्चे देती हैं और मर जाती हैं। इन अण्डे-बच्चों को किसी प्रकार किसी बात के जानने के कोई साधन ही नहीं हैं, वे क्या जानें कि उनके माता-पिता कहाँ के रहने वाले थे, पर आश्चर्य की बात है कि किसी अज्ञात शक्ति से प्रेरणा पाकर वे ठीक उसी समुद्र-तट पर पहुँच जाती हैं, जहाँ के निवासी उनके माता-पिता थे। यही नहीं, ये उस समुद्र तट पर पहुँचने के अनन्तर वहाँ से नदियों, झीलों और तालाबों में भी पहुँच जाते हैं। फलतः धीरे-धीरे इन सब स्थानों पर ईलें बस जाती हैं। यह आश्चर्य की बात है कि कभी भी कोई अमरीका देश की ईल यूरोप में नहीं पकड़ी गयी, और न यूरोप देश की ईल अमरीका में। बरम्यूडा से यूरोप अधिक दूर है, और अमरीका कम। इस दूरी का ध्यान रखते हुए प्रकृति में ऐसा नियंत्रण है कि यूरोप की ईल अमरीका वाली ईल की अपेक्षा प्रौढ़ होने में एक वर्ष के लगभग अधिक समय भी लेती है, जिससे वह इतनी लम्बी यात्रा करने में समर्थ भी हो सके। अब आप सोचिए तो कि ईलों को अपना स्वदेश पहिचान लेने और स्वदेश की ओर वापस लौटने को प्रेरणा देने वाली मेधा कहाँ से आयी !!

ततैये का एक उदाहरण लीजिये। ततैया टिड्डी को अपने वश में कर लेता है, और फिर टिड्डी के शरीर में ऐसे स्थल पर डंक मारता है, कि टिड्डी मूर्च्छित तो हो जाती है, पर मरती नहीं। इस मूर्च्छित टिड्डी को ततैया भूमि में छेद करके दबा देता है। इस प्रकार जीवित (किन्तु मूर्च्छित) टिड्डी का शरीर सुरक्षित मांस से रूप में बना रहता है। इसके बाद ही ततैया टिड्डी के समीप ही ऐसे स्थल पर अंडे देता है, कि जब इनमें से बच्चे निकलें, तो टिड्डे को बिना मारे ही उसके मूर्च्छित शरीर में से पोषण प्राप्त करते रहें। मृतमांस का सेवन इन बच्चों के जीवन के लिए घातक है। अण्डे देने के अनन्तर ही मादा ततैया उड़ जाती है और मर जाती है। वह कभी अपने नवजात बच्चों का

मुख भी नहीं देख पाती। ये बच्चे अपनी बारी में आगे चलकर स्वयं भी ऐसा ही करते हैं। इन्हें ऐसा करना कौन सिखाता है ? सभी ततैये अपने जीवन में ऐसा एक ही बार करते हैं। परिस्थितियों में ऐसी शिक्षण की सामर्थ्य नहीं है। ऐसी मेधा अथवा ऐसी प्रेरणा ये जन्तु किसी अन्य उदार कल्याणकारी सत्ता से ही प्राप्त करते होंगे !

चौथा तर्क—प्राकृतिक मेधा के अतिरिक्त मनुष्य में एक और क्षमता है, वह है मनन या तर्क की।

ऋचा में कहा है—"यां मेधां देवगणा: पितरश्चोपासते तया मेधया मेधाविनं कुरु।" अर्थात् मनुष्य का काम उस मेधा से नहीं चल सकता जो मेधा प्राकृतिक रूप में अन्य प्राणियों को प्राप्त है, उसे तो वह विशेष मेधा चाहिए जो देवताओं और पितरों, पूर्वजों एवं विद्वत् पुरुषों को प्राप्त थी। जन्तुओं के सम्बन्ध में ऐसा कोई भी प्रमाण या उल्लेख नहीं मिलता, कि वे दस की संख्या भी गिन सकें, अथवा दस की भावना क्या है, इससे परिचित हों। प्राकृतिक मेधा तो वीणा के एक स्वर के समान है, बड़ी मोहक किन्तु फिर भी सीमित। पर मनुष्य के मस्तिष्क में समस्त वाद्यों के समस्त समवेत स्वर हैं। इस सत्य को प्रमाणित करने का उदाहरण देना व्यर्थ है। यह सौभाग्य मनुष्य को ही प्राप्त है, कि वह तर्क कर सके। मनुष्य ही मनीषी है, उसकी क्षमतायें समस्त पशुओं से निराली हैं। पशु एक-एक स्वर की विशेषता रखता है, पर उसमें सभी स्वरों को समवेत झंकृत करने की क्षमता है। उसमें उस महान् चेतन सत्ता की मेधा का एक स्फुलिंग प्राप्त है, जो मेधा समस्त विश्व में व्याप्त है। उस परम मेधावी से ही हम अपनी इस मेधा को प्रेरित करने की याचना करते रहते हैं।

पाचवां तर्क—समस्त जीवन अपना पोषण कहाँ से प्राप्त करता है, यह बात आज हम जानते हैं, डार्विन के समय में यह रहस्य नहीं ज्ञात था। यह रहस्य निहित है "जीनों" में।

ये "जीन" इतने सूक्ष्म हैं, कि अगर विश्व के समस्त जीवित व्यक्तियों के "जीन" एक स्थल पर इकट्ठे कर लिए जायँ तो वे सब एक अँगुष्ठमात्र देश भी नहीं घेरेंगे। ये "जीन" और उनके साथी "क्रोमोसोम" समस्त मनुष्यों, अन्य प्राणियों एवं वनस्पतियों की प्रत्येक जीवित कोशिका में होते हैं, और उनमें ही प्रत्येक प्राणी एवं वनस्पति की विशिष्टतायें निहित हैं। इस समय भूमण्डल में दो अरब मनुष्य रहते हैं। इन सब पुरुषों की समग्र विशेषतायें समावेश करने वाले "जीन" अंगुष्ठ-मात्र से भी कम स्थान घेरें, तो इससे बढ़ कर चमत्कार हो ही क्या सकता है। इन "जीनों" में समस्त पुरुषों के पुरखाओं का इतिहास भी निहित है। सृष्टि के आदि से लेकर के आज तक की परम्परा और आगे आने वाली पीढ़ियों का इतिवृत्त इस सूक्ष्मता से इन जीनों में सुरक्षित है, इससे बढ़कर और क्या आश्चर्य हो सकता है। समस्त मनोवृत्तियों का भंडार ये सूक्ष्म "जीन" ही हैं।

छोटी-छोटी कोशिकाओं में "जीन" रहते हैं, और इन्हीं कोशिकाओं में विकास प्रारम्भ होता है। कुछ लाख परमाणुओं के योग से बने हुए इन "जीनों" के भीतर भूमण्डल के समस्त जीवन का वृत्त परमचेतन सृष्टा के अतिरिक्त और कौन संकलित कर सकता था ! इस वैचित्र्य की व्याख्या बिना इस प्रकार की सत्ता को माने हुए करना असम्भव है।

छठा तर्क—प्रकृति में इतनी मितव्ययिता है, कि हमें यह मानना ही पड़ता है, कि इसका विधान रचने वाली सत्ता में अनन्त बुद्धिमत्ता है, त्रिकालज्ञ सर्वज्ञसत्ता ही समस्त प्राणियों की आवश्यकताओं की पूर्ति करने की व्यवस्था करने में समर्थ हो सकती थी।

कई वर्ष हुए, आस्ट्रेलिया में संरक्षी बाड़े के तैयार करने के लिए एक विशेष जाति की नागफनी (कैक्टस) का उपयोग किया गया। आस्ट्रेलिया में कोई शत्रु-कीट न था, अत: यह नागफनी खूब पनपी। यह इतनी फैल गयी, कि इंगलैण्ड के बराबर का लम्बा-चौड़ा क्षेत्र इससे आवृत्त हो गया। इसकी बाढ़ से खेतों को हानि पहुँचने लगी, और मनुष्य की आबादी के लिए एक विपदा आरंभ हो गयी। कीटाणु विज्ञान-वेत्ताओं को

चिन्ता हुई। फलतः उन्होंने एक ऐसे कीट का पता लगा लिया, जो नागफनी (कैक्टस) को छोड़ कर और कुछ खाता ही न था। यह मुक्त रूप से अण्डे देता था, और आस्ट्रेलिया में इसके कोई शत्रु भी न थे। इस कीट ने नागफनी की प्रगति पर विजय प्राप्त की। ज्यों ज्यों नागफनी की उपज कम होती गयी, इस कीट की संख्या कम होती गयी क्योंकि नागफनी ही एकमात्र इसका पोषण था। इस प्रकार नागफनी और उसका भक्षण करने वाले कीट दोनों का ही नियंत्रण हो गया।

इस प्रकार के सर्वतोमुखी नियन्त्रण प्रकृति में सर्वत्र पाये जाते हैं। आप सोचिए तो कि कीट जिनके प्रजनन की गति बड़ी उग्र है, अब तक इतने क्यों नहीं पैदा हो गये, कि आज भूमण्डल पर वे ही दीखते। बात स्पष्ट है। ऐसा इसलिए नहीं हुआ कि इन कीटों के शरीरों में मनुष्य के शरीर जैसे फुफ्फुस या फेफड़े नहीं हैं। वे नलिकाओं द्वारा श्वास लेते हैं। जब कीड़े बड़े होने लगते हैं, तो उनके शरीर के अनुपात में ही ये नलिकायें बड़ी नहीं होतीं। इसीलिए कभी कोई कीड़ा बड़े आकार का नहीं बन पाता, इससे पहले ही मर जाता है। इस व्यवधान द्वारा ही कीड़ों की भरमार से हम बच सके हैं। काश कोई कीड़ा भी सिंह के आकार का होता, तो हमारी पृथ्वी मनुष्य के रहने योग्य कैसे बन पाती?

सातवाँ तर्क—ईश्वर की कल्पना मनुष्य कर सकता है, यह तथ्य ही ईश्वर के अस्तित्व में प्रमाण है।

हम ईश्वर की कल्पना करने में क्यों समर्थ हुए? इसीलिए कि मनुष्य में "कल्पना" करने की क्षमता है। ऐसी क्षमता अन्यत्र कहीं भी देखने को नहीं मिलती। "कल्पना" का अर्थ है, "अदृष्टों" की प्रमाणिकता। मनुष्य में ही कल्पना करने की क्षमता है, अर्थात् जो प्रत्यक्ष नहीं है, उसकी प्रमाणिकता मनुष्य को अपनी इस विशिष्ट क्षमता द्वारा अनुभूत होती है। मनुष्य में कल्पना की क्षमता कितनी विद्यमान है, इसकी सीमा नहीं है। कल्पना द्वारा वह ऐसे तथ्यों का अनुभव कर सकता है, जो अन्यथा असम्भव थे। ज्यों-ज्यों मनुष्य अपनी कल्पना को विकसित करता जायगा, उसे उतना ही अधिक इस सृष्टि में कलापूर्ण रचना की सर्वव्यापकता और प्रत्येक पद पर महान् लक्ष्य या उद्देश्य की विद्यमानता स्पष्ट होती जायगी। उसे सर्वत्र ही स्वर्ग का साम्राज्य दृष्टिगत होगा। वह इस अनुभूति से विभोर हो उठेगा कि ईश्वर सर्वत्र ही विराजमान है, और उसका अस्तित्व सबके भीतर-बाहर है "तदन्तरस्य सर्वस्य तदु-सर्वस्यास्य बाह्यतः" और हमारी अपेक्षा से जितना निकट अपने ही हृदय में है, उतना अन्यत्र कहीं नहीं। उपनिषद् के शब्दों में—

ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके
गुहां प्रविष्टौ परमे परार्द्धे।
छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति
पञ्चाग्नयो ये च त्रिणाचिकेताः॥ (कठ)

यह समस्त सृष्टि उस एक परमशक्ति की ही दिव्य रचना है, जो पुरानी होती हुई भी नित्यनूतन है—देवस्य पश्य काव्यं न ममार न जीर्यति।

सूर्य-कलंक—५

चुम्बकीय-क्षेत्र

कुलदीप चड्ढा

यदि यह कहा जाय कि १९वीं शती के अन्तिम और २०वीं शती के प्रथम दशकों में आधुनिक विज्ञान की आधारशिला रखी गयी तो यह अत्युक्ति न होगी। इस काल में अणु-परमाणुओं की रूप-रेखाएँ कुछ स्पष्ट होनी शुरू हुईं, विद्युत-विज्ञान ने कुछ प्रौढ़ रूप धारण किया और बेतार-तरंगों के प्रारंभिक प्रयोग किए गए। यही नहीं, सैद्धान्तिक विज्ञान के भी कच्चे अथवा प्राथमिक मसविदे इसी समय में तैयार किए गए।

सम्प्रति हम आपका ध्यान इसी अवधि में प्रसूत एक आविष्कार की ओर आकृष्ट करना चाहेंगे, जिसका सम्बन्ध प्रकाश-विज्ञान से है। उस समय तक प्रकाश का तरंग-रूप भली-भाँति स्थापित हो चुका था। विज्ञ पाठक जानते ही होंगे कि बाद में मैक्स प्लाँक ने प्रकाश-क्वान्तम (Light quantum) का सिद्धान्त प्रतिपादित किया। उसका विचार था कि अनेक परिस्थितियों में प्रकाश, शक्ति के सुसीमित कणों की भाँति व्यवहार करता है। पर इस महत्त्व को अंगीकार करते हुए भी आज का संसार, प्रकाश के तरंग-रूप की कल्पना का बहिष्कार नहीं कर सका। अधिकांश वैज्ञानिक-व्यापारों में प्रकाश का यही रूप ध्यान में रखा जाता है, जिसके अनुसार प्रकाश का प्रचलन तरंग-रूप में होता है। प्रकाश की ये तरंगें अनेक रंगों की होती हैं। विभिन्न रंग की तरंगों की लंबाई अलग-अलग होती है। जिन प्रकाश तरंगों को हम देख सकते हैं, उनमें से लाल रंग की किरणें सबसे लम्बी होती हैं, अर्थात् एक सैंटीमीटर का १/६३०००वाँ भाग। नारंगी, पीली, हरी, नीली तरंगें इसी क्रम से लाल तरंगों से छोटी होती हैं। नीली तरंगों की लम्बाई लगभग १/२०,००० सैंटीमीटर होती है।

इस स्थल पर यह स्मरणीय है कि तप्त होने पर प्रत्येक पदार्थ प्रकाश की तरंगें पैदा करता है। प्रायः समूचे प्रभाव के कारण हम प्रकाश को हरा, पीला आदि घोषित करते हैं, पर वास्तव में प्रत्येक पदार्थ प्रायः प्रकाश की एकाधिक रंग की तरंगों को पैदा करता है। जब प्रकाश-विज्ञान ने इन प्रकाश तरंगों को अलग-अलग करके देखने के साधन जुटा लिए, तो वह पदार्थों से निकलने वाली प्रकाश तरंगों की पहिचान से ही पदार्थों को पहिचान सकने लगा। यह विज्ञान वर्ण-क्रम-विश्लेषण (Spectrum Analysis) कहलाता है। इस पद्धति में प्रयोग होने वाले यंत्र को वर्ण क्रममापी (Spectrometer) कहते हैं। इस पद्धति में परीक्षागत पदार्थ का प्रकाश एक अत्यन्त पतले रेखाछिद्र (Slit) पर डाला जाता है। विश्लिष्ट प्रकाश महीन रेखाओं अथवा पट्टों के रूप में प्रकट होता है। न केवल विभिन्न पदार्थ भिन्न-भिन्न प्रकार के प्रकाश को पैदा करते हैं, अपितु एक ही पदार्थ विभिन्न अवस्थाओं में विभिन्न प्रकार का प्रकाश पैदा करता है। इन अवस्थाओं में तापमान की भिन्नता प्रमुख है।

सन् १८९६ में जर्मनी के एक विज्ञानी ज़ीमन ने प्रयोग द्वारा सिद्ध किया कि यदि किसी प्रकाश-स्रोत को चुम्बकीय क्षेत्र में मज्जित कर दिया जाए तो उसके वर्णपट्ट की महीन प्रकाश-रेखाएँ बँट कर दो हो जाती हैं। इस क्रिया को ज़ीमन-प्रभाव (Zeeman effect) कहा जाता है। बाद के कार्यकर्ताओं के प्रयत्नों के फलस्वरूप, बँटी हुई वर्ण-रेखाओं के अन्तर की माप द्वारा, सम्बद्ध चुम्बकीय क्षेत्र का बल जानना संभव हो गया।

दूरस्थ आकाशपिण्डों की प्रकृति का परिचय प्राप्त करने का प्रमुख माध्यम है यही वर्णक्रमविश्लेषण की

पद्धति। सूर्य के व्यापारों से सुपरिचित होने के आशय से, १९वीं शती के अन्तिम चरणों में अनेक खोजियों ने इस पद्धति का सूर्य के प्रकाश के अध्ययन के लिए प्रयोग प्रारम्भ किया। इन प्रयोगों को सुचा-रूप से क्रियान्वित करने के लिए सन् १८९० में अमेरिका के स्मिथसोनियन इन्स्टीच्यूट के जॉर्ज हेल तथा स्वतंत्र रूप से डैसलेन्डर ने सौर-वर्ण-लेखक (Spectro-heliograph) का आविष्कार किया। इस यंत्र के प्रयोग ने सूर्य के सम्बन्ध में अनेक गौण क्रियाओं के अन्वेषण में सहायता दी। इसी यंत्र के प्रयोग द्वारा सूर्य-कलंकों के प्रकाश का विश्लेषण करते हुए हेल ने सन् १९०८ में अनुभव किया कि सूर्य-कलंकों में विशाल चुम्बकीय क्षेत्र हैं।

समूचे रूप से सूर्य में भी एक क्षीण चुम्बकीय क्षेत्र है। कहना न होगा कि स्वयं हमारी पृथ्वी का भी एक क्षीण-सा चुम्बकीय क्षेत्र है। पर हेल ने जिन कलंकों के चुम्बकत्व को मापा, उनका बल पृथ्वी के चुम्बकत्व की अपेक्षा १०-१५ हजार गुना अधिक था। चुम्बकीय क्षेत्र को गॉस (Gauss) नामक इकाई द्वारा व्यक्त किया जाता है। धरती का चुम्बकीय क्षेत्र लगभग ०·३ गॉस है और सूर्य के सामान्य चुम्बकत्व का इससे कुछ अधिक। तुलना में औसत सूर्य-कलंक का चुम्बकत्व कोई १००० गॉस होगा, इसीलिए जहाँ कलंकों के चुम्बकत्व का अन्वेषण सन् १९०८ में हो गया था, सूर्य का सामान्य चुम्बकत्व निश्चित रूप से सन् १९५२ में ही निर्धारित हो सका (कष्टसाध्य प्रणाली द्वारा ऐसा कर पाने का श्रेय हैरोल्ड बैबकॉक नामक विज्ञानी को है) अतएव सूर्य-कलंकों का चुम्बकत्व कलंकों का एक प्रमुख लक्षण है और आगामी कुछ पृष्ठों में हम इसी लक्षण की चर्चा करेंगे।

हाँ, इससे पूर्व यह कहना-जानना रुचिकर होगा कि हेल के प्रायोगिक आविष्कार से बहुत पहिले—अर्थात् आज से कोई एक सौ वर्ष पूर्व – सर जासेफ़ लॉक्येर ने सूर्य-कलंकों में चुम्बकीय क्षेत्र होने की प्रस्तावना की थी। विज्ञ-पाठकों को अपने स्कूल-कालेज में किया गया वह प्रयोग याद होगा जब एक चुम्बकीय सलाख पर पड़े एक कागज़ पर लोहे के छीलन फैलाने पर, चुम्बकीय क्षेत्र की रेखाओं के अनुरूप, चित्रांकन सा हो जाता था। सूर्य-कलंकों के कुछ क्षेत्रों के, हाइड्रोजन के प्रकाश में लिए गए चित्र लगभग ठीक वैसा ही आभास देते हैं (चित्र १)।
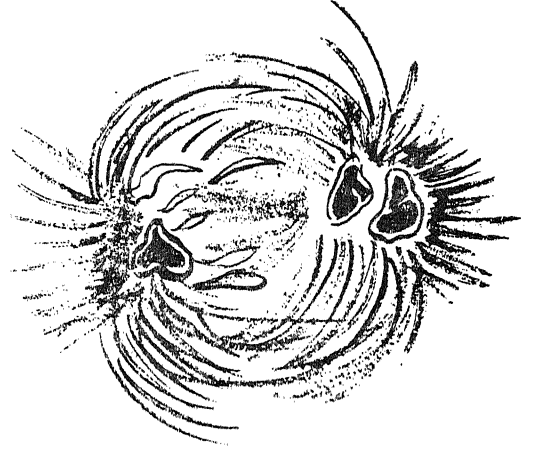
चित्र — १

दो कलंक क्षेत्रों के बीच चुम्बकीय क्षेत्र का आभास

हेल ने सर्वप्रथम जितने बल का चुम्बकीय क्षेत्र लक्षित किया था, वह सूर्य-कलंकों में सदा सर्वदा अनुभूत नहीं होता। वास्तव में चुम्बकीय क्षेत्र-बल सूर्य-कलंकों के विस्तार और विकास पर निर्भर करता है। नए कलंकों के प्रकट होने के तुरंत बाद चुम्बकीय क्षेत्र का प्रभाव प्रकट होने लगता है और क्रम से बढ़ने लगता है। कुछ समय तक इसका बल एक स्तर पर बना रहता है और कलंक के लुप्त होने से कुछ समय पूर्व यह अकस्मात् तीव्र गति से क्षीण होने लगता है। नए कलंक ज्यों-ज्यों विकसित होते हैं, चुम्बकीय क्षेत्र के बल में वृद्धि के साथ-साथ एक अन्य प्रकार की विषमता भी पैदा होने लगती है। चुम्बकीय क्षेत्र का एक प्रमुख लक्षण है, उसकी ध्रुवता। चुम्बकों की सलाखें जब एक धागे से लटका दी जाती हैं, तो वे उत्तर और दक्षिण की दिशा में संकेत करती हुई सन्तुलन प्राप्त करती हैं। उत्तर और दक्षिण की दिशा में संकेत करने वाले उनके सिरे क्रम से उत्तरी ध्रुव और दक्षिणी ध्रुव कहलाते हैं। विषम आकार-प्रकार के चुम्बकों अथवा चुम्बक के गुण रखने वाले पदार्थों आदि में भी इस प्रकार की ध्रुवता देखी जाती है।

कलंकों में घटने वाले चुम्बकीय क्षेत्रों में भी इस

प्रकार की ध्रुवता होती है। विशेष वैज्ञानिक कारणों से निर्धारित होने वाली यह ध्रुवता भी उत्तरी और दक्षिणी कहलाती है। पर जब कभी किसी प्रान्तर में कलंक विकसित होकर अधिक स्थान घेर लेते हैं तो उनके दो निकटवर्ती भाग, उत्तरी और दक्षिणी ध्रुवता को परस्पर समीप स्थलों में प्रदर्शित करते हैं। जब कभी कलंक बढ़ कर पुंज का रूप धारण करते हैं, तो ध्रुवता भी विषम रूप धारण कर लेती है—पुंज के छोटे-छोटे और परस्पर निकटवर्ती भाग स्वतंत्र रूप से एक अथवा अन्य प्रकार की ध्रुवता को प्रकट करते हैं।

इस प्रकार चुम्बीय ध्रुवता के आधार पर सूर्य-कलंकों के तीन प्रकार हैं :—

(क) एक ध्रुवी (Unipolar)
(ख) द्विध्रुवी (Bipolar)
(ग) विषम (Complex)

इन तीन प्रकारों को प्रायः अल्फा (α) बीटा, (β) और गामा (γ) अक्षर-चिन्हों से व्यक्त किया जाता है। द्विध्रुवी प्रकार के कलंकों की संख्या प्रायः सबसे अधिक होती है। इनमें भी दो प्रकार-भेद होते हैं। यदि अग्रगामी भाग बड़ा हो तो कलंकों को βp कहा जाता है और यदि अनुगामी भाग बड़ा हो तो βf। बीटा प्रकार के इन दो प्रकार-भेदों के संकेत p और f अक्षर अग्रगामी और अनुगामी के निर्देशक हैं।

कई विद्वानों के मतानुसार, अल्फा अथवा एक-ध्रुवी कलंकों का कोई स्वतंत्र महत्व नहीं है। जब भी कभी सूर्य के उत्तरार्ध में किसी अक्षांश पर एकध्रुवी कलंक दिखाई देता है, तो मध्य रेखा के दूसरी ओर प्रायः ही, लगभग समान अक्षांश पर एक अन्य एकध्रुवी कलंक होता है और इन दोनों कलंकों की ध्रुवता परस्पर विपरीत होती है। (इस अवस्था में अपवाद भी कई बार होते हैं। उदाहरणार्थ १६७२ और १७०४ के बीच उत्तरी गोलार्द्ध में लगभग कोई कलंक प्रकट न हुआ था।) इस प्रकार, यदि समूचे सूर्य को देखा जावे, तो दोनों गोलार्द्धों में प्रकट होने वाले, दो एकध्रुवी कलंक वास्तव में एक द्विध्रुवी कलंक के तुल्य हैं।

याद रहे कि ये सूर्य-कलंक, सूर्य के अभ्यन्तर में होने वाले विक्षोभ के धरातल पर प्रकटीकरण हैं—अर्थात् उनकी जड़ें सूर्य के पिण्ड में काफी गहराई पर होती हैं। चुम्बकीय क्षेत्रों के ध्रुवों का अध्ययन यह सूचित करता प्रतीत होता है कि सूर्य के अभ्यन्तर में कलंक एक नलिका के रूप में विद्यमान होते हैं, जिसके दो सिरों की ध्रुवता परस्पर भिन्न-भिन्न होती है। जब ये सिरे समीपवर्ती स्थलों पर प्रकट होते हैं, तो वे द्विध्रुवी कलंक का प्रकटीभवन करते हैं। यदि सूर्य के मध्य भाग को वेध कर दो सिरे दोनों गोलार्द्धों में प्रकट हों तो वे एकध्रुवी रूप का प्रकटीकरण करते हैं (चित्र—२)।
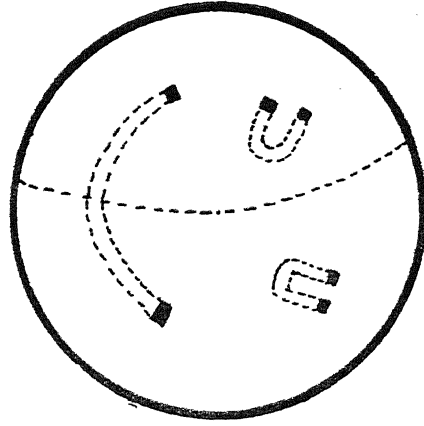
चित्र—२
सूर्य के अभ्यन्तर में, कलंकों को मिलाने वाली नलिकाओं की कल्पना

यहीं नहीं, प्रायः ही देखा गया है, कि कई बार दो गोलार्द्धों में समान अक्षांशों पर दो द्वि-ध्रुवी कलंक प्रकट होते हैं। ऐसी अवस्था में यदि उत्तरी गोलार्द्ध के अग्रगामी सदस्य की ध्रुवता एक प्रकार की होती है तो दक्षिणी गोलार्द्ध में इसके विपरीत। इसके अतिरिक्त, एक सूर्य-कलंक चक्र में, एक ही गोलार्द्ध में प्रकट होने वाले सभी द्वि-ध्रुवी कलंकों के अग्रगामी सदस्यों की ध्रुवता प्रायः एक ही प्रकार की होती है। इसके बाद वाले ११ वर्षीय चक्र में क्रम उल्टा हो जाता है। आगे की तालिका में कुछ कलंक-चक्रों में लक्षित इस परिस्थिति का ब्यौरा दिया गया है :

तालिका—१

चक्र (वर्ष)	उत्तरी गोलार्द्ध		दक्षिणी गोलार्द्ध	
	अग्रगामी	अनुगामी	अग्रगामी	अनुगामी
१६०१–१६१३	–	+	+	–
१६१३–१६२३	+	–	–	+
१६२३–१६३३	–	+	+	–

प्रत्येक नए कलंक-चक्र में द्वि-ध्रुवी कलंकों की ध्रुवता के इस प्रकार के विपर्यय को जॉर्ज हेल तथा उनके साथियों ने लक्षित किया था। यदि कलंकों की संख्या के साथ, इस ध्रुवता को भी ध्यान में रखा जावे तो कलंक-चक्र ११ वर्ष का न हो कर २२ वर्ष का होगा (जैसा कि हम पिछले लेख में कह चुके हैं)।

धरती पर पाये जाने वाले चुम्बक प्राय: लोहे के टुकड़े होते हैं जिन्हें प्राकृतिक अथवा कृत्रिम (मानव प्रेरित) कारणों से चुम्बकत्व प्राप्त होता है। यदि ऐसे चुम्बक को काफी गर्म किया जाए तो उसका चुम्बकत्व नष्ट हो जाता है। ज्ञात रहे कि कलंकों का तापमान ५०००° सें० के लगभग होता है। इसलिए इस ताप पर चुम्बकत्व का रहना तो बड़ी बात होगी, लोहे का ठोस रूप तक नहीं रह पावेगा। अत: प्रारम्भ में कुछ विद्वानों के लिए, कलंकों के उक्त विशाल चुम्बकीय क्षेत्रों का कारण समझना एक पहेली बन गई थी पर अब संदेह का कोई कारण नहीं रह गया।

विद्युत् विज्ञान में प्रयोगों के समय विज्ञानियों ने अनुभव किया कि यदि धातु (प्राय: ताम्बे) के तार की एक कुंडली बनाकर उसमें बिजली प्रवाहित की जाय तो यह कुंडली एक चुम्बक की भाँति व्यवहार करेगी। एक ऐसी अवस्था भी आयी जब यह ज्ञात हुआ कि बिजली का प्रवाह इलेक्ट्रानों की गति के कारण होता है। प्राकृतिक एवं कृत्रिम चुम्बकों में भी ये कण छोटे-छोटे वृत्तों में घूमते हुए बँधे रहते हैं। लेकिन गर्म करने पर इलेक्ट्रान कणों की गति बढ़ने लगती है और अन्त में उच्छृङ्खल हो जाती है, जिसके कारण चुम्बकत्व पहिले क्षीण और अन्तत: नष्ट हो जाता है।

इधर सूर्य के कलेवर पर ध्यान दें तो इसमें पदार्थ, द्रव या वायव्य के रूप में है। यही नहीं, अधिक तापमान के कारण, अणु-परमाणु अपने स्वाभाविक रूप में नहीं रहते, बल्कि उनमें कंपन-स्पंदन की गति तीव्र हो जाती है। परिणाम-स्वरूप इलेक्ट्रान अणु-परमाणुओं से अलग हो जाते हैं। इधर दूरदर्शियों में, कलंकों के द्रव-वायव्य पदार्थ में वर्तुल गति भी लक्षित की गई है। अत: कल्पना की जाती है कि इलेक्ट्रान आदि कणों और आवेशित अणु-परमाणुओं का गोल चक्र में घूमना ही कलंकों के चुम्बकत्व का कारण है।

चुम्बकीय ध्रुवता की दृष्टि से कलंकों को ३ प्रकारों में विभाजित किया जा चुका है। पर समूचे रूप से,

कलंकों की चुम्बकीय ध्रुवता और प्रकार, उनका विकास तथा आकार, इन तीन तत्वों को मिलाकर एक विशद वर्गीकरण किया गया है। इस वर्गीकरण के ब्योरे से हम यह लेख समाप्त करेंगे।

कलंकों का यह वर्गीकरण अंग्रेजी वर्णमाला के अक्षरों के अनुसार किया गया है। छोटे-छोटे कलंकों अथवा छोटे कलंक-पुञ्जों को A वर्ण से व्यक्त किया गया है। ऐसे कलंक प्रायः अल्पजीवी होते हैं। इनकी बनावट में भी कोई विशेषता नहीं होती।

दो स्पष्ट कलंकों के मेल से बने पुंज को अथवा ऐसे द्वि-ध्रुवी कलंकों को जिनमें उपच्छाया नहीं होती, B अक्षर में प्रकट किया जाता है। ऐसे पुंज के सदस्यों को मिलाने वाली रेखा प्रायः पूर्व-पश्चिम को निर्देश करती है। जब द्वि-ध्रुवी कलंक-पुंज में कम से कम एक सदस्य में उपच्छाया प्रकट होती हो तो उसे C वर्ण से व्यक्त किया जाता है। जब द्वि-ध्रुवी पुंज के दोनों कलंक बड़े हों तो उसे D वर्ग में रखा जाता है।

जब एक बड़े द्वि-ध्रुवी कलंक के पास-पड़ोस और कलंक-द्वय के बीचो-बीच अनेक छोटे-छोटे कलंक हों, जिससे पुंज का रूप विषम बन जाय तो उसे E अक्षर से व्यक्त किया जाता है। दोनों बड़े सदस्य उपच्छाया युक्त होते हैं और समूचे कलंक का विस्तार देशान्तर में कम से कम १०° होता है। जब इस प्रकार का द्वि-ध्रुवी या विषम कलंक बढ़कर कम से कम १५° व्यास का हो जाय तो यह F वर्ग में माना जाता है।

जब द्वि-ध्रुवी कलंक के दोनों सदस्य बहुत बड़े हों और उनका देशान्तर फैलाव १०° या इससे अधिक हो—लेकिन इनके पड़ोस में या बीच में छोटे कलंक न हों तो इसका वर्ग G माना जाता है।

जब एक अकेला एक-ध्रुवी कलंक फैल कर कम से कम २·५° व्यास का हो जाय और उपच्छाया युक्त हो तो उसे H वर्ग से व्यक्त किया जाता है, पर यदि २·५° से कम हो तो J से।

(क्रमशः)

प्रकाश पानी की भाँति मुड़ता है

श्यामसरन अग्रवाल

भौतिकी के सिद्धान्त का तकाजा है कि प्रकाश-किरण को सीधी रेखा में ही गमन करना है; करती भी है। तो क्या, यह शीर्षक बहका हुआ या बहकानेवाला है? ऐसा भी नहीं। सच तो यह है कि गलत दोनों में से एक भी नहीं। सिद्धान्त अपनी जगह अटल है और शीर्षक अपनी जगह चुस्त, चौवन्द!

बात केवल इतनी है कि यह आज के विज्ञान की आँखमिचौनी है। आज का विज्ञान जो भी नया न दिखाए, वही थोड़ा है। प्रस्तुत विषय में विज्ञान ने बस इतना ही किया है कि प्रकाश के सिद्धान्त को रहस्यावरित करके उसके अबूझ रहस्यों को अनावरित किया है। जिस प्रकाश-ज्ञान के लिए उपर्युक्त सिद्धान्त को रटाया जाता है, उसीसे मानो विद्रोह करके उसका एक नया ही क्रान्तिकारी रूप वैज्ञानिकों ने हमारे सामने यह रखा है कि जैसे पानी की धार को मोड़-मरोड़ कर चाहे जहाँ ले जाया जा सकता है, वैसे ही प्रकाश-किरण को भी मोड़ा-मरोड़ा जा सकता है।

यदि ऐसा न हो सकता तो? तो, चाँद-तारों तक की हमारी उड़ान की बातें धरी ही रह जातीं। उदाहरणार्थ, यह तो आवश्यक है ही कि चाँद पर पहुँचने से पहले वहाँ के धरातल और वातावरण का पूर्व-ज्ञान प्राप्त किया जाये। इस उपलब्धि के लिए चाँद की सतह के रेडियो-चित्र कृत्रिम उपग्रहों द्वारा समय-समय पर लिये ही जा रहे हैं। अब यह नयी बात नहीं रही। नयी बात कुछ और ही है। एक बार जरा गहरे सोचिए-सोचिए, कि वे कृत्रिम उपग्रह चन्द्र-धरा के चित्र कैसे ले पाते होंगे? अवश्य, उनमें रखे टेलीविजन-कैमरे ही वे चित्र लेते होंगे, किन्तु प्रश्न का यह उत्तर अभी अधूरा ही है। पुनः सोचिए कि टनों भारी और अगणित यंत्र-संयंत्रों के तामझाम से सज्जित उस उपग्रह के टेलीविजन-कैमरे बाहर की ओर झाँकते हुए तो रखे नहीं जाते! फिर, अन्दर ही अन्दर रुँधे-छिपे, वे कैसे अपना काम पूरा कर पाते होंगे?

यही विज्ञान की आँखमिचौनी है। इसी रहस्य को विज्ञान ने अनावरित किया है। चन्द्र-धरा के चित्र लेने के लिए चन्द्रमा से चली हुई प्रकाश-किरणें किस प्रकार मोड़-मरोड़ खातीं, बल खातीं उपग्रह के भीतर रखे हुए कैमरों तक पहुँच पाती होंगी? यह याद रखने योग्य है कि उपर्युक्त पंक्तियों में रहस्य का अनावरित करना कहा गया है। इसका अर्थ हुआ कि रहस्य तो पहले भी विद्यमान था और पहली ही बार बूझा भी नहीं गया। यही सच भी है। प्रकाश को पानी की तरह मोड़ा जा सकता है, इस रहस्य की प्रथम खोज का श्रेय ब्रिटिश वैज्ञानिक जॉन टिण्डेल (John Tyndal) को है। लगभग एक शताब्दी पूर्व ही उसने एक अति साधारण प्रयोग द्वारा यह रहस्य बूझ लिया था और लोगों के सन्मुख प्रस्तुत भी कर दिया था। उस प्रयोग में उसने पानी से भरे एक पीपे के ऊपर तीव्र प्रकाश का एक लैम्प लटका दिया। तत्पश्चात् उसने पेंदे के एक छोटे से सूराख को कार्क हटा कर खोल दिया। फलतः पानी की जो धारा बल खाती हुई निकली, उसमें लैम्प की प्रकाश-रेखा भी प्रतिबिम्बित हो रही थी—मानो, पानी की धार के साथ वह भी 'बही' जा रही हो!

इस सिद्धान्त के आधार पर हमारे आज के वैज्ञानिकों ने प्रारम्भिक प्रयोगों स्वरूप केवल प्रकाश को ही तरह-तरह के मोड़ देने में सफलता प्राप्त की। इसके

लिए प्लास्टिक की ऐसी नलिकायें बनायी गयीं जिनकी बाहरी सतहें अपारदर्शी थीं और भीतरी सतहों को दर्पण जैसी चमकाने के लिए विशेष रसायनों की पुताई की गयी। रस्से की भाँति जहाँ-तहाँ से मुड़ी उस नलिका के एक सिरे से प्रक्षेपित प्रकाश को दूसरे सिरे पर प्राप्त किया जा सका था। यों, देखने में अवश्य उस प्रकाश-रेखा ने कई मोड़ लिये किन्तु समझने में उसने सिद्धान्त का दामन फिर भी नहीं छोड़ा। हुआ यह कि मोड़ के एक ओर की सतह पर जो प्रकाश-रेखा टकरायी, वह चमकीली सतह के परावर्तित होकर मोड़ के दूसरी ओर की सतह पर प्रक्षेपित हुई। इस प्रकार वस्तुतः तो प्रकाश किरण ने सीधी ही रेखा में गमन किया, सिद्धान्त का उल्लंघन नहीं किया, किन्तु अवैज्ञानिक दृष्टि ने यही समझा कि प्रकाश पानी-पानी हो गया!

इतने पर भी हमारे वैज्ञानिकों का काम यहीं समाप्त नहीं हुआ। उलटे, यहाँ से तो आरम्भ हुआ। उन्होंने इससे आगे भी सोचा कि केवल प्रकाश-किरणों को ही यों मोड़-मरोड़ कर कहीं भेजने अथवा कहीं से प्राप्त कर लेना पर्याप्त न होगा। आवश्यकता है कि चित्रों को भी इसी प्रकार भेजा तथा प्राप्त किया जाये। इसके लिए उन्होंने ग्रिड (Grid) अर्थात् जाली के सिद्धान्त का आश्रय किया।

अब उन्होंने केवल एक नलिका न लेकर मानव के केशों जैसी अत्यन्त बारीक नलिकाओं (कहिये, केशिकाओं) का एक बण्डल बनाया। उसके सिरे पर रखा हुआ चित्र टेलीविजन के चित्र की भाँति असंख्य सूक्ष्म कणों में विभाजित हो गया। उन केशिकाओं के व्यास से भी सूक्ष्मतर उन कणों का इससे अनुमान लगाया जा सकेगा कि केवल आधा इंच व्यास के वृत्त में तीन लाख तक की संख्या उन कणों की थी! इस विधि द्वारा प्रकाशमान चित्र को विभाजित तथा पुनःसंयोजित करके मोड़-तोड़ कर भेजना तथा प्राप्त करना संभव हो सका था।

इस प्रयोग को औद्योगिक क्षेत्र में लाया गया तो इसका कल्पनातीत स्वागत हुआ और इसके उपयोगों की अनन्त शृंखला खुल पड़ी। विशेष प्रकार से तैयार की गई वे केशिकाएँ बिजली के लोचशील तारों, ट्यूबों और पाइपों के रूप में भी तैयार होने लगीं। तैयार होने पर उन्हें फाइब्रोस्कोप (Fibroscope) अथवा फ्लैक्सि-स्कोप (Flexiscope) कहा जाता है।

इनकी उपयोगिताएँ अनन्त हैं और सम्भावनाएँ और भी अनन्त। ऊपर आरम्भ में लिखे अनुसार कृत्रिम उपग्रहों में रखे जानेवाले टेलीविजन-कैमरों में तो इनका मुख्य उपयोग होता ही है, चिकित्सा-क्षेत्र में भी इनकी माँग बढ़ने लगी है। इनके सिरे पर सुई के नक्के से भी गुजर जाने वाले सूक्ष्म ट्रान्जिस्टर-कैमरा फिट करके, उसे पेट में उतार देने पर वहाँ की ऐसी त्रुटियाँ जो ऐक्स-रे से भी छूट जाती हों, चित्रित की जा सकती हैं और उन्हें बाहर 'देखा' जा सकता है। ऐसे अति सूक्ष्म कैमरे आँख, कान या गले तक में प्रविष्ट कराये जा सकते हैं।

इस क्षेत्र में एक कदम और आगे बढ़ कर इन नलिकाओं को केवल पाइप-जैसा रूप देने के अतिरिक्त चिलम-जैसा भी रूप दिया जाता है। उस अवस्था में एक सिरे पर रखा हुआ चित्र, दूसरा सिरा यदि बड़ा हुआ तो पचास गुना आवर्धित तथा छोटा हुआ तो पचास गुना संकुचित रूप में देखा जा सकता है।

यह भी ध्यान देने योग्य है कि इन नलिकाओं की भीतरी सतह पर लगाया जाने वाला मसाला ही इस उपलब्धि की जान है। आश्चर्य है कि वह मसाला भी आज के विज्ञान की उपज नहीं। ७-८ हजार वर्ष पूर्व के मिस्री प्राच्यावशेषों द्वारा पता चलता है कि उन दिनों के कारीगरों को यह मसाला ज्ञात था। युग-युगों पूर्व की वे कब्रें, पिरामिडों की खुदाई करने पर दर्शाती हैं कि उनकी दीवारों पर ऐसे ही शीशे-जैसे चमकते मसालों की जो पुताई की गयी थी, वह आज भी उतनी ही चमकीली बनी हुई है। इसी युग की बात करें तो एक शताब्दी पूर्व के कारीगर ऐसे ही स्थायी चमक देनेवाले मसाले काम में लाते थे। ऐसी ही कुछ नलिकाएँ बनाने के भी उल्लेख प्राप्य हैं किन्तु उन दिनों विज्ञान इतना विकसित न होने के कारण आज-जैसा कोई भी यंत्र

बना पाने में वे असमर्थ थे। इस शताब्दी में इस विज्ञान को आगे बढ़ाने की ओर नेदरलैण्ड ने सन् १६२० में पहल की है। तब से लेकर सन् १६५५ तक न्यूयार्क की यूनीवर्सिटी आफ रोचेस्टर और इलिनॉय के आर्मर इंस्टीट्यूट ने प्रयोगों की शृंखला को काफी आगे बढ़ाया है।

विज्ञान के बढ़ते हुए चरणों के साथ ही हर मोड़ पर बल खाते हुए इस नवीन प्रकाश-ज्ञान का भविष्य अति उज्ज्वल है एवं इसकी उपयोगिता की सम्भावनाएँ अनन्त हैं, इसमें सन्देह नहीं।

पेनीसिलीन बनाम संक्रामक रोग

कौशलेन्द्र मोहन तिवारी

धाँय धाँय ! सनन सनन सन सन सन ! आह ! चीख-पुकार मच गई। गोलियाँ किसी के पैर में, किसी के हाथ में और किसी के कलेजे में जा धंसीं। युद्ध-भूमि के बांकुरे एक-एक करके स्ट्रेचर पर लाश की तरह रखे गये। दो दिन बाद डाक्टर ने कहा "इन्हें सेप्टिक हो गया है। इस रोग की हमारे पास कोई दवा नहीं है। यानी कि मर्ज लाइलाज है।"

यह थी एक असंतोषजनक दशा, दूसरे विश्वयुद्ध के निकट, "स्वास्थ्य-विज्ञान" की। "आवश्यकता आविष्कार की जननी हुआ करती है।" वैज्ञानिकों के मस्तिष्क प्रयोगशाला की बोतलों से खेलने लगे। परिणाम-स्वरूप एन्टीबायोटिक का आविष्कार हुआ। वैसे तो सन् १६२६ ई० में ही सर अलेक्जेंडर फ्लेमिंग ने पेनीसिलीन का अध्ययन किया था परन्तु सन् १६४० ई० में प्रो० फ्लोरे ने पेनीसिलीन के कुछ बैक्टीरियोसाइडल और बैक्टीरियोस्टैटिक गुणों पर प्रकाश डाला। यही था एन्टीबायोटिक्स के चन्द्रमा पर पहुँचने का प्रथम प्रयास। इस प्रकार अब तो आप समझ ही गये होंगे कि सबसे पहिले एन्टीबायोटिक्स का आविष्कार हुआ, पेनीसिलीन मैदान में आयी और फिर इसके सम्बन्धियों पर 'सर्चलाइट' फेंकी गई।

शनैः शनैः अन्य एन्टीबायोटिक्स – स्ट्रेप्टोथ्राइसिन, स्ट्रेप्टोमायसिन, क्लोरोमायसिटिन, आरोमायसिन और टेरामायसिन आदि आविष्कृत हुये। परन्तु यहाँ केवल पेनीसिलीन का ही अध्ययन प्रस्तुत किया जावेगा।

पेनीसिलीन क्या है ?

यह प्रश्न सभी एन्टीबायोटिक्स पर लागू किया जा सकता है। कुछ अणुजीव (micro-organism), रासायनिक पदार्थ उत्पन्न करते हैं। ऐसे ही कुछ विशेष प्रकार के अणुजीवों द्वारा उत्पन्न किये गये रासायनिक पदार्थ को पेनीसिलीन की संज्ञा प्रदान की गई है। इसके द्वारा कुछ अन्य निश्चित प्रकार के अणुजीवों का पूर्ण अथवा आंशिक रूप से विनाश हो जाता है। डा० वाक्समैन १६५२) के मतानुसार एन्टीबायोटिक्स के कुछ निश्चित गुण होते हैं जो उन्हें अन्य 'एन्टीसेप्टिक' और 'डिसइन्फेक्टैंट्स' से पृथक् करते हैं। इनका सबसे महत्वपूर्ण गुण है—चयन प्रभाव या 'सेलेक्टिव ऐक्शन' अर्थात् एक निश्चित एन्टीबायोटिक, निश्चित कोशिकाओं, तन्तुओं और अंगों पर ही प्रभावकारी होता है।

पेनीसिलीन का प्रभाव क्यों और कैसे ?

प्रत्येक जीव कोशिका में केन्द्रक (nucleus) नामक अधिक घनत्व वाला एक भाग होता है। इसमें एक विशेष प्रकार का अम्ल होता है जिसे केन्द्रक अम्ल या 'न्यूक्लिक एसिड' कहते हैं। वास्तव में यह एक प्रोटीन तत्व है। प्रोटीन ही वह अत्यंत महत्त्वपूर्ण अवयव है जो कोशिकायें, तन्तु और विभिन्न शारीरिक अंगों को बनाने में बहुत मदद करता है। पेनीसिलीन का कार्य बहुत कुछ 'न रहे बांस और न बजे बांसुरी' के आधार पर होता है। जीवाणुओं के लिये यदि प्रोटीन नष्ट कर दी जाय या कि उसे जीवाणुकोशिका में प्रवेश ही न पाने दिया जाय तो मानव शरीर की रक्षा हो सकती है। यही क्रिया शरीर में होती है। जीवाणुओं के शरीर के लिए राइबोज न्युक्लिक एसिड बहुत आवश्यक होता है। प्रोटीन बनाने वाले २२ प्रमुख अमीनो अम्लों में से ग्ल्यूटैमिक अम्ल का अपना एक विशिष्ट स्थान है। पेनीसिलीन इसी ग्ल्यूटैमिक अम्ल को जीवाणु कोशिका में जाने से रोकती है। इस प्रकार जीवाणु, प्रोटीन से वंचित रह जाते हैं।

जीवाणुओं को भ्रम

पेनीसिलीन बहुत कुछ ग्ल्यूटैमिक अम्ल से मिलती-जुलती होती है। इसी कारण हम लोगों के लिये घातक जीवाणु स्वयं घातक भ्रम के शिकार हो जाते हैं। वे पेनीसिलीन को ग्ल्यूटैमिक अम्ल समझ कर सरलतापूर्वक चट कर जाते हैं। पेनीसिलीन अन्दर जाती है परन्तु स्पष्ट है कि इससे जीवाणुओं की भूख नहीं मिटती है। परिणाम क्या होता है, यह आप स्वयं सोच सकते हैं। यों समझिये कि यदि आपको कई दिनों तक भोजन न दिया जाय तो क्या होगा ? यह कि आप मर जायेंगे। बस, ऐसे ही जीवाणु भी मर जाते हैं। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि प्रोटीन के साथ-साथ पेनीसिलीन, जीवाणु कोशिका में प्रवेश करते हैं। ऐसी दशा में दोनों पदार्थ एक दूसरे से इस प्रकार मिल जाते हैं कि जीवाणुओं को कोई लाभ नहीं होने पाता है। इस प्रकार भोजन की कमी से पहिले तो जीवाणु शिथिल पड़ जाते हैं और फिर शनैः-शनैः उनका कार्यकाल समाप्त हो जाता है। यों भी कहा जा सकता है कि पेनीसिलीन की क्रिया 'एन्टीमेटाबालिक' होता है।

कुछ वैज्ञानिकों का मत है कि पेनीसिलीन में इतनी शक्ति नहीं होती कि वे जीवाणुओं को अपने विपाक्त प्रभाव से मार डालें। उनका कहना है कि पेनीसिलीन जीवाणुओं को क्षीण कर देती है। और जब जीवाणु काफी क्षीण हो जाते हैं, तब रक्त के श्वेत कण (ल्यूकोसाइट्स) उन्हें भली-भाँति खा-पी कर नष्ट कर देते हैं।

कुछ अन्य वैज्ञानिकों के मतानुसार वसा और न्यूक्लियोटाइड्स का भी जीवाणु कोशिका में न पहुँचना, उनके लिये बहुत घातक सिद्ध होता है। डा० हावी, डासन, मिलर और फास्टर आदि अमेरिकन वैज्ञानिकों का कहना है कि पेनीसिलीन का प्रभाव केवल उसी समय तक होता है, जब तक कि जीवाणुओं में प्रजनन होता है।

पेनीसिलीन बनाम रोग

बीमारी की प्राथमिक अवस्था में जिस प्रकार होम्योपैथिक विधि की एकोनाइट औषधि बहुत लाभदायक सिद्ध होती है, ठीक उसी प्रकार संक्रामक रोगों में पेनीसिलीन का प्रभाव होता है। डा० हैरी इंगिल, नेशनल इंस्टीट्यूट आव पब्लिक हेल्थ, अमेरिका का तो यहाँ तक कहना है कि गिनोरिया से बचने के लिये १००००० इकाई पेनीसिलीन की गोली ही काफी है। औरतों में उनके तमाम रोगों की जड़ है गिनोरिया। हमारे देश में प्रतिवर्ष लगभग ४५ प्रतिशत लोगों को सिफिलिस और न्युरोसिफिलिस नामक रोग हो जाता है। इस रोग पर पेनीसिलीन का अच्छा प्रभाव पड़ता है।

टिटैनस या धनुर्वात के जीवाणुओं पर तो पेनीसिलीन का बहुत भयानक प्रभाव पड़ता है, परन्तु इनके द्वारा उत्पन्न विष पर कुछ भी नहीं। अतः यदि रोग के आरम्भ में ही पेनीसिलीन का प्रयोग किया जाय तो लाभ निश्चित है। रक्त-ज्वर और सब एक्यूट बैक्टीरियल

एन्डोकार्डाइटिस के स्ट्रेप्टोकाक्कस बैक्टीरिया का सफाया करने में भी पेनीसिलीन कुछ कम काम नहीं करती है। इनके अतिरिक्त पेनीसिलीन निम्नलिखित रोगों में भी लाभप्रद है :

१. सेप्टीसीमिया या जहरबात, २. एग्रेनुलोसायटोसिस, ३. एक्टीनोमायकोसिस, ४. ब्रांकाइटिस ५. डिप्थीरिया, ६. कैन्क्रम आरिस, ७. इरीसीपैलिस, ८. गैस गैंग्रीन, ९. लंग ऐब्सेस या फुफ्फुसीय व्रण, १०. न्यूमोनिया, ११. मेनिन्जाइटिस या गर्दनतोड़, १२. कैट बाइट फीवर, १३. चाइल्ड.बेड फीवर, १४. इन्फेक्शन आव साइनस एन्ड टान्सिल्स, १५. बोन फ्रेक्चर आदि।

जले, कटे, घाव, फोड़ा-फुन्सी आदि में तो इसका प्रभाव होता ही है। विभिन्न चर्मरोगों, वायु विकारों और पायरिया आदि बीमारियों में भी पेनीसिलीन अच्छा कार्य करती है। अब तो पेनीसिलीन का उपयोग होम्योपैथी में भी होता है।

पेनीसिलीन के विभिन्न रूप

पेनीसिलीन विभिन्न रोगों में भिन्न-भिन्न रूपों में प्रयोग की जाती है, यथा : इन्जेक्शन, क्रीम, च्यूविंग गम टेबलेट, मल्हल, पेस्टाइल्स आदि। गले और मुख के रोगों में पेनीसिलीन लाजेन्जेस प्रयोग की जाती हैं।

पेनीसिलीन का प्रभाव जिन रोगों में नहीं होता है, वे हैं—विशूचिका, कुष्ठ, क्षय रोग, इन्फ्लुएन्जा, पैरा-इन्फ्लूएन्जा आदि। विभिन्न जीवाणुओं जैसे स्ट्रेप्टोकोक्कस फिकलिस, रिकेट्स, पैराकोलन बैसिलस आदि पर भी पेनीसिलीन का कोई प्रभाव नहीं पड़ता है।

पेनीसिलीन से हानि

उचित मात्रा से अधिक पेनीसिलीन पहुँचने से या आवश्यकता न होने पर भी पेनीसिलीन का सेवन करने से जैसे कि आजकल प्रायः होता है, बड़े ही घातक परिणाम देखने को मिले हैं। उदाहरणार्थ, पेनीसिलीन का गलत सेवन करने के लखनऊ के एक डाक्टर की तुरन्त मृत्यु हो गई थी।

● ●

"१९६३ हरिशरणानन्द विज्ञान पुरस्कार"

विज्ञान परिषद्, प्रयाग को सूचित करते हुए हर्ष होता है कि १९६३ का हरिशरणानन्द विज्ञान पुरस्कार निम्न लेखकों को उनकी वैज्ञानिक हिन्दी पुस्तकें पर घोषित किया गया है :–

१—जनोपयोगी विज्ञान साहित्य (१००० रु०)

श्री शैलेन्द्र कुमार 'निर्मल' (दार्जिलिंग) कृत
"कृषि विनाशी कीट और उनका दमन।"

२—बालोपयोगी विज्ञान साहित्य (५०० रु०)

श्री योगेन्द्र कुमार लल्ला (नई दिल्ली) कृत
"खेल भी विज्ञान भी।'

हाथ मिलाइये

डा० शिवगोपाल मिश्र

प्रातःकाल उठते ही कुछ लोग हथेलियों की ओर देखकर मन्त्र पढ़ते हैं—"कराग्रे वसते लक्ष्मी, करमध्ये सरस्वती"...... । उनके लिये अपने हाथ का दर्शन करना ऐश्वर्य एवं ज्ञान की वृद्धि करने वाला होता है। सामुद्रिक शास्त्र में हाथ में बनी हुई रेखाओं को भाग्य से सम्बन्धित बताया जाता है । यही नहीं, नित्यप्रति सामाजिक विधान में भी 'हाथ मिलाने' को अत्यधिक महत्व प्रदान किया जाता है। चाहे परिचित व्यक्ति हों या अपरिचित, हाथ मिलाने के बाद वे आत्मीय बन जाते हैं।

वैज्ञानिकों ने हाथ से सम्बन्धित इन विविध क्रियाओं के बारे में कुछ रहस्योद्घाटन किये हैं, जिन्हें यहाँ प्रस्तुत करना उपयुक्त होगा। पहले हम 'हाथ क्यों मिलाया जाय' इस प्रश्न से प्रारम्भ करते हैं। एक वैज्ञानिक का अभिमत है कि हाथ मिलाने में कोई विशेष अभिप्राय नहीं जान पड़ता। यह तो ठीक उसी प्रकार है जैसे कि हम हाथ न मिलाकर परस्पर कानों को खींचें। ऐसा प्रतीत होता है कि हाथ मिलाने की प्रथा उस समय प्रारम्भ हुई जब कवचधारी सैनिक अपनी शान्ति-सद्भावना जताने के लिये दाहिने हाथ को बाहर निकाल देते थे जिसमें लोहे का सुरक्षा-कवच न होकर केवल दस्ताना रहा करता था। बाद में यह प्रथा बन गई और अब तो हाथ मिलाना सचमुच आफत बन गया है। अनेक प्रमुख राजनीतिज्ञों एवं ख्यातिप्राप्त व्यक्तियों को इतनी बार और इतने व्यक्तियों से हाथ मिलाना पड़ता है कि उनकी अँगुलियाँ सूज जाती हैं। कहीं-कहीं तो हाथ मिलाते समय काफी मजबूती से हाथ दबाने की प्रथा है। उदाहरणार्थ स्वीडन देश। अतः यदि वहाँ के बादशाह को किसी आध घंटे की सभा में कई हजार व्यक्तियों से हाथ मिलाना पड़ जाय तो इसका अर्थ यह होगा कि प्रत्येक सेकंड में यह क्रिया दुहरानी होगी। बेचारे बादशाह का हाथ फूल कर कुप्पा हो जाय तो कोई आश्चर्य की बात न होगी।

प्रायः सभी व्यक्ति अपना अधिकांश कार्य दाहिने हाथ से ही करते हैं किन्तु बांये हाथ से कार्य करने वालों की भी संख्या कम न होगी। यह अनुमान लगाया गया है कि विश्व भर में लगभग २ करोड़ व्यक्ति ऐसे होंगे जो बायें हाथ से काम करते हैं। उन्हें हमारे यहाँ की बोली में 'डेबरा' कहा जाता है। देहातों के लोग इन्हें हेय दृष्टि से देखते हैं क्योंकि ये लोग अपना भोजन भी बाँये हाथ से करते हैं। बायाँ हाथ, हिन्दू धर्म के अनुसार, अपवित्र माना जाता है। यद्यपि आधुनिक खोजों के अनुसार ऐसे बायें हाथ वाले लोग बुद्धिमत्ता या ज्ञान में किसी से कम नहीं होते किन्तु जितनी भी नित्यप्रति की वस्तुयें हैं वे केवल दाहिने हाथ वाले व्यक्तियों यानी सामान्य व्यक्तियों के ही उपयोग के लिये हैं। उदाहरणार्थ चेक बुक, पेंसिल बनाने की मशीन, टेलीफोन डायल आदि। सचमुच ही, बायें हाथ वालों के प्रति यह अन्याय है। यही नहीं, पार्टियों और भोजों के अवसर पर भी इन बायें हाथ वालों को कष्ट होता है। यदि उन्हें सबके बीच में जहाँ-तहाँ बैठने दिया जाय तो वे पहले तो हँसी के पात्र बनते हैं क्योंकि छुरी और काँटा गलत हाथ में लेते हैं और दूसरे यह कि उनकी कुहनियाँ सही हाथ से खाने वालों से टकराती हैं। अतः भोज के आयोजकों को ऐसे लोगों के खाने की मेज के एक सिरे पर बैठने के लिये प्रबन्ध करना चाहिए। इससे वे स्वच्छन्द होकर हाथ उठा सकते हैं और सामाजिक प्रतिष्ठा भी प्राप्त कर सकते हैं।

हाथ के इतने ही करिश्मे नहीं हैं। और भी सुनें। स्त्रियों और पुरुषों के हाथ भिन्न-भिन्न आकार-प्रकार के होते हैं। जर्मनी के कुछ शोधकों ने यह देखा है कि स्त्रियों के हाथ की तर्जनी एवं कनिष्ठिका अँगुलियाँ पुरुषों

की अपेक्षा बड़ी होती हैं। इस प्रेक्षण के आधार पर स्त्रियों के स्वभाव के बारे में भी भविष्यवाणी की जा सकती है। कनिष्ठिका का बड़ा होना यह बताता है कि स्त्री अत्यन्त चतुर है। अँगूठी पहनने वाली अँगुली के पतला होने से यह पता चलता है कि उसमें सुन्दरता के प्रति अनुराग है। पुरुषों में बीच की अँगुली का बड़ा होना उसके आतंक अथवा प्रभाव का सूचक है। लम्बे अँगूठे से संकल्प-शक्ति का बोध होता है। छोटी अँगुलियाँ निम्नकोटि के व्यक्तित्व की सूचक मानी जाती हैं।

अँगुलियों और हथेली के आकार-प्रकार से भी नाना प्रकार के निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं जो किसी भी व्यक्ति के चरित्र के सम्बन्ध में विविध बातें प्रकट कर सकते हैं। इस प्रकार से मनोविज्ञान के समझने में भी हाथ का काफी सहारा लिया जाता है। यही नहीं, अन्य प्रकार के निदानों के लिये भी हाथ अत्यधिक सहायक होते हैं। हाथ के दबाव द्वारा डाक्टरों तथा मनोवैज्ञानिकों को अनेक बातें ज्ञात होती है। शीतल एवं नम हाथ विक्षिप्तता का परिचायक है जबकि उष्ण एवं नम हाथ से थायराइड ग्रंथि की अधिक्रियाशीलता परिलक्षित होती है। यदि हाथ शीतल, शुष्क, खुरदुरा हो और चमड़ी मोटी हो तो उसमें थायराइड ग्रंथि की अपर्याप्त क्रियाशीलता सूचित होती है। यदि रक्ताल्पता है तो हथेली पीली पड़ जाती है किन्तु उसकी नसों का लाल रंग दिखता है; यदि यह लाल रंग भी लुप्त हो जाय तो यह समझना चाहिए कि रक्त में हीमोग्लोबिन की ५० प्रतिशत कमी हो गई है। अमरीका के एक डाक्टर ने इस परीक्षा को १५०० के रोगियों साथ पूरी तरह से सत्य उतरती पाया।

आजकल यह माना जाने लगाता है कि कार्य या रुचि के अनुसार हाथ विकसित होते हैं। उदाहरणार्थ, खान में कार्य करने वाले मजदूर के हाथ बीणावादक से सर्वथा भिन्न होंगे; किन्तु हाथ की बनावट से चरित्र के विषय में कुछ जान पाना कठिन प्रतीत होता है। हाथ की अँगुलियों से भले ही कुछ जाना जा सकता है।

एक और विचित्र तथ्य भी प्रकट हुआ है और वह यह है कि धीरे-धीरे मनुष्यों के हाथ स्त्रियों की अपेक्षा छोटे होते जा रहे हैं। उदाहरणार्थ, अमरीका की एक दस्ताना बनाने वाली फैक्ट्री का कथन है कि विगत २५ वर्षों में मनुष्यों के लिये १० नम्बर से घटकर ९ नम्बर के दस्तानों की आवश्यकता बढ़ी है जबकि इसी अवधि में स्त्रियों के लिये ६ नम्बर के बजाय ७ नम्बर के दस्तानों की संख्या में वृद्धि हुई है। इसका कारण यह बताया जाता है कि अब अपने पूर्वजों की अपेक्षा पुरुष कम कठिन काम करना पसन्द कर रहे हैं जबकि स्त्रियों को पहले की अपेक्षा कठिन काम करना पड़ रहा है। यह विकास-क्रम की मान्य घटना है कि यदि किसी अंग का ठीक से उपयोग नहीं किया जाता तो उसकी अवनति होती रहती है। यदि इसी प्रकार मनुष्य बायें हाथ को उपेक्षित दृष्टि से देखता रहा तो सम्भावना यही है कि भविष्य में केवल एक हाथ वाला व्यक्ति जन्म ले।

इसमें सन्देह नहीं कि जो कार्य हाथ से सम्पन्न होते हैं वे न तो किसी 'कृत्रिम हाथ' से सम्पन्न हो सकते हैं और न मनुष्यों के अन्य किसी अंग से। प्रकृति ने २७ अस्थियों एवं १९ मांसपेशियों द्वारा इस अंग की सृष्टि की है। शोधों से यह ज्ञात हुआ है कि हाथ के द्वारा मनुष्य एक हजार से भी अधिक प्रकार के क्रियाकलाप कर सकता है। यदि हाथ के ऊपर पतला आवरण भी लगा दिया जाय तो उसकी क्षमता अथवा स्पर्शशक्ति अत्यन्त घट जाती है।

हाथ मनुष्यों के लिये ईश्वरीय देन है और यह देन अद्वितीय है।

●●

स्व० नेहरू—जो भुलाये न भूलेंगे

—सम्पादक

"मैं चाहूंगा कि मेरी भस्म हवाई जहाज द्वारा उन खेतों में बिखेर दी जाय जहाँ भारत के किसान मेहनत करते हैं ताकि वह भारत की मिट्टी में मिल जाय।"

ये शब्द हैं २१ जून १९५४ को लिखी गई नेहरू की वसीयत में से।

भारत के सर्वप्रिय जननेता पं० जवाहर लाल नेहरू का जन्म सन् १८८९ के नवम्बर मास की चौदहवीं तारीख को इलाहाबाद में हुआ था। उन्होंने अपनी शिक्षा कहाँ-कहाँ पाई, फिर भारतीय राजनीति में वे कैसे उतरे, कैसे चमके और फिर २७ मई सन् १९६४ को कैसे एका-एक अस्त हो गये —अपने में एक लम्बी कहानी है, ऐसी कहानी जो भारत की कहानी है और जन-जन को जबानी याद है।
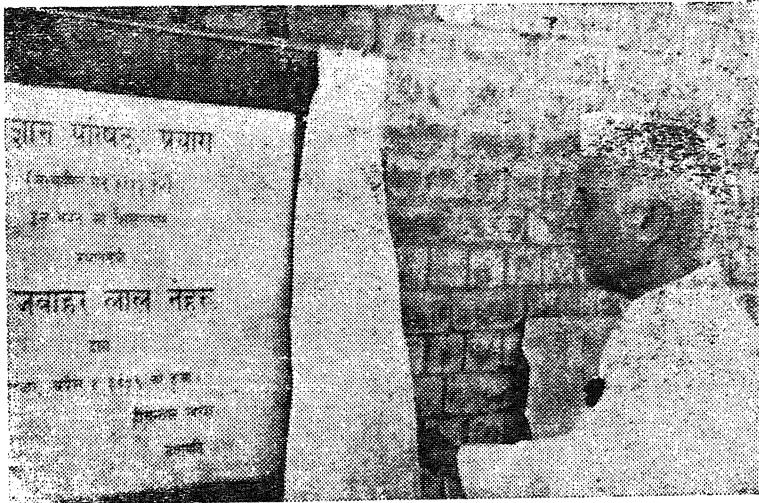
परिषद् भवन का श्री नेहरू जी द्वारा शिलान्यास

यदि बीसवीं शती के पूर्वार्द्ध को "नेहरू युग" की संज्ञा प्रदान की जाय तो कोई अत्युक्ति न होगी। इस युग में भारत पराधीनता के पाश से मुक्त होकर वैज्ञानिक प्रगति के पथ पर अग्रसर हुआ।

यह नेहरू जी की ही विज्ञान-प्रियता एवं दूरदर्शिता थी कि देश में वैज्ञानिक प्रयोगशालाओं का जाल-सा बिछ गया। क्या रसायन, क्या भौतिकी, क्या औषधि विज्ञान, क्या टेकनालाजी—सभी क्षेत्रों में भारत में प्रगति के चिह्न दिखाई पड़े। यही नहीं, परमाणु-ऊर्जा के क्षेत्र में जो महत्वपूर्ण उपलब्धि हुई हैं, वह इस ओर इंगित करती है

कि "नेहरू युग" में विज्ञान ने प्रारम्भिक अवस्था से लेकर पूर्ण विकास की अवस्था प्राप्त की।

प्रयाग से नेहरू जी का अभिन्न सम्बन्ध रहा है। उन्होंने १४ अप्रैल, सन् १९५६ को विज्ञान परिषद् का शिलान्यास किया। यह एक और निशानी है उनके विज्ञान-प्रेम की। उन्होंने उद्घाटन भाषण में कहा था :—

परिषद् भवन के तहखाने का निरीक्षण करते हुए नेहरू जी।

"विज्ञान को आम जनता को समझाने के लिए आवश्यकता इस बात की है कि उसे अपनी भाषा में समझाया जाय तथा इस दिशा में अपनी भाषा का प्रयोग किया जाय। हम किसी दूसरे की बुद्धि के बल पर आगे कुलाँट नहीं बढ़ सकते।"

भारत के प्रत्येक नागरिक में वैज्ञानिक विचारों को अनुप्राणित करने में नेहरू का योग अनूठा है। यही कारण है कि वे ऐसे प्रथम राजनीतिज्ञ हैं जिनका सम्मान वैज्ञानिक भी करते हैं।

नेहरू जी के स्वागत में श्री हीरालाल खन्ना भाषण दे रहे हैं।

नेहरू की स्मृति कभी भी मिटने वाली नहीं। वह विज्ञान की ही भाँति शाश्वत रहेगी।

भवन के मानचित्र का निरीक्षण करते हुए नेहरू जी।

जवाहरलाल नेहरू कृषि विश्वविद्यालय, जबलपुर

डॉ० टी० एस० गिल

अमेरिका के लैंड ग्रान्ट महाविद्यालयों की प्रणाली पर आधारित जवाहरलाल नेहरू कृषि विश्वविद्यालय, जबलपुर एक स्वशासी संस्था है, जिसमें शिक्षण, अनुसंधान तथा विस्तार को उचित रूप से सम्बद्ध करके लाभदायक अनुसंधान किया जायगा तथा उसका उपयोग किसानों की समस्याओं को हल करने में किया जायगा।

मध्यप्रदेश में स्वयं उसका एक ग्राम कृषि विश्वविद्यालय स्थापित किया गया है, जिसका नाम "जवाहरलाल नेहरू कृषि विश्वविद्यालय" रखा गया है। केन्द्रीय सूचना तथा प्रसारण मंत्री श्रीमती इन्दिरा गाँधी ने २ अक्टूबर १९६४ को जबलपुर में इस विश्वविद्यालय का उद्घाटन किया।

अमेरिका में कृषि विकास तथा अन्य सभी संबंधित कार्यों का पूरा दायित्व लैंड ग्रान्ट महाविद्यालयों पर है। इनमें शिक्षण, अनुसंधान और विस्तार का एकीकृत कार्यक्रम प्रचलित है। किसान इन महाविद्यालयों से कृषि संबंधी ज्ञान और अपनी समस्याओं के समाधान की आशा करते हैं। ये महाविद्यालय अपने क्षेत्र के कृषि विकास में महत्वपूर्ण योग देते हैं। अब यह सभी लोगों द्वारा स्वीकार कर लिया गया है कि अमेरिका के लैंड ग्रान्ट महाविद्यालयों ने उसके कृषि विकास में सहायता दी है।

भारत सरकार ने १९४८ में एक विश्वविद्यालय शिक्षा आयोग, डॉ० राधाकृष्णन की अध्यक्षता में गठित किया था। इस आयोग में भारत, अमेरिका तथा ब्रिटेन के प्रमुख शिक्षा-शास्त्री थे। इस आयोग ने अन्य बातों के अतिरिक्त यह सिफारिश की कि अमेरिका के लैंड ग्रान्ट महाविद्यालयों से कुछ-कुछ मिलते-जुलते ग्रामीण विश्वविद्यालय स्थापित किये जाएँ।

इसके पश्चात्, नवम्बर १९५४ में एक करार पर हस्ताक्षर किये गये, जिसमें कृषि अनुसंधान तथा शिक्षा के लिये पहले भारतीय अमेरिका दल के संगठन की व्यवस्था थी। इस दल के अध्यक्ष भारत सरकार के खाद्य तथा कृषि मंत्रालय के तत्कालीन सचिव श्री के० आर० दामले थे। इस दल में चार भारतीय सदस्यों के अतिरिक्त अमेरिका के कृषि विभाग का एक प्रतिनिधि तथा अमेरिका राज्य संस्थाओं के दो बहुत प्रतिष्ठित तथा वरिष्ठ प्रतिनिधि थे।

इस दल ने विश्वविद्यालय शिक्षा आयोग की इन सिफारिशों का समर्थन किया कि ग्राम विश्वविद्यालय स्थापित किये जाएँ और उनमें लघु आवासी स्नातक-पूर्व महाविद्यालय सम्मिलित रहें तथा वे विशेष अध्ययन और केन्द्रीय विश्वविद्यालय की सुविधाओं से युक्त रहें। ग्राम विश्वविद्यालयों के ही प्रांगण में कृषि तथा पशु-चिकित्सा विज्ञान महाविद्यालय और बाद में यथासमय गृह विज्ञान महाविद्यालय और व्यावहारिक कला तथा विज्ञान महाविद्यालय भी स्थापित करने की योजना थी। इस दल ने कुछ ऐसे स्थानों का भी उल्लेख किया जहाँ इस प्रकार के विश्वविद्यालय स्थापित करने की प्रारम्भिक तैयारी की जा चुकी है, जैसे उत्तरप्रदेश (तराई), पश्चिमी बंगाल (हरिंघाटा), बिहार (पटना), उड़ीसा (भुवनेश्वर),

गुजरात (आनन्द) तथा केरल। भारत सरकार द्वारा एक दूसरा संयुक्त भारतीय अमेरिका दल सितम्बर १९५९ में नियुक्त किया गया। पहले दल की तरह इस दल में भी अमेरिका लैंड ग्राण्ट विश्वविद्यालयों के तीन प्रतिनिधियों तथा अमेरिका के कृषि विभाग के एक प्रतिनिधि का समावेश था। इस दल ने जुलाई १९६० में अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की।

इस दल ने कृषि विश्वविद्यालयों की स्थापना के संबंध में पहले दल की सिफारिशों को दोहराया और निम्नलिखित बुनियादी सिद्धांतों के अनुसरण को बहुत महत्वपूर्ण बतलाया—

१. स्वशासी स्थिति।

२. एक ही प्रांगण में कृषि, पशु चिकित्सा, पशुपालन, गृह विज्ञान, टैक्नालाजी तथा विज्ञान महाविद्यालयों की स्थापना।

३. शिक्षा, अनुसंधान तथा विस्तार का एकीकरण।

पहला कृषि विश्वविद्यालय उत्तरप्रदेश के तराई क्षेत्र के रुद्रपुर में स्थापित किया गया तथा उसका प्रांगण नैनीताल जिले के पन्तनगर में है। विभिन्न स्वरूपों को इसी प्रकार की संस्थायें पंजाब (लुधियाना), राजस्थान (उदयपुर), उड़ीसा (भुवनेश्वर) तथा पश्चिमी बंगाल (हरिंघाटा) राज्यों में भी स्थापित की गईं हैं।

योजना आयोग ने चतुर्थ पंचवर्षीय योजना काल में कृषि शिक्षा के कार्यक्रमों पर विचार करने के लिये जो कार्यकारी वर्ग गठित किया है, उसने यह परामर्श दिया है कि चतुर्थ पंचवर्षीय योजना काल में और अधिक कृषि विश्वविद्यालय स्थापित किये जायँ तथा जो विश्वविद्यालय स्थापित हो गए हैं उन्हें अपने कार्य-संचालन को सुगठित तथा सुदृढ़ करने का समय दिया जाय।

मध्यप्रदेश में कृषि विश्वविद्यालय की स्थापना जबलपुर में की गई है तथा वर्तमान कृषि महाविद्यालय इस नए प्रांगण का केन्द्र रहेगा। इस विश्वविद्यालय का नामकरण स्वर्गीय पंडित जवाहरलाल नेहरू के नाम पर किया गया है तथा यह "जवाहरलाल नेहरू कृषि विश्वविद्यालय" कहलायगा। इस विश्वविद्यालय का अधिकार-क्षेत्र संपूर्ण मध्यप्रदेश राज्य में रहेगा। वर्तमान कृषि महाविद्यालय तथा दो पशु चिकित्सा और पशुपालन महाविद्यालय इस महाविद्यालय के अंग रहेंगे और यथासमय गृह अर्थशास्त्र महाविद्यालय, कृषि इंजीनियरिंग महाविद्यालय और प्रयुक्त बुनियादी विज्ञान महाविद्यालय भी इसी विश्वविद्यालय के प्रांगण में ही स्थापित किये जाएँगे।

यह विश्वविद्यालय एक स्वशासी संस्था रहेगी तथा मध्यप्रदेश के राज्यपाल इसके कुलपति रहेंगे। इस विश्वविद्यालय के दिन-प्रतिदिन के कार्य की देख-रेख पूर्णकालिक उपकुलपति करेंगे, जिनकी नियुक्ति कुलपति द्वारा की जाएगी। इस विश्वविद्यालय का अधिकार :—

१. मंडल, २. शिक्षण परिषद्, ३. अध्ययन विभाग (फैकल्टीज) तथा विश्वविद्यालय अधिनियम द्वारा घोषित अन्य अधिकारियों में निहित रहेगा। प्रबंध मंडल में चार पदेन सदस्य अर्थात् १ शासन सचिव, मध्यप्रदेश कृषि विभाग, २. शासन सचिव मध्यप्रदेश योजना तथा विकास विभाग, ३. कृषि संचालक तथा ४. पशु-चिकित्सा सेवा और पशुपालन संचालक रहेंगे। इन पदेन सदस्यों के अतिरिक्त राज्य विधान सभा के पाँच सदस्य तथा विश्वविद्यालय के पंजीय स्नातकों द्वारा चुने गये सात सदस्य रहेंगे।

शिक्षण में १. उपकुलपति, २. अनुसंधान ३. विस्तार संचालक, ४. अध्ययन विभागों के डीन, ५. विश्वविद्यालय के तीन शिक्षक, जो अनिनियमों द्वारा निर्धारित रीति से स्वयं उन्हीं में से चुने जायेंगे तथा ऐसे २ व्यक्ति (विश्वविद्यालय के कर्मचारी नहीं) सम्मिलित रहेंगे, जो विश्वविद्यालय द्वारा मान्य विषयों में उनके विशेष ज्ञान के कारण शिक्षण परिषद् द्वारा लिये जायेंगे।

इस प्रकार यह विश्वविद्यालय स्वशासी रहेगा।

सार संकलन

१. टाइम कैपस्यूल

अमेरिका में ७.५ फुट (२.२५ मीटर) लम्बी की धातु एक ऐसी कैपस्यूल तैयार की गयी है, जिसमें रखी गई वस्तुएँ ५० शताब्दियों तक पूर्णतः सुरक्षित रहेंगी। इस कैपस्यूल में २० वीं सदी के मध्य काल की सभ्यता के प्रमाण और रिकार्ड रख दिए जायेंगे और इसके उपरान्त इसे सील कर न्यूयार्क विश्व मेले में चुने हुए स्थान पर भूमि-गर्भ में दबा दिया जायेगा। इस कैप-स्यूल को पृथ्वी के गर्भ में दबाने का उद्देश्य इस बात की विश्वसनीय और सन्तोषजनक व्यवस्था करना है कि आज से ५ हजार वर्ष बाद पृथ्वी पर निवास करने वाले मानवों को इस समय की मानव-सभ्यता की विस्तृत और सुस्पष्ट जानकारी मिल सके।

यह टाइम 'कैपस्यूल' विश्व-मेले के अन्तिम दिन, अर्थात् १६ अक्तूबर, १९६५ को ५० फुट की गहराई में दबाया जायेगा। इस 'कैपस्यूल की बाहरी खोल पर यह निर्देश अंकित कर दिया गया है कि कोई भी व्यक्ति. जिसे यह 'कैपस्यूल' खुदाई करते हुए मिले, ई० ६९६५ के पूर्व इसे न खोले।

यह कैपस्यूल उस स्थान से १० फुट की दूरी पर दबाया जायेगा, जहाँ १९३९-४० न्यूयार्क विश्व-मेले के अवसर पर ऐसा ही पहले कैपस्यूल दबाया गया था। इस नए 'कैपस्यूल' में रखे जाने वाले माइक्रोफिल्म रिकार्ड (अत्यन्त सूक्ष्म फिल्मों पर अंकित रिकार्ड) से इस दर्शक के मानव-जीवन और पिछले २५ वर्ष की अवधि में—पहला कैपस्यूल २५ वर्ष पूर्व दबाया गया था—की गई प्रगति की झाँकी दृष्टिगोचर होगी।

इस 'कैपस्यूल' में रखी जाने वाली सामग्री का चयन विभिन्न क्षेत्रों से सम्बन्धित अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति के ३३ विशेषज्ञों की समिति द्वारा किया जायेगा। इनमें से १४ विशेषज्ञ, जिनमें दो नोबेल-पुरस्कार विजेता भी हैं, अमेरिका के हैं। शेष १९ विशेषज्ञों में संसार के अन्य देशों के राजनीतिज्ञ, विद्वान, वैज्ञानिक, कलाकार तथा अन्य क्षेत्रों से सम्बन्धित प्रसिद्ध व्यक्ति शामिल हैं। विश्व-मेले में अपने मण्डप खोलने वाले २९ देशों को 'कैपस्यूल, की सामग्री का चयन करने के कार्य में इस 'समिति' की सहायता करने के लिए आमन्त्रित किया गया है। यद्यपि सोवियत रूस ने विश्व मेले में कोई मण्डप नहीं खोला है परन्तु आमन्त्रित राष्ट्रों में उसे भी शामिल कर लिया गया है।

इस चयन समिति के अध्यक्ष हैंवाशिंगटन के प्रसिद्ध संग्रहालय स्मिथसोनियन संस्थान के सेक्रेटरी डा० लियोनार्ड कारमाइकेल। डा० कारमाइकेल ने समिति के उद्देश्यों की व्याख्या इस प्रकार की है :—

हम ऐसी वस्तुओं का चयन करने का विचार कर रहे हैं, जिनकी सहायता से ५ हजार वर्ष बाद के मानव को हमारी वर्तमान सभ्यता तथा उसके विकास और प्रगति की अत्यन्त द्रुत गति को समझने और अनुभव करने में सहायता मिलेगी। यद्यपि, पिछले २५ वर्षो में हुई प्रगतियों या सफलताओं को लोग बहुधा एक सामान्य बात मानते हैं, लेकिन इसमें कोई सन्देह नहीं कि इन सफलताओं ने हमारे विश्व के रूप में क्रान्ति-कारी परिवर्तन कर दिया है। उदाहरणार्थ, इस बात पर विचार कीजिए कि आज मानव-जीवन पर व्यापारिक स्तर पर संचारित टेलिविजन-संजाल, जेट वायुयान, अणुशक्ति और अन्तरिक्ष-अनुसन्धान का कितना अधिक प्रभाव पड़ा है। ये सभी क्रान्तिकारी परिवर्तन पिछले २५ वर्ष की अवधि में ही हुए हैं।

पहले 'टाइम-कैपस्यूल' का निर्माण ताँबे से निर्मित

एक मिश्रित धातु 'क्यूपलौय', क्रोमियम और इस्पात के सदृश्य कठोर चाँदी से हुआ था। इसके अन्दर पाइरेक्स काँच के निर्मित एक विशेष खोल की व्यवस्था की गई है। इस खोल पर इस प्रकार के मोम का लेप भी है, जिस पर पानी का कोई असर नहीं होता।

पुराने कैपस्यूल की तरह नए कैपस्यूल का आकार भी नली जैसा है। इसका निर्माण क्रोमार्क स्टेनलेस इस्पात से हुआ है, जो लोहा, निकेल, क्रोमियम, मैंगनीज, मोलिब्डनम तथा अन्य धातुओं के संयोग से निर्मित हुआ है।

इस मिश्रित धातु की परीक्षा अत्यन्त विषम वातावरण में रख कर भली प्रकार कर ली गई है। इन सभी परीक्षणों में यह धातु अत्यन्त विश्वसनीय और मजबूत सिद्ध हुई है।

इस सम्बन्ध में भी पूर्ण सावधानी वरती जायेगी कि कैपस्यूल में रखने के लिए ऐसी कोई वस्तु नहीं चुनी जाये, जिससे कोई हानिकारक अथवा क्षतिकारक धुंआ अथवा अम्ल उत्पन्न होने की सम्भावना हो। इसके लिए कोई तरल द्रव नहीं चुना जायेगा तथा 'बीज, जैसी वस्तुओं को कांच के छोटे-छोटे बर्तनों में सीलबन्द करके रखा जायेगा।

फिल्में अल्यूमीनियम के डिब्बों में बन्द करके रखी जायेंगी तथा अन्य सभी वस्तुएँ अलग-अलग मोटे कागज में लपेट कर सूत के धागे से बाँध कर रखी जायेंगी। इन सब वस्तुओं को अन्दर रखने के उपरान्त कैपस्यूल से सारी हवा बाहर खींच ली जायेगी। केवल इतनी निष्क्रिय गैस और आर्द्रता ही उसमें शेष रहेगी, जितनी एक सामान्य कमरे में विद्यमान रहती है। अन्त में कैपस्यूल को सील कर दिया जायेगा तथा उसे गड्ढे में उतार दिया जायेगा। इसके उपरान्त उस गड्ढे को मिट्टी और कंक्रीट से पाट दिया जायेगा।

इस 'कैपस्यूल' का कुल वजन ३०० पौण्ड होगा। इसकी दीवारे ⅜ इंच मोटी होंगी तथा इसका व्यास ८·३७५ इंच होगा।

उन दोनों 'कैपस्यूलों' का नमूना वेस्टिंग हाउस इलेक्ट्रिक कार्पोरेशन द्वारा पिट्सवर्ग, पैन्सिल्वेनिया में तैयार किया गया और उसी ने इनका निर्माण भी किया है। अमेरिकी सरकार के 'ब्यूरो औव् स्टैण्डर्डस' के वैज्ञानिकों ने इस बात का निश्चय करने में उसे सहायता दी है कि क्या १९३९ में दबाए गए कैपस्यूल में रखी गई सामग्री ५ हजार वर्ष तक कैपस्यूल के अन्दर टिक सकती है।

कैपस्यूल के लिए सामग्री का चयन करने वाली इस समिति में जो प्रख्यात व्यक्ति शामिल हैं उनके नाम इस प्रकार हैं: फिलिपीन विश्वविद्यालय के अध्यक्ष जनरल कार्लोस रोम्युलो, जापानी भौतिकशास्त्री और नोबेल पुरस्कार विजेता श्री मिडेकी याकामा, अर्थ और वित्तीय मामलों पर आस्ट्रेलिया के प्रख्यात विद्वान सर ग्रयन पाटर, भारतीय आर्थिक आयोजनकर्त्ता श्री एम० एस० थैकर, इटली में पाकिस्तान की राजदूत बेगम अली खाँ, बेरुत स्थित अमेरिकी विश्वविद्यालय के अध्यक्ष डा० कांस्टेण्टाइन ज्यूरेक, संयुक्तराष्ट्र-संघीय वृहत्सभा के भूतपूर्व अध्यक्ष डा० चार्ल्स मलिक (लेबनान), कोलम्बिया के भूतपूर्व अध्यक्ष डा० एल्वर्टो लियरस कामारगो, चिली के संगीतकार क्लाउडियो अरू, पश्चिमी जर्मनी के अणु-वैज्ञानिक और शिक्षा शास्त्री डा० ओटो हान, पश्चिमी जर्मनी के शिक्षाशास्त्री हान्स हेनरिच म्यूचो, स्वीडेन के काउण्ट सिगवार्ड बर्नाडोट, इटली के प्रसिद्ध उपन्यासकार एमिलियो च्किची तथा बेल्जियम के विदेश-मन्त्री डा० पाल हेनरी स्पाक।

फ्रांस के युवाओं तथा खेलों से सम्बन्धित मामलों के मन्त्री एम० मोरिस हरजोग, एडिनबर्ग विश्वविद्यालय में अन्तर्राष्ट्रीय कानून विषय के प्रोफेसर रिची काल्डर, ब्रिटिश सरकार के वैज्ञानिक सलाहकार सर सोली जुकरमैन, चीन गणराज्य के सी० के० यंग (जिन्होंने १९६३ में डेक्थलोन खेल में नया विश्व रेकार्ड कायम किया था) तथा भारतीय उपन्यासकार श्री आर० के० नारायण भी इस समिति में शामिल हैं।

इन राष्ट्रों के अतिरिक्त आस्ट्रिया, स्पेन, वेनेज्वेला मैक्सिको, ग्वाटेमाला, अर्जेनटीना, सोवियत रूस, तुर्की, लाइबेरिया, सेनेगल, नाइजीरिया, आइवरी कोस्ट तथा दक्षिण कोरिया को भी इस समिति की कार्यवाही में भाग लेने के लिए आमन्त्रित किया गया है।

इस 'कैपस्यूल' की एक हूबहू नकल न्यूयार्क के विश्व-मेले में स्थित वेस्टिंग हाउस इलेक्ट्रिक कार्पोरेशन के मण्डप में प्रदर्शित की गई है। 'कैपस्यूल' की सामग्री का चयन हो जाने के बाद उनका भी प्रदर्शन उस समय तक मण्डप में किया जायेगा जब तक मेला चालू रहेगा।

२. शल्योपचार में लेसर

ऑप्टिकल मेसर या 'लेसर' ऐसा सुसम्बद्ध प्रकाश उत्पन्न करता है, जिसे एक माइक्रोन के एक तिहाई आकार वाले स्थान पर प्रक्षिप्त किया जा सकता है। मूलतः समस्त प्रादुर्भूत ऊर्जा को इस अत्यन्त छोटे क्षेत्र में केन्द्रित किया जा सकता है। एक दूरवीक्षण यंत्र के भीतर से प्रक्षिप्त करने पर मेसर के प्रकाश द्वारा चन्द्रमा की सतह तक दृष्टि को पहुँचाना सम्भव हो गया है। किन्तु लेसर को सूक्ष्म शल्योपचार में भी प्रयुक्त करना सम्भव है।

अपने आन्तरिक गुणों के कारण 'लेसर' अन्तर्कोषीय प्रयोगों के लिए एक्सरे यंत्र या न्यूट्रोन-उत्पादक यंत्र की अपेक्षा कहीं अधिक उपयोगी उपकरण सिद्ध होता है।

लेसर एक ऐसे प्रकाश के स्रोत के रूप में भी प्रयुक्त हो सकता है, जिसके द्वारा दृश्य-बिम्ब की सूक्ष्म रचना का अध्ययन किया जा सकता है। वह वैज्ञानिक को इतनी अतिलोल लहर-लम्बानें प्रदान कर सकता है, जिनके द्वारा वे कोषरचना के नये पहलुओं की जाँच कर सकते हैं।

शल्योपचार के लिए प्रयुक्त मेज पर काम करने वाले शल्यचिकित्सक की आवश्यकताएँ भिन्न होती हैं। जिस रुग्ण कोष को वह काट कर निकालना चाहता है, वह प्रायः किसी ऐसे कोषीय ढाँचे से संलग्न होता है, जिसे किसी प्रकार स्पर्श न करना ही उचित होता है। तन्तुओं को अति सूक्ष्म और बारीक मोटाई में काटना, मस्तिष्क के अनेक रोगों, चेहरे के कैंसर, श्वास-नलिका की गिल्टी आदि के आपरेशन में उपयोगी सिद्ध हो सकता है। लेसर पशुओं में कुछ प्रकार की गिल्टियों को नष्ट करने में उपयोगी सिद्ध हुआ है। यदि उसके इस गुण का पर्याप्त परीक्षण करके यह प्रमाणित कर लिया जाय कि मनुष्यों पर प्रयोग करने में भी यह उसी प्रकार उपयोगी सिद्ध होगा, तो उसकी उपयोगिता बहुत बढ़ जायेगी। उसके द्वारा शल्योपचार के लिए एक ऐसा चाकू तैयार हो सकता है, जो न केवल रुग्णकोष को पृथक कर सकेगा बल्कि शेष विकारग्रस्त कोषों को भी नष्ट कर सकेगा।

शल्योपचार मेसर के विनाशक प्रभाव शरीर के खुले हुए बाहरी भागों को ही सीमित नहीं। उनके द्वारा उत्पन्न शक्ति को फाइबर ऑप्टिक द्वारा जहाँ चाहें पहुँचाया जा सकता है। अतः उनके द्वारा शरीर के उन भीतरी कोषों तक भी पहुँचाया जा सकता है, जिन्हें अन्यथा देख पाना सम्भव नहीं।

"वेण्ट्रीकुलोस्कोप' एक विशेष सूक्ष्मवीक्षण यंत्र है, जिसे खोपड़ी में छोटे छिद्र के रास्ते मस्तिष्क के वक्राकार रंध्रों में प्रविष्ट किया जा सकता है। लगभग २० साल पहले इसे रोगों के निदान के लिए कभी-कभी प्रयुक्त किया जाता था किन्तु अब इसका कहीं भी प्रयोग नहीं होता। फिर भी, सूक्ष्मवीक्षण यन्त्र से सम्बद्ध तन्तु-पुंज से होकर लेसर की रश्मि को मस्तिष्क के भीतर पहुँचाने की सम्भावना से यह संकेत मिलता है कि इसके द्वारा मस्तिष्कीय कोषों सम्बन्धी विकारों को ठीक किया जा सकता है। इस सम्भावना को मूर्त्त रूप देने के लिए प्रयोग हो रहे हैं।

आँख के पीछे की काली पुतली पर प्रकाश बड़ी आसानी से प्रक्षिप्त हो सकता है। अतः रोगोपचार सम्बन्धी लेसर के प्रथम प्रयोग नेत्र विज्ञान में हुए हैं।

रक्तवाहिनी नाड़ियाँ, श्वास नलिका के हिस्सों तथा पेट की अंतड़ियों को लेसर-रश्मि द्वारा एक दूसरे से जोड़ने की सम्भावना भी अत्यन्त आकर्षक है। शरीर की अनेक खोखली नलिकाओं को परस्पर जोड़ने सम्बन्धी प्रयोगों में प्रायः मेथाक्राइलेट प्लास्टिक प्रयुक्त हुआ है। किन्तु यदि लेसर द्वारा उन्हें जोड़ने का विधि विकसित हो जाय, तो शल्योपचार का क्षेत्र बहुत ही विस्तृत हो जायेगा।

यद्यपि अभी इस उपकरण की सम्भावनाओं के विषय में अंतिम रूप से कुछ नहीं कहीं जा सकता, फिर भी इतना स्पष्ट है कि डा० टाउन्स और उनके सहयोगियों ने एक ऐसा उपकरण दिया है, जो अनुसन्धान और रोगों के उपचार में अतीव उपयोगी सिद्ध हो सकता है।

●●

विज्ञान वार्ता

१. समुद्र से जीवन का उद्भव

वैज्ञानिकों ने प्रायः इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है कि पृथ्वी पर जीवन का उद्भव सबसे पहले महासागरों में हुआ, किन्तु इसे सिद्ध करने के लिए कोई प्रमाण प्रस्तुत करने में वे असमर्थ रहे हैं। सिद्धान्त यह है कि महासागर में पानी के निरन्तर लहराते रहने के कारण मंथित होकर निर्जीव कणों ने लाखों-करोड़ों वर्षों की अवधि में जटिल जैविक पदार्थ का रूप धारण कर लिया, और अंत में, प्रथम सजीव जैविक पदार्थ का प्रादुर्भाव हुआ।

अब अमेरिका के चार महासागरीय विज्ञान-वेत्ताओं ने इस बात का प्रमाण मिलने की सूचना दी है कि महासागर सचमुच साधारण अजैविक कणों से वृहत्तर और जटिलतर जैविक पदार्थ का सृजन करता है। उनकी इस रिपोर्ट से इस सिद्धान्त की एक शृंखला की पुष्टि होती है।

उन्होंने कहा है कि एकाकी जैविक कण, लहरों के अनवरत वेग द्वारा निर्मित बुलबुलों से चिपक कर, बृहत्तर पुंज बन जाते हैं। बुलबुले एक प्रकार का मुठिया होते हैं, जिससे ये कण चिपक जाते हैं। येल विश्वविद्यालय के डाक्टर गोर्डन रिले और डा० पी० जे० वैंगरस्की तथा वुड्स-होल (मैसाच्यूसेट्स) ओशनोग्रैफिक इन्स्टिट्यूट के डा० ई० आर० बेलोर और डा० डब्ल्यू० एच० सुचर्वलिफ ने अपने अनुसन्धान की रिपोर्ट नेशनल सायंस फाउण्डेशन के माध्यम से, जिसने उनके अनुसन्धान के लिए वित्त की व्यवस्था की, प्रस्तुत की। उन्होंने प्रयोगशाला में इस बात का प्रदर्शन किया कि बुलबुले उठाने वाला समुद्र जल बुलबुलों वाले क्षेत्र में जैविक कणों को आकृष्ट और धारण करता है। समुद्र के वास्तविक जैविक पदार्थ का परीक्षण करने पर पता चला कि वह भी उसी प्रकार पुंजीभूत था।

वैज्ञानिकों ने आगे यह भी कहा है कि जैविक कणों के ये पुंज महासागर में पाये जाने वाले लघुत्तम जीवों के लिए आहार के मुख्य स्रोत हैं। दूसरी ओर ये लघुत्तम जीव समुद्र के वृहत्तर जीव-जन्तुओं के आधारभूत आहार होते हैं।

अनुमान के अनुसार, महासागरों में उपलब्ध इस जैविक पदार्थ का कुल भार उनके समस्त जीव जन्तुओं के भार के ५ गुने के बराबर है।

'फाइटो प्लैंकटोन' नामक नन्हा महासागरीय पौधा, जिसे पहले लघुत्तम समुद्री जीवों का एकमात्र आहार माना जाता था, उनका पेट भरने के लिए पर्याप्त मात्रा में वर्तमान नहीं है।

अभी तक महासागरीय विज्ञान वेत्ताओं की धारणा यह थी कि समुद्री आहार-शृंखला एक-पक्षीय प्रक्रिया है, जिसके अन्तर्गत जीवन से जीवन का उद्भव होता है। जैविक पदार्थ को सड़ कर अजैविक रसायनों का रूप धारण करना पड़ता है। उसके बाद ही 'फाइटो-प्लैंकटोन पौधे उसे आतमसात् करके सजीव पदार्थ के रूप में परिणत करते हैं। डा० रिले ने कहा है कि यह दीर्घकालीन विश्वास निराधार है। उन्होंने कहा कि फाइटोप्लैंकटोन महासागर की सतह के निकट ही उगते हैं और जाड़े में जब अपेक्षाकृत कम धूप उन तक पहुँचती है, वे दुर्लभ हो जाते हैं। महासागरीय अधुसन्धानों से पता चलता है कि जाड़े के महीनों में जितनी मात्रा में फाइटोप्लैंकटोन होते हैं, वह

कम होती है कि समुद्री जीव-जन्तुओं के पोषण के लिए पर्याप्त नहीं हो सकता। उन्होंने यह भी कहा कि नन्हें समुद्री जीव पानी के नीचे गहरे अँधेरे में पैदा होते और बढ़ते हैं। यह गहराई उस गहराई से आगे होती है, जहाँ पौधों का अस्तित्व पाया जाता है। अतः यह निश्चित है कि महासागरों में जीव-जन्तुओं के आधार का मूल स्रोत कुछ और ही है।

२. प्रकाशधारा द्वारा उपग्रहों का मार्गान्वेषण

अगले एक-दो सप्ताहों में दो अमेरिकी वैज्ञानिक कृत्रिम उपग्रहों की टोह लेने की एक नई और विशेष रूप के कहीं अधिक सही विधि का परीक्षण करेंगे।

वे प्रकाश की एक पतली धारा को पृथ्वी से ६०० मील दूर 'बीकन एक्सप्लोरर' नामक उपग्रह पर फेंकेंगे। इस उपग्रह को पौइन्ट आर्गुलो (कैलिफोर्निया) से स्काउट राकेट द्वारा छोड़ा जायेगा।

प्रकाशधारा द्वारा उपग्रहों का मार्गान्वेषण रेडियो-प्रक्षेपण अथवा रेडार की प्रचलित विधियों की अपेक्षा कहीं अधिक निर्दोष और सही होगा, क्योंकि प्रचलित विधियों में प्रकाशधारा दूर होते हुए अधिक विस्तृत और विरल हो जाती है।

प्रकाशधारा के अपनी किस्म के इस पहले परीक्षण के फलस्वरूप यह संभव है कि संचार-व्यवस्था आदि के कामों में 'लेसर' किरण का एक अन्य व्यावहारिक उपयोग निकल आये।

वस्तुतः मार्गान्वेषण सम्बन्धी इस परीक्षण से पहली बार यह जानने का यत्न किया जायेगा कि क्या 'लेसर' प्रकाश-धारा का उपयोग सन्देशों को पृथ्वी से उपग्रहों तक और फिर वहाँ से वापस लौटाने में किया जा सकता है। सन्देशों या चित्रों को अन्यत्र पहुँचाने के लिए प्रकाश-तरंगों को नियन्त्रित अथवा व्यवस्थित करने के प्रयत्नों से पहले सामान्य सम्पर्क स्थापित किया जाना चाहिए।

'बीकन' उपग्रह के छोड़े जाने के एक-दो दिन बाद परीक्षण करने के लिए वैज्ञानिकों ने वर्जिनिया तट पर वालोप्स द्वीप के केन्द्र की १८ इंची मुँह वाली दूरबीन पर एक 'लेसर' धारा की व्यवस्था की है। अब बड़ी समस्या यह होगी कि तेज उड़ते हुए उपग्रह को प्रकाश-धारा के संकुचित लक्ष्य के सामने रखा जाये। प्रचलित मार्गान्वेषी विधियों द्वारा लक्ष्य निर्धारित करने के लिए जानकारी दी जायेगी।

तथापि, प्रकाश-तरंगों की नैसर्गिक वाहन-क्षमता रेडियो-तरंगों की अपेक्षा कई हजार गुना अधिक है। इस कारण लेसर प्रकाश-धारा का सबसे अधिक लाभ संचार-व्यवस्था के क्षेत्र में होने की संभावना है। दृष्टान्त के रूप में, वैज्ञानिकों का मत है कि एक अकेली प्रकाश-तरंग से सिद्धान्ततः १ करोड़ टैलिविजन-प्रसारणों का प्रबन्ध किया जा सकता है।

पिछले वर्षों में लेसर प्रकाशधाराओं का सबसे अधिक व्यावहारिक उपयोग उससे उत्पन्न प्रचण्ड ताप से लिया गया है। इन उपयोगों में हीरों की कटाई और आँख व मस्तिष्क की सूक्ष्म शल्य-क्रिया आदि बातें उल्लेखनीय हैं।

३. 'पी-एल ४८०' कोष से अनुदान

सरकारी कानून-४८० के कोष से कृषि, शिक्षा, स्वास्थ्य तथा अन्य क्षेत्रों की बहुत सी महत्वपूर्ण योजनाओं के लिए अनुदान दिये गये हैं। जिन योजनाओं के लिए अनुदान देने के बारे में समझौते किये गये हैं वे निम्नलिखित हैं :—

नदी घाटी विकास (चम्बल, हीराकुंड, दामोदर घाटी, माही के दाईं ओर की नहर, काकड़ापाड़ नागार्जुनसागर, कोसी, भद्रा तुंगभद्रा, महानदी के मुहाने के अंचल की सिचाई-योजना, कुंडा तथा कोयना योजना	५ करोड़ ९० लाख रु०
मलेरिया उन्मूलन	६९ करोड़ ९० लाख रु०
कानपुर का इण्डियन इन्स्टिट्यूट औव् टैक्नोलॉजी	२ करोड़ २० लाख रु०

पन्तनगर का उत्तरप्रदेश कृषि-विश्वविद्यालय	२ करोड़ २० लाख रु०
नई दिल्ली का आल इण्डिया इन्स्टिट्यूट औव् मैडिकल साइन्सेज	२ करोड़ ६० लाख रु०
भारतीय पूँजी-विनियोजन केन्द्र	४० लाख रु०
डेयरी-उद्योग	३ करोड़ ६० लाख रु०
भूमि तथा जल संरक्षण	६ करोड़ ६० लाख रु०
राष्ट्रीय मार्ग	२० करोड़ रु०
भूमिगत जल-साधनों की खोजबीन	८० लाख रु०
कारीगरों का प्रशिक्षण	२७ करोड़ ४० लाख रु०
अनाज के आधुनिक गोदाम	१२ करोड़ २० लाख रु०
उच्च तकनीकी शिक्षा	६ करोड़ ६० लाख रु०
प्राथमिक शिक्षा	४२ करोड़ रु०
चेचक उन्मूलन	८ करोड़ ७० लाख रु०
प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र	६ करोड़ ८० लाख रु०
मैडिकल शिक्षकों को प्रशिक्षण	७ करोड़ ४० लाख रु०
राष्ट्रीय उत्पादकता परिषद्	१० लाख रु०
योग	२ अरब २८ करोड़ ३० लाख रु०

४. पांच व्यक्तियों में से एक वैज्ञानिक

नवीनतम तखमीनों के अनुसार १९६१ के आरम्भ में दुनियां की आबादी करीब २९००० लाख थी तथा विज्ञान के क्षेत्र में काम करने वाले विशेषज्ञों की संख्या २० लाख थी, अर्थात् प्रति १५०० की आबादी पर एक वैज्ञानिक था। हाँ, उद्योग-प्रधान देशों में अनुपात काफी अधिक था, जैसे चार साल पहले सोवियत संघ में ६६२ पर एक था। हर ५० साल पर दुनियां की आबादी दूनी हो जाती है, जबकि अनुसंधानकर्मियों की संख्या हर साढ़े आठ साल में दूनी हो रही है। अगर यही हालत रही तो सन् २००० तक वैज्ञानिकों की संख्या २००-३०० लाख हो जाएगी और इसके बाद के ५० वर्षों के भीतर दुनियां की आबादी ८०००-१००००० लाख होगी तथा वैज्ञानिकों की संख्या २०००० लाख, अर्थात् हर पाचवां व्यक्ति वैज्ञानिक होगा।

५. १९६४ के नोबेल पुरस्कार

रसायन में सन् १९६४ का नोबेल पुरस्कार आक्सफोर्ड की महिला प्रोफेसर डोरोथी क्राउफुटहागकिन को प्रदान किया गया है। इन्होंने विटामिन तथा पेनिसिलीन पर महत्वपूर्ण कार्य किये हैं। इनके पति को पिछले वर्ष ओषधिशास्त्र पर नोबेल पुरस्कार मिला था।

भौतिकी में इस वर्ष का नोबेल पुरस्कार तीन व्यक्तियों को साथ-साथ घोषित हुआ है। ये हैं—मैसाचुसेट्स के टेकनालाजी इंस्टीच्यूट के प्रोफेसर चार्लटाउन्स तथा मास्को स्थित लेबेडेफ फिजिक्स इंस्टीच्यूट के प्रो० निकोलाई वैसॉव तथा अलेक्जेंडर प्रोचोरॉव।

सम्पादक के नाम पत्र

(१)

राणा प्रताप बाग, दिल्ली

आदरणीय मिश्र जी ७-१०-६४

सितम्बर ६४ के 'विज्ञान' के बदले हुये मुख पृष्ठ के लिये हार्दिक बधाइयाँ।

विज्ञान ने विधवा-सा वेश उतार कर जो अभिनव परिधान धारण किया है, वह बहिरंग तक ही सीमित न रहे, बल्कि अन्तरंग भी जगमगाए, यह शुभ कामना है।

भवदीय
रमेशदत्त शर्मा

प्रिय महोदय,

विज्ञान को विधवा वेश से सधवा वेश देखकर जो प्रसन्नता व्यक्त की उसके लिये धन्यवाद। उसका कलेवर अलंकृत तो होगा ही किन्तु यह आप सबों के सहयोग पर ही निर्भर करेगा।

—सम्पादक

(२)

टीकमगढ़

प्रिय महोदय, २०-९-६४

'विज्ञान' की नई साज सज्जा को देख लगता है यह शीघ्र ही उच्चकोटि का पत्र प्रमाणित होगा एवं अन्य वैज्ञानिक पत्रों का उचित मार्ग-दर्शन करेगा।

भवदीय
बालमुकुन्द दीक्षित

(३)

प्रिय श्री दीक्षित जी,

शुभाशीषों के लिये धन्यवाद

— सम्पादक

प्रिय मिश्र जी,

विज्ञान का सितम्बर अंक प्राप्त हुआ, जिसमें तैलंग पुरस्कार सम्बन्धी विज्ञापन है। आशा है आप उक्त प्रतियोगिता के लिए आए लेखों को 'विज्ञान' के अगले अंकों में उचित स्थान देंगे। यह पुरस्कार विज्ञान में प्रकाशित लेखों पर प्रति वर्ष चालू रहेगा। साथ ही विगत वर्ष की भाँति विज्ञान' पत्रिका की स्तरोन्नति के निमित्त यथासम्भव सहायता स्वरूप "प्रतिदान" भी दिया जायगा।

आशा है 'विज्ञान' हिन्दी जगत में वैज्ञानिक साहित्य की पूर्ति के निमित महत्वपूर्ण योगदान करेगा।

बालमुकुन्द दीक्षित

प्रिय महोदय,

तैलंग पुरस्कार प्रतियोगिता के लिये आया प्रथम निबन्ध इसी अंक में छप रहा है। अगले अंकों में भी उन्हें अनवरत स्थान दिया जावेगा।

आप जैसे दयालु एवं दाता जनों की 'विज्ञान' को आवश्यकता है। बिना समुचित आर्थिक स्वस्थता के कलेवर या स्तर में विशिष्ट वृद्धि सम्भव नहीं। किन्तु फिर भी मैं विश्वास दिलाऊँ कि प्रयत्न यही होगा जिससे 'विज्ञान' सर्वश्रेष्ठ मासिक बने।

—सम्पादक

पुस्तक समीक्षा

१. विज्ञान जगत : सितम्बर १९६४

आलोच्य अंक में पृष्ठ १० से पृष्ठ १७ तक के बीच दो लेख छपे हैं—"प्राणदायिनी आक्सिजन" तथा "जब आदमी की हर हरकत विज्ञान की मुट्ठी में होगी।" इन दोनों लेखों में कुछ भाषा सम्बन्धी विशेष प्रयोगों की ओर संकेत करना हमारा उद्देश्य है। प्रथम लेख का शीर्षक ही त्रुटिपूर्ण जान पड़ता है—आक्सीजन के साथ गैस लगाकर उसे स्त्रीलिंग मानते हुए स्त्रीलिंग विशेषण के साथ प्रयुक्त किया जा सकता है अन्यथा "प्राणदायक" या "प्राणदाता" विशेषण ठीक होगा। पृष्ठ १० परिच्छेद २ में "प्रज्वलन करा कर यह ऊर्जा उत्पादन करती है" में "करा कर" का प्रयोग ठीक से नहीं हुआ। कुछ पंक्तियों बाद "जज्ब" शब्द आया है। अवश्य ही इसका प्रयोग चिन्त्य है क्योंकि हिन्दी लिखते समय उर्दू का यह कठिन शब्द पाठक को द्विधा में डाल देगा। इसके ठीक विपरीत एक हिन्दी पारिभाषिक शब्द आया है—"आक्सीजन पुष्टीकृत", "पुष्टीकृत" से लेखक का आशय अवश्य ही "आक्सीजन-धनी" से होगा ? एक अन्य प्रयोग (पृष्ठ १२) अंग्रेजी का है—"आक्सीजन के टेन्ट में"। इससे सामान्य पाठक को यह पता नहीं चल पावेगा कि लेखक क्या कहना चाहता है। टेन्ट के लिए तम्बू या कक्ष या और कोई शब्द सरलतापूर्वक व्यवहृत किया जा सकता था। पृ० १२ में "आक्सीजन मस्तिष्क 'के' रक्तवाहिनी में संकुचन पैदा कर देती है" इस वाक्य में रक्तवाहिनी को पुलिंग माना गया है जब कि यह स्त्रीलिंग शब्द है।

दूसरे लेख में उर्दू शब्दों की भरमार है—खुशदिल, हालांकि, नाचीज, मशगूल, मुकाबला, तन्दुरुस्त, माजरा, बारीकी आदि। "सेक्स" शब्द अंग्रेजी का है किन्तु उसे एक भी स्थान पर समझाने का प्रयास नहीं हुआ।

आशा है कि अन्य भाषाओं के शब्दों को हिन्दी में प्रयुक्त करते समय पाठकों के शब्द-ज्ञान एवं भाषा की प्रकृति पर भी ध्यान रखा जावेगा।

२. विज्ञान प्रगति : नेहरू स्मृति अंक :

जुलाई-अगस्त १९६४, वर्ष १३, अंक ७-८, पृष्ठ संख्या १०८, मूल्य ५० पैसे।

यह अंक भारत के अत्यन्त जनप्रिय नेता स्वर्गीय पं० जवाहर लाल नेहरू की स्मृति में प्रकाशित किया गया है। सम्भवतः वैज्ञानिक पत्रिकाओं में "विज्ञान प्रगति" का यह प्रयास अनन्य है। पहली बार नेहरू को वैज्ञानिक के रूप में अंकित करने एवं परखने का प्रयत्न किया गया है। अनेक रंगीन एवं सादे चित्रों से युक्त यह अंक सर्वथा संग्रहणीय है। इसमें सामग्री का चयन ५ खण्डों में है—

खण्ड १ वैज्ञानिक नेहरू—संक्षिप्त जीवनी।
खण्ड २ नेहरू साहित्य में विज्ञान।
खण्ड ३ वैज्ञानिकों की दृष्टि में नेहरू।
खण्ड ४ भारतीय विज्ञान को नेहरू की देन।
खण्ड ५ पत्र व्यवहार।

सम्पादक ने सामग्री के संचयन में काफी श्रम किया हैं जिसके फलस्वरूप यह अंक रोचक एवं वास्तविक सूचनाओं का कोश बन गया है। नेहरू द्वारा लिखित समस्त साहित्य का मंथन करके जितने भी विचार-रत्न प्रस्तुत किये गये हैं वे ज्ञानवर्द्धक होने के साथ ही नेहरू जी के वैज्ञानिक दृष्टिकोण को सत्य-सत्य रूप में

बताने वाले हैं। इस अंक के अधिकाँश लेख उच्चकोटि के वैज्ञानिकों द्वारा लिखित हैं।

खण्ड १ की सामग्री के साथ-साथ, मूल स्रोतों का उल्लेख नहीं किया गया, जो अत्यन्त अवैज्ञानिक लगता है। पृष्ठ ८० तथा ८४ के चित्रों के साथ परिचय नहीं दिया गया। पृ० ७८ में लेखक का नाम गलत छापा है—उसे महरोत्रा न होकर "मेहरोत्रा" होना चाहिए था। यही नहीं, उनके परिचय के साथ जो उपाधि छपी है वह भी गलत है। भला एक वैज्ञानिक पत्रिका में किसी विद्वान की उपाधि का गलत छप जाना भयंकर भूल नहीं तो क्या है?

पृ० ६३ पर दूसरे स्तम्भ में "गाँधी जी ने कहा था" के बाद पूर्ण विराम न लगाकर, आगे के वाक्य को उल्टा कामा से प्रारम्भ होना चाहिए था। यह भी एक भयंकर भूल है क्योंकि अर्थ का अनर्थ हो रहा है। यही नहीं, इस पृष्ठ पर छपे लेख का शीर्षक भी भ्रामक लगता है क्योंकि लेख में "विज्ञान की भाषा" के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं दिया गया।

पत्र संकलन के सम्बन्ध में एक उलाहना है। गाँधी जी तथा नेहरू के जिन दो पत्रों को संकलित किया गया है वे किसी वैज्ञानिक पत्रिका की विषय-सीमा से परे हैं। यदि भाभा, रमन, बोस या अन्य विदेशी वैज्ञानिकों के साथ हुए पत्र-व्यवहार को स्थान दिया जाता तो अधिक न्यायसंगत होता? डा० जहीर के पत्र को स्थान देते हुए अन्य भारतीय वैज्ञानिकों के पत्रों का न दिया जाना शोच्य है। यहीं नहीं, उनके लेख के साथ-साथ एक से अधिक चित्रों का होना, जिनमें वे बारम्बार नेहरू के साथ-साथ दिखाये गये हैं, शोभा नहीं देता। ऐसा लगता है कि इसके मूल में प्रचारात्मक दृष्टि होगी। सम्पादक को इससे बचना चाहिए था। ऐसा ही एक इंगित है पृ० ४२ पर छपे चित्र एवं पत्रिका के भीतरी कवर में छपे एक अन्य चित्र। पहले में नेहरू केवल भटनागर के साथ हैं जबकि दूसरे चित्र में डा० जहीर भी हैं? क्या यह अलग से चिपकाया गया या मूल रूप में ही ऐसा था?

इन सब दोषों के होने पर भी यह स्मृति-अंक नेहरू की स्मृति के सर्वथा अनुरूप है। इसका सर्वत्र स्वागत होना सर्वथा स्वाभाविक है।

———

सम्पादकीय

१. रूसी अन्तरिक्ष प्रयोगशाला

१३ अक्टूबर को रूसी वैज्ञानिकों ने "सूर्योदय" नामक एक "अन्तरिक्ष प्रयोगशाला" को अन्तरिक्ष में भेजकर एक नवीन मानदण्ड स्थापित करने में सफलता प्राप्त की है। पूर्वयोजना के अनुसार इस प्रयोगशाला को एक लम्बी अवधि तक अन्तरिक्ष में चक्कर लगाते रहना था किन्तु न जाने क्यों २४ घण्टों की उड़ान के पश्चात् इसे पृथ्वी पर पुनः उतार लिया गया। इस प्रयोगशाला में तीन यात्री थे—एक चालक, एक वैज्ञानिक और एक डाक्टर। यह प्रथम दुस्साहसपूर्ण प्रयोग था जिसमें एक से अधिक व्यक्तियों को एक साथ अन्तरिक्ष में प्रेषित किया गया था।

इस प्रयोग के कुशलतापूर्वक सम्पन्न हो जाने के अनन्तर यह स्पष्ट हो जाता है कि रूसी वैज्ञानिकों ने अन्तरिक्षयानों की उड़ान के सम्बन्ध में काफी प्रगति कर ली है। अब एक से अधिक व्यक्तियों को अन्तरिक्ष में प्रेषित करके उन्हें किसी भी समय वापस बुलाया जा सकता है।

यह सफलता चन्द्रलोक की यात्रा में सहायक होगी, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं।

२. चीन द्वारा परमाणविक विस्फोट

गत मास के मध्य दो महत्वपूर्ण घटनायें घटी हैं। एक तो ख्रुश्चेव का पदच्युत किया जाना तथा दूसरी चीन द्वारा परमाणु बम का विस्फोट। यदि यह कहा जाय कि ये दोनों ही घटनायें समान रूप से विस्फोटक हैं तो अत्युक्ति न होगी। विश्व की राजनीति में रूस के प्रधान मन्त्री का विशेष स्थान था। राजनीतिक मंच से उनका आकस्मिक लोप सबों को चकरा देने वाला है। उन्होंने विश्वशान्ति स्थापित करने में स्वर्गीय नेहरू जी का साथ दिया था और रूस में परमाणु-परीक्षणों पर प्रतिबन्ध लगा दिया था। अनेक शिखर सम्मेलनों के अवसरों पर उनकी इस नीति की प्रशंसा भी हुई थी। एकाएक उनके पदच्युत होने और उसी के साथ चीन द्वारा परमाणु परीक्षण सम्पन्न किये जाने का जो संयोग है, वह विचारणीय है। चीन ने परमाणु परीक्षण द्वारा न केवल शान्ति को भंग करने का प्रयास किया है वरन् उसने भारत को अपनी वरिष्ठता की चुनौती दी है। दो वर्ष पूर्व चीन ने भारत पर आक्रमण करके अपनी जन शक्ति का झण्डा फहराना चाहा था और अब वह अपनी वैज्ञानिक श्रेष्ठता से भारत को स्तम्भित करना चाहता है।

चीन द्वारा किया गया परमाणु परीक्षण यद्यपि क्षीण शक्ति का है किन्तु फिर भी उससे उत्पन्न रेडियोधर्मी धूलि जापान, भारत तथा पूर्वी द्वीप समूहों पर अपना कुप्रभाव दिखाये बिना नहीं रह सकती। यह भी सम्भावना है कि चीन निकट भविष्य में और भी ऐसे परीक्षण करे।

तो क्या भारत को भी ऐसे परीक्षण करने होंगे या नैतिक बल पर दृढ़ रहते हुये परमाणु ऊर्जा का शान्ति-पूर्ण उपयोग ही करते रहना होगा? यह गूढ़ समस्या है। भारत के पास जितना रेडियोधर्मी कच्चा माल उपलब्ध है और परमाणु विज्ञान में जो निपुणता प्राप्त है उसके बल पर प्रतिवर्ष कम से कम एक-दो परमाणु-बम तो बनाये ही जा सकते हैं किन्तु जैसा कि स्व० नेहरू जी ने वारम्बार कहा था कि सामर्थ्य होने पर भी हम परमाणु बम नहीं बनावेंगे, भारत अपनी उसी नीति पर दृढ़ रहेगा। इससे भारतीय नागरिकों को न तो निराश होने की और न चिन्तित होने की ही आवश्यकता है।

एक न एक दिन चीन को अपने मुँह की खानी पड़ेगी। हाँ, हम भारतीय सच्चे हृदय से वैज्ञानिक प्रगति के पथ पर डटे रहें और कर्तव्यनिष्ठ रहें।

विज्ञान

दिसम्बर १९६४
भाग १०१

विषय-सूची

विज्ञान के मूल उद्देश्य	६१
सूर्य-कलंक—७	६३
हिन्दी में वैज्ञानिक बाल-साहित्य	६९
परिशिष्ट	७५
तैलंग पुरस्कार प्रतियोगिता—२	७७
संक्षिप्त जीवन परिचयमाला—३४	८७
सम्पादक के नाम पत्र	८९
सम्पादकीय	९०

विज्ञान परिषद्, प्रयाग

सम्पादक- डा० शिवगोपाल मिश्र

प्रति अंक ४० पैसे
वार्षिक

विज्ञान

विज्ञान परिषद्, प्रयाग का मुखपत्र

विज्ञानं ब्रह्मेति व्यजानात्। विज्ञानाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते।
विज्ञानेन जातानि जीवन्ति। विज्ञानं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति। तै० उ० ३।५।

भाग १०० | कार्तिक २०२१ विक्र०, १८८६ शक
दिसम्बर १९६४ | संख्या ३

विज्ञान के मूल उद्देश्य

डा० सत्यप्रकाश

गत सौ-दो सौ वर्षों का इतिहास विज्ञान के विकास का ही इतिहास नहीं है, एक नयी विचारधारा का इतिहास है, जिसने एक नये युग का निर्माण किया है। इस नये युग में न केवल पुरानी मान्यताएँ ही बदली हैं, समाज का नये ढंग से निर्माण भी हुआ है।

संसार के लिए विज्ञान कोई नई चीज नहीं है। सभ्यता या संस्कृति का कोई भी युग ऐसा न था, जब कि ज्ञान-विज्ञान को आदर प्राप्त न था, और मनीषियों की समाज में प्रतिष्ठा न थी। फिर भी हम गत दो-चार सहस्र वर्षों के समय कोवै ज्ञानिक-युग नहीं कहते हैं, वैज्ञानिक-युग तो गत डेढ़ सौ वर्षों की ही देन है, ऐसा मानते हैं। हर दस वर्ष में इस युग में जिस तेजी से नये-नये परिवर्तन हो रहे हैं, वे पहले के समय में शतियों में भी नहीं होते थे।

नवीन ज्ञान का उपार्जन ही विज्ञान की सीमा नहीं है, प्रत्येक बात को जाँचने-समझने की एक नयी प्रणाली का नाम विज्ञान है। इसका क्षेत्र अब स्थूल भौतिक जगत् तक ही सीमित नहीं है, अब तो इसने मनोवैज्ञानिक और जीवन-जगत् में भी प्रवेश कर लिया है। नयी पद्धति के अपनाने पर भाषा-विज्ञान, राजनीति-विज्ञान, समाज-विज्ञान आदि शास्त्रों की नयी रूप-रेखायें भी इस युग में तैयार हो गयी हैं।

आधुनिक विज्ञान यूरोप में १५वीं शती के अन्त से विशेष गति से समाज के समक्ष अवतीर्ण हुआ। यूनान देश का प्राचीन ज्ञान-विज्ञान उस समय की धार्मिक मान्यताओं के समकक्ष में अपना कार्य करता था, पर आधुनिक विज्ञान को आरम्भ से ही धार्मिक मान्यताओं से संघर्ष मोल लेना पड़ा। पृथ्वी गोल है या चौरस, सूर्य पृथ्वी का चक्कर लगाता है या पृथ्वी सूर्य का चक्कर लगाती है, सृष्टि की आयु चार-पाँच हजार वर्ष की है या दो अरब वर्ष की—ये प्रश्न थे तो साधारण, पर इन प्रश्नों का उत्तर पूर्वजों ने, धर्म-संस्थापकों ने अथवा धार्मिक ईश्वरीय पुस्तकों ने अपने ढंग पर दिया था अतः जब इन प्रश्नों पर नये ढंग से विचार आरम्भ हुआ, तो स्वाभाविक ही था कि एक संघर्ष पैदा होता। भारतीय मनीषियों ने प्राचीन समय से ही अपने को इस संघर्ष से बचा रखा था, अतः इस देश में ज्ञान और धर्म का विरोध कभी प्रत्यक्ष में देखने में नहीं आया, पर यूरोप में यह विरोध १९वीं शती में भयंकर रूप में प्रकट हुआ। कापरनिकस और गैलीलिओ के

उदाहरण स्पष्ट हैं, जिन्हें सत्य के लिए जीवन बलिदान करना पड़ा। डार्विन के समय से तो धर्म और विज्ञान में विरोध बहुत ही बढ़ गया। मनुष्य निम्नतर जातियों का विकसित रूप है, अथवा जगन्नियन्ता द्वारा सृजी गयी स्वतंत्र जाति है इस प्रश्न ने बुद्धिवादी और रूढ़िवादी समाज में विशेष विरोध उत्पन्न कर दिया। उन्नीसवीं शती में यह स्पष्ट हो गया कि बुद्धिवादी समाज रूढ़िवादी समाज पर अवश्य विजय प्राप्त कर लेगा।

उन्नीसवीं शती के आरम्भ के विज्ञान का उद्देश्य भौतिक जगत् के नवीन नियमों का ज्ञान प्राप्त करना मात्र था। उन्नीसवीं शती के मध्य से यह प्रकट होने लगा कि विज्ञान द्वारा आविष्कृत छोटी-छोटी बातों से समाज को बड़े-बड़े लाभ हो सकते हैं। भाप की शक्ति का पता चला तो रेलगाड़ियों का निर्माण हो गया। लीवर, पुली आदि के साधारण नियमों के आधार पर बड़ी-बड़ी मशीनें बन गयीं। सिलाई की मशीन, आटा पीसने की मशीन, साइकिल, घड़ी, और छापे की मशीनों ने पुरानी परम्परा के घरों के रंग-ढंग ही बदल दिए। यह लगा कि विज्ञान काम-काज की भी चीज है। अम्ल, क्षार, लवण, इन सब के बड़े-बड़े कारखाने खुलने लगे। समाज सम्पन्न होने लगा, और लोगों ने विज्ञान के उपार्जन, अध्ययन-अध्यापन के लिए धन खर्च करना आरम्भ किया। सैकड़ों मनुष्यों का काम दो-चार मनुष्यों से निकाला जाने लगा। इधर आबादी भी बढ़ रही थी, और समाज के सामने नयी समस्यायें आरम्भ हुईं।

शक्ति और समृद्धि की इस पृष्ठभूमि में यूरोप में दो महायुद्ध इस बीसवीं शती में छिड़े। विज्ञान की मान्यताओं का उपयोग युद्ध की भयंकरता को बढ़ाने में उभय-पक्षों की ओर से किया गया। प्रथम महायुद्ध में जलशक्ति बढ़ी और दूसरे युग में अन्तरिक्ष शक्ति। पहले युद्ध में विस्फोटक भयानक रासायनिक यौगिक थे, और दूसरे युद्ध का अन्त परमाणु-बम से हुआ। युद्ध-संबंधी सामग्री तैयार की जाने वाली प्रतियोगिता ने विज्ञान के सद्उद्देश्यों के प्रति आशंका उत्पन्न कर दी। विज्ञान सम्पन्नता का साधन ही नहीं रहा, यह विध्वंस का कारण भी बन गया।

प्रत्येक ज्ञान शक्ति ने अपने अगले युग में अपने से अधिक प्रबल शक्ति को जन्म दिया। इस शक्ति का उपार्जन तीव्र गति से युद्ध के समय ही किया गया। युद्ध की समाप्ति के अनन्तर उस शक्ति का उपयोग शान्ति-साधनों के लिए भी हुआ। आज भी हमें भावी युद्धों की भयंकरता बराबर सता रही है। विज्ञान ने मनुष्य को मशीनें दीं, शक्ति दी, पर इसका उपयोग युद्ध की संभावना को मिटा न सका। अगले युद्ध अधिक प्रलयंकारी होंगे, इस विश्वास ने आज मानव को त्रस्त कर रखा है। आवागमन के सुलभ साधनों ने भ्रातृभाव, एवं विश्वबन्धुत्व के भाव को प्रोत्साहित अवश्य किया है, पर स्वार्थ, विरोध, द्वेष, कलह आदि विषम प्रवृत्तियों पर विज्ञान ने विजय नहीं प्राप्त की। धर्म के आचार्यों को अवसर मिल गया है, और वे उस विज्ञान को जो "सर्वलोकहिताय-सर्वजनहिताय" था निन्द्य समझने लगे हैं। आज के समाज में डर व्याप्त हो गया है, छोटे राष्ट्र बड़े राष्ट्रों के ग्रास बनते जा रहे हैं, क्योंकि जिस राष्ट्र में वैज्ञानिक सम्पन्नता अधिक है, उसी का प्रभुत्व है।

इस संत्रस्त जगत् की यह नयी परिस्थिति कहाँ तक विज्ञान की देन है, और कहाँ तक मानव की स्वाभाविक दुर्बलताओं की, यह कहना कठिन है। इन नयी परिस्थितिओं के अभिशाप से बचावेगा कौन ? यह प्रश्न है। मेरी धारणा है कि विज्ञान ही हमें इन परिस्थितियों में सुरक्षा दिलाने की क्षमता रखता है। वैज्ञानिक युग से पूर्व के इतिहास में भी धार्मिक आस्थाएँ समाज में से कलुष भावनाओं का सर्वथा उन्मूलन न कर पायीं। मनुष्य के अन्त: का दानव समय-समय पर प्रकट होता ही रहा। देवासुर संग्राम कब न था, कभी विजय देवताओं की थी और कभी असुरों की। विज्ञान देवताओं को भी सम्पन्नता प्रदान करता है और असुरों को भी। विज्ञान को यह आस्तिक विश्वास है कि मनुष्य की शक्तियों की कोई सीमा नहीं है, और वह यह शक्ति प्रकृति के नियमों को जानकर प्राप्त कर सकता है। मानव की स्वाभाविक दुर्बलताओं को बदलना आसान नहीं है। विज्ञान ने इन दुर्बलताओं की प्रत्यक्ष रूपरेखाओं में तो परिवर्तन कर दिया है और हमें आशा रखनी चाहिये कि विज्ञान से राष्ट्रों को एवं

शेष पृष्ठ ७४ पर

सूर्य-कलंक—७

सम्बद्ध-क्रियाएँ

श्री कुलदीप चड्ढा

सूर्य-कलंकों के ११ वर्षीय चक्रों का विवरण प्रस्तुत करते समय हमने यह लिखा था कि सूर्य-कलंकों के वृद्धि और ह्रास का मापदण्ड है "सूर्य-कलंक अंक।" इस अंक में वृद्धि कौर ह्रास के साथ कुछ अन्य क्रियाएँ भी सूर्य के धरातल पर उदय-अस्त होती रहती हैं। प्रस्तुत लख में इन्हीं क्रियाओं पर कुछ प्रकाश डाला जायगा। इनमें से कुछ क्रियाएँ तो केवल लाक्षणिक महत्त्व की हैं, लेकिन कुछेक का पृथ्वी के अनेक व्यापारों से महत्त्वपूर्ण संबंध है। कतिपय क्रियाएँ ऐसी भी हैं जो वर्तमान सूचनाओं के अनुसार केवल सौर-सक्रियता की तीव्रता का प्रदर्शन मात्र करती हैं। इन विभिन्न प्रकार के महत्त्वों को सम्बद्ध-क्रियाओं के वर्णन के साथ स्पष्ट किया जावेगा।

१. फैकुले (Faculae)

सूर्य के प्रभामण्डल (Photosphere) की व्याख्या करते हुए हम बतला चुके हैं कि सूर्य का धरातल चार-पांच सौ मील व्यास की परस्परा सटी हुई कणिकाओं से ढका हुआ है। इन्हीं में से कुछ कणिकाएँ कभी-कभी काली हो जाती हैं। जब इस कालिमा का फैलाव बढ़ जाता है तो सम्बद्ध क्षेत्र सूर्य-कलंक कहलाता है। प्रायः देखा गया है कि सूर्य के जिस भाग पर इस प्रकार का विकास होना होता है वहाँ उज्जवल प्रकाशक-खण्ड अथवा सफेद मेघ से प्रकट होते हैं। इन्हीं को **फैकुले** अथवा **प्लेज** (Plages) कहा जाता है। फैकुले के संगठन तत्वों को फ्लॉकुली (Flocculii) कहा जाता है। इस प्रकार इन फैकुलों का प्रकटीभवन सूर्य-कलंकों के उद्भव का प्रागसूचक सा है। यही नहीं, उनका आकार तथा उजलापन किसी हद तक, कलंकों के विकास की स्थिति को प्रकट करते हैं। जब कलंक प्रकट हो चुकते हैं तो फैकुले कलंकों अथवा कलंक-पुञ्जों से घिरे क्षेत्र के चारों ओर धुंधले सफेद आलोक के घेरे के रूप में दिखाई देते हैं। जहां सूर्य-कलंकों का तापमान सूर्य के समान धरातल की तुलना में लगभग १०००° से कम होता है, फैकुले का तापमान धरातल के तापमान से २००° से ५००° से अधिक होता है।

सूर्य-कलंकों के लुप्त हो जाने के बाद फैकुले कुछ समय तक सम्बद्ध क्षेत्र में बने रहते हैं।

वैज्ञानिक विश्लेषण से प्रकट होता है कि फैकुले वास्तव में हाइड्रोजन और कैल्सियम नामक तत्त्वों के तप्त चमकीले बादल हैं। इनकी उज्ज्वलता और इनका विस्तार कलंकों के विकास के अनुपात से घटता और बढ़ता रहता है।

इस स्थल पर यह प्रकट करना आवश्यक है कि विभिन्न सौर-क्रियाओं का स्पष्ट आभास पाने के लिए उसके बिम्ब (अथवा उसके भागों) का विशिष्ट प्रणालियों से चित्र लिया जाता है। उदाहरणार्थ, फैकुले का आभास कैल्सियम के प्रकाश में लिये गए फोटो से अधिक स्पष्ट मिलता है। इसका कारण ऊपर दे दिया गया है—फैकुले तप्त कैल्सियम के बादल हैं। ये चित्र जितनी गहराई के होते हैं, उतने ही अधिक साफ होते हैं। कई बार ये फैकुले कलंकविहीन क्षेत्रों में भी देखे गए हैं—पर बहुत कम। ऐसी दशा में वे कम उजले होते हैं; साथ ही आकार में भी छोटे।

२. उज्ज्वाला (Flare)

कभी-कभी कलंकों के ऊपर अकस्मात ही तीव्र आलोक की कौंध सी दिखाई देती है, मानों कोई विस्फोट हुआ हो। इस कौंध को उज्ज्वाला (Flare)

कहते हैं। उज्जवाला को सर्वप्रथम, प्रथम सितम्बर सन् १८५९ के दिन रिचर्ड कैरिंगटन नामक विज्ञानी ने देखा था। कैरिंगटन ने यह आविष्कार विना किसी यंत्र की सहायता से किया और उसमें उसकी अपनी जिज्ञासा का उतना ही हाथ था, जितना प्राकृतिक संयोग का। जितनी वड़ी उज्ज्वाला कैरिंगटन ने लक्षित की थी, आज तक उतनी वड़ी उज्ज्वाला फिर कभी नहीं देखी गई।

जन्म के बाद उज्ज्वालाओं के रूप और विस्तार में तीव्र विकास प्रारम्भ हो जाता है। इनका आकार बढ़ कर कई बार एक लाख मील तक का हो जाता है। इस प्रकार कुछ मिनटों, कभी-कभी कुछ घण्टों तक सचेत रह कर ये उज्ज्वालाएँ शान्त हो जाती हैं। सूर्य कलंकों के पड़ोस में दिन भर में एक-आध महत्त्वपूर्ण उज्ज्वाला अवश्य कौंधती है। इसके अतिरिक्त छोटी-छोटी उज्ज्वलाएँ तो दिन भर में अनेक प्रकट होती रहती हैं। कई बार तो इनकी संख्या दिन भर में १०० से भी अधिक होती हैं। तो भी विशाल कही जाने वाली उज्ज्वालाएँ सौर-सक्रियता की अधिकतम अवधि में भी, साल भर में ३-४ ही घटती हैं।

इस क्षेत्र में गियोवनेलि नामक वैज्ञानिक ने विशेष महत्व का काम किया है। इन्होंने सन् १९४७-४९ और १९५६ में दिखाई देने वाली ४००० उज्ज्वालाओं का विश्लेषण किया और इसके आधार पर मत प्रकट किया कि किसी सूर्य-कलंक के पुञ्ज के पड़ोस में उत्पन्न होने वाली उज्ज्वालाओं की संख्या का, कलंक पुञ्ज के क्षेत्रफल से सीधा अनुपात है। तदनुसार इस संख्या में कलंकों के क्षेत्रफल के अनुपात से ही वृद्धि भी होती है। उज्ज्वाला की तीव्रता आदि सूर्य कलंकों के चुम्बकीय क्षेत्र की रूप-रेखा पर निर्भर करती है। यह रूपरेखा जितनी विषम होगी, तीव्र-उज्ज्वाला की घटना की संभावना उतनी, अधिक होगी। कलंक पुन्ज के चुम्बकीय स्रवन (Magnetic flue) में परिवर्तन का इस तीव्रता पर प्रभाव नहीं पड़ता—हाँ, चुम्बकीय स्रवन की मात्रा इसको किसी हद तक अवश्य प्रभावित करती है।

तीव्रता (intensity) के विचार से उज्ज्वालाओं का प्राय: ३ वर्गों में विभाजन किया जाता है, वर्ग १, वर्ग २, वर्ग ३। वर्ग १ की उज्ज्वालाएँ मन्द होती हैं और वर्ग ३ की तीव्रतम।

प्राय: ही उज्ज्वालाओं का फैलाव दो कलंकों को परस्पर मिलाता सा दिखाई देता है (चित्र १)। यह फैलाव
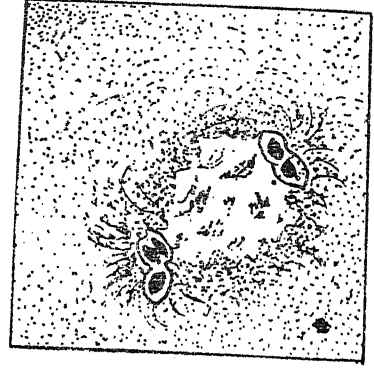
चित्र—१

दो कलंक-क्षेत्रों के बीच दमकने वाली उज्ज्वाला

हजारों मीलों का हो सकता है। पर्याप्त परीक्षणों के बाद लक्षित किया गया है कि उज्ज्वाला के विकास के दौरान विशेष प्रकार के सूक्ष्म कण और किरणें, सूर्य के कलेवर से छूट कर, इसके विपरीत दिशा में प्रधावन करती हैं। इनकी गति का परिमाण सामान्यतया २०० किलोमीटर प्रति सैकेंड़ होता है। पर कभी-कभी ५०० या १००० किलोमीटर प्रति सैकेंड तक जा पहुँचता है। प्राय: ही ये धरती को अपनी लपेट में ले लेती हैं। इसका धरती के अनेक व्यापारों पर सीधा प्रभाव पड़ता है। इस प्रभाव का हम यथास्थान वर्णन करेंगे। पर अभी इनके महत्व के विषय में यही लिखना पर्याप्त होगा कि संप्रति संसार के सभी मुख्य देशों—यथा अमेरिका, इंगलैंड, इटली, जापान, जर्मनी, फ्रांस और रूस में इनकी उत्पत्ति और विकास के निरीक्षण-परीक्षण के लिए स्वचालित यंत्रों की स्थापना का आयोजन हो चुका है। इन उज्ज्वालाओं के विश्लेषण में चाक्षुष दर्शन की अपेक्षा फोटो-चित्र अधिक उपयोगी रहते हैं क्योंकि उज्ज्वालाएं हाइड्रोजन वायव में दमकने के कारण दिखाई देती हैं, अत: इनकी

कौंध में सामान्य सफेद प्रकाश की अपेक्षा हाइड्रोजन के वर्णक्रम के एक विशेष रंग का प्रकाश अधिक रहता है। उसी प्रकाश के छन्ने प्रयोग से लिए गए चल-चित्र उज्ज्वाला के विकास का स्पष्ट आभास मिलता है। एक रंग के ऐसे विशिष्ट-छन्ने का आविष्कार ल्याट (Lyot) नामक विज्ञानी ने १९३३ में किया था। इसलिए इसे प्रायः "ल्याट फिल्टर" कहा जाता है।

उज्ज्वालाओं की उत्पत्ति का कारण, अनेक विद्वानों के चिन्तन के उपरान्त भी, स्पष्ट नहीं हो सका। कुछ ही समय पूर्व सवर्नी नामक विज्ञ ने लक्षित किया कि जिस क्षेत्र में उज्ज्वाला उपजती हैं, वहाँ का चुम्बकीय क्षेत्र प्रारम्भ में क्षीण होता है। उज्ज्वाला के विकास के दौरान क्षेत्र बल बढ़ जाता है, और उज्ज्वाला के उपरान्त क्षेत्र शान्त सा हो जाता है—मानों चुम्बकीय क्षेत्र की विकलता तीव्र कणों अथवा किरणों के रूप में सूर्य से निकल चुकी हो।

सौर-वह्नियाँ (Prominences)

सौर-सक्रियता का एक अन्य महत्वपूर्ण पक्ष है सौर-वह्नियाँ। कभी-कभी कलंकों के क्षेत्र में अथवा उनके पास-पड़ोस में एक विचित्र सी हलचल प्रकट होती है। इसका रूप पतली, लम्बी, काली-भूरी टेढ़ी-मेढ़ी रेखाओं के तुल्य होता है। प्रायः भूरे नागों से इनकी उपमा दी जाती है, क्योंकि नागों अथवा सर्पों के तुल्य ही इनकी स्थिति करवट सी लेती रहती है। अन्य सभी क्रियाओं की भाँति प्रारंभ में इनकी लम्बाई कम होती है, पर क्रमशः बढ़ती हुई २-३ सप्ताह बाद पूरे विकास की अवस्था ग्रहण करती हैं। अपने आकार के कारण इस क्रिया को वैज्ञानिक भाषा में तन्तुक (Filaments) कहते हैं (चित्र २)।

(क)

(ख)

चित्र—२
दो सूर्य-कलंक क्षेत्रों के बीच तन्तुक के विकास का आभास। चित्र (क) एक वास्तविक तन्तुक की स्थिति २७ वें दिन में प्रकट करता है और (ख) ८१ वें दिन, जब कि कलंक लुप्त हो चुके हैं।

जब सूर्य की गर्दिश के कारण ये तन्तुक, सूर्य के एक सिरे पर पहुँच जाते हैं, तो इनका आकार, सूने अन्तरिक्ष की धुंधली पृष्ठभूमि पर, गहरे लाल रंग की वह्नियों के रूप में दिखाई देता है। यह रूप, तन्तुक रूप से नितान्त भिन्न प्रतीत होता है। अतः अनेक वर्षों तक तन्तुकों और वह्नियों को अलग-अलग क्रिया माना गया। पर बाद में, तन्तुकों के विकास के नापतौल के आशय से, जब उनका अनुगमन किया गया तो उनमें और वह्नियों में मौलिक एक-रूपता का आभास मिला।

वह्नियों में भी एक विशेष रंग के प्रकाश की प्रचुरता है। अतएव उनके निरीक्षण परीक्षण में ल्यॉट का छन्ना बहुत उपयोगी सिद्ध होता है। वर्ण-मापन की क्रिया से वह्नियों का तापमान लगभग ३०,०००° सें० पर निर्धारित किया गया है।

उक्त विवरण से यह तो प्रकट हो ही गया कि वह्नियाँ सौर-धरातल की क्रिया नहीं, उससे ऊपर उठी हुई हैं। यह उठाव जब वह्नियों के रूप में, सौर-बिम्ब के एक सिरे पर प्रकट होता है तो इसका रूप अत्यन्त प्रभावोत्पादक होता है। गहरे लाल रंग की जिह्वा की हलचल देखते ही बनती है। इनकी ऊँचाई सौर-धरातल से प्राय: ही एक लाख मील अथवा इससे भी अधिक होती है। इन वह्नियों के कटि-प्रदेश का अथवा मोटाई का परिमाण भी तीन-चार हजार मील का होता है।

वह्नियों के स्वभाव के अनुसार इनके दो वर्ग माने गए हैं—(१) शिथिल (Quiscent) और (२) विक्षोभी (Eruptive)। प्रथम प्रकार की वह्नि में कोई विशेष हलचल अथवा उत्क्रांति घटित नहीं होती और उनका विकास मन्द होता है। पर विक्षोभी वह्नियों का पदार्थ कई बार २-३ सौ मील प्रति घंटे की गति से ऊपर की ओर उछलता है। प्राय: ही तप्त वायवों के वाहन के रूप में, यह सूर्य के कलेवर से छूट कर अन्तरिक्ष में लीन सा हो जाता है।

अनेक बार यह तप्त लाल वायवी पिंड किसी अन्य स्थल पर सूर्य के बिम्ब में वापस मिलता भी देखा गया है।

जिस स्थल से वह्नि-रूप छटक कर अलग हो जाता है, वहाँ पर प्राय: ही नई बनावट का विकास शुरू हो जाता है। कभी-कभी वह्नि का ऊपरी सिरा क्रम से विकसित होता हुआ वापस धरती की ओर झुक जाता है और एक शृंगाकार छितराव हो जाता है (चित्र ३)।
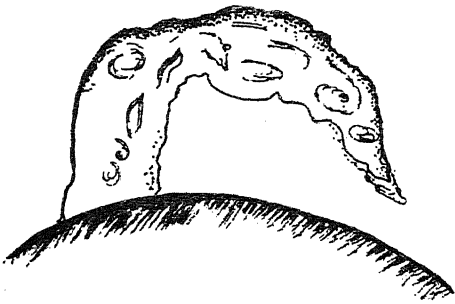
चित्र—३
एक अत्यन्त विशाल शृंगाकार वह्नि का प्रत्यक्ष रूप

कल्पना की गई है कि इस प्रकार की वह्नियाँ एक कलंक में जन्म लेकर अंत में एक दूसरे कलंक की ओर झुक कर, उसमें लीन हो जाती हैं। कुछ विद्वानों का मत है कि शृंगाकार वह्नियों से सौर-रेडियो तरंगों की बौछारें पैदा होती हैं।

आकार प्रकार की विशालता के बावजूद इन वह्नियों में पदार्थ अथवा संहति (matter) की मात्रा अत्यन्त कम होती है। हजारों लाखों मील की व्यापकता वाली वह्नियों में पदार्थ की मात्रा का परिमाण, कुछेक मील व्यास की झील के पानी की मात्रा से अधिक न होगा।

इस स्थल पर वह्नियों के विकास की गति का आभास देना अनुचित न होगा और इसके लिए हम एक साक्षात घटना का वर्णन करेंगे। सन् १९४९ के जुलाई मास की २९ तारीख को स्थानीय समय के अनुसार दिन के लगभग सवा-ग्यारह बजे अमेरिकी दूरदर्शकों ने सूर्य के सिरे पर एक लाल उफान उठता देखा। आगामी दस बारह मिनटों में इस ज्योति का प्रकाश अनेक गुना बढ़ गया और एक प्रत्यक्षदर्शी के अनुसार कुछ सेकंडों के लिए तो यह सूर्य के सामान्य प्रकाश से लगभग तीस गुना अधिक तीव्र हो गया। इस वह्नि के आकार में इसके बाद भी क्रमिक विकास होता गया और लगभग साढ़े बारह बजे तक यह साढ़े तीन लाख मील तक फैल गई। इस वह्नि का अग्र भाग, स्रोत से कुछ हजार मील के अन्तर पर सूर्य के पिण्ड की ओर मुड़ा और वह्नि लगभग ५० मील (८० किलोमीटर) प्रति सेकेंड की गति से सौर शरीर में समा गई। प्रति घन्टे की गणना से वह्नियों के विकास की यह गति डेढ़ दो लाख मील की है।

कहना न होगा कि वह्नियों की संख्या भी सूर्य-कलंकों की संख्या, विस्तार और विक्षोभ के अनुपात से बढ़ती-घटती रहती है। एक अनुमान के अनुसार यह संख्या, न्यूनतम वर्षों में लगभग शून्य से बढ़कर, अधिकतम वर्षों में २०-३० तक पहुँच जाती है। प्रत्यक्ष गणना के आधार पर अनुमान लगाया गया कि सन् १९४६ में ४० बड़ी वह्नियाँ देखी गईं (ज्ञातव्य है कि १९४७, सूर्य-कलंकों की संख्या का अधिकतम वर्ष था)। वैसे तो ये

वह्नियाँ सामान्य अवस्था में भी दिखाई दे जाती हैं, पर सूर्य के सामान्य प्रकाश के कारण, उनका प्रकटीभवन इतना स्पष्ट नहीं होता। अतः अनेक बार उनके रंग-रूप अथवा विकास के विश्लेषण के निमित्त सूर्य-ग्रहण की प्रतीक्षा की जाती है। ऐसे अवसर पर चन्द्रमा के बीच में आ जाने के कारण, सूर्य का सामान्य प्रकाश कट जाता है और वह्नियाँ अधिक स्पष्टता से प्रकट होती हैं। सूर्य ग्रहण के फोटो-चित्र लेने की परम्परा १८५१ ई० में प्रारम्भ हुई और १८६० ई० में डी ला रूई तथा सेवची जैनसन ने इन वह्नियों के प्रकाश के विश्लेषण द्वारा हीलिम नामक तत्व का आविष्कार किया और सैक्ची ने सन् १८६८ में वह्नियों का अच्छा चित्र उपलब्ध किया।

किरीट (Corona)

वह्नियों के अतिरिक्त सूर्य की एक और क्रिया भी, सूर्य-ग्रहण के दौरान ही अध्ययन की सर्वोत्तम सम्भावना रखती है। यह क्रिया किरीट के नाम से परिज्ञात है। मूलतः किरीट एक विचित्र सा आभायुक्त सौम्य प्रकाश है, जो किरीट अथवा मुकुट की रूपरेखा में सूर्य के चारों ओर व्याप्त रहता है।

इसके दर्शन के लिए सूर्य-ग्रहण की प्रतीक्षा इसलिए करनी पड़ती है, क्योंकि इसका प्रकाश क्षीण होता है। हालाँकि किरीट का फैलाव सूर्य के धरातल से दो-ढ़ाई लाख मील तक व्याप्त होता है, तो भी इसके समूचे विस्तार का प्रकाश सौर-बिम्ब के प्रकाश का १/१०००००० वाँ भाग होता है। पर ल्यॉट छन्ने के अन्वेषक ने, किरीट लेखी (Corona-Graph) नामक तक ऐसा यंत्र ईजाद किया है, जिसकी सहायता से सूर्य ग्रहण के बिना भी किरीट का पर्यवेक्षण किया जा सकता है। सन् १९३० के ग्रीष्म-काल में बर्नाड ल्यॉट अपने यंत्र को लेकर, इसके परीक्षण के लिए, पेरानीज पर्वत पर गया। आजकल ऐसे यंत्र फ्रांस-स्विट्ज़रलैंड, बवेरिया, आस्ट्रिया, जापान, अमेरिका आदि देशों के पर्वतीय स्थानों पर स्थित हो चुके हैं। इस यंत्र इसके अन्वेषण से पूर्व १०० वर्षों में किरीट का अनेक सूर्य-ग्रहणों के दौरान कुल मिलाकर केवल १०० मिनटों के लिए निरीक्षण किया जा सका था।

वह्नियों के विवरण में हमने उल्लेख किया था कि उनमें पदार्थ की मात्रा अत्यन्त कम रहती है। पर किरीट में तो यह मात्रा वह्नियों से भी १०० गुनी कम रहती है। वह्नियाँ वास्तव में किरीट की ही पृष्ठभूमि पर दिखाई देती हैं। अनेक विद्वानों का मत है कि वह्नियों में प्रकट होने वाला पदार्थ मूलतः किरीट से ही सम्बद्ध होता है। वह्नियाँ प्रकट होकर किरीट में से सूक्ष्म कण बटोर लेती है। वह्नियों के इस पदार्थ शोषण से इनके समीपवर्ती किरीट का भाग क्षीण हो जाता है।

वह्नियों के विवरण में हमने यह भी प्रकट किया था कि उनकी घटना की सम्भावना कलंक-संख्या के अनुपात से बढ़ती है। इस कारण से कलंक संख्या में वृद्धि के साथ किरीट के फैलाव का रूप भी बदलता रहता है। स्थल रूप से जब कलंकों की संख्या अधिकतम होती है, तो किरीट का फैलाव सूर्य के चारों ओर लगभग एक सा होता है। पर जब कलंकों की संख्या न्यूनतम् के निकट होती है तो ध्रुव प्रदेशों के निकट यह फैलाव कम हो जाता है। फलस्वरूप सूर्य की मध्य-रेखा के निकट वाले प्रदेश में दो डैने अथवा पंख से फैल जाते हैं।

कलंक-संख्या के साथ किरीट के उपर्युक्त रूप-परिवर्तन का आविष्कार सबसे पूर्व सन् १८८१ में रेनयार्ड ने किया। इसके बाद १८८७ में हेन्सकी ने इसका समर्थन किया। सौर किरीट का एक असामान्य लक्षण है इसका अत्यन्त उच्च तापमान। कहना न होगा कि सूर्य के अभ्यन्तर का तापमान कोई २ करोड़ अंश सेंटीग्रेड है। पर धरातल अथवा प्रभामण्डल तक आते-आते, यह घटकर ६०००° तक पहुँच जाता है। प्रभा-मण्डल के बाद वर्णमण्डल की ओर बढ़ने पर तापमान पुनः बढ़ना शुरू हो जाता है, और वर्णमण्डल की सीमा पर यह कोई १०,०००° हो जाता है। पर किरीट में तापमान बढ़कर लाखों अंश हो जाता है। इस तापमान में अणु-परमाणु आदि के ऋणाणु मुक्त होने लगते हैं। किरीट की आभा पीले हरे मिश्रित रंग की है। इनमें से पीली आभा कैल्सियम के उन परमाणुओं के कारण है,

जो १४ ऋणाणुओं से वंचित हो चुके हैं। इसी प्रकार हरा रंग लोहे के उन परमाणुओं के कारण है जो १३ ऋणाणु खो चुके हैं। फैलाव की भिन्नता के अतिरिक्त किरीट में सौर-सक्रियता के साथ उक्त वर्णक्रम में भी परिवर्तन पैदा होते हैं। न्यूनतम की घटना के दिनों में किरीट में लोहे के ऐसे तत्व के प्रकाश का प्रसार होता है जो १० ऋणाणु खो चुका हो। ज्यों-ज्यों विकास अधिकतम की ओर होता जाता है, मुक्त ऋणाणुओं की संख्या बढ़ती जाती है, उक्त वर्ण लोप होने लगता है, और अन्ततः इसका स्थान ऐसा प्रकाश ले लेता है, जो लोह १४ अर्थात् १४ ऋणाणुओं से हीन लौह-परमाणु द्वारा उत्पादित हो। आयनीकरण की वृद्धि के इस प्रमाण से उक्त दो अवस्थाओं के बीच किरीट के तापमान में वृद्धि का संकेत मिलता है — अधिकतम की अवस्था में यह ८-१० लाख अंश तक जा पहुँचता है। कभी-कभी लौह १४ का प्रकाश क्षीण हो जाता है और परमाणु अधिक ऋणाणु खो कर कैल्सियम १५ की अवस्था में दीप्त होने लगते हैं। यह तापमान ही वृद्धि में एक और चरण का द्योतक है।

इस स्थान पर यह उल्लेख्य है कि प्रसिद्ध भारतीय विज्ञानी डा० मेघनाद साहा ने किरीट के कारणों और उसमें आयनीकरण आदि के विषय पर महत्वपूर्ण काम किया था।

सौर उज्ज्वालाओं का वर्णन करते समय हमने प्रकट किया था कि उनसे सूक्ष्म कण और किरणें निकलती हैं। सन् १९५८ के १२ अक्टूबर के दिन एक ऐसा प्रयोग किया गया जिसने किरीट के बारे में भी ऐसी ही सूचना दी। उस दिन सूर्य-ग्रहण अपेक्षित था। यह एक ऐसा अवसर है जब सूर्य के अनेक लक्षणों को समझने की विज्ञ उतावलेपन से प्रतीक्षा करते हैं। इसी सुयोग से लाभ उठाने के लिए प्रशान्त सागर में स्थित डेंजर द्वीप के निकट वैज्ञानिक सामान से सज्जित एक जहाज भेजा गया। ज्योंही चन्द्रमा का बिम्ब सूर्य के सामने से गुजरा, उक्त जहाज से यंत्रों से लैस रॉकेट छोड़े गए। इन रॉकेटों के मापन से प्रकट हुआ कि जब चन्द्रमा के बिम्ब ने प्रभामण्डल और वर्णमण्डल दोनों को ढांप लिया, तो दृश्य प्रकाश तथा पराकाशनी तरंगें अत्यन्त क्षीण हो गयीं। तो भी एक्स-किरणें पूर्ववत् बनीं रहीं। क्योंकि किरीट चन्द्रमा से ढका न था, इसलिए निष्कर्ष स्पष्ट था—एक्स-किरणें मुख्यतया किरीट से निस्सृत होती हैं। इन तरंगों के लंबान से किरीट के तापमान का अनुमान दस लाख अंश आँका गया है। ये एक्स-किरणें अयन-मण्डल की E तथा F परतों के आयतन के लिए उत्तरदायी हैं। अतएव किरीट के तापमान आदि का इन दोनों परतों पर प्रभाव पड़ सकता है।

सूर्य का परिचय देते हुए हमने इसे स्थूल रूप से तीन भागों में बांटा था—प्रभामण्डल, वर्णमण्डल और किरीट। उक्त सभी क्रियाएं अलग-अलग इन तीनों भागों से संबद्ध हैं। सूर्य-कलंक और फैकुले प्रभामण्डल के भाग हैं, उज्ज्वालाएं वर्णमण्डल की और वह्नियां किरीट की। लेकिन कभी-कभी विक्षोभी वह्नियों और उज्ज्वालाओं के कुछ अंश सूर्य के कलेवर को छोड़कर अन्तरिक्ष की ओर प्रधावन करते हैं। अनेक बार धरती भी इनकी लपेट में आ जाती है। उस समय पृथ्वी पर भी अनेक प्रकार के प्रभाव पड़ने लगते हैं। इन रोचक प्रभावों के उल्लेख से पूर्वआगामी लेख में हम सौर-सक्रियता और पृथ्वी के बीच संबन्ध स्थापित करनेवाले तत्वों का उल्लेख करेंगे।

(क्रमशः)

हिन्दी में वैज्ञानिक बाल-साहित्य

डा० शिवगोपाल मिश्र

"बाल-साहित्य" से हमारा अभिप्राय उस साहित्य से होता है जो बालकों की आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर रचा गया हो। १६ वर्ष से कम आयु वाले बच्चों को, 'बालक' या 'बाल' संज्ञा प्रदान की जाती है अतः १६ वर्ष से कम आयुवाले बच्चों के लिये लिखित साहित्य को "बाल-साहित्य" कहा जावेगा। यद्यपि बच्चों की यह १६ वर्षों तक की आयु कई वयःक्रमों (age groups) में विभाजित की जा सकती है किन्तु यहाँ हम मोटे तौर पर उसे तीन क्रमों में विभक्त करेंगे :

१—प्रारम्भ से लेकर ८ वर्ष तक। इस उम्र वाले बच्चों को 'शिशु' नाम से पुकारा जाता है। इन आठ वर्षों में प्रथम ५ वर्षों तक वे अबोध रहते हैं और अपनी मां से ही सब कुछ सीखते हैं। ५ वर्ष के बाद ही वे विद्यारम्भ करते हैं। तभी उन्हें "किताबी ज्ञान" की आवश्यकता होती हैं।

२—सन्धिकाल : ८ से ११ वर्ष तक। यह काल 'शिशु' एवं 'किशोर' अवस्थाओं का सन्धिकाल है

३— ११ से १५ वर्ष तक। इस उम्र वाले बच्चे 'किशोर' कहलाते हैं। किन्तु उपलब्ध साहित्य को उपयुक्त वयःक्रमों के अनुसार बाँट पाना कठिन लगता है। वयस् या उम्र के अनुसार 'बाल-साहित्य' को मुख्यतः दो ही उप-विभागों में बाँटा जा सकता है :—

१—शिशु-साहित्य जो ५ से ८ वर्ष अर्थात् कक्षा ५ तक के विद्यार्थियों के लिये उपयुक्त हो तथा (२) किशोर-साहित्य जो १६ वर्ष तक के विद्यार्थियों के लिए हो। आजकल १६ वर्ष की उम्र प्राप्त करते-करते अधिकांश लड़के तथा लड़कियां कम से कम दसवीं कक्षा उत्तीर्ण कर चुकते हैं। इस अवस्था तक वे पाठशालाओं तथा विद्यालयों में इतना ज्ञान प्राप्त कर ही लेते हैं कि न केवल आसपास की वस्तुओं के प्रति उनकी पूरी-पूरी जानकारी रहती है वरन् वे इससे भी वृहत्तर क्षेत्र, विश्व की अनेक घटनाओं एवं अनेक आविष्कारों से भी भलीभांति परिचित हो लेते हैं; फिर जिन बालकों को साथ-साथ विज्ञान की भी शिक्षा प्राप्त हुई होती है, वे तो और भी सूक्ष्म दृष्टि प्राप्त कर चुके होते हैं।

बाल-साहित्य के उद्देश्य

वैज्ञानिक बाल-साहित्य का मुख्य उद्देश्य है कि वह बालकों की विविध अवस्थाओं के लिये वाँछित ज्ञान की सही-सही पूर्ति करे जिसे अर्जित कर वे अपने मन में उठनेवाली जिज्ञासाओं का ठीक-ठीक समाधान ढूँढ़ सकें। वे अपने समस्त "क्यों" के "उत्तर" प्राप्त कर सकें। किन्तु नहीं —यह साहित्य इससे भी ऊँचा काम कर सकता है। यह उनमें अधिकाधिक विश्लेषण करने की शक्ति दे सकता है, समस्याओं की पूर्ण विवेचना की नई सूझ दे सकता है।

यही नहीं, यह बाल-साहित्य उन अनेक अभिभावकों, नवसाक्षरों एवं प्रौढ़ों के लिये भी सूचनाप्रद एवं आवश्यक सामग्री प्रस्तुत कर सकता है जिन्होंने कभी विज्ञान का अध्ययन नहीं किया और जो अपने बच्चों के सहज प्रश्नों का सही-सही उत्तर नहीं दे पाते। ऐसा "बाल-साहित्य" समस्त बच्चों को पाठ्यक्रम के अतिरिक्त भी ज्ञान प्रदान करने में समर्थ होता है। कक्षाओं में किसी भी विषय की जानकारी एक सीमित क्षेत्र में सीमित दृष्टि से प्रदान की जाती है। समय, बुद्धि तथा परीक्षा आदि को ध्यान में रखते हुए यह सम्भव नहीं हो पाता कि कक्षा में अनेक विषयों की विस्तृत जानकारी दी जा सके; यद्यपि शिक्षाशास्त्रियों को यह भलीभांति स्पष्ट है कि ऐसी जानकारी बच्चों के मानसिक विकास एवं विषय की सम्यक तैयारी के लिये उपादेय होती है। इसीलिये बच्चों को अतिरिक्त ज्ञान

अर्जित करने की आवश्यकता पर बल दिया जाता है। किन्तु यह कैसे पूरी हो? इसकी पूर्ति "उपयोगी बाल साहित्य" में से सही-सही चुनाव के द्वारा ही सम्भव है। इसीलिये न केवल ऐसे साहित्य के रचे जाने की आवश्यकता पर बल दिया जाना चाहिए वरन् बच्चों को ऐसे साहित्य में से अपने काम की चीजें छाँट लेने की स्वतन्त्रता दी जानी चाहिए और इस दिशा में उन्हें प्रेरित भी किया जाना चाहिए। यह तभी सम्भव है जब सभी उम्र वाले बच्चों की ज्ञान-पिपासा को शान्त करने में समर्थ साहित्य की रचना को प्रोत्साहन दिया जाय अर्थात् वह इतना विविध हो कि जिस चीज की भी आवश्यकता प्रतीत हो, वह उपलब्ध हो।

खेद है कि हमारे देश में अभी तक इतनी प्रचुर मात्रा में बाल-साहित्य का न तो लेखन ही हुआ है और न प्रकाशन ही। यदि यह कहा जाय कि स्वतन्त्रता के पूर्व इस देश में बच्चों के लिए वैज्ञानिक साहित्य के सृजन की ओर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया जाता था तो अत्युक्ति न होगी। क्रिस्चियन लिटरेरी सोसायटी ने सर्वप्रथम १८९५ ई० में ब्रजेश बहादुर द्वारा लिखित "पक्षी चित्रमाला" नामक पुस्तक प्रकाशित की। इसके बाद १९३०-४० के मध्य पारसनाथ कृत "पक्षी परिचय, (नवयुग साहित्य मन्दिर १९३३), जगपति चतुर्वेदी द्वारा लिखित वायुयान (१९३४), डा० गोरख प्रसाद द्वारा लिखित 'आकाश की सैर' (इन्डियन प्रेस १९३६), रामदास गौड़ कृत विज्ञान हस्तामलक (हिन्दुस्तानी एकेडमी १९३०), डा० सत्यप्रकाश कृत 'सृष्टि की कथा' (सम्मेलन १९३०) नामक पुस्तक प्रमुख हैं। ये न तो आकर्षक थीं और न अब उपलब्ध ही। स्वतन्त्रता के दस वर्ष पश्चात् तक फिर कोई साहित्य उपलब्ध नहीं होता।

सम्भवतः यह मान लिया गया था कि बच्चे न्यूनतम ज्ञान से प्रारम्भ करके स्वयं आगे बढ़ेंगे तो उनके विकास के साथ ही साथ बुद्धि में भी विकास होगा। किन्तु अब बाल मनोविज्ञान के द्वारा यह सिद्ध हो चुका, है कि बालकों की अपनी समस्याएँ होती हैं जिनका समाधान उतना ही आवश्यक है जितना कि गम्भीर से गम्भीर किसी अन्य विषय का। फलतः शिक्षाशास्त्री इस मत का प्रतिपादन करने लगे हैं कि बच्चों के लिये उनकी उम्र के अनुसार सभी प्रकार का साहित्य उपलब्ध हो। इस दृष्टि से विगत कुछ वर्षों से बाल-साहित्य की रचना पर ध्यान दिया गया है और अल्पकाल में ही जो परिणाम प्राप्त हुए हैं वे अत्यन्त आशाजनक एवं उत्साह-वर्धक हैं।

बाल साहित्य कैसा हो?

अल्पायु से लेकर १६ वर्ष तक के बच्चों को किन-किन विषयों से परिचित कराया जाय, और किस हद तक, यह शिक्षाशास्त्रियों के समक्ष एक गम्भीर समस्या है। यह भी समस्या उनके समक्ष है कि यह ज्ञान किस प्रकार से प्रदान किया जाय?

वस्तुतः इन समस्याओं का एक ही हल प्रतीत होता है और वह है अवस्था को ध्यान में रखते हुए ऐसी विधि से वैज्ञानिक तथ्यों के प्रति बच्चों की उत्सुकता को जागरित करना कि किसी प्रकार से "बोझिल" अनुभव किये बिना ही वे उसे स्वीकारते जायं और फिर बाद में वे उसी दिशा में स्वयमेव आगे बढ़ें।[१]

यह देखा गया है कि शिशुओं को कहानी सुनना पसन्द है अतः एक विधि यह हो सकती है कि उन्हें जो कुछ भी समझाना हो उसे कहानी के रूप में प्रस्तुत किया जाय।[२]

यह भी देखा गया है कि बच्चों को खेल-कूद के सिलसिले में चाहे जितना ज्ञान प्रदान क्यों न कर दिया जाय, उन्हें मान्य होता है। अतः "खेल-खेल में" भी ज्ञान प्रदान किया जा सकता है। यह भी सम्भव है कि वार्तालाप के रूप में क्रीडा (Playway method) का आयोजन किया जाय।[3]

१. विज्ञान की कहानियाँ—मनमोहन सरल-योगेन्द्र-कुमार लल्ला। विज्ञान की अनोखी दुनिया (अनुवाद ६ भागों में सचित्र)

२. केशव सागर की पुस्तकें—हवा की बातें, पानी, आग की कहानी, आवाज, हवा के चमत्कार। रमेशवर्मा की पुस्तक हमारा पडोसी और व्यथितहृदय कृत पानी और हमारा जीवन।

३—आविष्कारों के खेल कृष्णमूर्ति मेहरोत्रा। खेल भी विज्ञान भी—योगेन्द्र कुमार लल्ला।

किन्तु किशोरों के लिए उपर्युक्त विधियों से भिन्न प्रणाली अपनाये जाने की आवश्यकता है। मस्तिष्क विकसित होने के साथ-साथ उनमें तथ्यों को विस्तार से जानने की उत्सुकता होती है अतएव उन्हें कारण सहित व्याख्या प्रदान किये जाने की आवश्यकता होगी।

हमारी वर्तमान शिक्षा-विधि का सबसे बड़ा दोष यह है कि विज्ञान विषयक जितनी भी प्रारम्भिक शिक्षा प्रदान की जाती है वह बड़ी विलक्षण होती है क्योंकि या तो कभी-कभी शिक्षक स्वयं विज्ञान के उन तथ्यों से अपरिचित होता है जो बच्चों को बताये जाते हैं अथवा ज्ञान के नाम पर वे बच्चों को केवल "कोरा किताबी" ज्ञान देने में समर्थ होते हैं। बच्चों के समक्ष वैज्ञानिक शिक्षा के अनिवार्य अंग—"प्रयोग" (Experiments) तो प्रदर्शित ही नहीं किये जाते। इसका कारण या तो आवश्यक उपकरणों का अभाव होता है अथवा शिक्षक की अनभिज्ञता या उसका आलस्य। वस्तुत: इस प्रवृत्ति के कारण हमारे देश की "वैज्ञानिक प्रतिभायें" प्रकट हुये बिना ही रह गईं। काश कि हम अब भी चेत जाते!

बच्चों को किस हद तक वैज्ञानिक बातें जाननी चाहिए, इसके लिये प्रचुर शोध की आवश्यकता है। अभी तो इतना ही कहा जा सकता है कि ज्यों-ज्यों बच्चे बढ़ें, नूतन से नूतनतर तथ्यों से उन्हें परिचित कराया जाय। साथ ही, यह भी अनुभव किया जाने लगा है कि आधुनिक युग में बच्चों को उन असामान्य वैज्ञानिक तथ्यों से भी परिचित होना आवश्यक है जो वर्तमान सभ्यता के अभिन्न अंग बन चुके हैं; यथा—राकेट, टेलीविजन, नाइलॉन, इत्यादि। यद्यपि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो इन सबके सम्बन्ध में बच्चों को जानकारी प्रदान करना आसान नहीं है किन्तु किसी न किसी हद तक उन्हें इनसे परिचित तो कराना होगा ही क्योंकि वे उन वस्तुओं के देखते-सुनते या उपयोग में लाते हैं और उनके सम्बन्ध में वे बहुत सी बातें जानना चाहते हैं।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि वैज्ञानिक विषयों की कोई सीमा नहीं। चारों ओर जितनी भी चीजें हैं—प्राकृतिक या मानव-निर्मित उनके सम्बन्ध में क्यों" और "कैसे" प्रश्न कर करके आवश्यक बोधगम्य तथ्य बताये जायँ। ऐसा स्वीकार कर लेने पर यह स्वयमेव निर्धारित हो जाता है कि या तो शिक्षक या घर का कोई गुरुजन अपने शिष्य या परिवार के बच्चे से नित्यप्रति नये-नये प्रश्न करता रहे, और उसके उत्तर सुने और फिर वास्तविकता का बोध करावे। वस्तुत: यह इतना गम्भीर एवं गुरुतर कार्य है जो सबों के बूते का नहीं। इसीलिये यह सुझाव ठीक ही होगा कि अनुभवी एवं अधिकारी विद्वान् ही रोचक शैली में बाल-साहित्य प्रस्तुत करें। किन्तु प्राप्य साहित्य के विश्लेषण से पता चलता है कि वर्तमान स्थिति इसके सर्वथा विपरीत है। नये-नये लेखकों ने अपनी सूझ के अनुसार ही प्रयोग किये हैं, इसीलिये उन्हें विभिन्न सीमाओं तक सफलता प्राप्त हुई है। जो बच्चों के स्वभाव से परिचित हैं और साथ ही वैज्ञानिक तथ्यों से भी, उनकी रचनाएँ बेजोड़ उतरी हैं जबकि पढ़े-पढ़ाये ज्ञान के आधार पर लेखन के क्षेत्र में प्रयोग करने वालों को असफलता के सिवाय और कुछ हाथ नहीं लगा।

हिन्दी का बाल-साहित्य

हिन्दी में वैज्ञानिक बाल-साहित्य रचना की भी अपनी सीमायें रही हैं। "पारिभाषिक शब्दावली" के अभाव के कारण प्रामाणिक कृतियाँ कम ही रची जा सकी हैं। शैली की नीरसता तथा भाषा प्रतिकूलता के कारण कुछ कृतियाँ तो बिलकुल सफल नहीं हो सकीं।

चित्रमयता बाल-साहित्य का अभिन्न अंग है। विदेशी पुस्तकों की तुलना में हमारे देश में छपी पुस्तकें कहीं अधिक कम चित्रात्मक हैं। यही नहीं, विषयों में विविधता की दृष्टि से भी उपलब्ध साहित्य न्यून ही माना जावेगा। यहाँ पुस्तकों का मूल्य भी अधिक होता है।

यहाँ पर ६० से अधिक पुस्तकों के आधार पर जो विश्लेषण प्रस्तुत किया जा रहा है (देखिये परिशिष्ट) उससे ऊपर गिनाई गई अधिकांश मान्यताओं की पुष्टि होती दिखेगी।

उपलब्ध-बाल साहित्य

अब हम बाल-साहित्य के वर्गीकरण का प्रयास करेंगे। उपलब्ध बाल-साहित्य दो प्रकार का है—१—अनूदित तथा २—मौलिक। मौलिक साहित्य किसी भी साहित्य का प्राण होता है। हिन्दी में बाल-साहित्य मौलिक रूप में कम ही उपलब्ध है और जो है उसमें पुनरावृत्ति अधिक है और विविधता बिल्कुल कम-इसका प्रत्यक्ष प्रमाण साथ में संलग्न सूची है। अनूदित साहित्य विशेष रूप से अमरीकी या अंग्रेजी पुस्तकों से सम्बद्ध है। गुजराती[1] तथा बंगला[2] से भी कुछ अनुवाद हुए हैं। इसके द्वारा एक ओर जहाँ नवीन क्षेत्र, नवीन दिशा का संकेत हिन्दी लेखकों को मिला, वहीं अनुवाद में प्रयुक्त वैज्ञानिक शब्दावली की दुरूहता अथवा शैली की अस्पष्टता के कारण वह जटिल एवं अनुपयोगी बन गया है। यही नहीं, इन अनूदित पुस्तकों में दिये गये उदाहरण या तथ्य भारतीय वातावरण में लागू भी नहीं होते।

मौलिक साहित्य में भी वही साहित्य सफल सिद्ध हुआ है जो शैली, भाषा तथा भाव की दृष्टि से पूर्ण है। उपलब्ध मौलिक साहित्य को विषयों की दृष्टि से निम्न ५ प्रकारों में विभाजित सकते हैं (परिशिष्ट)

१—भौतिक विज्ञान, २—रसायन विज्ञान, ३—जीव-विज्ञान, ४—नक्षत्र-विज्ञान तथा ५—सामान्य विज्ञान—जिसके अन्तर्गत आविष्कारों की कहानियाँ, वैज्ञानिकों के जीवन आदि आते हैं।

यद्यपि उपर्युक्त सभी वैज्ञानिक अंगों पर हिन्दी में पुस्तकें उपलब्ध हैं, किन्तु अधिकतम पुस्तकें "जीव विज्ञान" पर ही हैं। कीड़े-मकोड़ों या पौधों के विषय में अधिकाधिक जानने की उत्सुकता प्रत्येक बालक में होती है। इसी प्रकार पृथ्वी, ग्रह, तारों आदि के विषय में भी जानने की स्वाभाविक इच्छा होती है। आजकल राकेट, चन्द्रमा, मंगल, शुक्र आदि की चर्चा सभी बच्चे करते या सुनते हैं।

पुस्तकों के अतिरिक्त नूतन ज्ञान अर्जित करते रहने के अन्य साधन भी हैं—यथा समाचार पत्र, एवं पत्रिकायें (मासिक, पाक्षिक, अथवा "वैज्ञानिक कोष।"

आजकल अधिकांश हिन्दी पत्रों के साप्ताहिक अंकों में "बाल-फुलवारी, बच्चों की क्यारी, 'बच्चों का कोना' ऐसे स्तम्भ प्रकाशित होते हैं। मासिक पत्रिकाओं में से अनेक में 'करो और देखो' जैसे लेख छपते हैं। "चन्दामामा", "पराग" 'बालसखा'—जैसी पत्रिकायें बच्चों के ही लिए निकलती हैं। 'विज्ञान', 'विज्ञान-जगत्' 'विज्ञान लोक' 'विज्ञान प्रगति' शुद्ध वैज्ञानिक पत्रिकाएँ हैं। किन्तु कोषों की कमी है: उपलब्ध कोष केवल तीन हैं—सरल विज्ञान सागर (विज्ञान परिषद् द्वारा प्रकाशित), विश्वभारती (लखनऊ से ५० खण्डों में निकालें जाने की योजना है) तथा ज्ञान सरोवर, (जामियाँ मिलिया, दिल्ली से)।

अंग्रेजी में ऐसे कोषों एवं पत्रिकाओं की प्रचुरता है। Understanding Science या Knowledge में चित्रात्मक शैली द्वारा जो ज्ञान प्रस्तुत किया जाता है वह अनुकरणीय है। रूसी भाषा में भी वैज्ञानिक विषयों पर कोष उपलब्ध हैं जो मुख्य रूप से बच्चों के लिये लिखे गये हैं। इस प्रकार हिन्दी में अभी भी बाल-साहित्य की दृष्टि से पत्रिकाओं में सुधार तथा कोष-निर्माण के क्षेत्र में काफी गुंजाइश है।

यूनेस्को सहयोग

सन्तोष की बात यह है कि सन् १९५८ तथा १९६२ में यूनेस्को से सहयोग प्राप्त करके अनेक प्रकाशकों ने बाल-साहित्य के उत्पादन में काफी तन्मयता दिखाई है। इसका परिणाम यह हुआ है कि न केवल बहुत सी अंग्रेजी

१—(क) **धरती और आकाश—छोटा भाई सुथार, सस्ता साहित्य मंडल** १.५० रु० १९५८
(ख) **आकाश दर्शन** ,, ,, ,, ,, २.०० १९५९

२—**जानने की बातें १० भाग, ज्योतिर्मय दे तथा देवी प्रसाद चट्टोपाध्याय, राजकमल प्रकाशन।**
पृथ्वी बनी जीव आया मनुष्य का बचपन ,, ,, सस्ता साहित्य मण्डल १९६०

पुस्तकें हिन्दी में अनूदित हुई हैं वरन् इन्हीं के अनुकरण पर नवीन पुस्तकों की रचना भी हुई है। ऐसी पुस्तकों में प्रमुख हैं :

आग हमारी शत्रु व मित्र, आवाज की दुनिया, गर्मी और हमारा जीवन, शक्ति और इंजन, मक्खी और मच्छर की कहानी, धातुओं की कहानी, पानी, चिकित्सा की प्रगति आदि।

विशिष्ट लेखक

बाल-साहित्य के कुछ विशिष्ट लेखक हैं—सुरेश सिंह, व्यथित हृदय, रमेश वर्मा तथा केशव सागर। इनके अतिरिक्त अन्य लेखकों में से योगेन्द्र कुमार लल्ला की शैली भी रोचक होती है।

प्रमुख प्रकाशक

बाल-साहित्य के उत्पादन में दिल्ली के ही प्रकाशकों ने काफी साहसिक प्रयास किया है। इनमें से प्रमुख हैं— राजपाल एण्ड संस, सस्ता साहित्य मण्डल, आत्माराम एण्ड संस। इधर शिक्षण संस्थान, नई दिल्ली ने बच्चों के साहित्य का विशिष्ट प्रकाशन प्रारम्भ किया है। प्रयाग में किताब महल ने कई पुस्तकें प्रकाशित की हैं किन्तु वे अच्छी नहीं कही जा सकती हैं।

ये सभी प्रकाशन संस्थायें स्वतन्त्रता के प्रथम दशक के बाद ही यह कार्य कर पाई, यह एक विचित्र सी बात लगती है। जिन प्राचीन संस्थाओं ने इस दिशा में स्वतन्त्रता के पूर्व कार्य प्रारम्भ किया था, वे दैववश स्वतन्त्रता के पश्चात् कोई महत्वपूर्ण योगदान नहीं कर पाईं। यहाँ पर जिन ६० पुस्तकों का उल्लेख है वे सन् १९५९ के बाद प्रकाशित हुईं। इस प्रकार प्रति मास एक पुस्तक छप रही है।

प्रोत्साहन

केन्द्रीय सरकार, राज्य सरकार द्वारा पुरस्कार प्रदान किये जाने के फलस्वरूप भी अनेक नवीन पुस्तकें सामने आई हैं।

१९६० से विज्ञान परिषद् भी बालोपयोगी साहित्य पर ५०० रु० का एक हरिशरणानन्द विज्ञान पुरस्कार प्रदान करती रही है। इसमें अब तक ६० से अधिक पुस्तकें विचारार्थ प्राप्त हो चुकी हैं।

अन्य भारतीय भाषाओं से आदान

बंगाल तथा गुजराती भाषाओं में प्रचुर बालोपयोगी साहित्य पहले से उपलब्ध है। सस्ता साहित्य मण्डल ने छोटा भाई सुथार की दो कृतियों का हिन्दी रूपान्तर प्रस्तुत किया है।

बंगला "जानबार कथा" दस भाग में हैं। हिन्दी में इसके अनुवाद प्रकाशित करने का कार्य राजपाल एण्ड संस ने अपने हाथों में लिया है। इनमें से केवल चार ही भाग वैज्ञानिक विषयों से सम्बन्धित हैं।

सुझाव

अधिकांश विवेच्य पुस्तकें शिशुओं के लिये न होकर किशोरों के लिए उपयुक्त जान पड़ती हैं। फलतः अब भी बाल-साहित्य अधूरा ही है। प्रथम आठ-नौ वर्षों तक की अवस्था के बच्चों के लिये और भी उपयोगी साहित्य के लेखन एवं प्रकाशन की आवश्यकता है। इस दिशा में Wonderful World of Science (विज्ञान की अनोखी दुनिया) को आदर्श मानकर तदनुरूप पुस्तकें लिखी जानी चाहिए। बच्चों को उनकी आयु के ही अनुसार ज्ञान प्रदान करना हितकर होगा। यदि उन्हें अपने समान बूढ़ा (चतुर) मानकर साहित्य की रचना की जावेगी तो वह उपयोगी नहीं हो सकेगी। तब तो उन्हें पाठ्य-पुस्तकें ही अधिक सहायक प्रतीत होंगी। लड़कियों के लिए विशेष उपयोगी वैज्ञानिक सामग्री प्रस्तुत किये जाने की भी आवश्यकता है।

बाल-साहित्य का उत्पादन सहकारी आधार पर योजनाबद्ध किया जाना चाहिए। इसमें विभिन्न संस्थायें अपना सहयोग दे सकती हैं। विभिन्न भाषाओं के बाल-साहित्य से भी लाभ उठाया जा सकता है। कुछ बाल संस्थाएँ हैं जो 'शिशुकल्याण' के लिए हैं। उन्हें भी इस बौद्धिक यज्ञ में हाथ बटाना चाहिए। यदि शिक्षक वृन्द में से ही कुछ शिक्षक लेखन का कार्य पूरी ईमानदारी के साथ प्रारम्भ करें तो अधिक लाभदायी परिणाम प्राप्त होने की सम्भावना है। यदि विश्व-

कोष' के अनुसरण पर 'बाल विज्ञान कोष' की रचना की जा सके तो एक बहुत बड़ा राष्ट्रीय कार्य हो सकेगा।

एक ही विषय पर कई पुस्तकों का लिखा जाना बुरा नहीं किन्तु प्रयास यही होना चाहिये कि उन विषयों या अंगों पर पुस्तकें पहले लिखी जायँ, जिनका अभाव है। आर्थिक लाभ को दृष्टि में रखते हुये साहित्य सर्जना सदैव हितकारी नहीं होगी।

वे प्रकाशक जो अभी तक बाल-साहित्य के प्रकाशन में वरीयता प्राप्त कर चुके हैं, उन्हें चाहिये कि आगे भी वे उसमें लगे रहें।

वैज्ञानिक साहित्य में विविधता लाने के लिए सतत प्रयत्न होते रहने चाहिए। विख्यात वैज्ञानिकों की जीवनियाँ सचित्र रूप में छपनी चाहिए। पत्रिकाओं में ऐसी वैज्ञानिक कहानियाँ एवं उपन्यास क्रमबद्ध रूप से छपने चाहिए जो उपयोगी हों। यदि पाठ्यक्रम पर भी कुछ विस्तृत सचित्र सामग्री लगातार छपती रहे तो सभी बच्चे इन पत्रिकाओं को खरीद कर पढ़ेंगे।

"आज का बालक कल का नागरिक होगा"। फलतः अभिभावकों को चाहिए कि बच्चों को उपयोगी एवं अच्छा साहित्य चुन कर पढ़ने को दें और अपने आप उन्हें नई चीजें पढ़ते रहने की आदत बनाने में सहयोग दें। बिना सम्यक जानकारी के कोई भी बच्चा आगे चलकर वैज्ञानिक नहीं बन सकता।

●●

पृष्ठ ६२ का शेषांश

व्यक्तियों को न केवल योग-क्षेत्र प्राप्त होगा, उन्हें मानवता का सुथरा-सुथरा रूप प्राप्त होने का भी अवसर मिलेगा। सत्ज्ञान और उस ज्ञान का व्यक्ति और मानव के हित के लिए उपयोग यही विज्ञान का मूल उद्देश्य है और इस प्रकार विज्ञान और धर्म के संघर्ष की कल्पना ही व्यर्थ है।

विज्ञान प्रगतिशील है, धर्म प्रगतिशील न हो, ऐसी बात नहीं है। धार्मिक मान्यताओं का इतिहास भी अक्षुण्ण स्थिरता का समर्थन नहीं करता। धर्म केवल रीति-रस्मों और परम्परागत रूढ़ि रिवाजों का नाम नहीं है। काल और देश के अनुसार सौ-दो सौ वर्षों में धार्मिक कृत्यों की रूपरेखा भी बहुत कुछ बदल जाती है। धार्मिक जीवन परोक्ष को अपने समक्ष रखता है, पर प्रत्यक्ष की वह अवहेलना नहीं कर सकता। समस्त विश्व अलौकिक चेतनता से ओत-प्रोत है, इस मान्यता में धर्म और विज्ञान दोनों एक से हैं। तप और स्वाध्याय का दोनों में एकसा महत्व है। अनन्तोवैवेदाः ज्ञान अनन्त है, यह भावना आस्तिक भावना है, और यही वैज्ञानिक भावना है। फिर दोनों में संघर्ष कैसा ! विज्ञान ने असहाय मानव को शक्ति दी और धर्म ने इसे शक्ति और सान्त्वना दी।

(आकाश वाणी के सौजन्य से)

●●

परिशिष्ट
बाल साहित्य

सामान्य विज्ञान

आविष्कारों की कहानी

विज्ञान जगत	राजकमल प्रकाशन	अनुवाद	१९५६
विज्ञान की अनोखी दुनिया	,,	,,	१९५६
विज्ञान की कहानियाँ	आत्माराम एण्ड सन्स	मौलिक	१९६१
विज्ञान की कहानियाँ	शकुन प्रकाशन	मौलिक	१९६३
खेल भी विज्ञान भी	शिक्षण संस्थान	मौलिक	१९६३
विज्ञान के खेल	ने० पब्लिशिंग	मौलिक	१९६२
ज्ञान भारती	पीपुल्स पब्लिशिंग	मौलिक	१९५६
आविष्कारों के खेल	साहित्य भवन	मौलिक	१९६०

विज्ञान के चमत्कार
दैनिक जीवन में विज्ञान
जलयान की कहानी
भाप की कहानी
रेल की कहानी
वायुयान की कहानी
} फुटकर

भौतिक विज्ञान

आवाज	केशव सागर	१९६०
आवाज की दुनियां	रामचन्द्र तिवारी	१९६२
प्रकाश की कहानी	त्रिलोक चन्द्र गोयल	१९६३
प्रकाश की बातें	ब्रह्मानंद, नरेशवेदी	१९५७ से पूर्व
ध्वनि की लहरें	,, ,,	,,
गरमी की कहानी	,, ,,	,,
गरमी और हमारा जीवन	रमेश चन्द्र प्रेम	१९६२
शक्ति और इंजन	कृष्ण गोपाल	१९६२
आवाज की कहानी	व्यथित हृदय	१९६३
अंधेरे का शत्रु प्रकाश	,,	१९६३
बिजली की लीला	जगपति चतुर्वेदी	१९५१
टेलीविजन की कहानी	राजीव सक्सेना	१९६२

रसायन विज्ञान

हवा की बातें	केशव सागर	१९५६
पानी	,,	१९६१
आग की कहानी	,,	१९६०
आग हमारी मित्र व शत्रु	रमेश चन्द्र वर्मा	१९६२
हवा के चमत्कार	केशव सागर	१९६२
जानने की बातें, भाग २	ज्योतिर्मय दे तथा देवी प्रसाद चट्टोपाध्याय	१९६०
रसायन की कहानी	(अनुवाद)	१९५८
धातुओं की कहानी	धर्मेंद्र कुमार कांकरिया	१९५८
पानी	विमल चन्द	१९५८
पानी और हमारा जीवन	व्यथित हृदय	१९६३
मैं हवा हूँ	,,	१९६३

तत्व और यौगिक
परमाणु विखण्डन
} फुटकर

जीव विज्ञान

जंतु जगत की कहानी	अनुवाद, रमेश वर्मा	१९५८
वनस्पतियों की कहानी	,, ,,	१९५८
मनुष्य की कहानी	,, ,,	१९५८
जीव जन्तु	सुरेश सिंह	१९५४
कीड़े मकोड़े	सुरेश सिंह	१९६२
समुद्र के जीव-जन्तु	,,	१९५८
पक्षियों की दुनिया	,,	१९५६
जानवरों का जगत	,,	१९६१
जीव आया	देवी प्रसाद चट्टोपाध्याय	१९५७
मनुष्य जनमा	,, ,,	१९५७
मनुष्य का बचपन	,, ,,	१९६०

मक्खी और मच्छर की कहानी	योगेन्द्र कुमार लल्ला	१९६२
कीड़ों की विचित्र दुनिया	कुमारी रमेश प्रभाकर	१९६३
रंग बिरंगे पक्षी	सतीश	१९६३
हमारा शरीर	सन्तराम वत्स्य	१९६२
हमारा स्वास्थ्य	,,	,,
पौधों की कहानी	,,	,,
छोटे बड़े जानवर	किशोर गर्ग	१९६२
क्या रंग बिरंगी पक्षी	,,	,,
प्रकृति के विचित्र कारीगर	मीना चौधरी	१९५८
जीव जन्तुओं के घर	रघुनाथ प्रसाद श्रीवास्तव	१९६३
मछलियों की दुनियां	जगपति चतुर्वेदी	१९५८
समुद्री जीव-जन्तु	,,	१९५१
जीव जन्तुओं में बुद्धि	,,	१९५७
अनोखे पौधे	अमिताभ	१९६३

ग्रह-नक्षत्र विज्ञान

हमारा पड़ोसी चांद	रमेश वर्मा	१९६३
पृथ्वी की कहानी	रमेश वर्मा-अनुवाद	१९५८
पृथ्वी बनी	देवी प्रसाद चट्टोपाध्याय	१९५८
धरती और आकाश	छोटू भाई सुथार (गुजराती से अनुवाद)	१९६०
आकाश दर्शन	,, ,,	१९५९
सूरज चांद सितारे	सन्त राम वत्स्य	१९६३
दुनिया की दुनिया	मनमोहन मदारिया	१९६२
झिलमिलाते सितारे	रमेश चन्द्र वर्मा	१९६१
चंद्रलोक की यात्रा	रमेश चन्द्र वर्मा	
कृत्रिम ग्रह और उपग्रह		
उड़न तश्तरी	रमेश चन्द्र वर्मा	१९६२
चांद सितारे	हरिऔध	१९५६
सितारों की बारात	एस० पी० खत्री	१९५६
मंगल ग्रह में रजिया	शारदा मिश्र	
आकाश की सैर	पुरुषोत्तम लाल	
चमकते तारे	संत गोकुल चंद	
मंगल यात्रा (उपन्यास)	ओउम् प्रकाश	१९५७

अन्य पुस्तकें

खेल तमाशा	हरिऔध	
सितारों की बारात	एस० पी० खत्री	
मंगल ग्रह में रजिया	शारदा मिश्र	
आकाश की सैर	पुरुषोत्तम लाल	
आकाश की सैर	नर्मदा प्रसाद मिश्र	
प्रकृति पर विजय —२ भाग	छवि नाथ	
मानव की कहानी	उमाशंकर श्रीवास्तव	
विज्ञान के मनोरंजन		
जलयान की कहानी		
सर सी० वी० रमन		
संसार के महान वैज्ञानिक	जफर खातून	
पानी बोला	राम चन्द्र तिवारी	
भाप की कहानी		
मोटरकार की कहानी		
रेल की कहानी		
रेडियो की कहानी	सरोज दीक्षित	
वनस्पति की कहानी	जगपति चतुर्वेदी	
वायुयान की कहानी	,,	
विज्ञान के चमत्कार	भगवती प्रसाद श्रीवास्तव	
विज्ञान के महारथी	जगपति चतुर्वेदी	
दैनिक जीवन में विज्ञान	हरि भगवान	१९५६

●●

सापेक्षवाद

महावीर सिंह सुडिया

सापेक्षवाद वैज्ञानिक जगत में बीसवीं सदी की एक महान देन समझा जाता है। इसके आविष्कर्ता सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक प्रोफेसर अलबर्ट आइन्स्टीन हैं। सन् १९०५ में आइन्स्टीन ने विशिष्ट सापेक्षता (special theory of relativity) शीर्षक एक निबन्ध लिखा जो 'भौतिक शास्त्र का वर्ष पत्र' नामक जर्मन पत्रिका में प्रकाशित हुआ। इस निबन्ध ने वैज्ञानिक जगत में अजीब हलचल मचा दी। सन् १९१६ में उन्होंने अपने सिद्धान्त को व्यापक रूप दिया जिसका नाम था—सामान्य सापेक्षता (general theory of relativity)। सचमुच ही आइन्स्टीन का अपेक्षावाद विज्ञान के शान्त समुद्र में एक ज्वार था। उसने विज्ञान की बहुत सी बद्धमूल धारणाओं पर प्रहार कर एक नया मानदण्ड स्थापित किया। सापेक्षवाद के मान्य होते ही न्यूटन के काल से धाक जमा कर बैठे हुये गुरुत्वाकर्षण का सिंहासन डोल उठा और देश-काल (space-time) की धारणाओं ने भी एक नया रूप ग्रहण किया।

सापेक्षवाद के विकास का प्रारम्भ गतिशील माध्यमों से सम्बन्धित प्रकाश-वैज्ञानिक तथ्यों के अध्ययन से हुआ। प्रकाश के तरंग-सिद्धान्त के विकास के साथ, वैज्ञानिकों ने यह आवश्यक समझा कि शून्य दिक को कतिपय यान्त्रिक तत्वों से सम्पन्न समझा जाए। इसलिये अनुभव किया गया कि दिक को किसी प्रकार के तत्व से निर्मित समझा जा सके। न्यूटन के समय से पहले, फ्रांसिसी दार्शनिक डेकार्टे ने भी यह तर्क प्रस्तुत किया था कि दूर होने के कारण वस्तुओं का बिलगाव ही यह प्रमाणित करता है कि उनके बीच कोई माध्यम है। १८वीं और १९वीं शताब्दी के भौतिक विज्ञान-वेत्ताओं के समक्ष यह स्पष्ट हो गया कि यदि प्रकाश में तरंगे होती हैं तो उनका कुछ आधार भी होगा, जैसे पानी सागर की तरंगों को पैदा करता है और हवा उन कम्पनों को जन्म देती है जिन्हें ध्वनि कहा जाता है। तब वैज्ञानिकों ने ईथर (ether) नामक एक काल्पनिक तत्व को जन्म दिया, जो उनके विचार में, समस्त दिक और पदार्थ में व्याप्त है। उन्नीसवीं शताब्दी से पूर्व वैज्ञानिकों में ईथर का कोई स्थान नहीं था। इस ओर वैज्ञानिकों की मनीषा नहीं दौड़ी थी। किन्तु यह कैसे हो, सृष्टि के अणु-अणु पर विचार करने वाला वर्ग उसकी रचना के इस अनिवार्य अंग से अपरिचित ही बना रहे। सूर्य, ग्रह और तारों के बीच में जो इतना शून्य प्रदेश पड़ा है, प्रकाश किरणें बिना माध्यम के किस प्रकार विचरण कर सकती है? परिणामस्वरूप ईथर की कल्पना की गई। माना गया—ईथर तारों, ग्रहों और दूसरे आकाशीय पिण्डों की खाली जगह में ही नहीं भरा है, अपितु अत्यन्त सूक्ष्म परमाणु के रिक्त देश में भी व्याप्त है। बाद में मेक्सवेल ने प्रकाश को एक 'विद्युत-चुम्बकीय विक्षोभ' (Electromagnetic disturbance) के रूप में मान्यता प्रदान की, तब ईथर का अस्तित्व निश्चित सा हो गया।

न्यूटन के भौतिक विज्ञान का अन्तिम निष्कर्ष था—एक ब्रह्माण्ड, जो एक ऐसे अदृश्य माध्यम से सम्बद्ध है, जिसमें नक्षत्र गतिशील है और जिससे होकर प्रकाश कम्पनों के रूप में विचरता है। इसमें प्रकृति के सभी ज्ञात तत्वों के लिये एक यांत्रिक स्वरूप और आधार के लिये स्थिर ढाँचे—विशुद्ध और स्थिर दिक—की व्यवस्था थी, जिनकी न्यूटन के विश्व-विज्ञान को

आवश्यकता थी। फिर भी ईथर के कारण कई समस्याएँ उपस्थित हुईं, क्योंकि उसका अस्तित्व कभी प्रमाणित नहीं हो सकता था। इस बात का पता लगाने के लिये कि वस्तुतः ईथर नाम की किसी वस्तु का कोई अस्तित्व है भी या नहीं, दो अमरीकी भौतिक विज्ञान-वेत्ताओं, ए० ए० मिचेलसन और इ० डब्ल्यू० मोरले, ने क्लीवलैण्ड में सन् १८८१ में एक भव्य परीक्षण किया।

परीक्षण का आधार था, यदि आकाशीय पिण्ड ईथर के अनन्त समुद्र में सचमुच ही तैर रहे हों तो उनकी गति का वेग जानना सहज है। मिचेलसन-मोरले के प्रयोग को समझने के लिये एक निम्न उदाहरण दिया गया है जिसमें ठीक उसी प्रकार का तर्क किया गया है। दो समान वायुयान माइक और आइक एक ही जगह से -- फोटान नगर से—रवाना होकर एक दौड़ प्रतियोगिता में भाग ले रहे हैं (चित्र—१)। माइक यान पूर्व की ओर
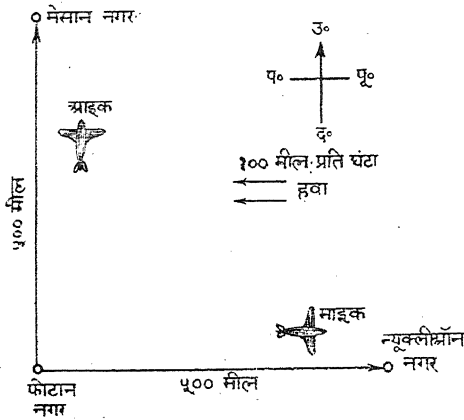
चित्र—१

माइक आइक दौड़ प्रतियोगिता

नूक्लीआन नगर जाकर वापस आता है। आइक यान उत्तर की ओर मेसान नगर जाकर वापस आता है। नूक्लीआन नगर तथा मेसान नगर फोटान नगर से ५०० मील दूर है। अब यदि दोनों यानों की गति १००० मील प्रति घंटा है और दौड़ के वक्त बिलकुल हवा नहीं है तो दोनों यान एक ही समय में दौड़ पूरी कर लेंगे।

लेकिन यदि १०० मील प्र० घं० के हिसाब से हवा पूर्व से बह रही हो तो आइक यान, माइक यान की अपेक्षाकृत जल्दी दौड़ पूरी कर लेगा। इसका कारण यह है कि हवा की १०० मी० प्र० घं० की गति के कारण, माइक यान नूक्लीआन नगर की ओर केवल ९०० मी० प्र० घं० के हिसाब से ही जाता है। लौटते वक्त यद्यपि उसकी गति ११०० मी० प्र० घं० है लेकिन कम गति (९०० मी० प्र० घं०) से ज्यादा देर तक जाना पड़ा इसलिये उसकी औसत गति १००० मी० प्र० घं० से कम रहेगी। यह सत्य है कि आइक यान को भी इस हवा की गति से मेसान नगर जाने में कुछ बाधा रहेगी फिर भी उसकी औसत गति माइक से ज्यादा ही रहती है। उपर्युक्त उदाहरण में आइक को १ घंटा और १८ सेकण्ड लगेंगे और माइक को १ घंटा ३६ सेकण्ड लगते हैं। इस प्रकार आइक दौड़ जल्दी पूरी करता है।

इसी तरह से यह तर्क किया गया कि अगर पृथ्वी वास्तव में ईथर में घूमती है तो रोशनी की एक किरण पृथ्वी की चाल के साथ-साथ दर्पण तक पहुँच कर वापस लौटने में ज्यादा समय लेगी अपेक्षाकृत उसके कि रोशनी पृथ्वी की चाल के सम्मुख पहुँचती हो। यदि ईथर पृथ्वी की गति के लिये एक भौतिक माध्यम है तो उपर्युक्त परिणाम होना जरूरी है। यह परीक्षण अमेरिका में एक बहुत सूक्ष्म यन्त्र 'व्यतिकरण' मापी (Interferometer) द्वारा किया गया किन्तु उससे मालूम हुआ कि प्रकाश की किरणें दोनों यात्रा में बराबर समय लेती हैं। सारा परीक्षण इतनी सावधानी से आयोजित और पूरा किया गया कि इसके परिणामों में किसी तरह के संदेह की गुंजाइश नहीं रह गई।

मिचेलसन और मोरले के परीक्षण के कारण वैज्ञानिकों के सामने एक व्याकुल कर देने वाला विकल्प आया। उनके सामने यह समस्या थी कि वे ईथर सिद्धान्त को—जिसने विद्युत, चुम्बकत्व और प्रकाश के बारे में बहुत सी बातें बतलाई थीं—छोड़ें या उससे भी अधिक मान्य कोपरनिकन-सिद्धान्त को मानें जिसके अनुसार पृथ्वी स्थिर, नहीं गतिशील है। बहुत से भौतिक विज्ञानवेत्ताओं को ऐसा लगा कि यह विश्वास करना अधिक आसान है कि पृथ्वी स्थिर है, बनिस्बत इसके कि तरंगें-प्रकाश तरंगें, विद्युत-चुम्बकीय तरंगें—बिना किसी सहारे के अस्तित्व में रह सकती हैं। यह एक बड़ी विकट समस्या

थी—इतनी विकट कि इसके कारण वैज्ञानिक विचारधारा २५ वर्षों तक भिन्न-भिन्न रही, एकमत न हो सकी। कई नई कल्पनाएं सामने प्रस्तुत की गयीं और रद्द भी कर दी गयीं। उस परीक्षण को मोरले और दूसरे लोगों ने फिर शुरू किया, पर नतीजा वही निकला—ईथर में पृथ्वी का प्रत्यक्ष वेग शून्य है।

स्पष्ट है कि इस विकट समस्या का समाधान करने के लिये वैज्ञानिक विचारधारा में क्रान्तिकारी परिवर्तन होने को था। समस्या का समाधान भी अनूठे ढंग से सापेक्षवाद के सिद्धान्त ने प्रस्तुत किया। यही नहीं, इस सिद्धान्त ने नये और अकल्पनीय निष्कर्ष निकाले जिनकी वजह से परमाणु बम और उद्‌जन बम का निर्माण हुआ। परमाणु शक्ति का असीम भंडार वैज्ञानिकों को प्राप्त हुआ।

सापेक्षता के विशिष्ट सिद्धान्त में गति के स्वरूप का अध्ययन किया गया और बतलाया गया कि ब्रह्माण्ड में ऐसा कोई स्थिर प्रमाण नहीं है जिसके द्वारा मनुष्य पृथ्वी की निरपेक्ष गति (absolute motion) या अन्य गतिशील प्रणाली का निश्चय कर सके। गति का अनुमान किसी दूसरी वस्तु के संदर्भ में स्थिति के परिवर्तन मात्र से किया जा सकता है। उदाहरणस्वरूप, हम जानते हैं कि पृथ्वी १८ मील प्रति सेकण्ड की गति से सूर्य का चक्कर लगा रही है। सभी ग्रह, तारे, ज्योतिर्मालाएं और ब्रह्माण्ड की गतिशील प्रणालियाँ अबाध रूप से निरंतर स्थान परिवर्तन कर रही हैं, तो भी उनकी गतिविधियों को केवल उनकी परस्पर स्थितियों से ही समझा जा सकता है। यदि एक को छोड़कर ब्रह्माण्ड के सारे पदार्थ हटा लिये जाएं तो यह कोई भी नहीं बतला सकता था कि वह पदार्थ स्थिर है या शून्य में एक हजार मील प्रति घंटे की गति से चल रहा है। गति एक सापेक्षिक अवस्था में है। यदि शून्याकाश में दो राकेट एक दिशा में जा रहे हैं तो एक राकेट में बैठे हुए व्यक्ति को अपनी गति का पता दूसरे राकेट के द्वारा ही लगेगा। यदि यह दूसरा राकेट नहीं हो और प्रथम राकेट बराबर सम गति से चलता रहे तो राकेट में बैठे व्यक्ति को उसकी चाल का पता नहीं लग सकेगा। इस प्रकार हम सापेक्ष गति (relative motion) ही मालूम कर सकते हैं और निरपेक्ष गति (absolute motion) जैसी कोई कल्पना नहीं कर सकते हैं। सापेक्षता के विशिष्ट सिद्धान्त के प्रथम नियम के अनुसार बतलाया गया कि ईथर के अस्तित्व का पता नहीं लगाया जा सकता क्योंकि एक स्थिर ईथर में निरपेक्ष गति होगी जो कि संभव नहीं है। इस प्रथम नियम ने ईथर की विकट समस्या का समाधान अनूठे ढंग से प्रस्तुत किया।

सापेक्षता के विशिष्ट सिद्धान्त के दूसरे नियम के अनुसार प्रकाश का वेग सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में स्थिर है। प्रकाश के वेग पर न तो उसके उद्‌गम की गति का असर पड़ता है और न उसके संग्राहक की गति का। यह आश्चर्यजनक तथ्य उन दुहरे सितारों के अध्ययन से भी पुष्ट हुआ जो एक गुरुत्वाकर्षण केन्द्र का चक्कर लगाते हैं। इन गतिशील प्रणालियों के सावधानीपूर्ण विश्लेषण से यह प्रकट हुआ कि पृथ्वी के निकट आने वाले और दूर जाने वाले प्रत्येक जोड़ सितारों की प्रकाश-किरणें पृथ्वी पर पहुँचती हैं, उनका वेग एक समान ही होता है। यदि एक रेलगाड़ी १०००० मील प्रति घंटा की रफ्तार से जा रही है, तब भी प्रकाश के वेग की स्थिरता के सिद्धान्त के अनुसार उस गाड़ी पर सवार व्यक्ति प्रकाश-किरण की गति प्रति सेकण्ड १,८६,००० मील ही पाएगा, न अधिक न कम। एक प्रकाश किरण किसी तारे से निकल कर एक प्रेक्षक के पास १,८६,००० मील प्र० से० के हिसाब से ही जायगी, चाहे प्रेक्षक और तारा एक दूसरे से दूर जा रहे हैं अथवा निकट आ रहे हैं। यह एक क्रान्तिकारी नियम था जो कि साधारण रूप में बुद्धिगम्य नहीं किया जा सकता था। फिर भी यह एक प्राकृतिक नियम माना गया। यदि प्रकाश का वेग स्थिर है और पृथ्वी की गति से प्रभावित नहीं होता तो सूर्य, चन्द्रमा, सितारे या नक्षत्रों से भी वह प्रभावित नहीं होगा। सभी एकरूप गतिशील प्रणालियों के लिये प्रकृति के नियम समान हैं। इसमें गैलिलियो का सापेक्ष सिद्धान्त भी शामिल है जिसमें कहा गया था कि सभी एकरूप गतिशील प्रणालियों के लिये यांत्रिक नियम एक समान हैं।

किन्तु यह अधिक विस्तृत है। इसमें यांत्रिक नियमों के साथ-साथ प्रकाश को संचालित करने वाले व अन्य विद्युत चुम्बकीय नियमों का भी समावेश है।

विशिष्ट सापेक्षता के अनुसार ब्रह्माण्ड एक अस्थिर स्थान है। तारे, तेजोमेघ (Nebulae), ज्योतिमंडल (galaxies) और वाह्य आकाश की समस्त गुरुत्वाकर्षण प्रणालियाँ निरंतर गतिशील है। लेकिन उनकी गतिविधियाँ उनके परस्पर सम्बन्धों के रूप में ही वर्णन की जा सकती हैं क्योंकि दिक (space) में न दिशाएँ हैं और न सीमाएँ हैं। प्रकाश को मापदण्ड मानकर किसी भी प्रणाली का सही वेग मालूम करना एक वैज्ञानिक के लिये निरर्थक है, क्योंकि प्रकाश का वेग सम्पूर्ण ब्रह्मांड में स्थिर है।

निरपेक्ष दिक के साथ-साथ, आइन्स्टीन ने विशिष्ट सापेक्षता में निरपेक्ष काल की धारणा का भी परित्याग किया। इस धारणा के अनुसार, काल (time) अनादि भूत से अनन्त भविष्य के बीच की एक स्थिर अपरिवर्तनीय, अप्रभावित और सर्व व्यापक काल-धारा है। साक्षेपवाद के सिद्धान्त में होने वाली गूढ़ता अधिकांशतः इसी कारण उत्पन्न हुई है कि मनुष्य ने काल के ज्ञान को, रंग के ज्ञान की तरह, अनुभूति के एक रूप में नहीं माना है। जिस तरह आंख के अभाव में रंग का कोई अस्तित्व नहीं है उसी तरह किसी घटना के अभाव में दिन और घंटे का भी कोई अस्तित्व नहीं है। जिस प्रकार से दिक् भौतिक पदार्थों की एक सम्भावित क्रम वद्धता है उसी प्रकार काल भी घटनाओंकी सम्भावि क्रनवद्धता है।

अपने अनुभवों का एक घड़ी या कलेन्डर से संबंध जोड़ कर हम समय को एक भौतिक भाव प्रदान करते हैं। फिर भी घड़ी अथवा कलेन्डर में व्यक्त समय का अन्तर यथार्थ नहीं है। सभी घड़ियां और प्रणाली के अनुसार बनाई जाती हैं।

जो हम एक घंटा कहते है वह वास्तव में दिक का एक मापदण्ड हैं। इस नैसर्गिक मंडल की प्रत्यक्ष दैनिक गति का १५ अंशों का वृत खन्ड है। हमारा एक एक वर्ष, सूर्य के चारों ओर पृथ्वी की गति का माप-दण्ड है। बुध के निवासी की समय की धारणा बिलकुल अलग होगी क्योंकि बुध ग्रह हमारे यहां के ८८ दिनों में सूर्य का चक्कर लगा लेता है। वहां एक वर्ष केवल ८८ दिन का ही होता है। यदि हम यह जानने की कोशिश करें कि दूर सितारों में क्या हो रहा है तो हमें और भी विस्मयकारक परिणाम प्राप्त होंगे। पृथ्वी से निकटतम तारा 'अल्फा सेन्टरी' ४ प्रकाश वर्ष दूर है और यदि रेडियो के द्वारा इस तारे से सम्बन्ध स्थापित करें तो अभी दिखाई पड़ने वाले तारे की वस्तु-स्थिति सन् १९६० की होगी। यह जानने के लिये कि अभी वहाँ पर क्या हो रहा है हमें १९६८ तक ठहरना पड़ेगा।

इस परिस्थिति के उपरान्त भी पृथ्वी के मनुष्य के लिये यह मानना कठिन है कि इस क्षण की बात जिसे वह अभी की संज्ञा देता है समस्त ब्रह्माण्ड पर लागू नहीं होती। एक वैज्ञानिक जिसका कार्य प्राकृतिक घटनाओं की भौतिक रूप में चर्चा करना है वह 'यह' 'यहाँ' और 'अब' जैसे शब्दों का प्रयोग नहीं कर सकता। उसके लिये दिक् और काल सम्बन्धी धारणाएँ जब घटनाओं और प्रणालियों के सम्बन्धों की व्याख्या हो जाती है, केवल तभी भौतिक महत्व रखती है। और उसके लिये यह आवश्यक है कि गति के दुरूह स्वरूपों (जैसे भौतिक यांत्रिकता, चल वैद्युत) से सम्बन्धित पदार्थों के बारे में किसी निश्चय पर पहुँचने के लिये वह एक प्रणाली के परिमाणों के साथ दूसरी प्रणाली के परिमाणों का सम्बन्ध निश्चित करे। इन सम्बन्धों की व्याख्या करने वाले गणित के नियमों को रूपान्तर के नियम (Laws of Transformation) कहा जाता है। एक व्यक्ति जहाज के डेक पर टहल रहा है। यदि वह डेक पर तीन मील प्रति घंटे की गति से आगे बढ़ता है और जहाज की गति १२ मील प्रति घंटे है तो उस व्यक्ति की गति सागर की गति की तुलना में १५ मील प्र० घ० होगी। यदि वह उसी गति से पीछे की ओर चलता है तो उसकी गति सागर की गति की तुलना में ९ मील प्र० घ० होगी। वेगों का यह योग एक साधारण अनुभव की बात है लेकिन प्रकाश सम्बन्धी समस्याओं में इसके प्रयोग में बड़ी कठिनाइयां उपस्थित हो जाती हैं।

महान् डच भौतिक विज्ञानवेत्ता एच० ए० लारेन्ज के रूपान्तर सिद्धान्त का मौलिक प्रयोग यद्यपि अब केवल वैज्ञानिक इतिहासकारों तक ही सीमित है, तथापि सापेक्षवाद के गणित विषयक ढाँचे के एक अंग के रूप में भी इसका अस्तित्व है। यह सिद्धान्त क्या बतलाता है, यह जानने के लिये पहले वेगों के प्राचीन यौगिक सिद्धान्त के दोषों पर दृष्टि डालना आवश्यक है।
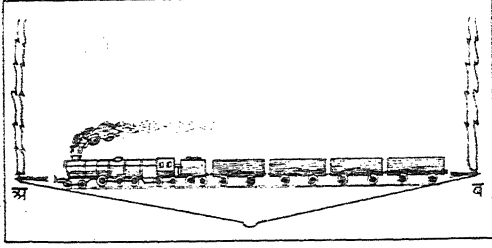
चित्र—२

एक लम्बे रेल-पथ पर जोर का तूफान आया और दो बिजलियाँ एक साथ रेल-पथ के दो स्थल "अ" "ब" पर गिरीं। एक साथ से क्या तात्पर्य है? इसे स्पष्ट करने के लिये मान लीजिये अ और ब के बीचोबीच एक व्यक्ति बैठा है। उसके पास एक शीशा है कि जिससे वह बिना आँख उठाये 'अ' और 'ब' को देख सकता है। अब यदि बिजली की चमक शीशे में एक ही समय दिखाई देती है तो इसे एक साथ की संज्ञा दी जायगी। अब उस पथ पर एक गाड़ी आती है और एक अन्य पर्यवेक्षक गाड़ी के ऊपर वैसा ही एक शीशा लिये बैठा है। संयोगवश वह जब किनारे वाले पर्यवेक्षक के पास पहुँचता है तभी 'अ' और 'ब' स्थलों पर बिजली गिरती है। उसे दोनों बिजलियाँ एक साथ गिरती नहीं दिखाई देंगी क्योंकि गाड़ी 'ब' स्थल से 'अ स्थल को और बढ़ रही है। 'ब' पर गिरने वाली बिजली उसे 'अ' पर गिरने वाली बिजली की अपेक्षा बाद में दिखाई पड़ेगी। इस सन्देह को दूर करने के लिये ऐसा माना जा सकता है कि गाड़ी प्रकाश की गति से दौड़ रही है। ऐसी अवस्था में 'ब' चमक यद्यपि 'अ' चमक के वेग की होगी, पर शीशे में कभी नहीं दिखाई देगी क्योंकि वह गाड़ी को नहीं पकड़ सकेगी। इसलिये गाड़ी का पर्यवेक्षक तो यही मानेगा कि केवल एक ही बिजली गिरी है। इस प्रकार बिजली की चमकें स्थिर पर्यवेक्षक को भले ही एक साथ दिखाई पड़ें, गाड़ी में बैठे पर्यवेक्षक को एक साथ नहीं दिखाई पड़ेंगी।

इस प्रकार बिजली की चमकों का विरोध सापेक्षवाद के अत्यधिक विलक्षण और कठिन सिद्धान्तों में से एक को नाटकीय स्वरूप में प्रस्तुत करता है। यह सिद्धान्त है—समकालीनता की सापेक्षता (Relativity of Simultaneity)। इससे व्यक्त होता है कि मनुष्य इस बात की आशा नहीं कर सकता कि अभी की उसकी आत्मगत भावना ब्राह्माण्ड के सभी क्षेत्रों में लागू होती है। प्रत्येक संदर्भ वस्तु (Reference body) या सहनिर्देशक प्रणाली (Co-ordinate system) का अपना विशेष काल होता है। अतः जब तक हमें यह नहीं मालूम कि किस काल का किस संदर्भ वस्तु से सम्बन्ध है किसी घटना के बारे में बोलना व्यर्थ है। इसलिये वेगों के योग सम्बन्धी प्राचीन सिद्धान्त का दोष उसकी इस अव्यक्त धारणा में है कि किसी घटना की अवधि उसकी संदर्भ प्रणाली की गति की अवधि से स्वतन्त्र होती है। काल की तरह दूरी भी एक सापेक्ष कल्पना है और संदर्भ प्रणाली की गति से मुक्त दिक के अन्तर जैसी किसी वस्तु का अस्तित्व नहीं है। जो वैज्ञानिक प्रकृति के तत्वों की सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की सभी प्रणालियों के लिये व्याख्या करना चाहते हैं, उन्हें काल और दूरी के मापों को परिवर्तनीय मानना होगा। लारेंज के रूपान्तर सम्बन्धी समीकरण भी यही इंगित करते हैं। वे प्रकाश के वेग को एक ब्रह्माण्डीय स्थिरांक (Universal constant) मानते हैं लेकिन काल और दूरी के सभी नापों को संदर्भ प्रणाली के वेग के अनुसार संशोधित करते हैं। सापेक्षता के सिद्धान्त ने एक अन्य धारणा को जन्म दिया—लारेंज के रूपान्तर के सन्दर्भ में प्रकृति के नियम सभी प्रणालियों में अपनी एकरूपता को स्थापित करते हैं। इस तरह विशुद्ध गणित की भाषा में व्यक्त किये जाने पर वैज्ञानिक प्रकृति के तत्वों की व्याख्या करने में सुविधा का अनुभव

करता है। लारेंज के रूपान्तर सम्बन्धी समीकरणों में निहित संदेश के अनुरूप ही आइन्स्टीन ने भौतिक ब्रह्माण्ड के सम्बन्ध में कई नई और असाधारण सच्चाइयों का रहस्योद्घाटन किया। सापेक्षवाद के सिद्धान्त को अवास्तविक देखने का वस्तुतः कारण यह नहीं कि उसके निष्कर्ष समझे नहीं जाते बल्कि यह है कि उन पर सहसा विश्वास नहीं होता।

यदि 'अ और ब' में सापेक्ष गति है तो 'अ' को 'ब' की लम्बाई संकुचित प्रतीत होगी।

$$l' = l\sqrt{1 - \frac{v^2}{c^2}}$$

l 'ब' की लम्बाई, l' लम्बाई जो 'अ' को मालूम पड़ेगी v सापेक्ष गति और c प्रकाश की गति। उदाहरण के तौर पर यदि 'अ' और 'ब' दोनों की लम्बाई २० फीट है और दोनों एक दूसरे से ९३००० मील प्रति सेकण्ड (प्रकाश की गति से आधी गति) से पृथक जा रहे हैं तो 'अ' को ब की लम्बाइ १७ फीट ही मालूम पड़ेगी। यदि उनमें सापेक्ष गति १,६१,००० मील प्रति सेकण्ड है तो उक्त समीकरण के द्वारा ब ,की की लम्बाई केवल १० फीट ही 'अ' को दिखाई देगी। इसी प्रकार एक घड़ी अपनी गतिशील प्रणाली की गति बढ़ने से सुस्त हो जाती है। जितनी अधिक गति उतना अधिक धीमापन। प्रकाश के सम्पूर्ण वेग के साथ जाने वाली वस्तु सिकुड़ कर शून्य के बराबर हो जायगी और घड़ी पूर्णतः रुक जायगी। यदि किसी वस्तु का वेग प्रकाश के वेग से, थोड़ी देर के लिये मान लिया जाय, अधिक है अर्थात् v गति c से अधिक है तो लम्बाई का चिन्ह ऋण (–) होगा जो यह बतलाया है कि वस्तु का अब कोई अस्तित्व नहीं रहा। इससे यह निष्कर्ष निकला है कि प्रकाश का वेग ब्रह्माण्ड का सर्वाधिक तीव्र वेग है। प्रकाश से अधिक गति किसी वस्तु की नहीं हो सकती। विशिष्ट सापेक्षवाद की यह एक अत्यन्त आश्चर्यजनक देन है।

पहले पहल इन तथ्यों को समझना कुछ कठिन ही लगता है। लेकिन यह केवल इसलिये कि विशिष्ट भौतिक विज्ञान ने अनुचित रूप से यह धारणा स्थिर कर ली थी कि कोई पदार्थ—चाहे वह गतिशील हो या स्थिर—समान विस्तार को कायम रखता है और एक घड़ी चाहे वह गतिशील अवस्था में हो या स्थिर अवस्था में अपनी तालवद्धता (rhythm) एक समान रखती है। एक मोटर गाड़ी, एक विमान, या राकेट में किसी घड़ी के सुस्त होने को नहीं नापा जा सकता। ऐसा तभी सम्भव है, जब—प्रकाश के समान वेग उपस्थित हो—ऐसी स्थिति में ही सापेक्षिक प्रभावों का अनुभव किया जा सकता है। इस प्रकार, सापेक्षता विशिष्ट भौतिक विज्ञान का खण्डन नहीं करती। यह पुराने सिद्धान्तों को केवल एक सीमित क्षेत्र में मानती है—अर्थात् उनका सम्बन्ध केवल मनुष्य के सामान्य अनुभवों से होता है। आज का वैज्ञानिक, जो परमाणु के तीव्र ब्रह्माण्ड में व्याप्त भीषण वेगों अथवा दिक् और काल की अनन्तता का पता लगाने में वयस्त है, न्यूटन के पुराने नियमों को अपर्याप्त मानता है, लेकिन सापेक्षता से उसे हर मामले में प्रकृति का सम्पूर्ण और सही विवरण प्राप्त होता है।

भौतिक ब्रह्माण्ड की यांत्रिकता के व्यक्त करने के लिये तीन परिमाणों की आवश्यकता पड़ती है—काल दूरी और राशि (time, distance and mass)। चूँकि काल और दूरी सापेक्षिक परिमाण हैं, इसलिये ऐसा सोचा जा सकता है कि किसी वस्तु की राशि उसकी गति के अनुसार विभिन्न होती है और वास्तव में, सापेक्षता के सर्वाधिक महत्वपूर्ण व्यवहारिक परिणाम इसी सिद्धान्त राशि की सापेक्षता से प्रकट हुए हैं।

वेग के साथ वस्तु की राशि भी बढती है।

$$m = \frac{m_0}{\sqrt{1 - \frac{v^2}{c^2}}}$$

वस्तु की राशि जब वस्तु का वेग v है, m_0 स्थिर राशि का द्योतक है और c प्रकाश का वेग है। इस समीकरण में यदि v = c हो तो वस्तु की राशि अनन्त होगी। क्योंकि अनन्त राशि सम्पन्न वस्तु गति का अनन्त

रूप से प्रतिरोध करेगी अतः कोई भी भौतिक वस्तु प्रकाश की गति से नहीं चल सकती। एक गतिशील वस्तु की राशि गति की वृद्धि के साथ बढ़ती है, और चूँकि गति शक्ति का एक रूप हो, एक गतिशील वस्तु की वर्द्धित राशि उसकी वर्द्धित शक्ति से उत्पन्न होती है। संक्षेप में, शक्ति में राशि होती है। राशि और गति सम्बन्धी समीकरण निम्न प्रकार है।

$$E = mc^2$$

E = शक्ति, m = राशि, c = प्रकाश का वेग।

इस सिद्धान्त ने बताया कि छोटी राशि अत्यन्त अधिक शक्ति का स्रोत हो सकती है।

सापेक्षता के विशिष्ट सिद्धान्त ने वेगों के संयोग के बारे में भी अद्भुत व्याख्या दी। यदि अ और ब प्रत्येक की गति १,००,००० मील प्रति सेकण्ड है तो सामान्य रूप से यही माना जायगा कि 'अ' की गति ब की गति की अपेक्षा २,००,००० मील है (यदि वे दोनों एक दूसरे के निकट आ रहे हैं) लेकिन सापेक्षवाद के सिद्धान्त के अनुसार उनकी गति १,५५,००० मील होगी।

$$V_{BA} = \frac{V_A + V_B}{I + \frac{V_A V_B}{C^2}}$$

V_A और V_B 'अ' और 'ब' की गतियाँ हैं।

जब कभी आइन्स्टीन के सिद्धान्तों की परीक्षा की गई, उनका औचित्य पूर्णतः सिद्ध हुआ। सन् १९३६ में बेल टेलीफोन लेबोरेटरीज के एच० आई० आइव्स ने एक परीक्षण किया, जिससे कालान्तर के सापेक्षित ह्रास का उल्लेखयोग्य प्रमाण मिला। एक विकीर्णात्मक परमाणु (Radiating atom) को एक प्रकार की घड़ी माना जा सकता है, क्योंकि वह एक निश्चित आवृति और तरंग दैर्घ्यवाला प्रकाश फेंकता है जो एक स्पेक्ट्रोस्कोप की सहायता से बड़ी सूक्ष्मता से मापा जा सकता है। आइव्स ने उच्च वेग सहित गतिशील उद्जन परमाणुओं द्वारा छोड़े गए प्रकाश की, स्थिर उद्जन परमाणुओं द्वारा छोड़े गए प्रकाश के साथ तुलना की और पाया कि गतिशील अणुओं के प्रकम्पन की आवृति कम होगी। मानव हृदय भी एक तरह की घड़ी है। सापेक्षता के अनुसार, अधिक गति के साथ हृदय घड़ी धीमी पड़ जायगी और एक स्थिर पर्यवेक्षक की दृष्टि में उसकी उम्र धीमी गति से बढ़ती प्रतीत होगी। अतएव यह संभव है कि भविष्य में ब्रह्माण्ड का अन्वेषण करने वाला कोई व्यक्ति परमाणु चालित राकेट पर जिसकी गति १,६७,००० मील प्रति सेकण्ड हो, चढ़ कर यात्रा करने के उपरान्त, दस वर्ष बाद, पृथ्वी पर जब लौटेगा, तो अपनी उम्र में केवल पाँच वर्ष की वृद्धि का अनुभव करेगा।

सन् १९०२ में काफमेन जब रेडियम से निकली बीटा किरणों का अध्ययन कर रहे थे तो उन्होंने पाया कि जितनी तेज गति से बीटा किरणें निकलती थीं उतनी ही अधिक उनकी राशि में वृद्धि होती थी। यह एक आश्चर्यजनक तथ्य ही समझा गया। सापेक्षवाद के वेग के साथ राशि सम्बन्धी समीकरण से उन्होंने पाया कि गति के साथ राशि में वृद्धि उतनी ही होती थी जितनी कि उक्त समीकरण के द्वारा व्यक्त की गई थी। इसी प्रकार सोमरफील्ड की परमाणु वृत सिद्धान्त में भी गति के साथ राशि वृद्धि का पर्याप्त प्रमाण मिलता है। सोमरफील्ड ने बताया कि इलेक्ट्रान कण नाभिक के चारों ओर दीर्घवृत्तात्मक वृत में घूमते हैं। सन् १६०९ में केपलर ने सिद्ध किया कि जब कोई ग्रह सूर्य का चक्कर लगाता है तो उसकी गति कम और ज्यादा होती है। यह परिवर्तन वृत के आकार पर निर्भर करता है। अर्थात् जब ग्रह सूर्य के निकट होगा तो उसका वेग अधिक होगा और दूर जाने पर वेग कम हो जायगा क्योंकि गति में परिवर्तन होता है तो राशि में भी परिवर्तन होगा (राशि वृद्धि समीकरण के अनुसार)। बीटा किरणों की गति भी तीव्र होती है अतएव राशि में वृद्धि का ठीक-

चित्र—३
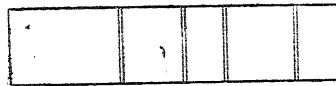
ठीक पता लगता है। गणित के आधार पर सोमरफील्ड ने बताया कि इस प्रकार इलेक्ट्रान एक रोजेट पथ पर घूमेगा जिसका असर एक स्पेक्ट्रास्कोप के द्वारा विभाजित

रेखाओं (Split spectral lines) के अध्ययन से सिद्ध हो सकता है। इस प्रकार की विभाजित रेखाएँ पाशेन ने सन् १९१६ में सर्व प्रथम प्राप्त की जब वे हीलियम के स्पेक्ट्रम का अध्ययन कर रहे थे। इस प्रकार राशि में वृद्धि के प्रभाव की पुष्टि होती है।

विशालकाय परमाणु भंजक यन्त्रों (atom smashing machines) जो कि परमाणु के नाभिक की बनावट का पता लगाने हेतु बनाये गये हैं, के द्वारा भी गति के साथ राशि में वृद्धि का प्रमाण मिलता है। इन यन्त्रों का मुख्य कार्य विभिन्न कणों को तीव्र गति प्रदान करना है। अधिक गति के साथ राशि में भी वृद्धि होती है। सन् १९५२ में ब्रुकहेवन राष्ट्रीय प्रयोगशाला में प्रोटान कणों को १,७७,००० मील प्रति सेकण्ड की गति प्रदान की गई और परिणामतः राशि में तिगुनी वृद्धि हुई। जून १९५२ में केलिफोर्निया इन्स्टीट्यूट आफ टेक्नालाजी में इलेक्ट्रान कणों को ९९९९९९९ c (c = प्रकाश का वेग) गति तक प्रदान की गई और इलेक्ट्रान्स में राशि की वृद्धि ६०० गुना अधिक हुई।

$E = mc^2$ समीकरण भौतिक विज्ञान के अनेक अति प्राचीन रहस्यों का समाधान करता है। यह बतलाता है कि कैसे रेडियम और यूरेनियम-जैसे रेडियो-सक्रिय तत्व भारी वेग से कणों को विकीर्ण करते हैं और लाखों वर्षों तक वैसा करने की क्षमता रखते हैं। यह बतलाता है कि कैसे सूरज और सभी तारे अरबों वर्षों तक प्रकाश और ताप विकीर्ण (Radiate) करते रह सकते हैं। यदि साधारण दाह क्रिया (जैसे कोयले इत्यादि के जलने से) के द्वारा सूरज की शक्ति व्यय होती, तो यह पृथ्वी युगों पूर्व ही घोर अन्धकार में पड़ कर मृत्यु को प्राप्त हो गयी होती। यह नाभिकीय संलग्न प्रक्रिया (nuclear-fusion reaction) ही सूर्य और सितारों की अनन्त शक्ति का स्रोत है और इस गूढ रहस्य को भी प्रसिद्ध समीकरण $E = mc^2$ के द्वारा भलीभाँति समझा जाता है। उक्त समीकरण के अनुसार एक थोड़ी सी राशि अनन्त शक्ति के रूप में परिवर्तित की जा सकती है। एक ग्राम पदार्थ यदि पूर्ण रूप से शक्ति में परिवर्तित किया जा सके तो उतनी ऊर्जा देगा जितनी ३ अरब ग्राम कोयले के जलने से प्राप्त होगा। साथ ही यह प्राकृतिक यथार्थता के सम्बन्ध में कुछ मूलभूत सच्चाइयों को भी प्रकट करता है। सापेक्षवाद से पहले वैज्ञानिकों ने ब्रह्माण्ड को दो स्पष्ट तत्वों-पदार्थ और शक्ति से सम्पन्न जहाज के रूप में माना था। इनमें से पदार्थ को निष्क्रिय अवलोकन योग्य (inert, tangible) और राशि नामक तत्व से व्याख्या के योग्य माना था, जबकि शक्ति को सक्रिय अदृश्य और राशि विहीन स्वीकार किया गया था। लेकिन उक्त समीकरण के अनुसार राशि संगठित शक्ति ही है। दूसरे शब्दों में, पदार्थ शक्ति है और शक्ति पदार्थ है। इन दोनों का अन्तर केवल अस्थायी ढंग का है।

इस सिद्धान्त के प्रकाश में प्रकृति की अनेक पहेलियाँ सुलझी हैं। पदार्थ और विकिरण की रहस्यमयी परस्पर क्रीडा, जो कभी तो कणों का समूह प्रतीत होती है और कभी तरंग अधिक समझने योग्य बन जाती है। पदार्थ की इकाई और विद्युत की इकाई के रूप में विद्युत-अणु की दोहरी भूमिका, तरंगीय विद्युत अणु, फोटोन, पदार्थीय ब्रह्माण्ड—ये सब पहेली के रूप में कम प्रतीत होते हैं! ये सभी धारणाएँ प्राकृतिक यथार्थता के केवल विभिन्न स्वरूपों की व्याख्या करती हैं और यह प्रश्न करने का अवसर नहीं देतीं कि उनमें से कोई वस्तुतः क्या है? पदार्थ और शक्ति परस्पर परिवर्तनीय हैं। यदि पदार्थ अपनी राशि को त्याग कर प्रकाश की गति के साथ विचरण करता है, तो हम इसे विकिरण या शक्ति कहते हैं। ठीक इसी तरह, यदि शक्ति अपने को जमा कर जड़ बन जाती है तो हम उसकी राशि का निश्चय कर लेते हैं तो उसके पदार्थ के नाम से पुकारते हैं। तब तक विज्ञान उनके क्षणिक तत्वों और पार्थिव मनुष्य के अवलोकन से उनके स्पर्श का ही पता लगा सका था। परन्तु १६ जुलाई १९४५ से परमाणु बम के विस्फोट द्वारा, मनुष्य दोनों को एक-दूसरे में परिवर्तित करने में समर्थ हो गया।

प्रमात्रा-सिद्धान्त (Relativistic quantum theory) महान भौतिक-श्रोडिंगर की तरंग यांत्रिकी (wave mechanics) यद्यपि, परमाणु की रचना

की अधिकतम गुत्थियां को समझने में सहायक हुई फिर भी सापेक्षवाद के अनुसार वह असंतोषजनक ही थी क्योंकि उसमें दिक और काल सम्बन्धी यथार्थता का सही अंकन नहीं किया गया था। इलेक्ट्रान की सापेक्षीय गति के आधार पर डिरेक ने सन् १९२८ में अपना प्रसिद्ध समीकरण प्रस्तुत किया जिसमें वे पुराने दोष नहीं थे और जिसके द्वारा इलेक्ट्रान स्पिन का पता चला। डिरेक के अनुसार एक इलेक्ट्रान; जिसका विराम द्रव्यमान (Rest mass) mo है, दिक में और संवेग (Momentum) P है उसकी शक्ति E निम्न होगी।

$$+\sqrt{(P^2 c^2 + mo^2 c^4)} \text{ या}$$

$$-\sqrt{(P^2 c^2 + mo^2 c^4)}$$

इस आधार पर ऋण राशि (negative mass) की कल्पना की गई और (Positron) के अस्तित्व का पता चला और सन् १९३२ में ब्लेकेट और एन्डरसन के द्वारा पाजिट्रान का अस्तित्व सिद्ध हुआ। इसी प्रकार प्रति प्रोटान, प्रति न्यूट्रान और अनेक कणों के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण गवेषणा हुई।

फिर भी मौलिक रहस्य बच जाता है। धारणाओं के एकीकरण—सभी पदार्थों का तत्वों के रूप में और फिर कणों के रूप में साक्षेपिकरण, शक्तियों का शक्ति की एकिक धारणा में परिवर्तन और पदार्थ तथा शक्ति का एक मौलिक परिमाण में अल्पीकरण (Reduction) की दिशा में विज्ञान की सम्पूर्ण प्रगति किस लक्ष्य की ओर हो रही है, यह अब भी अज्ञात है। राशि शक्ति तत्व का सार क्या है ? प्राकृतिक यथार्थता के किस स्तर का उद्‌घाटन विज्ञान करना चाहता है ? इस तरह प्रमात्रा सिद्धान्त की तरह ही सापेक्षवाद भी मनुष्य की बुद्धि को न्यूटन के ब्रह्माण्ड से बहुत दूर ले जाता है। न्यूटन का ब्रह्माण्ड दिक और काल में अच्छी तरह जड़ जमाये हुए है और किसी बड़े सही और व्यवस्था योग्य यंत्र की तरह काम कर रहा है। सापेक्षवाद के गति सम्बन्धी नियम, राशि, दूरी और काल मौलिक, सिद्धान्त और इन सिद्धान्तों के आधारों पर निकाले गये निष्कर्ष अनोखे और क्रान्तिकारी हैं।

साधारण सापेक्षता (General theory of relativity)

न्यूटन के अनुसार गुरुत्वाकर्षण अपनी शक्ति का प्रयोग किसी वस्तु की जड़ता के अनुपात में ही करता है और यही कारण है कि सभी पदार्थ, अपनी जड़ता की मात्रा से प्रभावित हुए बिना समान गति से नीचे गिरते हैं। इस उल्लेखनीय संयोग, गुरुत्वाकर्षण और जड़ता का संतुलन, को विश्वास के आधार पर स्वीकार किया गया था, लेकिन न्यूटन के बाद के तीन सौ वर्षों तक इसे न तो कभी समझा गया और न इसकी व्याख्या ही की गई। साधारण सापेक्षता का मुख्य आधार है गुरुत्वाकर्षण और जड़ता की समानता का सिद्धान्त (Principle of equibalance of gravitation and inertia)। यह सिद्धान्त यह बतलाता है कि जड़ शक्तियों (वेग, पलायन, केन्द्र त्यागी शक्ति, आदि) द्वारा उत्पन्न गति को गुरुत्वाकर्षण-शक्ति द्वारा उत्पन्न गति से पृथक् करने का कोई उपाय नहीं है। इस सिद्धान्त के अनुसार गुरुत्वाकर्षणों की पहेली और निरपेक्ष गति की समस्या का भी अनूठा समाधान हुआ। एक ऊँची इमारत के अन्दर एक एलिवेटर (लिफ्ट की तरह का यन्त्र नीचे गिर रहा है। एलिवेटर के अन्दर कुछ भौतिक विज्ञानवेत्ता है। वे अपनी जेबों से फाउन्टेनपेन, सिक्के इत्यादि निकालते हैं और अपने हाथ में से छोड़ देते हैं। फाउन्टेनपेन, सिक्के इत्यादि उन लोगों को बीच में ही लटके दिखाई पड़ते हैं क्योंकि न्यूटन के गुरुत्वाकर्षण सिद्धान्त के अनुसार, वे सब के सब एलिवेटर और वैज्ञानिकों सहित, समान गति से नीचे गिर रहे हैं। अब यदि इसे माना जाय कि एलिवेटर के शीर्ष भाग में एक तार बंधा है और कोई अदृश्य शक्ति उस तार को खींचना शुरू करती है और एलिवेटर ऊपर उठता है। अब अन्दर के लोगों को यह अनुभव होता है कि उनके पैरों पर फर्श का दबाव पड़ रहा है और वस्तुएं हाथ से छोड़ने पर नीचे गिरती दिखाई देंगी। एलिवेटर से बाहर स्थित पर्यवेक्षक शीघ्र ही इस शक्ति को जड़ता की शक्ति के रूप में पहचान लेंगे लेकिन उसके अन्दर के व्यक्ति, इसे गुरुत्वाकर्षण

प्रवृत्ति ही है। धर्म और अध्यात्म जैसे विषयों में भी उनकी स्वाभाविक रुचि का कारण रामकृष्ण मिशन का प्रभाव ही रहा है। आनर्स परीक्षा पास कर लेने के पश्चात् शेषाद्रि ने शोधकार्य प्रारम्भ किया। प्रोफेसर विपिन बिहारी डे की संरक्षकता में, भारतीय औषधीय पौधों तथा कुमरीन संजातों पर अनुसंधान-कार्य करने के उपलक्ष्य में शेषाद्रि को मद्रास विश्वविद्यालय से दो पुरस्कार प्राप्त हुए। सन् १९२७ में उन्हें राज्य सरकार की ओर से एक विदेशी छात्रवृत्ति मिली जिससे वे प्रोफेसर रावर्ट राबिन्सन के साथ काम करने मैनचेस्टर विश्वविद्यालय (इंग्लैंड) में चले आये। राबिन्सन स्कूल में प्रवेश को वे अपने जीवन की ऐसी घटना मानते हैं जो अविस्मरणीय है। नोबेल पुरस्कार विजेता प्रो० राबिन्सन स्वयं सरकार के प्रमुख रसायनज्ञ हैं। वे प्रोफेसर शेषाद्रि को अपने अग्रगण्य शिष्यों में मानते और मुक्तकंठ से प्रशंसा करते हैं।

अध्यापन

शेषाद्रि सन् १९३० में इंग्लैंड से भारत लौटने के पश्चात् ३ वर्षों तक मद्रास तथा कोयम्बटूर में अनुसंधान कार्य करते रहे। सन् १९३३ में इन्हें आंध्र विश्वविद्यालय में रसायन विभाग का प्रधान बनाया गया और सन् १९४९ तक इस विभाग की सेवा की। इस बीच उनके कार्बनिक रसायन सम्बन्धी अनुसंधानों ने उनकी ख्याति दूर-दूर तक फैला दी। सन् १९४९ में वे रसायन-विज्ञान विभाग के प्रधान होकर दिल्ली विश्वविद्यालय में चले आये। दिल्ली विश्वविद्यालय में उनका पहुँचना था कि वहाँ के रसायन-विभाग की कायापलट हो गई एवं लगभग १० वर्षों में ४३ विद्यार्थियों ने वहाँ से पी० एच० डी० की उपाधि प्राप्त की। लगभग १००० विद्यार्थियों के शिक्षण कार्य की देखभाल के अलावा बहुत से शोध-छात्रों (रिसर्च-स्कालर) का भी काम रहता है फिर भी वे अपनी योग्यता एवं कठिन परिश्रम के बल पर सब कार्यों की भली भाँति देख-भाल कर लेते हैं।

उपलब्धियाँ

प्रोफेसर शेषाद्रि का प्रिय विषय पौध-रसायन है जिसमें कार्बनिक रसायन के संश्लेषणात्मक, विश्लेषणात्मक तथा सैद्धान्तिक पक्ष आते हैं। एन्थोसायनीन तथा फ्लैवोनायड नामक प्राकृतिक पौध-रंगों पर इनका कार्य विश्व-प्रसिद्ध हो चुका है। भारत के रसायनज्ञों में उनका नाम शीर्षस्थ स्थान पर आता है। संसार भर के रसायनज्ञों में उनका नाम आदर के साथ लिया जाता है और इस विषय में विदेशी वैज्ञानिक भी उनकी राय लेते हैं। अभी तक शेषाद्रि कई रसायनिक बैठकों में आमंत्रित होकर भारत की ओर से विदेशों में जा चुके हैं। आज भी वे ६४ वर्ष की आयु में नित्य १२-१४ घंटे अपनी प्रयोगशाला में अनुसंधान-कार्य में व्यतीत करते हैं। उनके इसी अथक परिश्रम का फल है कि उनके ५०० से भी ऊपर शोध-प्रबन्ध अब तक प्रकाशित हो चुके हैं। इतने विख्यात होने पर भी उनके जीवन में सरलता की गंगा प्रवाहित होती है। उनका सादगीपूर्ण व्यक्तित्व मनोसुखकारी है।

पद्म-भूषण

प्रोफेसर राजेन्द्र शेषाद्रि वैज्ञानिक मात्र ही नहीं हैं, इनकी विनोद-प्रियता और बहुमुखी प्रतिभा का परिचय दो क्षण में इनसे बात करके मिल जाता है। धर्म में आपकी विशेष रुचि है। विज्ञान के महारथी होने पर भी वे विज्ञान की लघुताओं को अच्छी तरह से जानते हैं, और इसीलिए वैज्ञानिक शिक्षा के साथ-साथ वे धार्मिक तथा आध्यात्मिक शिक्षा को भी अत्यन्त आवश्यक मानते हैं। प्रोफेसर शेषाद्रि को रसायन-विज्ञान के क्षेत्र में महत्वपूर्ण अनुसंधान एवं खोज कार्य करने के उपलक्ष्य में सन् १९६३ में राष्ट्रपति डा० सर्वपल्ली राधाकृष्णन् ने एक विशेष समारोह में भारत का राष्ट्रीय सम्मान 'पद्म-भूषण' प्रदान कर सम्मानित किया था।

भारत में रसायन-विज्ञान के क्षेत्र में प्रतीक-चिन्ह के रूप में प्रो० शेषाद्रि की सेवायें प्राप्त हो रही हैं।

सम्पादक के नाम पत्र

(१)

नोहर ;
२७. १०. ६४ ई०

आदरणीय महोदय,

सादर नमस्कार ।

यहाँ के सार्वजनिक पुस्तकालय में आनेवाले "विज्ञान" के अक्टूबर अंक के लपेटन पर लिखे गये, आपके पते में हिन्दी का पता तो ठीक है, किन्तु अंग्रेजी में "विज्ञान" का रूपान्तर—VIJNANA उचित नहीं लगा ।Vijnana लिखा जाना सही है या गलत ? यदि सही है, तो शुद्ध शब्द क्या है ? यदि गलत है तो किस कारण से ?

कृपया स्पष्टीकरण करावें । हिन्दी-अंग्रेजी के तुलनात्मक शब्दों की जानकारी में मुझे भारी दिलचस्पी है ।

कष्ट के लिए धन्यवाद ।

भवदीय,
मौजीराम भारद्वाज
नोहर राजस्थान

प्रिय महोदय,

'विज्ञान' का अंग्रेजी रूपान्तर Vijnana इसलिए स्वीकृत हुआ है कि हिन्दी का ज्ञ = jn के होगा । आपको यह ज्ञात ही होगा कि 'ज्ञ' संयुक्त वर्ण है जो ज तथा ञ के योग से बना है फलतः अंग्रेजी में ज्ञ = j + n हुआ । अतः 'विज्ञान' का असली ध्वन्यात्मक रूपान्तर Vijnana ही होगा ।

सम्पादक

(२)

माननीय महोदय,

मूलतः जब लेख लेखक का है और पत्रिका में ऐसा कोई सर्वाधिकार सुरक्षित घोषणा पहले से नहीं है तो यदि लेखक विज्ञान के प्रसार के हेतु अन्यत्र पत्रिका में भेजता है तो वह "लेख की चोरी" नहीं कहा जा सकता है । वह चोरी कैसे हुई ? जब लेखक ने ही उसे प्रेषित किया है ।

हमारे देश में जहाँ विज्ञान अत्यन्त पिछड़ी अवस्था में है और वैज्ञानिक हिन्दी-साहित्य तो और भी कम है यदि मैंने ज्ञान के प्रसार हेतु भारतीय मानस और वैज्ञानिकों के अन्दर विश्व में हो रहे रोमांचकारी परीक्षणों की तरफ अन्यत्र पत्रिका में ध्यान दिलाया तो क्या वह वैज्ञानिक हिन्दी-जगत में योगदान नहीं है ?

इस युग में जहाँ विज्ञान अपनी सीमाओं को पार कर चुका है हिन्दी-जगत में ज्ञान और विज्ञान की वैज्ञानिक सामग्रियों के प्रसार को एक सीमित दायरे में रखना इस पीढ़ी और आने वाली पीढ़ी के लिए हितकर न होगा । फिर हिन्दी में वैज्ञानिक पत्रिकायें भी हमारे देश में अपर्याप्त ही हैं । इस दिशा में वास्तव में 'विज्ञान' पत्रिका गत ५० वर्षों से निश्चित और मूल्यवान योग हिन्दी-साहित्य में दे रही ।

भवदीय
महावीर सिंह मुड़िया
उदयपुर

बन्धुवर,

"लेखों की चोरी" शीर्षक पत्र इस ध्येय से उद्धृत किया गया था कि वर्षों पूर्व छपे लेखों को लोग फिर से न छपावें । एक ओर जहाँ यह सत्य है कि हिन्दी में वैज्ञानिक लेखों के अधिकाधिक प्रसार एवं प्रचार की आवश्यकता है वहीं यह भी नितान्त आवश्यक होगा कि लेखक एक से अधिक विषयों पर लेख लिखते रहें ।

यदि आपने स्वयं लेख भेजा था तो वह चोरी नहीं हुई ।

भवदीय
सम्पादक

सम्पादकीय

१. प्रो० हाल्डेन का निधन

१ दिसम्बर को ११ बजकर ३६ मिनट पर विश्व के महान जीव वैज्ञानिक प्रो० जे० वी० एस० हाल्डेन की मृत्यु भुवनेश्वर में हुई। प्रो० हाल्डेन ७२ वर्ष के थे। वे कैंसर रोग से पीड़ित थे।

प्रो० हाल्डेन का जन्म ५ नवम्बर सन् १८९२ में हुआ था। उनका विद्यार्थी जीवन अत्यन्त उज्जवल रहा। ४८ वर्ष की अवस्था में उन्होंने पनडुब्बियों में दाब सम्बन्धी वैज्ञानिक शोध की जिसके लिये वे विख्यात हो गये।

प्रो० हाल्डेन अनेक देशों की प्रमुख वैज्ञानिक संस्थाओं द्वारा सम्मानित हुये थे। उन्होंने नैतिक आदर्शों के कारण इंगलैंड का परित्याग करके १९६१ में भारत का नागरिक बनना स्वीकार किया। वे उड़ीसा राज्य की भुवनेश्वर स्थित बायोमीटरी एवं जेनेटिक्स प्रयोगशाला के निदेशक थे। उनकी देख-रेख में बहुत से भारतीय वैज्ञानिक कार्य कर रहे थे।

प्रो० हाल्डेन की मृत्यु से न केवल हमारे देश की अपार क्षति हुई है वरन् विश्व का एक महान् वैज्ञानिक उठ गया है। विज्ञान परिवार उनकी मृत्यु पर शोक प्रकट करता है और ईश्वर से उनकी सद्गति के लिये प्रार्थना करता है।

२. देश की दुविधा

जब से चीन ने परमाणु बम का सफल विस्फोट सम्पन्न कर लिया है तब से हमारे देश के नागरिकों, राजनीतिज्ञों एवं वैज्ञानिकों के बीच एक विशेष विचार-मन्थन प्रारम्भ हो गया है जिसका प्रगट रूप इधर कुछ दिनों से प्रकाशित समाचारों द्वारा लक्षित हो रहा है। कांग्रेस दल के अनुयायियों में भी दो गुट हो गये हैं। एक परमाणु बम के निर्माण एवं प्रयोग का प्रबल विरोधी है जबकि दूसरा गुट समर्थक। विरोधी पक्षों के नेता तो सदैव ही इस नीति के पक्षपाती रहे हैं कि चीन के आक्रमण का प्रतिशोध "ईंट का जवाब पत्थर" इस रूप में लिया जाया। किन्तु स्वर्गीय नेहरूजी ने जिस तटस्थता की नीति को अपना रखा था और उसके कारण भारत देश की जो मर्यादा बढ़ी थी उसके बल पर सभी विरोधी शक्तियाँ मन्त्र-मुग्ध थीं। चीन के आक्रमण के समय भी नेहरू जी ने इसी नीति का दृढ़ता से पालन किया फलतः उनकी मृत्यु के द्वारा शास्त्री सरकार को भी वही रास्ता सरल एवं उन्नति की ओर ले जाने वाला प्रतीत हुआ। किन्तु इतना होते हुये भी निरन्तर यह आवाज उठने लगी है कि भले ही हम परमाणु शक्ति का उपयोग युद्ध कार्यों के लिये न करें, हमें अपने परमाणु बम बनाने ही चाहिए। शास्त्रीजी इस तर्क से बिल्कुल सहमत नहीं। वे नेहरू के पदचिह्नों पर चलना चाहते हैं।

आम जनता में परमाणु बम के बनाये जाने के सम्बन्ध में विशेष चर्चा इसलिए चल पड़ी है कि इधर परमाणु बम बनाने में होने वाले व्यय का अनुमान भारत के सुप्रसिद्ध परमाणु वैज्ञानिक डा० भाभा ने प्रस्तुत किये हैं। उनका कथन है कि २ मेगाटन शक्ति वाले बम में १७ लाख रुपये का व्यय होगा और १०० मेगाटन के बम में १½ करोड़ रुपये का। अवश्य ही यह राशि हमारी सामर्थ्य के बाहर नहीं है क्योंकि एक मिग विमान खरीदने में ४० लाख रुपये से कम का व्यय नहीं होता। साथ ही प्रतिरक्षा के लिये बजट में देश को प्रति वर्ष कई करोड़ रुपये अधिक की आयोजना करनी पड़ेगी अतः क्या

यह सम्भव नहीं है कि इस बजट का एक अंश बम बनाने में खर्च करके अपनी सेना को आधुनिक शस्त्रास्त्रों से लैस कर लिया जाय। वस्तुतः यह ऐसा अनुमान है जो सबों को ग्राह्य प्रतीत होता है और यही कारण है कि आज देश भर में चारों ओर से यही आवाज उठ रही है कि परमाणु बम तैयार किया जाय।

किन्तु शास्त्रीजी का कथन है कि एक परमाणु बम की लागत ५.२ करोड़ रुपये होगी, जिसे भारत सहन नहीं कर सकता क्योंकि उसे अपनी पञ्चवर्षीय योजनायें चालू रखनी हैं जिससे देश का कल्याण होना है। वे यह स्वीकार करते हैं कि देश परमाणु बम बनाने में समर्थ है किन्तु उसकी लागत उतनी कम नहीं जितनी डा० भाभा अनुमानित करते हैं और न ऐसे बमों का निर्माण करना देश के लिये कल्याणकारी ही है। विश्व को विनष्ट होने से बचाने के लिये वे यह आवश्यक समझते हैं कि परमाणु शक्ति का उपयोग शान्तिपूर्ण प्रयोगों के लिये हो। यही कारण है कि वे बारम्बार परमाणु बम न बनाये जाने पर बल देते हैं। अब तो वे यह भी स्वीकार करने लगे हैं कि पूर्व समझौतों के अनुसार कनैडियन रिऐक्टर द्वारा परमाणु बम बना ही नहीं सकते।

अतः स्पष्ट है कि हमारे राष्ट्र को तटस्थता की नीति का अनुसरण करने के सिवाय कोई चारा नहीं। वे लोग जो परमाणु बम बनाकर चीन को परास्त करने का स्वप्न देखते हैं सम्भवतः वह कभी पूरा नहीं होगा।

●●

खेद है कि स्थानाभाव के कारण इस बार 'विज्ञानवार्ता' तथा "सार संकलन" स्तम्भों की सामग्री नहीं दी जा सकी। एतदर्थ हम क्षमा प्रार्थी हैं।

—सम्पादक

१९६४ स्वामी हरिशरणानन्द विज्ञान पुरस्कार

विज्ञान परिषद् प्रयाग, १९६४ हरिशरणानन्द विज्ञान पुरस्कार के हेतु हिन्दी भाषा में निम्न विषयों पर प्रकाशित पुस्तकें आमंत्रित करती है :—

१—उच्चतर विज्ञान साहित्य　　दो सहस्र रुपये

२—जनोपयोगी विज्ञान साहित्य　　एक सहस्र रुपये

३—बालोपयोगी विज्ञान साहित्य　　पाँच सौ रुपये

पुस्तकें १५ जनवरी, १९६५ तक परिषद् के कार्यालय में पहुँच जानी चाहिये।

१ जनवरी, १९६२ के पश्चात् की प्रकाशित पुस्तकों पर ही विचार होगा।

प्रत्येक पुस्तक की आठ प्रतियाँ भेजी जानी चाहिये।

पुरस्कार-नियमावली आदि के लिए मन्त्री, विज्ञान परिषद्, थार्नहिल रोड, इलाहाबाद-२ को लिखें।

विज्ञान

विज्ञान परिषद्, प्रयाग

प्रति अंक ४० पैसे

सम्पादक- डा० शिवगोपाल मिश्र

विषय-सूची

जनवरी १९६५

आइन्स्टीन का सिद्धान्त ९३

तैलंग पुरस्कार-प्रतियोगिता—३ ... ... ९६

पर्वतीय कृषि १०१

एक पौष्टिक खाद्य १०६

वैज्ञानिक संस्थाएँ—३ ... ... १०८

सार संकलन ११४

विज्ञान वार्ता ११७

सम्पादकीय १२१

फरवरी १९६५

अनन्त शक्ति का स्रोत—सूर्य १२३

श्वेत कुष्ट १३०

वैज्ञानिक संस्थायें—४, मेयो प्रतिष्ठान १३३

सार संकलन १३५

विज्ञान वार्ता १३८

सम्पादक के नाम पत्र १४१

पुस्तक समीक्षा १४२

सम्पादकीय १४४

विज्ञान

विज्ञान परिषद्, प्रयाग का मुखपत्र

विज्ञानं ब्रह्मेति व्यजानात्। विज्ञानाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते।
विज्ञानेन जातानि जीवन्ति। विज्ञानं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति। तै० उ० ३।५।

भाग १०० | पौष २०२१ विक्र०, १८८६ शक | संख्या ४
जनवरी १९६५

आइन्स्टीन का सिद्धान्त

श्याम मनोहर व्यास

बीसवीं शताब्दी वैज्ञानिक क्रान्ति का युग है। इस शताब्दी के महान् वैज्ञानिक अल्बर्ट आइन्स्टीन ने अपने 'सापेक्षवाद' के सिद्धान्त के कारण वैज्ञानिक जगत् में हलचल उत्पन्न कर दी है!

उनका पदार्थ एवं ऊर्जा सम्बन्धी सिद्धान्त बहु-प्रचलित है!

उनके कथनानुसार वस्तु की संहति (मात्रा) भी वेग के साथ बदलती है।

सरल रूप से समझने के लिये एक माल ढोने वाली मोटर का उदाहरण लीजिये :—

मोटर को गतिमान करने के लिये एक बाइसिकिल की अपेक्षा अधिक शक्ति की आवश्यकता है! माल ढोने वाली मोटर बाइसिकिल की तुलना में गति का अधिक दृढ़ता से प्रतिरोध करती है!

यदि एक गाड़ी पचास मील प्रति घण्टे की गति से चल रही हो तो आइन्स्टीन के सापेक्षवाद के सिद्धान्त के अनुसार उस गतिशील वस्तु की संहति स्थिर नहीं है बल्कि वेग या गति के साथ बढ़ती है!

प्राचीन काल में इस तथ्य का इसलिये पता नहीं लगाया जा सका कि मानव की इन्द्रियाँ और यन्त्र वेगों द्वारा उत्पादित राशि की अतिसूक्ष्म वृद्धियों को जान पाने में सर्वथा असमर्थ थीं! इस परिवर्त्तन से वस्तु के आकार में कोई परिवर्त्तन नहीं होता!

यह संकोचन क्रिया केवल गति की दिशा में घटती है! यहाँ साथ ही संहति मात्रा की द्योतक नहीं बल्कि गति के प्रतिरोध की द्योतक है!

आइन्स्टीन ने वेग के साथ संहति की वृद्धि को निम्न समीकरण से व्यक्त किया:—

$$m = \frac{mo}{\sqrt{1-\frac{v^2}{c^2}}}$$

यहाँ m वस्तु की संहति है जो v के साथ गतिशील है। mo स्थिर संहति है और c प्रकाश का वेग है। प्रकाश का वेग १८६००० मील प्रति सैकेण्ड है।—v वस्तु की गति है! c की अपेक्षा v काफी छोटा है अतः m और mo में अधिक अन्तर दृष्टिगोचर नहीं होता!

यदि वस्तु का वेग प्रकाश के वेग के बराबर हो जाय तो संहति m अनन्त होगी।

उस दशा में $m_0 = m \times 0 = 0$ होगा अर्थात् पदार्थीय बिन्दु (Particle) की स्थिर संहति शून्य माननी होगी तथा वेग प्रकाश के वेग के तुल्य होगा।

फोटानों (Photons) में यही सिद्धान्त लागू होता है। आइन्स्टीन के इस सिद्धान्त का विज्ञान-वेत्ताओं ने काफी उपयोग किया है। शक्तिशाली विद्युत् क्षेत्रों में विचरते विद्युत्-अणुओं और रेडियो सक्रिय तत्वों के केन्द्र से विकीर्ण होने वाले ऋण तत्वों (Beta Substances) को प्रकाश के वेग का ११% वेग प्राप्त हो जाता है! इससे संहति के वृद्धि सम्बन्धी सिद्धान्त की पुष्टि होती है! वेग एवं संहति के अपने इसी सिद्धान्त के आधार पर आइन्स्टीन ने ऊर्जा एवं संहति के बीच निम्न समीकरण द्वारा सम्बन्ध स्थापित किया :—

$$E = MC^2$$

यहाँ E ऊर्जा है, M संहति का द्योतक है और C प्रकाश का वेग है।

परमाणु बम की रचना में इसी समीकरण ने महत्वपूर्ण योगदान दिया।

यहाँ ऊर्जा संहति पर निर्भर है। यदि संहति बढ़ती है तो ऊर्जा भी बढ़ती है।

राशि ग्रामों में, प्रकाश का वेग सेन्टीमीटर में तथा ऊर्जा डाइन में नापे जाते हैं।

इस समीकरण के द्वारा यह निष्कर्ष निकलता है कि यदि एक किलोग्राम कोयले को ऊर्जा में बदला जाय तो २५० अरब किलोवाट (१०००×१८६०००^२ डाइन ऊर्जा] बिजली पैदा होगी।

यह राशि इतनी बड़ी है कि जिससे भारत के सभी बिद्युत् कारखाने एक वर्ष तक चल सकते हैं।

यह सिद्धान्त यह भी बताता है कि किसी प्रकार रेडियम और यूरेनियम जैसे रेडियो सक्रिय तत्त्व भारी वेग से कणों ($\alpha\ \theta\ \beta$ particles) को विकीर्ण करते हैं और लाखों वर्षों तक वैसा करने की क्षमता रखते हैं। चाढ़े चार अरब वर्ष में यूरेनियम अपने भार का आधा रह जाता है।

इसी सिद्धान्त के आधार पर यह भी हम देखते हैं कि किस प्रकार सूर्य एवं तारे अरबों वर्षों से प्रकाश व ताप विकीर्ण कर रहे हैं।

उपर्युक्त समीकरण परमाणु के केन्द्र में स्थित ऊर्जा के परिमाण को प्रकट करती है, और बतलाती है कि एक नगर को नष्ट करने के लिये एक बम में कितने ग्राम यूरेनियम रखा जाना चाहिये।

इसका भयंकर रूप हमें द्वितीय महायुद्ध के दौरान जापान में देखने को मिला था। दो नगरों के तीन लाख व्यक्ति मौत के ग्रास हुये थे।

पदार्थ और ऊर्जा परस्पर परिवर्त्तनीय है। यदि पदार्थ अपनी संहति को त्याग कर प्रकाश की गति के साथ विचरण करता है तो हम उसे विकिरण या शक्ति कहते हैं।

इसी प्रकार यदि ऊर्जा अपने को जमा कर जड़ बना लेती है तो हम उस जड़ वस्तु की संहति को पदार्थ के नाम से पुकारते हैं।

इस प्रकार प्रकृति के इस रहस्यमय जगत् में पदार्थ और ऊर्जा दोनों एक दूसरे में बदले जा सकते हैं। विद्युत-अणु, फोटोन व पदार्थीय तरंगें इत्यादि पदार्थ एवं ऊर्जा के ही विविध रूप हैं।

आइन्स्टीन के पूर्व भौतिक विज्ञान दो नियम मानता था।

(१) ऊर्जा संरक्षण का नियम (२) संहति-संरक्षण का नियम। ये दोनों मौलिक नियम एक दूसरे से सर्वथा स्वतन्त्र थे। पर सापेक्षता के सिद्धान्त ने दोनों को एक रूप दे दिया।

"सापेक्षता के सिद्धान्त के अनुसार, संहति m के पदार्थीय बिन्दु की गत्यात्मक ऊर्जा (kinetic energy $\frac{mv^२}{२}$ व्यक्तीकरण से नहीं बल्कि $\frac{mc^२}{\sqrt{१ - \frac{v^२}{c^२}}}$ से प्रकट होती है।"

यदि एक वस्तु जो v वेग से गतिशील है E_0 ऊर्जा अपनी प्रणाली के वेग में कोई परिवर्तन लाये बिना विकिरण के रूप में ऊर्जा ग्रहण करती है।

तब इसके परिणाम स्वरूप अपनी गत्यात्मक ऊर्जा (k_oE_o) को $\frac{E_o}{\sqrt{१ - \frac{v^२}{c^२}}}$ मात्रा से बढ़ा लेती है।

इस प्रकार सम्पूर्ण गत्यात्मक ऊर्जा $\frac{mc^२ + E_o}{\sqrt{१ - \frac{v^२}{c^२}}}$

हो जाती है।

इसको $\frac{\left(m + \frac{E_o}{c^२}\right) c^२}{\sqrt{१ - \frac{v^२}{c^२}}}$ रूप में भी लिख सकते है

इस प्रकार इस वस्तु की ऊर्जा वही है जो गतिशील संहति $\left(m + \frac{E_o}{c^२}\right)$ की है।

अतएव इससे यह निष्कर्ष निकलता हैं कि यदि कोई वस्तु Eo मात्रा में ऊर्जा ग्रहण करती है तो उसकी जड़ संहित $\frac{E_o}{c^२}$ मात्रा से बढ़ जाती है।

किसी पदार्थ की संहति स्थित नहीं है बल्कि ऊर्जा के परिवर्त्तन के अनुसार वह भी बदलती है !

आइन्स्टीन के सिद्धान्त के अनुसार पदार्थ एवं ऊर्जा एक दूसरे से अभिन्न हैं !

न्यूटन के पश्चात् भौतिक विज्ञान में आमूल परिवर्त्तन करने का श्रेय अल्बर्ट आइन्स्टीन को ही है।

●●

तैलंग पुरस्कार प्रतियोगिता—२

ठोस में उष्मा का संवाहन

महेन्द्र सिंह

निरीक्षणों द्वारा यह स्पष्ट हो चुका है, कि कुछ धातुयें अन्य धातुओं की अपेक्षा उष्मा की अच्छी संवाहक होती हैं। यह प्रवृत्ति, ध्वनि शक्ति की इकाई के लक्षणों द्वारा नियन्त्रित रहती है जिसे फोनान कहते हैं।

चाँदी का चम्मच या चाँदी से मुलम्मा किये चम्मच को अगर गर्म दूध या किसी अन्य गर्म द्रव के वर्तन में डुबाया जाए तो यह क्रिया ठोस धातुओं में उष्मा के संवाहन को भली भाँति प्रदर्शित करेगी। ठोस धातुओं के उष्मा के संवाहन का यह उदाहरण यह भी प्रदर्शित करेगा कि कुछ धातुएँ दूसरी धातुओं की अपेक्षा ताप की अच्छी संवाहक हैं। शिल्प कला विज्ञान के प्रारम्भिक युग में धातुओं के इस विचित्र लक्षण का परीक्षण करना आवश्यक हुआ। इस प्रकार के परीक्षण यथार्थता के साथ ठोस में उष्मा के संचालन के सिद्धान्त की व्याख्या की अनुपस्थिति में किये गये थे। उदाहरणार्थ, यह कि धातुयें उष्मा की अच्छी संवाहक है; अपेक्षा उनके जो अधातुयें है। इसके पूर्व यह कल्पना की गई कि धातुयें कुछ और भी वस्तु की अच्छी संचालक हैं—वह थी विद्युत्। आधुनिक शिल्प-कला-विज्ञान एवं विज्ञान द्वारा यह मूल समस्या आई कि धातुओं एवं अधातुओं में उष्मा के इस वहन का परीक्षण किस ताप मापक्रम की सीमा तक किया जा सकता है? इस प्रकार के कार्य के लिए द्रव्य के लक्षण का ज्ञान होना आवश्यक है, जो ध्वनि एवं विद्युत दोनों के वहन में सम्बन्ध रखता हो। इस प्रकार अब उष्मा संवाहन की व्याख्या न केवल द्रव्य की विशेश बनावट के आधार पर की जा सकती है, अपितु शक्ति की विशेष प्रकृति के द्वारा भी की जा सकती है जिसको **"क्वाण्टम सिद्धान्त"** के शक्तिशाली सामान्य अनुमान द्वारा व्यक्त किया गया।

यद्यपि ठोस की उष्मा-संवाहकता के परीक्षण के लिए अनेक प्रवीण विधियों के अन्वेषण हो चुके हैं किन्तु अब भी हम देखते हैं कि प्रत्यक्ष विधि ही प्रयुक्त होती है। जिसमें विद्युत भट्टी या अन्य किसी ताप-स्रोत द्वारा धातु की छड़ के एक सिरे को गर्म किया जाता है, अन्दर आने वाली उष्मा की गणना करने के उपरान्त छड़ पर दो विन्दुओं के मध्य तापान्तर की गणना करके उनके मध्य दूरी को भी नाप लिया जाता है। इस प्रकार उष्मा संवाहकता की प्रति इकाई ताप अन्तर उष्मा के बहाब के लिए प्रतिरूप के लम्बान परिच्छद् एवं उसकी आदर्श लम्बाई—अंकों से प्रतिरूप के आकार एवं आवृत्ति को ठीक करने के पश्चात् उष्मा-संवाहकता की गणना की जा सकती है। इस प्रकार हम देखते है कि मोटी तथा छोटी धातु की छड़ के प्रतिरूप में उष्मा वहन का मान निश्चय ही अधिक होगा अपेक्षा उसी तापमान पर लम्बी पतली छड़ के लिये।

धातुयें अधिक विद्युत् संवाहकता के साथ-साथ अधिक उष्मा संवाहकता को भी प्रकट करती है अतः इस प्रकार उन धातुओं में उष्मा-वहन के प्रारम्भिक प्रक्रम में परिज्ञान को उत्पन्न किया। धातुयें अपनी अधिक उष्मा संवाहकता से अनुगृहीत अपने स्वतंत्र इलेक्ट्रानों की अधिकता का उद्वेग होने के कारण विद्युत के वहन में समर्थ हैं, अगर धातु की छड़ के एक सिरे को दूसरे की अपेक्षा उच्चतापमान तक गर्म किया जाये, तो हम देखते हैं कि गर्म सिरे पर इलेक्ट्रान

की गति ठंडे सिरे की अपेक्षा अधिक तीव्र है जबकि समस्त इलेक्ट्रान धातु में जैसे ठोस से सम्बन्धित रहते हैं और न पृथक परमाणुओं से, ऊर्जा युक्त इलेक्ट्रान ठन्डे सिरे की ओर बहते हैं तथा कम ऊर्जा युक्त इलेक्ट्रान गर्म सिरे की ओर आते हैं। इस प्रकार गतिज-ऊर्जा ठंडे सिरे को गर्म करके स्वयं स्थानान्तरित हो जाती है।

क्या विस्तृत प्रयोगों एवं सिद्धान्तों ने इस सत्यता को प्रकट किया कि ऊष्मा अधिक गति से बहती है। दिशा परिवर्तन के पूर्व ही प्रत्येक इलेक्ट्रान घूम सकता है। अगर एक ऊर्जा युक्त इलेक्ट्रान प्रतिरूप धातु से होकर अपनी बिना ऊर्जा के उपरान्त प्रकीर्ण होकर घूम सके तो धातु की अनन्त उष्मा संवाहकता होगी। सर्वप्रथम यह अनुमान किया गया कि इलेक्ट्रान घनिष्ट संगठित परमाणुओं के साथ लगातार समानरूपेण सघट करते हैं। एक पूर्ण, सुसंगठित क्रिस्टल में, जिसमें कि समस्त परमाणुओं को नियमित रूप से अलंकृत झझरी क्रिस्टल में रखा जाता है। जिससे कि परमाणु प्रकीर्ण होने के पूर्व अनन्त लम्बाई के पथ की यात्रा कर सके। इस प्रकार के क्रिस्टल को इलेक्ट्रान अपनी गतिज ऊर्जा किसी प्रकार नहीं दे सकता है। इलेक्ट्रानों के लिए पूर्ण ठोस उसी प्रकार पारदर्शक होता है जिस प्रकार कि प्रकाश के लिये काँच पारदर्शक होता है जो अपनी ऊर्जा को छोटे-छोटे अंशों में बहा सकती है।

क्रिस्टल में अशुद्धियाँ, शुद्ध धातु की भिन्न प्रकार के परमाणु के लिये परमाणुओं के स्थानापन्न द्वारा प्रदर्शित की जाती है। या परमाणुओं की उष्मा चपल गति द्वारा पूर्ण क्रिस्टल झंझरी में अपने 'गृह' स्थितियों में स्थापित रहते हैं, विस्तृत इलेक्ट्रान ऊष्मा वहन को रोके रहते हैं। पुनः इस विधि की तुलना परमाणुओं के अन्दर या पारदर्शक सीमास्तरसे अशुद्धता के संसर्ग से की जा सकती है। अशुद्धियाँ प्रकाश का शोषण कर लेती हैं, और इस प्रकार के शोषण द्वारा वे रंगीन बनती हैं या काँच को भी काला कर देती हैं। यही कारण है कि इलेक्ट्रान के पथ की लम्बाई छड़ों में छोटी होती है। अगर ज़िंक परमाणुओं को ताम्र के साथ संयुक्त किया जाय तो शुद्ध ताम्र की अपेक्षा पथ की लम्बाई उच्च तापमानों पर छोटी हो जाती है। क्योंकि उच्च तापमान पर परमाणुओं की आकस्मिक गतियाँ द्रव्य को, गतिमान इलेक्ट्रान के लिये अधिक सघन कर देती हैं।

इस विवरण की उपयोगिता इलैक्ट्रान द्वारा चली हुई औसत पथ की लम्बाई संघट्टों के मध्य इलेक्ट्रानों को विद्युतिय क्षेत्र द्वारा प्रवृत करने के लिए प्रयोग किया जाता है तथा इलेक्ट्रानों को तापान्तर द्वारा भी प्रवृत्त किया जाता है। इसलिये धातु विद्युत का एक अच्छा संवाहक तथा उष्मा का भी अच्छा संवाहक होता है। वास्तव में उष्मा संवाहकता समान तापमान पर समस्त धातुओं के लिये धातु की वैद्युत संवाहकता स्थिराङ्क के तुल्य निकलती है।

ज्यों ही तापमान बढ़ता है, धातु की विद्युत संवाहकता घटती है यह प्रायः परम तापमान के साथ व्युत्क्रम होती है। यह स्पष्ट है क्योंकि परमाणविक कम्पन परम तापमान के अनुपात में अधिक हो जाते हैं तथा इलैक्ट्रान पथ उसके साथ-साथ छोटे हो जाते हैं। दूसरी ओर उष्मा-संवाहकता को सीधा सम्पादन करता है जोकि उसे तापमान पर स्वतन्त्र छोड़ देता है। इलेक्ट्रान पथों की औसत लम्बाई सत्यरूप से तापक्रम बढ़ने पर घटती हैं लेकिन प्रत्येक इलेक्ट्रान द्वारा जितनी उष्मा ले जाई जाती है वह ताप के समानुपाती होती है। उष्मा संवाहकता इनके राशियों के गुणनफल के समानुपाती होती है इसलिए तापमान से स्वतंत्र रहती हैं।

चंचल इलेक्ट्रानों की सांद्रता क्वार्टज जैसे अच्छे पृथक्कारी के लिए अल्प मान तक पहुँचते ही वैद्युत संवाहकता लुप्त हो जाती है। रजत विद्युत के संवाहक के रूप में क्वार्टज की अपेक्षा १०२४ गुना अच्छा है फिर भी उष्मा संवाहकता इस प्रकार वैद्युत मान के लुप्त होने को नहीं बताती हैं। ज्यों ही इलेक्ट्रान सान्द्रता घटती है, उष्मा संवाहकता अपने मान के शायद सौवें या हजारवें भाग तक गिर जाती है। वास्तव में कोई भी अच्छा ठोस उष्मा पृथक्कारी नहीं है।

अधातुओं में उष्मा को ले जाने का कार्य भिन्न विधि से होता है यह विधि भी इलेक्ट्रान गति द्वारा संवाहन की अपेक्षा अधिक गूढ़ एवं मनोरंजक है। यह उष्मा का संवाहन ही तो है जो स्वयं परमाणुओं के कम्पनों द्वारा उत्पन्न होता है। यह प्रक्रम भी धातुओं में होता है, परन्तु ये अधिक प्रभाविक इलेक्ट्रान-प्रक्रमों द्वारा घिरी रहती हैं।

परमाणवीय कम्पनों द्वारा उष्मा-परिवाहन की प्रणाली मूलत: सीधी है। ठोस में परमाणु एक दूसरे से शक्ति द्वारा बँधे रहते हैं। जब ठोस के किसी अंश को गर्म किया जाता है, तब इलेक्ट्रान आगे पीछे चलना प्रारम्भ कर देते हैं। इस प्रकार परमाणु अपने पड़ोसियों में इस गति को संचारित कर देते हैं। परमाणविक गतिज ऊर्जा को ठोस के गर्म भागों से ठण्डे भागों की ओर ले जाता है। यह प्रक्रम ठोसों में ध्वनि तरंगों के परिवाहन के साथ सर्व सम है। जबकि वे भी परमाणुओं को धक्के द्वारा एक दूसरे को ले जाते हैं। उष्मा-गति में परमाणुओं की अनोखी कम्पन आवृत्तियों द्वारा सुनने योग्य ध्वनि के लिये बढ़ती है। उष्मा संवाहन में १०१३ चक्र प्रति सैकिण्ड की आवृत्तियाँ साधारण हैं।

परमाणुओं की प्रणाली द्रव्यमानों की प्रणाली की भाँति तथा कमानियों की प्रकार व्यवहार करती हैं। प्रत्येक संहति नाभिक के अनुरूप उसके साथ दृढ़ता से इलोक्ट्रानों द्वारा सम्बन्धित है तथा कमानियाँ अन्त: परमाणविक बल के अनुरूप हैं। प्रत्येक द्रव्यमान इस प्रकार की पद्धति में साम्यावस्था दशा स्थिर रखती है। जो कि परमाणु की 'गृह स्थिति' के तुल्य है तथा यह इस स्थिति के चारों ओर कम्पन करेगी अगर यह प्रारम्भ से ही विस्थापित कर दी गई है। यदि संहति-तन्त्र के एक भाग में हिला दी जाये तो उसकी गति दूसरे द्रव्यमानों में संचारित हो जाती है। यह उष्मा के बहाव के अनुरूप है जब कि उष्मा ठोस के गर्म क्षेत्र से ठंडे क्षेत्र की ओर बहती है। वाह्य हिलोर मन्द होने के पश्चात् समस्त द्रव्यमान अन्त में कम्पन की उसी गतिज ऊर्जा को ग्रहण कर लेते हैं। (जैसे ही अन्त में समस्त परमाणु ठोस में उसी तापमान पर पहुँचते हैं जो उनके कम्पनों की गतिज ऊर्जा की गणना है।

ये परमाणविक कम्पन वास्तव में छोटे गुच्छे में उत्पन्न होते हैं जिन्हें फोनान कहते हैं। फोनान साधारण तथा ध्वनि तरंगों के स्पन्दन होते हैं। पानी में पत्थर डालने पर उत्पन्न स्पन्दों से उनकी तुलना की जा सकती है उसका नाम अपनी समरूपता के कारण कुछ फोटान से व्यक्त किया जा सकता है जो हल्की तरंगों के स्पन्द हैं। द्रव्य की मूल क्वान्टम प्रकृति यह प्रकट करती है कि शक्ति केवल छोटे-छोटे पृथक पिंडों—क्वान्टा में पैदा होती है **फ़ोनान एवं फ़ोटान क्रमश: ध्वनि तरंगों तथा प्रकाश तरंगों के क्वान्टा** है फोनान अधात्विक ठोसों में उष्मा के वहन का कार्य करते हैं। ठोस की उष्मा संवाहकता प्रतिरूप में तथा सत्य रूप से फोनान के गुण धर्मों पर निर्भर करती है। वास्तव में यह उपस्थित फोनान की संख्या के समानुपाती होती हैं, जो तापमान के बढ़ने के साथ शीघ्रता से बढ़ती है। यह फ़ोनानों की गति के समानुपाती होती है, जो ठोस में ध्वनि तरंगों की गति के तुल्य होती है तथा तापमान के साथ केवल थोड़ी बढ़ती है। तथा अधिक महत्व उष्मा संवाहकता उस पथ के समानुपाती होती है, जो कि प्रत्येक फ़ोनान यात्रा करने के पूर्व क्रिस्टल में कुछ न्यूनता के साथ यह संघट्ट करता है। इस प्रकार के संघट्ट इलेक्ट्रानों के संघट्ट के तुल्य क्रिस्टल झंझरी में न्यूनता के साथ विद्यमान रहते हैं जो फ़ोनान को पुन: ठोस के गर्म भाग की ओर लौटा देते हैं। इस स्वतन्त्र पथ का यह विचरण एक तापमान से दूसरे तथा एक ठोस से दूसरे ठोस में रहता है। इसकी अपेक्षा धातुओं और अधातुओं में भी अधिक नियमित समस्त ठोसों की उष्मा संवाहकता का नियंत्रण करता है।

साधारण तापमानों पर ठोस प्राय: फोनान का संचरण करता है। यह परमाणविक कम्पनों के स्पन्द हैं जो सभी दिशाओं में गतिमान हैं। इस प्रचुरता से उष्मा-संवाहकता फ़ोनान के कारण घट जाती हैं। यद्यपि ताप बढ़ते ही फ़ोनानास की संख्या बढ़ती है। तो भी वे एक दूसरे की गतियों को इस गम्भीरता से रोकते हैं कि उनके मार्ग की लंबाईयाँ उनकी जनसंख्या बढ़ने की अपेक्षा अधिक

तेजी से घटती हैं। यह उसी समय होता है जब कोई परमाणु अपनी गृह स्थिति से फोनान के गमन होने के द्वारा हट जाता है तथा दूसरा फोनान अविनस्थित परमाणु से मुठभेड़ करके दृढ़ता से परिवर्तित हो जाता है। संख्या बढ़ने पर फ़ोनान स्वयं ही अपनी गतियों को रोकना प्रारम्भ कर देते हैं। उच्च तापमानों पर फ़ोनान कठिनता से किसी प्रकार तेजी से घूमते हैं और पड़ोसी परमाणुओं के मध्य दूरी बढ़ाने के पूर्व ही वे विकरित हो जाते हैं।

ठोस में भारी परमाणुओं की उपस्थिति ध्वनि वेग को कम करने पर उष्मा-सवांहकता को घटा देती है। तथा फोनान के प्रकीर्णन को बढ़ा देती है। तापवैद्युत धातुओं के अभिकल्पी इस ज्ञान का पूर्ण उपयोग करके विसमथ और ट्रिल्योरियम जैसी भारी धातु का प्रयोग करते हैं, जो अल्प उष्मा संवाहकता रखते हैं। यौगिकों में धातुओं के साथ जो स्वतन्त्र इलेक्ट्रानों को पर्याप्त मात्रा में रखती है, वे उच्च वैद्युत संवाहकता को प्रकट करती है। उष्मा की शक्ति का अधिकांश अंश ताप वैद्युत-जनित्र के एक सिरे को दिया जाता है, तथा दूसरे सिरे पर फोनान यह स्वतन्त्र इलेक्ट्रानों के द्वारा विद्युत धारा के रूप में ले आई जाती है। इस बीच भारी परमाणु यौगिक में शक्ति के संक्रमण को रोकते हैं। तथा जनित्र के गर्म और ठंडे सिरों के मध्य ताप प्रवणता को पोषण रखते हैं, (देखिए "दी रिवाईवल आफ़ थर्मो इलेक्ट्रसीटी ऐफ० जोफी साइन्टीफिक अमेरिकन १९५८)

तापमानों पर कमरे के नीचे तापमान के लिये परम शून्य के निकट ताप या ऋण २७३ अंश सेण्टीग्रेट तापमान-उष्मा-वहन की घटना को व्यक्त करती है। अर्द्ध शताब्दी पूर्व हीलियम जैसी वायुमण्डलीय गैसों की वैज्ञानिकों द्वारा द्रवीकरण की चेष्टा की गई। आधुनिक युग में निम्न तापमान पर उष्मा प्रवाह के अध्ययन का क्षेत्र अधिक विस्तृत है। खनिज नमक के क्रिस्टल को लीजिए। निम्न ताप पर इसकी उष्मा-संवाहकता कमरे के ताप की अपेक्षा ४०० गुनी अधिक होती है। या कहिये कि उष्मा संवहकता नीचे तापों पर कला-पथ के अधिकत्व में अशुद्धियों तथा क्रिस्टल में अन्य कमियों का नियत उत्तरदायी हैं। उष्मा संवाहकता का अध्ययन इस ताप-अंतराल में रसायनज्ञों भौतिज्ञों एवं धातुकर्मियों को क्रिस्टलों में पूर्णता की ओर उनके अन्वेषणों को शक्तिशाली सहायता देती है।

जैसे ही तापमान नीचे गिरता है वैसे ही अधातुओं की उष्मा संवाहकता बढ़ती है क्योंकि फोनान की संख्या घटते ही उनकी मुक्त पथ-लम्बाई शीघ्रता से बढ़ती है अन्त में तापमान उस स्थिति में पहुँच जाता है जिस पर की पथ लम्बाई इंच के लाखवें भाग से भी कम हो जाती है कमरे के तापमान पर विशिष्ट प्रतिरूप के विस्तारों के तुल्य ये लम्बाइयाँ बढ़ती हैं, इंच का आठवाँ भाग या चौथाई भाग। इस तापमान के नीचे फोवान के पथ पर क्रिस्टल की धारों द्वारा पर्यवसित हो जाते हैं तथा क्रिस्टल के अन्दर फोन पुनः परिवर्तन हो जाता है उष्मा संवाहकता इस तापमान के नीचे तेजी से गिरती है। यह इसलिये होता है कि फोनानों की संख्या शीघ्रता से गिर जाती है यदि तापमान दुबारा किसी भी सीमा तक गिराया जाये किन्तु फोनान पथ लम्बाई एवं फोनान को गति को स्थिर रक्खा जाये।

तापमान में गिरावट के साथ धातुओं की संवाहकता के बढ़ने तथा आकस्मिक घटने की व्याख्या को सर्वप्रथम एच० बी० जी० कैसीमीर ने सैद्धान्तिक रूप में प्रस्तुतकिया इसकी सत्यता का भौतिकीय विधि का प्रदर्शन रॉबर्ट ओ० के द्वारा दिया गया है। उसने लिथियम क्लोराइड खनिज के अकेले एक क्रिस्टल से दो विभिन्न प्रकार के प्रतिरूपों को अनुप्रस्थकाट विस्तारों से काटा तथा यह पाया कि छोटे वाले प्रतिरूप की संवाहकता तापमान के गिरने के साथ शीघ्रता से गिरगई। गीरीमेन का सिद्धान्त कैसीमीर के सिद्धान्त से सन्तुष्ट हो गया।

इलीनाय विश्वविद्यालय के प्रो० सीलीज बी० कीलिवन ने तत्काल ही इस सत्यता का नाटकीय प्रदर्शन प्रस्तुत किया है कि उष्मा संवाहकता निम्न तापमानों पर क्रिस्टल की अशुद्धियों के लिये अति सुग्राही होती है। उसने सोडियम क्लोराइड (नमक) के क्रिस्टल की संवाहकता की गणना की तथा विभिन्न स्रोतों से एक अकेले बड़े क्रिस्टलों की रचना की जब कि रासायनिक

अशुद्धियाँ क्रिस्टल में संयुक्त फोनानों को प्रकीर्ण करती है। कुछ प्रतिरूपों में न्यून संवाहकता को क्रिस्टल की अपनी बनावट में अशुद्धियों को यथार्थ सत्य माना गया।

साम्यावस्था में निम्न तापमानों पर उष्मासवांहकता अशुद्धियों से सुग्राहक होती हैं भले ही ये अशुद्धियाँ केवल लाखवें अंश में उपस्थिति रहती हैं

उष्मा संवाहकता की गणनाएँ केवल सुग्राहक ही नहीं है अपितु क्रिस्टल में उपस्थित अशुद्धियों के अध्ययन के लिये भी यह विधि उपयुक्त है। वे चयनात्मक भी हैं। क्योंकि विभिन्न प्रकार की अशुद्धियां क्रिस्टल में फोनान पथों की एक सीमा है। उष्मा संवाहकता तापमान के फलन जैसी व्यहार करती फोहल ने लिथियम क्लोराइड क्रिस्टल को एक्स-रश्मियों के साथ किरणीयित किया। अपूर्णता उत्पन्न को जो एक केन्द्रो द्वारा जानी जाती है। सान्द्रता में एक-एक केन्द्र की लगभग-प्रत्येक के लिये क्रिस्टल के १००,००० परमाणु होते हैं। एक केन्द्र वह स्थान होता है जो फ्लोरीन आयन द्वारा घिरा होता है। अगर क्रिस्टल शुद्ध) पूर्ण हो तो यह इसके अतिरिक्त इलेक्ट्राइन द्वारा अधिकृत होती हैं। यह अपूर्णता क्रिस्टल के अधिक छोटी सीमा में स्थानीकृत (Localized होती है तथा लगभग विन्दु मात्र अपूर्णता होती है। दूसरे ग्रुप पर कॉरनिल ने लिथियम क्लोराइड क्रिस्टलों को पुन: स्थापित 'विस्थापनों' के लिये निचोड़ा जो विरूपता के समय परमाणुओं के समस्त पंक्तियों तथा समतलों की सिलीपेज के प्रभाव की यह अशुद्धियों के परिणाम हैं। क्रिस्टलों के उष्मा संवाहकता में उतार-चढ़ाव को समाविष्ट किया जाये तो ये अपूर्णतायें विन्दु द्वारा प्रकट होंगी। विस्थापनों द्वारा यह विदित हुआ कि संवाहकता प्रत्येक दशा में तापमान के साथ लाक्षणिक प्रकार से बढ़ी। इस प्रकार संयुक्त में अपूर्ण की गणना हुई। अपूर्णता की प्रकृति के बारे में यह अधिक जानना सम्भव है तथा न जाने हुए क्रिस्टल में उष्मा संवाहकता तापमान का फलन है, इसकी गणना उसके वक्र से की जा सकती है।

इन सहमत प्रयोगों से यहाँ दो विचार प्रकट हुये (१) न्यून तापमान प्रचलित विधि को अगर प्रयोग में लाया जाये, तो इसमें गूढ़ उपकरण की आवश्यकता होगी (२) हीलियम का नियंत्रण (१) न्यून तापमान पर सर्वप्रथम फोनान द्वारा पथ लम्वाई को सीमा बन्ध है। फोनान की पथ लम्बाइयाँ अगर गिचपिच नहीं हैं, इस लिये अशूद्धियों की न्यूनतम सघनता की उपस्थिति के कारण यह बिलकुल लम्बी एवं अति सुग्राहक हो जाती है। (२) तापमान निर्भरता की गवेषणा करने के लिये विस्तृत तापमान के परास को ढकने के लिये यह आवश्यक है या कहिये कि परम तापमान में १०० के खण्ड को इस प्रकार के परास में कमरे के तापमान को केवल विभाजन द्वारा ही प्राप्त किया जाता है। यह असम्भव है कि कमरा तापमान को १० बार या अधिक से गुणा किया जाये।

इस प्रकार ताप वहन-प्रकीर्णन की साधारण विधि है। यह प्रक्रम जिसके द्वारा सूर्य का ताप पृथ्वी तक लाखों मीलों की दूरी तय करके अवकाश से होकर आता है जिसके द्वारा हमारा अवरक्त दीपक उसी के परिस्थान से गर्म होता है यह दृश्य प्रकाश के फ़ोनानस के वहन की सीधी विधि है या अवरक्त प्रकीर्ण की। यह वहन पारदर्शक ठोसों से होकर तथा शून्य से भी होकर बहता है जब कि पारदर्शक क्वार्ट्ज छड़ के एक सिरे को उच्च तापमान तक गर्म किया जाता है, तव ताप प्रकीर्ण होता है, फोनान उष्मा को ले जाने का कार्य करते हैं।

दूसरी उष्मा संवाहन विधि उच्च तापमानों पर इलेक्ट्रान शक्ति से अधातुओं में उत्पन्न होती है। वहन प्रक्रम जोकि स्वतंत्र इलेक्ट्रान प्रवाह से भिन्न है, अधातुयें स्वतंत्र इलेक्ट्रान जैसी कोई वस्तु संकेन्द्रित नहीं रखती जो धातुओं को रखती है? परमाणुओं से तापमान पर्याप्त बढ़ने पर फिर भी कुछ इलेक्ट्रान स्वंय ही हट जाते हैं। परमाणु से इलेक्ट्रान को बाहर खींचने के लिये जिस शक्ति की आवश्यकता होती है, वह विशेष स्वतंत्र इलेक्ट्रान की गति की गतिज ऊर्जा से कई गुना अधिक होती है। इलेक्ट्रान अधात्विक ठोस के गर्म सिरे पर परमाणुओं से छोड़ दिये जाते हैं जो ठन्डे सिर की ओर विस्तृत हो जाते हैं। जिस प्रकार धातुओं में इस विन्दु पर वे दुबारा परमाणुओं के साथ संघटित होकर उतनी ही शक्ति को छोड़ते हैं, जो कि उनको गर्म सिरे पर दी गई थी, यद्यपि धातुओं में यह इलेक्ट्रान कुछ गतिज ऊर्जा को ले गये हैं।

●●

पर्वतीय कृषि

डा० शिवगोपाल मिश्र

पर्वतीय खण्डों अर्थात् पहाड़ी भागों में की जाने वाली खेती **"पर्वतीय कृषि"** कहलाती है। यह कृषि मैदानी भागों की कृषि से सर्वथा भिन्न है क्योंकि इसकी समस्यायें पृथक् होने के साथ ही साथ जटिल भी हैं। इन्हीं समस्याओं के कारण पर्वतीय कृषि अभी भी अपनी प्रारम्भिक अवस्था में है।

किसी भी देश में पर्वतों में खेती करने की ओर मनुष्यों का ध्यान बहुत बाद में जाता है क्योंकि जब तक मैदानों में सरलता से भूमि उपलब्ध होती रहती है, दुर्गम भूखण्डों में खेती करना कोई पसन्द नहीं करता। फिर भी, कृषि-योग्य भूमि के सीमित होने के कारण साहसी किसान, जहाँ कहीं भी भूमि मिल सकती है खेती करते रहे हैं। वर्तमान समय में भारत की जनसंख्या-वृद्धि को देखते हुये यह आवश्यक हो गया है कि सभी प्रकार की भूमियों में खेती तो की ही जाय, प्रति एकड़ उपज में वृद्धि भी की जाय।

हमारे देश का प्रचुर भाग पर्वतमालाओं से घिरा हुआ है। उत्तर में हिमालय पर्वत तथा सिवालिक पहाड़ियाँ, मध्यभाग में विंध्याचल तथा सतपुड़ा और दक्षिण में नीलगिरि श्रेणियाँ प्रमुख हैं। इसके अतिरिक्त पूर्वी घाट, पश्चिमी घाट तथा अरावली पहाड़ियाँ भी दूर-दूर तक विस्तीर्ण हैं। इन समस्त पर्वतीय भागों में हिमालय प्रदेश ही सबसे ऊँचा है। ऊँचाई के कारण उसके कुछ भाग वर्ष भर बर्फ से आच्छादित रहते हैं किन्तु जो भाग कम ऊँचे हैं वे जाड़ों में ही बर्फ से प्रभावित होते हैं अतः साधनों के जुटा लेने पर इन भागों में सरलता से खेती की जा सकती है। दक्षिण तथा मध्य के पहाड़ी भाग कम ऊँचे हैं तथा पठारी हैं। इन सभी भागों में वर्षा की मात्रा भिन्न-भिन्न है। प्रायः मध्यवर्ती भागों में वर्षा कम होती है जबकि हिमालय-प्रदेश में पूर्वी भागों में वर्षा अधिक होती है और पश्चिम की ओर आगे बढ़ने पर वर्षा घटती जाती है। दक्षिण के पहाड़ी भागों तथा पूर्वी, पश्चिमी घाटों में जाड़े के दिनों में भी वर्षा होती है।

अम्लीय मिट्टियों का विकास

सामान्यतः वर्षा के दिनों में पहाड़ी क्षेत्रों में अन्य क्षेत्रों की अपेक्षा अधिक वर्षा होती है। इसका परिणाम यह होता है कि बड़ी-बड़ी चट्टानें टूट-फूट कर नीचे की ओर सरकती रहती हैं और ढालू भागों की अपेक्षा घाटियों या समतल भागों में मिट्टियाँ संचित होती रहती हैं। कालान्तर में ये मिट्टियाँ भी पानी से घुलने लगती हैं जिससे उनमें निहित पोषक तत्व एक एक करके विलीन होते रहते हैं। यह देखा गया है कि इन तत्वों में से कैलसियम तथा मैगनीशियम का क्षय विशेष रूप से होता है जिसके कारण अन्ततः खट्टी या अम्लीय मिट्टियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। **यह कहा जा सकता है कि ये अम्लीय मिट्टियाँ सभी पर्वतीय क्षेत्रों की विशेषतायें हैं। ये मिट्टियाँ विभिन्न जलवायु वाले प्रदेशों में भिन्न-भिन्न रूप एवं रंग भी धारण करती देखी जाती हैं।** उदाहरणार्थ, हिमालय पर्वत में अम्लीय मिट्टियाँ भूरे रंग की या मटमैली रंग की हैं जब कि दक्षिणी भारत में वे ही गहरे लाल तथा पीले रंग की हैं। प्रथम प्रकार की मिट्टियाँ एक पृथक वातावरण में विकसित हुई हैं जबकि दूसरे प्रकार की मिट्टियाँ इससे सर्वथा पृथक जलवायु के अन्तर्गत।

पर्वतों में मिट्टियों का विकास-क्रम न केवल जलवायु से प्रभावित होता है वरन् उस पर वनस्पति का भी गहरा प्रभाव पड़ता है। यह देखा गया है कि अधिक ऊँचाई पर पहाड़ों में कोई वनस्पति नहीं उगती क्योंकि

वहाँ सदैव बर्फ जमी रहती है। किन्तु उसके बाद ही नुकीले वृक्षों के जंगल देखे जाते हैं। और भी नीचे भागों पर अथवा घाटियों में चौड़ी पत्ते वाले वृक्ष उगते हैं। वस्तुतः पर्वतीय भागों की प्रमुख सम्पदा ये ही जंगल हैं। इन जंगलों में वृक्षों की पत्तियों के गिरने तथा भूमि पर विविध प्रकार की घासें उगने के कारण मिट्टी के ऊपर एक मोटी परत के रूप में वानस्पतिक अवशेष जिसे "जीवांश" या "ह्यूमस" कहते हैं एकत्र होता रहता है। चूँकि पर्वतीय भागों में ताप कम है अतः इस जीवांश का विघटन मन्द गति से होता है किन्तु जल की अधिकता से इस जीवांश का घुलन प्रखर गति से चलता रहता है। परिणाम यह होता है कि जीवांश के द्वारा जो कार्बनिक अम्ल बनते हैं वे मिट्टी के तत्वों को घोलते रहते हैं और उन्हें अधिक गहरे पर्तों या स्तरों तक पहुँचाते रहते हैं। एक अवस्था वह भी आती है जब ऊपरी स्तरों का सारा कैलसियम घुलकर नीचे की ओर प्रस्थान कर चुकता है। तब मिट्टी का लोह अंश प्रभावित होना प्रारम्भ होता है और घोल के रूप में कुछ ही गहराई तक यात्रा करके पुनः अवक्षिप्त हो जाता है। इस प्रकार से मृत्तिका-संस्तर-समूह में विविध प्रकार के स्तर विकसित हो जाते हैं। इनमें ऊपरी संस्तर अत्यधिक अम्लीय रहता है, जिसके कारण जंगली वृक्षों के अतिरिक्त किन्हीं भी फसलों का उगाना कठिन हो जाता है।

इस प्रकार की भूमिगत अम्लता को दूर किये बिना फसलों को सफलतापूर्वक उगाना कोई खेल नहीं है। अत्यन्त प्राचीन काल से मिट्टियों की अम्लता का सामना करने के लिये ऐसी मिट्टियों में किसान कुछ न कुछ चूना डालते रहे हैं। पर्वतीय मिट्टियों में तो चूना डालने की और भी आवश्यकता रहती है। चूना डालने से न केवल अम्लता दूर होती है वरन् मिट्टी के अन्य पोषक तत्व भी अधिक उपलब्ध हो जाते हैं, मिट्टियों में जल सोखने की शक्ति बढ़ती है और उनमें फसलें उगने लगती हैं। किन्तु कुछ फसलें ऐसी भी हैं जिनके लिये मिट्टी की अम्लता हानिकारक नहीं होती। ऐसी फसलों में आलू प्रमुख है। यही कारण है कि उत्तर के पर्वतीय क्षेत्रों की एक प्रमुख पैदावार आलू भी है। ऐसी मिट्टियाँ चाय तथा कहवा के उत्पादन के लिए भी उपयुक्त होती हैं। यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय तो पता चलेगा कि पहाड़ी भागों में ही इन दोनों का सर्वाधिक उत्पादन होता है।

भूमिक्षरण और भूमिसंरक्षण

पर्वतीय कृषि के समक्ष एक और समस्या है और वह है भूमिक्षरण की। मिट्टियों के ढालू होने तथा अधिक वर्षा के कारण इनमें प्रभूत भूमिक्षरण (erosion) होता रहता है। भूमिक्षरण उपजाऊ मिट्टियों को भी अनुपजाऊ बना देता है और जहाँ कभी फसलें उगती थीं वहाँ बड़े-बड़े खड्ड उत्पन्न कर देता है। मिट्टी के इस प्रकार बहने अथवा उनकी उर्वरता को नष्ट होने से बचाने के लिये आजकल नाना प्रकार के साधन सम्पन्न किये जा चुके हैं किन्तु पर्वतों के ऊपर उनको व्यवहार में लाना कठिन होता है। नाना प्रकार की विधियों में से केवल "सीढ़ीदार खेती" का अपनाया जाना ही सबसे सरल एवं व्यावहारिक होता है। इसीलिये पर्वतीय कृषक बड़े ही यत्न से सीढ़ीदार खेत बनाते हैं। ऐसा करने से खेतों में वर्षा के जल का बहाव घटता है जिससे उसके द्वारा कम मिट्टी बहाकर ले जाई जाती है। भूमिक्षरण को रोकने की यह विधि भूमिसंरक्षण की नाना विधियों में से एक है। इसके अतिरिक्त ढालों पर घास उगाना, जंगलों को न काटना, पशुओं की चराई को सीमित रखना इत्यादि कुछ अन्य साधन हैं जिनका प्रयोग पर्वतीय कृषि के लिये हितप्रद होता है। इस दिशा में भूमि सर्वेक्षण के द्वारा कृषकों को काफी सहायता मिल सकती है। वे न केवल कृषि-योग्य भूमि के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त कर सकेंगे वरन् उनमें सफलतापूर्वक कृषि भी कर सकेंगे। भूमि संरक्षण के ज्ञान द्वारा उन्हें और भी लाभान्वित किया जा सकता है।

कृषि पद्धतियाँ

उपर्युक्त बातों के अतिरिक्त आवागमन के साधन कष्टप्रद होने तथा पर्वतीय भागों में अन्य साधनों के भी सीमित होने के कारण कृषि-कार्य में काफी बाधायें हैं। फिर भी पर्वत के वासी कृषक अपने श्रम से पर्वतों में भी खेती करते आये हैं। वे प्रायः दो प्रकार की पद्धतियाँ अपनाते रहे हैं :—

१—प्रारम्भिक पद्धति तथा २—सीढ़ीदार पद्धति

प्रारम्भिक पद्धति में पहाड़ी ढालों पर बिना सीढ़ी बनाये खेती की जाती है। घुमन्तू आदिम जातियाँ इस पद्धति को "खील" या "कटील" प्रथा कहते हैं। उड़ीसा के आदिवासी ऐसी खेती को "पोढू" कहते हैं। इस प्रथा में केवल खरीफ फसल ही पैदा की जाती है। खेती के लिये भूमि का चुनाव किसी जलस्रोत के पास किया जाता है। वर्षा के पूर्व जंगलों को जला दिया जाता है और पानी गिरते ही भूमि को कुदालों से खोद कर छेदों में अनाज गाड़ दिया जाता है। न तो किसी प्रकार का हल चलाया जाता है और न खाद ही डाली जाती है। जलाने से बची राख ही खाद का काम करती है। ऐसे भाग में केवल एक बार खेती की जाती है। दूसरे वर्ष फिर नये भूभाग में जंगल जलाकर खेती की जाती है। यह ऐसी विच्छिन्न कृषि परम्परा है जिसमें न तो भूमि-सुरक्षा का कोई ध्यान रखा जाता है और न एक खेत से अधिक उपज ही प्राप्त की जा सकती है।

किन्तु धीरे धीरे जैसे-जैसे किसान शिक्षित होते जा रहे हैं इस प्रथा का अन्त हो रहा है और इसके स्थान पर "सीढ़ीदार खेती" ही सर्वत्र प्रचलित हो रही है। इस प्रथा में ढालों पर सीढ़ीदार खेत बनाकर उनमें लगातार खेती की जाती है। इन सीढ़ीदार खेतों की चौड़ाई कम होती है। इनके बनाने में काफी श्रम एवं धन लगता है और यदि किसी वर्ष अत्यधिक वर्षा होती है तो सारे खेत बह जाते हैं और फिर से नया श्रम करना पड़ता है।

पहाड़ी भागों में सीढ़ीदार खेती का निर्माण किसानों की कार्य-कुशलता का उत्तम उदाहरण है। खोदने से जो पत्थर मिलते हैं उन्हें जोड़ कर ऊँची मेड़ तैयार की जाती है और फिर जुताई करते समय जितने कंकड़ पत्थर मिलते हैं उन्हें भी निकाल दिया है। बाद में गोबर या वृक्षों की पत्तियों से बनाई गई खाद डाल कर इन खण्डों को उपजाऊ बनाया जाता है। ऐसे खेतों में भूमिक्षरण कम होता है किन्तु किसानों को लगातार सचेष्ट रहना पड़ता है।

सिंचाई के साधन

पर्वतीय खण्डों में भी वर्षा-जल के अतिरिक्त सिंचाई के लिये जल के अन्य साधनों की आवश्यकता पड़ती है। काफी ऊँचे भाग जिन्हें वर्षा-जल के अतिरिक्त अन्य साधनों से जल नहीं प्राप्त हो पाता "उपरॉव" कहे जाते हैं। घाटियों में फैले खेत "तलॉव" या "कियारी" कहलाते हैं इनमें सिंचाई की आवश्यकता पड़ती है। सिंचाई के लिये पहाड़ों से निकलने वाले सोतों के जल को नाली खोदकर खेतों तक ले जाते हैं। पहाड़ों पर नहरें तो बनाई नहीं जा सकतीं किन्तु ये ही पतली नालियाँ जिन्हें 'कुल' कहते हैं, बना ली जाती हैं।

कृषि-यन्त्र

कृषि-कार्य के लिये प्रयुक्त यन्त्र भी सीमित हैं। हल, लोहला, माच, कुदाल, दराँती, रंभा, कुल्हाड़ ये ही कृषि यन्त्र हैं पहाड़ी इलाकों के। भारी ट्रैक्टरों द्वारा सीढ़ीदार खेतों में जुताई सम्भव नहीं है। पहली जुताई जिसमें ढेले तोड़े जाते हैं 'ढाल" कहलाती है और द्वितीय जुताई "बाज" कहलाती है। बीज बोने के लिये नाली का भी प्रयोग होता है अन्यथा हाथ से छिटवाँ बीज बोये जाते हैं।

कृषि-कर्म में रत जातियाँ

पहाड़ी भागों के किसान अत्यन्त परिश्रमी होते हैं। स्त्रियाँ भी खेती के कार्यों में उनका हाथ बटाती हैं। पंजाब प्रान्त के जाट तथा सैनी और हिमाचल प्रदेश के राजपूत बड़े साहसी किसान माने जाते हैं। स्पिती तथा लाहौल इलाके में सिंचाई का सारा काम औरतें ही करती हैं। फुरसत के समय वे रात में ऊन कातती हैं। मर्द कम्बल बुनते हैं।

फसलें

पर्वतों में भी तीन प्रकार की फसलें उगाई जाती हैं—रबी, खरीफ तथा जायद। जो मिट्टियाँ उपजाऊ हैं तथा घाटियों में हैं उनमें धान, मक्का, दालें, हल्दी, अदरक आदि खरीफ की फसलें सरलता से उग सकती हैं। उत्तर में कांगड़ा घाटी तथा काश्मीर की घाटियों में ये

फसलें उगती हैं। गेहूँ, जौ, चना, तिलहन तथा मटर रबी की मुख्य फसलें हैं। कांगडा की घाटी में कपास तथा गन्ने की भी खेती होती है। तोरिया, तम्बाकू, तरबूज आदि जायद फसलें हैं किन्तु जिन मुख्य फसलों से उत्तरी पहाड़ी भाग के किसान काफी धन कमाते हैं वे हैं आलू, चाय तथा फल। क्या पंजाब क्या हिमाचल प्रदेश, दोनों के पर्वतीय भागों में आलू की अच्छी खेती की जाती है। यह आलू "पहाडी आलू" के नाम से प्रसिद्ध है। शुष्क पहाड़ियों में शुष्क फलों या मेवों के बाग पाये जाते हैं। फलोत्पादन २००० फुट से ८००० फुट तक की ऊँचाई वाले भागों में सम्भव है। कांगड़ा घाटी में ऊँचे भागों में सेव, बादाम तथा निचले भागों में नीबू, आम तथा संतरे की खेती होती है। काश्मीर में केशर की खेती की जाती है।

खेती योग्य क्षेत्र के अतिरिक्त कुछ भाग उत्तम जंगलों से ढके रहते हैं जिनसे इमारती लकड़ी प्राप्त होती है। सागौन, देवदार, चीड़ तथा पाइन के जंगल मुख्य हैं हिमाचल प्रदेश में ३५% क्षेत्रफल में उत्तम प्रकार के जंगल हैं। शुष्क क्षेत्रों में अच्छी-अच्छी चरागाहें हैं अतः पहाड़ों पर भेड़ और बकरी का पालन होता है। कांगड़ा की घाटी, दार्जिलिंग तथा आसाम की पहाड़ियाँ चाय के उद्यानों के लिये प्रसिद्ध हैं। पश्चिमी बंगाल में भूरी मिट्टियों में सिनकेना उत्पन्न होता है। नीलगिरि पहाड़ियों में मुख्यतः कहवा उत्पन्न होता है।

पर्वतीय मिट्टियों का अध्ययन

यद्यपि पर्वतीय मिट्टियों का वैज्ञानिक अध्ययन अभी अपनी प्रारम्भिक अवस्था में ही है। फिर भी उत्तर प्रदेश की पर्वतीय मिट्टियों का अध्ययन विस्तार से किया जा चुका है। हिमालय प्रदेश को तीन भागों में विभक्त करके उनमें चार प्रकार की मिट्टियाँ देखी गई हैं। ये तीन भाग हैं—भाभर, तराई तथा मैदान और उनमें पाई गई चार प्रकार की मिट्टियाँ हैं—लाल दोमट, भूरी जंगली मिट्टियाँ, पाडजाल तथा चरागाही मिट्टियाँ। पॉडजाल का अर्थ होता है मिट्टी के भीतर राख के रङ्ग की परत का पाया जाना। प्रारम्भ में मिट्टियों के विकास में वनस्पतियों के योग की चर्चा की गई है। पॉडजाल ऐसी ही परिस्थितियों में उत्पन्न होने वाली मिट्टियाँ हैं। तराई भाग में पानी की मात्रा अधिक होने से दलदल पाये जाते हैं और घने जंगल भी। तराई की इन मिट्टियों का अध्ययन डा० राधारमण अग्रवाल ने (१९५५) किया है। बरेली तथा रुद्रपुर परीक्षण केन्द्र के सर्वेक्षण के फलस्वरूप तीन प्रकार की मिट्टियां पाई गई हैं :—

(१) तराई की मिट्टियाँ (२) खादर मिट्टियाँ तथा (३) पठारी मिट्टियाँ। तराई की मिट्टियों में पानी की अधिकता है और उनमें चिकनी मिट्टी का अंश अधिक है। इन्हें "मार" के नाम से पुकारा जाता है। नदियों की तलेटियों में जलोढ मिट्टी पाई जाती है जो खादर कहलाती है। यह अत्यन्त उपजाऊ होती है। ऊँचे भागों में बाँगर मिट्टियाँ मिलती हैं जिन्हें भूड, मटियार, खपट या दोमट के नाम से भी पुकारा जाता है।

पंजाब के कुलू क्षेत्र में इमारती जंगलों से ढकी मिट्टियों का अध्ययन टेलर तथा उनके सहयोगियों ने (१९३५) किया और यह देखा कि ये मिट्टियाँ पॉडजाल कोटि की हैं जिनकी ऊपरी सतह पर कैलशियम की मात्रा अधिक है। काश्मीर की घाटी में किसानों द्वारा मिट्टियों का वर्गीकरण भूमि के गठन तथा उर्वरता के आधार पर भी किया गया है। वहाँ पर ग्रुट्रू, बाहिल, सेकिल तथा दाजनलाद ये चार कोटि की मिट्टियाँ हैं। हिमाचल प्रदेश में किसान भूमियों को रुआ (सिंचित), परवल (बिनासिंचित) तथा बंजर (बिन सिंचित, घासों के योग्य) इन तीन कोटियों में विभाजित करते हैं और फिर उर्बरता के आधार पर उनमें भी छह किस्में मानते हैं—कियार, संजियार, बखल तथा कराली, बखल कियार, बखल बहरानी, कुलथर्नी। इनमें से कियार भूमियाँ ही उपजाऊ एवं सिंचित हैं। दक्षिणी पर्वतीय खण्डों में लाल मिट्टी पाई जाती है जो जल को सरलता से सोख लेती है किन्तु वह अधिक उपजाऊ नहीं होती।

पर्वतीय मिट्टियाँ सामान्यतः सभी पोषक तत्वों में न्यून होती हैं। मृदा सम्बन्धी रासायनिक अध्ययनों से यह ज्ञात हुआ है कि इनमें नाइट्रोजन तथा फासफोरस तत्वों की विशेषतया न्यूनता है जबकि पोटैशियम की प्रचुरता

रहती है। फलतः जब ऐसी मिट्टियों में नाइट्रोजनयुत अथवा फासफोरसयुत कृत्रिम उर्वरक डाले जाते हैं तो अच्छी फसलें उत्पन्न होती हैं।

उपर्युक्त सभी बातों को ध्यान में रखते हुये यह कहा जा सकता है कि बढ़ती हुई जनसंख्या के लिये अधिकाधिक अन्न उत्पादन की दिशा में पर्वतीय खण्डों में कृषि की उन्नत प्रणालियों को अपनाकर कुछ हद तक सफलता प्राप्त की जा सकती है। यद्यपि पर्वतों की जलवायु, मिट्टी तथा साधनहीनता, ये सब कृषि अपनाये जाने के पक्ष में नहीं हैं फिर भी उपर्युक्त कृषि-पद्धतियों के चुनाव एवं पर्वतीय मिट्टियों के सम्बन्ध में अधिकाधिक शोधकार्य के द्वारा सफल कृषि सम्भव हो सकती है।

उत्तर प्रदेश सरकार द्वारा तराई क्षेत्र में रुद्रपुर कृषि परीक्षण केन्द्र एवं एक विश्वविद्यालय की स्थापना हो जाने से पर्वतीय कृषि का भविष्य उज्ज्वल दिखाई पड़ने लगा है। इसमें अतिरिक्त, अनेक मिट्टी परीक्षण प्रयोगशालायें भी स्थापित की गई हैं जिनके द्वारा पहाड़ी भागों की मिट्टियों की विशेषताओं का अधिकाधिक अध्ययन हो सकेगा।

वह तो सच्ची तपस्विनी थी। मेरे मन में होता है कि पेरिस जाकर उसका घर देख आऊँ। हमारे किसी वैज्ञानिक ने इतना दुख नहीं भोगा। नतीजा तो मैं यह निकालता हूँ कि हम पर अंग्रेजी की मेहरबानी होने के कारण हमने अंग्रेजों के ढंग से ही काम करना सीखा। शोधविभाग इत्यादि के सफेद हाथी खड़े कर लिए। इतना पैसा खर्च होता है। इतनी बड़ी प्रयोगशालायें टाटा ने खड़ी की है सरकार ने भी की; पर काम वहाँ पर कितना होता है ?

हमने तो अंग्रेजों से यह शोध करना सीखा है न, सो उनकी तरह पैसा उड़ाना भी सीखा। उड़ाने के लिये पैसा हो या न हो, शोध हम क्या कर पाये हैं ? मैं एक भी शोधक हिन्दुस्तान में ऐसा नहीं जानता जिसने क्यूरियों की तरह तंगदस्ती भोगी हो। पश्चिम में तो ऐसे असंख्य लोग पड़े हैं। तभी तो वे विज्ञान को इतना दे सके हैं।

—महात्मा गांधी की डायरी से

१९४२

एक पौष्टिक खाद्य

श्यामसरन 'विक्रम'

बीज की बात ही निराली है।

आए दिन हम छोटी-मोटी वैज्ञानिक उपलब्धियों को आश्चर्यपूर्ण प्रशंसा की दृष्टि से देखते हैं। यह कदाचित् इसलिए कि वे मानव-निर्मित होती हैं। दूसरी ओर हम प्रकृति के विषय में इतने अभ्यस्त और संवेदनशून्य होते जा रहे हैं कि हमारी उपलब्धियों से कई गुना बढ़े-चढ़े सृष्टि के वैचित्र्यों और प्रकृति के आश्चर्यों को हम सहज संभावना मात्र मान लेते हैं।

बीज ही की बात है; कैसे उस नन्हें वामन में विराट, उस गागर में सागर, महासागर छिपे पड़े हैं, कैसे एक नन्हा दाना विशाल वट-वृक्ष बन जाता है, वह सब कुछ कर देनेवाली प्रकृति की वह शक्ति कितनी विपुल, कितनी असीम होगी, यह हमें चमत्कृत नहीं कर पा रहा। हमारा दृष्टिकोण ही जो क्षमताहीन होता जा रहा है!

बीज, और वह भी सूरजमुखी के फूल का बीज ही लीजिए।

अर्जेण्टाइना की कांग्रेस आफ न्यूट्रीशन के पिछले अधिवेशन में डा० इयारको (Dr. Iarck) ने इस विषय में नयी ही जानकारी दी है। उन्होंने निरीक्षणों और परीक्षणों द्वारा सिद्ध किया है कि विटामिन B_1 और B_2 की सम्पन्नता सूरजमुखी के बीजों में गेहूँ के दानों की अपेक्षा कहीं अधिक है। जिन गायों को इन बीजों की खूराक दी गयी, उनके दूध में विटामिन A की भी प्रचुरता पायी गयी। विटामिन E भी इन बीजों में पर्याप्त है और खनिज तत्वों में ये बीज किसी भी दाल तथा अनाज के दाने से ४·१५ प्रतिशत अधिक सम्पन्न हैं।

बहुउपयोगी किन्तु नाजुकमिजाज एन्जाइम

हमारे शरीर की वृद्धि, पुष्टि और पोषण में एन्जाइमों (enzymes) का बड़ा हाथ है। शरीर की कोशा-वृद्धि, आक्सीजन का स्थिरीकरण, ज्ञानतंतुओं का स्फुरण-वहन, भोज्य पदार्थों से ऊर्जा प्राप्ति, तथा आवश्यक प्रोटीनों का अन्दर ही अन्दर निर्माण, आदि सभी कुछ तो एन्जाइमों के आभारी हैं! इतने महत्वपूर्ण कार्य करने की सामर्थ्य रखते हुए भी ये एन्जाइम बड़े कोमल, बड़े नाजुकमिजाज हैं। आजकल के खाद्य-संरक्षण-उद्योग में काम आनेवाले विभिन्न विसंक्रामक तथा संरक्षण रसायन इन्हें अत्यधिक हानि पहुँचाते हैं, इनका सन्तुलन डिगा देते हैं और कहीं-कहीं इन्हें नष्टप्राय भी कर देते हैं। आज से ५० वर्ष पूर्व ही गोलैण्ड हापकिन्स (Gowland Hopkins) कह चुके हैं कि रसायनों द्वारा प्रभावित और विसंक्रमित खाद्य पदार्थों पर कोई भी जीवनक्रिया अधिक समय तक नहीं चल सकती। इसका अर्थ हुआ कि अधिकांश प्राकृतिक अवस्था में ही ली गयी खाद्यवस्तु हमारे शरीरगत एन्जाइमों को बल दे सकती है। इन्हीं में सूरजमुखी के बीज भी सम्मिलित हैं जिन्हें कच्चे ही खाना लाभप्रद है।

पहले पशु-पक्षी, अब मानव भी

पश्चिमी देशों में अब तक सूरजमुखी के बीज पालतू पशु-पक्षियों के प्रिय चारे के रूप में बहुतायत से प्रयुक्त होते रहे हैं। अब नये-नये परीक्षणों के पश्चात् इनके छिलके उतार कर इन्हें मानवोपयोगी खाद्य (वह भी सुस्वादु!) में सम्मिलित किया जा रहा है। जिनकी पाचन-शक्ति सुचारु और सबल है, वे तो इन बीजों को छिलके समेत ही कुटक कर, खा कर पचा लेते हैं; वर्ना निर्बल पाचनशक्ति वालों को तो छिलके उतार कर ही दिए जाते हैं।

देहातों में रहनेवाले अबोध, अपढ़ लोग जो विटा-

मिन, प्रोटीन और एन्जाइम जैसे शब्दों से ही अपरिचित हैं, स्वप्रेरणा से इन बीजों को खाते हुए आश्चर्यजनक रूप से स्वस्थ रह लेते हैं। उच्च रक्तचाप, हृद्रोग, विषम गुल्म, अम्लाधिकता आदि रोग उनके निकट भी नहीं आते और वे पूर्ण स्वस्थ तथा नीरोग रहते हैं।

चम्मच, दो चम्मच आप भी लीजिए

ऊपर जिनका उल्लेख आया है, उन डा० इयारको ने इसका अत्यन्त उपयोगी नुस्खा देते हुए कहा है कि जिन्हें पौष्टिक भोजन का प्रायः ही अभाव रहता है, वे दोनों समय भोजन से कुछ पूर्व ही १-१ चम्मच भर सूरज-मुखी के बीज की खूराक ले सकते हैं। इनकी सहायता से तत्पश्चात् लिया हुआ भोजन जो कि कार्बोहाइड्रेट-प्रचुर होता है, सरलता से पचाया जा सकता है। जहाँ दूध भी प्राप्त करने तथा तैयार करके लेने में असुविधा हो, वहाँ भी ये बीज दूध की स्थानपूर्ति बखूबी कर सकेंगे। पोषण से अभावग्रस्त लोगों के अतिरिक्त यह नुस्खा उन सम्पन्न व्यक्तियों के लिए भी लाभदायक रहेगा जो डाक्टरी नुस्खों पर ही पग-पग चलते हुए विटामिन-प्रचुर पदार्थों के उपयोग में अनजाने ही अतिरेकता बरतते रहते हैं।

इन्हीं बीजों से निकला हुआ तेल भी बहुत उपयोगी है। सर्वप्रथम जर्मनी ने साटवाइटल (Saatvital) के नाम से सूरजमुखी का तेल तैयार किया था।

यह नुस्खा आजमाने लायक तो है ही !

●●

गौण वनोपजशाखा, देहरादून

बाबू राम वर्मा

नाम की व्याख्या

"गौण वनोपज शाखा" नाम से मेरे मित्र उदासीन हो गये। इसे फिर कभी सही, मुझे तो अपने यहाँ की मुख्य या प्रधान शाखाओं से परिचय कराइये, गौण शाखाओं के बारे में, यदि समय बचा तो अन्तिम दिन सही, न मिला तो जाने दीजिए, जो गौण है उसे देखा न देखा दोनों ही बराबर है। अँग्रेजी नाम माइनर फॉरेस्ट प्रोड्यूस" (Minor Forest Produce) बताने पर भी उनका मन न जुड़ा, उनका निश्चय उसी धुरी पर पूर्ववत् घूमता रहा।

मेरे मित्र का ही नहीं, सम्भवतः अनेक लोगों को यह नाम चक्कर में डाल देता है और उस व्यामोह से छुटकारा पाना सहज नहीं है। मेरे पाठकों की भी धारणा कदाचित् उसी प्रकार की हो। किन्तु मैंने निश्चय कर लिया है कि आपकी इस भ्रान्त धारणा को वास्तविकता से परिचित कराकर दूर कर सकूँगा।

गौण वनोपज के विभेद

भारतीय वनों की उपज को हम दो भागों में बाँट सकते हैं। पहला प्रकाष्ठ—इमारती लकड़ी, तथा ईंधन-काष्ठ और दूसरा शेष भाग। इस शेष भाग को ही "गौण वनोपज" कह लिया जाता है। इस प्रकार इस पारिभाषिक शब्द के अन्तर्गत औषध पौधे, उत्पत तेल, गोंद, रेजिन (लीसा), चमड़ा कमाने के पदार्थ, रंग, मोम, रेशा और कपास (कृषि वाली नहीं), घास, बेंत, बीड़ी के पत्ते और बाँस, सभी आ जाते हैं। प्रकाष्ठ वृक्षों से मिलने वाला प्रकाष्ठ मुख्य (Major) उपज में आता है तो उनकी छाल, यदि उसे चर्म संस्कार के लिए उपयोग किया जाता हो, जैसे बबूल, की छाल, तो, गौण वनोपजों में गिनी जाएगी। यदि बाँस को ही लिया जाए तो महत्व में यह कौन प्रकाष्ठ से कम है। एक बड़ा उद्योग—कागज निर्माण उद्योग प्रधानतः इसी के दम पर चल रहा है। वस्तुतः इस नामकरण के पीछे एक इतिहास है। पिछली शताब्दी में वनों को प्रकाष्ठ एवं इमारती लकड़ी उत्पादन के लिए ही उपयोगी माना जाता रहा है। इसके अतिरिक्त अन्य वस्तुओं के समुपयोजन पर तो ध्यान ही नहीं दिया जाता था। इन तथाकथित गौण उपजों के महत्व को अब समझा जाने लगा है और यह माना जाने लगा है कि हमारे राष्ट्रीय विकास में इनका अत्यधिक महत्व है।

इस भ्रामक नामकरण को बदलने के लिए चतुर्थ विश्व वनविज्ञान कांग्रेस (सम्मेलन) ने सुझाव दिया है कि गौण वनोपज को "काष्ठेतर वनोपज" (फारेस्ट प्रोड्यूस अदर दैन वुड) कहा जाए। एक दृष्टि से यह अच्छा है, क्योंकि अधिक स्पष्ट है, पर महत्व-विचार से इसके स्तर में कुछ वृद्धि नहीं हुई। तो काफी समय से प्रचलित और सबके द्वारा समझे जाने वाला यह नाम "गौण वनोपज" ही क्यों न चलता रहने दिया जाए? १९५४ में हुई कांग्रेस के इस अभिस्ताव पर अभी तक अमल नहीं किया गया, फलतः यही नाम चलता रहेगा, यही आशा की जाती है।

"गौण वनोपजों" का क्षेत्र जितना विस्तृत है, गौण उपज में जितनी विविधता है उसको ध्यान में रखते हुए इनके वैज्ञानिक समुपयोजन पर उतना ही कम ध्यान दिया गया है। सच पूछा जाए तो इनका

संग्रह आदि ग्रामीणों या वनवासियों के हाथ में है जो परम्परा से चलती आती विधियों से इनका संग्रह करते चले आते हैं, उनका निष्कासन या जो कुछ भी किया जाए उन्हीं पुरानी ढर्रे की विधियों से होता जा रहा है। उपजों को प्रदान करने वाले पादपों के सुधार या उनके वैज्ञानिक अध्ययन की ओर किसी का ध्यान नहीं। परस्पर एकसदृश दिखाई पड़ने वाले परन्तु गुण—विचार से भिन्न पादपों को पहचानने के सरल उपायों की कोई व्यवस्था नहीं। ये सब बातें इतनी स्पष्ट हैं कि इन्हें तर्क द्वारा सिद्ध करना भी आवश्यक नहीं है। हमारा आयुर्वेद जड़ी-बूटियों पर आधारित है—ये सब गौण वनोपज ही हैं। पाठक जानते होंगे कि अधिकतर वैद्यगण स्वयं दवाइयों को पहचानने में असमर्थ हैं और अत्तार लोग नुस्खे में लिखी जो भी छाल पकड़ा दें, वही उन्हें वा उनके रोगियों को स्वीकार करनी पड़ती है। अत्तार लोग भी उनके विशेष जानकार नहीं हैं। इन दिशाओं में कार्य करना ही इस शाखा का कार्य है और ऐसा अनुसन्धान कार्य करने में उसकी दृष्टि आर्थिक है।

फलतः यहाँ गौण वनोपजों के विस्तार, उनकी प्राप्ति, एकत्रीकरण और समुपयोजन की रीतियाँ, व्यापार की सीमाएँ, सम्भावित माँग, पदार्थों में की जाने वाली मिलावट और उसकी रोकथाम, विपणन इत्यादि का सविस्तार अध्ययन किया जाता है। इस अनुसन्धान का उद्देश्य यही है कि समुपयोजन की रीतियों में सुधार किया जाए और उत्तम कोटि की चीजें तैयार की जाएँ जिससे देश-विदेश के बाजार में हमारी चीजें अच्छे दामों पर बिकें और देश के औद्योगीकरण के लिए विदेशी मुद्रा प्राप्त हो। इस बात पर विशेष ध्यान दिया जाता है कि पौधों का सक्रिय तत्व यथावत् बना रहे तथा उसमें सुधार भी हो। इसके अलावा अनेक विदेशी पौधे ऐसे हैं जिनकी खेती अपने देश में कराना लाभदायक है, उनकी सम्परीक्षात्मक कृषि को हाथ में लिया जाता है और जब उसमें सफलता मिल जाती है तो उसके अर्जित ज्ञान को देश के लाभार्थ प्रकाशित कर दिया जाता है। ऐसा सदा होता आया है और भारत में ही सिनकोना, रबर आदि अनेक वृक्षों को बाहर से लाकर भारत में लगाया गया है।

पिछले वर्षों में गौण वनोपजों की माँग बहुत बढ़ गई है विशेषकर विदेशों के बाजारों में और स्वाभाविक स्रोतों से अनेक उपजों की माँग पूरी करना सम्भव नहीं। फलतः कृषि करके प्रदाय को बढ़ाना पड़ता है। इन गौण वनोपजों की खेती करना सरल कार्य नहीं है क्योंकि उसमें इस बात का निश्चय करना पड़ता है कि कृषिकृत पादप में उसके सक्रिय तत्व बने रहें जिसके लिए पौधे को मान्यता मिली हुई हैं। सर्पगन्धा की खेती के विषय में इस शाखा ने जो कार्य किया वह तो अब भारत भर में विख्यात हो चुका है। अपने अनुसन्धान कार्य के आधार पर इस शाखा ने अँग्रेजी भाषा में चार पत्रिकाएँ प्रकाशित की जिनमें तथ्यों और तर्कों के आधार पर प्रतिपादित किया गया है कि इसकी खेती सफलतापूर्वक की जा सकती है; कृषिकृत पौधों की जड़ों में पाया जाने वाला एल्कलायड ब्रिटिश फार्माकोपिया में निर्धारित किये हुए परिमाण अर्थात् ०.८ प्रतिशत से कम न हो, से भी अधिक रहता है। इतना ही नहीं, अपने अनुसन्धान कार्य के आधार पर वैज्ञानिक तथ्यों द्वारा इसने प्रतिपादित किया है कि रोपावनी तैयार कराने के लिए बीजों का उपयोग सर्वोत्तम रहता है। सर्पगन्धा के विषय में भारत में काफी चर्चा है और इस चर्चा में गौण वनोपज शाखा का भाग कुछ कम नहीं है।

गौण वनोपज शाखा की एक और महती सेवा सेंटोनिन अर्थात् पेट के कीड़ों को मारने वाली दवाई के पौधों, आर्टीमीसिया, की कृषि से सम्बन्धित है। पहले इस शाखा ने वह तरीका निकाला जिससे सामान्यतया एक समान दिखाई देने वाले पौधों में से यह मालूम किया जा सकता है कि कौन सा पौधा सेंटोनिन युक्त है तथा कौन सा बिना सेंटोनिन का। वस्तुतः यह इस पौधे की दो जातियाँ हैं। भारत विभाजन के पश्चात् इससे भिन्न समस्या आई—आर्टीमीसिया उपजाने वाला प्रदेश पाकिस्तान के हिस्से में चला गया और गौण वनोपज शाखा ने अपने अनुसन्धान अन्वेषणों

द्वारा पंजाब के लाहौल, जम्मू व काश्मीर के किश्तवाड तथा उत्तरप्रदेश में चकरौता में इनकी खेती करके उनको सफलतापूर्वक उगाया। यहाँ इतना ध्यान रहे कि इन जगहों में उत्पन्न किया जाने वाला आर्टीमीसिया भी सेंटोनिन की समुचित मात्रा वाला है।

कपूर-तुलसी और उसकी पत्तियों से कपूर आसवन की चर्चा आपने न सुनी हो ऐसा हो ही नहीं सकता। कपूर का प्राकृतिक स्रोत है **सिनामोमम कैम्फोरा** यानी कपूर वृक्ष, परन्तु हमारे यहाँ यह प्रचुरता से नहीं होता और कदाचित् आर्थिक मूल्यों पर अधिक पैदा भी नहीं हो सकता। कपूर बाहर से मँगाया जाता था और अभी भी कुछ सीमा तक ऐसा किया जाता है क्योंकि कपूर सामरिक महत्व का है। इसके लिए भारत को किस प्रकार स्वावलम्बी बनाया जाए, यह विचार समस्या थी। गौण वनोपज शाखा ने इसके लिए पथीकरण किया और एक विदेशी क्षुप **ओसिमम किलीमन्दस्चैरिकम** की खेती आरम्भ की। यह तुलसी (ओसिमम) प्रजाति का है लेकिन सामान्य तुलसी की अपेक्षा इसकी पत्तियों में कपूर की मात्रा काफी अधिक है। और लीजिए हमने यह वैकल्पिक आर्थिक स्रोत प्राप्त कर लिया। फिर कपूर आसवित करने का एकक भी इस शाखा ने आकल्पित किया—वह भी ऐसा जिसे ग्राम, नगर सभी जगह तेल या पेट्रोल के ड्रम (ढोल) से तैयार कराया जा सकता है। तत्पश्चात् एक पुस्तिका में सारी जानकारी लिखकर 'बहुजन हिताय बहुजन सुखाय' प्रकाशित कर दी।

और भी औषधियाँ (या औषध पौधे) हैं जिन्हें गौण वनोपज शाखा ने अपने हाथ में लिया और उन पर अन्वेषण किये या जिन पर अन्वेषण-कार्य अभी भी चालू है। उदाहरण-स्वरूप **युकेलिप्टस** की दो जातियों—**यु० पोलिब्रैक्टिया** (बहुनिपत्री युकेलिप्टस) और **यु० स्नेरियाफोलिया** (संकीर्णपत्र युकेलिप्टस) की। ये दोनों जातियाँ सामान्य युकेलिप्टस की तुलना में दुगुना तेल देती हैं और अपने मूलदेश आस्ट्रेलिया में युकेलिप्टस तेल को व्यावसायिक स्रोत हैं।

आरारोट वृक्ष (केन्ना एडुलिस)—जिसकी मुटियाई जड़ों (आकन्दों) से बच्चों और कमजोरों का भोजन प्राप्त होता है—वह भी अन्वेषण के लिए इस शाखा द्वारा ग्रहीत है। सफल हो जाने पर हमें यह उपयोगी खाद्य बिना विदेशी मुद्रा खर्च किये प्राप्त हो जाया करेगा।

औषधियों के अतिरिक्त सुगन्ध व्यवसाय के लिए अत्यधिक महत्वपूर्ण उत्पत (सुगन्ध) तेल उत्पादक पौधों की कृषि पर स्वभावतः यह शाखा ध्यान देती चली आई है। सुगन्ध चाहे खाने-पहनने जितनी आवश्यक वस्तु न हो फिर भी कोई अभागा व्यक्ति ही होगा जो सुगन्धों को किसी-न-किसी रूप में प्रयुक्त न करता हो। कम से कम साबुन-तेल से विद्वेष रखने वाला नगरों में तो कठिनता से ही मिलेगा। जितना जीवनस्तर ऊँचा उठेगा सुगन्धों को प्रधानता मिलती जाएगी। **हिबिस्कस एबल-मोस्कस** (एम्ब्रेट बीज), रोशा घास इत्यादि पर अनु-सन्धान चल रहा है। इसके अलावा इनके कृषि-कार्य में दिलचस्पी रखने वालों के लिए इस शाखा ने एक छोटी पुस्तिका तैयार की है जिसमें उन पादपों का वर्णन कृषि करने की विधि तथा अन्य जानकारी दी गई है जिन्हें भारत में उगाना सम्भव और वांछनीय दोनों है।

और बेंत का उपस्कर (फर्नीचर) आपको अवश्य ही भाता होगा। विशेषकर इसलिए कि यह मजबूत होने पर भी हल्का होता है। कुर्सियां, बनवाने के लिए साइकिलों तथा तथा अन्य प्रकार की टोकरियाँ बनाने के लिए बेंत, और साथ-साथ बाँस भी आप भूल जाएँ असम्भव है। यहाँ भी आपकी सेवा गौण वनोपज शाखा काफी सीमा तक करती है। बेंत के प्रदाय के लिए में आपको कठिनता अवश्य अनुभव होने लगी होगी। मलय देश की उत्तम बेंत को भारत में उपजाने तथा भारतीय बेंत के गुणों को उच्च कोटि का बनाने के लिए यह शाखा अनुसन्धान कर रही है और निकट भविष्य में अपने अन्वेषणों का सार प्रस्तुत कर देगी। भारत की जरूरतें पूरा करने के अतिरिक्त इनसे विदेशी मुद्रा भी उपार्जित की जा सकेगी।

ग्राम-नगर के चर्मकारों को भी इसमें दृष्टि से ओझल नहीं किया किन्तु चर्म-संस्कार (चमड़ा कमाने) के विषय में अनुसन्धान कार्य तो केन्द्रीय चर्म अनुसन्धान संस्थान द्वारा किया जाता है। गौण वनोपज शाखा

चमड़ा कमाने के वानस्पतिक पदार्थ (शल्कन द्रव्यों) के बारे में अन्वेषण करती है। ऐसे पदार्थों के बारे में जानकारी संकलित करके इस शाखा ने एक बड़ी पुस्तक प्रकाशित की है जिसमें अब तक का अनुसन्धान समाविष्ट कर लिया गया है। और भी अनेक पादप जातियों की कृषि यहाँ कराई जा रही है और यहाँ के अभिलेख अनुभाग में लगभग सभी महत्वपूर्ण पादप जातियों के विषय में अद्यावधि सूचना उपलब्ध है क्योंकि उसमें निरन्तर अभिवृद्धि की जाती रहती है।

चित्र १

प्रकाशन

मेरे मित्र गौण वनोपज शाखा से प्रभावित से दिखाई पड़ रहे थे किन्तु उनका तर्कशील मस्तिष्क न जाने क्या सोच रहा था। कहने लगे कि यह सारा अनुसन्धान अंग्रेजी भाषा के माध्यम से ही तो प्रकाशित हुआ होगा। देश की सामान्य जनता इससे अनभिज्ञ ही होगी किन्तु मेरे पास इनका उत्तर भी प्रस्तुत था।

'श्रीमान जी, गौण वनोपज शाखा ने समय को पहिचान कर हिन्दी में भी अपने कार्य को प्रस्तुत करना आरम्भ कर दिया है। उदाहरणार्थ, इसने सहायक खाद्य के लिए प्रयास वन वृक्ष जातियाँ, सर्पगन्धा—विस्तृत परिचय, प्रवर्धन विधियाँ और जड़ों के उत्पादन एवं एल्कलायड पर उनका प्रभाव, तथा कुटीर उद्योग आधार **ओसिमय किलीमन्दस्चेरिकम** (कपूर-तुलसी) से कपूर का आसवन' नामक पुस्तिकाएँ हिन्दी में भी प्रकाशित की है। और मजे की बात यह है कि इसने हिन्दी को संक्षेप मात्र की अधिकारी नहीं समझा—उसे अंग्रेजी के समकक्ष स्थान देकर इस विषय के अपने अंग्रेजी प्रकाशन को पूरे का पूरा हिन्दी में भी प्रकाशित किया है। एक अन्य पुस्तक 'भारतवर्ष और बर्मा के वानस्पतिक चर्म संस्कार पदार्थ'' छप चुकी है और शीघ्र ही वह पुस्तक भी निकलने वाली है। आगे भी इसकी यही योजना है कि हिन्दी और अंग्रेजी-दोनों शक्तिशाली माध्यमों का उपयोग यह शाखा करती रहेगी। यह भी स्वीकार कर लिया जाए कि सभी अनुसन्धान हिन्दी में उपलब्ध कर लिया जाए कि सभी अनुसन्धान हिन्दी में उपलब्ध नहीं—लोग गौण वनोपजों के बारे में जो भी जानकारी चाहें एक छोटा सा कार्ड लिखकर प्राप्त कर सकते हैं। हिन्दी पत्र का उत्तर हिन्दी में ही दिया जाएगा और यह ऐसी सुविधा है कि जो रही-सही कमी

को भी पूरा कर देगी। फिर भी यदि किसी विशेष प्रकार के साहित्य की माँग की जाए तो उसे तैयार कराया जा सकता है।

अन्तर्राष्ट्रीय महत्व और ख्याति अर्जित करने वाला इसका कार्य विषैले पौधों तथा सौरभिक पौधों के बारे में है। वह दोनों ग्रन्थराज अंग्रेजी में हैं जिनके नाम हैं **पायजनस प्लांट्स आफ इण्डिया** तथा **ऐरोमेटिक प्लांट्स** अफ इण्डिया—इनका गुणानुवाद करना ही मेरे लिए कठिन है। इतना कहना अलम होगा कि अपने अपने विषय में दोनों विश्वकोश का स्थान रखते हैं। सौरभिक पौधों पर एक छोटी पुस्तिका भी प्रकाशित की गई है और एक पुस्तिका खाद्योपयोगी जंगली पौधों के बारे में छपने को भेजी जा चुकी है।

संग्रहालय

गौण वनोपज शाखा के कार्य पर विहंगम दृष्टि मात्र डालकर इसका कार्य देखने वालों के लिए इसका **संग्रहालय** बना हुआ है। अरे सचमुच, मेरे मित्र उछल पड़े। चलो मुझे वहीं दिखाओ। इस लम्बे-चौड़े सैद्धान्तिक ज्ञान की जानकारी बिना चर्मचक्षुओं से भलीभाँति देखे भला कैसे समा पाएगी? मैं अपने मित्र को संग्रहालय में ले गया।

तो देखिए, इसे तो आप पहिचानते ही होंगे, यह है हाथीदाँत। गौण वनोपज में कदाचित् सर्वाधिक मूल्यवान् और प्राचीनतम समय से इसी प्रकार प्रतिष्ठित। अब मैं आपको लीसा (या रेजिन) कक्ष में ले जा रहा हूँ। देखिए यहाँ चीड़ प्रजाति की विभिन्न जातियों पर लीसा निकालने से लिए लगाई गई काट और रेजिन एकत्र करने के लिए प्रयुक्त पात्रों को दिखाया गया है। जब काफी माल इकट्ठा हो जाता है तो इसे इस डोल में रखा जाता है। तारपीन और रेजिन भारतीय वनों का विशिष्ट उद्योग बन गया है—पर मूलतः वह है गौण वनोपज ही। इसी प्रदर्शमंजूषा में आप "पेंसिल" उद्योग का प्रतिनिधित्व पा रहे हैं न, यह भी इसी शाखा के कार्य-क्षेत्र में आता है। और वहाँ आप "बाँसों" को देख रहे हैं। मोटे बाँस (**डेंड्रोकैलेमस जायजेंटिया**) से लेकर मूली बांस (**मेलोकैन्ना बैम्बूस्वायडिस**) तक छोटी-बड़ी किस्मों के सभी बाँसों का प्रतिनिधित्व यहाँ पर किया गया है। गौण वनोपजों का सम्राट है बांस और इसका प्रधान उपयोग है आजकल कागज़ बनाने में। यह दो तीन अल्मारियाँ जो आप देख रहे हैं इनमें भिन्न-भिन्न तरह श्वेतित, अश्वेतित कागज, गत्ता, दफ्ता, फलक इत्यादि को दिखाया गया है। बनाया तो इन्हें विभिन्न जातियों की लकड़ी या घास आदि से है किन्तु वे सब इस दृष्टि से गौण वनोपज ही हैं क्योंकि उपयोग प्रकाष्ठ की भाँति न हो कर अन्य प्रकार से किया गया है।

बाँस से और इसके साथ ही निकट सम्बन्ध रखने वाली बेंत से अनेक वस्तुएँ बनाई जाती हैं जिन्हें यहां पर दिखाया गया है। टोकरियाँ, टोप, हैंडबैग, बटवे देखिए, और ये छड़ियां, लाठियां आदि भी और जिन्होंने इनको इस संग्रहालय के लिए उपहार दिया है उनमें कुछ तो उल्लेखनीय तक हैं। देखिये, ये टोकरियाँ भूटान की हैं। इन्हें भूटान महाराज एवं महारानी ने उपहार में दिया था, जब वे हमारे संस्थान को देखने के लिए पधारे थे।

इन मंजूषाओं को आप छोड़े जा रहे हैं—यह एक महत्वपूर्ण अंग है यानी रेशे और ऊर्ण—इनसे बनी हुई रस्सियों, चटाइयों, थैलों को देखिए और रेशे भी—यह पटसन है, सन भी यहाँ मौजूद है और अनेकों अन्य प्रकार के रेशे भी हैं। कपड़ों और उनके साथ रखे हुए रेशों को भी देखिए।

यह पूरा का पूरा शो-केस 'माचिस' को दिखाता है और उस साथ वाले में जान्तव उत्पादों को दिखाया है। लाख को आप जानते ही होंगे और उनसे बनी अनेकों चीजों को चाहे आप न पहचानते हों, ग्रामोफोन के रिकार्ड (तवे), गले की माला आदि से तो अवश्य ही प्रभावित होंगे। इनके पास ही रखे मूंज, बरू, हाथी घास, कोरई, कांस और सरवे को देखते चलिए।

खाद्य का संकट हो तो जंगलों से मिलने वाले अनेक पदार्थ बीज, फूल, फल आदि का उपयोग किया जा सकता है। ऐसे गौणोपज को इस खण्ड में रखाया गया है जिसे खाद्योपयोगी पदार्थ नाम दिया गया है।

अपनी रुचि तो आप ही जानें, मुझे तो यहाँ रखे काजू और जामुन प्रिय हैं। बाँस के बीजों को भी दुष्काल में खाया जाता है, सेमल के फूल (डोडों) की सब्जी आपने खाई ही होगी, महुआ—इसे बनी सुरा को पीना आदिवासी प्रधान मंत्री बनने पर भी शायद ही छोड़ पाए, कुम्भी, लसोड़ा, मौलश्री, बेर, कचनार की फलियाँ—सभी को खाया जा सकता है। फ़ाइकस (अंजीर) प्रजाति के गूलर, पिलखन, पाकड़—पीपल फलों को भी खाया जाता रहा है। तो देखिए हमारी गौण वनोपज से कितना लाभ उठाया जा सकता है।

वह पूरा खण्ड कागज और कागज गोर्द (लुगदी) के प्रदर्शन के लिए तथा यह पूरा चन्दन काष्ठ और इससे बने उत्पादों के लिए सुरक्षित है। नीचे उन वस्तुओं को दिखाया गया है जिन्हें मालाएँ बनाने के लिए उपयोग किया जाता है,—रुद्राक्ष, तुलसी, पुंत्रजीव, अलसी के बीज तथा बांसा, कदम्ब, ढाक, बेंत की लकड़ी से बनी मालाओं को भी दिखाया गया है और यह बेंत से बना टोप, ताड़पत्र पर लिखी पुस्तक, नारियल से बना छोटा एकतारा और यह भोजपत्र, जिस पर पुराने जमाने में उत्तर भारत में पुस्तकें लिखी जाती थीं। यह भोजपत्र कागज का पूर्वज है। इस गुंजा को तो आप अवश्य पहिचानते होंगे, और यह साधुओं का कमण्डलु, ये चीड़ की पत्तियाँ, लकड़ी की खड़ाऊँ। ये सुन्दर खिलौने, डिबियाँ, पलंगों के पाए आदि लाक्षी-रंगों के काम को प्रदर्शित करते हैं। इनकी चर्चा क्या की जाए। राजस्थान की गुड़िया, मेरा विचार है, आपके मन में बसी रहेगी, ये शतरंज के मौहरे, ये चौपड़ की सार, ये बटन, गौण वनोपज का क्षेत्र देखिए और चमत्कृत होइए। आसवन करके प्राप्त होने वाले पदार्थ तेल, परिरक्षी, कोयला, कीटनाशी पदार्थ, गोंद (निर्यास), उद्यास, विशिष्ट, प्रथम और द्वितीय-तीन श्रेणियों का कत्था दिखाया गया है। बाजार में जो कत्था आप देखते हैं वह निम्नतम श्रेणी का होता है। और तेल-बीज विशेषकर जंगलों से मिलने वाले और वृक्षों की छाल या पत्तियाँ जो चर्म-संस्कार के लिए काम आते हैं या सूती, ऊनी या रेशमी कपड़ा रंगने के लिए उन्हें भी देखिए। और इस खण्ड में प्रदर्शित चमड़ों को देखिए। शल्कन द्रव्यों से संस्कार किये हुए चमड़े और अन्तिम पर सबसे अधिक महत्व का है—औषधि खण्ड। जंगलों से मिलने वाली औषधि इतनी अधिक हैं कि सबको रखना तो असम्भव ही समझिए - फिर भी कुछ को यहाँ प्रदर्शित किया गया है।

और हाँ, मसालों को भी न भूलिए—वे भी गौण वनोपज ही हैं और कुछ उपयोगी सौरभिक पौधों के बारे में, जिसमें मसाला उत्पादक पौधे भी आ जाते हैं, हिन्दी में एक छोटी पुस्तक निकट भविष्य में यहाँ से प्रकाशित की जाएगी।

अन्त में एक दुख की बात है कि अभी कुछ समय हुए इस शाखा ने अपने प्रभारिक व अनुभवी औद्भिदी-वेत्ता श्री रत्नलाल बधवार को खो दिया है जो दुर्भाग्यवश दिल का दौरा पड़ने से १६ जून १९६४ को दिवंगत हो गये। उनके रहते तो इस शाखा की शान ही और थी, अब वह किस तरह आपको दिखाई जा सकेगी।

सार संकलन

१. गैस के बने लैन्सों द्वारा प्रकाश-किरणों का मार्ग-दर्शन

लम्बी दूरियों में फैलाये गये पाइपों के मोड़ों तथा किनारों के आसपास प्रकाश-किरणों को केन्द्रित करने तथा उनका मार्ग-दर्शन करने के लिए अमेरिका में ऐसे लैन्सों की जाँच की जा रही है, जो काँच के बजाय गैस से तैयार किये जाते हैं। सम्भवतः एक क्रान्तिकारी नई संचार-व्यवस्था के अन्तर्गत अन्ततः, ऐसी प्रकाश-किरणों का उसी प्रकार भारी संख्या में सूचनाएँ भेजने के लिए प्रयोग किया जा सकेगा, जिस प्रकार टेलिफोन के तारों तथा केबिलों का ऐसे विद्युतीय संकेतों को भेजने में प्रयोग किया जाता है, जिनके द्वारा ध्वनि अथवा चित्र अथवा अन्य सूचनाएँ भेजी जाती हैं।

परीक्षणों से यह प्रकट होता है कि गैस के बने लैन्स इतना प्रकाश प्रतिबिम्बित अथवा ग्रहण नहीं करते हैं जितना ऐनकों के सामान्य लेन्स प्रतिबिम्बित अथवा ग्रहण करते हैं। परीक्षणों में प्रयोग में लायी जाने वाली प्रकाश-किरणें लेसर नामक उपकरण से आती हैं। यह उपकरण प्रकाश को शक्तिशाली और स्वच्छ कर उसे एक ऐसी सूक्ष्म एवं शक्तिशाली किरण के रूप में छोड़ता है, जो सामान्य प्रकाश की तरह इधर-उधर नहीं छितरती हैं।

परीक्षणों से यह प्रकट होता है कि गैस का बना एक लेन्स अथवा ऐसे बहुत से लेन्स, लेसर से निकलने वाली प्रकाश-किरण को किसी पाइप के केन्द्र के समीप एक मार्ग पर सीमित कर सकता है, चाहे उस पाइप के मोड़ कितने ही विकट क्यों न हों।

एक सीधे पाइप में, लेन्स का शक्तिशाली होना आवश्यक नहीं है, क्योंकि उसे केवल लेसर से निकलने वाली सूक्ष्म प्रकाश-किरण को फैलाना-मात्र है। वह प्रकाश-किरण सामान्यतः पाइप के मुड़े हुए भाग में भी सीधी चलेगी। इसलिए पाइप के आकार के अनुसार प्रकाश-किरण को प्रत्यावर्तित करने के लिए शक्तिशाली लेन्सों की आवश्यकता है।

ऐसे पाइपों में, प्रकाश-किरण को पाइप के किनारों से टकराने से रोकने के लिए गैस के लैन्स उसे केन्द्रित कर देता है और इस प्रकार वह पाइप केन्द्र में चली जाती है। इस कार्य की पूर्ति के लिए, पाइप को गैस से भर दिया जाता है, क्योंकि घनता में वृद्धि होने के साथ-साथ गैस की प्रत्यावर्तन शक्ति में भी वृद्धि होती जाती है, अतः भीतर की गैस पाइप के केन्द्र में ही अधिकाधिक केन्द्रीभूत होती जाती है। तब यह गैसयुक्त भाग एक चक्रक आयत के समान कार्य करता है। वह प्रकाश-किरण को पाइप के घुमाव की ओर मोड़ देता है। इस प्रसिद्ध वैज्ञानिक सिद्धान्त को दृष्टि में रख कर इस प्रणाली का विकास किया गया है कि प्रकाश-किरणें उन भागों की ओर मुड़ जाती हैं, जिनमें मोड़ने की बहुत अधिक शक्ति होती है। पाइप का मोड़ जितना विकट होगा, उतनी ही अधिक तीव्रता से प्रकाश-किरणें मुड़ जायेंगी, ताकि वे पाइप के किनारे से न टकरा सकें। ऐसे पाइपों का, जो भूमि के स्वाभाविक घुमाव के अनुसार बिछाये जायें, दूरवर्ती स्थानों के मध्य संचार-व्यवस्था करने के लिए प्रयोग किया जा सकता है।

आजकल, जिन दो प्रकार के गैस-लैन्सों के सम्बन्ध में परीक्षण किये जा रहे हैं, वे ड्वाइट डब्ल्यू० वेरेमैन

तथा एण्ड्र्यू आर० हटसन द्वारा तैयार किये गये हैं। ये दोनों वैज्ञानिक न्यूयार्क स्थित बैल टेलिफोन लेबोरेटरीज़ में कार्य कर रहे हैं।

एक प्रकार के लेन्स में गैस से भरे पाइप के केन्द्र में एक चक्राकार कुण्डली, कमानी (हेलिक्स) लगी है। वह कमानी पाइप की अपेक्षा कुछ अधिक गर्म रखी जाती है। वह गैस को गर्म कर देती है और उससे ऐसी तरंगें उत्पन्न हो जाती हैं, जो गैस को पाइप के केन्द्र की ओर भेजती रहती हैं, और इस प्रकार केन्द्र में प्रत्यावर्तन की शक्ति बढ़ जाती है। इन परीक्षणों में सफलतापूर्वक प्रयोग में लायी गयी गैसों में वायु और कार्बन डायअोक्साइड, फ्रेओन और हाईड्रो-कार्बन्स के मिश्रण सम्मिलित हैं।

दूसरी प्रकार के लेन्स में, भिन्न प्रत्यावर्तन शक्ति वाली दो गैसें विपरीत दशाओं से निरन्तर एक "मिक्सिग चैम्बर" की ओर बहती रहती हैं। वे गैसें आपस में मिलती हैं, एक दूसरे में घुल जाती हैं और फिर मिक्सिग चैम्बर से निकाल दी जाती हैं। प्रकाश-किरण मिक्सिंग चैम्बर में से गुजरती हैं और इस भाग में केन्द्रित हो जाती हैं।

२. लघु उल्काओं सम्बन्धी रहस्य के उद्घाटन की सम्भावना

पृथ्वी पर गिरी हुई जो लघु उल्काएँ पायी गयी हैं, उनमें से आधी से अधिक किसी एक ही ब्रह्माण्डीय पिण्ड से उद्भूत प्रतीत होती हैं। यह पिण्ड सम्भवतः एक छोटा तारा था, जो लगभग ४० करोड़ वर्ष पूर्व भयंकर टक्कर से चकनाचूर होकर बिखर गया था।

इस महत्वपूर्ण घटना का उल्लेख शिकागो विश्वविद्यालय में रसायन शास्त्र एवं भू-भौतिक विज्ञान के प्रोफेसर, एडवर्ड एण्डर्स, ने वाशिंगटन में आयोजित अमेरिका की राष्ट्रीय विज्ञान अकादमी के १११वें वार्षिक अधिवेशन में पढ़े गये अपने शोध-निबन्ध में किया।

प्रोफेसर एण्डर्स ने कहा है कि "देखे जा सकने वाले ३०,००० या उससे कुछ अधिक तारों में से केवल एक ही तारा पृथ्वी पर गिरने वाली आधी से अधिक लघु उल्काओं का उद्गम-स्थल क्यों है ?

उन्होंने अपने विश्लेषण को 'हाईपरस्थीन क्रोण्ड्राइट्स' नामक पथरीली लघु-उल्काओं पर आधारित किया है। सन् १८०० के बाद, जिन ६०० से अधिक लघु-उल्काओं को पृथ्वी पर गिरते हुए देखा गया था, उनमें से आधे से अधिक 'हाईपरस्थीन कोण्ड्राइट' किस्म की उल्काएँ हैं।

कुछ लोगों का विचार यह है कि ये पथरीली उल्काएँ सम्भवतः चन्द्रमा पर से आई हैं किन्तु प्रोफेसर एण्डर्स ने इस मत का खण्डन किया है। उनका विश्वास है कि लघु-उल्काएँ जिस दिशाओं और जिन वेग से पृथ्वी पर गिरती हैं, उन्हें देखते हुए यह कहना असंगत प्रतीत होता है कि वे चन्द्रमा पर से आई हैं। उनका यह भी कहना है कि इन उल्काओं का तारों की उस पट्टी से निकल कर आना भी सम्भव नहीं प्रतीत होता, जो मंगल ग्रह और बृहस्पति ग्रह के बीच पड़ती है। इस तारावली के तारों की अधिकांश टकराहटें इतनी जोरदार नहीं हो सकतीं कि उनके टुकड़े (उल्काएँ) पृथ्वी के मार्ग पर छिटक कर जा सकें।

इस असंगति का जो अत्यन्त सरल समाधान एण्डर्स को प्रतीत होता है वह यह है कि ३४ तारे ऐसे हैं जो मंगल ग्रह की कक्षा को पार करते हैं। ये तारें कालांतर से मंगल और पृथ्वी की कक्षाओं के बीच आते रहते हैं, जिससे वे पृथ्वी की ओर आने वाली उल्काओं के लिए आदर्श 'प्रक्षेपण-मंच' बन जाते हैं।

प्रोफेसर एण्डर्स का कहना है : "अन्य तारों की भाँति कभी-कभी वे तारों की मुख्य पट्टी में पड़ने वाले तारों से टकरा सकते हैं। इस टक्कर से उनके जो टुकड़े छिटकेंगे, उनमें से अधिकांश का वेग बहुत कम होगा, और इसलिए वे तारों की मुख्य पट्टी वाली मंगल-कक्षा में ही पड़े रह जायेंगे।"

उसके बाद मंगल के गुरुत्वाकर्षण के कारण होने वाली खींच तान के फलस्वरूप उनमें से कुछ टुकड़े पृथ्वी को पार करने वाली कक्षाओं में पहुँच जायेंगे। इन

कक्षाओं में जाने पर वे पृथ्वी से टकरा जायेंगे। इस कारण को, कि 'हाई-परस्थीन कांण्ड्राइट्स' नामक लघु-उल्काएँ एक ही तारे से निस्सृत हैं, पुष्ट करने वाले प्रमाण लघु-उल्काओं के इतिहास की तीन घटनाओं के रेडियो-सक्रिय तिथि-निर्धारण द्वारा प्राप्त किये गये हैं।

प्रोफेसर एण्डर्स का कहना है : "लघु-उल्काओं के इतिहास के सम्बन्ध में सबसे अधिक मान्य तथ्यों में से एक वह तिथि है, जब उन्होंने ठोस रूप धारण किया। यूरेनियम-२३८, रूबिडियम-८७ और रेनियम-१८७ के रेडियो-सक्रिय क्षरण पर आधारित तीन स्वतंत्र विधियों ने निर्विवाद रूप से यह दिखला दिया है कि लघु-उल्काओं को तीव्र रूप से पिघलने की एक संक्षिप्त अवधि से गुजरना पड़ा, जो लगभग ४०० करोड़ से लेकर ५०० करोड़ वर्ष पूर्व समाप्त हुई।"

ऐसा विश्वास किया जाता है कि यह वही अवधि थी जब हमारा सौर-मण्डल निर्मित हुआ।

उल्काओं के सम्बन्ध में दूसरी तिथि, जो निर्धारित हो चुकी है, वह है जब लघु-उल्काएँ इतनी ठण्डी हो गयीं कि वे रेडियो-सक्रिय क्षरण की प्रक्रिया के दौरान उत्पन्न गैसों (हिलियम-४ और आरगन-४०) को बनाये रखने में समर्थ हो गईं। इनमें से अनेक पथरीली उल्काएँ (कोण्ड्राइट्स) इतना ठोस हो गयी थीं कि वे ४०० करोड़ वर्ष से भी पूर्व गैसों को अपने-आप में बनाये रख सकती थीं।

तृतीय निर्धारित तिथियाँ वे हैं, जब लघु-उल्काओं ने ऐसे टुकड़ों का रूप धारण कर लिया, जिनका व्यास, सम्भवतः टकराहटों के कारण, कुछ ही गज रह गया। जब तक ये टुकड़े मूल तारे के भीतर रहे, तब तक तो वे ब्रह्माण्ड किरणों से सुरक्षित रहे किन्तु जब उन टुकड़ों पर ब्रह्माण्ड विकिरण की बौछार पड़ने लगी, तो उनमें सन्निविष्ट अणुओं में न्यष्टिक परिवर्तन होने लगे। इस प्रकार के परिवर्तनों की संख्या द्वारा टकराहट की तिथि का निर्धारण करना सम्भव हो जाता है।

प्रोफेसर एण्डर्स का कहना है : "जहाँ तक ब्रह्माण्ड किरणों की आयु का प्रश्न है, उसके सम्बन्ध में एक पुराना विवाद लगभग सुलझता दिखलायी पड़ रहा है। समस्त नवीनतम आँकड़ों से यह संकेत मिलता है कि अधिकांश लघु-उल्काएँ अगणित टकराहटों के बजाय कुछ ही बड़ी टकराहटों से उत्पन्न हुई थीं।"

इन आँकड़ों के अनुसार, 'हाईपरस्थीन' नामक पथरीली उल्काओं के प्रमुख विखण्डन लगभग २५,००० वर्ष पूर्व, ३० लाख वर्ष पूर्व, १ करोड़ वर्ष पूर्व और २॥ करोड़ वर्ष पूर्व हुए। प्रोफेसर एण्डर्स के अनुसार, हीलियम-४ और आर्गन-४० नामक गैसों को बनाये रखने सम्बन्धी अवधियों की व्याख्या करने में हाल में हुई कुछ प्रगतियों से यह संकेत मिलता है कि 'हाईपरस्थीन क्रोण्ड्राइट' नामक उल्काएँ एक ही मूल तारे से उद्भूत हैं, जो लगभग ४० करोड़ वर्ष पूर्व पुनः तप्त हुआ था। स्पष्टतः पुनः तप्तीकरण की यह क्रिया एक विशेष रूप से उग्र टक्कर की परिणाम थी। ऐसा प्रतीत होता है कि विखण्डन की अन्य चार घटनाएँ कम तीव्र टक्करों वाली थीं और उनके सम्बन्ध में पुनः तप्तीकरण उतना तीव्र नहीं था।

लघु-उल्काओं के उद्भव और इतिहास सम्बन्धी रहस्य ने शताब्दियों से वैज्ञानिकों का ध्यान आकृष्ट कर रखा है। प्रोफेसर एण्डर्स के निष्कर्ष अत्यन्त तर्कपूर्ण हैं, फिर भी सभी वैज्ञानिक उन्हें अंतिम नहीं मानते। कैलिफोर्निया विश्वविद्यालय के नोबेल पुरस्कार विजेता, प्रोफेसर हैरोल्ड सी० यूरी तथा अन्य वैज्ञानिकों का विश्वास है कि पथरीली उल्काएँ सम्भवतः टकराहट के फलस्वरूप चन्द्रमा से प्रादुर्भूत हुईं, जिनमें से कुछ पृथ्वी की ओर आ गयीं।

आशा है कि अमेरिका के दक्षिण-पश्चिमी क्षेत्र में ६४ कैमरों के एक संजाल की स्थापना हो जाने पर यह रहस्य उद्घाटित हो जायगा। यह कैमरा-योजना स्मिथसोनियम एस्ट्रोफिजिकल ऑब्जर्वेटरी की ओर से डा० रिचर्ड ई० कैक्फौस्की के निर्देशन में कार्यान्वित हो रही है। इसका उद्देश्य लघु-उल्काओं के चमकते मार्ग का चित्र खींचना है। यद्यपि एक वर्ष में उल्कापात के केवल एक ही अच्छे चित्र के खींचे जा सकने की आशा है, फिर भी इन चित्रों की सहायता से वैज्ञानिक पृथ्वी के वायुमण्डल में लघु-उल्काओं के मार्ग का और उनके द्वारा उनके मूलस्रोत का निर्धारण करने में समर्थ होंगे।

विज्ञान वार्ता

१. अदृश्य चुम्बकीय क्षेत्र का मानचित्र

अमेरिका में एक नया दूरवीक्षण यन्त्र तैयार किया गया है, जो विशेष रूप से गहरे अन्तरिक्ष में चुम्बकीय क्षेत्र का मानचित्र तैयार करने के लिए बनाया गया है। इस यन्त्र का प्रयोग उस विशाल चुम्बकीय क्षेत्र का मानचित्र तैयार करने के लिए होगा, जो आकाश गंगा के, जिसमें सूर्य, पृथ्वी और अन्य ग्रह स्थित हैं, करोड़ों नक्षत्रों को चारों ओर से घेरे हुए है।

२४ इंच व्यास वाला यह प्रतिबिम्बक दूरवीक्षण यन्त्र विलियम्स बे, विस्कौंसिन, में शिकागो विश्वविद्यालय द्वारा संचालित यर्किस वेधशाला में स्थापित है। इस नये यन्त्र की आकल्पना वेधशाला के निदेशक, प्रोफेसर विलियम ए० हिल्टनर ने तैयार की है।

यद्यपि चुम्बकीय क्षेत्र स्वयं अदृश्य है, फिर भी यह क्षेत्र में फंसी ब्रह्माण्ड धूलि से हो कर गुजरने वाले नक्षत्र-प्रकाश पर अपनी छाप डालता है। इन धूलि-कणों के कारण बिखरी प्रकाश-रश्मियां केन्द्रभूत हो जाती हैं, जिससे प्रकाश-लहरियां एक ही दिशा में स्पन्दित होती हैं। चुम्बकीय क्षेत्र से होकर गुजर जाने के बाद नक्षत्र-प्रकाश की केन्द्रस्थता का विश्लेषण करके खगोल-वैज्ञानिक चुम्बकीय क्षेत्र की गहराई और गहनता का मानचित्र तैयार कर सकते हैं।

नये दूरवीक्षण यन्त्र में एक पट्टी लगी है, जो इसके दृश्य-क्षेत्र को संकुचित कर देती है, और इस प्रकार पृष्ठभागीय प्रकाश को, जो पर्यवेक्षित नक्षत्र से प्रादुर्भूत नहीं होता, पृथक कर देती है। नक्षत्र-प्रकाश को एक छेदित घन-क्षेत्र (प्रिज्म) से गुजारा जाता है, जो रश्मि को समानान्तर और लम्बवत् खण्डों में विभक्त कर देता है। इन्हें पृथक-पृथक फोटो-इलेक्ट्रिक सेलों पर प्रक्षिप्त किया जाता है, जो प्रत्येक खण्ड की शक्ति के अनुसार, इलेक्ट्रॉन उन्मुक्त करते हैं। इलेक्ट्रॉनों की गणना करके प्रत्येक खण्ड का गणितीय मूल्य निर्धारित किया जा सकता है। इस प्रकार निर्धारित मूल्यों का अन्तर केन्द्रस्थता की मात्रा का द्योतक होता है।

यन्त्र की एक विशेषता यह है कि इसे दृष्टि की धुरी के चारों ओर ३० अंश तक घुमाया जा सकता है। इससे दूरवीक्षण-यन्त्र में विद्यमान दोष के कारण उत्पन्न त्रुटि बहुत ही कम हो जाती है।

२. विद्युतीय संकेत द्वार रक्तचाप में कमी

अनेक वर्षों से 'पेसमेकर' नामक उपकरण का सफलता के साथ प्रयोग होता आ रहा है। पेसमेकर बैटरी द्वारा संचालित एक उपकरण है, जो उन रोगियों की हृदय की धड़कनों को नियमित करने के लिए उनके शरीर में लगा दिया जाता है, और तार द्वारा उनके हृदय से जोड़ दिया जाता है, जिनके हृदय की प्राकृतिक धड़कन-प्रणाली विकारग्रस्त हो चुकी होती है। किन्तु, अब अमेरिका के वैज्ञानिकों ने उसी सिद्धान्त पर एक अन्य उपकरण तैयार किया है, जो रक्तचाप को नियन्त्रित कर सकता है। इस नये उपकरण का नाम 'बैरोपेसर' है।

रोचेस्टर, न्यूयार्क, के रोचेस्टर विश्वविद्यालय के डा० सेमूर श्वार्ज़ ने हाल में सनफ्रांसिस्को में आयोजित अमेरिकन मेडिकल एसोसियेशन के सम्मेलन में यह सूचना दी कि उन्होंने इस प्रकार के उपकरण दो रोगियों के शरीर में स्थापित किये हैं, और उनसे रक्तचाप को कम करने में उत्साहप्रद सफलता प्राप्त हुई है। उपकरण में

लगे इलेक्ट्रोडों को गले की मुख्य नाड़ी से, जो रक्तचाप को प्रभावित करती है, सम्बद्ध कर दिया जाता है। उपकरण से विद्युतीय संकेत सम्प्रेषित होते हैं, और उनके सम्प्रेषण का समय यन्त्र स्थापित होने से पहले आवश्यकतानुसार निर्धारित कर लिया जाता है।

उसी सम्मेलन में मिनियापोलिस, मिन्नेसोटा, के मिन्नेसोटा विश्वविद्यालय के डा० आइडिन बिलगुटे ने एक अन्य प्रकार के पेसर की डिजाइन की घोषणा की, जिसमें बैटरी को बार-बार बदलना नहीं पड़ता और न ही उसे फिर चार्ज करना पड़ता है। इस उपकरण को तार द्वारा हृदय से सम्बद्ध कर दिया जाता है, जहां से वह शरीर द्वारा उत्पन्न बिजली की करेण्टों के स्पन्दन को गले के संकेतों के नियन्त्रण के लिए पकड़ता है। किन्तु अभी तक इस यन्त्र का परीक्षण मनुष्यों पर नहीं हुआ है।

३. वाचाल टाइपराइटर द्वारा शिक्षा

बिजली से चलने वाला एक टाइपराइटर, जो बात भी कर सकता है, अपने प्रयोग करने वालों को इस बात के लिए बाध्य कर देता है कि वे कई भाषाओं में किसी में भी सही शब्द-विन्यास करें और अपने वाक्यों को शुद्ध बनायें। इसे अमेरिका में बच्चों के शिक्षण के के लिए तैयार किया गया है। इस समय इसका परीक्षण हो रहा है। शिक्षक एक निकटवर्ती नियन्त्रण-स्थल पर बैठा रहता है, जहाँ से वह छात्रों को उचित निर्देश दे सकता है।

जब टाइपराइटर की किसी कुंजी को दबाया जाता है, तो उससे सम्बद्ध अक्षर या अंक साधारण टाइपराइटरों की तरह ही कागज पर छप जाता है। किन्तु छपने के साथ-साथ इसमें रिकार्ड की हुई ध्वनि भी उच्चरित हो जाती है।

टाइपराइटर को इस प्रकार सेट किया जा सकता है, कि वह किसी शब्द के सभी अक्षरों को क्रमबद्ध ढंग पर टाइप कर सके और उससे उस शब्द का सही उच्चारण भी ध्वनित हो सके। यह मशीन किसी अक्षर को तभी मुद्रित करती है, जब उसकी चाभी को शब्द के अन्तर्गत उसके क्रम के अनुसार ही दबाया जाता है। अक्षरों के पूर्ण हो जाने पर पूरा शब्द अपने आप ध्वनित हो जाता है। जब टाइपराइटर को वाक्यों के लिए सेट किया जाता है, तो जब तक क्रमबद्ध ढंग पर ही चाभी को न दबाया जाये तब तक वह उठती ही नहीं।

यह ३ से १२ वर्ष तक की आयु के बालकों के लिए बनाया गया है। यह अक्षर, शब्द और वाक्यों का निर्माण सीखने वाले छोटी कक्षाओं के बालकों के लिए उपयोगी है। इसके द्वारा अनेक भाषाओं का शिक्षण दिया जा सकता है। यह अंधों की शिक्षा के लिए उपयोगी है। इसे पिट्सबर्ग, पैन्सिल्वेनिया, की वेस्टिंग हाउस रिसर्च लैबोरेटरीज़ ने तैयार किया है। पिट्सबर्ग विश्वविद्यालय की पठन-प्रयोगशालाओं में इसका परीक्षण हो रहा है।

४. कृत्रिम विधि द्वारा रेडियोसक्रिय क्षरण में विलम्ब

वैज्ञानिकों ने रेडियोसक्रिय क्षरण की दर को 'प्रकृति का अपरिवर्त्य नियम' मान रखा है। उसे वे प्राचीन चट्टानों की क्षरणशील यूरेनियम द्वारा उनकी आयु का अथवा कार्बन-१४ के क्षरण द्वारा किसी प्राचीन समाधि के निर्माण-काल का निर्धारण करने के लिए एक विश्वसनीय 'घड़ी' समझते हैं। उस सिद्धान्त के अनुसार, प्रकृति के सभी अपरिवर्त्य तत्वों की भांति, रेडियोसक्रिय क्षरण भी, ताप, शीत, चाप, चुम्बकीय आकर्षण अथवा अन्य साधनों द्वारा प्रभावित नहीं हो सकता। किन्तु हाल में, अमेरिकी वैज्ञानिकों ने सिद्ध कर दिया है कि 'आयरन-५७' के रेडियोसक्रिय क्षरण को अंशतः परिवर्तित किया जा सकता है। तत्सम्बन्धी प्रयोग में, पिट्सबर्ग, पैन्सिल्वेनिया, की वेस्टिंग हाउस रिसर्च लैबोरेटरीज के वैज्ञानिकों ने 'आयरन-५७' प्रयुक्त किया, जो रेडियोसक्रिय और अरेडियोसक्रिय, दोनों ही अवस्थाओं में पाया जाता है। इन अवस्थाओं को क्रमशः सक्रिय और निष्क्रिय अवस्था भी कहते हैं। सक्रिय अणुओं से गामा किरणों का निस्सरण होता

है, और ऐसा होने पर वे क्षरित होकर 'निष्क्रिय' अवस्था में पहुँच जाते हैं।

वैज्ञानिकों ने सक्रिय अणुओं के चारों ओर निष्क्रिय अणुओं का आवरण बिछा दिया। फलस्वरूप, सक्रिय अणुओं से प्रादुर्भूत कुछ गामा रश्मियां निष्क्रिय अणुओं द्वारा आत्मसात् कर ली गयीं। ऐसा करने पर निष्क्रिय अणु पुनः सक्रिय हो उठे। इसके बाद, जब वे पुनः क्षरित हुए, तब उनकी गामा-रश्मियां पूर्ववर्ती अणुओं में वापिस लौट गयीं और वे एक बार फिर निष्क्रिय हो उठे।

उसके बाद, इन अणुओं को क्षरण प्रक्रिया को दुहराना पड़ा, जिससे सक्रिय अणुओं की मूल टोली की औसत रेडियोसक्रिय आयु लगभग ३ प्रतिशत बढ़ गयी -- जो 'प्रकृति के एक अटल नियम' का आश्चर्य-जनक उल्लंघन था।

यद्यपि इस सफलता का महत्व केवल सैद्धान्तिक है, और निकट भविष्य में भी इसके किसी व्यावहारिक उपयोग की सम्भावना नहीं दिखलायी पड़ती, फिर भी वैज्ञानिकों का कहना है कि इससे बिजली को चालू और बन्द करने की सरल विधि की तरह ही एक ऐसी विधि खोजने में सहायता मिल सकती है, जिससे स्वेच्छानुसार रेडियोसक्रियता को चालू या बन्द किया जा सके।

५. विद्युदाणविक प्रणाली का नवीन उपयोग

अमेरिका में एक तीव्र गति वाली विद्युदाणविक प्रणाली विकसित हुई है, जो प्रति घण्टे ६० मील तक की गति से दौड़ती हुई माल और यात्री ढोने वाली कारों को पहचान लेती है।

यह प्रणाली प्रत्येक गुजरती हुई कार से सम्बद्ध लेबुलों को पढ़ लेती है और उस सूचना को कई मील दूर स्थित मुद्रक तक सम्प्रेषित कर देती है। लेबुलों में कार की क्रम-संख्या निर्दिष्ट हो सकती है और उसके वजन तथा उसमें भरे माल के विषय में सूचना हो सकती है। आशा है कि इस प्रणाली के फलस्वरूप, रेल-पथ को अधिक पूर्णता के साथ स्वतःचालित विधि द्वारा संचालित करना सम्भव हो जायेगा।

इस प्रणाली का निर्माण करने वाले मुख्य पुर्जों में एक विद्युदाणविक पथ-पार्श्व 'स्कैनर' तथा एक 'डिकोडिंग' उपकरण सम्मिलित हैं। रेल-पथ पर चलने वाली प्रत्येक कार पर प्रतिबिम्बक पदार्थ की रंगीन पट्टियों का लेबुल लगा होता है। प्रत्येक पट्टी पहचानी जाने वाली संख्या के एक अंक का सूचक होती है।

स्कैनर श्वेत प्रकाश की एक रश्मि बाहर भेजता है और प्रतिबिम्बित रंगीन प्रकाश को ग्रहण करता है। जितने समय में कोई रेलरोड कार गुजरती है, उसके भीतर डिकोडिंग उपकरण रंगों को संख्याओं में परिणत कर देता है, जो उसके बाद अपने-आप किसी दूरस्थ स्थान पर मुद्रित हो सकती हैं। इस सूचना का प्रयोग दफ्तर के रिकार्ड के लिए हो सकता है, अथवा उसे ट्रेनों का मार्ग-निर्देशन और नियन्त्रण करने के लिए सीधे एक गणक यन्त्र में भेजा जा सकता है।

कारों को पहचानने के लिए प्रयुक्त पट्टियाँ केवल ६ इंच लम्बी होती हैं और काले, श्वेत, नारंजी और नीले रंगों के संयोग के रूप में सुलभ होती हैं। उदाहरण के लिए, नारंजी और श्वेत रंग का संयोग '७' संख्या का सूचक होता है, और नीले और काले रंग का संयोग संख्या '५' का सूचक होता है।

जब लेबुल के इन रंगों को स्कैनर ग्रहण कर लेता है, तो वे एक लेंस-प्रणाली से होकर एक दर्पण पर प्रक्षिप्त हो जाते हैं। यह दर्पण नीले रंग को प्रतिबिम्बित करता और नारंजी रंग को सम्प्रेषित करता है। अतिरिक्त रंग-संयोग छन्नियों द्वारा प्राप्त होता है। इस प्रकार भिन्न-भिन्न रंगों को भिन्न-भिन्न प्रकार के विद्युतीय स्पन्दन उत्पन्न होते हैं, जो संख्याओं में परिणत हो जाते हैं।

यह प्रणाली वाल्थम, मैसाचूसेट्स, की सिलवैनिया इलेक्ट्रिक कम्पनी द्वारा विकसित हुई है और ओबर्न, मैसाचूसेट्स, के बोस्टन एण्ड मेन रेलरोड द्वारा इसका परीक्षण हो रहा है। इसे चलाने में, कारों पर लेबुल

लगाने के अलावा किसी अन्य कार्य के लिए मानव-चालक की आवश्यकता नहीं होती।

परीक्षणों से पता चलता है कि कार को सही-सही पहचानने के लिए उसकी पट्टी की लम्बाई का केवल १ प्रतिशत ही दिखलाई पड़ना आवश्यक होता है। यह प्रणाली सभी प्रकार के मौसमों में रंगों को सही-सही पहचान सकती हैं।

ज्योंही कोई लेबुल स्कैनर के सामने से गुजरता हैं, त्योंही क्षण मात्र में, पहचानने और अंकित करने की क्रिया हो जाती हैं। यदि किसी कार का लेबुल खो गया हो, या इतना नष्ट हो गया हो कि उसे पहचानना कठिन हो, तो स्कैनर एक संकेत भेजता है, जो मुद्रक यन्त्र पर यथार्थ स्थिति को निर्दिष्ट कर देता है। यह यन्त्र यह भी निर्दिष्ट करता है कि ट्रेन किस दिशा में जा रही है और किस समय स्कैनर के सामने से गुजरती है। यदि कोई गाड़ी खड़ी हो या बहुत धीरे-धीरे चल रही हो तो तत्सम्बन्धी सूचना केवल एक बार ही अंकित होगी।

पथ-पार्श्व सम्बन्धी उपकरण इस्पात के एक कसे-कसाये और बन्द केस में स्थापित होता है ताकि उस पर मौसम का कोई बुरा प्रभाव न पड़े। उसके रख-रखाव की व्यवस्था कभी-कभी ही करनी पड़ती है।

पहले कार को पहचानने का कार्य कर्मचारी को स्वयं ही एक पेंसिल और पैड की सहायता से करना पड़ता था। हाल में बन्द-सरकिट वाले टेलिविजन का प्रयोग हुआ है, अथवा कार की संख्या का पता लगाने के लिए सचल रेडियो का प्रयोग हुआ है। किन्तु ये सभी विधियाँ अपेक्षाकृत धीमी होती हैं। नयी विद्युदाणविक विधि की अपेक्षा उनमें गल्ती की सम्भावना अधिक होती है।

सम्पादकीय

राष्ट्र भाषा अमर हो

२६ जनवरी से राष्ट्रभाषा हिन्दी उत्तर प्रदेश की राज्य-भाषा के रूप में प्रयुक्त होने लगेगी। यह हमारे लिये खुशी की बात तो हो सकती है, गर्व का विषय नहीं। कारण कि हिन्दी को सन् १९५० में ही राष्ट्र-भाषा का पद प्राप्त हो चुका था। इन पंद्रह वर्षों तक उसे उस गौरव से वंचित रखा गया, जिसकी वह अधिकारिणी थी। इसका समाधान हमारे राष्ट्रनेता यह कह-कह कर करते रहे कि पहले वह इतनी शक्ति-शाली भाषा बन जाय कि राजकाज में व्यवहृत हो सके, फिर तो स्वयमेव ही पदासीन हो जावेगी। किन्तु वस्तु-स्थिति कुछ दूसरी ही निकली। आज भी हिन्दी उसी स्थान पर निरीह खड़ी दृष्टि-गोचर हो रही है जहाँ १५ वर्ष पूर्व थी। भला हम कैसे विश्वास करें कि जिस भाषा को इस दीर्घ अवधि तक न तो शिक्षा का माध्यम बनाया गया, न ही उसे सम्पूर्ण भारत में राजकाज के लिये प्रयुक्त किया गया, वह एकाएक कैसे शक्तिशाली दीख पड़ेगी !! फिर वे लोग जो अंग्रेजी को "ज्ञान का वातायन" मान कर उसी से स्वच्छ वायु ग्रहण करके जीवित हैं भला उन्हें हिन्दी क्योंकर भाने लगी ?

बात तो यह है कि हमारे देश में राष्ट्रीयता का ह्रास हुआ है। जनता गुमराह हो गई है और उसको राह दिखानेवाले नेता अल्पदृष्टि रखनेवाले हैं। भला क्या मजाल था कि यदि प्रारम्भ से हिन्दी राष्ट्र भाषा के प्रवाह में समग्र राष्ट्र को आन्दोलित होने दिया जाता तो वह सिक्त न हो उठा होता ?

राजनीतिज्ञों की अपनी दलीलें हैं। कभी वे उत्तर और दक्षिण की एकता भंग होने की दुहाई देते हैं तो कभी अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र से दूर पड़ जाने की दलील रखते हैं। तो क्या सचमुच हिन्दी के कारण ये बाधायें आ जातीं या आ सकती हैं ? उत्तर है कि कभी नहीं। ये आशंकायें हैं जो कापुरुषों को पहले से दबोच रही हैं। एशिया भर में कोई ऐसा राष्ट्र नहीं जो भाषा के मामले में पराश्रित हो। फिर क्या यह सच नहीं कि जब अंग्रेज भारत आये तो उन्होंने अपनी भाषा को देशवासियों पर लाद दिया ? स्वतन्त्रता के पूर्व हम जिस भाषा को अपनी मानसिक परतन्त्रता के लिये उत्तरदायी मानते रहे, क्या अब वही भाषा हमारे लिये सर्वगुण सम्पन्न एवं अभिन्न प्रतीत हो रही है ? यह व्यामोह के अतिरिक्त कुछ नहीं है। यह स्वतन्त्र होने के बाद भी परतन्त्रता की खुमारी है।

हिन्दी के राष्ट्र-भाषा होने से भारतीय मिट्टी के भाग जगे। पूर्ण रूप से उसके प्रयोग होने पर जन-जन का कल्याण होगा। हिन्दी राष्ट्र-भाषा पद प्राप्त करके यह कभी नहीं चाहेगी कि अपनी सहेलियों या पुत्रियों को वह दबा दे। इन सबकी अभिवृद्धि से उसका शब्द-भण्डार और भी धनी होगा। उसे यदि किसी से ईर्ष्या हो सकती है तो वह अंग्रेजी ही है। भला एक म्यान में दो तलवारें कैसे आ सकती हैं ?

अंग्रेजी को हमें निकाल फेंकना ही होगा। वह हमारे लिये "ज्ञान का वातायन" न खोलना चाहे न खोले, हम किसी न किसी तरह उसकी पूर्ति करेंगे। हमारे कुछ विद्वान विभिन्न भाषा-विद् बन कर अन्तर्राष्ट्रीय ज्ञान का अर्जन कर सकते हैं किन्तु यदि सारा देश अभारतीय भाषाओं के सीखने में सारी शक्ति गँवाता रहे, तो यह बुद्धिमानी न होगी ?

मातृ भाषायें राज्य-स्तर पर कार्य को सुगम बनावें और राष्ट्र-भाषा हिन्दी समूचे राष्ट्र को एकता सूत्र में पिरोये। जिस भाँति दक्षिणवासियों ने अंग्रेजी सीखकर जीविकोपार्जन किया यदि उसी प्रकार उन्हें हिन्दी सीखकर करना पड़े तो उन पर यह कोई अन्याय नहीं होगा। उन्हें तो हँस-हँस कर इसे स्वीकार करना होगा क्योंकि हिन्दी को जो राष्ट्र-भाषा पद प्राप्त हुआ है वह सम्पूर्ण भारतवासियों की सदिच्छा का ही परिणाम है। अब आनाकानी करने से कोई लाभ नहीं। जितनी ही जल्दी उसे स्वीकार कर लिया जाय उतना ही अच्छा। शुभस्य शीघ्रम।

विश्वविद्यालय भी हिन्दी की उपेक्षा अधिक काल तक नहीं कर पावेंगे। उन्हें राष्ट्र-कल्याण के लिये अंग्रेजी के प्रति पुरातन प्रेम को त्यागना होगा। उन्हें तक्षशिला एवं नालन्दा जैसे सुविख्यात विश्वविद्यालयों का रूप धारण करना होगा। तब अपनी भूमि से अंकुरित भाषा रूपी वट वृक्ष शीघ्र ही देश भर में छा जावेगा।

विज्ञान

विज्ञान परिषद्, प्रयाग का मुखपत्र

'विज्ञानं ब्रह्मेति व्यजानात्। विज्ञानाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते।
विज्ञानेन जातानि जीवन्ति। विज्ञानं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति। तै० उ० ३।५।

भाग १०० | माघ २०२१ विक्र०, १८८६ शक फरवरी १९६५ | संख्या ५

तैलंग पुरस्कार प्रतियोगिता—३

अनन्त शक्ति का स्रोत—सूर्य

शमीम अहमद

यदि हम आकाश में रात्रि में देखने का प्रयत्न करें जबकि आकाश अत्यन्त स्वच्छ हो तो हमें दो प्रकार के प्रकाश के स्रोत स्पष्ट होंगे। प्रथम प्रकार ऐसे स्रोतों का समूह है जिनसे प्रकाश निरन्तर अबाध रूप से प्रस्फुटित होता रहता है और ये विद्युत बल्ब की तरह से समान रूप से प्रकाश वितरण करते हैं। इनका आकार भी अन्य स्रोतों से बड़ा प्रतीत होता है। द्वितीय प्रकार के स्रोतों का समूह संख्या में अनन्त है और ये बहुत दूर स्थित प्रतीत होते हैं। इनसे विकिरित प्रकाश से यह प्रतीत होता है कि जैसे ये झिलमिला रहे हों और इनके प्रकाश में एक प्रकार की लहर हो। किन्तु वास्तविकता कुछ और ही है। प्रथम प्रकार के स्रोत 'ग्रह' कहलाते हैं तथा द्वितीय प्रकार के स्रोत 'नक्षत्र' कहलाते हैं। इन ग्रह तथा नक्षत्रों में कुछ तो स्थिर प्रतीत होते हैं और कुछ चलायमान। प्राय: लोग कहा करते हैं कि ध्रुव नामक नक्षत्र सदैव उत्तरस्थ रहता है और सप्तर्षि उसके चारों ओर चक्कर लगाते हैं परन्तु सापेक्षवाद के अनुसार हम यह यथार्थ रूप में नहीं कह सकते हैं कि अमुक ग्रह या नक्षत्र चल रहा है या स्थिर है बल्कि उसकी सापेक्ष गति को ही हम बता सकते हैं। जिस प्रकार आकाश सागर में असंख्य नक्षत्र तथा ग्रह हैं, उन्हीं में एक नक्षत्र तथा अन्य ग्रहों का एक परिवार हम ग्रहवासियों से अत्यन्त घनिष्ठ संबन्ध रखता है। इस परिवार का पिता ऊषा काल की अरुणिमा तथा गोधूलि की सुहावनी छटा का निर्माता अबाध रूप से ऊष्मा एवं प्रकाश का दाता, सूर्य है। सूर्य भी अन्य नक्षत्रों की तरह से एक नक्षत्र है। यह हमसे अत्यन्त निकट है। इस नक्षत्र के इस परिवार को, जिसमें हमारी पृथ्वी भी आती है, "**सौर परिवार**" कहते हैं और इस परिवार के अन्य गण (ग्रह) अपने जनक के चारों ओर समान परन्तु भिन्न २ गति से प्रदक्षिणा करते रहते हैं। इस प्रदक्षिणा का कारण न्यूटन के गुरुत्वाकर्षण-सिद्धान्त से स्पष्ट हो जाता है। जब कोई ग्रह चक्कर लगाता है तो उसके ऊपर दो प्रकार के बल कार्य करते हैं—एक केन्द्रापसारी बल जो कि ग्रह को सूर्य से दूर फेंकने का प्रयास करता है तथा अन्य बल गुरुत्वाकर्षण का है

जिसका स्वभाव ग्रह को सूर्य की तरफ आकर्षित करने का होता है। जब केन्द्रापसारी बल गुरुत्वाकर्षण बल के समान होता है तो ग्रह साम्य अवस्था में समान रूप से चक्कर लगाता रहता है। इस लघु परिवार से दूर नक्षत्रों का एक असंख्य समूह है जिसमें करीब-करीब ४०,०००,०००,०००० नक्षत्र वर्तमान हैं जो **"आकाश गंगा"** के नाम से प्रसिद्ध है।

सूर्य के चारों ओर ग्रह दीर्घवृत्त या लगभग वृत्ताकार पथ पर चक्कर लगाते हैं। हमारे रहने का ग्रह पृथ्वी भी, जो कि आकार में पाँचवाँ स्थान तथा सौर मण्डल के केन्द्र से तीसरा स्थान प्राप्त किए है सूर्य से लगभग ९२,८७०,००० मील दूर स्थित है और लगभग १९ मील प्रति सेकण्ड की चाल से चक्कर लगाती रहती है।

चूँकि सूर्य हमसे अन्य नक्षत्रों की अपेक्षा अत्यन्त निकट है और हम इसकी सतह पर उत्पन्न परिवर्तनों को देख सकते हैं और जबकि अन्य नक्षत्र शक्तिशाली दूरबीनों पर भी एक विन्दु से प्रतीत होते हैं, इसलिए प्राचीन काल से ही सूर्य की पूजा होती आयी है और मानव समाज का ध्यान इसकी तरफ केन्द्रित रहा है। अन्ततोगत्वा मानव ने उस भगवान (सूर्य) का पता लगा ही लिया और यह भी निश्चय कर लिया कि ये भगवान भी विशुद्ध नहीं इनमें तो चन्द्रमा की ही भाँति कलंक प्रतीत होते हैं जिन्हें अंग्रेजी में "सनस्पाट" कहते हैं।

इस दहकते गोले का व्यास लगभग ८६४००० मील का है। परन्तु यह इतना बड़ा वातीय गोला हमसे इतनी अधिक दूर विद्यमान है कि पृथ्वी पर से देखने पर केवल ३० मिनट अर्थात् एक समकोण का केवल १८० वाँ भाग के रूप में दिखाई पड़ता है। सूर्य से यदि हमारी पृथ्वी को देखा जाय जिसका व्यास ८००० मील है तो यह केवल १७ सेकेण्ड के चाप के रूप में एक अत्यन्त क्षुद्र धब्बा सी प्रतीत होगी जिससे यह स्पष्ट हो जाता है कि पृथ्वी का आकार सूर्य के आकार के सौंवे भाग से भी कम है। इस प्रकार यह हमारी पृथ्वी सूर्य से विकिरित ऊर्जा के केवल एक अत्यन्त अल्प भाग ही को प्राप्त करती है। प्रति मिनट एक वर्ग सेन्टीमीटर भूमि पर पड़ने वाली ऊर्जा की मात्रा को **सौर नियतांक** (solar constant) कहते हैं और इसकी मात्रा स्थिर होती है। सर हैराल्ड स्पेन्सर जोन्स ने अनुमान लगाया है कि—"सूर्य से विकरित ऊर्जा का $\frac{१}{२२००००००००००}$ वाँ भाग पृथ्वी पर पहुंचता है। तिस पर भी सूर्य से ली गई ऊर्जा की मात्रा ५००००० अश्व शक्ति प्रति वर्गमील क्षेत्र के लगभग पड़ जाती है। यदि हम इस समस्त ऊर्जा का उपयोग कर सकें और हमें उसका मूल्य केवल ¼ पेंस प्रति इकाई (बी० ओ० टी०) देना पड़े तो इस ऊर्जा का मूल्य २००,०००,००० पौंड प्रति सेकंड से कुछ कम नहीं पड़ेगा।"

ऊर्जा विकिरण तथा उसके प्रकार

सूर्य से प्राप्त ऊर्जा केवल प्रकाश तथा ताप ही नहीं है बल्कि अन्य ऐसे विकिरण भी हैं जिनके लिए हमारी आँखें सूक्ष्म नहीं हैं बल्कि उनको देखने के लिए या तो फोटोग्राफी की प्लेटें काम में आती हैं या रेडियो संग्राहक सेट। विकिरण का प्रकार-निरूपण उसके तरंग दैर्ध्य के आधार पर होता है। इस प्रकार परीक्षणों से प्राप्त सूत्रों द्वारा यह स्पष्ट होता है कि सूर्य से अत्यन्त छोटी तरंग दैर्ध्य के विकिरणों से लेकर अत्यधिक लम्बी तरंग दैर्ध्य की विद्युत चुम्बकीय तरंगें विकिरण के रूप में बाहर आती हैं। यदि सूर्य से प्राप्त प्रकाश को उचित छिद्र द्वारा निकालकर एक ताल की सहायता से समानान्तर रश्मि में परिवर्तित करके एक त्रिपार्श्व पर डाला जाय तो हम यह देखते हैं कि एक रंग की श्वेत रश्मियाँ सात रंग की रश्मियों में फूट जाती हैं। इस क्रिया को **"प्रकाश का वितरण"** कहते हैं। हम केवल एक अत्यन्त छोटी सीमा के भीतर का ही विस्तरण हम देख पाते हैं। विस्तरण में पहले लाल फिर नारंगी, पीला, हरा, नीला आसमानी तथा बैंगनी रंग की रश्मि की पट्टियाँ दृष्टिगत होती हैं। परन्तु इतने ही में विस्तरण समाप्त नहीं हो जाता है बल्कि बैंगनी रंग के पराबैंगनी तथा लाल के परे 'इनफ्रारेड' नामक

विकिरण की पट्टियाँ भी उपयुक्त उपकरण की सहायता से देखी गई हैं। इससे और कम तरंग-दैर्ध्य की रश्मियाँ जैसे गामा, एक्स किरणें आदि भी प्राप्त होती हैं और इसी प्रकार कई मीटर तरंग दैर्ध्य की भी रश्मियाँ प्राप्त होती हैं जिनकी उपस्थिति का प्रमाण विशिष्ट प्रकार के रेडियो सेट की सहायता से मिलता है। उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट हो जाता है कि सूर्य से हमें छोटी से छोटी तरंग दैर्ध्य की रश्मियों के विकिरण से लेकर लम्बी से लम्बी तरंग दैर्ध्य की रश्मियाँ विकिरण के रूप में प्राप्त होती हैं। इसका तात्पर्य यह है कि सम्पूर्ण विद्युत-चुम्बकीय विकिरण हमें सूर्य से विकिरित ऊर्जा में प्राप्त होता है जो कि सूर्य के अन्तःकरण में उपस्थित ऊर्जा की अक्षय-निधि को स्पष्ट रूप से प्रमाणित करता है।

परन्तु सूर्य से विकिरित समस्त ऊर्जा पृथ्वी पर पहुँचने नहीं पाती है बल्कि उसका बहुत अधिक भाग सूय के चारों ओर वर्तमान गैसीय पेटी में तथा पृथ्वी के ऊपर १०-१२ मील की ऊँचाई पर स्थित ओजोन गैस की पट्टी में अवशोषित हो जाता है। यह भाग जो कि अवशोषित होता है यदि पृथ्वी पर आ जाए तो जीवन सम्भव नहीं रहेगा क्योंकि ये अल्ट्रावायलेट रश्मियाँ शरीर के लिए तथा शारीरिक क्रियाओं के लिए अत्यन्त घातक सिद्ध हुई हैं। उपर्युक्त कथन, विकिरण के अवशोषण, की पुष्टि हाईअल्टीट्यूड के राकेटों को उपयुक्त उपकरणों से सुसज्जित करके वहाँ तक भेज करके की गई हैं और इसमें किसी प्रकार का संदेह नहीं किया जा सकता।

सूर्य के धरातल (ऊपरी) का ताप ६०००°C है और उसके केन्द्र पर के ताप के बारे में कलन के द्वारा अंदाज लगाया जाता है तो उसका मान १५००००००°C से लेकर २०००००००°C तक आता है। इतने भयानक ताप की दशा में स्थित पदार्थ की अवस्था का अनुमान लगाना कोई आसान कार्य नहीं है और इतना भी अवश्य होगा कि अवस्था अत्यन्त भिन्न होगी। परीक्षणों से प्राप्त प्रमाणों से यह स्पष्ट होता है कि सूर्य के ऊपरी धरातल, जिसका ताप ६०००° से० पर वायु का दबाव पृथ्वी पर की स्थित वायु के दबाव का केवल सौवाँ भाग ही है। परन्तु यदि गणना की जाय तो सूर्य का औसत आपेक्षिक घनत्व लगभग १.५ के है इसलिए यह भी तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि सूर्य के अन्दर वर्तमान गैसीय पदार्थ अत्यन्त अधिक दाब की अवस्था में होगा।

यह विशालकाय नक्षत्र किस प्रकार इतनी अधिक ऊर्जा का वितरण करता है, इसके उत्तर में वैज्ञानिकों ने यह बताया कि सूर्य की ४०,०००,००० टन मात्रा प्रति सेकण्ड विकिरित होती है और इसके उपरान्त सूर्य के आकार में संकुचन होता है और तभी इसका आपेक्षिक घनत्व इस प्रकार स्थायी रहता है। किन्तु उपर्युक्त सिद्धान्त अब अमान्य हो गया और इस विशाल विकिरण का कारण केवल नाभिकीय प्रतिक्रिया ही माना जाता है क्योंकि जब अत्यधिक दबाव एवं ताप की उपस्थिति में दो हाइड्रोजन नाभिक मिलते हैं तो एक हीलियम नाभिक बनता है और इस परिवर्तन के फलस्वरूप दो हाइड्रोजन नाभिक की कुछ मात्रा एक हीलियम नाभिक से ज्यादा होती हैं और वही मात्रा आइन्सटाइन के ऊर्जा-मात्रा साम्य के सिद्धान्तानुसार ऊर्जा में परिवर्तित हो जाती है और इस प्रकार सूर्य से निरन्तर ऊर्जा विकरित होती रहती है। कार्बन और नाइट्रोजन की उपस्थिति उत्प्रेरक का कार्य करती है। ठीक इसी सिद्धान्त पर हाइड्रोजन-बम का निर्माण किया गया है जिसमें इतना उच्च ताप और दाब उत्पन्न करने के लिए पहले परमाणु बम का विस्फोट कराया जाता है तत्पश्चात् हाइड्रोजन बम की क्रिया प्रारम्भ होती है।

सूर्य वायुमंडल की आन्तरिक रचना (वायुमण्डल)

अब हम सूर्य की रचना को, संभव उपायों द्वारा प्राप्त फलों के आधार पर समझने का प्रयत्न करेंगे। आज तक प्राप्त तथ्यों से, जिसमें दूरबीन का एक अनूठा स्थान है, यह स्पष्ट होता है कि सूर्य के अन्तर्गत मुख्यतः तीन प्रकार के वायुमण्डल विद्यमान हैं—प्रथम **फोटोस्फीयर**, द्वितीय **क्रोमोस्फीयर** एवं तृतीय **कोरोना**। इस प्रथम वायुमंडल की विशेष पहिचान इसमें उत्पन्न

काले धब्बों से तथा द्वितीय वायु मंडल की पहिचान इसमें उत्पन्न फ्लेयर्स आदि से होती है।

फोटोस्फीयर (प्रथम वायुमण्डल)

सूर्य की लाल चकरी का वह भाग जो इसकी सीमा निर्धारित करता है उसे फोटोस्फीयर कहते हैं। फोटोस्फीयर का अर्थ होता है प्रकाशीय गोला। जैसा कि नाम से स्पष्ट है यह सूर्य का वह भाग है जिससे प्रकाश की अधिकतम मात्रा विस्तीर्ण होती है। इसका निरीक्षण करने के लिए खगोलीय दूरवीक्षण यन्त्र काम में लाया जाता है परन्तु इसके उपयोग में मुख्य सावधानी यह रखी जाती है कि निरीक्षण कार्य आँख की सहायता से नहीं होता है क्योंकि कम से कम सामर्थ्य वाले दूरवीक्षण यन्त्र से भी प्राप्त विम्ब नेत्रों के लिए अत्यन्त हानिकारक होता है। इस अवसर पर एक घटना याद आ जाती है जिसका सम्बन्ध उस महान वैज्ञानिक गैलीलियो से था जिसने संसार को आँखें दीं। उस महान वैज्ञानिक ने अपने नेत्रों से इस विम्ब को देखने का प्रयत्न किया और जिसके फलस्वरूप वह स्वयं अन्धा हो गया। अतः इस कठिनाई के निवारणार्थ प्राचीन काल के खगोलदर्शियों ने एक उपाय सोचा जिसमें यह किया गया कि दूरवीक्षण यन्त्र से प्राप्त विम्ब को एक पर्दे पर डाला गया और तब उस विम्ब सम्बन्धी गवेषणाएँ सम्पन्न की गईं। यही सिद्धान्त करीब-करीब इसी प्रकार आज भी काम में लाया जाता है। आज हम उस पर्दे के स्थान पर फोटोग्राफिक प्लेट रख देते हैं जिससे विम्ब का चित्र उस प्लेट पर उतर आता है और तब आसानी से हम उस विम्ब का निरीक्षण कर सकते हैं। द्वितीय विधि में दूरवीक्षण यन्त्र के तालों के बीच गाढ़े रंग की काँच का फिल्टर लगा देते हैं जिससे विम्ब का प्रकाश कम हो जाता है और तब हम आसानी से निरीक्षण सम्पन्न कर सकते हैं।

उपर्युक्त विधि से प्राप्त चित्र के सूक्ष्मावलोकन से यह विदित होगा कि यह सूर्य का गोला हर स्थान पर समान रूप से चमकता नहीं दिखाई देता है। चकरी (सूर्य) की सीमा यदि वातावरण शान्त रहा तब तो कुछ स्पष्ट दिखाई देती है अन्यथा वातावरण की गड़बड़ी से यह चित्र अस्थिर तथा उबलता हुआ प्रतीत होता है।

जब वातावरण अत्यन्त शान्त रहता है और अत्यधिक शक्तिशाली दूरवीक्षण यन्त्र से यदि सूर्य के इस भाग, का निरीक्षण किया जाय तो इसके सतह पर एक 'दानेदार' तह दिखाई देती है। ज्योंही वातावरण खराब होने लगता है ये दाने जो ऊपरी सतह पर दिखाई देते हैं धीरे-धीरे एक में मिलना प्रारंभ कर देते हैं और अन्त में प्राप्त चित्र में इनकी कोई स्थिति नहीं होती है। यदि सूक्ष्मतः निरीक्षण किया जाय तो यह मालूम होता है कि वास्तव में ये धब्बे कम प्रकाशमान सतह से स्पष्ट हो जाते हैं। परन्तु ये धब्बे स्थिर नहीं प्रतीत होते हैं बल्कि चलते हुए प्रतीत होते हैं। पृथ्वी पर से गणना करने पर विदित होता है कि इनकी औसत लंबाई करीब-करीब १००० मील के है और ये लगभग एक किलोमीटर प्रति सेकण्ड के वेग से गतिमान भी होते हैं। परन्तु यह गति सूर्य के ऊपर उसके मानदण्ड के अनुसार अत्यन्त तुच्छ स्थान रखती है।

यद्यपि अब तक इन धब्बों के बारे में कोई निश्चित प्रमाण नहीं मिला है परन्तु यह अनुमान लगाया जाता है कि सम्भवतः ये धब्बे सूर्य के अन्तर्गत उत्पन्न होने वाली संवाहन धाराओं के कारण ही उत्पन्न होते हैं और इन धब्बों से ही होकर सूर्य के अन्तर्गत निहित ऊर्जा का निष्कासन वाह्य आकाश में होता है। इन्हीं धब्बों के ही एक विशिष्ट रूप में एकत्रित होने पर "सन स्पाट्स" का जन्म होता है जो अनेक भावी घटनाओं की सूचना देते हैं। आज के सूर्य सम्बन्धी खगोलवेत्ता इन धब्बों के ऊपर अधिक ध्यान दे रहे हैं परन्तु वातावरण तथा वायुमण्डल की अस्थिरता के कारण उनका अत्यधिक प्रयत्न असफल हो जाता है और ये बेचारे कोई स्पष्ट चित्र कुछ अधिक देर में नहीं ले सकते। परन्तु मानव समाज कब हारने वाला। हमेशा से तो यही कठिनाइयाँ उसके समक्ष आती रहती हैं परन्तु इनकी परवाह न करते हुए वह आगे बढ़ता ही जाता है।

फोटोस्फीयर से होकर सूर्य की ऊर्जा का समस्त भाग बाहर आता है इसलिए इस भाग का ताप सूर्य का ताप कहा जाता है। इस भाग का ताप लगभग ६०००° सेन्टीग्रेड के है। इस ताप को नापने के लिए एक विशेष प्रकार की विधि का विकास हुआ जिसको "रेडियेशन पायरोमेट्री" कहते हैं और काम आने वाले यंत्र का नाम '**पाइरोमीटर**' कहा जाता है। इस पाइरोमीटर से जिस प्रकार पृथ्वी पर भट्टी का ताप ज्ञात किया जाता है ठीक उसी प्रकार सूर्य का भी ताप ज्ञात किया जाता है। यदि पाइरोमीटर भट्ठी का ताप सत्यतापूर्वक बताते हैं तो इसमें कोई संदेह नहीं कि सूर्य का ताप सत्य नहीं होगा।

उपर्युक्त सिद्धान्त को समझने के लिए हम एक उदाहरण लेंगे जिसका प्रमाण हम अपनी प्रयोगशाला में प्राप्त कर सकते हैं। यदि हम एक सुचालक लें और उसको गर्म करें तो सर्वप्रथम उससे विकिरण प्राप्त होगा परन्तु वह इतनी लम्बी तरंगदैर्घ्य का होगा जिसको केवल इन्फारेड सूचक ही बता सकता है लेकिन हमारी आँखें नहीं। तत्पश्चात् सुचालक लाल गर्म हो जायगा जो यह दर्शित करता है कि उक्त दशा में सुचालक से ऐसी तरंगदैर्घ्य की ऊर्जा-तरंग का विकिरण हो रहा है जो कि हमारी आँखों के लिए देखने योग्य है तत्पश्चात् यदि सुचालक को गर्म करते जाँय तो उसका रंग श्वेत होकर कुछ नीले रंग का हो जायगा और यदि ऊर्जा वितरण का ग्राफ तरंग दैर्घ्य की अपेक्षा में खींचा जाय तो हमें घंटाकार वक्र मिलेगा और इनकी सहायता से हम किसी भी ग्रह या नक्षत्र का ताप उससे प्राप्त विकिरण की तरंग दैर्घ्य के आधार पर बता सकते हैं। परन्तु सूर्य के ताप निर्धारण में एक कठिनाई यह उपस्थित होती है कि पृथ्वी का वायु मंडल सदैव एक स्थायी रूप में नहीं रहता है तथा विकिरित ऊर्जा का बहुत सा अंश ओजोन आदि गैसों की पट्टी से होकर आते समय अवशोषित होता है परन्तु इस कठिनाई को समाप्त करके एक ऐसे वक्र को खगोलदर्शियों ने ढूँढ़ निकाला है जो कि सूर्य-विकिरण के साथ मेल खाता है और ६०००° से० ताप निर्देशित करता है। इसलिए अनुमान लगाया जाता है कि सूर्य का ताप लगभग ६०००° से० के है यद्यपि कुछ इससे अधिक भी हो सकता है क्योंकि सूर्य एक शुद्ध पूर्ण विकिरक नहीं है जबकि वक्र केवल पूर्ण विकिरक के लिए ही पूर्णतया सत्य है।

क्रोमोस्फीयर (द्वितीय वायुमण्डल)

जैसा कि नाम से स्पष्ट होता है कि यह भाग रंगीन होगा क्योंकि जब हम पूर्ण सूर्य ग्रहण के कुछ मिनटों में सूर्य का निरीक्षण करते हैं तो हमें एक सुन्दर गुलाबी रंग का यह भाग दृष्टिगत होता है। यद्यपि फोटोस्फीयर जो कि गैसीय भाग है और जिसके अन्दर गैसीय दाब हमारे पृथ्वी पर के वायु-मण्डलीय दाब का केवल सौवां भाग ही है परन्तु क्रोमोस्फीयर को हम उपर्युक्त के ऊपर मानते हैं तत्पश्चात् सूर्य का तीसरा भाग कोरोना आता है जो कि लाखों मील की दूरी तक फैला रहता है।

फोटोस्फीयर के ऊपर ३०००० मील तक विस्तृत यह भाग ऐसी वातिसमूह का बना हुआ है जिसमें गैसीय बवण्डर बड़ी तेजी से इधर-उधर चलते दिखाई देते हैं। भयानक तेजी से चलते हुए बादल कभी तो उठते हुए दृष्टिगत होते हैं और कभी गिरते हुए जिसको हम भौतिकीय शब्दों में "**सोलर प्रामिनेन्स**" कहते हैं और जो सूर्य की एक विशेष घटना मानी जाती है।

क्रोमोस्फीयर का निचला हिस्सा कम गर्म गैसों वाला भाग है जिसे हम '**रिवर्सिंग लेयर**' कहते हैं। यदि स्पेक्ट्रास्कोप से सूर्य से प्राप्त प्रकाश का निरीक्षण किया जाय तो हम प्राप्त वर्णपट में उन सात रंगों की पट्टियाँ पाएँगे जो इन्द्र धनुष में पाई जाती हैं और यदि अधिक सूक्ष्मता से निरीक्षण किया जाय तो उसमें हमें कुछ ऐसी रेखायें मिलेंगी जिन्हें '**फ्रानहाफर रेखाएँ**' कहते हैं जो कि इस भाग में वर्तमान तत्वों के परमाणुओं का प्रदर्शन करके उनकी स्थिति का पुष्टीकरण करती हैं। 'फ्रानहाफर रेखाओं' का आविष्कार सन् १८१४ ई० में म्युनिक में महान् भौतिकज्ञ फ्रानहाफर ने किया था। ये रेखाएँ चटक पट पर काले रंग की दिखाई देती हैं और यदि निरीक्षण किया जाय तो अन्य सिद्धान्तों तथा परीक्षणों से स्पष्ट हो जाता है कि ये रेखाएँ अन्य रेखाओं के सदृश्य एक विशेष तरंग दैर्घ्य की ऊर्जा की विकिरण की द्योतक हैं और

प्रत्येक के साथ एक विशेष मात्रा की ऊर्जा निहित होती है। वर्णपट रचना के अनुसार मुख्यतः दो प्रकार का होता है। प्रथम रेखिल वर्णपट; द्वितीय पट्टी वर्णपट—रेखिल वर्णपट में हमें स्पष्ट रेखाएँ दृष्टिगत होती हैं और इसका प्रस्फुरण परमाणुओं से विकिरित ऊर्जा से होता है और विभिन्न रेखाएँ अपनी तरंग दैर्घ्य के अनुसार विभिन्न प्रकार के परमाणुओं की स्थिति का पुष्टीकरण करती हैं। इसीलिए इसको परमाण्विक वर्णपट भी कहते हैं। परन्तु द्वितीय प्रकार का पट्टी-वर्णपट स्पष्ट रंगीन पट्टियों का बना होता है जिसकी प्राप्ति अणुओं से विकिरित ऊर्जा से होती है इसीलिए इस प्रकार के वर्णपट को हम अण्वीय वर्णपट भी कहते हैं।

उपर्युक्त सिद्धान्तों के अनुसार विश्लेषण करने पर भौतिकज्ञों ने बताया कि क्रोमोस्फीयर का ऊपरी भाग मुख्यतः हाइड्रोजन और कैल्शियम परमाणुओं से भरा हुआ है। इन परमाणुओं के द्वारा वर्णपट में फ्रानहाफर रेखाएँ प्राप्त होती हैं। उदाहरणार्थ हाइड्रोजन गैस के परमाणुओं द्वारा C फ्रान्हाफर रेखा, वर्णपट के रक्तभाग में ६५६३ एंगस्ट्राम इकाई तरंग दैर्घ्य की प्राप्त होती है। कैल्शियम के आयनीकृत परमाणुओं के कारण वर्णपट के बैंगनी भाग में दो रेखाएँ अत्यन्त स्पष्ट तथा दूर-दूर प्राप्त होती हैं। ये रेखाएँ मानव-दृष्टि की सीमा निर्धारित करती है इसलिए इनको देखने के लिए फोटोग्राफी की प्लेट अत्यन्त सुविधाजनक प्रतीत होती है और इसी का उपयोग भी होता है। यद्यपि वर्तमान युग में ऐसी भी विधियाँ ज्ञात हो चुकी हैं जिनसे हम यदि चाहें तो सूर्य से प्राप्त वर्णपट के किसी भाग को अकेला ठीक उसी प्रकार देख सकते हैं जिस प्रकार रेडियो के सेट में केवल एक बार एक ही स्टेशन के प्रोग्राम को पकड़ कर सुनते हैं। बात स्पष्ट भी है क्योंकि प्रकाश भी विद्युत चुम्बकीय विकिरण है अतः रेडियो रिसीवर की तरह से हम उपर्युक्त लाभ क्यों नहीं उठा सकते हैं ?

क्रोमोस्फीयर में अत्यन्त गर्म अवस्था में हाइड्रोजन और कैल्शियम के परमाणु गैसीय बादलों के रूप में अधिक दबाव की अवस्था में इधर-उधर डोलते दृष्टिगत होते हैं। यही इस भाग में मुख्य तत्व हैं जिनका अन्वेषण उपर्युक्त विधि से किया गया।

कोरोना (तृतीय वायुमण्डल)

यह भाग केवल उन्हीं भाग्यमानों ने देखा है जिनको पूर्ण सूर्यग्रहण देखने का शुभ अवसर प्राप्त हुआ है और वे ही बताते हैं कि वास्तव में **कोरोना का सुन्दर मुकुट** है। कोरोना सूर्य का सबसे बाहरी वायुमण्डल वाला भाग है। इसको केवल पूर्ण सूर्यग्रहण के अवसर पर ही देखा जा सकता है और चूँकि पूर्ण सूर्य-ग्रहण केवल कुछ ही मिनटों के लिए वर्षों बाद आता है इसलिए वैज्ञानिकों को उस अवधि तक रुकना पड़ता है और तत्पश्चात् उन अमूल्य मिनटों में भला कितनी खोजें की जा सकती है यह बड़ी सरलता से समझ में आ जाता है। परन्तु एक कठिनाई यह भी आ जाती है कि यदि पूर्ण सूर्य ग्रहण लग भी गया तो उसे हर स्थान से देखा भी नहीं जा सकता क्योंकि यह पृथ्वी के कुछ विशेष स्थानों से तथा विशेष पट्टियों से ही दृश्य होता है इसलिए ऐसी अवस्था में हर पूर्ण सूर्य-ग्रहण के अवसर पर कुछ ही मिनटों के लिए माउन्ट विल्सन जैसी वेधशालाएँ बनाना असम्भव है। इस कठिनाई को दूर करने के लिए वैज्ञानिकों ने एक विधि अपनाई जिसमें उन्होंने खुले हुए हवाई जहाज लिए और उस पर यन्त्रों को रख कर अपनी खोजों को जारी रखा। परन्तु यह सब होते हुए भी कभी-कभी वायु-मण्डल इतना खराब हो जाता है कि सारा किया कराया चौपट हो जाता है और बेचारे खगोल-वेत्ताओं के समूह को वापस लौट आना पड़ता है। इस कठिनाई को दूर करने के लिए वैज्ञानिकों ने अधिक ऊँचाई पर उड़ने वाले हावई जहाजों को चुना जिनकी सहायता से उस खराब वायुमण्डल से ऊपर उठा जा सकता है।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है पूर्ण सूर्य-ग्रहण केवल पृथ्वी के कुछ विशेष भागों से ही देखा जा सकता है। उदाहरणार्थ, हम यदि ग्रेटब्रिटेन से देखे गए ग्रहणों की तालिका देखने का कष्ट करें तो बात स्पष्ट हो जायगी। ये ग्रहण सन् १४२४, १४३३, १५९८, १६९२, १७१५, १७२४, १९२७ और

१९५४ में दिखाई दिए और सन् १९९९ के १२ अगस्त तथा सन् २१३५ ई० की ७ अक्टूबर को अगला पूर्ण ग्रहण दृष्टिगत होगा।

उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट हो जाता है कि किस प्रकार पूर्ण सूर्य ग्रहण के अवसर पर 'कोरोना' का निरीक्षण किया जा सकता है। परन्तु वैज्ञानिकों ने यहीं पर अपना कदम नहीं रोक दिया बल्कि उन्होंने सोचा कि क्या बिना पूर्ण सूर्य ग्रहण के हम कोरोना का बिम्ब नहीं प्राप्त कर सकते हैं? यह प्रश्न सन् १९३० ई० तक हल नहीं किया जा सका परन्तु सन् १९३६ ई० में पिक डू मिडी नामक स्थान पर स्थित वेधशाला में बर्नार्ड लायट नामक एक फ्रांसीसी वैज्ञानिक ने अत्यन्त सूक्ष्म तथा चतुराई से बनाए गए यन्त्रों, जिनमें छात्रों का विशेष स्थान है, की सहायता से बिना पूर्ण सूर्य ग्रहण की दशा आए ही 'कोरोना' का बिम्ब प्राप्त किया। लायट ही वह पहला ज्योतिषी था जिसने उपर्युक्त प्रकार से कोरोना का बिम्ब प्राप्त किया और इस विधि ने संसार के अन्य खगोलवेत्ताओं के लिए इतने लाभदायक सिद्ध हुए जिसकी सहायता से अब प्रतिदिन कोरोना में हुए परिवर्तनों की तालिका बनने लगी और इस प्रकार प्राप्त तालिकाओं से सूर्य की रचना का स्पष्टीकरण हो जाता है। चन्द्रमा की स्थिति ऐसी है कि पूर्ण ग्रहण के अवसर पर सूर्य पूरा-पूरा ढक जाता है अर्थात् चन्द्रमा अपने पथ पर उतना ही बड़ा दिखाई देता है जितना बड़ा सूर्य अन्यथा हम पूर्ण सूर्य ग्रहण कभी न देख पाते।

इन परीक्षणों से स्पष्ट हुआ कि कोरोना सबसे बाहरी वायुमण्डल है जिसकी आकाश में कोई निश्चित सीमा नहीं, गो कि फोटोस्फीटर तथा क्रोमोस्फीयर की हम सीमाएँ देख चुके हैं। यह सूर्य का वायुमण्डल लाखों-अरबों मील आकाश में फैला हुआ है परन्तु इसकी रचना क्या है यह प्रश्न बहुत प्राचीन काल से खगोलवेत्ताओं को चक्कर में डाले हुए था? कोरोना से प्राप्त स्पेक्ट्रम से यह प्रमाणित होता है कि प्रकाश जो यहाँ से चलता है उसका अधिकतम अंश फोटोस्फीयर से छिनरने के पश्चात् आगे बढ़ता है और उपर्युक्त वर्णपट में प्राप्त रेखाएँ पृथ्वी पर के तमाम प्राप्य तत्वों में से किसी से भी नहीं मेल खातीं। इससे यह निष्कर्ष निकाला गया कि कोरोना में कोई ऐसा तत्व विद्यमान है जो कि पृथ्वी पर की प्रयोगशाला में नहीं प्राप्त किया जा सकता है और इस तत्व का नाम **'कोरोनियम'** रखा गया। इस नाम से तब तक काम चला जब तक कि वास्तविक रचना का पता नहीं चला। सन् १९४२ ई० में यल्डेन नामक स्वीडेन के एक वैज्ञानिक ने सैद्धान्तिक भौतिकी द्वारा यह प्रमाणित कर दिया कि आयरन, कैल्शियम और निकेल अत्यधिक आयनीकृत अवस्था में ठीक उसी तरंग दैर्घ्य की तरंगों का प्रसरण करेंगे जितना कोरोनियम से मिलता है। इसलिए अब यह प्रश्न भी हल हो जाता है कि कोरोना की बनावट क्या है। इसके अतिरिक्त यल्डेन ने कहा कि उपर्युक्त आयनीकृत अवस्था की स्थिति केवल उच्चतम ताप तथा शून्य दाब (लगभग) पर ही संभव है और यह ताप लगभग १००००००° से० के होगा। परन्तु केवल इसी आधार पर सत्य मान लेना ठीक नहीं होगा क्योंकि फोटोस्फीयर के ताप ६०००° से० की तुलना में यह बहुत अधिक हो जाता है। परन्तु सन् १९४२ तथा सन् १९४६ में जब यह पूर्ण रूप से ज्ञात हो गया कि कोरोना के अन्तः भाग से बहुत बड़ी तरंग दैर्घ्य की वैद्युत चुम्बकीय तरंगें प्रसारित होती हैं तो उससे यह भी पूर्ण रूप से प्रमाणित हो गया कि इस भाग का ताप १००००० से० के होगा। इन तरंगों को हम रेडियो संग्राहक पर प्राप्त कर सकते हैं और उनसे भौतिकज्ञों ने अनेकों गवेषणाएँ प्राप्त की हैं जिसका वर्णन देना यहाँ पर असंभव है।

इतना होते हुए भी आज हम यह निश्चित रूप से नहीं कह सकते कि सूर्य के सम्बन्ध में प्राप्त ये आँकड़े सब सत्य ही हैं क्योंकि केवल एक सिद्धान्त की सत्यता को लेकर इनका निर्माण हुआ है। यदि वह सिद्धान्त ही असत्य हो तो हमारे सारे आँकड़े गलत हो जाएँगे। परन्तु हमें हिम्मत नहीं हारना चाहिए बल्कि प्रयत्न करते रहना चाहिए और प्रकृति के गुह्यतम रहस्यों के उद्घाटन में जी-जान से प्रयत्न करना चाहिए। आखिर एक दिन ऐसा आयगा जबकि सम्पूर्ण रहस्यों का उद्घाटन हो जायगा।

● ●

श्वेत कुष्ट

जे० पी० तिवारी और जे० चन्द्र

कुष्ट रोग से ग्रसित मानव संसार में हर जाति में पाए जाते हैं। यह रोग कई प्रकार के होते हैं। भारत में श्वेत कुष्ट को भी इस रोग की एक शाखा मानते हैं। श्वेत कुष्ट को सुनवहरी, सफेद कोढ़, ल्यूकोडरमा या विटिलिगो भी कहते हैं। श्वेत कुष्ट त्वचा के विरंजन से होता है। यह कोई रोग नहीं है किन्तु त्वचा में रंग न बनने से कुरूपता आती है। ल्यूकोडरमा वंशानुगत रोग नहीं है।

मेलानिन और त्वचा

त्वचा के भूरे रंग को मेलानिन (Melanin कहते हैं और इसी रंग के कारण त्वचा रंगीन रहती है। वैसे मेलानिन के साथ-साथ मेलेन्वाइड, केरोटीन आदि भी होते हैं।

मेलानिन त्वचा की इन्फारेड और अल्ट्रावाइलेट किरणों से और अन्य साधारण चोटों से रक्षा करता है। रंगीन त्वचा पर रासायनिक पदार्थों का प्रभाव भी कम पड़ता है तथा इक्जमा नामक रोग भी कम ही होता है। रंगहीन त्वचा पर सूर्य की किरणों का प्रभाव भी शीघ्र पड़ता है।

श्वेत जाति वालों की त्वचा में इस रंग की न्यूनता होती है किन्तु फिर भी यह रंग फोतों की खाल में उरोजों के बिन्दुओं के पास गुदा की खाल में और बालों में अधिक होता है। रंगीन त्वचा वाली जातियों में रंग वाली कोशिकाएँ होती हैं। नीग्रो जाति और श्वेत जाति वालों की त्वचा में इसके अतिरिक्त कोई भेद नहीं होता है मेलिनो ब्लास्ट श्वेत कुष्ट वालों की त्वचा में उपस्थित रहता है किन्तु वे कार्यहीन होते हैं। और मेलानिन रंग निष्कृत नहीं करते हैं। मेकाटो के अनुसार मेलानिन का संश्लेषण मेलिनोसाइट ग्रंथिका में होता है और फिर पास की इपीसैल्स को मिल जाता है।

मेलानिन एक प्रकार का कार्बनिक पदार्थ है जो मणिभाकार नहीं होता है। इसमें ८·५% नाइट्रोजन की मात्रा होती है। रासायनिक पदार्थों का तथा सान्द्र अम्लों का कोई प्रभाव मेलानिन पर नहीं होता है किन्तु सान्द्र क्षार के घोलों में थोड़ी मात्रा में यह घुलनशील होता है। हाइड्रोजन परग्राक्साइड से यह विरंजित हो जाता है।

श्वेत दाग और उनके आकार

त्वचा में जिस स्थान पर मेलानिन का अभाव होता है वह श्वेत या दूधिया हो जाता है इसी को श्वेत कुष्ट कहते हैं। यह श्वेत दाग समान रंग वाले होते हैं इनके किनारे या तो गोलाकार या कटे-फटे होते हैं। किनारे स्वतः दृष्टिगोचर होते हैं क्योंकि वह अधिक रंग वाले होते हैं। प्रायः श्वेत रंग वाले दाग के सब ओर रंग होता है किन्तु कभी कभी श्वेत दाग के बीच में थोड़ा भाग साधारण त्वचा रंग वाली का होता है। रंग विहीन त्वचा के बाल भी सफेद होते हैं इस प्रकार एक बाल भी सफेद हो तो वह श्वेत कुष्ट के होने का संकेत हो सकता है। श्वेत कुष्ट के दागों का आकार भिन्न-भिन्न होता है तथा शरीर के भिन्न भागों में होता है। अधिकतर यह दाग मुख, गर्दन, हाथ के पंजे, और इसके पिछले भाग और प्रजनन अंगों पर होते हैं। हथेली और पैर के तलुओं में कभी-कभी ही पाए जाते हैं। दागों का फैलाव समान रूप से होता है। दागों का आकार रोग की भयानकता पर निर्भर होता है। जैसे कि विटिलोगो युनिवरसेलिस में साधारण त्वचा के ही कुछ भाग दूर-दूर पर मिलते हैं। तथा सम्पूर्ण शरीर श्वेत दागों से परिपूर्ण हो जाता है।

श्वेत दाग प्रारम्भ में बहुत ही छोटा होता है उस स्थान पर कभी-कभी खुजली भी मालूम होती है। किन्तु रंगहीन हो जाने पर रोगी का ध्यान आकर्षित होता है। फिर यह श्वेत दाग आकार में बढ़ने लगता है और शरीर के अन्य स्थानों पर तथा उस दाग के पास भी इस प्रकार के दाग उभरने लगते हैं। भाँति-भाँति के रोगियों में यह रोग भिन्न प्रकार से बढ़ता है। कभी तो वर्षों तक प्रारम्भिक दाग उसी आकार का रहता है। और शरीर से अन्य स्थानों पर उसी प्रकार के दाग पड़ जाते है। और नहीं भी होते हैं किन्तु यदि दाग पड़ते हैं तो शीघ्रता से बढ़ते जाते हैं। संभवत; मनुष्य के मानसिक चिन्ता का प्रभाव इनके बढ़ने में सहायक होता है। रोगी के स्वास्थ्य पर इनका कोई प्रभाव नहीं होता है।

श्वेत कुष्ट और आयु

आयु का कोई विशेष सम्बन्ध इस रोग से नहीं होता है। थोड़ी अवस्था वाले शिशुओं में भी यह रोग पाया जाता है। किन्तु सम्भवत: इस रोग से ग्रसित होने की अवस्था २५ से ४५ वर्ष तक ही अधिकतर देखी गई है। किसी भी आयु पर स्त्री और पुरुषों में हो सकता है।

श्वेत कुष्ट और अन्य रोग

श्वेत कुष्ट के साथ और कोई रोग विशेष नहीं होता है किन्तु फिर भी कभी सोरायसिस (त्वचा का एक रोग), ग्रेव का रोग और बच्चों में हरलर का रोग भी साथ में होने की सम्भावना हो सकती है। श्वेत कुष्ट के साथ दूसरा रोग एलोपीसिया भी हो सकता है किन्तु इसकी सम्भावना उन व्यक्तियों में विशेष रूप से होती है जिनकी हारमोन बनाने वालीग्रंथियों में कोई गड़बड़ी होती है।

श्वेत कुष्ट का कारण

श्वेत कुष्ट के होने का कारण भली भाँति मालूम नहीं हो सका है किन्तु यह निश्चयपूर्वक विदित है कि मेलानिन के न बनने से त्वचा का रंग किसी भी अवस्था में बदल जाता है और श्वेत दाग पड़ने प्रारम्भ हो जाते हैं। त्वचा में और भी रंग होते हैं किन्तु प्रमुख स्थान मेलानिन का ही है। और इसी की कमी के कारण यह रोग फैलता है।

निदान और औषधियाँ :

श्वेत कुष्ट का निदान हो जाने पर इसके इलाज की ओर ध्यान देना आवश्यक है। भारतवर्ष में प्रत्येक समाचार पत्रों में तथा पत्रिकाओं में इसके इलाज का विज्ञापन होता है। इससे विदित होता है कि रोगियों की संख्या अधिक है विज्ञापन पर विश्वास कर औषधि मंगा कर उपयोग करना किसी भाँति भी हितकर नहीं है इससे पैसों की और समय की हानि, और रोग की ओर से निराशा तथा उदासीनता होती है और फिर रोग ठीक न होने पर रोगी स्वयं चुप बैठ जाता है। अतएव श्वेत कुष्ट के निदान और शमन के लिए उपयुक्त वैद्य या डाक्टर से ही विचार-विनमय करना चाहिए। विज्ञापन पढ़ कर औषधि करना श्रेयस्कर नहीं है। आयुर्वेद में इस रोग के लिए कई औषधियाँ प्रचलित हैं। उनमें से बावची (बाग़ुची) (Proba eorlifalio) का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। पाश्चात्य चिकित्सा पद्धति से इस, औषधि पर अनुसंधान कार्य हो चुका है और अब भी हो रहा है। इस औषधि से सोरेलीन एलक्लायड प्राप्त किए गए हैं जो ४०% रोगियों को लाभ पहुचाते हैं!

दूसरी औषधि मेलाडिनिन (Meladlinine) है। यह दो औषधियों के मिश्रण से बनती है। प्रथम का नाम एमोयडीन (Ammoidine और दूसरे का नाम एमीडीन (Ammidine) है ये पदार्थ आमीमाजुस नामक पौधे से प्राप्त होते हैं। रोग के शमन में इस पौधे के फलों का उपयोग अफ्रीका और मिश्र में शताब्दियों पहले विदित था किन्तु अन्य हानिकारक प्रभावों के कारण फलों का उपयोग करना असम्भव प्रतीत होता है। पर उनसे निकले पदार्थों का उपयोग पाश्चात्य देशों में इस रोग के शमन में उपयोगी सिद्ध हुआ है। एमोयडीन Ammoideme) बरगपटीन (Bergaptine) जो बरगामोट तेल से भी प्राप्त होता है, तथा

सोरलिन (psoralin) जो बावची से प्राप्त होता है। से मिलता जुलता पदार्थ है मेलाडिनिन से रोग के शमन में लाभ होता है। पहले यह रोग असाध्य समझा जाता था, किन्तु लाभ पहुँचने के लिए कई कारणों पर निर्भर करता है। रोग ग्रसित होने और रोगी रहने का समय, रोगी का स्वास्थ्य और औषधि लेने का समय। मेलेडिनिन खाने और लगाने से यह रोग ठीक होता है। दोनों रीतियाँ साथ-साथ भी की जा सकती हैं। इस औषधि के साथ विटामिन सी का प्रयोग वर्जित है। दोनों प्रकार की औषधियों का प्रयोग योग्य डाक्टर या योग्य वैद्य की देख रेख में करना आवश्यक है। क्योंकि डाक्टर ही उचित मात्रा में औषधि का प्रयोग करावेगा तथा उनमें होने वाले अन्य हानिकारक प्रभावों का उचित इलाज करेगा अतएव रोगी को चाहिए कि वह इस रोग से परेशान होकर विज्ञापनों पर निर्भर न करे किन्तु योग्य वैद्य या डाक्टर की देखरेख में इस रोग की औषधियों का सेवन करें। इस दशा में शोध-कार्य प्रतिदिन हो रहा है और आशा की जाती है कि शीघ्र ही ऐसी भारतीय औषधियाँ भी उपलब्ध हो सकेंगी जो इस रोग की रोक-थाम और ठीक करने में सहायक होंगी।

नीला गेहूँ

रेडियोधर्मी विकिरण के प्रभाव से रूस में एक नीले रंग का गेहूँ विकसित किया गया है। यह किस्म मौसम की प्रतिकूलताओं को सहन करने की क्षमता रखता है। हवा, वर्षा एवं तूफान की विषमताओं को भी सहन कर सकता है। इसका नाम "हरेक्कोइद—७२" रखा गया है। यह गेहूँ उन क्षेत्रों में विकसित किया जायगा जहाँ की मिट्टी काली नहीं है।

प्रयाग विश्वविद्यालय में भारतीय रसायन परिषद् की गोष्ठी

२६ दिसम्बर से २६ दिसम्बर १९६४ तक प्रयाग विश्वविद्यालय के म्योर सेण्ट्रल कालेज में अखिल भारतीय रसायन परिषद् की दूसरी गोष्ठी सम्पन्न हुई। इसमें देश भर के १५० से अधिक रसायन वेत्ताओं ने भाग लिया। विभिन्न शाखाओं में २०० से अधिक शोध निबन्ध हुए और दस उपयोगी व्याख्यान हुए। इस गोष्ठी में डा० हुसेन जहीर डा० शेषाद्रि, डा० जगदीश शंकर, डा० रामचरण मेहरोत्रा, डा० मालवीय, डा० विश्वनाथ जैसे शीर्षस्थ वैज्ञानिक उपस्थित थे।

गोष्ठी में पढ़े गये निबन्ध रसायन में होने वाली प्रगति को सूचित करने में सहायक सिद्ध हुए।

बाल-साहित्य पर पुरस्कार

केन्द्रीय शिक्षा मंत्रालय ने बाल साहित्य पर जो ३५ पुरस्कार प्रदान किये हैं उनमें से ४ हिन्दी पुस्तकों पर हैं। इन चार पुस्तकों में से ३ पुस्तकें विज्ञान से सम्बन्धित हैं।

श्री रत्नप्रकाश शील कृत' विज्ञान की कहानी "एवं श्री व्यथित हृदय कृत" मैं हवा है पर पाँच-पाँच सौ का और श्री गुप्तबन्धु कृत "कुदरती केमरा" पर एक हजार का पुरस्कार मिला है।

वैज्ञानिक संस्थान—४

मेयो प्रतिष्ठान

(संकलित)

मिनेसोटा राज्य के रोचेस्टर नगर की मेयो संस्थाएँ स्वास्थ्य और चिकित्सा सम्बन्धी अपने कार्यों के कारण संसार भर में विख्यात हैं। मेयो क्लिनिक के संस्थापक मेयो-बन्धुओं विलियम और चार्ल्स की स्मृति में शताब्दी-उत्सव किये जायेंगे। उनमें से एक का जन्म १८६१ में हुआ था और दूसरे का १८६५ में। इसके साथ ही डाक्टरी शिक्षा और अनुसन्धान के लिए १९१५ में स्थापित 'मेयो प्रतिष्ठान' की अर्धशताब्दी मनाई जायेगी। पिछले वर्षों में मेयो क्लिनिक, मेयो एसोसियेशन और मेयो फाउण्डेशन नामक तीनों मेयो संस्थाओं ने बीसियों हजार रोगियों की अत्यन्त आधुनिक ढंग से चिकित्सा होने की व्यवस्था की है। इन संस्थाओं ने हजारों चिकित्सकों और शल्यक्रिया-विशेषज्ञों के लिए विशिष्ट प्रशिक्षण देने का मार्गप्रदर्शन किया। अनुसन्धान के फलस्वरूप इन संस्थाओं ने चिकित्सा और शल्यक्रिया की जो नई विधियाँ निकाली हैं उनसे अप्रत्यक्ष रूप में संसार के लाखों लोगों को लाभ पहुँचा है।

किन्तु मेयो-बन्धुओं का संभवतः सबसे उल्लेखनीय योगदान यह था कि उन्होंने डाक्टरी की एक नई विधि निकाली और उसका प्रयोग किया। इस तरीके के अनुसार डाक्टरी के विभिन्न क्षेत्रों के विशेषज्ञ—चिकित्सा और शल्यक्रिया-विज्ञ—किसी रोगी का उपचार करनै के लिए मिल कर इकट्ठे काम करते हैं।

विलियम जे० मेयो और चार्ल्स एच० मेयो के पिता इंगलैड में देहाती डाक्टर थे और १८४५ में वह अमेरिका आ गये थे। दोनों भाइयों ने अपने पिता का अनुसरण किया। विलियम १८८३ में मिशिगन विश्वविद्यालय के डाक्टरी शिक्षालय से स्नातक बने और चार्ल्स १८८८ में शिकागो के डाक्टरी कालेज से। स्नातक होकर दोनों भाई अपने पिता के साथ ही रोचेस्टर में डाक्टरी का धन्धा करने लगे। रोचेस्टर नगर शिकागो से ३०० मील उत्तर-पश्चिम में है। जब तीनों डाक्टरों के पास चिकित्सा के लिए आने वाले रोगियों की संख्या बढ़ गई तो उन्होंने अपने पास और डाक्टर भी रख लिये। १८९५ में मेयो बन्धुओं के पिता ने काम छोड़ दिया तो और अधिक डाक्टर रखे गये।

लोग इन डाक्टरों के दवाखाने को 'मेयो क्लिनिक' कहने लगे और १९०३ तक यह नाम प्रचलित हो गया इसका तात्पर्य आज भी वही है यानी रोगियों की सहायता करने के लिए संयुक्त सहकारी व्यावसायिक मण्डली के रूप में काम करने वाले चिकित्सकों का एक स्वयंसेवी संगठन।

१८९४ ई० में ही मेयो-बन्धुओं ने यह निश्चय कर लिया था कि उन्हें चिकित्सा और दवादारू करने के अतिरिक्त 'अन्ततोगत्वा रोगियों के लिए कुछ उपयोगी काम' भी करना चाहिए। उनके इस विचार का आधार उनकी यह भावना थी कि अपने प्रयत्नों से उपार्जित अतिरिक्त आय फिर जनता के पास ही पहुँचनी चाहिए।

शीघ्र ही ऐसी सेवा का अवसर उपस्थित हो गया मेयो क्लिनिक का नाम और ख्याति फैलने पर बहुत से युवा चिकित्सक अध्ययन के लिए वहां पहुँचने लगे। १९१४ तक यह स्पष्ट हो गया कि प्रशिक्षण का एक व्यवस्थित कार्यक्रम चालू करना आवश्यक है। मेयो-बन्धुओं ने १९१५ में डाक्टरी शिक्षा और अनुसन्धान के लिए "मेयो प्रतिष्ठान" की स्थापना की। उसे

मिनेसोटा विश्वविद्यालय से सम्बन्ध कर दिया गया और वह आज भी सम्बद्ध है। वहाँ चिकित्सकों को उनके विशिष्ट क्षेत्र का प्रशिक्षण देने की व्यवस्था, अमेरिका की अन्य अनेक ऐसी संस्थाओं की अपेक्षा बहुत पहले, कर दी गई।

१९३४ में डा० विलियम मेयो ने प्रतिष्ठान के प्रारम्भ होने का वर्णन इन शब्दों में किया था।

जो धनराशि हमने जमा की थी और जो हमारी आशाओं की अपेक्षा भी अधिक हो गई थी वह रोगियों से ही आई थी। हमारा विश्वास था कि यह धनराशि उच्च डाक्टरी शिक्षा के रूप में रोगियों को ही पहुँचनी चाहिए ताकि उस शिक्षा से अच्छे डाक्टर तैयार हों, जो रोगों की मात्रा को कम करने के लिए अनुसन्धान करें।

इसके साथ ही मेयो प्रतिष्ठान और मेयो क्लिनिक की जमीन-जायदाद को संभालने के लिए, एक निर्लाभ दान संस्था के रूप में 'मेयो एसोसियेशन' की स्थापना की गई। एसोसियेशन के उद्देश्यपत्र में कहा गया है: किसी भी रोगी को उसकी सामर्थ्य से अधिक धन चुकाने के लिए नहीं कहा जायेगा, कोई स्टाफ सदस्य, अधिकारी या कर्मचारी उचित वार्षिक मुआविजे से अधिक कोई आर्थिक लाभ नहीं उठायेगा।

मेयो क्लिनिक के स्टाफ की बैठकों के विवरण सभी जगहों के चिकित्सकों द्वारा चिकित्सा सम्बन्धी जानकारी के प्रामाणिक स्रोत समझे जाते हैं। वहाँ १९४० की बैठक में पहली बार रक्त में एल० ई० कोष होने की नई जानकारी दी गई थी।

१९४९ के विवरण में डा० एडवर्ड सी० कैण्डल ने सन्धिवात (गठिया) और अन्य अनेक रोगों के उपचार में प्रयुक्त **कोर्टिसोन** नामक एक मूल रस के विकास और प्रयोग की सूचना दी थी। इसके लिए डा० कैण्डल और दो अन्य व्यक्तियों को १९५० का औषधशास्त्र और शरीर-क्रियाविज्ञान सम्बन्धी नोबेल पुरस्कार दिया गया था।

१९२५ में मेयो क्लिनिक के चिकित्सकों द्वारा कैन्सर-उत्पत्ति के वर्गीकरण की जो विधि प्रस्तुत की गई थी वह आज भी संसार में शरीर की रसौलियों के वर्गीकरण के लिए अपनायी जाती है।

दोनों मेयो-बन्धु जीवन भर साथ-साथ रहे और अपने पीछे मनुष्य जाति के लिए एक चिरस्मरणीय यादगार छोड़ कर १९३९ में दो महीने के भीतर ही संसार से विदा हो गये।

उड़न तश्तरियाँ

यद्यपि उड़न तश्तरियाँ अब भी विवादस्पद हैं किन्तु ऐसा माना जाता है कि वे समय-समय पर देखी जाती हैं। "फ्लाइंग सॉसर रिव्यू" नामक पत्रिका में अभी एक लेख छपा है जिसके आधार पर यह उद्घाटन होता है कि अब तक लगभग ७० हजार व्यक्तियों ने इन तश्तरियों को देखा है। इस लेख में आरोप लगाया गया है कि ब्रिटेन तथा अन्य देश की सरकारें इनकी सत्यता को छिपाने का प्रयत्न कर रही हैं।

सार संकलन

१. १९६४ में अमेरिकी विज्ञान

अमेरिकी वैज्ञानिकों द्वारा १९६४ में किये गये आधारभूत अनुसन्धान के फलस्वरूप भौतिक विज्ञान, जीव-रसायन विज्ञान, पुरातत्व विज्ञान, तथा खगोल विज्ञान जैसे विविध क्षेत्रों में मनुष्य के ज्ञान में वृद्धि हुई है। अमेरिकी वैज्ञानिकों द्वारा १९६५ में प्रकाशित हजारों अनुसन्धान-रिपोर्टों में से कुछ को यह प्रदर्शित करने के लिए चुना गया है कि तत्व, जीवन, ब्रह्माण्ड और स्वयं मनुष्य सम्बन्धी पूर्णतर जानकारी प्राप्त करने की दिशा में मनुष्य क्या कुछ प्रगति कर रहा है?

विज्ञान के इन क्षेत्रों की गहन जानकारी प्राप्त करना अत्यन्त कठिन है, और इससे भी कठिन है उनका वर्णन करना। इस कठिनाई के कारण ही समाचार-पत्रों में उनके विषय में बड़े-बड़े शीर्षक से प्रकाशित समाचारों का अभाव मिलेगा। फिर भी, उनका इतना आधारभूत महत्व है कि इनमें से कुछ की जानकारी सभी मानव प्राणियों के लिए हितकर सिद्ध होगी।

सैकड़ों उल्लेखनीय खोजों में से, एक द्वारा, जो प्रिंस्टन विश्वविद्यालय (प्रिंस्टन, न्यूजर्सी) के भौतिक वैज्ञानिकों की एक टोली ने की है, हो सकता है कि आणविक भौतिक विज्ञान के आधारभूत सिद्धान्तों में से एक की बुनियाद हिल उठे। ब्रुकहैवन नैशनल लैबोरेटरी (उपटन, न्यूयार्क) में स्थापित विश्व की सबसे अधिक शक्तिशाली अणु-विखण्डक संयंत्र का प्रयोग करके, उन्होंने स्पष्टतः एक ऐसी स्थिति की खोज की, जो सम्वद्ध सिद्धान्त पर आधारित भौतिक विज्ञान के स्वीकृत नियमों द्वारा असम्भव मानी जाती है। सरल शब्दों में, इस सिद्धान्त के अनुसार, समस्त भौतिक नियम हर दशा में अपरिवर्त्तित रहते हैं, चाहे समय आगे बढ़ता हो या पीछे प्रवाहित होता हो। पीछे की ओर काल का प्रवाह' साधारण व्यक्ति के लिए एक आश्चर्यजनक कथन है। किन्तु इसका संकेत सापेक्षवाद से सम्बद्ध एक धारणा की ओर है। यदि ब्रुकहैवन प्रयोग में किये गये प्रयोग— 'मेसन' नामक एक उप-न्यष्टिक कण को भिन्न-भिन्न प्रकार के दो मेसनों में विखण्डित करने—के परिणामों की पुष्टि हो जाती है, तो उपर्युक्त सिद्धान्त निराधार सिद्ध होगा।

ब्रुकहैवेन प्रयोगशाला में किये गये एक अन्य प्रयोग के फलस्वरूप किसी स्वीकृत सिद्धान्त का खण्डन होने के बजाय, एक वहुत कुछ नये सिद्धान्त की स्थापना हुई है। इस सिद्धान्त को मुरे जेल-मैन (कैलिफोर्निया इन्स्टिट्यूट औव् टैक्नोलौजी, पासडेना, कैलिफोर्निया और युवातनी' (तेल अबीव विश्वविद्यालय इजरायल) ने स्वतन्त्र रूप से किये गये अपने-अपने प्रयोगों द्वारा विकसित किया है। यह सिद्धान्त, अन्त बातों के साथ, उप-न्यष्टिक कणों के एक पूरे परिवार के अस्तित्व की भविष्यवाणी करता है। इस सिद्धान्त की सत्यता एक कण के अस्तित्व पर निर्भर करती है, जिसे उन्होंने 'ओमेगा-माइनस' की संज्ञा दी है।

विशाल अणु-विभंजक संयंत्र का पुनः प्रयोग करके, ब्रुकहैवेन के वैज्ञानिकों ने ओमेगा-माइनस की खोज प्रारम्भ की। इस कण की जीवनावधि इतनी न्यून — एक सेकण्ड के १० लाखवें अंश के बराबर है कि इसका अस्तित्व प्रायः नगण्य सा प्रतीत होता है। उन्होंने एक हाइड्रोजन बुदबुद-कक्ष में इस कण के पथों के १००,००० से अधिक चित्र खींचे और इनमें से दो में ओमेगा-माइनस को ढूँढ़ निकाला।

मैसाचूसेट्स इन्स्टिट्यूट ऑव् टेक्नोलोजी (कैम्ब्रिज, मैसाचूसेट्स के प्रोवोस्ट, डा० चार्ल्स एच० टाउन्स, को दो सोवियत भौतिक वैज्ञानिकों के साथ भौतिक विज्ञान के के नोवेल पुरस्कार के लिए चुन गया। ये तीनों ही, 'मेसर' के क्षेत्र में अनुसन्धान कर रहे हैं।

जीवाणु-विज्ञान के क्षेत्र में, १० वर्षों के अनवरत अनुसन्धान के उपरान्त विस्कांसिन विश्वविद्यालय (मैसिडन, विस्कांसिन) के डा० एच० गोबिन्द खुराना ऐसे रासायनिक तत्वों का पता लगाने में समर्थ हो गए हैं, जो वैज्ञानिकों के विश्वासानुसार जीवित-प्राणियों के विकास तथा उनमें होने वाले नाना प्रकार के परिवर्तनों के लिए उत्तरदायी हैं। 'डी एन ए' नामक ये रासायनिक तत्व ही जीवित सूक्ष्म कोष की न्यष्टिओं का निर्माण करते हैं। प्रोटीन नामक उस तत्व के उत्पादन पर भी इनका प्रभाव पड़ता है जो जीव के आकार और उसकी मनोवृत्ति को नियंत्रित करता है।

प्रोफेसर खुराना की सबसे बड़ी सफलता यह थी कि जीवन के उद्भव में योग देने वाले इस आधारभूत तत्व के विदित रासायनिक नमूने (रासायनिक परिवर्तनों के दौरान तत्व की विभिन्न अवस्थाओं के नमूने) उन्होंने कृत्रिम विधि से तैयार कर लिए। अब वे विभिन्न अवस्थाओं के इन कृत्रिम नमूनों (स्टेंडों) का उपयोग प्रोटीन तत्व का विश्लेषण करने के लिए कर रहे हैं।

फ्लोरिडा स्टेट यूनिवर्सिटी (टेलहासी, फ्लोरिडा) में सिडनी डब्ल्यू फौक्स और काम्रोस हारडा ने एक सर्वथा भिन्न तथा अत्यन्त महत्वपूर्ण परीक्षण किया है। ऐसी कृत्रिम परिस्थितियाँ जो सम्भवतः उस समय विद्यमान रही होंगी जब पृथ्वी पर जीवन का उद्भव हुआ होगा, चार सामान्य एमिनोअम्लों का उपयोग कर वे उस रासायनिक प्रक्रिया को जन्म देने में सफल हो गए, जिससे जीवन का उद्भव होता है। उन्होंने इन एमिनोअम्लों को लावा के अंचल में डाला और फिर उन्हें जीवाणुरहित जल (इस प्रकार के जल का उपयोग कृत्रिम वर्षा-जल के स्थान पर किया गया) मे धो दिया। इस प्रकार के प्रयोग से ऐसे अत्यन्त सूक्ष्म गोलाकार रासायनिक तत्वों का काफी अधिक संख्या में उद्भव हुआ, जो बहुत कुछ 'डी एन ए और प्रोटीनों से मिलते जुलते थे।

ज्योतिष-विज्ञान के क्षेत्र में, मार्टिन शिमट् और टामस ए० मैथ्यूज ने सृष्टि के इतने दूरवर्ती नक्षत्रों और पिण्डों के चित्र उतारे जितनी दूरी के चित्र इससे पूर्व पहले कभी नहीं उतारे गए थे। २००" (५०० सेण्टी मीटर) व्यास के माउण्ट पामर टेलिस्कोप का उपयोग कर, उन्होंने ३ सी-१४७ नामक उस ज्ञात नक्षत्र को खोज निकाला (ज्योतिषशास्त्रियों को इसके अस्तित्व का आभास था) जो ७६ हजार मील प्रति सेकेण्ड की गति से पृथ्वी से दूर हटता जा रहा था। पृथ्वी से यह नक्षत्र कई अरब प्रकाश-वर्ष की दूरी पर है। एक प्रकाश-वर्ष लगभग ६० खरब मील के बराबर होता है।

ब्रह्माण्ड में न्यूट्रॉन नक्षत्रों की विद्यमानता के सम्बन्ध में ज्योतिषशास्त्रियों द्वारा एक सिद्धान्त निर्धारित किया गया है। न्यूट्रॉन-नक्षत्र इतने सघन होते हैं कि इनके धन इंच भाग का वजन लाखों टन होता है। इस सिद्धान्त के अनुसार, इस प्रकार के नक्षत्रों से अत्यन्त विशाल परिमाण में एक्स-रे किरणों का निरसरण होता है। वाशिंगटन स्थित यू० एस० नैवल रिसर्च लेबोरेटरी के वैज्ञानिक हरबर्ट फ्रीडमैन के नेतृत्व में वैज्ञानिकों के एक दल ने एक दुर्लभ नक्षत्रीय घटना का लाभ उठा कर—यह घटना थी क्रेब-नेबुला के सामने से चन्द्रमा का गुजरना—इस सिद्धान्त की सत्यता की जाँच की। एक्स रे किरणों का पता लगाने वाले उपकरणों से युक्त एक राकेट उक्त घटना घटित होने के कुछ समय पूर्व ही अन्तरिक्ष में प्रक्षिप्त किया गया। इसी परीक्षण से वैज्ञानिकों को यह पता चला कि जैसे जैसे चन्द्रमा नेबुला को ढकता गया 'नेबुला' से आने वाली एक्स-रे किरणें शनैः-शनैः मन्द पड़ गईं। इस परीक्षण के परिणाम से इस मान्यता का खण्डन हो गया कि न्यूट्रॉन-नक्षत्र एक्स-रे किरणों का एक प्रमुख स्रोत हैं क्योंकि यदि ये इस प्रकार के किसी छोटे पिण्ड से निकल रही होतीं तो नक्षत्र के पूरी तरह ढँक जाने पर उनका निस्सरण अचानक पूरी तरह रुक जाता। लेकिन, इस स्रोत का पता लगाने के लिए अनुसन्धान बराबर जारी है।

पेन्सल्वेनिया स्टेट यूनिवर्सिटी (स्टेट कालेज पेन्सल्वेनिया) के लुइसे डुपरी के नेतृत्व में पुरातत्व-शास्त्रियों के एक दल को उत्तरी अफगानिस्तान में कुछ 'फ्लिन्ट ब्लेड' प्राप्त हुए हैं जिससे इस बात का पता चलता है कि ९ हजार वर्ष पूर्व मनुष्य द्वारा किये गए एक महत्वपूर्ण आविष्कार का प्रसार पश्चिमी एशिया के अत्यन्त विस्तृत क्षेत्र में बहुत तेजी से हुआ था। ये 'ब्लेड' उन ब्लेडों से बिल्कुल मिलते जुलते हैं, जो इससे पूर्व मेकडूनिया (ग्रीस) में पाए गए थे और जिनके बारे में यह विश्वास किया जाता था कि उनका उपयोग फसल काटने के लिए किया जाता था। मैकडूनियन पालतू जानवरों के अवशेष भी पाए गए थे। प्रोफेसर डुपरी का विश्वास है कि अफगानिस्तान में जो वस्तुएँ प्राप्त हुई हैं उनसे यह पता चलता है कि दोनों स्थानों के बीच स्थित २५०० मील लम्बे क्षेत्र में व्यवस्थित कृषि और पशु-पालन का कार्य लगभग एक ही समय पर प्रारम्भ हुआ था।

बापू—मैं मानता हूँ कि मनुष्य स्वभाव ऊर्ध्वगामी है। मैं डार्विनके सिद्धान्त को नहीं मानता कि मनुष्य बंदर से बना है।

प्रश्न—तो क्या आप यह मानते हैं कि सब जीवों की उत्पत्ति पृथक-पृथक हुई ?

उत्तर—मैं नहीं कह सकता कि मैं क्या मानता हूँ मगर बंदर से मनुष्य का विकास हुआ है, यह मैं नहीं मानता।

बापू की डायरी से

विज्ञान वार्ता

१. नवीन यंत्र की सहायता से वैज्ञानिक भारहीनता

अमेरिका ने एक ऐसा यंत्र विकसित किया है, जिसकी सहायता से वैज्ञानिक पृथ्वी के धरातल को छोड़े बिना ही भारहीनता की समानुरूपी स्थिति उत्पन्न करने में समर्थ हैं।

इस यंत्र का नाम 'जीरो जी० रिग है— यह मनुष्य को इस प्रकार लटकाए रखता है, मानो वह अंतरिक्ष में तैर रहा हो। वह अपने दस्तानों पर लगे एयरजेटों से अपने आप को गतिमान करके अपनी स्थिति को बदल सकता है। यह यंत्र उस स्थिति की समानुरूपी स्थिति उत्पन्न करने के लिए विशेष रूप से उपयुक्त है, जिसमें अंतरिक्ष-यात्री अंतरिक्षीय कक्षा में परिक्रमा करते हुए अथवा चन्द्रमा या अन्य ब्रह्माण्डीय पिण्डों की यात्रा करते हुए, अपने अंतरिक्ष-यान से बाहर निकलता है। लम्बी अंतरिक्ष-यात्राओं के दौरान अंतरिक्ष-यान के बाहरी भाग की मरम्मत करने के हेतु अल्पकाल के लिए अंतरिक्ष-यान के बाहर निकलना आवश्यक हो सकता है। 'जीरो जी० रिग' में परीक्षणार्थी व्यक्ति को छत की एक शहतीर से लटकते और आरपार फैले छड़ से लटकते जुए में पट्टी से बाँध दिया जाता है। यंत्र में लगी कड़ियों और कुण्डों की सहायता से परीक्षणगत व्यक्ति किसी भी दिशा में उसी प्रकार हिलडुल सकता है, जिस प्रकार कोई व्यक्ति के गुरुत्वाकर्षण-विहीन शून्य में हिलडुल सकता है।

इस यंत्र का भार १-५ टन है किन्तु इसका संतुलन इतना नाजुक होता है कि अंतरिक्ष में भारहीनता के जो प्रभाव सामने आते हैं, उनमें से अधिकाँश को ठीक उसी रूप में इस यंत्र द्वारा उत्पन्न स्थिति में भी अनुभव किया जा सकता है।

इस समय अमेरिका के 'राष्ट्रीय उड्डयन एवं अंतरिक्ष प्रशासन' (नैसा) द्वारा जिन अग्रिम अंतरिक्ष-यात्राओं का आयोजन हो रहा है, उनकी तैयारी के सिलसिले में अमेरिकी वैज्ञानिक प्राय: ऐसी प्रत्येक स्थिति की समानरूपी स्थिति उत्पन्न करने का प्रयत्न कर रहे हैं, जिसका सामना अंतरिक्ष में अंतरिक्ष-यात्री को सम्भवत: करना पड़ सकता है।

सैण्ट्रीफयूज तथा अन्य यंत्रों की सहायता से वैज्ञानिक पृथ्वी पर सामान्य रूप से अनुकूल गुरुत्वाकर्षण शक्तियों की कई गुनी शक्तियों के मनुष्यों और उपकरणों पर पड़ सकने वाले प्रभावों की जाँच-पड़ताल कर सकते हैं। अंतरिक्ष यानों के नमूनों में अमेरिकी वैज्ञानिक अंतरिक्षीय स्थितियों के अंतर्गत संकुचित कक्षों में देर तक बन्द रहने के प्रभावों का परीक्षण कर रहे हैं।

फिर भी, अंतरिक्ष में जिस तरह का गुरुत्वाकर्षण-विहीन वातावरण पाया जाता है, उसका सही-सही प्रतिरूप पृथ्वी पर उत्पन्न करना अत्यन्त कठिन होता है। अत्यन्त तीव्र गति से गोता उड़ान की शैली में उड़ते हुए विमानों में भार हीनता की अल्प अवधियों को समानुरूपित किया जा सकता है किन्तु इस स्थिति को अधिक से अधिक १ मिनट तक कायम रखा जा सकता है।

राष्ट्रीय उड्डयन एवं अंतरिक्ष प्रशासन (नैसा) के हंट्सविल (टैक्स) स्थिति मार्शल अंतरिक्ष उड्डयन केन्द्र और राइट पैटर्सन फील्ड (ओहायो) की अंतरिक्षीय चिकित्सा-अनुसन्धान प्रयोगशाला में किये गये इस प्रकार

के परीक्षणों में, टैक्निशियनों ने भारहीनता की अल्प-अवधि में एक जेट विमान की कैबिन के भीतर एक इंजिन की मरम्मत की। कई बार गोता-उड़ान करके इन टैक्निशियनों ने लगभग १ घण्टे की भारहीनता-अवधि प्राप्त कर ली। गुरुत्वाकर्षण के अभाव में, अंतरिक्ष-यात्री रेंच को घुमाने पर कोई जोड़ घुमा सकने के बजाय खुद ही घूम जायेगा। इसी प्रकार यदि वह हथौड़े की चोट करे, तो वह पीछे की ओर खिंच उठेगा।

इस समय अमेरिकी वज्ञानिक अंतरिक्ष में प्रयोग करने के लिए विशेष प्रकार के औजारों की डिजाइन तैयार कर रहे हैं। इनमें से कुछ औजारों का परीक्षण जेट विमानों की उड़ानों में हुआ है।

२. प्रकाश के लोचशील फीते उपलब्ध

अमेरिका में, घरों, व्यवसायों, वास्तुशिल्पों और उद्योगों में प्रयुक्त करने के लिए इस समय इच्छानुसार किसी भी लम्बाई में बिजली की रोशनी के लोचशील फीते उपलब्ध हैं। 'पैनेलसेण्ट टेप-लाइट' नामक फीते जिनमें बल्ब, ट्यूब या गैस कुछ भी नहीं होती प्रकाशमान होने की स्थिति में भी मोड़े या झुकाये जा सकते हैं, अथवा उन्हें गोलाकार करके किसी वस्तु के चारों ओर लपेटा जा सकता है। वे अमेरिका के घरों में प्रयुक्त साधारण बिजली की करेण्ट से या बैटरी से चालू हो सकते हैं।

ये फीते चार रङ्गों के होते हैं—नीले, हरे, श्वेत और पीले। अन्य रङ्ग प्राप्त करने के लिए इनके ऊपर प्लास्टिक की खोल चढ़ानी पड़ती है। घर के भीतर या बाहर विज्ञापन, परिवहन-नियंत्रण या अन्य कार्यों के लिए इसकी पट्टियों पर शब्द और अक्षर चढ़ाये जा सकते हैं।

ये फीते छूने पर ठण्डे मालूम होते हैं। १०० फुट लम्बे फीते में १०० वाट के बल्ब की अपेक्षा कम बिजली खर्च होती है। इनसे निकलने वाला प्रकाश मध्यम और रुचिकर होता है किन्तु बिजली को कम-अधिक करके उसे कम या अधिक किया जा सकता है।

इसे सड़कों के बीच पट्टी के रूप में, पैदल चलने के लिए बनी सड़कों पर या बड़ी सड़कों पर प्रकाश के लिए प्रयुक्त किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त घरों में सजावट के लिए, दूकानों और दफ्तरों में प्रदर्शन के लिए, भवनों या फर्नीचरों की भीतरी सुन्दरता के लिए और मनोरञ्जन के कार्यों के लिए प्रयुक्त किया जा सकता है।

टेप-लाइट फीते विद्युत् मा (इलेक्ट्रोल्यूमिनिसेंस) के सिद्धान्त पर क्रियाशील होते हैं। विद्युतधर्मी प्लेटों के बीच गन्धक रख कर और फिर प्लेटों के आरपार बिजली संचालित करके प्रकाश प्राप्त किया जाता है। प्रकाश को दृश्यमान बनाने के लिए एक प्लेट को पारदर्शी रखा जाता है। टेप-लाइट फीतों में एल्यूमिनियम की पतली पट्टी, गन्धक की एक परत और एक पारदर्शी विद्युत-वह परत सम्मिलित होती है।

इन्हें स्वच्छ प्लास्टिक की संरक्षक परतों के बीच दबा रखा जाता है। पूरा फीता केवल १|३२ इंच मोटा होता है और इस समय १२ इंच तक भिन्न-भिन्न चौड़ाइयों में इसका निर्माण हो रहा है। फीतों का निर्माण १५० फुट की प्रतिमानित लम्बाई में होता है, किन्तु इन्हें जोड़कर कारखाना किसी भी लम्बाई का फीता तैयार कर सकता है! इसे समान्यतः १२० वोल्ट की बिजली से चालू किया जा सकता है।

टेप-लाइट फीते आकस्मिक धक्के या टक्कर लगने पर भी अप्रभावित बने रहते हैं। एक परीक्षण के दौरान बन्दूक की गोली से छिद्रित होने पर भी एक फीता प्रकाशमान बना रहा। साथ ही, यह साधारण बल्बों की तरह बार-बार खराब भी नहीं होता। किन्तु बराबर प्रयुक्त होने पर इसके प्रकाश की तीव्रता क्रमशः घटती जाती है। प्रायः ३५,००० घण्टे प्रकाशित रहने के बाद, इसकी रोशनी की तीव्रता प्रारम्भ की अपेक्षा आधी रह जाती है। फिर भी इससे इस प्रकार का मद्धिम प्रकाश १०,००० घण्टे और भी बराबर मिलता रहेगा। इसकी रोशनी को इच्छानुसार कम और अधिक भी किया जा सकता है।

३. चन्द्रमा पर रङ्ग

अमेरिका का राष्ट्रीय उड्डयन एवं अन्तरिक्ष प्रशासन (नैसा) एक ऐसा उपकरण विकसित कर रहा है, जो चन्द्रमा की सतह पर विभिन्न रंगों का पता लगा सकेगा। इस उपकरण का नाम 'मून ब्लिक' है। इसने अपनी उपयोगिता सिद्ध कर दी है, क्योंकि इसकी सहायता से ३ व्यक्ति चन्द्रमा के मध्य भाग के निकट स्थित 'अलफोन्सस' नामक ज्वालामुखी में लाल रंग के धब्बों का पता लगा चुके हैं। यह वही क्षेत्र है, जिसमें ६ वर्ष पूर्व लाल धब्बों को देखा गया था।

यद्यपि वैज्ञानिकों में रंगीन धब्बों के कारणों के विषय में मतभेद है, फिर भी कुछ वैज्ञानिकों का दावा है कि वे इस बात के सूचक हैं कि चन्द्रमा गैसों का मूल स्रोत हो सकता है, और सम्भवतः वह 'जड़' पदार्थ होने की बजाय शक्ति का स्रोत है। इस उपकरण की सहायता से चन्द्रमा पर रंगीन धब्बों को प्रकाशित कर उनके स्थान का निर्धारण किया जाता है। एक दूरवीक्षण यन्त्र के दर्पण द्वारा प्रतिबिम्बित प्रकाश के आरपार रंगीन छननियों को घुमा कर टिमटिमाहट उत्पन्न की जाती है।

चन्द्रमा की सतह पर लाल रंग के धब्बे का पता लगाने के लिए, प्रकाश के आरपार लाल, नीले रंग के छन्ने घुमाए जाते हैं, जिससे वह धब्बा छाया के भीतर और बाहर चमकने लगता है।

इस यन्त्र को अन्नोपोलिस की फर्म ट्राइडेण्ट इंजिनियरिंग एसोशियेट्स, इन्क०, विकसित कर रही है और इसकी धारणा राष्ट्रीय उड्डयन एवं अन्तरिक्ष प्रशासन के उच्चतर अनुसन्धान एवं टैक्नोलौजी सम्बन्धी सहायक प्रशासक के प्राविधिक सहायक, डा० जेम्स बी० एडसन, के मस्तिष्क की उपज है।

हाल में, पोर्ट टोबैको के निकट एक बेधशाला में 'मून ब्लिक' उपकरण का सफल परीक्षण हुआ। इस वेधशाला के मालिक लाइल जौन्सन नामक एक शौकिया खगोल-वैज्ञानिक हैं। इस यन्त्र की सहायता से लाल धब्बे का पता सबसे पहले जौन्सन ने ही लगाया। जब उपकरण द्वारा लाल धब्बे के स्थान का निर्धारण कर लिया गया, तो ४००-पावर लेन्स की सहायता से उसे देखा गया। उपकरण और लेन्स को १६ इंच व्यास वाले एक दूरवीक्षण यन्त्र से जोड़ दिया गया था। उपकरण की सहायता से लाल धब्बे का निरीक्षण ई० डी० हाल और जोसेफ वेयरसुक ने भी किया। पता लग जाने के बाद लगभग ४५ मिनट तक धब्बे का निरीक्षण किया गया।

४. अनुसन्धान द्वारा नये प्रकार के खाद्य-पदार्थों का विकास

अमेरिका के राकफैलर प्रतिष्ठान की सहायता से कार्यान्वित एक विश्वव्यापी कार्यक्रम द्वारा खाद्याभाव ग्रस्त देशों में प्रयोग के लिए नये प्रकार के और सस्ते खाद्य-पदार्थ विकसित हुए हैं। इन खाद्य-पदार्थों में प्रोटीन और विटामिन, दोनों ही प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हैं। १९५६ के बाद विकसित नये प्रकार के इन खाद्य-पदार्थों में निम्नलिखित उल्लेखनीय हैं :

गन्ने के पौधे या 'कस्सावा' की पत्तियों से तैयार प्रोटीन युक्त आटा विकसित हुआ है, और उसे अत्यन्त नन्हें शिशुओं को सफलतापूर्वक खिलाया गया है।

बिनौला और सोयाबीन से तैयार 'इनकेपरिना' नामक आटा अनेक देशों के बच्चों और प्रौढ़ों में अत्यन्त लोकप्रिय हुआ है।

अफ्रीका में, अनुसन्धानकर्त्ताओं ने मक्का, मटर और मछली का एक मिश्रित आहार विकसित किया है, जिसे चपाती के रूप में पकाया जा सकता है, अथवा रोटी के लिए प्रयुक्त किया जा सकता है। अफ्रीका के अनेक भागों में मूंगफली का आटा बहुत ही पोषक और रुचिकर सिद्ध हुआ है। फोर्ड प्रतिष्ठान की सहायता से कार्यान्वित एक अन्य अनुसन्धान से पता चला है कि भारत जैसे कपास-प्रधान देश में बहुत ही सस्ती दर पर बिनौले का आटा तैयार हो सकता है। हाल में वाशिंगटन में आयोजित एक सम्मेलन में, जिसमें भारत सहित २० देशों ने भाग लिया, इन तथा अन्य नये खाद्य पदार्थों के विषय में रिपोर्टें प्रस्तुत की गयीं। सम्मेलन ने इस बात पर बल दिया कि घनी आबादी वाले देशों में स्कूल जाने से पूर्व बच्चों को ये खाद्य-पदार्थ दे कर आहार में पोषक तत्वों के अभाव की समस्या हल की जा सकती है।

●●

सम्पादक के नाम पत्र

(१)

स्वरूप नगर

२८-११-६४

महोदय,

नवम्बर १९६४ का "आस्तिकता" नामक लेख पढ़ कर बहुत ही खुश हुआ। बिना प्रभु का ध्यान किये हमारा Vision संकीर्ण हो जाता है। जब वह संकीर्णता निकल गई तो सोचा आपको लिखूँ.........

श्याम चरण टण्डन

श्री टण्डन जी,

आपको 'विज्ञान' में प्रकाशित लेख से लाभ हुआ, यह गर्व की बात है। विज्ञान लगातार पढ़ते रहें। आपको और लाभ होगा।

सम्पादक

(२)

जवाहर नगर, दिल्ली—६

श्री सम्पादक जी महाराज

विज्ञान का तो मैं सन् १९३५ तक ग्राहक रहा हूँ। उन दिनों तो विज्ञान में नुस्खे निकलते नहीं थे। अब सुना है विज्ञान में भी निकलते हैं। यदि ऐसा हो तो मैं बूढ़ा होते हुए भी विज्ञान का ग्राहक फिर बन जाऊँगा।

शिवशंकर शर्मा वैद्य

आदरणीय वैद्य जी,

आप "विज्ञान" के ग्राहक अवश्य बन जावें। इसमें "आधुनिक नुस्खे" तो मिल ही जावेंगे। कष्ट के लिए धन्यवाद

सम्पादक

(३)

राजगढ़, मध्यप्रदेश

महोदय,

बड़े दुःख और आश्चर्य के साथ आपको लिखना पड़ रहा है कि आपने जो बुकपोस्ट वी० पी० द्वारा भेजा है वह अत्यन्त ही गलत पते पर और किसी भ्रम में भेज दी है। न तो मैं आपकी विज्ञान परिषद् का सदस्य हूँ और न ही इस पुस्तक या और किसी पुस्तक के बारे में मैंने आपको लिखा।

मुझे बड़ा दुख है कि मैं अपनी आर्थिक परिस्थिति के अनुसार विज्ञान का छात्र नहीं हूँ। यदि मैं विज्ञान का छात्र होता तो शायद यह मेरे काम आती।

यह वी० पी० मैंने उधार पैसे लेकर छुड़ाई है।... आप विज्ञान के इस अंक को वापस लें और मेरा धन वापस करें।......

हरीसिंह बोडबावरे

प्रिय महोदय,

खेद है कि हमको कर्ज लेकर पत्रिका की वी० पी० छुड़ानी पड़ी किन्तु यह कैसे सम्भव है कि आपके ठीक पते पर वी० पी० पहुँची जबकि आप 'विज्ञान' के ग्राहक नहीं ?

यदि आपने विज्ञान का अध्ययनन हीं किया तो अब से प्रारम्भ कर दीजिए।

समस्त शुभकामनाओं सहित।

सम्पादक

पुस्तक समीक्षा

विज्ञान की विभूतियाँ

लेख—जयप्रकाश भारती; प्रकाशक—विज्ञान साहित्य प्रकाशन, ३ रामबाग कोठी, लखनऊ, पृष्ठ संख्या ८८, मूल्य २'३० रु० ।

यह पुस्तक बच्चों के लिए लिखी गई है। इसमें १० वैज्ञानिकों की जीवनियाँ संग्रहीत हैं। वैज्ञानिकों के नाम हैं—गैलीलियो, न्यूटन, डार्विन, पास्चर, जगदीश चन्द्र बसु, कार्वर, क्यूरी, आइंस्टीन, फ्लेमिंग तथा रमन। इन वैज्ञानिकों की जीवनियाँ प्रस्तुत करते समय बालकों की रुचि का ध्यान रखा गया है अतः जीवन-वृत की रोचक घटनाओं को विस्तृत रूप में अंकित किया गया है। फिर भी वैज्ञानिक उपलब्धियों की ओर लेखक उदासीन नहीं रहा। उसने सरल भाषा में उन्हें भी वर्णित करने का प्रयास किया है।

प्रत्येक वैज्ञानिक का रेखा चित्र देकर और उसके साथ प्रमुख वाक्य लिखकर लेखक ने पुस्तक को सर्वथा रोचक बना दिया है। किसी भी वैज्ञानिक की जीवनी ७-८ पृष्ठ से अधिक नहीं दी गई। यही नहीं, अपने देश के महानतम वैज्ञानिकों की जीवनियों को सम्मिलित करके लेखक ने अपने दायित्व को निभाया है अतः लेखक बधाई का पात्र है।

प्रकाशकों ने वाह्य आवरण को आकर्षक बनाने का प्रयत्न किया है। छपाई अच्छी है।

पृष्ठ १८ पर न्यूटन के गति के नियम वर्णित हैं किन्तु यह नहीं बताया गया कि वे तीन थे। इसका उल्लेख होना चाहिए था। पृष्ठ २० पर "नेतो" में ने और तो को पृथक-पृथक होना चाहिए था। उसी पृष्ठ पर दूसरे परिच्छेद में—"आखिर अन्तिम समय भी आ गया। सन् १९२७ आया।" इन वाक्यों में से पहला वाक्य अनावश्यक है। इसी प्रकार पृष्ठ ३० में "कौन था यह आदमी, यह आदमी जो नैपोलियन से आगे निकल गया?" प्रसंग देखते हुए ठीक नहीं है।

आशा है अगले संस्करण में इस प्रकार की अशुद्धियाँ ठीक कर ली जावेंगी।

विज्ञान प्रगति

अक्टूबर १९६४ अंक। मूल्य ५० न० पै०। काउंसिल आफ साइंटिफिक एण्ड इंडस्ट्रियल रिसर्च, नई दिल्ली द्वारा प्रकाशित।

विज्ञान प्रगति ने कलेवर में आमूल परिवर्तन के साथ ही अब विषय-चयन में भी काफी परिष्कार किया है। आलोच्य अंक की विषय सूची में लेख, परमाणु विज्ञान, भूगर्भ विज्ञान, साहित्य प्रवेश आदि स्तम्भ बनाये गये हैं। विविध शीर्षकों के अन्तर्गत प्रचुर उपयोगी सामग्री समाविष्ट की गई है। बच्चों के लिए "विज्ञान प्रवेश" शीर्षक सर्वथा ग्राह्य है। इसके लेखक हैं श्री ओउम् प्रकाश शर्मा। वे बाल-साहित्य के अद्भुत जनक हैं। छोटी से छोटी जानकारी को रुचिपूर्ण शैली में प्रस्तुत करना उनकी लेखनी का विलास है।

यहाँ पर हमें विष्णुदत्त शर्मा के लेख के सम्बन्ध में कुछ कहना है, क्योंकि इस वार लेखकों के परिचय नहीं छपे। यह लेख पृष्ठ ४३१-३३ पर है और है अत्यन्त उपयोगी विषय पर—परमाणु विस्फोट से मुक्त विकिरण और उससे बचाव।

लेख में सर्वत्र 'न्यूक्लियस' के लिए "नाभि" शब्द प्रयुक्त हुआ है। पता नहीं कैसे, लेखक ने पारिभाषिक शब्द "नाभिक" क्यों नहीं ग्रहण किया। इसी प्रकार

उन्होंने 'बिजली धारी और हीन'' शब्द व्यवहृत किये हैं। अवश्य ही इनके स्थान पर ''आवेशित'' तथा ''अनावेशित'' जैसे समानार्थी शब्द प्रयुक्त होने थे।

''विकिरण'' का बहुवचन ''विकिरणों'' का प्रयोग ठीक से नहीं हुआ। 'नाभि' का बहुवचन ''नाभियों'' बनाया गया है। ''म्यूटेशन'' को ऐसे ही रहने दिया गया है।

पृष्ठ ४३१ के द्वितीय स्तम्भ में ऊपर से द्वितीय पंक्ति प्रारम्भ होने वाले वाक्य ''ये कण एक परमाणु की नाभि में से निकल कर दूसरे परमाणु की नाभि में घुस जाते हैं और उसकी नाभि को छिन्न-भिन्न कर देते हैं'' की रचना लज्जास्पद सी प्रतीत होती है। इस दूसरे प्रकार से वैज्ञानिक भाषा में व्यक्त किया जा सकता है।

लेख में दो-तीन भयानक छापे की भूलें हैं। प्रथम स्तंभ में बारे के स्थान पर 'बार' और द्वितीय स्तम्भ से ''इलेक्ट्रान'' के स्थान पर ''लैक्ट्रानों'' छपा है।

आशा है भविष्य में सम्पादक मण्डल ऐसी भूलों के प्रति जागरूक रहेगा। ठीक-ठीक पारिभाषिक शब्दों का व्यवहार न करके विज्ञान को कितना भी रोचक बनाने का यत्न किया जाय, वह असफल ही होगा।

पृष्ठ ४४३ पर तृतीय स्तम्भ में भी एक और त्रुटि है :—''इतना छोटा होते हुए भी परमाणु ठोस नहीं, खोखला है''। वस्तुतः यह तथ्य है किन्तु ठोस नहीं-खोखला है—में भाषा ठीक नहीं। जब परमाणु खोखला हो गया तो न्यूट्रान; प्रोट्रान कहाँ रहेंगे—। खोखले का अर्थ होता है जिसमें केन्द्रक न हो अतः 'खोखलापन' से तो शैली का खोखलापन परिलक्षित होगा। ''स्थायीपन'' (पृष्ठ ४४४) शब्द का व्यवहार ठीक से नहीं हुआ।

विज्ञान प्रगति

दिसम्बर १९६४ अंक।

इस अंक का आवरण पृष्ठ अत्यन्त आकर्षक है (मैंने तो काट करके अपने अतिथि-भवन में टाँग रखा है।) 'विज्ञान प्रवेश' के अन्तर्गत बच्चों के लिये काफी सामग्री प्रस्तुत है। ''लोक विज्ञान'' एक नवीन स्तम्भ है। लेखों के अन्तर्गत श्री रमेशदत्त शर्मा का लेख ऐसा लगता है, पढ़ा हुआ है और पहले धर्मयुग में छप चुका है।

सम्पादक से हमारा आग्रह है कि पूर्व प्रकाशित लेखों को विज्ञान-प्रगति में न छापें। यह भी अनुरोध है कि लेखकों के पूरे पते छापा करें।

विज्ञानलोक

वर्ष ५, अंक ११, मूल्य ७५ न० पै०। प्रकाशक मेहरा न्यूजपेपर्स, आगरा।

इस अंक का प्रथम लेख ''छिपकलियाँ तथा गोधिकायें' अत्यन्त सूचनाप्रद हैं। इसकी भाषा-शैली भी उत्कृष्ट है। उसमें कहीं कोई दोष नहीं दिखा। आजकल 'बुढ़ापे' पर बहुत लेख छप रहे हैं। इस अंक में भी इस विषय पर लेख है। गणित सम्बन्धी लेख—'प्राचीन मिस्र की गणित'' अत्यन्त रोचक है। इस अंक का अन्तिम लेख ''यदि पानी न हो तो'' लगता है पहले भी कहीं छप चुका है फिर भी सचित्र होने के कारण सूचनाप्रद है।

हमारा सुझाव है कि इस पत्रिका में जीवनविज्ञान या वनस्पति विज्ञान की अपेक्षा कृषि, गणित, रसायन तथा भौतिकी पर भी लेख छपें। तभी इसकी उपयोगिता बढ़ेगी।

●●

हमारी प्रकाशित पुस्तकें

	मूल्य
१—विज्ञान प्रवेशिका भाग १—श्री रामदास गौड़, प्रो० सालिगराम भार्गव	३७ नये पैसे
२—वैज्ञानिक परिमाण—डा० निहालकरण सेठी	१ रु०
३—समीकरण मीमांसा भाग १—पं० सुधाकर द्विवेदी	१ रु० ५० नये पैसे
४—समीकरण मीमांसा भाग २—पं० सुधाकर द्विवेदी	६२ नये पैसे
५—स्वर्णकारी—श्री गंगाशंकर पचौली	३७ नये पैसे
६—वर्षा और वनस्पति—श्री शंकरराव जोशी	३७ नये पैसे
७—व्यंग चित्रण—ले० एल० ए० डाउस्ट, अनुवादिका—डा० रत्न कुमारी	२ रुपया
८—तैरना—डा० गोरख प्रसाद	१ रुपया
९—वायुमंडल की सूक्ष्म हवायें—डा० संत प्रसाद टंडन	७५ नये पैसे
१०—खाद्य और स्वास्थ्य—डा० ओंकार नाथ पर्ती	७५ नये पैसे
११—फल संरक्षण—डा० गोरख प्रसाद तथा वीरेन्द्र नारायण सिंह	२ रु० ५० नये पैसे
१२—शिशु पालन—श्री मुरलीधर बौड़ाई	४ रुपया
१३—मधुमक्खी पालन—श्री दयाराम जुगड़ान	३ रुपया
१४—घरेलू डाक्टर—डा० जी० घोष, डा० उमाशंकर प्रसाद तथा डा० गोरख प्रसाद	४ रुपया
१५—उपयोगी नुसखे, तरकीबें और हुनर—डा० गोरखप्रसाद तथा डा० सत्यप्रकाश	३ रु० ५० न० पै०
१६—फसल के शत्रु—श्री शंकरराव जोशी	३ रु० ५० नये पैसे
१७—साँपों की दुनिया—श्री रामेश वेदी	४ रुपया
१८—पोर्सलीन उद्योग—श्री हीरेन्द्र नाथ बोस	७५ नये पैसे
१९—राष्ट्रीय अनुसंधानशालाएँ	२ रुपये
२०—गर्भस्थ शिशु की कहानी—अनु० प्रो० नरेन्द्र	२ रुपया ५० नये पैसे
२१—रेल इंजन—परिचय और संचालन—श्री ओंकारनाथ शर्मा	६ रुपया
२२—भारतीय कृषि का विकास—डा० शिवगोपाल मिश्र	५ रुपया

आप इन पुस्तकों के लिए सीधे निम्न पते पर पत्रव्यवहार करें क्योंकि अब लाला रामनारायण लाल बेनीप्रसाद हमारे एकमात्र वितरक नियुक्त हुए हैं।

मिलने का पता :

लाला रामनारायण लाल बेनीप्रसाद
कटरा, इलाहाबाद

विषय-सूची

अनन्तता की ओर	...	...	१
कुमायूँ और शंबुधारी	...	...	४
संक्षिप्त जीवन परिचयमाला—३५	...	...	८
तैलंग पुरस्कार-प्रतियोगिता—६	...	...	१०
अनुसंधान के तीर्थों से	...	...	१५
सार संकलन	...	...	१८
विज्ञान वार्ता	...	...	२५
सम्पादक के नाम पत्र	...	...	३०
सम्पादकीय	...	...	३३

विज्ञान परिषद् प्रयाग

डा० शिवगोपाल मिश्र

प्रति अंक ३० पैसे

विज्ञान परिषद् अनुसन्धान पत्रिका

वैज्ञानिक अनुसन्धान से सम्बन्धित हिन्दी की प्रथम शोध पत्रिका

(त्रैमासिक)

जिसमें गणित, भौतिक शास्त्र, रसायन शास्त्र, प्राणि शास्त्र, वनस्पति शास्त्र तथा भूगोल शास्त्र पर मौलिक एवं शोधपूर्ण निबन्ध प्रकाशित होते हैं। भारतवर्ष की विविध प्रयोगशालाओं के उत्कृष्ट निबन्धों को इसमें स्थान दिया जाता है।

विश्व की सभी प्रमुख वैज्ञानिक संस्थाओं, पुस्तकालयों तथा विश्वविद्यालयों द्वारा यह पत्रिका समादृत है।

सामान्य सदस्यों के लिए वार्षिक शुल्क ८ रु०। 'विज्ञान' के सभ्य ४ रु० अतिरिक्त वार्षिक शुल्क देकर अनुसन्धान पत्रिका प्राप्त कर सकते हैं। यह पत्रिका अभी त्रैमासिक है किन्तु भविष्य में द्वैमासिक होने की सम्भावना है।

प्रधान सम्पादक—डा० सत्य प्रकाश

प्रबन्ध सम्पादक—डा० शिवगोपाल मिश्र

मँगाने का पता

विज्ञान परिषद् अनुसन्धान पत्रिका,

विज्ञान परिषद्,

थार्नहिल रोड,

इलाहाबाद—२

विज्ञान

विज्ञान परिषद्, प्रयाग का मुखपत्र

विज्ञानं ब्रह्मेति व्यजानात्। विज्ञानाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते।
विज्ञानेन जातानि जीवन्ति। विज्ञानं प्रयन्त्यभिसविशन्तीति। तै० उ० ३।५।

भाग १०१ | चैत्र २०२१ विक्र०, १८८६ शक | अप्रैल १९६५ | संख्या १

अनन्तता की ओर

दयाल सिंह कोठारी

सैकड़ों वर्षों से गणितज्ञों का ही नहीं दार्शनिकों, कवियों एवं सन्तों का अनन्त वहुचर्चित विषय रहा है। अनन्त के उस पार कौन पहुँच पाया है यह तो राही ही जाने परन्तु यह निश्चित है कि इस अगम्य की प्राप्ति की दौड़ में मनुष्य ने इसे अनेक असाधारण अनुभवों से परिपूरित पाया।

अनन्त की अनुभूति उसकी शैशवावस्था में सबसे पहले शिशु ने उस समय की जबकि उसने अपनी माँ से अपनी पृथक सत्ता मानना प्रारम्भ किया। धीरे-धीरे एक ओर अनेक का यह क्षेत्र देश, काल और परिस्थिति के अनुसार विस्तृत होता रहा। जिन वस्तुओं को मनुष्य अपनी शक्ति व समय की परिसीमा में गणना करने में सक्षम नहीं था उसने उन्हें अनन्त या अगणित की संज्ञा प्रदान की। उसकी यह संज्ञा आने वाले व्यक्तियों द्वारा भ्रामक तथा असत्य सिद्ध कर दी गई। मनुष्य के सिर पर केशों की संख्या अथवा आकाश के काले प्रांगण पर चमकते हुए तारकों की संख्या को अगणित या अनन्त बताने वाले विचारों पर करारी चोट करते हुए मनुष्य और आगे बढ़ा। उसने सारे ब्रह्माण्ड को भरे जाने वाले बालुकणों की संख्या भी व्यक्त कर डाली। पदार्थ अणुओं, परमाणुओं तथा अन्तिम रूप में इलेक्ट्रानों द्वारा बने हैं। सर आर्थर एडिंगटन ने सारे ब्रह्माण्ड में व्याप्त इलेक्ट्रान की संख्या $१\cdot२९ \times १०^{८७}$ बताई जबकि प्राचीन भारत में जैन मुनियों द्वारा कालचक्र के लिए शीर्ष प्रहेलिका शब्द बड़ी विशाल संख्या को व्यक्त करता है। निश्चित ही ये बड़ी संख्याएँ हैं और इनसे भी कई बड़ी संख्याएँ समय-समय पर प्रयुक्त हुई हैं परन्तु ये सब अनन्त नहीं हैं। समुद्र में पानी की बूँदें भले ही आप आजीवन न गिन सकें परन्तु गणना का यह कार्य उत्तराधिकारियों को हस्तांतरित करने पर निश्चित ही पूर्ण हो सकेगा। अंडाकार पृथ्वी असीम हो सकती है परन्तु अगम्य या अनन्त नहीं। साधारणतया हम कह सकते हैं कि **अनन्त वह है जिसे किसी अन्त्यावधि में चाहे वह कितनी ही लम्बी क्यों न हो गिना न जा सके।**

गणित जगत में अनन्त की सीमा में पहुँचने का सर्वप्रथम प्रयास ५०० ई० पू० जेनों ने किया। गति को असंभव प्रमाणित करते हुए उन्होंने कहा कि

मान लीजिए आपको १०० गज की दूरी १०० गज प्रति मिनट की चाल से इस प्रकार पूरी करनी है कि प्रत्येक बार आप अवशिष्ट दूरी की आधी चलते हैं। प्रथम ५० गज चलने में आपको $\frac{१}{२}$ मिनट लगेगा। फिर २५ गज, १२$\frac{१}{२}$ गज, ६$\frac{१}{४}$ गज आदि दूरियों को पार करने में $\frac{१}{४}$ मि०, $\frac{१}{८}$ मि०, $\frac{१}{१६}$ मि० आदि लगेंगे। इस प्रकार निरन्तर आप निर्दिष्ट स्थान के निकट पहुँचते जाएंगे परन्तु $\frac{१}{२}+\frac{१}{४}+\frac{१}{८}+\frac{१}{१६}+\cdots$ अनन्त श्रेणी में इंगित समय के व्यतीत होने पर भी आप निर्दिष्ट स्थान पर नहीं पहुँच पाएंगे क्योंकि प्रत्येक बार शेष दूरी की अर्द्धांश दूरी पूरी करने पर उतनी ही और बच जाती है। इस प्रकार किसी भी गति से किसी स्थान तक चाहे वह कितना ही निकट क्यों न हो, नहीं पहुँचा जा सकेगा। इस प्रकार जेनों ने गति को असंभव बताया। आधुनिक अनन्त गुणोत्तर श्रेणी के संकलन सूत्र से उक्त श्रेणी का योगफल १ मिनट है जो वास्तविकता पर आधारित है।

जेनों ने इसी प्रसंग में एक और अन्य विचारणीय समस्या प्रस्तुत की। वह है वीर अचिलस और कछुए की दौड़ सम्बन्धी। मान लीजिए १० गज प्रति मिनट की गति से चलने वाला कछुआ प्रारम्भ में १०० गज प्रति मिनट की चाल से चलने वाले अचिलस से १०० गज आगे है। कछुए को पकड़ने के प्रयास में अचिलस १०० गज एक मिनट में पूरा कर लेता है परन्तु इसी समय में कछुआ १० गज और आगे हो जाता है। इस १० गज के फासले को अचिलस $\frac{१}{१०}$ मिनट में पूरा कर लेता है परन्तु इतने ही समय में कछुआ फिर १ गज आगे बढ़ जाता है। दौड़ का यह क्रम निरन्तर चलता रहता है और कछुआ हर बार अचिलस से आगे हो जाता है। इस प्रकार अचिलस सा योद्धा कछुए को पकड़ने में असमर्थ रहता है। दौड़ में लगे समयांशों के योग को हम निम्न श्रेणी द्वारा व्यक्त कर सकते हैं :—

$$१ + \frac{१}{१०} + \frac{१}{१००} + \frac{१}{१०००} + \cdots\cdots$$

जिसका योग १$\frac{१}{९}$ मिनट होगा।

अनन्त श्रेणियों के संकलन में सदियों तक गणितज्ञ व्यस्त रहे। बर्नार्ड बोलजेनों ने अपने ग्रन्थ Paradoxes of the Infinite में अनेक सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत किए हैं जिनमें से निम्नलिखित उल्लेखनीय हैं :—

$$S = x - x + x - x + x - x + \cdots$$
$$= (x - x) + (x - x) + (x - x)\cdots$$
$$= ०$$

दूसरी प्रकार से

$$S = x - (x - x) + (x - x) + (x - x) + \cdots$$
$$= x - ० - ० - \cdots$$
$$= x$$

तीसरी प्रकार से

$$S = x - x + x - x + x\cdots\cdots$$
$$= x - S$$
$$\therefore S = \frac{x}{२}$$

इस दोलक श्रेणी ने लाइबनीज जैसे प्रतिभासम्पन्न गणितज्ञ को भी हैरत में डाल दिया जिसने अंत में उक्त श्रेणी का योग सबसे न्यून व सबसे अधिक ० व x का औसत $\frac{x}{२}$ लिया है जो आज भी प्रमाणिक माना जाता है। इसी प्रसंग में यहाँ स्मरण रखना चाहिए कि अन्त्य राशियों का यह नियम अ + ब + स = (अ + ब) + स = अ + (ब + स) साधारणतया अनन्त श्रेणियों के लिए सत्य नहीं है। अंकगणित व बीजगणित में अनन्त तक पहुँचने का प्रयास एक अन्य प्रकार से भी किया है। मान लीजिए आप ३६० को २०, १८, १५, १२, १ आदि से क्रमशः विभाजित करते हैं तो भजनफल निरन्तर बढ़ता जाएगा। यदि भाजक को १ से ० के निकटतम और अधिक छोटा किया जाए तो भजनफल **अनन्त स्वरूप** होगा। **भास्कराचार्य्य द्वितीय** से पूर्व के गणितज्ञों ने, किसी संख्या को शून्य से विभाजित करने पर भजनफल को भाज्य के तुल्य बताया। भाषा की दृष्टि से किसी संख्या को किसी से नहीं (अर्थात शून्य से) विभाजित करने पर भजनफल अपरिवर्तनशील अर्थात् वही रहेगा। भाषा

की इसी मृगतृष्णा में गणितज्ञ वर्षों तक फँसे रहे। भास्कराचार्य्य द्वितीय ने उक्त भजनफल को 'खहर' की संज्ञा प्रदान करते हुए लिखा है कि जिस प्रकार जीवों की उत्पत्ति अथवा विनाश का ईश्वर पर कोई प्रभाव नहीं होता इसी प्रकार खहर (अनंत) में कुछ जोड़ने अथवा घटाने से वह अपरिवर्तनशील रहेगा। एक हजार वर्ष पूर्व भास्कर का यह परिणाम, निस्सन्देह महत्वपूर्ण है। वैसे अंकों की दुनियां में किसी संख्या को शून्य से विभाजित करना अर्थहीन है। इसलिये शून्य तुल्य अत्यन्त सूक्ष्म किसी संख्या से किसी संख्या को विभाजित करने से अनन्त की ओर बढ़ा जा सकता है परन्तु वास्तव में अनन्त तक नहीं पहुँचा जा सकता है।

प्राकृतिक संख्याओं में एक ही परिणाम की दो संख्याएँ अन्त्य जगत में बराबर होती हैं जैसे ४ = ४ परन्तु अनन्त के लिए यह नियम लगाना भारी भूल होगी और उसके आधार पर प्राप्त फल अन्त्य जगत के फलों को चुनौती का सामना करना पड़ेगा जैसा कि निम्नलिखित उदाहरण से स्पष्ट होगा :—

माना कि $x = y$

या $xy = y^2$

या $xy - x^2 = y^2 - x^2$

या $x(y - x) = (y + x)(y - x)$

दोनों पक्षों में $y - x$ का भाग देने से

$x = y + x$

$= x + x$

$= 2x$

$\therefore 1 = 2$

उक्त क्रिया दोषपूर्ण है क्योंकि हमने $y - x$ अर्थात ० से भाग दिया है जिससे समता का चिन्ह समाप्त हो जाता है।

अंकगणित में पूर्ण संख्याएँ अनन्त के उदाहरण हैं। आप कितनी ही बड़ी संख्या क्यों न सोच लें, उससे बड़ी संख्या हर समय लिखी जा सकती है। सम-विषम संख्याएँ गणना करने पर एक दूसरे के तुल्य होंगी परन्तु यह जानकर कुछ आश्चर्य होगा कि केवल सम अथवा विषम संख्याएँ ही सभी संख्याओं के तुल्य होंगी क्योंकि अन्त्यजगत में खंड पूर्ण के बराबर नहीं हो सकता। हिलबर्ट ने इसे बड़े सुन्दर ढंग से समझाया है—मान लीजिए आपके पास १०० कमरों में १०० व्यक्ति ठहरे हैं और कुछ व्यक्ति और आते हैं। प्रकट है कि आपको उनसे कहना पड़ेगा कि कोई कमरा रिक्त नहीं है। यदि आपके पास अनन्त कमरे हैं और उनमें अनन्त व्यक्ति ठहरे हुए हैं और आपके पास ४ व्यक्ति और आते हैं तो आप १, २, ३ व ४ नम्बर के कमरों में ठहरे व्यक्तियों को ५, ६, ७ व ८ नम्बर के कमरों में भेज दें। इसी प्रकार ५, ६, ७, ८ आदि नम्बर के कमरों में ठहरे व्यक्तियों को ९, १०, ११, १२ आदि नम्बर के कमरों में भेज दीजिए। इस तरह आगन्तुक व्यक्तियों को उनमें समाविष्ट कर दीजिए। यदि उक्त कमरों में ठहरने के लिए अनन्त व्यक्ति आएँ तो क्या आप उन्हें समाविष्ट कर सकेंगे? उत्तर में हम कहेंगे अवश्य ही, जिससे आप को कुछ आश्चर्य होगा। परन्तु इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं। मान लीजिए आगन्तुक व्यक्तियों के नाम १, ३, ५, ७ आदि विषम संख्याएँ हैं व अनन्त कमरों में ठहरे व्यक्तियों के नाम १, २, ३, ४ आदि क्रमागत संख्याएँ हैं। इन व्यक्तियों को हम क्रमशः २, ४, ६, ८ आदि कमरों में भेज देंगे। इस प्रकार हमें १, ३, ५, ७ आदि नम्बरों के कमरे रिक्त मिलेंगे जिनमें हम आगन्तुक अनन्त व्यक्तियों को ठहरा देंगे। इस प्रकार अनन्त व्यक्तियों से भरे अनन्त कमरे अपने में अनन्त व्यक्तियों को समाविष्ट करने की क्षमता रखते हैं।

इस प्रकार अनन्त क्रमागत संख्याएँ व अनन्त विषम संख्याएँ आपस में बराबर हैं। किसी ४८ सीट वाले डिब्बे में, यदि वह पूरा भरा है तो बिना गिने ही आप कह सकेंगे कि इसमें ४८ व्यक्ति हैं क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति का सीट के साथ सम्बन्ध है। अनन्त की गणना का ऐसा ही ढंग जार्ज कैन्टर ने, जो अनन्त पर कार्य करने वाला प्रख्यात गणितज्ञ माना जाता है, निकाला। दो भिन्न-भिन्न लम्बाई की रेखाएँ अनन्त बिन्दुओं

(शेष पृष्ठ १४ पर)

कुमायूँ और शंकुधारी

देवेन एकाकी

कुमायूँ में पाये जाने वाले प्रमुख शंकुधारी-वृक्ष (conifers) चीड़ कुल (pinaceae), साइप्रसकुल (cupressaceae), टैक्सस-कुल (Taxaceae) एवं नीटम् कुल (Gnetaceae) के अन्तर्गत आते हैं। यही चार कुल (Families) प्रमुखतया प्राकृतिकरूपेण कुमायूँ में फैले हुए हैं। चीड़, देवदार, फ़र, स्प्रूस, साइप्रस इत्यादि का देश भर में यह सर्वोत्तम निवास स्थान माना जाता है। चीड़-कुल (Family-pinaceae) के अन्तर्गत यहाँ फर (Abies), देवदार (Cedrus) स्प्रूस (Picea), चीड़ (Pinus) की विभिन्न जातियाँ पाई जाती हैं। इस कुल के पौधे ३,००० फीट की ऊँचाई से लेकर १०,००० फीट की ऊँचाई तक वितरित हैं। चीड़ बन इसमें सबसे नीचे एवं देवदार सर्वोच्च स्थानों पर हैं। साइप्रस ६,५०० फीट से ६,५०० फीट, इफिड्रा ६,५०० से १४,००० फीट एवं टैक्सस ६,००० से ११,००० फीट की ऊँचाई पर कुमायूँ के पहाड़ों में पाये जाते हैं।

शंकुधारी वृक्षों (Conifers का औद्योगिक एवं प्राकृतिक रूप से बहुत महत्व है। उपर्युक्त चारों कुल (Families) के विभिन्न किस्म के पौधों का वर्णन यहाँ उनके विकास एवं वितरण हेतु अत्यावश्यक है।

(अ) चीड़-कुल (Pinaceae)—विभिन्न प्रकार के चीड़ वृक्ष, फर, स्प्रूस एवं देवदार इसमें आते हैं। प्रमुखतया वृक्ष अथवा क्षुप होते हैं। इनके बन सदाबहार होते हैं। वृक्षों की पत्तियाँ सूच्याकार होती हैं, जिनमें कि रेजिन-नलियाँ पाई जाती हैं। इन सभी पौधों के तने कड़े या काष्ठीय (Woody) होते हैं। इनमें भी रेजिन नलियाँ होती हैं। पुष्पक्रम एकलिंगी होते हैं। प्रत्येक पुष्पक्रम शंकु (Cone) कहलाता है। बीज खुले या नग्न होते हैं। प्रत्येक परागकण के इधर-उधर पक्षवत् प्रसार होते हैं जो कि वायु परागण (Wind Pollination) में विशेष सहायक होते हैं। फल काष्ठीय-शंकु (Woody cone) होता है। पौधे दो भागों में बाँटे जा सकते हैं—एक तो वे जिनके फल पकने पर कड़े या काष्ठीय हो जाते हैं जैसे—चीड़, स्प्रूस, फर तथा देवदार और दूसरे वे जिनके फल बेरी की तरह होते हैं—यथा, ज्यूनिपर्स। पहले प्रकार के पेड़ भी दो तरह के हैं जिनमें से कुछ के फल (Cone) पूर्णरूपेण विलग हो जाते हैं और दूसरे वे जिनके फल पकने पर फट जाते हैं। चीड़, स्प्रूस के फल प्रथम एवं फर, देवदार के दूसरी तरह के होते हैं। इस कुल के विभिन्न पौधे इस प्रकार हैं :—

[क] चीड़ (Pinus Roxburgii)—कुमायूँ के पहाड़ों पर १,५०० फीट से ८,००० फीट की ऊँचाई पर मिलता है जहाँ कि अच्छे चीड़-बन हैं, परन्तु भीतरी शुष्क भागों में यह नहीं मिलता है। यहाँ इसे 'सल्' कहते हैं। प्रायः ८-१० फीट की गोलाई एवं १३० फीट तक ऊँचे वृक्ष होते हैं। इस जाति के चीड़ के जंगलों में अन्य प्रकार के वृक्ष अधिक नहीं पनपते परन्तु बाँज (Q. incana) ऊँचे स्थानों पर इसके साथ काफी मिलता है। वृक्ष की छाल बहुत शुष्क एवं लम्बाई में टूटी-फूटी होती है। पत्तियाँ ३-३ के ग्रुप में होती हैं एवं लगभग ९-१२ इंच लम्बी। पत्तियाँ गहरी हरी होती हैं। पुष्पक्रम ·५ इंच लम्बे होते हैं। पूर्णरूपेण परिपक्व फल ४ से ८ इंच लम्बे एवं ३ से ५ इंच व्यास के होते हैं। बीज ३ इंच लम्बे एवं पंखयुक्त होते हैं। पुष्प मार्च-अप्रेल में आते हैं तथा फल जनवरी-जून के परिपक्व होते हैं।

[ख] चीड़ (P. excelsa) (Blue-pine)—लगभग १०० फीट ऊँचे वृक्ष जो कि ४,५०० फीट से १२,५०० फीट की ऊँचाई पर पाये जाते हैं। भीतरी शुष्क भागों में बहुतायत से मिलता है तथा भोजपत्र-वृक्षों (Betula utilis) से एकदम नीचे अलग पेटी बनाता है। बाँज (Q. incana), स्प्रूस (Picea morinda) एवं साइप्रस (Cupress torulosa) के साथ-साथ भी ऊँचाई पर होता है (४,५००—८,५०० फीट)। पत्तियाँ ५-५ के पुंज में एवं ४-८ इंच लम्बी होती हैं एवं नीली-हरी एवं गोल होती हैं। शंकु शाखाओं के अन्त में लगे रहते हैं एवं पकने पर ६-१२ इंच लम्बे होते हैं। बीज ·३ इंच लम्बे एवं पंख तिगुना लम्बा होता है। कुमायूँ के पहाड़ों पर प्राकृतिक रूप से उपर्युक्त ऊँचाइयों में अच्छा वितरण है।

चीड़ की ये दो किस्में ही यहाँ मिलती हैं, वैसे रोपा हुआ एक चीड़ (P. gerardiana) राजकीय-उद्यान नैनीताल में है। अन्य किस्में भी इस प्रकार छिट-पुट लगाई गई हैं।

चीड़ बहुत उपयोगी वृक्ष है। इसका कोई भी भाग बेकार नहीं जाता है। प्रमुखतया चीड़ के बनों से लीसा (Resin) एवं लकड़ी प्राप्त होती है। कागज-उद्योग में इसकी लकड़ी काफी उपयोगी है। ईंधन रूप में भी चीड़ की लकड़ी प्रयुक्त होती है। तारपीन का तेल भी चीड़ वृक्षों की ही देन है।

[ग] स्प्रूस (picea)- स्प्रूस की एक ही जाति (P. Morinda) अथवा p. Smithiana) कुमायूँ में मिलती है। ६००० से ११,००० फीट की ऊँचाई पर हिमालय के मुख्य भाग, उत्तरी-गढ़वाल में इसका अच्छा वितरण है। गढ़वाल के उत्तरी भाग में पहाड़ों पर काफी मिलता है। प्रायः यह अपना शुद्ध वितरण प्रदर्शित करता है एवं शुद्ध बन मिलते हैं परन्तु फर (Abies Prindrow) या चौड़ी पत्ती वाले वृक्षों के साथ भी पाया जाता है। नन्दागिनी-घाटी में सुन्दर वितरण है। वृक्ष प्रायः १६०-१७० फीट ऊँचे, १५-१८ फीट की गोलाई वाले होते हैं। शाखायें लटकी रहती हैं तथा उन पर १ — १·५ इंच लम्बी, सूच्याकार गोल पत्तियां गोलाई में लगी रहती हैं। नर-पुष्प १" तक लम्बे होते हैं, एप्रिल में आते हैं। परिपक्व शंकु ४ — ६ इंच लम्बे तथा १ — २ इंच व्यास वाले होते हैं। बीज ·२ —·२५ इंच लम्बे तथा पंख ·५ इंच लम्बे होते हैं।

[घ] शूगा (Tsuga Brunoniana)—Hemlock spruce—हिमालय के मुख्य भाग में, पूर्वी अल्मोड़ा (डर्मा व काली घाटी) में ८,००० से १०,००० फीट की ऊँचाई पर मिलता है। यहाँ इसका अति सुन्दर वितरण है। शूगा के पेड़ सदाबहार होते हैं। दो तरह की शाखायें इसमें नहीं मिलतीं। केवल लम्बी शाखाएँ (Long shoots) ही होती हैं। पत्तियाँ बिखरी हुई, स्पाइरल, चौड़ी एवं तने से जुड़ी हुई होती हैं। शंकु छोटे होते हैं। वृक्षों की ऊँचाई १२० फीट तक एवं गोलाई लगभग १५ फीट तक होती है। पत्तियाँ ·५ से १ इंच लम्बी, निचली सतह श्वेत, तथा छोटे पर्णावृन्त-युक्त होती हैं। परिपक्व शंकु ·७ से १ इंच तक लम्बे, अंडाकार एवं बीज ·३ —·३५ इंच लम्बे होते हैं। पंख टेढ़ा होता है।

[ङ] फर (Abies)—Silver Firs—यह कुमायूँ में रेंसल कहलाया है। ऊँचे-ऊँचे सदाबहार वृक्ष होते हैं। केवल लम्बी शाखें (Long shoots) ही होती हैं। ७००० फीट से १०, ५०० फीट की ऊँचाई तक मध्य एवं भीतरी भागों में पाया जाता है। कुमायूँ में बाहरी पहाड़ी भाग में यह केवल पूर्वी नैनीताल में पाया जाता है जहाँ देवस्थल से यह पेटी मोतिया पाथर तक चली जाती है। थली में यह नहीं मिलता जैसा कि पुराने रिकार्डों में दिखाया जाता था। हिमालय के मुख्य भाग में यह उत्तरी कुमायूँ-पहाड़ियों पर पाया जाता है। यह वितरण फर (Abies pindrow) का है। वृक्ष प्रायः १४० फीट ऊँचे एवं १०-१२ फीट चौड़ाई वाले होते हैं। (Abies prindrow) के इससे भी ऊँचे वृक्ष मैंने देवस्थल के जंगल में देखे हैं। वृक्षों की छाल गहरी भूरी, शुष्क एवं आयु बढ़ने पर लम्बाई में फटी-कटी होती हैं। पत्तियाँ ·५-४ इंच तक लम्बी

चपटी, बाहरी हरी तथा सिरे पर दो भागों में विभक्त होती हैं। नरपुष्प (catkins ·५-·७ इंच लम्बे होते हैं एवं एप्रिल-मई में दिखाई देते हैं। गहरे नीले या बैजनी रंग के शंकु होते हैं जो कि पकने पर सीधे, ४—७ इंच लम्बे १·५-३ इंच व्यास वाले होते हैं। बीज ·४-·५ इंच लम्बे एवं पंख बीज से लम्बा होता है। यह खसूं (Qurcus semicarsifolia) एवं स्प्रूस वृक्षों के साथ भी पाया जाता है। गढ़वाल में गुलाब कोटी क्षेत्र की ओर भी यह काफी मिलता है।

फर (A. webbina) भी A. pindrow की ही तरह का वृक्ष है, परन्तु यह अधिक ऊँचाई (८,५००५ – १२,४०० फीट) पर मिलता है एवं भोजपत्र वृक्षों (B. utilis) व खसूँ-वृक्षों के साथ-साथ इसका अच्छा वितरण पाया जाता है। वृक्ष ८० फीट तक ऊँचे होते हैं। छाल में कालापन अधिक होता है। नई शाखें बालदार होती हैं। पत्तियाँ ·५-२ इंच लम्बी एवं शंकु छोटे होते हैं।

(च) देवदार (Cedrus deodara)—कुमायूँ के उत्तरी हिमालय भाग में-उत्तरी गढ़वाल में ८००० फीट की ऊँचाई से ११,००० फीट की ऊँचाई तक देवदार अत्यधिक मिलता है। साइप्रस वृक्षों के साथ भी यह इस भाग के दक्षिणी क्षेत्रों में ६,५०० से ८,५०० फीट की ऊँचाई तक पाया जाता है। नैनीताल के पूर्व में देवस्थल के फर बनों में भी इसकी उपस्थिति देखी जा सकती है। कुमायूँ के अधिकतर बनों में वैसे देवदार का रोपण काफी सफल हुआ है। देवस्थल से पूर्व की ओर देवगुरु के घने बनों में भी देवदार का अच्छा वितरण है।

देवदार के वृक्ष लगभग १०० फीट तक ऊँचे एवं भूमि के पास तने की गोलाई लगभग १० फीट तक होती है। छाल गहरी भूरी या लालिमा लिए होती है। बूढ़े वृक्षों की छाल टूटी-फूटी दिखाई देती है। लम्बी एवं बौनी दोनों तरह की शाखायें होती हैं जिन पर सूच्याकार-पत्तियाँ क्रमशः (१ – १·५ इंच) स्पाइरली व पुंज रूप में लगी रहती हैं। परिपक्व शंकु ४ – ५ इंच लंबे एवं ३ – ४ इंच व्यास वाले होते हैं। बीज ·३ – ·६ इंच लंबे व पंखयुक्त होते हैं। अक्टूबर-नवंबर में अगले वर्ष पकते हैं तथा पुष्पक्रम सितंबर-अक्टूबर में आता है।

(२) साइप्रस-कुल (Cupressaceae)—साइप्रस-कुल के अन्तर्गत साइप्रस एवं ज्यूनिपर्स की विभिन्न किस्में आती हैं। ये पौधे ६,५०० फीट से ६,५०० फीट की ऊँचाई तक कुमायूँ के पहाड़ों पर पाये जाते हैं।

(क) साइप्रस (Cupressus torulosa) (सुरई)—प्रायः १५० फीट ऊँचे सदाबहार वृक्ष, जिसकी शाखायें सीधी अथवा नीचे की ओर झुकी रहती हैं। छाल भूरी काली या रक्तिम होती है एवं लंबे छिलके-से निकले रहते हैं। बड़े पेड़ों की पत्तियाँ त्रिकोणीय, ·१ इंच लंबी, शल्क युत होती हैं। कैटकिनस ·२ – ·३ इंच लंबे होते हैं एवं जनवरी-फरवरी में दिखाई देते हैं। शंकु में ६ – १० शल्कें होती हैं। पके हुए शंकु ·५ – ·७ इंच व्यासयुक्त, बीज छोटे होते हैं साइप्रस उत्तरी गढ़वाल के कुछ पहाड़ों पर काफी मिलता है। प्रायः यह प्राकृतिक अथवा रोपित ही होता है। नैनीताल में चीना पीक की ढलान पर रोपित साइप्रस-बन है।

(ख) ज्यूनिपर्स (Juniperus Communis)-सदाबहार क्षुप जो कि भूमि से २ फीट तक ऊँची होती है। पत्तियाँ ·२ – ·५ इंच तक लंबी, पीछे की ओर उन्नतोदर व नीचे की ओर नतोदर होती हैं। पुष्प एक-लिंगी होते हैं तथा शाख के कोण से एप्रिल-मई में निकलते हैं। फल ·३ – ·४ इंच लंबे, नीले-काले एवं बीज १ – ३ तक होते हैं। फल दूसरे अक्टूबर में पकते हैं। J. Communis ६००० से १४,००० फीट की ऊँचाई तक भीतरी शुष्क भागों में तिब्बत-सीमा की ओर मिलता है। इसका खास वितरण नहीं है।

(ग) ज्यूनिपर्स (J. recurva)—हिमालय-भाग में उत्तरी व दक्षिणी दोनों प्रकार के पहाड़ी ढलानों पर १०,००० से १२,००० फीट तक की ऊँचाई पर मिलता

है। तना २ इंच तक मोटा तथा जमीन से २-४ फीट तक ऊँचा हो सकता है। इसके पुष्प जून-जौलाई में आते हैं। पत्तियाँ ·१-·२ इंच लम्बी, ३ के पुंज में एवं फल ·३-·४ इंच लम्बे, अंडाकार होते हैं। बीज केवल एक होता है।

(घ) ज्यूनिपर्स (J. macropoda)—३० फीट तक ऊँचे एवं भूमि के करीब तना ६ फीट तक मोटा होता है। छाल भूरी होती है। पत्तियाँ दो प्रकार की होती हैं—वृक्ष में नीचे की ओर व नन्हें पौधों में नुकीली एवं प्रायः तनों पर शल्क-पत्र ·०५-·१५ इंच लम्बी। पुष्प द्विलिंगी। फल ·३ इंच व्यास युक्त, बीज २-५ तक होते हैं। ८,५०० फीट से १२,५०० फीट की ऊँचाई पर तक दक्षिणी ढालों में देवदार व चीड़ (P. exalsa) के साथ पाया जाता है। वितरण खास स्थानों पर है। मिलाम व मलारी में पाया जाता है। पुष्प मई-जून में व फल अक्टूबर में।

(ङ) ज्यूनिपर्स (J. Pseudo-sabina)—९,००० से १४,५०० फीट की ऊँचाई तक भीतरी शुष्क क्षेत्रों में पाया जाता है। प्रायः पथरीले स्थानों पर उगता है तथा काफी लम्बे-चौड़े क्षेत्र को ढक लेता है। सदाबहार क्षुप होती हैं। तना ६ इंच व्यास वाला तथा भूमि से १-३ फीट ऊँचा उठ सकता है। कभी-कभी ६ फीट ऊँचा भी हो जाता है। पत्तियाँ चौड़ी और शल्क-पत्र दोनों तरह की होती हैं जो कि क्रमशः नये पौधों तथा तनों पर पाई जाती हैं। फल ·३ इंच लम्बा तथा बीज केवल एक होता है। फल पकने पर नीला हो जाता है।

(३) टैक्सस-कुल (Taxaceae)—वृक्ष या क्षुप ६,००० से ११,००० फीट तक की ऊँचाई पर कुमायूँ में भीतरी भागों की ओर प्रायः खसूँ (Q. semicarpifolia), Abies pidrow, Picea morinba आदि के साथ पाये जाते हैं।

(क) टैक्सस—(Taxus baccata)-करीब ४० फीट ऊँचे तथा १२ फीट चौड़ाई वाले वृक्ष या इससे भी छोटे होते हैं। छाल गहरी रक्तिम-भूरी तथा शल्कीय होती है। पत्तियाँ १-१·५ इंच लंबी, चपटी, पर्ण-वृन्त-युक्त गहरी हरी होती हैं, पुंकेसर लगभग १०, फल प्यालेनुमा होते हैं तथा गहरे लाल, ·३ इंच लम्बे, ६००० से ११,००० फीट की ऊंचाई पर कुमायूं के उत्तरी व भीतरी भागों में मिलता है। पूर्व-नैनीताल (देवस्थल) में फ़र के साथ मैंने इसे देखा है।

(४) नीट्मकुल (Gnetaceae)—प्रायः क्षुप होती हैं। रेजिन नलिकायें पूर्णतया अनुपस्थित होती हैं। पुष्प एक-लिंगी परन्तु कभी-कभी द्विलिंगी भी होते हैं। पत्तियां शल्क-पत्रीय होती हैं। इस कुल के पौधे बहुत विकसित एवं पुष्पधारियों के समकक्ष ही हैं।

(क) एफ़िड्रा (Ephidra gerardiana)--६-१८ इंच ऊंचे क्षुप जिनमें कि तना प्रायः १ इञ्च मोटा होता है। छाल भूरी होती है। शाखें हरी, सीधी या टेढ़ी होती हैं। पत्तियाँ शल्क-पत्रीय होती हैं। नर-पुष्प ४-८ जिनमें पुंकेसर ५-८ होते हैं। मादा पुष्प भी नर की ही तरह होता है। फल ·३-४ इंच लंबा, लाल व बीज केवल २, काले रंग के होते हैं। पुष्प मई-जुलाई में आते हैं तथा फल जुलाई-अक्टूबर तक तैयार होते हैं। ६५,००० से १४००० फीट कर भीतरी शुष्क भागों में।

इस प्रकार कुमायूँ में उपर्युक्त शंकुधारी पौधे पाये जाते हैं। इन पर अधिक शोध-कार्य आवश्यक है। इन पौधों का रोपण कर कुमायूं को इनसे समृद्ध किया जा सकता है। इनके अतिरिक्त रोपित शंकुधारी वृक्ष भी यही हैं यथा, गिंको (Ginko bioloba), सीकोविया (Sefuoia), क्रिप्टोमीरिया, अगेथिस (Agathis), Araucaria इत्यादि। (राजभवन-नैनीताल आदि स्थानों पर) सरकार को इस प्रकार के वनों को बढ़ाने में अधिक सक्रिय होना चाहिए क्योंकि कुछ वन (देवस्थल A. Pindrow) फ़ारेस्ट-पंचायत में आने के कारण नष्ट होते जा रहे हैं। यहाँ नूतन पौधालय बनाकर इन पौधों की अन्य किस्मों के उत्पादन का परीक्षण होना व इन बनों रक्षा करना परमावश्यक है।

———

सर विलियम क्रुक्स

ब्रजेश्वर प्रसाद शर्मा

परमाणु की आंतरिक संरचना एवं ब्रह्मांड में उपस्थित अन्य सूक्ष्म कणों के अस्तित्व का परिचय पाने में जिन महान वैज्ञानिकों ने सर्वाधिक कार्य किया है उनमें अंग्रेज वैज्ञानिक सर विलियम क्रुक्स का नाम भी आदर के साथ लिया जाता है। सर क्रुक्स ने विरल गैसों में विद्युत विसर्जन की क्रिया का अध्ययन कर जो उपयोगी जानकारी प्राप्त की, उससे आधुनिक विद्युत के एक नये क्षेत्र का मार्ग प्रशस्त हुआ है। वर्तमान वाणिज्य व्यवसाय को समुन्नत करने वाला विज्ञान रसायन-शास्त्र उनका इसलिए ऋणी है कि उन्होंने इस क्षेत्र में नवीनतम खोजें व अनुसंधान किये। सर क्रुक्स पहले वैज्ञानिक थे जिन्होंने पदार्थ की बनावट का सही ज्ञान प्राप्त करने के लिए स्पैक्ट्रोस्कोप का उपयोग किया।

जीवन एवं कार्य

सर विलियम क्रुक्स का जन्म सन् १८३२ में लंदन में हुआ था। उन्होंने लंदन में ही, रसायन-विज्ञान की शिक्षा के लिए विख्यात रॉयल कॉलेज आफ कैमिस्ट्री में, शिक्षा प्राप्त की। तत्पश्चात् वे उल्काविज्ञानी (मीटिओरोलाजिस्ट) की भाँति ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय की रैडक्लिफ वेधशाला में सहायक हो गये। इस संस्था में रहते हुए उन्होंने रसायन-विज्ञान के प्रोफेसर की भांति सन् १८५५ में फैकल्टी आफ चेस्टर ट्रेनिंग कालेज में प्रवेश किया। इस कालेज में कार्य करते हुए उन्होंने स्वास्थ्य-रक्षा के प्रचार में व कारखाने के विकास एवं नवीन संभावनाओं पर विचार करने में रसायन-विज्ञान की सहायता ली। उक्त कार्य के दौरान उन्होंने रसायन के सर्वथा नवीन-विषयों पर अनुसंधान किये तथा बहुत से मौलिक सूत्रों की स्थापना की।

सोडियम अमलगम विधि से सोना और चाँदी को उनके खनिजों से अलग करने की नई विधि के वे आविष्कारक थे। उन्होंने व्यवसायिक रसायन पर नवीन खोजें की थीं। उनकी सर्वाधिक महत्वपूर्ण खोज एक्स-रे उपकरण बनाने में विद्युतीय शक्ति का उपयोग था।

अल्फा-कण पर क्रुक्स की नवीन खोज

क्रुक्स के तत्कालीन वैज्ञानिकों जैसे रदरफोर्ड, सॉडी व थामसन ने यह ज्ञात कर लिया था कि रेडियमधर्मी उत्सर्जन की प्रक्रिया के दौरान वस्तुयें विभिन्न आवेशित कण विसर्जित करती हैं। वैज्ञानिक यह जानना चाहते थे कि यह कण वस्तुतः हैं क्या और इनकी लाक्षणिकतायें क्या हैं। बीटा किरणों का तो तुरंत ही निर्धारण हो गया—यह पाया गया कि वे अत्यंत तीव्र गति से चलने वाले इलेक्ट्रानों की धारायें हैं। किन्तु अल्फा कणों की रचना, आंतरिक विद्युतावेश के विषय में वैज्ञानिकों को कुछ भी ज्ञात न हो सका। रदरफोर्ड और सॉडी ने सम्मिलित रूप से अनुसंधान कर अल्फा कणों के आवेश तथा संहति का अनुपात ज्ञात किया। यह एक हाइड्रोजन आयन का आधा पाया गया। अब एक अल्फा कण के आवेश के परिमाण को पृथक निर्धारित करना ही बाकी रह गया। इसके बाद वैज्ञानिक उसकी संहति का आसानी से पता चला सकते थे।

स्पिंथेरिस्कोप

अल्फा कणों को अंकित करने के लिए विलियम क्रुक्स ने एक मौलिक तारीका अपनाया। सूर्य की किरणों में विभिन्न वस्तुओं के रखे जाने पर उनमें प्रकाश देने का गुण आ जाता है। इस घटना को

प्रतिदीप्ति (फ्लोरिसैन्स) कहते हैं। क्रुक्स ने इस बात की खोज की कि आवेशित कणों में रखी जाने पर भी ये वस्तुएँ प्रकाश दे सकती हैं। इसके लिए जिस वस्तु पर प्रयोग किया जा रहा है, उसे एक परदे पर मढ़ दिया जाता है। जैसे ही कण उस वस्तु से मढ़े परदे पर गिरता है, परदे पर एक चमकदार निशान बन जाता है। आवेशित कणों का अध्ययन करने वाले इस उपकरण को स्पिंथेरिस्कोप कहते हैं। स्पिंथेरिस्कोप के परदे पर जिंक सल्फाइड की एक पतली परत चढ़ी होती है।

अल्फा कण के आवेश का परिमाण क्रुक्स के स्पिंथेरिस्कोप की सहायता से नाप लिया गया। इस काम के लिए उपकरण में कुछ सुधार किये गये थे--परदे पर एक ऐसी युक्ति की गई थी, जिससे उस पर एकत्र होने वाले विद्युत् आवेश के परिमाण को निश्चित किया जा सकता था। इसके बाद वैज्ञानिकों ने परदे पर गिरने वाले कणों की गणना कर ली। अब एक अल्फा कण के आवेश को निर्धारित करना आसान था। यह पाया गया कि एक अल्फा कण का आवेश एक इलैक्ट्रान के आवेश का दुगना है। इस प्रकार क्रुक्स द्वारा प्रयुक्त नवीन उपकरण से अल्फा कणों के विषय में काफी जानकारी हुई।

क्रुक्स-ट्यूब

सर क्रुक्स ने अपना अधिक समय और अध्ययन कुछ ऐसे प्रभावों को देखने में लगाया जो कि शून्य काँच की नली में उत्पन्न होते थे। इस विशेष प्रकार की नली को उनके सम्मान में 'क्रुक्स-ट्यूब' का नाम दिया गया। क्रुक्स-ट्यूब में एक ओर से वायु भेजी जाती थी और विरुद्ध सिरों में धातु इलैक्ट्रोड सील किये गये थे। धनात्मक इलैक्ट्रोड एनोड हैं और ऋणात्मक कैथोड। जब ये सिरे (टर्मिनल) उच्चविद्युतीय शक्ति से संग्रहीत किये गये तो एक हरी चमकदार प्रतिदीप्ति कैथोड के विपरीत दीवाल पर दिखायी देती है और एक धातु टार्जेट, फ्लोरिसैन्स पर एक छाया फेंकता है। यह टार्जेट कैथोड के ठीक सामने स्थित होता है। इन प्रभावों का कारण ऋणात्मक टर्मिनल से निकलती हुई कैथोड किरणें हीं हैं। ये विद्युत् युक्त किरणें, इलैक्ट्रान की धारा के रूप में जानी जाती हैं। क्रुक्स ने उपर्युक्त प्रयोग करके क्रुक्स ट्यूब में ही एक्स-किरणों की उत्पत्ति की थी।

कृतियाँ, आविष्कार और सम्मान

सर क्रुक्स ने बहुत सी पुस्तकें लिखीं हैं, जिनमें से प्रमुख हैं -- सेलेक्टेड मेथड्स आफ कैमिकल एनालाइसिस (Selected Methods of chemical Analysis), ए सल्यूशन आफ द सीवेज क्वश्चन A Solution of the Sewage Question), द व्हीट प्राब्लम (The Wheat Problem), और द प्रोफिटेबल डिस्पोजल आफ सीवेज (the profitable disposal of Sewage)।

थैलियम तत्व का आविष्कार एवं उसके रासायनिक गुणों की खोज कर विलियम क्रुक्स ने महान ख्याति अर्जित की। इस तत्व को आवर्त सारिणी के तीसरे वर्ग और छठवें आवर्त में पारे के बाद रखा गया है। इसकी परमाणु संख्या ८१ व परमाणु भार २०४.४ है। रसायन विज्ञान को मौलिक एवं बहुमूल्य उपलब्धियाँ प्रदान करने के उपलक्ष्य में सन् १९०७ में रायल स्वीडिश अकादमी (नोबल-पुरस्कार प्रदात्री समिति) ने उन्हें रसायन का नोबल पुरस्कार प्रदान कर सम्मानित किया। रसायन के नोबल पुरस्कार का आधा भाग क्रुक्स ने व आधा भाग जर्मनी के वैज्ञानिक एडवार्ड बूकनर ने प्राप्त किया। सर क्रुक्स को इंग्लैण्ड सरकार ने लगातार १० वर्षों तक 'नाइट' की सम्माननीय उपाधि से विभूषित किया।

थैलियम तत्व के आविष्कारक, क्रुक्स ट्यूब के प्रणेता, अल्फा कणों के आकार व प्रकृति के खोजकर्ता और विभिन्न व्यावसायिक पद्धतियों के मौलिक शोधकर्ता के रूप में सर क्रुक्स ने विज्ञान के विकास और प्रगति में जो महत्वपूर्ण योगदान दिया, वह वन्दनीय है और सदैव ही भावी वैज्ञानिकों का मार्ग-प्रदर्शन करता रहेगा।

ब्रिटेन के इस युग-प्रणेता वैज्ञानिक और आविष्कारक का देहांत ८७ वर्ष की आयु में सन् १९१९ में हुआ।

कण एवम् विकिरण सूचक यन्त्र—२

शान्ति लाल सरणोत

चमक गणक

उच्च ऊर्जा के विकिरणों का पता लगाने के लिये चमक गणक (Scintillation counter) काम में लाया जाता है। इसका उपयोग सर्वप्रथम लार्ड रदरफोर्ड ने किया था। जब अल्फाकण जिंक सल्फाइड के पर्दे से टकराते हैं तो चमक उत्पन्न होती है। इस चमक को आसानी से गिना जा सकता है। रदरफोर्ड ने इसी प्रकार अल्फा कणों से उत्पन्न चमक को गिन कर उनका पता लगाया था। इस प्रकार विकिरणों का पता लगाने की यह बहुत पुरानी विधि है लेकिन इसे आधुनिकतम् विधि भी कहा जा सकता है। आधुनिक चमक गणकों में प्रकाशवर्धक नलिका (Photomultiplier) का उपयोग होता है। अब तो इसके साथ ही फास्फोर (Phosphor) का भी उपयोग करते हैं जिससे चमकगणक की क्षमता कई गुना बढ़ गई है। गामा विकिरणों का पता लगाने में तो शायद ही अन्य कोई यन्त्र इसका मुकाबला कर सके। इसके साथ ही, इसके द्वारा अन्य विकिरणों की सूचना भी बड़ी ही सुगमतापूर्वक व शुद्धतापूर्वक मिल जाती है।

जब प्रकाश किरण अत्यन्त सुग्राहक पट 'फोटो केथोड' पर गिरती हैं तो उसमें से कुछ फोटोइलेक्ट्रान मुक्त होते है। इन कणों को विद्युत क्षेत्र द्वारा त्वरित कर दूसरे सुग्राहक तल 'डायनोड' पर गिराया जाता है जिससे कि और भी फोटोइलेक्ट्रान मुक्त होते हैं। इन फोटो इलेक्ट्रान को संग्राहक विद्युदग्र पर इकठ्ठा कर लिया जाता है। इसके द्वारा उत्पन्न प्रवर्द्धन को समझने के लिये एक साधारण सा उदाहरण लिया जा सकता है। माना कि एक फोटो इलेक्ट्रान डायनोड से टकरा कर ५ फोटोइलेक्ट्रान उत्पादन करता है तो १२ डायनोड वाली नली में $५^{१२} = २\cdot४ \times १०^{८}$ गुना प्रवर्द्धन होगा। प्रकाशवर्धक नलिका में इतना अधिक प्रवर्द्धन होने पर भी इसके साथ फास्फोर का लगाना आवश्यक है।

चमक गणक में एक मणिभ (Crystal), प्लास्टिक की एक प्रकाश नलिका से जोड़ दिया जाता है। इस नली में प्रकाश का अत्यधिक परावर्तन के कारण दीवारों द्वारा बहुत ही कम प्रकाश शोषित किया जाता है। प्लास्टिक की इस नलिका को कनाड़ा बालसम (Canada Balsam) द्वारा प्रकाशवर्धक नलिका से जोड़ दिया जाता है। साधारणतः प्रकाशवर्धक नलिका भी आवरण युक्त होती है।

मणिभ का चुनाव, यन्त्र से नापने वाले विकिरण पर निर्भर करता है। अल्फा कणों के लिये जिंक सल्फाइड मणिभ काम में लाया जाता है। बीटा किरणों के लिये एन्थरेसेन्स (Anthracence) लाभदायक सिद्ध हुआ है। गामा विकिरण के लिये थेलियम एक्टीवेटेड सोडियम आयोडाइड (Thallium activated sodium iodide) काम में लाया जाता है।

जब बड़े व असाधारण आकृति के गणकों की आवश्यकता होती है तो द्रव फास्फोर काम में लाते हैं। अब तो कई कार्बनिक मणिभ भी प्राप्य हैं जिन पर विकिरण पड़ने पर चमकते हैं। इन फास्फोर का सबसे महत्वपूर्ण गुण तो यह है कि इनमें से निकलने वाले

प्रकाश की चमक अल्पकालीन होती है और यही चमक गणक की सुग्राहकता का मुख्य कारण है।

चमक गणक, प्रोटोन, ड्युट्रान व अल्फा कणों का पत्ता लगाने का अच्छा साधन है। इन कणों से उत्पन्न चमक बहुत तेज होती है इसलिये इनका पता बीटा व गामा विकिरणों की उपस्थिति में भी लगाया जा सकता है। गामा विकिरणों का पता लगाने का तो यह एक बहुत अच्छा साधन है। बीटा विकिरणों का पता लगाने के लिये कार्बनिक फास्फोर वाले गणकों का उपयोग होता है। आजकल तो अन्तरिक्ष रश्मियों (Cosmic rays) के अनुसन्धान में भी इसका उपयोग होने लगा है। विशेष रूप से मैसान व अन्य उच्च ऊर्जा के अस्थिर कणों की खोज में इसका उपयोग किया जाता है।

विल्सन का अभ्र कोष्ठक

१९१२ में स्काटलैण्ड के वैज्ञानिक सी० टी० आर० विल्सन (C. T. R. Wilson) ने एक अभ्र कोष्ठक (Cloud chamber) बनाया जिससे कि पहली बार आयनीकृत कणों के मार्ग को देखा जा सका। परमाणु अनुसंधान में यह अत्यन्त उपयोगी उपकरण है। इसकी सहायता से कणों को प्रत्यक्ष देखा जा सकता है। इससे प्राप्त चित्रों से ही सबसे पहले दो मूलभूत कण 'पॉजिट्रान' व ''मेसाट्रान'' की उपस्थिति का पता लगा तथा न्यूट्रानों की उपस्थिति का भी कुछ संकेत मिला।

विल्सन ने एक लम्बे समय तक वाष्पों के संघनन की अवस्थाओं पर अध्ययन किया। उसने देखा कि धूल कणों की उपस्थिति में अति संतृप्त वाष्प संघनित हो जाती है। वाष्प को ठण्डा करके अति संतृप्तता की इस अवस्था को प्राप्त किया जा सकता है। यदि एक पिस्टन युक्त बेलन में भरी गैस को एकदम फैला दिया जाय तो, आयतन में तेजी से वृद्धि के कारण वह ठण्डी हो जाती है। अगर बेलन में पहले संतृप्त वाष्प भरी हो तो अब वह अतिसंतृप्त हो जाती है। यदि वाष्प में कुछ धूल कण भी हो तो कोहरा सा बनने लगता है, क्योंकि ये कण वाष्प के संघनन-नाभिक होते हैं।

बाद में उसने पता लगाया कि विद्युत आवेशयुक्त कण भी इस प्रकार के संघनन केन्द्र बन सकते हैं। यदि वाष्प में से सभी धूल कण हटाकर उनमें आयनो कण उत्पन्न कर दिये जायँ तो उन पर भी वाष्प संघनित हो जायगी।

जिन वाष्पों की संतृप्त अवस्था में विशिष्ट उष्मा ऋणात्मक होती है उनकी अति संतृप्त अवस्था, उनके आयतन में एकाएक वृद्धि से प्राप्त की जा सकती है। धनात्मक विशिष्ट उष्मा वाली संतृप्त वाष्पों की अति-संतृप्त अवस्था प्राप्त करने के लिये उनके आयतन में अचानक कमी करनी पड़ती है। जल वाष्प व अन्य. अल्कोहल वाष्प की विशिष्ट उष्मा ऋणात्मक होती है, अतः पहली प्रकार के कोष्ठकों का निर्माण करना पड़ेगा।

विल्सन ने देखा कि अतिसंतृप्तता बढ़ने के साथ ही पहले ऋण आयन संघनन-केन्द्र बनते जाते हैं। ऐसी स्थिति तब आती है जब संतृप्त वाष्प का आयतन २५% बढ़ जाता है। जब आयतन ३१% बढ़ जाता है तो ऋण व धन दोनों ही आयन संघनन केन्द्र बन जाते हैं, जब आयतन में ३८% से भी अधिक वृद्धि हो जाती है तो आयनों की उपस्थिति के बिना ही घनेअभ्र (Dense cloud) बन जाते हैं। जब एक अल्फा कण गैस प्रकोष्ठ से गुजरता है तो अपने मार्ग की १ से० मी० लम्बाई में १००,००० आयन उत्पन्न करता है। इस प्रकार यदि अल्फा कणों के दण्ड को अभ्र कोष्ठक में प्रविष्ठ कराया जाय तो ये अपने मार्ग में आयन उत्पन्न करेंगे जिनकी संख्या बहुत अधिक होती है। उचित अवस्था में ये आयन वाष्प के संघनन केन्द्र बन जाते हैं और इन पर वाष्प के संघनन के कारण एक रेखा सी बन जाती है जिसका चित्र केमरे द्वारा ले लिया जाता है। इस प्रकार हमें अल्फा कणों के चलने के मार्ग का चित्र प्राप्त हो जाता है।

इस यन्त्र में एक धातु नलिका होती है जिसमें पिस्टन चल सकता है इनसे कोष्ठक का पेंदा बन जाता है। नली का ऊपरी भाग एक काँच की पट्टी से ढका रहता

है जिससे कि कोष्ठक के अन्दर वाष्प का संघनन देखा जा सकता है। कोष्ठक में संतृप्त जल वाष्प व अल्कोहल वाष्प का मिश्रण भरा रहता है। जब पिस्टन के नीचे निर्वात उत्पन्न किया जाता है तो पिस्टन नीचे गिरता है। इस प्रकार कोष्ठक का आयतन बढ़ता है। पिस्टन के गिरने की दूरी पर नियन्त्रण रक्खा जाता है। एक नली द्वारा पिस्टन के नीचे की जगह को पात्र से जोड़ दिया जाता है। पात्र में पम्पों द्वारा उच्च दाब व निर्वात, एक के बाद एक उत्पन्न किये जाते हैं।

कार्य आरम्भ करने के पहिले पात्र में उच्च दाब उत्पन्न किया जाता है फिर इसे पिस्टन के नीचे के रिक्त स्थान से जोड़ दिया जाता है जिससे की पिस्टन अपनी उच्चतम् स्थिति में पहुँच जाता है। फिर एक वाल्व की सहायता से दोनों को पृथक कर दिया जाता है। फिर पात्र में निर्वात उत्पन्न कर वाल्व को खोल दिया जाता है जिससे कि पिस्टन अचानक नीचे गिर जाता है और कोष्ठक में वाष्प का संघनन आरम्भ हो जाता है। आवरण व पिस्टन के बीच बैटरी द्वारा विद्युत क्षेत्र उत्पन्न किया जाता है जो कि कोष्ठक में पूर्व उपस्थित आयन व निरीक्षण के बाद बचे आयनों को हटा लेता है। कोष्ठक का पेंदा काला कर दिया जाता है जिससे कि अभ्र मार्ग सरलता पूर्वक दिख सके। पिस्टन के नीचे लकड़ी के बेलन रख दिये जाते हैं जिससे कि नली में से गुजरने वाली हवा की मात्रा कम हो जाती है अतः पिस्टन अधिक तेजी से गिर सकता है। कोष्ठक के ऊपर केमरा लगा रहता है जिससे कि समयानुसार चित्र लिये जा सकते हैं। आजकल कोष्ठक के चित्र लेने के लिये दो कैमरों का एक साथ प्रयोग किया जाता है। दो चित्रों द्वारा कण के मार्ग का सही अनुमान हो जाता है और उन्हें मिलाकर देखने से चित्र उभरे हुए भी दिखाई देते हैं।

कोष्ठक में अभ्रमार्ग बड़े अल्प समय के लिये बनता है और शीघ्र ही मिट जाता है क्योंकि उनका ताप घट कर शीघ्र ही बढ़ जाता है। साधारण कोष्ठक वाष्प के फैलाव के ·०५ सेकण्ड तक ही संवेदी रहते हैं लेकिन कुछ कोष्ठकों में यह समय १ सेकन्ड तक बढ़ा दिया गया है। इस प्रकार अभ्रकोष्ठक के प्रयोग चित्र बहुत ही शीघ्रता से लिये जाते हैं। साथ ही इस बात की भी बड़ी आवश्यकता रहती है कि बाहर से कोई कण अथवा विकिरण कोष्ठक में प्रवेश न करे।

अल्फा कणों के अध्ययन के लिये स्रोत को सीधा प्रकोष्ठ में रख देते हैं तथा बीटा किरणों को एक पतले गवाक्ष द्वारा भेजा जाता है। कोष्ठक के आधार के लम्बवत् एक चुम्बकीय क्षेत्र उत्पन्न किया जाता है। जिससे कि यह क्षेत्र कणों के वेग के भी लम्बवत् हो जाता है अतः उनका मार्ग वृताकार बन जाता है। वृत्ताकार मार्ग के अर्द्धव्यास को नाप कर उनके आवेश की गणना की जा सकती है। इस प्रकार कणों का आवेश, मात्रा वेग ऊर्जा आदि ज्ञात की जा सकती है।

फोटोग्राफिक विधि

यह एक ऐसी विधि है जिससे कि अल्फा कणों के चलने का मार्ग देखा जा सकता है। १९१० के लगभग अनुसन्धानों से इस बात का पता लगा कि अल्फा कणों के चलने का मार्ग फोटोग्राफिक प्लेट पर अंकित हो जाता है जो कि प्लेट को डेवेलप करने पर अणुवीक्षण यन्त्र द्वारा आसानी से देखा जा सकता है। लम्बे समय तक नाभिकभौतिकी (Nuclear Physics) में इस विधि का उपयोग नहीं किया जाता था लेकिन इन कुछ ही वर्षों में इस क्षेत्र में बहुत उन्नति हुई है। इसका मुख्य श्रेय ब्रिस्टल विश्वविद्यालय के डा० सी० एफ० पाउल (C. F. Powell) व उनके साथी जी० पी० एस० ओचीएलिनि (G. P. S. Occhialini) को है जिन्होंने १९३८ में इस विधि में बहुत महत्वपूर्ण सुधार किये। इन वैज्ञानिकों के साथ ही दो प्रसिद्ध फोटोग्राफिक कम्पनियाँ 'इल्फोर्ड कम्पनी' (Elford company) व 'इस्टमेनकोडक कम्पनी' (Eastman kodak company) के नाम भी महत्वपूर्ण हैं जो कि इस विधि के लिए आवश्यक विशेष प्रकार की प्लेटों का निर्माण करती हैं। वास्तव में फोटोग्राफिक विधि की उन्नति का मुख्य कारण तो विशेष प्रकार की अत्यन्त संवेदनशील प्लेटों का निर्माण था। आज तो नाभिक

भौतिक में अनुसन्धानों की यह एक आधारभूत विधि बन गई है। इस विधि का मुख्य उपयोग अन्तरिक्ष रश्मियों व भारी कणों सम्बन्धी अनुसन्धानों में किया जाता है।

इस विधि का सिद्धान्त साधारण फोटोग्राफिक विधि से मिलता-जुलता है। साधारण फोटोग्राफिक प्लेट पर प्रकाश संवेदनशील इमल्शन होता है जिसमें सिल्वर ब्रोमाइड की प्रधानता होती है। जब इस पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता है तो सिल्वर ब्रोमाइड अप्रभावित होता है जिससे कि प्लेट को डेवलप करने पर कोई छाया नहीं बनती है और प्लेट साफ पारदर्शक दिखाई पड़ती है। इसका कारण यह है कि सिल्वर ब्रोमाइड में में सिल्वर व ब्रोमिन के परमाणु इलेक्ट्रान द्वारा एक दूसरे से जुड़े रहते हैं। प्रकाश नहीं पड़ने के कारण सिल्वर ब्रोमाइड अपनी पूर्वावस्था में ही रहता है जो कि डेवेलपर घोल में घुल जाता है।

जब फोटोग्राफिक प्लेट पर प्रकाश गिरता है तो सिल्वर व ब्रोमिन को जोड़ने वाले इलेक्ट्रान बाहर निकल जाते हैं जिससे सिलवर परमाणु स्वतन्त्र हो जाते हैं। डेवलेपर घोल में डालने पर यही सिल्वर परमाणु प्लेट पर काला चित्र बनाते हैं। इसी प्रकार रेडियो सक्रिय विकिरण व आवेशयुक्त कण भी सिल्वर ब्रोमाइड से इलेक्ट्रान निकाल कर सिल्वर परमाणु स्वतन्त्र करते हैं। इसके कारण उनका गुप्त प्रतिबिम्ब बन जाता है। इस प्रकार कणों के चलने का मार्ग प्लेट पर खिंच जाता है। इसके लिये साधारण फोटोग्राफिक प्लेट काम में नहीं ला सकते हैं। इसमें काम में आने वाली प्लेटें अत्यन्त संवेदी व सिल्वर ब्रोमाइड अथवा अन्य संवेदी पदार्थं की मोटी तह की बनी होती हैं। कुछ प्लेटों में, सिल्वर ब्रोमाइड की कई पतली तहों की मोटी तह एक ऊपर के एक जमाकर, तैयार की जाती है।

यह कणों व विकिरणों को अंकित करने की बहुत ही सरल विधि है। इसमें एक प्लेट पर कई कणों के चित्र उतारे जा सकते हैं। इस प्रकार एक प्लेट सैकड़ों अभ्रकोष्ठक चित्रों का स्थान ले सकती है। अब तो ऐसी परिष्कृत विधियां प्रयुक्त होती है जिनमें कणों की ऊर्जा, आयनीकरण क्षमता और उनके वेग को ज्ञात किया जा सकता है। इन्हीं प्रयोगों द्वारा कणों की मात्रा भी ज्ञात की जा सकती है। इन प्रयोगों की पुष्टि अभ्रकोष्ठक आदि से की जाती है।

बुदबुद कोष्ठक

इस यन्त्र का आविष्कार १९५२ में डी० ए० ग्लेसर (D. A. Glaser) ने किया था। विल्सन के अभ्रकोष्ठक में उच्च ऊर्जा के कणों का पूरा मार्ग नहीं आ सकता है, साथ ही फोटोग्राफिक प्लेट पर बनने वाला मार्ग इतना छोटा होता है कि चुम्बकीय वक्रता आसानी से नहीं देखी जा सकती है। बुदबुद कोष्ठक (Bubble chamber) में इन दोनों कमियों को दूर कर दिया है। इस प्रकार यह एक अत्यन्त नवीन लेकिन बहुत ही उपयोगी उपकरण है। अन्तरिक्ष रश्मियाँ व मूलभूत कणों के अनुसन्धान में तो यह अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुआ है। अल्पमात्रा में आयनीकरण करने वाले सूक्ष्म कण भी इस विधि द्वारा चित्रित किये जा सकते हैं जो कि अन्य विधियों द्वारा सम्भव नहीं है।

इसमें एक कोष्ठक में तरल हाइड्रोजन भरी रहती है जो कि उसके क्वथनांक बिन्दु से कुछ कम ताप व उच्च दाब पर होती है। हाइड्रोजन के स्थान पर अन्य पदार्थ का भी उपयोग किया जा सकता है। बुदबुद कोष्ठक में सबसे पहले डाइ ईथाइल ईथर का उपयोग किया गया था। अब तो बेन्जीन, पेन्टेन सल्फर डाई आक्साइड व इथाइल अल्कोहल का सफलतापूर्वक उपयोग किया जाता है। काम में लाये गये द्रव का तल तनाव (Surface tension) कम व वाष्प दाब अधिक होना चाहिये।

कोष्ठक में भरी हुई तरल हाइड्रोजन को उच्च दाब पर, उसके क्वथनांक बिन्दु से कुछ ऊँचे ताप तक गर्म करना पड़ता है। दाब में अचानक परिवर्तन से द्रव अस्थिर अवस्था में आ जाता है और वाष्पीकरण आरम्भ हो जाता है। जब इसमें से ऊर्जा वाले कण गुजरते हैं तो कई आयन उत्पन्न करते हैं। इन आयनों

पर वाष्प के बुदबुद बन जाते हैं। इस प्रकार कणों के चलने के मार्ग में बुदबुदों का पथ बन जाता है जिसे आसानी से फोटोग्राफ किया जा सकता है। साथ ही उचित चुम्बकीय क्षेत्र उत्पन्न कर कणों के मार्ग को वक्र बनाया जा सकता है। वक्रता अर्द्धव्यास को नाप कर कणों के आवेश, मात्र, वेग ऊर्जा आदि ज्ञात की जा सकती है। इस उपकरण द्वारा आवेश की प्रकृति भी ज्ञात की जा सकती है।

बुदबुद कोष्ठक द्वारा कई मूलभूत कणों का पता लगा है। म्युमैसान (U Meson) व प्रति लेम्डा (Anti lembda) कण की खोज इससे ही हो सकी है। इस उपकरण के द्वारा जाई-शून्य (xi Zero) कण की भी खोज सम्भव हो सकी है।

[पृष्ठ ३ का शेषांश]

से बनी हैं। अन्त्य जगत में ये भले ही तुल्य न हों परन्तु अनन्त जगत में वे तुल्य है क्योंकि एक रेखा के अन्तिम बिन्दु व दूसरी रेखा के अन्तिम बिन्दु को मिलाने वाली रेखा के समानान्तर एक रेखा के प्रत्येक बिन्दु से दूसरी रेखा पर रेखाएँ खीचें तो उतनी ही जगह इस रेखा को काटेंगी जितनी की पहली रेखा पर बिन्दु हैं। इस प्रकार अनन्त जगत में भिन्न-भिन्न लम्बाई की रेखाएँ भी तुल्य होंगी क्योंकि एक के बिन्दुओं का दूसरी के बिन्दुओं से सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है।

अनन्त अंकगणित, बीजगणित रेखागणित व चलन कलन में अपने पूर्ण वैभव के साथ व्याप्त है। अनन्त का क्षेत्र बहुत विशाल व आशाओं से परिपूरित है। जिस दिन मानव अपने आत्मदेव के निवास का वास्तविक स्थान गणित के द्वारा खोज निकालेगा, वह दिन अनन्त के इतिहास में विजय का दिन होगा।

अनुसंधान के तीर्थों से

[आई० सी० ए० आर० कृषि अनुसन्धान समाचार सेवा से साभार]

गेहूँ के फसल-चक्र पर उर्वरकों का असर

गेहूँ-मक्का-गेहूँ के फसल-चक्र पर उर्वरकों का असर देखने के लिए भारतीय कृषि अनुसंधानशाला में सन् १९५१ ई० से १९६० ई० तक परीक्षण किये गये। इन परीक्षणों के दौरान फसलों में कार्बनिक और रासायनिक खादें दी गईं। कार्बनिक खादों में ग्वार की हरी खाद, अरंड की खली और घूरे की खाद दी गयी। रासायनिक खादों में नाइट्रोजन, फास्फोरस और पोटेशियम की खादें दी गईं। सबसे पहले सन् १९५१ से सन् १९५५ तक किये जाने वाले परीक्षणों में सिर्फ गेहूँ की ही फसल को खाद और उर्वरक दिये गये। बिना नाइट्रोजन वाले उर्वरकों की मात्रा २२·४ किलोग्राम प्रति हेक्टेयर और नाइट्रोजनधारी उर्वरकों की मात्रा ३३·६ किलोग्राम प्रति हेक्टेयर थी। इन परीक्षणों से पता चला कि जैविक खादें, यानी ग्वार की हरी खाद, अरंड की खली और घूरे की खाद डालने से पहली फसल में उपज की मात्रा में काफी वृद्धि हुई। ४५ किलोग्राम नाइट्रोजन देने से गेहूँ की उपज भी बहुत अच्छी हुई लेकिन जब केवल ९० किलोग्राम फास्फोरस दिया गया तो उपज में कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ा। लेकिन ४५ किलोग्राम + ९० किलोग्राम नाइट्रोजन + फास्फोरस मिलाकर देने से या सिर्फ ९० किलो फास्फोरस देने से लाभ नहीं हुआ। इसी तरह ४५ किलोग्राम नाइट्रोजन + ९० किलोग्राम फास्फोरस के साथ ६७ किलोग्राम पोटेशियम आक्साइड देने से उतनी ही उपज मिली जितनी सिर्फ ४५ किलोग्राम नाइट्रोजन देने से मिली थी। इससे स्पष्ट है कि नाइट्रोजन के साथ फास्फोरस या पोटेशियम देने से गेहूँ की उपज में कोई लाभ नहीं होता।

फसल-चक्र में मक्का की उस फसल में जिसमें पिछले वर्ष हरी खाद डाली गयी थी या ४५ किलोग्राम नाइट्रोजन प्रति हेक्टेयर डाली गई थी, उपज अधिक हुई। पिछली फसल में दी गई घूरे की खाद तथा सुपर-फास्फेट और पोटाश का कोई खास लाभ दृष्टिगोचर नहीं हुआ लेकिन गेहूँ की पहली फसल को दी गयी हरी खाद, घूरे की खाद और अरंड की खली का प्रभाव गेहूँ की दूसरी फसल पर पड़ा और उपज बहुत अच्छी हुई। रासायनिक खादों में से किसी भी खाद का गेहूँ की दूसरी फसल की उपज बढ़ाने में लाभ नहीं पहुँचा। गेहूँ की पहली फसल में खाद और उर्वरक दिये गये और बाद में मक्का और गेहूँ की फसल में ३३·६ और २२·४ किलोग्राम प्रति हेक्टेयर के हिसाब से नाइट्रोजन दिया गया। इस प्रयोग में भी पैदावार बहुत बढ़ी।

आलू की उन्नत किस्मों में खाद

खेड (पूना) में आलू की अप-टू-डेट, कुफरी, क्यूबर और कुफरी लाल तीनों किस्मों पर भिन्न-भिन्न खादें देकर परीक्षण किये गये। इन परीक्षणों से मालूम हुआ कि नाइट्रोजन देने से उपज काफी बढ़ी लेकिन फास्फेट और पोटाश का कोई खास असर नहीं हुआ।

जालन्धर में भी परीक्षण किये गये। इन परीक्षणों से पता चला कि आलू की फसल में कैलशियम अमोनियम नाइट्रेट देने से सबसे अधिक मात्रा में नाइट्रोजन मिलता है। यदि आलू की फसल में हरी खाद दी जाय तो भी अधिक पैदावार के लिए यह आवश्यक है कि बुआई के समय हरी खाद के साथ-साथ कम से कम १०० पौंड नाइट्रोजन प्रति एकड़ और दी जाय। यदि कार्बनिक खाद न दी जाय तो १०० पौंड नाइट्रोजन + ७५ पौंड फास्फोरस + ७५ पौंड पोटाश मिलाकर

अवश्य देना चाहिए। हरी खाद में सनई की अपेक्षा ढैंचा अधिक लाभप्रद सिद्ध हुआ। निश्चित समय पर पानी न देने से उपज पर बुरा प्रभाव पड़ता है। जालंधर में दुमट मिट्टी पर किये गये परीक्षणों से पता चला कि पौधे की बढ़वार के समय सिंचाई की कमी होने पर कम उपज तो मिलती ही है साथ ही आलू के आकार पर भी बहुत बुरा असर पड़ता है। पौधे की बढ़वार के समय तीन सिंचाई, कंद निकलने के समय चार सिंचाई और फसल पकने के समय दो सिंचाई जरूरी है।

गेहूँ में प्रजनन के परीक्षण

गुरदासपुर (पंजाब) में गेहूँ प्रजनन उपकेन्द्र में किये गये परीक्षणों से निम्नलिखित परिणाम निकले :—

१. नाइट्रोजन देने से पौधे की बढ़वार में मदद मिलती है पर अधिक मात्रा देने से फसल में बालें देर से निकलती हैं।

२. नाइट्रोजन को फास्फोरिक एसिड के साथ देने से पौधे की वृद्धि काफी होती है तथा परीक्षण पौधे की तुलना में बालें करीब १० दिन पहले निकल आती हैं।

३. नाइट्रोजन, फास्फोरस और पोटाश मिलाकर देने से फसल ठीक पनपती है, बालें जल्दी निकलती हैं तथा पौधे पर पीले और भूरे रतुआ रोग का असर नहीं होता।

४. केवल फास्फोरस देने से नाइट्रोजन की तरह वृद्धि मामूली सी होती है, लेकिन परख पौधों की अपेक्षा बालें कुछ जल्दी निकल आती हैं।

५. केवल पोटाश देने से वृद्धि पर मामूली-सा असर होता है, लेकिन पौधे पर पीले और भूरे रतुआ रोग का असर नहीं होता।

६. परीक्षणों से यह भी पता चला कि यदि प्रति एकड़ सी- २८८ व सी—३०६ किस्म का ३० किलो बीज बोया जाय और सी—२७३ किस्म का ४० किलो प्रति एकड़ बोया जाय तो फसल की बढ़वार अच्छी होती है। बीज की मात्रा जितनी अधिक होगी, बालें उतनी ही अधिक होंगी। यह बात तीनों ही किस्मों (सी—२८८ सी—२७३ और सी—२०६) के परीक्षणों से सिद्ध हुई।

गन्ने पर प्रयोग

जावा में पहले गन्ने की पोरियों को सुखा कर उनकी नमी कुछ कम की जाती है ताकि गन्ने के ऊपरी हिस्सों के उगने की क्षमता बढ़े। यह मालूम करने के लिए यह प्रयोग उत्तर भारत में भी सफल होता है या नहीं, भारतीय गन्ना अनुसंधानशाला, लखनऊ, में नवम्बर, १९६१ में इसके परीक्षण किये गये। गन्ने के ऊपरी हिस्सों की, जो कि उस समय अपेक्षाकृत कम पके थे, अलग-अलग मात्रा में सुखाकर नमी कम की गयी। ताजा काटे हुये गन्नों से ऊपरी आधे हिस्से काटे गये तथा इसे दो भागों (अ और ब) में बाँटा गया। एक (अ) का ऊपरी हिस्सा फसल की कटाई के बाद फौरन काट दिया गया (जैसा कि अक्सर किया जाता है) तथा दूसरे (ब) में हरी पत्तियाँ वाला हिस्सा साथ रखा गया। कटे हुए हिस्सों को सील करने के बाद दोनों ढेरों में से प्रत्येक को फिर से दो भागों में बाँटा गया (अ को क और ख में तथा ब को ग और घ में) दोनों ढेरों में से एक-एक हिस्सा (क और ग) पारदर्शक पोलीथीन बैग में रखा गया तथा दूसरा हिस्सा (ख और घ) बिना आवरण के ऐसे ही छोड़ दिया गया। इन चारों ढेरों को अच्छी रोशनी वाले कमरे में तीन दिन तक छोड़ा गया। इन्हें उपचार के पहिले और बाद में तोला गया। बाद में कमरे से निकाल कर पौरी में टुकड़े करके फौरन बो दिये गये।

बिना पत्तियों वाले हिस्से (अ) में जितना भार कम हुआ उससे तीन गुने से भी ज्यादा भार पत्तियाँ वाले हिस्से (ब) में कम हुआ। भार की कमी पॉली-थीन बैग में रखे हिस्सों (क और ग) में कम हुई, लेकिन पत्तियों के हिस्से की वजह से अंतर उसी अनुपात में था।

प्रारम्भ में उगाने की अवस्था जांच करने पर मालूम हुआ कि जिस हिस्से की पत्तियों सहित खुला छोड़ दिया गया था (घ) उसमें ताजे गन्ने की अपेक्षा ६ प्रतिशत कम अंकुरण हुआ, लेकिन यह अंतर बाद की गणना में नहीं रहता। पत्तियों वाला हिस्सा काट देने से यह अंतर मालूम न दिया। पॉलीथीन बैग में रखे हिस्सों (क और ग) की अंकुरण क्षमता में कोई परिवर्तन नहीं हुआ, तथा पत्तियों वाला हिस्सा होने से भी कोई अंतर नहीं आया। इससे प्रकट होता है कि अंकुरण क्षमता पर नमी की कमी का प्रभाव पड़ता है।

नम की कमी से हर दशा में अंकुरण देर से होत है, लेकिन समय बीतने के साथ-साथ संभवतः जड़ आने व जमीन से पानी ग्रहण करने के कारण जो कोपल सूखकर मुरझा गई थीं उनसे भी शाखाएँ फूट आती हैं।

चावल की दो फसलें

बिहार के अलग-अलग भागों में परीक्षण करने से पता चला है कि मई से दिसम्बर के बीच लगातार चावल की दो फसलें उगाई जा सकती हैं, यदि मई में फसल को उगाते समय पानी मिल जाय। सी एच-१० या सी एम—१०३० के बाद बी आर—३४ या ४९८-२ ए किस्मों को पूसा में उगाने से ५६ से ६८ प्रति मन एकड़ तक उपज मिली है, जबकि ४८९-२ ए० की अकेली फसल को उत्तर बिहार में फौरन काफी सिंचाई देने पर भी कुल ३४ से ४५ मन ही अनाज प्राप्त हुआ है।

भारतीय वैज्ञानिक एफ० आर० एस० पदवी से सम्मानित

हर्ष का विषय है कि दिल्ली विश्वविद्यालय के वनस्पति शास्त्र के प्रोफेसर पी० महेश्वरी को एफ० आर० एस० की पदवी से विभूषित किया गया है।

यह मानद पदवी विज्ञान के क्षेत्र में महत्वपूर्ण खोजों के आधार कर प्रदान की जाती है।

सार संकलन

१. मंगल ग्रह से सम्पर्क का अपूर्व प्रयास

वैज्ञानिकों का विश्वास है कि यदि सौर-मण्डल में कोई अन्य ग्रह उस प्रकार के जीवन को आश्रय देने में समर्थ है, जिससे हम पृथ्वी पर परिचित हैं, तो वह ग्रह मंगल है। पौराणिक गाथाओं में 'लाल ग्रह' के नाम से विख्यात इस ग्रह की दिशा में इस समय एक मानव-रहित अमेरिकी अन्तरिक्ष-यान उड़ता जा रहा है। इस पर लगे हुए जटिल उपकरण पहली बार अत्यन्त निकटता से उसकी जाँच-पड़ताल कर के ऐसे तथ्य प्रस्तुत करेंगे, जिनसे यह निश्चय किया जा सकेगा, कि इस पर कभी किसी प्रकार के जीवन—वानस्पतिक, सूक्ष्माणविक या जैविक; तात्विक, जड़ या चेतन—का अस्तित्व रहा है या नहीं।

जब मंगल ग्रह और पृथ्वी ग्रह अपनी-अपनी कक्षा में सूर्य की परिक्रमा करते हुए एक-दूसरे के अधिकतम निकट आ जाते हैं, उस समय वे एक दूसरे से २४ करोड़ किलोमीटर की दूरी पर होते हैं। १५ जुलाई १९६५ को उनके बीच यही दूरी होगी और अमेरिकी अन्तरिक्ष-यान उस स्थान पर पहुँचने के लिये, जहाँ उस दिन मंगल ग्रह होगा, प्रति घण्टे ११,००० किलोमीटर की गति से उड़ता जा रहा है।

मैरिनर—४ नामक यह शोधक यान इस विचित्र ग्रह की सतह से ९,००० किलोमीटर की दूरी के भीतर से गुजरेगा। यदि सभी बातें सही ढंग पर होती गयीं, तो उसके कैमरे २० मिनट की उस अवधि में, जब वह मंगल ग्रह के पार्श्व से होकर गुजरेगा, उसके पृष्ठ भाग के २२ चित्र खींचने में समर्थ होंगे—जो मंगल ग्रह के अत्यन्त निकट से खींचे गये प्रथम चित्र होंगे।

अपनी ७॥ महीने की इस अपूर्व यात्रा के अन्त में मंगल ग्रह के सम्पर्क में आने के लिये मैरिनर-४ को एक लम्बे वक्राकार पथ पर सूर्य के चारों ओर आधी दूरी तक ५८ करोड़ किलोमीटर की यात्रा करनी पड़ेगी। २५९ किलोग्राम वजनी इस अन्तरिक्ष-यान के १,३८,००० पुर्जों को गहन-अन्तरिक्ष में विकिरण, उल्का-कणों के अघात तथा अन्य वाधाओं का सामना करने के बावजूद कम से कम ६,५०० घण्टे तक बराबर संचालित रहना पड़ेगा।

इससे पूर्व, दिसम्बर १९६२ में प्रक्षिप्त एक अन्य अन्तरिक्ष-यान, मैरिनर-२, ने ऐसे आँकड़े सुलभ किये, जिनसे यह प्रमाणित हुआ कि शुक्र ग्रह इतना प्रतप्त है कि उस पर जीवन का अस्तित्व सम्भव नहीं। सौर-मण्डल के अन्य ग्रह सूर्य से इतने निकट या इतने दूर हैं कि उन पर जीवन का अस्तित्व सम्भव नहीं। अत: जब एक मात्र मंगल ग्रह ही शेष रह जाता है जिस पर पृथ्वी पर पाये जाने वाले जीवन जैसे जीवन के अस्तित्व की सम्भावना है। मंगल ग्रह का रंग कालांतर से परिवर्तित होता रहता है, जो इस बात का सूचक है कि उस पर ऐसी वनस्पतियों का अस्तित्व है, जो मौसमी चक्र के परिवर्तन के अनुसार प्रादुर्भूत होती रहती हैं। इसके अतिरिक्त, मंगल ग्रह के पृष्ठ भाग पर एक छोर से दूसरे छोर तक आड़ी-तिरछी 'नहरें' दिखलायी पड़ती हैं, जिनके विषय में कुछ वैज्ञानिकों का विश्वास है कि वे विवेकी और बुद्धिमान प्राणियों द्वारा निर्मित हो सकती हैं।

यदि मैरिनर-४ की उड़ान सफल रही, तो उससे ऐसे चित्र प्राप्त हो जायेंगे, जो इन 'नहरों' के उद्भव के

सम्बन्ध में संकेत प्रस्तुत करेंगे। उस पर लगे अन्य उपकरण ब्रह्माण्ड-धूल और मंगल ग्रह के वायुमण्डल के घनत्व का माप करेंगे, इस बात का निर्धारण करेंगे कि इस ग्रह का कोई चुम्बकीय क्षेत्र है या नहीं, तथा इस बात की जानकारी प्राप्त करेंगे कि इस ग्रह के चारों ओर भी पृथ्वी को चारों ओर से घेर रखने वाली वान-एलेन विकिरण पट्टियों जैसी विकिरण-पट्टियाँ हैं या नहीं। यह बात संदिग्ध है कि मैरिनर-४ ऐसे प्रमाण सूत्र करने में समर्थ होगा, जिनसे निश्चित रूप से यह सिद्ध हो जायेगा कि मंगल ग्रह पर जीवन का अस्तित्व है या नहीं। किन्तु आशा है कि यह परोक्ष प्रमाण प्रस्तुत करने में समर्थ होगा। इसकी यात्रा का उद्देश्य, वस्तुतः, ऐसी बातों की खोज करना है, जो १९६९ में किसी समय मंगल ग्रह पर यन्त्र-यान को उतारने सम्बन्धी अमेरिकी योजना के लिये महत्वपूर्ण सिद्ध हों। यन्त्र मानवों को मंगल ग्रह पर इसलिये उतारा जायेगा, ताकि वे उस ग्रह पर जीवन के प्रमाणों को ढूँढने के लिये उसकी सतह पर खोज कर सकें।

मैरिनर-४ केप कैनेडी, फ्लोरिडा, से २८ नवम्बर को प्रक्षिप्त हुआ। उसी समय से वह आस्ट्रेलिया, दक्षिण अफ्रीका और अमेरिका के पश्चिमी तट पर कैलिफोर्निया में स्थापित केन्द्रों के पास संकेत सम्प्रेषित कर रहा है। वह प्रति घण्टे ४० मिनट तक पृथ्वी पर स्थित वैज्ञानिकों को अन्तरिक्षीय विकिरण के क्षेत्रों, चुम्बकीय क्षेत्रों और सूक्ष्म उल्का कणों के विषय में, जिनका उसे अपने मार्ग में सामना करना पड़ता है, सूचना देता रहता है। प्रति घण्टे २० मिनट तक उस पर लगे उपकरण मैरिनर की अपनी गतिविधियों और संचालन-स्थितियों—विद्युत-मात्रा, तापमान, दिशा आदि—के विषय में प्रचुर सूचनाएँ पृथ्वी पर सम्प्रेषित करते हैं।

जैसे-जैसे मैरिनर-यान मंगल ग्रह के निकट पहुँचता जायेगा, वैसे-ही-वैसे उस पर लगे उपकरण चालू होते जायेंगे। जिस समय वह इस ग्रह के पृष्ठ भाग से निकटतम दूरी पर पहुँच कर उसके पार्श्व से गुजर रहा होगा, उस अवधि में उसके कैमरे चालू हो जायेंगे। आशा है कि उसके द्वारा खींचे गये चित्रों में उसकी सतह के विवरण, पृथ्वी पर स्थित दूरवीक्षण यन्त्र की सहायता से प्राप्त किसी भी चित्र की अपेक्षा १०० गुने अधिक स्पष्ट होंगे। योजना के अनुसार, जो २२ चित्र खींचे जायेंगे, वे ग्रह के पार्श्व से यान के गुजरने के बाद पूरे १० दिन तक, उस समय नन्हें-नन्हें टुकड़ों के रूप में पृथ्वी तक सम्प्रेषित होंगे, जब मैरिनर-४ सूर्य की अनन्त परिक्रमा-कक्षा में पहुँचने के लिए उन्मुख होगा। इन चित्रों को, जिनकी इतनी उत्सुकता से प्रतीक्षा की जा रही है, सम्प्रेषित करने के लिए इतना अधिक समय देना इसलिए आवश्यक है, क्योंकि किसी संकेत को अन्तरिक्ष में २४ करोड़ किलोमीटर दूर वापिस भेजने के प्रयत्न में उसके संचार उपकरणों को अतीव तनाव का सामना करना पड़ेगा। विद्युदाणविक शब्दावली में, प्रत्येक चित्र एक चुम्बकीय टेप पर अंकित २,१०,००० 'अंशों' (बिट्स) द्वारा निर्मित होगा। मैरिनर के संचार-उपकरण प्रति सेकेण्ड ८.५ अंशों को ही पृथ्वी पर सम्प्रेषित कर सकेंगे।

मैरिनर-४ को सबसे पहले एक एटलस-एगेना राकेट के सिरे पर रख कर अन्तरिक्ष में प्रक्षिप्त किया गया। उस एक 'लक्ष्य-साधक कक्षा' में सफलतापूर्वक स्थापित कर दिया गया। उसके बाद, उसके उपरी खण्ड के एगेना राकेट को प्रक्षेपण मंच के रूप में प्रयुक्त करके उसे इस प्रकार दागा गया ताकि वह मंगल ग्रह की दिशा में ले जाने वाले उड्डयन-पथ पर उड़ने लगे। प्रक्षेपण के १ घण्टे बाद, मैरिनर के सौर-पंखे खुल गये। वे इस लम्बी यात्रा में अन्तरिक्ष-यान को चलाने के लिए आवश्यक विद्युत-शक्ति की पूर्ति करने के उद्देश्य से सूर्य की धूप को विद्युत शक्ति में परिवर्तित करने लगे। उसके बाद मैरिनर के उपकरणों को 'कैनोपस' नामक नक्षत्र की दिशा में इस प्रकार मोड़ दिया गया, ताकि वे बराबर उसी दिशा में उन्मुख रहें। मैरिनर-यान तभी से इस नक्षत्र का प्रयोग मंगल ग्रह तक अपनी उड़ान की दिशा ठीक रखने के लिए कर रहा है। प्रारम्भ में मैरिनर जिस पथ पर उड़ रहा था, उस पर चल कर वह मंगल ग्रह से २,४०,००० किलोमीटर की दूरी से गुजरता। किन्तु उड़ान के बीच में ही, पैसाडोना,

कैलीफोर्निया, की प्रयोगशाला से भेजे गये एक संकेत द्वारा उसमें ऐसा जटिल संशोधन किया गया, जिससे वह मुड़कर सही उड्डयन पथ पर आ गया। इस संशोधित पथ पर उड़कर अब वह मंगल ग्रह की सतह से इतनी दूरी के बीच से होकर गुजरेगा, जहाँ से उसके कैमरे आसानी से मंगल ग्रह के चित्र खींच सकेंगे।

मैरिनर पर उड़ान के दौरान संशोधन करने के लिए लगी मोटर उसे ऐसे पथ पर ले जाने में समर्थ है, जिस पर उड़ कर वह सीधे मंगल ग्रह से टकरा सकता है। किन्तु वैज्ञानिकों ने ऐसी सावधानी बरती, जिससे ऐसा होने न पाये। वे केवल यह चाहते हैं कि मैरिनर मंगल ग्रह के इतने ही निकट से हो कर गुजरे, जहाँ से साफ-साफ चित्र खींचना सम्भव हो सके। किन्तु फिर भी वह उससे इतना दूर रहे, ताकि वह ग्रह पृथ्वी के जीवाणुओं से दूषित न होने पाये। अमेरिका और सोवियत संघ इस बात के लिए वचनबद्ध हैं कि वे तब मंगल ग्रह पर कोई अन्तरिक्ष-यान यन्त्र मानव नहीं उतारेंगे, जब तक वह यान या यंत्र-मानव पूर्णतया जीवन-रहित न कर लिया गया हो। अमेरिका को आशा है कि १९६९ तक वह इस प्रकार के प्रयोग के लिये पूर्णतया तैयार हो जायेगा।

२. फाइबर-कांच से क्रान्तिकारी चिकित्सा उपकरण

सनफ्रांसिस्को (कैलिफोर्निया) से कुछ मील दूर दक्षिण में बेलमोंट नाम की एक औद्योगिक बस्ती है। यहाँ नीली पगड़ी पहने एक लम्बा सिख युवक बहुधा दिखाई पड़ता है। मनहर मुस्कान वाले इस सिख युवक की नजरें बहुत ही पैनी हैं। इस आकर्षक व्यक्तित्व वाले सिख युवक का नाम है, **नरिन्दर एस० कपानी**। इनकी गणना आज विश्व के प्रसिद्ध दृष्टि-विज्ञान विशेषज्ञों और फाइबर-औपटिक्स (फाइबर-कांच के चिकित्सा उपकरण तैयार करने का विज्ञान) के जनक के रूप में की जाती है।

नरिन्दर एस० कपानी आगरा विश्वविद्यालय (भारत) के स्नातक हैं। स्नातक बनने के उपरान्त उन्होंने इम्पीरियल कालेज, लन्दन में अध्ययन किया और १९५४ में लन्दन विश्वविद्यालय से डाक्टर की डिग्री प्राप्त की।

आजकल, वह उक्त बस्ती में एक अपेक्षाकृत छोटी सी कम्पनी में, जिसका नाम **'औपटिक्स टैक्नोलौजी, इन्कार्पोरेटेड'** है, अनुसन्धान-शाखा के निदेशक हैं। यह कम्पनी सात प्रकार के लैसरों का निर्माण और बिक्री करती है। स्टैनफोर्ड विश्वविद्यालय के एक भौतिक-शास्त्री प्रोफेसर आर्थर एल० श्कालो, जो लैसर के सह-आविष्कारक हैं, इस कम्पनी के निदेशक हैं।

जबकि, उक्त कम्पनी लैसर, फाइवर-औपटिक्स 'लाइट-पाइप्स' तथा अन्य ग्लास-फाइबर निर्मित अन्य चिकित्सा उपकरणों और भाप-उपकरणों का अधिकाधिक संख्या में उत्पादन कर निरन्तर उन्नति करती जा रही है, डा० कपानी का ध्यान मुख्यतः अनुसन्धानशाला में ही केन्द्रित रहता है, जहाँ चिकित्सा-विशेषज्ञों और डाक्टरों के उपयोगार्थ नए-नए उपकरणों और विधियों का विकास करने के लिए निरन्तर प्रयास किया जाता है। दृष्टि-विज्ञान से सम्बन्धित शायद ही कोई ऐसा पहलू हो—इसमें 'लाइट-पाइप,' एण्डोस्कोप से लेकर नेत्र कनीनिका सम्बन्धी दोष तक शामिल हैं—के बारे में यहाँ अनुसन्धान न किया जाता हो।

हाल में ही डा० कपानी ने यह विचार प्रकट किया है कि हमें रसायन-विज्ञान, भौतिक-विज्ञान तथा अन्य विज्ञानों के क्षेत्र में ऐसी विपुल टेक्निकल जानकारी सुलभ है, जिसका चिकित्सा-कार्यों के लिए उपयोग किया जा सकता है परन्तु खेद है कि अभी तक इनका उपयोग करने के बारे में विचार तक नहीं किया जा रहा है। आज चिकित्सा के क्षेत्र में जिन उपकरणों और विधियों का उपयोग हो रहा है, वह नवीन सम्भावनाओं को दृष्टि में रखते हुए बहुत पुराने पड़ गए हैं।

उन्होंने कहा, "हमने यहाँ पर भौतिक-शास्त्रियों, विद्युदणु-शास्त्रियों, इंजिनियरों, दृष्टि-विज्ञान विशेषज्ञों तथा विज्ञान के अन्य क्षेत्रों के विशेषज्ञों को एकत्र किया

है ताकि दृष्टि-विज्ञान के क्षेत्र में सुलभ समस्त टैक्निकल जानकारी और कौशल का पूरा-पूरा उपयोग चिकित्सा के लिए कर सकें। हम न केवल प्रेक्टिस करने वाले डाक्टरों को नवीनतम चिकित्सा-उपकरण और विधियाँ प्रदान करने का विचार रखते हैं बल्कि इस बात के लिए भी भरसक प्रयत्नशील हैं कि उस लम्बे समय में काफी कमी की जाए जो अनुसन्धानशालाओं में किसी नए चिकित्सा-उपकरण अथवा चिकित्सा-विधि का विकास होने के उपरान्त अस्पतालों और चिकित्सालयों में उनका व्यावहारिक उपयोग प्रारम्भ होने में लगता है।"

डा० कपानी मुख्यतः तीन क्षेत्रों में अनुसन्धान कर रहे हैं : फाइबर-औपटिक्स, लैसर और फोटो-इलेक्ट्रौनिक्स, अथवा आधी स्पष्ट शब्दावली में "रेडियोफोटोग्राफी"।

इस समय, सबसे अधिक रुचि फाइवर-औपटिक्स में है। उनका विश्वास है कि इसके द्वारा इण्डोस्कोपिक-विश्लेषण (एक ऐसा उपकरण जिसकी सहायता से मानव शरीर के कई अंगों के भीतरी भाग की डाक्टरी जाँच की जा सकती है) के क्षेत्र में क्रान्ति की जा सकती है। 'नेशनल हार्ट इंस्टिट्यूट' ने इस अनुसन्धान-कार्य के लिए 'पालो आल्टो मेडिकल रिसर्च फाउण्डेशन' को २२६,५०० डालर का एक अनुदान प्रदान किया है। डा० कपानी इस अनुसन्धान-कार्य का संचालन करने वाले मुख्य अनुसन्धानकर्ता होंगे। इस अनुसन्धान-कार्य में उनका साथ लगभग आधा दर्जन भौतिक शास्त्री भी देंगे। ये भौतिक शास्त्री अपना कुछ समय उन उपकरणों का व्यावहारिक उपयोग करने में भी व्यतीत करेंगे, जो डा० कपानी उन्हें सुलभ करेंगे। इसके अतिरिक्त वे इन उपकरणों को विभिन्न प्रकार के चिकित्सा-कार्यों में प्रयुक्त करने सम्बन्धी सम्भावनाओं पर भी अनुसन्धान करेंगे।

डा० कपानी का कथन है कि एक 'लाइट-पाइप' का निर्माण सैकड़ों बहुत सूक्ष्म और अत्यन्त लोचशील ग्लास-फाइबरों (काँच के अत्यन्त महीन रेशों) से होता है, जिनमें से हर एक फाइबर पर भिन्न प्रकार के काँच का परत का लेप होता है।

सूक्ष्म ग्लास-फाइबरों का यह समूह इस वस्तु का भी बिल्कुल स्पष्ट चित्र प्रस्तुत कर सकता है, जिस तक पहुँचने का रास्ता टेढ़ा-मेढ़ा और काफी लम्बा होता है। वास्तविकता यह है कि ग्लास-फाइबर द्वारा निर्मित इस पाइप में प्रकाश किरणें वक्र नहीं होती हैं, क्योंकि प्रकाश किरणें हमेशा सीधी-रेखाओं के रूप में चलती हैं। इस पाइप के अन्दर जाने वाली प्रकाश किरण प्रत्येक सूक्ष्म फाइबर के भीतर सतह को भेदती हुई बहुत ही टेढ़े-मेढ़े ढंग पर आगे बढ़ती है। ट्यूब पर लेप होने के कारण यह प्रकाश इधर-उधर नहीं फैल सकता। प्रकाश का इतना कम भाग व्यर्थ जाता है कि ७ फुट लम्बे ट्यूब के दूसरे सिरे पर मूल प्रकाश का ५० प्रतिशत भाग तक ग्रहण कर लिया जाता है।

ग्लास-फाइबरों का समूह किसी भी अवस्था में प्रकाश का प्रेषण करने से समर्थ रहता है, परन्तु किसी भी वस्तु का चित्र ठीक और मूल आकार में प्रस्तुत करने के लिए यह परमावश्यक होता है कि ट्यूब के दोनों ही सिरों पर ग्लास-फाइबरों का स्थिति एक जैसी हो।

जैसा कि डा० कपानी ने बताया है कि इन 'लाइट-पाइपों'—जैसे इण्डस्कोप या फाइबरस्कोप—की उपयोगिता बिलकुल स्पष्ट और बहुत अधिक है। उन्हें इतना छोटा आकार प्रदान किया जा सकता है कि शरीर के किसी भी अंग के अन्दर आसानी से प्रविष्ट हो सकें। वे इतने लचीले भी होते हैं कि कोई मोड़ आने पर अपने आप मुड़ जाएँ। इनमें प्रकाश केन्द्रीभूत छोर में पहुँचाया जाता है। यह प्रकाश-स्रोत अन्य प्रकार के प्रकाश-स्रोतों से कहीं अधिक उत्तम है।

डा० कपानी ने कहा कि हमारा लक्ष्य ऐसा 'फाइबरोस्कोप' यंत्र तैयार करना है, जिसके द्वारा शरीर के अंगों—इनमें हृदय, श्वास-प्रणाली, आमाशय, पक्वाशय, आँतों, मूत्राशय, नेत्र, कान, नाक और गला इत्यादि सभी अंग शामिल होंगे—की परीक्षा और चिकित्सा की जा सकेगी।

जहाँ तक चिकित्सा-कार्यों में लैसर के उपयोग का

सम्बन्ध है, इस क्षेत्र में प्राप्त हुई सबसे बड़ी सफलता 'फोटोकोग्युलेटर' यन्त्र का निर्माण है। इसका विकास डा० कपानी के सहयोगियों, डा० एच० क्रिश्चयन ज्वङ्ग और मिल्टन फलोक्स (पालो ग्राल्टो अनुसन्धानशाला में काम करने वाले विशेषज्ञों) तथा प्रोफेसर एकालो ने मिल कर किया है। इसका उपयोग उन कनीनिकाओं को तुरन्त अपने स्थान पर जोड़ने के लिए किया जाता है, जो अपने स्थान से किसी कारणवश हट जाती है, अथवा हिल जाता है। यह नया यंत्र उस 'फोटो-फोग्यूलेटर' यन्त्र से कहाँ श्रेष्ठ है, जिसका उपयोग अब तक होता रहा है।

इस 'फोटोकोग्यूलेटर' यन्त्र का उपयोग करते समय रोगी को न तो बेहोशी देने का और न अस्पताल में दाखिल करने की आवश्यकता रहती है क्योंकि यह एक मिलीसेकेण्ड में अपना काम पूरा कर देता है और इससे कनीनिका क्षेत्र को भी कम से कम क्षति पहुँचती है।

अनुसन्धान का तीसरा प्रमुख क्षेत्र एक्स-रे विज्ञान का है। सर्वोत्तम एक्स-रे मशीनों की फ्लोरेसेण्ट-स्क्रीनों की भी क्षमता बहुत अच्छी नहीं होती। वह मूल एक्स-रे शक्ति का केवल १० से लेकर २० प्रतिशत अंश ही पकड़ पाती हैं। इसका अर्थ यह होता कि अधिक उत्तम और स्पष्ट चित्र प्राप्त करने के लिए काफी शक्तिशाली एक्स-रे किरणों का उपयोग किया जाए।

'औप्टिक टैक्नौलौजी इन्कार्पोरेटेड' में जो एक्स-रे स्क्रीनें तैयार की जा रही हैं, वह लखों ग्लास-फाइबरों द्वारा निर्मित हैं। ये ग्लास,फाइवर एक दूसरे के समानान्तर फिट किए गए हैं और प्रत्येक ग्लास-फाइबर की लम्बाई स्क्रीन की मोटाई के बराबर रखी गई है। ग्लास-फाइबरों द्वारा इस ढंग पर निर्मित एक्स-रे स्क्रीन उस समस्त एक्स-रे प्रकाश को शोषित करने में समर्थ है, जो एक्स-रे मशीन से निकलता है। इस प्रकार का स्क्रीन से १० गुना अधिक श्रेष्ठ चित्र प्राप्त हो सकता है।

डायोड की शक्ल की दो स्क्रीनें किसी भी आकार को १ हजार गुना अधिक स्पष्ट कर सकती हैं।

डा० कपानी ने कहा—मेरा इस बात में दृढ़ विश्वास है कि विज्ञान के सभी क्षेत्रों से सम्बन्धित विशेषज्ञों को बराबरी के स्तर पर एक साथ मिलकर काम करना चाहिए। चिकित्सा-विज्ञान के क्षेत्र में काम करने वाले व्यक्ति अन्य वैज्ञानिकों और इंजिनियरों को बहुधा बड़ा शंका की दृष्टि से देखते हैं। इसी प्रकार, भौतिकशास्त्र तथा अन्य वैज्ञानिक भी डाक्टरों का मजाक उड़ाने से नहीं चूकते। यहाँ पर हमने इन सभी को पारस्परिक सम्मान के वातावरण में एक साथ मिलकर काम करने के लिए एकत्र कर लिया है।

३. मौसम सम्बन्धी भविष्यवाणी में उच्च-चाप युक्त गुब्बारों का प्रयोग

अत्यधिक ऊँचाई पर पृथ्वी की परिक्रमा करने वाले हजारों गुब्बारे विश्व की मौसम सम्बन्धी स्थिति के विषय में सम्भवत: ऐसी भविष्यवाणी करने में सहायक हो सकते हैं, जैसी अंतरिक्षीय कक्षा में पृथ्वी की परिक्रमा कर रहे विख्यात भू-उपग्रहों द्वारा असम्भव है।

यह धारणा अमेरिकी मौसम वैज्ञानिकों की एक टोली की है, जो मौसम सम्बन्धी भविष्यवाणी में सुधार करने के लिए एक अंतर्राष्ट्रीय गुब्बारा संजाल स्थापित करने की व्यवहार्यता की जाँच करने का आयोजन कर रहे हैं। गुब्बारे भू-उपग्रहों को प्रतिस्थापित नहीं करेंगे। इसके बजाय, वे आसमान में सन्तरी की तरह काम करेंगे और तापमान, आर्द्रता और वायु की दिशा में में होने वाले परिवर्त्तनों सम्बन्धी आँकड़े भू-उपग्रहों के पास सम्प्रेषित करेंगे।

निम्बस जैसे आधुनिकतम भू-उपग्रह भी केवल बादलों के ढाँचों और उनके नीचे छिपे तूफान केन्द्रों के चित्र खींच सकते हैं। इन चित्रों की सहायता से मौसम वैज्ञानिक आने वाले मौसम के स्वरूप का निर्धारण कर सकते हैं किन्तु भू-उपग्रह पृथ्वी के अधिक निकट स्थित वायुमण्डल का निर्माण करने वाले अन्य महत्वपूर्ण तत्वों की जाँच-पड़ताल या माप नहीं कर सकते।

इस कमी को पूरा करने के लिए, अनुसन्धान-कर्त्ताओं ने यह प्रस्ताव किया है कि गुब्बारों पर वहनीय दो हजार वेधशालाओं का संजाल स्थापित किया

गया। १९६५ के ग्रीष्मकाल के अंतिम चरण के लिए आयोजित एक वार्षिक प्रयोग के अन्तर्गत इसमें सहयोग देने वाले वैज्ञानिक इस धारणा का परीक्षण करने के लिए ५० परीक्षणात्मक गुब्बारे प्रक्षिप्त करेंगे।

अनुसन्धानकर्त्ता यह जानना चाहते हैं कि आकाश में ऊँचाई पर अपने आप तैरने वाले गुब्बारे निश्चित अक्षांशों और देशान्तरों पर बने रहेंगे या नहीं। कुछ वैज्ञानिकों ने यह विचार व्यक्त किया है कि गुब्बारे सम्भवत: पृथ्वी की विषुवत रेखा के ऊपर एक की जगह एकत्र हो जायेंगे।

मौसम वैज्ञानिक गुब्बारों का प्रयोग पहले से ही करते आ रहे हैं, लेकिन वे केवल बसे हुए क्षेत्रों से ही उड़ाये जाते हैं और अधिकतम ऊँचाई पर पहुँचने पर फूट जाते हैं। इस कारण उनके द्वारा प्राप्त सूचना अपूर्ण होती है। वोल्टर (कोलोराडो) स्थित 'नैशनल सेण्टर फौर एटमौस्फियरिक रिसर्च' की वैज्ञानिक गुब्बारा शाखा के अध्यक्ष, विन्सेण्ट ई० लैली, की दृष्टि में इस दोष के निराकरण का उपाय यह है कि एक नये किस्म के 'अति चापयुक्त' गुब्बारे प्रयुक्त किये जाये।

परम्परागत गुब्बारे के विपरीत, ये बहुत ही ऊँचाई तक बिना फटे पहुँच सकते हैं। हाल में, अमेरिकी वायु सेना द्वारा परीक्षण के लिए उड़ाया गया एक गुब्बारा अत्यन्त ऊँचाई पर ३० दिन तक कायम रहा। वह बरमूडा से (जहाँ से उसे उड़ाया गया था लेकर होनोलूलू के उत्तर पश्चिम १३०० मील दूर एक स्थान तक ६६,००० फुट की ऊँचाई पर उड़ता रहा।

अति-चापयुक्त (सुपर प्रेशर) गुब्बारा एक अच्छी तरह मुहरबन्द गोला होता है। यह उस ऊँचाई के अनुसार, जिस पर उसे उड़ाना होता है, अंशत: अधिक फूला होता है। यह एक मजबूत और न फैल सकने वाले आवरण से ढका होता है जिसे 'माइलार' कहते हैं। (यह आवरण वही है, जिससे ईको नामक गुब्बारा भू-उपग्रह ढका है)। इससे गैस की मात्रा को स्थिर बनाये रखना सम्भव होता है।

वैज्ञानिकों ने हिसाब लगाया है कि गुब्बारे में १५ प्रतिशत अति-चाप, आदर्श मात्रा है। इतने पर गुब्बारा न तो फटेगा और न ही रात और दिन के तापमानों में होने वाले उतार-चढ़ाव के दौरान उनके चाप की मात्रा कम होगी। यदि तापमान का परिवर्तन पूर्वानुमानित सीमा के भीतर रहे और गुब्बारे कोई छिद्र न हो, तो उसका पिण्ड और घनत्व कायम रहेगा और वह एक ही ऊँचाई पर बना रहेगा। यदि परम्परागत गुब्बारे को सीधा रखने के लिए उसके पेंदे में उपयुक्त की व्यवस्था न हो तो तापमान के परिवर्तन के अनुसार वह फूलता-पचकता रहेगा।

सैद्धान्तिक रूप में, अति-चापयुक्त गुब्बारा इस प्रकार के जटिल उपकरणों के बगैर अनिश्चित काल तक उड़ता रह सकता है। अत: उसके वर्तमान नमूनों को उचित तौर पर तीन महीने उड़ाना सम्भव है। वैज्ञानिकों ने १ से लेकर ५०० पौण्ड वजनी यंत्र पुंज ढो सकने वाले गुब्बारों के व्यास का हिसाब लगाया है। वायुसेना ने बरमूडा से प्रशान्त महासागर के ऊपर जो गुब्बारा उड़ाया, उस पर ५० पौण्ड वजन रखा गया था।

वायुमण्डलीय अनुसन्धान केन्द्र पर, जहाँ श्री लैली अति ऊँचाई सम्बन्धी प्रयोगों की योजना तैयार कर रहे हैं। मौसम सम्बन्धी गुब्बारों का उड़ान तत्सम्बन्धी अनेक प्रयासों में से एक ही हैं, नेशनल साइंस फाउण्डेशन १९६० में हुई। यह केवल वायुमण्डल सम्बन्धी अनुसन्धान के लिए स्थापित सम्भवत: एक मात्र संस्थान है। यह ऐसे क्षेत्रों में विशिष्टता प्राप्त कर रहा है, जिन पर कहीं और अनुसन्धान नहीं हो रहा है। इसके अध्यक्ष डा० वाल्टर और राबर्टस हैं।

यहाँ पर रहने वाले और यहाँ आने वाले वैज्ञानिक वर्षा की बूँदों के निर्माण से लेकर हवाई तूफान तक विभिन्न घटनाओं का अध्ययन करते हैं। भौतिक वैज्ञानिक, खगोल वैज्ञानिक, गणितज्ञ, रसायनशास्त्री तथा अन्य विशेषज्ञ इस केन्द्र से सम्बद्ध हैं।

गुब्बारा-सन्तरी प्रणाली की एक योजना, जिसका नाम घोस्ट (ग्लोबल हारिजौण्टल साउण्डिग टेकनीक) है,

के अंतर्गत ८ भूउपग्रह ९० मिनट की परिक्रमा-कक्षा में पृथ्वी के चारों ओर चक्कर लगायेंगे। भू-उपग्रहों को इस क्रम में स्थापित किया जायगा, ताकि वे प्रत्येक तीन घण्टे पर पृथ्वी के प्रत्येक भौगोलिक खण्ड के ऊपर से उड़ सकें। दूसरी ओर, गुब्बारे मौसम सम्बन्धी अपने आँकड़े भू—उपग्रहों के पास सम्प्रेषित करेंगे, जो इन आँकड़ों को पृथ्वी पर स्थापित केन्द्रों के पास भेजेंगे। इन केन्द्रों पर लगे गणक-यंत्र उनका तत्काल विश्लेषण करेंगे।

प्रारम्भिक प्रयोग दक्षिणी गोलार्द्ध में करने की योजना जानबूझ कर बनाई गई है, ताकि ऐसे राष्ट्र, जो इसमें सहयोग नहीं कर रहे हैं, यह आरोप न लगायें कि भूउपग्रह उनके ऊपर से उड़े हैं। निस्सन्देह, भू-उपग्रह संजाल का निर्माण करने के लिए अंत में चल कर अन्तर्राष्ट्रीय समझौतों की आवश्यकता पड़ेगी। यह निश्चय ही विश्व-शान्ति की दिशा में एक अन्य कदम सिद्ध होगा।

अधिक ऊँचाई पर उड़ने वाले जेट विमानों के लिए खतरों की सम्भावना के विषय में क्या होगा? श्री लैली का उत्तर यह है कि यह कोई यथार्थ समस्या नहीं। २० हजार फुट या उससे अधिक ऊँचाई पर, जहाँ गुब्बारे उड़ेंगे, अत्यधिक शीत के कारण वे भुरभुरे या सहज ही टूट जाने योग्य होंगे। अतः यदि कोई विमान टकरायेगा भी तो वह अपने को कोई क्षति पहुँचाये बगैर ही उन्हें चकनाचूर कर देगा।

प्रत्येक अति-चापयुक्त गुब्बारे के निर्माण में लगभग ४,००० डालर व्यय पड़ता है, जिसमें विद्युदाणविक गियर का मूल्य भी सम्मिलित होता है। लेकिन यदि भविष्यवाणी सम्बन्धी प्रणाली स्थापित हो जाती है, तो यह पूरी लागत का केवल अंश यन्त्र सिद्ध होगा। यद्यपि भूमि पर स्थापित केन्द्रों के गणक यंत्र मौसम सम्बन्धी आँकड़ों का विश्लेषण पहले ही से करते आ रहे हैं, फिर भी इस यंत्र को और विस्तृत करना पड़ेगा, ताकि विश्व भर के मौसम की स्थिति सम्बन्धी सूचनाओं की तारतम्यपूर्ण तालिका तैयार हो सके।

फिर भी इसके लिए सबसे पहले वैज्ञानिकों को यही पता लगाना है कि गुब्बारे अत्यधिक ऊँचाई पर यह कार्य कर सकेंगे या नहीं।

●●

विज्ञान वार्ता

१. पृथ्वी एक चमकते ग्रह के रूप में

नक्षत्रों तथा अन्य ब्रह्माण्डीय पिण्डों से देखने पर, पृथ्वी एक ऐसे ग्रह के रूप में चमकती दिखलायी पड़ती है, जिसकी चमक प्रतिदिन भिन्न भिन्न होती है। यह जानकारी गहन-अंतरिक्ष की खोज के लिए छोड़े गये एक अमेरिकी अंतरिक्ष-यान से प्राप्त हुई है।

अमेरिकी अंतरिक्ष-यान मैरीनर—२ ने, जिसने १९६२ में शुक्र ग्रह के पार्श्व से गुजर कर अंतरिक्ष युग की सबसे अद्भुत सफलताओं में से एक प्राप्त की थी, उस समय अपनी एक विद्युदाणविक दृष्टि पृथ्वी की ओर घुमा रखी थी। उसके लिए अपना उचित झुकाव और सही मार्ग प्राप्त करने की दृष्टि से ऐसा करना आवश्यक था। उसकी विद्युदाणविक दृष्टि ने रेडियो-संकेत से पृथ्वी की चमक के विषय में भी जानकारी सम्प्रेषित की थी।

इस सूचना का विश्लेषण हाल में पूरा हुआ है, और उसका विवरण कैलिफोर्निया की माउण्ट पालोमर वेधशाला के राबर्ट एल० वाइल्डी ने 'जर्नल औव् जियोफिजिकल रिसर्च' नामक पत्रिका में प्रकाशित अपनी रिपोर्ट में दिया है।

पृथ्वी की दैनिक चमक उस समय अपने चरम शिखर पर होती थी, जब अन्तरिक्ष-यान को दिखलायी पड़ने वाला क्षेत्र अधिकतम होता था। ऐसा उस समय हुआ था, जब दक्षिणी अमेरिका के पूर्वी छोर के उत्तर में स्थित अतलांतक महासागर का एक स्थान इस यान के सामने पड़ा। पृथ्वी की चमक उस समय सबसे धुंधली थी, जब समुद्र की सतह का अधिकतम क्षेत्र यान के सामने पड़ा। ऐसा उस समय हुआ, जब यान के सामने प्रशान्त महासागर का विशाल क्षेत्र पड़ा।

अंतरिक्ष-यान ने एक द्युतिमानता-चक्र की भी सूचना दी, जो एक चरम बिन्दु से दूसरे चरम बिंदु के बीच ५ से ६ दिनों तक कायम रहा। वैज्ञानिक गण इस द्युतिमानता चक्र के कारणों पर प्रकाश नहीं डाल सके हैं। किन्तु उनका विश्वास है कि चमक में होने वाले दैनिक परिवर्तन का कारण यह बात रही है कि यद्यपि पानी भूमि की अपेक्षा श्रेष्ठतर प्रतिबिम्बक सिद्ध होता है, फिर भी वह प्रकाश को उतनी कुशलता के साथ विकीर्ण नहीं कर सकता, जितनी कुशलता से भूमि कर सकती है।

अतः जलप्लावित गोला पालिशदार बाल बेयरिंग की तरह अपने मध्य भाग में द्युतिमान और चमकता प्रतीत होता है, किन्तु उसके किनारों पर अंधेरा होता है।

भूमि का गोला, जिसकी सतह कई कोणों वाली होती है, प्रकाश को बिखेरता है, और इस लिये चन्द्रमा की तरह समान रूप से चमकता दिखलायी पड़ता है। यही नहीं, बादल जो चमकदार प्रतिबिम्बक होते हैं, भूमि के ऊपर अधिक पाये जाते हैं।

२. दूरस्थ आकाश गंगा से रेडियो-ऊर्जा का निस्सरण

अमेरिका में विश्व के सबसे अधिक संवेदनशील रेडियो-एण्टेना (सम्प्रेषक-संग्राहक यंत्र) के उद्घाटन समारोह के अवसर पर एक पर्दे को खोलने के लिए एक ऐसी रेडियो-ऊर्जा का प्रयोग किया गया, जो अपने

मूल स्रोत से लगभग ३० करोड़ वर्ष पूर्व उत्पन्न हुई थी।

यह एण्टेना टिन्सबोरो, मैसाचूसेट्स, के निकट एक पहाड़ी के शिखर पर स्थापित हैं, और इसका नाम 'हेस्टैक राडार फैसिलिटी' है। यह अंतरिक्ष-यात्री की टोह लेने और ब्रह्माण्ड के प्रायः अज्ञात स्रोतों से अपने-आप निस्सृत रेडियो-लहरों की खोज करने के लिए बनाया गया है।

उद्घाटन के अवसर पर, एण्टेना को 'सिगनल ए० गैलेक्सी' की ओर उन्मुख किया गया था, जो सृष्टि में सबसे चमकदार और सबसे शक्तिशाली रेडियो स्रोतों में से एक है जिसे बहुत ही कम दूरवीक्षण-यंत्र देख सकते हैं।

विश्वास किया जाता है कि सिगनल ए० ठीक उसी समय दो आकाश गंगाओं की टक्कर से उत्पन्न हुई थी, जब पृथ्वी अपने विकास की प्रारम्भिक अवस्था में थी। टक्कर से ऐसी रेडियो ऊर्जा छिटक पड़ी, जो उसी समय से पृथ्वी की ओर चल पड़ी और लगभग ३० करोड़ प्रकाश-वर्ष यात्रा करने के बाद पृथ्वी पर पहुँच रही है प्रकाश-वर्ष उस दूरी के बराबर होता है, जिसे प्रकाश प्रति सेकण्ड १,८६,००० मील की गति से चल कर एक वर्ष में तय करता है।

एण्टेना द्वारा ग्रहण की गयी रेडियो-ऊर्जा को स्थिर-ध्वनि के रूप में परिवर्तित कर दिया गया। इस ध्वनि को सार्वजनिक भाषण प्रणाली पर उद्घाटन-समारोह में सम्मिलित जनसमूह के लाभार्थ प्रसारित किया गया। उसके बाद ध्वनि इस प्रकार प्रसारित हुई जिससे मंच पर लगा परदा धीरे धीरे खुल गया, और हेस्टैक फैसिलिटी का उद्घाटन-पट्ट अनावृत्त हो गया।

एण्टेना इतना सम्वेदनशील है कि यह पृथ्वी के ऊपर ५०० मील की ऊँचाई पर परिक्रमा करने वाले सुई के आकार के पिण्ड की भी टोह ले सकता है।

३. गणक-यंत्र हस्तलिपि पढ़ने में समर्थ

एक ऐसा चिर-प्रतीक्षित यंत्र, जो मनुष्य की हस्तलिपि पढ़ सकता है, जिसकी चर्चा वैज्ञानिक कहानियों में बहुत हुई है—अब अमेरिका में वस्तुतः अस्तित्व में आने के निकट पहुँच चुका है। लैफाण्ट, इण्डियाना, के पुरड्यू विश्वविद्यालय में स्थापित एक विशाल गणक-यंत्र कठिन से कठिन हस्तलिपियाँ पढ़ना 'सीख' रहा है। इन हस्तलिपियों में अक्षर-ज्ञान प्राप्त करने वाले बच्चों की लिखावट से लेकर कालेज के प्रोफेसरों की तेजी से लिखी गयी जटिल हस्तलिपियाँ सम्मिलित हैं।

इस योजना के फलस्वरूप वह दिन निकट आता जा रहा है, जब गणक-यंत्र मनुष्य की देखरेख के बगैर ही बैंकों के चेकों और विज्ञप्तियों की शोध करने, आय-कर सम्बन्धी विवरण-पत्रों की जांच करने, और भविष्यवाणी के लिए मौसम विषयक नक्शों को पढ़ने जैसा काम कर सकेंगे।

मशीन द्वारा छपे विभिन्न अक्षरों को पहचानना अपेक्षाकृत आसान है। और अनेक प्रयोगात्मक गणक-यंत्र ऐसा करने में सफल भी हो गये हैं। किन्तु अनेक प्रकार के और असमान रूप में लिखित पत्रों और मौसम सम्बन्धी नक्शों को ठीक-ठीक पाने वाला गणक-यंत्र कहीं अधिक जटिल होगा।

३० स्वयं सेवकों में से प्रत्येक ने जिनकी शिक्षा के स्तर भिन्न-भिन्न थे, वर्णमाला के प्रत्येक अक्षर के २०-२० नमूने प्रस्तुत किये। इन अक्षरों को ऐसे गणितीय संकेतों में परिवर्तित करने के लिए, जिन्हें गणक-यंत्र प्रयुक्त कर सकें, नमूनों के आकार को वृहत्तर बनाया गया, और उन्हें एक फोटो-सेल ग्रिड में रख कर एक निश्चित माप के अंतर्गत उनकी विशेषताओं को निर्धारित किया गया।

सभी मापों के बाद, गणक-यंत्र ने प्रत्येक अक्षर के लिए विशेषताओं की एक औसत संख्या निर्धारित कर दिया। इस प्रकार माप करने पर किसी भी तरह की लिखावट उस अक्षर के औसत माप के लगभग समान होती है।

इस समय यह गणक-यंत्र छपे अक्षरों को ६३·१ प्रतिशत और लिखित अक्षरों को ८८ प्रतिशत सही पढ़ लेता है।

४. रक्त को जमाकर चकत्ते का रूप देने वाला तत्व

अमेरिका के एक रसायन-वैज्ञानिक को एक ऐसा रसायन पृथक करने में प्रथम सफलता मिली है, जो रक्त को जमाकर चकत्ता करने में योग देता है। यह रसायन हृदय रोग और लकवा के कारणों में से एक सिद्ध हो सकता है।

डल्लास, टैक्सास, के वैडले रिसर्च इन्स्टिट्यूट के डा० रावर्ट जे० स्पीयर ने मनुष्य के २०० पिण्ट रक्त-प्लाज्मा से १०० मिलिग्राम रसायन पृथक् किया है। यह रसायन विशुद्धीकरण के बाद श्वेत पाउडर जैसा दिखलायी देता है।

जिस जटिल प्रक्रिया से रक्त चकत्ता बनता है, उसमें १३ रासायनिक चरण सम्मिलित हैं। इन रासायनिक चरणों में से प्रत्येक के लिए एक भिन्न रासायनिक पदार्थ या 'रक्त को चकत्ता बनाने वाले तत्व' की आवश्यकता होती है। इनमें से प्रत्येक चरण अगले चरण को सम्प्रेरित करता है।

डा० स्पीयर ने जिस रसायन को पृथक् किया है, उसका नाम 'हेजमैन फैक्टरे' है। यह नाम उस रोगी के नाम पर रखा गया है, जिसके रक्त में इस तत्व का अभाव पाया गया था। यह उपर्युक्त १३ चरणों में से प्रथम चरण को सम्प्रेरित करता है।

लकवे या हृदय के गतिरुद्ध होने का रोग उस समय होता है, जब कोई रक्त का चकत्ता किसी रक्त शिरा में फँस जाता है और मस्तिष्क या हृदय तक रक्त के प्रवाह को अवरुद्ध कर देता है। इस प्रकार के रोगियों को ऐसी औषधि दी जाती है, जो रक्त के चकत्ते को घुला दे और जिससे फिर रक्त जमकर चकत्ता न बनने पाये।

किन्तु आजकल चकत्ता-निरोधक औषधियों का प्रयोग ७ वे, ८वें या ९वें तत्व को नियंत्रित करने के लिए होता है। हेजमैन तत्व के पृथक्करण से, इन रोगों को जन्म देने प्रक्रिया के प्रथम तत्व के विरुद्ध चकत्ता-निरोधक औषधि तैयार करने में अधिक प्रभावकारी सिद्ध हो सकती है।

आम तौर पर, जब तक रक्त का प्रवाह सामान्य रूप में जारी रहता है, तब तक चकत्ते नहीं बनने पाते। किन्तु जब कोई रक्त शिरा या धमनी कट जाती है, जैसा कि किसी दुर्घटना में हो जाता है, तो हेजमैन तत्व सक्रिय हो उठता है, और उससे रक्त के चकत्ता बनने सम्बन्धी सम्पूर्ण शृंखलाबद्ध प्रतिक्रिया सम्प्रेरित हो उठती हैं। डा० स्पीयर का विश्वास है कि सम्भवतः हृदय के गतिरोध या लकवे के शिकार रोगियों में हेजमैन तत्व अत्यधिक मात्र में उत्पन्न हो जाता है, अथवा उनकी रक्त शिराओं के भीतर अधिक रक्त जमा हो जाने से हेजमैन तत्व का प्रभाव समाप्त हो सकता है। इन दोनों ही मामलों में पृथक किया गया नया तत्व अवांछनीय चकत्तों को रोकने में सहायक सिद्ध हो सकता है।

५. मद्रास में प्लास्टिक का कारखाना

३१॥ लाख डालर (१ करोड़ ४९ लाख रुपये) के एक अमेरिकी ऋण से दक्षिण भारत में पालिवाइनल क्लोराइड का एक कारखाना कायम करने में मदद मिलेगी यह ऋण मद्रास की 'कैमिकल्स एण्ड प्लास्टिक इण्डिया लिमिटेड' को अमेरिकी सरकार के निर्यात-आयात बैंक द्वारा दिया गया है। दक्षिण भारत में यह अपनी किस्म का पहला कारखाना है और इसे एक अमेरिकी फर्म बी० एफ० गुडरिच के सहयोग से कायम किया जा रहा है।

इस ऋण का उपयोग मैत्तूर बाँध (मद्रास राज्य) के कारखाने के लिए मशीनों और इंजिनियरिंग सेवाओं पर तथा बम्बई के कारखाने के लिए मशीनों पर डालर के रूप में होने वाले खर्चों की पूर्ति के लिए किया जायेगा। अमेरिकी सरकार ने इस फर्म को सरकारी कानून-४८० के कोष से भी लगभग ३३ लाख रुपये का एक ऋण दिया है।

६. अणु का खुदाई और उपचार-कार्यों में प्रयोग

अमेरिका में इस समय खुदाई के कामों में आणविक विस्फोटों के व्यावहारिक उपयोगों और कैन्सर के अनुसन्धान के लिए आणविक अस्त्रों के उपयोग के बारे में पड़ताल की जा रही है।

खुदाई के कामों में आणविक विस्फोटों के उपयोग सम्बन्धी परीक्षणों का महत्व इस बात से और बढ़ गया है कि सं० रा० अमेरिका मध्य अमेरिका के चार देशों से अतलान्तक और प्रशान्त महासागरों को मिलाने वाली एक नहर के निर्माण के विषय में बातचीत कर रहा है। अमेरिकी अणुशक्ति-आयोग के अध्यक्ष डा० ग्लैन सीबोर्ग के कथनानुसार, अभी इस बारे में कोई निश्चय नहीं किया गया है कि नई नहर का निर्माण प्रचलित विधियों से किया जाये या आणविक साधनों से। किन्तु पड़ताल से ध्वनित होता है कि आणविक साधनों द्वारा नहर तैयार करने पर अपेक्षाकृत कम खर्च बैठेगा।

ओकरिज (टैनेसी) में आणविक अस्त्र तैयार करने का जो कारखाना है उसके एक भाग को कैन्सर अनुसन्धानशाला में परिवर्तित किया जा रहा है। यह प्रयोगशाला इस बारे में नई जानकारी प्राप्त करने का प्रयत्न करेगी कि मनुष्य के शरीर में कैन्सर कैसे होता है। इस छानबीन से कैन्सर की रोकथाम करने वाला कोई टीका तैयार करने में महत्वपूर्ण मदद मिलेगी।

७. वैज्ञानिक को कृष्णन् पदक

कोलम्बिया विश्वविद्यालय की ले-मौण्ट भू-रचना वेधशाला के प्रमुख वैज्ञानिक डा० माणिक तलवानी पहले व्यक्ति हैं जिन्होंने भारतीय भू-भौतिक संघ द्वारा चालू किया गया पदक—कृष्णन् पदक—प्राप्त किया है। उन्हें यह पदक समुद्री भू-भौतिक क्षेत्र में विशिष्ट कार्य करने पर दिया गया है। कृष्णन् पदक प्रतिवर्ष उस भू-भौतिकशास्त्री को दिया जायेगा जिस की आयु ४० वर्ष से अधिक नहीं होगी।

डा० तलवानी का जन्म १९३३ में पटियाला में हुआ था। वह इस समय समुद्री गुरुत्वाकर्षण, चुम्बकत्व तथा भूकम्पन क्षेत्रों में कार्य कर रहे हैं और कोलम्बिया विश्वविद्यालय के समुद्रमापकों की जो टोली मैक्सिको खाड़ी में अनुसन्धानकारी जहाज 'रौबर्ट डी० कोनरेड' पर रह कर छानबीन कर रही है उसके वह प्रमुख वैज्ञानिक है।

८. टेलिफोन के क्षेत्र में चमत्कार

अमेरिका में इस वर्ष टैलिफोनों को विद्युदणु उपकरणों में बदलने का काम प्रारम्भ हो जायेगा। इसके परिणाम स्वरूप टैलिफोनों द्वारा वस्तुतः कुछ आश्चर्य-जनक कार्य होने लगेंगे।

सामान खरीदने के लिए घर से बाहर गई हुई गृहिणी वहीं से अपने रसोईघर के खाना पकाने के विद्युत् यन्त्रों को चालू कर सकेगी। इसके लिए उसे केवल अपने घर के टैलिफोन नम्बर और सांकेतिक नम्बर को घुमाना होगा।

कार्यालय के कर्मचारी को यदि दूसरे नम्बर के व्यस्त होने का संकेत मिलता है तो उस नम्बर के खाली होने पर स्वतः उसके अपने फोन की घंटी बज जायेगी।

अपने पड़ोसी से मिलने के लिए उसके घर जाने वाला परिवार, अपने घर से रवाना होने से पूर्व, एक सांकेतिक नम्बर तथा अपने मेजबान के टैलिफोन नम्बर को घुमा कर यह व्यवस्था कर सकेगा कि उनके सभी टैलिफोन-सन्देश उसी मेजबान के यहाँ पहुँचे। डायल घुमाकर नया आदेश न दिये जाने तक यही व्यवस्था चालू रहेगी।

दस वर्षों से इस क्रिया का विकास किया जा रहा था। टैलिफोन का प्रयोग करने वाले मौरिस (इलिनौय) के निवासियों द्वारा विद्युदणु-स्विचिंग की सफलतापूर्वक जाँच कर ली गई है। अब न्यूयार्क के दक्षिण-पश्चिम में ६० मील दूर सकेसुन्ना (न्यूजर्सी) में संसार का प्रथम स्थायी इलैक्ट्रोनिक सेण्ट्रल आफिस-नं १० इ-एस-एस (इलैक्ट्रोनिक स्विचिंग सिस्टम) स्थापित होने वाला है। वहाँ के टैलिफोन रखने वाले लगभग २०० व्यक्ति सर्व-प्रथम नई व्यवस्था से लाभ उठायेंगे। इसके बाद न्यूयार्क शहर, वाशिंगटन तथा नारफोक (वर्जनिया) में इलैक्ट्रो-निक सेण्ट्रल आफिस स्थापित किये जायेंगे।

लगभग पाँच वर्षों में, नये उपकरणों के निर्माण में इतनी वृद्धि हो जायेगी कि अमेरिका में प्रतिवर्ष लगभग २० लाख टैलिफोन इस नई व्यवस्था के अन्तर्गत

लाये जा सकें। लगभग ३५ वर्ष बाद २००० ई० तक अमेरिका में सभी टेलिफोनों को इस व्यवस्था में परिगणित किया जा सकेगा।

न्यूयार्क स्थित बैल टेलिफोन लेबोरेटरीज में इलैक्ट्रोनिक स्विचिंग का विकास किया गया है। वहाँ के वैज्ञानिकों का कहना है कि यह व्यवस्था इतनी लचीली है कि भविष्य में इससे ऐसे काम लिये जा सकेंगे जिनकी अभी कल्पना भी नहीं की गई है।

गणनायन्त्रों के समान इस उपकरण में स्मरण रखने की ऐसी विशाल विद्युदणु-क्रियाओं की व्यवस्था है जिनकी सहायता से विभिन्न आदेशों का पालन होता रहता है। इन आदेशों को इच्छानुसार आसानी से बदला जा सकता है।

अमेरिका में सामान्य टेलिफोन उपकरणों के समान इलैक्ट्रोनिक स्विचिंग व्यवस्था से बड़े भरोसे के साथ कार्य सम्पन्न होता है।

इन व्यवस्थाओं को प्रायः पूर्ण रूप से निर्दोष रखे जाने की संभावनाओं का एक कारण यह है कि उनके समस्त महत्वपूर्ण पुर्जे दोहरे हैं। विद्युदणु-मस्तिष्क द्वारा व्यवस्था की निरन्तर जांच की जाती है। यदि किसी कार्य में कुछ खराबी आ जाती है तो दोषयुक्त पुर्जा स्वतः कार्य करना बन्द कर देता है और उसकी जगह दूसरा पुर्जा ऐसी तेजी से कार्य करना प्रारम्भ कर देता है कि उसका कार्य-संचालन पर कुछ प्रभाव नहीं पड़ता।

९. एक और चमत्कारिक घटना

१८ मार्च को रूसी वैज्ञानिकों ने जो अन्तरिक्ष यान छोड़ा उसमें दो यात्री थे। इनमें से लेयोनॉव, जिनकी उम्र ३० वर्ष के भीतर है, यात्रा के दौरान में अपने कक्ष से बाहर निकल कर ५ मीटर दूरी तक गये, कुछ कार्य किये और पुनः अपने कक्ष में वापस चले आये। यहीं नहीं, ऐसा कहा गया है कि इनकी गतिविधियाँ भीतर बैठे यात्री द्वारा नियन्त्रित थीं।

इस नवीन अन्तरिक्ष यात्रा में सबसे महत्वपूर्ण घटना है एक यात्री का कक्ष के बाहर आना और फिर सफलतापूर्वक भीतर चले जाना।

स्पष्ट है कि यह घटना रूसी अन्तरिक्ष विज्ञान की सफलता में नवीन पृष्ठ है। ऐसा प्रतीत होता है कि रूसी वैज्ञानिक चन्द्रमा तक पहुँचने में शीघ्र ही समर्थ हो सकेंगे।

●●

सम्पादक के नाम पत्र

(१)

गोंडा
१-१-६५

आपकी ख्याति सुनकर मैं अपना एक अनुभव आपके सामने प्रस्तुत कर रहा हूँ, आशा है आप इस पर विचार करेंगे और उत्तर देंगे।

तीस वर्ष पहले की बात है, मैंने अपने देहात के मकान में, जबकि मैं मकान में अकेला था, समय ८ बजे सुबह का था, महीना नवम्बर था, एक आग जमीन पर जलती हुई देखी जो जलती-जलती चल रही थी, कभी एक जगह बुझकर फिर दूसरी जगह जगने लगती थी, लपटें ३" से ६" तक जाती थीं, लौ का रंग पीला नीला था, कमरे की फर्श जहाँ यह आग जल रही थी कच्ची थी।

मेरे लिये यह जान लेना स्वाभाविक था कि जिस घर में पहले कभी किसी ने ऐसी आग जलती नहीं देखी, किस कारण से जलती है, इसमें गर्मी है कि नहीं। यदि इसमें गर्मी है तो यह आग कहीं घर की चारपाई आदि अन्य सामान न जला डाले। मैंने अपना पैर जूते के इस आग में डाला, कुछ गर्मी नहीं मालूम हुई। फिर एक तिनका इस आग में डाला, वह भी नहीं जला। इतने में यह आग अपनी जगह से हट कर दूसरी जगह जलने लगी और उस जगह एक चींटी मस्त घूम रही है। मुझे विश्वास हो गया कि इस आग में गर्मी नहीं है और मैं घर के सामान की तरफ से निश्चिन्त हो गया। कुछ देर तक देखता रहा—आग जलती-बुझती या चलती रही। बरामदे से कमरे में पहुँच गई तो यह भी मालूम हुआ कि इसमें रोशनी भी है। १५-२० मिनट बाद मैं अपने काम को चला गया।

तभी से मैं हर M.Sc. से जो मुझे मिला यह प्रश्न पूछा कि यह कैसी आग थी परन्तु किसी ने संतोषजनक उत्तर नहीं दिया। आपकी ख्याति सुनकर प्रश्न आपके सम्मुख रखने का साहस कर रहा हूँ और आशा करता हूँ कि शायद मरने से पहले इस प्रश्न का उत्तर मिल जाय और यदि न भी जान सकूँगा तो कम से कम यह तो संतोष रहेगा कि मेरा अनुभव एक ऐसे हाथ में पहुँच गया है जो इसके लिये योग्य था और इसकी खोज होती रहेगी, बजाय इसके कि मेरे साथ ही यह कब्र में दफन हो जाय।

इस बात की चर्चा मैंने गाँव और घर के लोगों से भी किया था। पास से तो किसी ने देखना नहीं बताया मगर दूर से बहुतों ने अपना देखना बताया और कहा यह भूत है (इस भूत को वह लोग डंगवहिया नाम से पुकारते हैं) मगर मुझे विश्वास नहीं हुआ। इस आग ने मेरा कोई नुकसान नहीं किया, न मुझे डर ही लगा।

आशा है आप उत्तर अवश्य देंगे।

आपका

१-१-६५ रामकिशोर तिवारी

मंत्री, कोआपरेटिव सोसायटी, गोंडा

प्रिय महोदय

आपने एक घूमती हुई चींटी की चर्चा की है। बहुत से ऐसे कीड़े हैं जो अँधेरे में चमकते हैं। सम्भव है आपके प्रश्न का समाधान इसी चींटी (कीड़े) में हो।

सम्पादक

(२)

आदरणीय मिश्र जी,

दिसम्बर का 'विज्ञान' देखा। नयनाभिराम आवरण ने मुग्ध कर लिया। "हिन्दी में वैज्ञानिक बाल साहित्य

का जैसा सम्यक सर्वेक्षण आपने प्रस्तुत किया है, उसके लिये तो जितना भी धन्यवाद दूँ, कम होगा। आशा है कि भविष्य में आप "वैज्ञानिक अनुवाद" "वैज्ञानिक पत्रकारिता," हिन्दी में "विज्ञान वार्तायें" आदि विज्ञान लेखन के विविध पक्षों पर भी प्रकाश डालने का कष्ट करेंगे।

भवदीय

२३-१२-६४ **रमेशदत्त शर्मा**

डी—३ राणाप्रतापबाग, दिल्ली ६

प्रिय महोदय,

सुझावों के लिये धन्यवाद मैं विज्ञान के लिये लेखकों से हिन्दी में प्रकाशित होने वाले वैज्ञानिक साहित्य के विविध पक्षों पर लेख आमन्त्रित करता हूँ।

सम्पादक

(३)

सम्पादक जी,

मुझे आपकी मदद की जरूरत है।

मैं इस बात से बड़े पशोपेश में रहता हूँ कि लोग कहानियाँ व novel क्यों पढ़ते हैं। चाहे वह शेक्सपियर ही क्यों न लिखे हों सब बातें उनमें बनावटी हों, तो तब उनमें समय ही खराब करना हुआ।

कृपया मुझे इस परेशानी से उबारें

प्रार्थी

९-३-६५ **प्रेम अग्रवाल**

प्राध्यापक, पालीटेकनिक, नैनीताल

प्रिय महोदय,

आप अत्यन्त यथार्थवादी प्रतीत होते हैं परन्तु यथार्थ-वाद के लिये भी भाव-भूमि चाहिए। वह अनुभवों के आधार पर लिखित विपुल साहित्य द्वारा, जो कहानी उपन्यास के रूप में हैं, प्राप्त होगा। हाँ, अच्छे लेखक का चुनाव करना होगा।

(४)

मान्यवर,

मैं आपका ध्यान विज्ञान के जन-फर० ६५ संयुक्तांक के पुस्तक-समीक्षा स्तम्भ में 'विज्ञान-प्रगति' के दिसम्बर ६४ अंक की समीक्षा की ओर आकर्षित करना चाहता हूँ।

इसमें लिखा गया है :

"लेखों के अन्तर्गत श्री रमेशदत्त शर्मा का लेख ऐसा लगता है, पढ़ा हुआ है और पहले धर्मयुग में छप चुका है!"

मैं समीक्षक महोदय की जानकारी के लिए बताता हूँ कि डी० एन० ए, आर० एन० ए० प्रोटीन संश्लेषण तथा आनुवंशिक संकेत लिपि (जेनेटिक कोड) पर मेरे कई लेख—एक लेख 'धर्मयुग' में, दो लेख 'विज्ञान-जगत' में, दो लेख 'सचित्र आयुर्वेद' में, एक लेख 'त्रिपथगा' में और एक लेख 'विज्ञान प्रगति' के ही किसी पिछले अंक में—प्रकाशित हो चुके हैं। फिर भी मैं इस विषय पर एक लम्बी लेखमाला प्रकाशित करने की योजना बना रहा हूँ।

जीव-विज्ञान के अध्येता जानते हैं कि इन विषयों पर पिछले कुछ सालों में बड़ी क्रांतिकारी खोजें हुई हैं। मैंने हर लेख में इन खोजों के किसी न किसी नए पक्ष को उजा-गर करने की कोशिश की है। यों कुछ मूलभूत बातें दुह-रानी ही पड़ती हैं क्योंकि सिवा कुछ समीक्षकों के किसी पाठक से यह आशा नहीं की जा सकती कि वह मेरे पूर्व प्रकाशित लेख पढ़ चुका होगा।

किंतु समीक्षक से इतनी तो आशा की जाती है, कि जब वे किसी पर कोई आरोप लगाएँ तो पूरी छानबीन कर लिया करें; हाँ, प्रशंसा करनी हो, तो उसके लिए तो लेखक का नाम भी देख लेना काफी है···काफी नहीं, पर्याप्त है (क्योंकि आपके समीक्षक मेरी उर्दू पसंदगी से भी चोट खाए हुए हैं)।

एक शिकायत आप से, कि इस स्तम्भ का नाम 'पुस्तक-समीक्षा' से बदलकर कुछ और कर दें; क्योंकि इसमें अधिकतर पुस्तकों की नहीं, पत्रिकाओं की समीक्षा रहती है (ऐसा लगता है)।

रमेशदत्त शर्मा दिल्ली

महोदय,

"ऐसा लगता है", सम्भवतः इसीलिये लिखा कि समीक्षक को ठीक से स्मरण नहीं रहा अथवा यों कहिये कि वह लेखकों से और मौलिक एवं विविध लेखों की ही आशा करता है।

कृपया समीक्षक के वाक्य को अन्यथा न मानें।

सम्पादक

(५)

बन्धुवर,

सादर नमस्कार। जनवरी-फरवरी ६५ का 'विज्ञान' पढ़ते-पढ़ते अन्त में "पुस्तक समीक्षा" स्तम्भ देखते हुए पृष्ठ १४ पर "विज्ञान-लोक" की समीक्षा पढ़ी। अचानक सारा जायका खराब हो गया और इस स्तम्भ के समीक्षक की टिप्पणी से बहुत ही दुःख हुआ। इस पृष्ठ के दूसरे कालम में नीचे से आठवीं लाइन से अपने अथवा अपने लेख के विषय में उनके वाक्य को उद्धृत कर और उसका उत्तर देकर गलतफहमी को दूर करना चाहूंगा कि "विज्ञान" के सुधी पाठक भ्रान्ति से बच सकें; और भविष्य में भी सबसे पुरानी होने का गौरव रखने वाली "विज्ञान"-पत्रिका इस प्रकार की गलत सूचनाओं और भ्रामक समीक्षाओं से बदनाम न हो।

समीक्षक के शब्द इस प्रकार हैं—

"इस अंक का अंतिम लेख" यदि पानी न हो तो लगता है पहले भी कहीं छप चुका है। फिर भी सचित्र होने के कारण सूचनाप्रद है।"

इस सन्दर्भ में समीक्षक महोदय को मैं यह बताना चाहूंगा कि उपर्युक्त लेख अन्यत्र कहीं भी कभी प्रकाशित नहीं हुआ है और यदि समीक्षक ने अन्यत्र कहीं प्रकाशित देखा है तो विस्तार में उस पत्रिका का नाम, अंक महीना, सन् आदि बतलाकर अपने कथन की पुष्टि करने का कष्ट करें। उनको यह लिखना कि **"लगता है कि पहले भी कहीं छप चुका है"** उनकी अल्पपाठ्यता, असत्यता, गैर जिम्मेदारी, अवैज्ञानिक ढुलमुलता, अनिश्चितता और विज्ञान-साहित्य के प्रति लापरवाही और खिलवाड़ करने का परिचायक नहीं तो और क्या? इससे विज्ञान-साहित्य का कितना हित होगा इस बारे में अधिक क्या कहा जाय!

इस प्रसंग में यह भी बतला दूँ कि "विज्ञान-लोक" में पहले "यदि नमक न हो तो" शीर्षक वाला लेख छपा था और इसी शृंखला (Series) में और भी कई ऐसे ही लेख लिखने का क्रम चल रहा है।

उत्तर में यह लिखना पड़ा, कृपया अन्यथा न लें। आशा है सानन्द होंगे।

स्नेहाभिलाषी

प्रेमानन्द चन्दोला, नई दिल्ली

प्रिय महोदय,

खेद है कि समीक्षक के एक ही वाक्य से आपको ठेस लगी। वस्तुतः अधिक सावधानी बरते जाने के उद्देश्य से ही ऐसी समालोचनायें छापी जाती हैं। आप क्षुब्ध न हों।

"विज्ञान" में कई वर्ष पूर्व एक ऐसा ही लेख छपा था। वह आपका नहीं था, किसी दूसरे का था। शायद इसी आधार पर भ्रन्ति हुई।

सम्पादक

(६)

ओ३म

१-२-६४

Rej yours no. V. J. 64/316.

प्रिय महोदय,

श्री महावीर सिंह मुड़िया ने अपने लेख के दुबारा दूसरे पत्र में लेख भेजने की सफाई पेश की है। यदि लेखक अपने लेख को दुबारा कहीं भेजता है तो नैतिकता का तकाजा है कि साथ ही कह दें कि यह लेख पहिले भी छप चुका है। स्पष्टीकरण जो दिया वह कुछ जंचता नहीं है। क्या लेख के दुबारा दूसरे स्थान में देने में उनकी intention ठीक थी—क्या सचमुच वैज्ञानिक प्रचार के लिये वह लेख दुबारा दिया गया था—और भी कारण हो सकते हैं।

(१) सम्पादक ने लेख माँगा—समय कम है मौलिक या नया लिखने में समय लगेगा। चलो यह भी चल जायगा—पीछा छुड़ा लिया। और भेज दिया।

(२) ख्याति या Popularity के लिये

(३) एक ही सिद्धान्त के Propoganda के लिये—

ओ३म प्रकाश

बर्मा

सम्पादकीय

"विज्ञान" की ५१वीं वर्षगाँठ

अप्रैल के इस अंक के साथ "विज्ञान" अपने प्रकाशन के ५० वर्ष पूर्ण करके ५१वें वर्ष में प्रवेश कर रहा है।

आधी शती पूर्व हिन्दी के माध्यम से वैज्ञानिक ज्ञान के प्रसार एवं प्रचार का जो बीड़ा "विज्ञान परिषद्" ने उठाया था, वह आज पूर्णतः फलित हुआ दिखाई पड़ता है। भारत के अधिकांश प्रदेशों में माध्यमिक कक्षाओं तक विज्ञान का पठन-पाठन हिन्दी में होने लगा है। इससे भी संतोष की बात यह है कि हिन्दी राष्ट्रभाषा घोषित हो चुकी है और अब हिन्दी के प्रचार-प्रसार का कार्य विज्ञान परिषद् जैसी संस्थाओं तक ही सीमित न रहकर देशव्यापी कार्य बन चुका है।

हमें सबसे बड़ी प्रसन्नता इस बात से है कि 'विज्ञान' की देखा-देखी विद्यार्थियों तथा विज्ञान अनुरागियों की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये हिन्दी में विज्ञान सम्बन्धी और भी पत्रिकायें प्रकाशित होने लगी हैं। इनमें से "विज्ञान जगत" "विज्ञान लोक" तथा "विज्ञान प्रगति" के नाम उल्लेखनीय हैं। इन पत्रिकाओं की अपनी विशेषतायें हैं। ये सचित्र एवं अत्यन्त लोकोपयोगी दृष्टि से प्रकाशित की जाती हैं किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि इनके प्रकाशन व्ययसाध्य हैं। विज्ञान परिषद् इतना सम्पन्न नहीं कि उनकी बराबरी कर सके परन्तु "विज्ञान" की अपनी एक विशिष्टता है और वह है उच्चतर वैज्ञानिक साहित्य के सृजन में योग देना। आजतक 'विज्ञान' ने लेखकों की ऐसी दीर्घ परम्परा को प्रोत्साहन दिया है जो शीर्ष स्थानों पर आसीन हैं।

भविष्य में भी "विज्ञान" ऐसा ही करने में समर्थ रहे, यही अभिलिषित है।

लेखकों से अनुरोध है कि वे "विज्ञान" को अपनी पत्रिका मानते हुये उसे सभी प्रकार का सहयोग पहुँचावें। विज्ञान के नित्यप्रति बढ़ते चरणों को देखते हुये यह आवश्यक प्रतीत होता है कि विज्ञान की सभी शाखाओं के विद्वान अपने-अपने विचारों से "विज्ञान" पत्रिका को लाभान्वित करें।

पाठकों से निवेदन है कि अल्प मूल्य में जो भी सामग्री उन तक पहुँच पाती है उसका पठन करके अपने विचार हम तक भेजते रहें। इसी उद्देश्य से हमने "सम्पादक के नाम पत्र" शीर्षक स्तम्भ चालू किया है। इसमें सभी प्रकार की शंकाओं का समाधान भी किया जाता है।

अप्रैल १९६५ विज्ञान पंजीकृत संख्या ए—१७५९

उत्तर प्रदेश, बम्बई, मध्यप्रदेश, राजस्थान, बिहार, उड़ीसा, पंजाब तथा आंध्रप्रदेश के शिक्षा
विभागों द्वारा स्कूलों, कालिजों और पुस्तकालयों के लिए स्वीकृत

'विज्ञान' में विज्ञापन की दरें

	प्रति अंक	प्रति वर्ष
आवरण के द्वितीय तथा तृतीय पृष्ठ	४० रु०	४०० रु०
आवरण का चतुर्थ पृष्ठ (अन्तिम पृष्ठ)	५० ,,	५०० ,,
भीतरी पूरा पृष्ठ	२० ,,	२०० ,,
आधा पृष्ठ	१२ ,,	१२० ,,
चौथाई पृष्ठ	८ ,,	८० ,,

प्रत्येक रंग के लिये २५) प्रति रंग अतिरिक्त लगेगा।

विज्ञापन के नियम

१—विज्ञापन के प्रकाशित करने अथवा उसके रोकने के लिये एक मास पूर्व सूचना कार्यालय में आनी चाहिए।

२—विज्ञापन का मूल्य पहले ही आ जाना चाहिये। यदि बैंक द्वारा भुगतान करना हो तो साथ में बैंक-कमीशन जोड़ कर भेजा जाय।

साथ भेजे हुए ब्लाकों को परिषद् स्वीकार करेगा।

प्रकाशक—डा० बलदेव बिहारी लाल सक्सेना, प्रधान मन्त्री, विज्ञान परिषद्, इलाहाबाद।
मुद्रक—सरयू प्रसाद पांडे, नागरी प्रेस, दारागंज, इलाहाबाद।

प्रगति अंक

जुलाई १९६५

इस अंक का मूल्य

८० पैसे

विज्ञान परिषद् प्रयाग

प्रति अंक ३० पैसे

वार्षिक ३ रुपये

सम्पादक- डा० शिवगोपाल मिश्र

प्रगति अंक

विषय-सूची

गुरुत्वाकर्षण के सिद्धान्त—१ ... ... ६४
अणुशक्ति का बहुमुखी विकास ६७
भूगर्भ विज्ञान —
हिमालय वलनिक उच्चावन से सम्बन्धित वज्यूला शैलों के कायान्तरित उपाख्यान ... ७०
स्वास्थ्य एवं ओषधि विज्ञान
फिनोथायजीन सजातों का चय-अपचय ... ७३
आँवले का निर्यात ७६
खसरा रोग का विनाश ७७
मानव पोषाहार ७६
जलवायु-विज्ञान
क्या मौसम पर काबू पाया जा सकता है ? ... ८३
वैज्ञानिकों द्वारा वायुमण्डल और जलवायु के सम्बन्ध में अनुसंधान ... ८६
अन्तरिक्ष विज्ञान
क्या पृथ्वी के बाहर प्राणियों का अस्तित्व है ? ... ८८
प्रोजेक्ट जेमिनी : चन्द्र-यात्रा की दिशा में दूसरा ठोस कदम ... ६०
जेमिनी : अमेरिका की ७वीं समानव अन्तरिक्ष उड़ान ... ६२
जैमिनी अंतरिक्ष-यात्रा संबंधी संक्षिप्त सूचनाएँ ... ६३
कृषि-विज्ञान
किसानों द्वारा मिट्टी और जल के संरक्षण में सहयोग ... ६६
अमेरिकी किसानों द्वारा वर्षा के जल का अधिकतम उपयोग ६८
सामूहिक फार्म के किसान के काम का एक दिन ... ६६
प्राद्योगिकी
भावी संसार में विज्ञान और प्रविधि १०२
अमेरिका में टेलिविजन-उद्योग और टेलिविजन संजाल १०५
लाख का उपयोग १०८
तैलंग पुरस्कार प्रतियोगिता—८ ... ... ११२
सम्पादकीय ११५

विज्ञान परिषद्, प्रयाग का मुखपत्र

विज्ञानं ब्रह्मेति व्यजानात्। विज्ञानाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते।
विज्ञानेन जातानि जीवन्ति। विज्ञानं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति। तै० उ० ३।५।

भाग १०१ | ज्येष्ठ-आषाढ़ २०२१ विक्र०, १८८६ शक | संख्या ३-४
जून-जुलाई १९६५

गुरुत्वाकर्षण के सिद्धान्त—१

डाक्टर जयन्त विष्णु नार्लिकर

लगभग ३ सौ वर्ष पहले न्यूटन ने गुरुत्वाकर्षण का सिद्धान्त प्रतिपादित किया। किंवदन्ती है कि एक बार न्यूटन अपने बगीचे में बैठे हुए थे। अचानक उन्होंने देखा कि एक पेड़ से सेव टूट कर गिरा। यह एक साधारण सी घटना थी, किन्तु इसने न्यूटन के दिमाग में हलचल मचा दी। वह बार-बार सोचते कि आखिर सेव जमीन पर क्यों गिरा? आखिरकार, उनकी समझ में यह आया कि सेव जमीन पर इसलिए गिरा कि पृथ्वी ने इसे अपनी ओर खींचा। न्यूटन ने यह सिद्धान्त प्रस्तुत किया कि पृथ्वी केवल सेव को ही नहीं, बल्कि अपने चारों ओर की हर वस्तु को अपनी ओर खींचती या आकर्षित करती है, यहाँ तक कि पृथ्वी, चन्द्रमा, ग्रह और सूर्य को भी अपनी ओर खींचती है। इसी प्रकार न्यूटन ने यह भी प्रतिपादित किया कि हर पदार्थ या द्रव्य दूसरे पदार्थ को अपनी ओर खींचता है। न्यूटन ने पदार्थों के इस गुण या घटना का नाम गुरुत्वाकर्षण रखा।

अनुलोम वर्ग सिद्धान्त

सेव की कहानी सत्य हो या न हो, किन्तु इस बात में रंचमात्र सन्देह नहीं कि गुरुत्वाकर्षण के सिद्धान्त ने भौतिक विज्ञान के विकास में बड़ा काम किया। न्यूटन ने न केवल यह पता लगाया कि हर पदार्थ दूसरे पदार्थ को अपनी ओर खींचता है, बल्कि इसके लिए एक नियम भी निकाला जो 'अनुलोम वर्ग सिद्धान्त' के नाम से विख्यात है, इससे न केवल सेव के जमीन पर गिरने की घटना का स्पष्टीकरण होता है, अपितु यह भी पता चलता है कि चन्द्रमा पृथ्वी के चारों ओर क्यों घूमता है और पृथ्वी तथा अन्य ग्रह सूर्य के चारों ओर क्यों घूमते हैं? न्यूटन से पहले केप्लर ने ग्रहों की गति का विस्तृत अध्ययन किया था और अपने अनुभव के आधार पर कुछ नियम निकाले थे। न्यूटन के अनुलोम वर्ग नियम की पुष्टि की जा सकती है। इससे पता चलता है कि न्यूटन का सिद्धान्त कितना उपयोगी और महत्वपूर्ण है। भौतिकी का मूल उद्देश्य यही है कि प्रकृति की जटिल घटनाओं को सरल नियमों से स्पष्ट किया जा सके। ग्रहों की गति के जिस जटिल प्रश्न को ग्रीक गणितज्ञ बहुत माथापच्ची करने के बाद भी नहीं समझ पाये थे, उन्हें न्यूटन के इस सरल नियम से समझा जा सकता है।

प्रकृति की अधिकांश घटनाओं को पदार्थों की पारस्परिक क्रिया के चार मूल नियमों से स्पष्ट किया जा सकता है। ये चार नियम हैं—गुरुत्वाकर्षण, विद्युत चुम्बकीय बल, तीव्र पारस्परिक क्रिया और मन्द पारस्परिक क्रिया। नाभिकीय (न्यूक्लियर) भौतिकी की शुरुआत होने पर तीव्र मन्द पारस्परिक क्रियाओं या बलों का पता चला। इनका अध्ययन परमाणु को न्यूट्रान और इलेक्ट्रान आदि मूल कणों में विभक्त करके किया जाता है। अभी तक इनके बारे में अधिक पता नहीं है। भौतिकीविदों को अभी तक सबसे अधिक ज्ञान विद्युत चुम्बकीय बल के बारे में है। इस बल के अनेक उदाहरण प्रतिदिन की घटनाओं में देखने को मिलते हैं। उदाहरण के लिए बिजली के यन्त्र और बरसात में बिजली की कड़क को लीजिये। इन सब में विद्युत-चुम्बकीय बल काम करता है। इसे मैक्सवेल के समीकरण से स्पष्ट किया जा सकता है।

सबसे कमजोर बल

गुरुत्वाकर्षण, विद्युत चुम्बकीय बल, तीव्र परस्पर-क्रिया और मन्द परस्पर क्रिया आदि चारों बलों से सबसे कमजोर बल गुरुत्वाकर्षण है। उदाहरण के लिए हाइड्रोजन परमाणु के दो मूल कणों इलेक्ट्रोन और प्रोटोन को लीजिये। इन दो कणों के बीच जो विद्युत बल है, वह इनके बीच के गुरुत्वाकर्षण से अरबों खरबों गुना अधिक है। अब प्रश्न उठता है कि यदि गुरुत्वाकर्षण इतना कमजोर बल है तो सबसे पहले इसका पता क्यों लगा। बात दरअसल यह है कि गुरुत्वाकर्षण में एक विशिष्ट गुण है. जो अन्य तीनों बलों में नहीं है।

उक्त गुण यह है कि गुरुत्वाकर्षण को खतम नहीं किया जा सकता। अगर गुरुत्वाकर्षण कहीं मौजूद है तो यह हमेशा वहाँ रहेगा और आसपास के पदार्थों पर अपना प्रभाव डालेगा। किन्तु विद्युत-चुम्बकीय बलों के साथ ऐसा नहीं है। ये बल किसी पदार्थ पर तभी असर डालते हैं जब उसमें विद्युत आवेश (चार्ज) हो। यदि पदार्थ के इस विद्युत आवेश को बराबर के विपरीत आवेश से उदासीन कर दिया जाय तो उक्त पदार्थ पर विद्युत-चुम्बकीय बल का कोई प्रभाव नहीं होगा। किन्तु गुरुत्वाकर्षण से किसी पदार्थ को इस प्रकार प्रभावहीन नहीं किया जा सकता। यद्यपि गुरुत्वाकर्षण एक कमजोर बल है, किन्तु अगर पदार्थ बड़ा या अधिक है तो गुरुत्वाकर्षण भी बढ़ जाता है। यदि पदार्थ पृथ्वी के बराबर बड़ा है, तो गुरुत्वाकर्षण का प्रभाव भी बहुत बढ़ जाता है। चूँकि हमारे इर्द-गिर्द पृथ्वी, सूर्य और अन्य ग्रह हैं, इसलिए हमें गुरुत्वाकर्षण के प्रभाव को अनुभव करने में कोई कठिनाई नहीं होती।

सूर्य में गुरुत्वाकर्षण

सूर्य जैसे विशाल पिंडों पर विचार करते समय गुरुत्वाकर्षण की समस्या कठिन हो जाती है। प्रश्न है कि इतने अधिक गुरुत्वाकर्षण के बावजूद सूर्य संतुलन में क्यों है? अगर सूर्य पर किसी अन्य बल की क्रिया न होती तो सूर्य का हर कण दूसरे कण को अपनी ओर खींचता और सूर्य में संकुचन होने लगता। अगर यह संकुचन बिना किसी रुकावट या प्रतिरोध के होता रहता तो सूर्य का विशाल आकार चन्द घण्टों में बिन्दु के बराबर हो जाता। किन्तु तथ्य यह है कि हम सूर्य को रोजाना उसी ही रूप में देखते हैं। इससे पता चलता है कि सूर्य के अन्दर अन्य बल भी हैं जो गुरुत्वाकर्षण का प्रतिरोध करते हैं। आखिर ये बल क्या हैं? नाभिकीय (न्यूक्लियर) भौतिकी के प्रारम्भ से पहले ज्योतिर्विद इस विषय में कुछ नहीं जानते थे। अब यह समझा जाता है कि सूर्य के भीतर नाभिकीय प्रतिक्रियाएँ हो रही हैं, जिनके कारण सूर्य पर हाइड्रोजन गैस हीलियम में बदलती रहती है। इस काम में बहुत अधिक ऊर्जा पैदा होती है, जिसके कारण सूर्य चमकता रहता है। इससे आन्तरिक दबाव भी पैदा होता है जो गुरुत्वाकर्षण का विरोध करता है और फलस्वरूप सूर्य संतुलन में रहता है। इस प्रकार हमें ज्योतिष-शास्त्र की सहायता से गुरुत्वाकर्षण की एक मनोरंजक घटना का पता चलता है। पृथ्वी पर गुरुत्वाकर्षण अधिक नहीं है और इसका प्रभाव अन्य प्राकृतिक बलों से नष्ट हो जाता है।

विशिष्ट गुण

गुरुत्वाकर्षण के विशिष्ट गुण को समझने के लिए कल्पना कीजिये कि सूर्य जैसे दो नक्षत्रों को एक संवाही (कंडक्टिंग) तार से जोड़ा गया। पृथ्वी पर यदि हम एक गर्म वस्तु को ठण्डी वस्तु से जोड़ देते हैं तो गर्म वस्तु की उष्मा ठण्डी वस्तु में जाने लगती है और गर्म वस्तु ठण्डी होने लगती है तथा ठण्डी वस्तु गर्म। इसी प्रकार अगर हम एक गर्म तारे को ठण्डे तारे से जोड़ दें तो गर्म तारे की उष्मा ठण्डे तारे को पहुँचनी शुरू हो जायगी। इस प्रकार गर्म तारे का दबाव कम होने लगेगा और यह अपने गुरुत्वाकर्षण के कारण सिकुड़ने लगेगा। किन्तु जब यह सिकुड़ता है तो यह संपीडन (कम्प्रेशन) के कारण गर्म होने लगता है। इसी प्रकार ठण्डे तारे को जब उष्मा मिलती है, तो इसका गुरुत्वाकर्षण कम हो जाता है और इसका आकार बढ़ने लगता है। किन्तु आकार बढ़ने के कारण यह और ठण्डा होने लगता है। इस प्रकार हम देखते हैं गर्म तारा और अधिक गर्म तथा ठण्डा तारा और ज्यादा ठण्डा होने लगता है, जो कि पृथ्वी पर होने वाले व्यापार के बिल्कुल विपरीत है। इसका कारण यह है कि पृथ्वी में इतना गुरुत्वाकर्षण नहीं है, जितना कि तारों में।

यद्यपि न्यूटन का गुरुत्वाकर्षण का सिद्धान्त भौतिकी के विकास के लिये बहुत ही उपयोगी सिद्ध हुआ, किन्तु वर्तमान शताब्दी के प्रारम्भ से वैज्ञानिकों को इसमें त्रुटियाँ दिखाई देने लगीं। इसका कारण आइंस्टीन का आपेक्षता का विशेष सिद्धान्त था। आइंस्टीन के इस सिद्धान्त के कारण विज्ञान जगत् में क्रान्ति हो गयी। इससे पहले भौतिकीविद् निरपेक्ष दिक् (एब्सोल्यूट स्पेस) और निरपेक्ष काल (एब्सोल्यूट टाइम) के सिद्धान्तों में विश्वास करते थे। आइंस्टीन के सिद्धान्त से इस धारणा में आमूल परिवर्तन हुआ। उदाहरण के लिए 'क' और 'ख' दो व्यक्तियों को लीजिये। मान लीजिये कि इनकी गति एक दूसरे की सापेक्ष हो, तो इनके लिए दिक् और समय भिन्न होंगे। 'क' की घड़ी में कुछ और समय होगा और 'ख' की घड़ी में कुछ और। इसी प्रकार 'क' को जो चीज एक इंच लम्बी लगती है, वह 'ख' को एक इंच नहीं लगेगी। शुरू में भौतिकीविदों ने आइंस्टीन के सिद्धान्त का विरोध किया, किन्तु बाद में उन्हें इसकी सत्यता माननी पड़ी।

सापेक्षता के सिद्धान्त के अनुसार किसी भी वस्तु की गति प्रकाश से अधिक नहीं हो सकती। किन्तु न्यूटन के गुरुत्वाकर्षण के नियम के अनुसार दो पदार्थों के बीच गुरुत्वाकर्षण तत्काल होता है और इसकी गति अपरिमित और अनन्त होती है। इस प्रकार यदि किसी तरह सूर्य नष्ट हो जाये, तो इसके परिणामस्वरूप हमें गुरुत्वाकर्षण क्रिया का प्रभाव, सूर्य का दिखना बन्द होने से पहले ही हो जाना चाहिये। यह बात सापेक्षता के सिद्धान्त के विपरीत है। इससे पता चलता है कि न्यूटन के गुरुत्वाकर्षण सिद्धान्त और सापेक्षता के सिद्धान्त के बीच में कोई कड़ी होनी चाहिये।

इस कठिन काम को स्वयं आइंस्टीन ने १९१५ में पूरा किया। उन्होंने गुरुत्वाकर्षण के नये सिद्धान्त का प्रतिपादन किया, जो सापेक्षता के सिद्धान्त के भी अनुरूप है और इसमें न्यूटन के सिद्धान्त की तरह कोई त्रुटि भी नहीं है। इससे यह भी पता चलता है कि यदि गुरुत्वाकर्षण का बल अधिक नहीं है तो न्यूटन का सिद्धान्त पूरी तौर से ठीक बैठता है। आइंस्टीन के इस सिद्धान्त की चर्चा अगली बार की जायगी।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि गुरुत्वाकर्षण की खोज से आधुनिक भौतिकी की शुरुआत हुई। पृथ्वी और सौरमंडल में गुरुत्वाकर्षण के प्रभाव को स्पष्ट करने में न्यूटन का सिद्धान्त बहुत सफल रहा। अधिकांश व्यावहारिक कार्यों के लिए यह अब भी उपयुक्त है। इसमें परिवर्तन केवल इसलिए करना पड़ा कि यह २०वीं शताब्दी के दिक्काल (स्पेस टाइम) के विचारों के अनुरूप नहीं बैठता था, जिनका जन्म आइंस्टीन के विशिष्ट सापेक्षता सिद्धान्त के कारण हुआ।

● ●

अणुशक्ति का बहुमुखी विकास

१. अनुसन्धान में

आणविक युग की सबसे महत्वपूर्ण उपज मेगाटन शक्ति का बम नहीं, किन्तु रेडियमधर्मी आइसोटोप है। अधिकतर अमेरिका की आणविक भट्ठियों में तैयार किये गये इन सूक्ष्म रेडियमधर्मी तत्वों ने संसार के सभी भागों के वैज्ञानिकों को सूक्ष्मवीक्षण यन्त्र के बाद अनुसन्धान का अत्यन्त मूल्यवान् साधन उपलब्ध किया है।

क्योंकि आइसोटोपों से निकलने वाले क्षीण विकरण का अनुसरण अन्वेषी उपकरणों द्वारा किया जा सकता है, इसलिए विभिन्न कार्यों में इनका उपयोग किया जा रहा है। इससे यह पता लगाया जा सकता है कि रक्त में कैल्शियम की कितनी मात्रा रहती है अथवा किस प्रकार वनस्पतियाँ प्रकाश द्वारा पोषण तत्व ग्रहण करती हैं। कैन्सर के उपचार में ये अन्वेषी साधन के रूप में बड़े उपयोगी सिद्ध हुए हैं।

आइसोटोपों से चालित छोटी बैटरियाँ इस बात की सूचक हैं कि भविष्य में अधिक शक्तिशाली आणविक बैटरियाँ बनाई जा सकेंगी।

चाहे विद्युत्-शक्ति के उत्पादन का मामला हो, चाहे कैन्सर का पता लगाना हो अथवा जीवन-प्रक्रिया के रहस्यों का उद्घाटन हो, वैज्ञानिक अनुसन्धान के क्षेत्र में रेडियमधर्मी आइसोटोपों की उपयोगिता अभी आरम्भ ही हुई है। जिस प्रकार सूक्ष्मवीक्षण यन्त्र ने अनुसन्धान-कर्ताओं के लिए नये क्षेत्र खोल दिये थे, ठीक उसी प्रकार रेडियमधर्मी आइसोटोप ज्ञानोपार्जन के प्रत्येक क्षेत्र में नई वैज्ञानिक जानकारी के मार्ग का संकेत करते हैं।

२. विद्युतशक्ति उत्पन्न करने में

अणु-विखण्डन से विद्युत्शक्ति उत्पन्न करने के प्रयत्न पिछले १० वर्षों से बड़ी लगन के साथ किये जाते रहे हैं, जिनके फलस्वरूप आणविक विद्युतशक्ति का क्षेत्र अब अज्ञात एवं अनिश्चित नहीं रहा है—धीरे-धीरे वह एक निश्चित रूप में सामने आ गया है।

आणविक बिजलीघरों का निर्माण अब लागत और अन्य खर्चों की दृष्टि से सामान्य बिजलीघरों से टक्कर लेने की स्थिति में पहुंचने लगा है।

यह सफलता धीरे-धीरे प्राप्त हुई। इसका एक कारण यह है कि सफलता किसी चमत्कारिक तकनीकी प्रगति का परिणाम नहीं है बल्कि यह तरह-तरह की आणविक भट्ठियों को चलाने के सिलसिले में पिछले १० वर्षों में प्राप्त हुए अनुभवों के निष्कर्ष के साथ-साथ डिजाइन और इंजीनियरी के कामों में छोटे-मोटे उन सुधारों का फल है जिनसे आणविक भट्ठियां अधिक उन्नत और कार्यक्षम हो गई हैं।

बहुत से विकासोन्मुख देश छोटी आणविक भट्ठियां लगाने की बात सोचते थे, पर अब अमेरिकी रिपोर्ट के कारण इन देशों को पता चलेगा कि बड़ी आणविक भट्ठियों का खर्च जितना कम बैठता है उतना छोटी भट्ठियों का नहीं। ऐसी स्थिति में उन्हें अपनी आवश्यकताओं पर सम्भवतः नये सिरे से विचार करना पड़ेगा और वे यह सोचने को विवश होंगे कि गाँवों के समूह के बजाय नगरों के उपयोग के लिए बड़ी भट्ठियां बनाना ठीक रहेगा। (भारत और अन्य एशियाई देशों में बड़ी आणविक भट्ठियां लगाने की योजनाओं के सम्बन्ध में काफी प्रगति की जा चुकी है।)

अमेरिका ने सामान्य बिजली के लगभग बराबर मूल्य पर आणविक बिजली उपलब्ध होने का जो दावा किया है उसका आधार क्या है ?

इसे अमेरिकी अणुशक्ति-कमीशन ने यों बताया है :

अनेक वर्षों के संकोच के बाद गैरसरकारी अणुशक्ति उद्योग में विश्वास की यह भावना दीखती है कि ऐसे

आणविक बिजलीघर बनाने की तकनीकी क्षमता शीघ्र प्राप्त होने वाली है जो कोयले या तेल से संचालित बिजलीघरों के मुकाबले की या उनसे सस्ती बिजली उपलब्ध कर सकें। इस विश्वास के प्रमाण-स्वरूप, उद्योग ने पिछले वर्ष ६ बड़े बिजलीघरों के लिए पूंजी लगाई। इनमें से अधिकतर न्यूजर्सी, न्यूयार्क, कनैटिकट और कैलिफोर्निया के वर्तमान आणविक केन्द्रों से दुगने बड़े होंगे। सबसे बड़ा बिजलीघर ओयस्टर क्रीक (न्यूजर्सी) में होगा और उसकी उत्पादन-क्षमता ५,१५,००० किलोवाट होगी।

इन ६ नये बिजलीघरों की सम्मिलित उत्पादन-क्षमता २५ लाख किलोवाट होगी और उनके फलस्वरूप अमेरिका में आणविक विद्युत् का उत्पादन तिगुना हो जायेगा।

अणु युग के जन्मदाता आइंस्टीन तथा ओटोहान

३. उद्योगों में

उद्योगपति प्रतिदिन विकिरण की विधियों से लेकर नापने की विधियों तक अणुशक्ति के नये-नये प्रयोग सीख रहे हैं। विकिरण की क्रिया द्वारा खाद्य-पदार्थों को शीतागारों आदि में बिना रखे वर्षों तक सुरक्षित रखना सम्भव हो गया है। मापने की प्रक्रियाओं द्वारा वस्तुओं की कोटि पर भली प्रकार से नियन्त्रण रखा जा सकता है।

रेडियमधर्मी आइसोटोपों के प्रयोग द्वारा वस्तुओं को मापना एक ऐसी औद्योगिक प्रक्रिया है जिसका बहुत ही व्यापक रूप में प्रयोग किया जा रहा है। इस्पात की चादर के भीतर से गुजरने वाले विकिरण की शक्ति को देख कर चादर की मोटाई को जितना सही तौर पर मापा जा सकता है उतना किसी अन्य यन्त्र से संभव नहीं। इसी सिद्धान्त का प्रयोग करके रेडियो-ग्राफिक निरीक्षण के लिए रेडियमधर्मी आइसोटोपों का प्रयोग

किया जाता है— जैसे, औद्योगिक प्रक्रियाओं में अन्वेषकों के रूप में और नई वस्तुओं के विकास में मापने के साधनों के रूप में।

रेडियमधर्मी आइसोटोपों के प्रयोगों से हमें जो लाभ पहुँचे हैं उनमें से कुछेक हैं—अधिक निरापद औषधियाँ तथा चिकित्सा सम्बन्धी सामग्री, मोटर का अधिक अच्छा तेल, उच्च कोटि के प्लास्टिक और मोटरगाड़ियों के पहले से अच्छे टायर। रेडियमधर्मी आइसोटोप अधिकतर अमेरिका में तैयार किये गये है और अब संसार भर में प्रयोग के लिए उपलब्ध हैं।

अणुशक्ति से चालित व्यापारिक जहाज 'यू० एस० सावैना' जो आजकल यूरोप के बन्दरगाहों का दौरा कर रहा है, समुद्री यातायात के क्षेत्र में होने वाली क्रान्ति को सूचित करता है। 'आपरेशन प्लोशेयर' नामक कार्यक्रम के अन्तर्गत अमेरिकी सरकार द्वारा किये गये परीक्षणों ने यह दिखा दिया है कि नहरें खोदने तथा नदियों का मार्ग बदलने जैसे बड़े-बड़े निर्माण-कार्यों के लिए अणु की विस्फोटन-शक्ति से लाभ उठाने की तकनीकी विद्या का विकास किया जा सकेगा।

४. कृषि में

अमेरिकी सरकार के बेल्ट्सविल (मैरिलैण्ड) स्थित कृषि अनुसन्धान केन्द्र में एक वैज्ञानिक गेहूं की बालों पर गाइगर रेडियेशन डिटेक्टर घुमा कर भारतीय किसान के भावी कल्याण में सीधा योग दे रहा है।

रासायनिक खाद के साथ रेडियमधर्मी आइसोटोप मिलाकर और उसके बाद उसे गेहूँ के खेत में छिड़क कर, जीव-विज्ञानशास्त्री यह पता लगा सकते हैं कि पौधे वृद्धि की किन अवस्थाओं में और कितनी मात्रा में रासायनिक खाद ग्रहण करते हैं। इस प्रकार की जानकारी संसार के सभी देशों के किसानों के लिए महत्वपूर्ण है और आणविक वस्तुओं के उन नये उपयोगों का नमूना है जो कृषि-क्षेत्र में ज्ञात किये जा रहे हैं।

पशुपालन के सम्बन्ध में भी इसी प्रकार के अनुसन्धान किये जा रहे हैं। उदाहरण के तौर पर मुर्गियों के आहार में रेडियमधर्मी आइसोटाप मिलाकर वैज्ञानिक लोग मुर्गियों के शरीर और उनके अंडों में आहार की गति का पता लगाने में सफल हो गये हैं। इस प्रकार की जानकारी मुर्गी-पालकों के लिए बड़ी आवश्यक होगी कि उत्तम कोटि के अंडों के उत्पादन के लिए किस प्रकार के आहार की आवश्यकता है।

विभिन्न प्रकार की फसलों के बीजों पर न्यूट्रान की क्रिया करके वैज्ञानिक लोग अनेक फसलों की उत्तम किस्मों का विकास करने में सफल हो गये हैं। न्यूट्रानों की क्रिया के परिणामस्वरूप, आजकल अमेरिका में जई की एक ऐसी नई किस्म की खेती की जा रही है, जिसमें रतुआ नहीं लगता है। प्रकाश की सहायता से वनस्पतियों द्वारा पोषण तत्व ग्रहण करने विषयक खोजबीन में रेडियमधर्मी आइसोटोपों के प्रयोग से यह आशा होने लगी है कि अन्ततः ऐसी तरीकों का पता चल जायेगा जिनसे पौधों की उपज बढ़ जाय और उनसे उत्कृष्ट कोटि की खाद्य-सामग्री उपलब्ध होने लगे।

हिमालीय वलनिक उच्चावन से सम्बन्धित वज्यूला शैलों के कायान्तरित उपाख्यान

प्रमोद वर्मा

हिमालय भारतीय संस्कृति में एक विशेष स्थान लिये हुए हैं। पिछले कुछ वर्षों से तो समस्त विश्व का ध्यान यहाँ होने वाली हलचलों पर लगा हुआ है। भू-गर्भशास्त्र की दृष्टि से भी हिमालय की पहाड़ियाँ महत्वपूर्ण हैं। हिमालय चट्टानों की विविधता हरेक भूशास्त्री को चकित कर देती है। संसार के अनेक उन्नतशील राष्ट्रों से विद्वानों ने यहाँ आकर अत्यन्त महत्वपूर्ण गवेषणायें कीं और अनेक महत्वपूर्ण सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की ओर से गत बीस वर्षों से कुमायूँ पहाड़ों में भू-सर्वेक्षण का कार्य हो रहा है। प्रस्तुत कार्य भी इसी योजना का अंग है। लेखक का कार्य वज्यूला (७९°३५':३०°००') ग्राम के पश्चिम तक ही सीमित था।

वज्यूला क्षेत्र, चमोली जिले की सीमा पर, अल्मोड़ा शहर से ४५ मील उत्तर में स्थित है। आवागमन की उचित व्यवस्था न होने के कारण इस सम्बन्ध में केवल दो ही प्रकाशित विवरण प्राप्त हैं। प्रथम १९३९ में हाइम तथा गान्सर लिखित "सेन्ट्रल हिमालयाज" तथा द्वितीय, आडन की १९४० की भ्रमण रिपोर्ट। इनके न्यास निर्वचन लेखक ने अपने परिणामों की व्याख्या करते समय दिये हैं।

इससे प्रथम कि मुख्य विषय पर विवेचन किया जाय, वज्यूला क्षेत्र की भौमिकि स्थिति का चित्रण, असंगत न होगा। इस क्षेत्र को इस दृष्टिकोण से हम दो भागों में बाँट सकते हैं।

(१) शैल वर्ग विवरण

(२) संरचना

शैल वर्ग विवरण

ग्रन्थन, संरचन व खनिज संघटन के आधार पर वज्यूला शैलों का व्यापक वर्गीकरण निम्नानुसार हैं :—

I क—कायान्तरित अवसाद
  ख—कायांतरित अर्द्ध पेलाइट
  ग—कायांतरित सेमाइट
  घ—कार्बन युक्त शैल
II मिग्मेटाइट
III ऐम्फिबोलाइट

इन सब चट्टानों में प्रस्तुत विषय के अनुसार 'मिग्मेटाइट' सबसे महत्वपूर्ण है। इस शैल में वे सब तत्व निहित हैं जिन पर लेखक की युक्तियाँ आधारित हैं। दुर्भाग्यवश सभी भू-वैज्ञानिक तथ्यों की व्याख्या में एक मत नहीं। वर्तमान भूविज्ञान की ज्वलन्त समस्याओं में से एक समस्या इन स्फटीय शैलों का निर्माण है। यह एक स्थूल स्फटीय शैल है जो अपने ग्रंथन से आग्नेय प्रतीत होती है। हाइम तथा गान्सर तथा आँडन ने इन चट्टानों को ग्रेनाइट-नाइस या आँगन-नाइस के नाम से वर्णित किया हैं। उनके विचारानुसार यह शुद्ध मग्मिज शैल न होकर आंशिक आग्नेय ही है—मग्मा व अवसादीय शैलों के मिश्रण का परिणाम है। विभिन्न खनिजों के जनन सम्बन्धों का सूक्ष्मदर्शी द्वारा अध्ययन करने पर यह प्रगट हुआ कि कई खनिजों को अनेक भागों में इस प्रकार वर्गीकृत कर सकते हैं कि प्रत्येक भाग एक निश्चित अवंतरित उपाख्यान का प्रतिनिधित्व कर सकता है। अपने क्षेत्रीय एवं प्रयोग शाला के अनुभव से लेखक जिस परिणाम पर पहुँचा

है वह उपर्युक्त विद्वानों से मेल नहीं खाता। उसके विचार आई० सी० पाण्डे की व्याख्याओं से समानता रखते हैं जो उन्होंने कुमायूँ के अन्य क्षेत्रों में कार्य करके निर्धारित किये हैं। उसके मत में चट्टानें, मूल अवसादीय शैलों पर रासायनिक प्रतिस्थापीय द्रवों की क्रिया के परिणाम हैं।

क्वार्टजाईट कायांतरित सेमाइट शैलों का प्रतिनिधित्व करते हैं। वे दो रूप में पाये जाते हैं :—

(१) कायांतरित के साथ (२) उत्क्रमित रूप में संरचना।

क्षेत्र की संरचना भी दो रूपों में विभाजित की जा सकती है :—

(१ वृहद संरचना।

(२) लघु संरचना।

वृहद संरचना एक अभिनित है जिसकी आनति उत्तर में २०° है। हाइम तथा गानसर के अनुसार यह क्षेत्र एक पश्चिमीय आनत अभिनित के पूर्वीयपार्श्वांग का भाग है। दोनों पार्श्वांग एक वृहद् भ्रंश द्वारा (जो गोमती नदी के समानान्तर स्थिति में है) अलग किये हुये हैं।

आँडन के अनुसार ये कायंतरित मुख्य गढ़वाल विंडो में गौण अभिनित बनाते हैं।

पांडे, पंवार तथा दास के अनुसार वज्यूला क्षेत्र कौसानी समुदीय शैलों के ऊपर उत्क्रमित है। ये कौसानी स्वयं द्वाराहाट-चौखटिया शैलों के ऊपर उत्क्रमित है। गोमती नदी भ्रंश इन लेखकों के अनुसार एक उत्क्रमित है।

लघु संरचना का निम्नलिखित भागों में वर्गीकरण किया जाता है :—

(१) लीनीयेशन

(२) शिस्टोसिटी व पत्राभायन

(३) संभेद

(४) कर्प वलन

(५। विदरण

इनके अध्ययन से पता चलता है कि प्रत्येक लघु संरचना तीन वर्गों में वर्गीकृत की जा सकती है और प्रत्येक वर्ग एक बलयित पर्वत-रचना गति को इंगित करता है।

संरचना तथा शैल वर्ग विवरण में एक मुख्य तथ्य सामने आता है कि इन शैलों की वर्तमान स्थिति एक से अधिक गतिविधियों का परिणाम है जो हिमालीय वलनिक उच्चावन के अन्तर्गत मानी जा सकती हैं। काशी विश्वविद्यालय द्वारा हिमालय पर किये गये अनेक अन्वेषणों के अध्ययन भी इसी तथ्य की पुष्टि करते हैं।

निम्नलिखित विवेचन उन कालांतरित कालों का है जो वज्यूला क्षेत्र में घटे।

धार संस्तरण, क्रमिक संस्तरण आदि का वज्यूला शैलों में पाया जाना मूल शैलों की अवसादीय प्रकृति को इंगित करता है। दूसरे शब्दों में एक समय इन कायांतरित चट्टानों का निर्माण मृण्मय शैलों के रूप में समुद्र की तलहट में हुआ। वर्तमान कायांतरित अर्द्धपिलाइट, बायोटाइट, शिस्ट के प्रतिग्राम का प्रभाव है जो मृण्मय शैलों के व्यापक कायांतरण का परिणाम है।

जिस स्थान पर हिमालय है, वहाँ भौमिक काल में एक सागर था जिस को टीथस विस्तीर्ण अभिनित के नाम से जाना जाता है। इसकी विशेषता थी, अवसादों का जमाव और साथ ही साथ तल का नीचे धँसना। कुछ समय पश्चात् निचली अवसादीय सतहों में एक विदरण का निर्माण हुआ जो संस्तरण के समानान्तर थी। यह मूल विदरण है जो सूक्ष्म यन्त्र के द्वारा अधिकतर वज्यूला शैलों में देखा गया है। इस लघु संरचना का संस्तरण के समानान्तर होना इस तथ्य को सिद्ध करने के लिये पर्याप्त है कि इसका निर्माण उपरिस्थ अवसादों के भार के कारण हुआ है। मूल संस्तरण विदरण का निर्माण वज्यूला शैलों में पहला कायांतरित उपाख्यान अंकित करता है।

इस संस्तरण विदरण के विकास के बाद व्यापक कायांतरण का प्रादुर्भाव हुआ जिसको द्वितीय काल कह सकते हैं। इस काल का पता बायोटाइटI की प्राप्ति से चलता है। बायोटाइटI के मणिभ लवें अत्यधिक विवृत

व हरे-भूरे रंग के होते हैं। वैसे कुमायूँ हिमालय के अन्य क्षेत्रों में उच्च क्रम के खनिज, जैसे कायनाइट पाये जाते हैं जो द्वितीय काल का प्रतिनिधित्व करते हैं पर वज्यूला क्षेत्रों में कायांतरित गतिविधि बायोटाइट क्षेत्र तक ही सीमित रही। निम्न क्रम खनिज प्राप्ति के दो कारण संभव हैं—पहला उच्चक्रम खनिजों का प्रति ग्राम। क्लोराइट, रुटाइल आदि की इन शैलों में उपस्थिति से गार्नेट की विद्यमानता का निष्कर्ष निकलता है। दूसरा कारण मूल अवसादों का कम गहराई पर जमाव होना भी हो सकता है। कुछ भी हो, हिमालय के इस व्यापक कायंतरण का प्रभाव कायनाइट या अन्य उच्च क्रम के खनिजों तक नहीं बढ़ पाया था। द्वितीय कायंतरित काल में शैलों का सम्पूर्ण मणिभीकरण हुआ। क्वार्ट्ज़ मणिभों की सूचर सीमा इसकी पुष्टि करती है। मणिभों की विकृति-प्रकृति इस बात की सूचक है कि मणिभी-करण के साथ विरूपण भी हुआ। यह संकेत देने वाला एक अन्य तथ्य भी है, वह है मुख्य विदरण। यह विद-रण-संस्तरण विदरण के समानान्तर न होकर एक कोण बनाता है। उष्मा एवं दाब इस कायंतरण उपाख्यान के मुख्य कारक थे।

वज्यूला शैलों पर हुए तीसरे काल को दो भागों में बाँटा जा सकता है। ये दोनों भाग वज्यूला शैलों पर हुए मिग्मेटाइजेशन से घनिष्टतम रूप में सम्बन्धित हैं। प्रथम भाग में गहनतम क्षेत्र में मिग्मेटाइजेशन हुआ व उच्च तलों में बायोटाइट पोरीफीरो-ब्लास्ट (बायो-टाइट II) का प्रादुर्भाव हुआ (उदाहरण स्वरूप वज्यूला की शिस्टोस शैल)। इस काल में रासायनिक प्रतिस्थापन व तापीय कायान्तरण मुख्य कारक थे।

अधिकतर शैलों के सूक्ष्म-दर्शी अध्ययन से पता चलता है कि इस काल के दूसरे भाग में उष्णजलीय द्रव उच्चतर सतह तक प्रवेश कर गये थे। इसका प्रभाव प्रतिग्राम के रूप में हुआ। इस काल में बायो-टाइट I, क्लोराइट I, मस्कोवाइट I में व बायोटाइट II मस्कोवाइट II व क्लोराइट II में परिवर्तित हो गये। मिग्मेटाइट के फेल्सपार पर धुँधता इसी काल में हुई।

चतुर्थ उपाख्यान को हम विवर्तनिक गतिविधियों का काल कह सकते हैं। इस समय शैल इकाइयों का दुबारा वलन भ्रंश व उत्क्रमन हुआ, नेफेसंरचन भी इसी काल के अन्तर्गत है। खनिजों का दबाव के कारण पुनः प्रति-ग्राम हुआ पर यह उत्क्रमित तलों तक ही सीमित है। उत्क्रमित तलों में माइलोनाईटाइजेशन हुआ जैसा कि प्रस्तुत क्षेत्र में गोमती नदी के दक्षिणी तट पर मिलता है। भ्रंश तलों में क्लोराइट भी बना। इस क्रिया को डा० पांडे तथा अन्य विद्वानों ने "लेट कैटाक्लासिस" कहा है।

इसके साथ ही क्षेत्र का कायंतरण इतिहास समाप्त हो गया।

स्वास्थ्य एवं औषधि विज्ञान

फिनोथायजीन सजातों का चय-अपचय

डा० जे० पी० तिवारी

फिनोथायजीन के अमीनो सजातों का संश्लेषण रोनपाउलेन्स अनुसंधान शाला के शोध-कर्त्ताओं ने सन् १६४४ में किया था। इन अमीनों सजातों में **क्लोरप्रो-मेजीन** की औषधि रूप में अधिक ख्याति प्राप्त हुई है। इस औषधि को शारपेण्टर नामक वैज्ञानिक ने सन् १६५० में संश्लेषित किया था। क्लोरप्रोमेजीन का वैज्ञानिक अध्ययन भी अन्य फिनोथायजीन सजातों की अपेक्षा अधिक हुआ है। इस औषधि के प्रभाव का अध्ययन केन्द्रीय तन्त्रिका तंत्र और आत्मग तन्त्र पर किया गया है।

क्लोरप्रोमेजीन का औषधि प्रभाव विज्ञान सम्बन्धी परीक्षण पशुओं में किया गया है। इस प्रकार के अध्ययन का विस्तृत विवरण कुरवायजर ने सन् १६५३ ई० में प्रकाशित किया था। मानसित रोगों से ग्रसित रोगियों को इस औषधि से विशेष लाभ होने के कारण चिकित्सा में इस औषधि की अपनी एक महत्ता है। अतएव इस औषधि का उपयोग निरन्तर बढ़ता ही रहा। इन कारणों से फिनोथायजीन सजातों की संश्लेषण क्रिया पर शोध होना स्वाभाविक था। इसलिये ऐसे सजातों के संश्लेषण करने का प्रयत्न किया गया जिनसे इस प्रकार के रासायनिक पदार्थ प्राप्त किये जा सकें, जिनसे मान-सिक विकार के रोगियों को लाभ भी हो और उनके अन्य शारीरिक अंगों पर बुरा प्रभाव न्यूनतम हो। इस प्रेरणा के कारण अनेक फिनोथायजीन सजातों का संश्लेषण और अध्ययन किया गया। प्रमुख औषधि उपयोगी सजात निम्नांकित है :

यौगिक	R_1	R_2
१. क्लोरप्रोमेजीन	Cl	$-CH_2 \cdot CH_2 \cdot CHO_2 N<^{CH_3}_{CH_3}$
२. प्रोमेजीन	...	$-CH_2 \cdot CH_2 \cdot CH_2 N<^{CH_3}_{CH_3}$
३. प्रोमेथजीन	...	$-CH_2 \cdot CH_3 \cdot NCH<^{CH_3}_{CH_3}$
४. मिथाक्सीप्रोमेजीन	OCH_3	$-CH_2 \cdot CH_2 CH_2 N<^{CH_3}_{CH_3}$
५. फ्लूफिनेजीन		
६. परफिनेजीन	CF_2 / Cl	$C-C_2 . CH_2 \cdot CH_2 N > N - CH_2 OH_2 CH_2$

		$-CH_2 \cdot CH_2 \cdot CH_2N > N-CH_2$
७. ट्राईफ्योपिरेजीन	CF_3	CH_2OH
		$CH_2 \cdot CH_2 . CH_2N - > N-CH_3CH_2OH$
८. मेपजीन	—	$-CH_2- > N-CH_2$
९. थायरोड ि जी	SCH_3	$-CH_2-CH_2-<\;\;> N-CH_3$
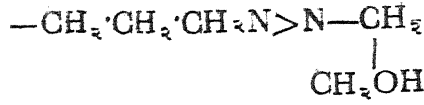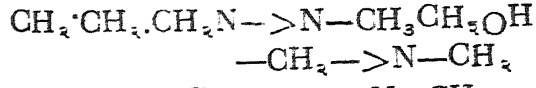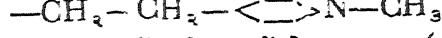
इन सजातों का अध्ययन कई प्रकार से किया गया है। इस लेख में इनके सजातों के चय-अपचन (मेटाबोलिज्म) का वर्णन किया गया है।

फिनोथायजीन सजातों के शरीर में प्रविष्ट होने पर ये पदार्थ टिशुओं में पहले जमा हो जाते हैं। मूल पदार्थ और उसके चय-अपचय जनित पदार्थ के इस विशेष गुण के कारण मूल पदार्थ और चय-अपचय जनित पदार्थों के शरीर से बाहर होने में समय लगता है। इस कारण से निष्कासित पदार्थों के अध्ययन में कठिनाइयाँ होती हैं। उदाहरण के लिए **क्लोरप्रोमेजीन** जिसको **लारजेक्टिल** भी कहते हैं, के चय-अपचन अध्ययन वर्णित हैं, क्योंकि अन्य सजातों के चय-अपचन जनित पदार्थ उपर्युक्त ओषधि के समान ही प्रतीत होते हैं।

सल्फोआक्सीकरण

फिनोथायजीन सजात कृमिनाशक के रूप में बछड़ों को दिया जाता था। बछड़ों के रक्त में और नेत्रोद में फिनोथायजीन—५—आक्साइड पाया गया। इस प्रकार की क्रिया का ज्ञान सन् १९५० से पहले ज्ञात नहीं था। गंधक के कार्बोनिक योगिक शारीरिक क्रियाओं में सल्फो आक्साइड के रूप में बदल जाते हैं। आज की परिस्थितियों में निश्चयात्मक रूप से यह सिद्ध कर दिया गया है कि फिनोथायजीन संजातिय सल्फो-आक्साइड में परिवर्तित हो जाते हैं। इसकी पुष्टि का श्रेय **सालजमैन** और उनके सहकर्मियों को है। इन शोधकर्त्ताओं ने सन् १९५५ ई० में क्लोरप्रोमेजीन के चय-अपचन जनित पदार्थों में प्रतिधारा वंटन विधि द्वारा सल्फोआक्साइड मूत्र में क्लोरओमेजीन की ली गई मात्रा को १० से १४% तक पाया। यह मात्रा कुत्तों को ओषधि देने के बाद एकत्रित मूत्र में थी। मानव मूत्र में सल्फो-आक्साइड की मात्रा ५ ही पाई गई। मूत्र में क्लोरप्रोमेजीन की मात्रा अत्यन्त न्यून थी। यह मात्रा अन्य शोधकर्त्ताओं के अनुसार १% से भी कम होती है। साधारणतया मूत्र में क्लोरप्रोमेजीन और क्लोरप्रोमेजीन-५ सल्फोआक्साइड का अनुपात १ : १९ निर्धारित किया गया है।

अन्य शोधकर्त्ताओं में **फिशमैन** और **गोल्डनबर्ग** के नाम उल्लेखनीय हैं। इन शोधकर्त्ताओं ने वर्ण लेखन (क्रोमैटोग्राफी) सम्बन्धी अध्ययन द्वारा क्लोरप्रोमेजीन के चय-अपचन जनित पदार्थों की संख्या दस बतलाई है। ये दस चय-अपचय जनित पदार्थ मानव मूत्र से प्राप्त किये गये थे। क्लोरप्रोमेजिन के सल्फोआक्साइड की पहचान भी वर्ण लेखन विधि द्वारा की गई है। मानव शरीर क्लोरप्रोमेजीन का ५९% सल्फो-आक्साइड के रूप में उत्सर्जित करता है और यह उत्सर्जन कुत्तों में २२.२% होता है। ये आंकड़े अन्य शोधकर्त्ताओं के आंकड़ों के अनुरूप ही हैं। उपर्युक्त प्रमाणों से यह भलीभाँति सिद्ध हो गया है कि क्लोरप्रोमेजीन का जनित मुख्य चय-अपचय पदार्थ सल्फोआक्साइड ही है। चूहों को गंधक-३५ चिन्हित क्लोरप्रोमेजीन दी गई और क्लोरप्रोमेजीन की सल्फो आक्साइड की मात्रा रेडियोधर्मिता द्वारा ४९ से ७३% तक पाई गयी है। इस प्रकार का परिक्षण ओगावा इमर्सन और मिया आदि वैज्ञानिकों ने भी किया है।

वास्तव में क्लोरप्रोमेजीन के चयअपचय का कार्य यकृत में ही नहीं होता है किन्तु अन्य टिशुओं में भी यह क्रिया कुछ मात्रा में होती है। इसलिए क्लोरप्रोमेजीन का आक्सीकरण सम्बंधी अध्ययन प्रयोगशाला में किया गया और इस अध्ययन में क्लोरप्रोमेजीन सल्फोआक्साइड प्राप्त किया गया।

कुत्तों की रक्त नली में क्लोरप्रोमेजीन सल्फोआक्साइड का इंजेक्सन दिया गया जिससे यह पता चला की यह पदार्थ स्वयं भी अन्य पदार्थों में बदल जाता है। दी हुई मात्रा का चौथाई भाग से भी कम भाग अपरिवर्तित रूप में उत्सर्जित होता है। मूत्र का वर्ण-लेखन करने से यह ज्ञात हुआ कि सल्फोआक्साइड में भी चय-अपचय होता है। इसी प्रकार का अनुभव मनुष्य में किया गया है। प्रयोगशाला में क्लोरप्रोमोजीन के चय-अपचय का अध्ययन गिलेट और काम नामक शोधकर्त्ताओं ने किया। इनका अनुमान है कि सम्भवतः क्लोरप्रोमेजीन सल्फोन बनता है। वास्तव में यह पदार्थ मूत्र से प्राप्त नहीं किया जा सका है। जेहण्डर ने सन् १९६२ ई० S-३५ की सहायता से थोयरिडेजीन से थायोरिडेजीन डाई सल्फोन को चूहों के पित्त और मूत्र से प्राप्त किया। वास्तव में एक और गन्धक परमाणु की उपस्थिति में यह क्रिया अत्यन्त कठिन है किन्तु यह सत्य प्रमाणित की गई है, क्योंकि डाई-सल्फोआक्साइड का उत्सर्जन अधिक मात्रा में होता है। बिना बदले थायरोडेजिन का उत्सर्जन और मूत्र में बहुत ही कम होता है।

अन्य सजातों में भी इस प्रकार के परीक्षण किये गए हैं। सलफर-३५ प्रोमेजीन का अध्ययन वाल्कइस्टेन और शिफ्टर ने किया और उन्होंने ७० से ८०% तक रेडियोधर्मिता कुत्ते के मूत्र में पाई। पेट में इन्जेक्शन देने पर २ से ५% तक प्रोमेजीन सल्फोआक्साइड की मात्रा और ३ से ४% मोनो मिथाइल सल्फोआक्साइड की मात्रा प्राप्त की।

हाफमैन ने मूत्र के वर्णलेखन द्वारा चूहों में येपाजीन सल्फोआक्साइड के रूप में प्राप्त किया। इसी प्रकार का अध्ययन प्रोमियर्जीन में भी किया गया और चय—अपचय जनित पदार्थों के रूप में सल्फोआक्साइड पाया गया। ऐसे परीक्षण मनुष्यों और चूहों में किये गये हैं।

फिनोथायजीन वलय में गन्धक के परमाणु का आक्सीकरण होता है। पहले इलेक्ट्रान का आदान-प्रदान होता है और मुक्त मूलक बनता है। रौस ने प्रयोगशाला में इसे मिथाइल क्लोरप्रोमेंजीन के गंधक परमाणु का आक्सीकरण अनुमानित किया है क्योंकि वे ईथर द्वारा इस पदार्थ को निकालने में समर्थ हुये अतएव सल्फो-आक्साइड के निकालने के लिए अत्यन्त सावधानी की आवश्यकता होती है।

विमिथाइलीकरण

विमिथाइलीकरण मुख्यतः यकृत में पदार्थ से मिथाइल ($-CH_3$) अलग हो जाता है। खरगोशों के यकृत को क्लोरप्रोमेजीन के साथ रखकर ब्राडी ने यह सिद्ध किया है कि विमिथाइलीकरण की क्रिया इस पदार्थ में नहीं होती है किन्तु यंग ने सिद्ध कर दिया है कि शारीरिक क्रिया में विमिथाइलीकरण होता है और ४% सी-१४ (C–१४) कार्बन डाईआक्साइड (CO_2) के रूप में प्राप्त किया जा सकता है। इसका प्रमाण वाल्केन स्टीन और शिफ्टर ने S ३५—प्रोमेजीन का अध्ययन कुत्तों में करके ७० से ८०% तक रेडियोधर्मिता मूत्र में प्राप्त की। वर्णलेखन विधि द्वारा उन लोगों ने प्रोमेजीन सल्फोआक्साइड ३ से ५% डेस मिथाइल प्रोमोजीन सल्फोआक्साइड २.० से ३.५% और प्रोमोजीन २% ।

यदि चय-अपचय जनित पदार्थों के रूप में प्राप्त किये डेसमिथाइल प्रोमेजीन अथवा प्रोमेजीन सल्फोआक्साइड का इन्जेक्शन दिया जावे तो डेसमिथाइल प्रोमेजीन सल्फोआक्साड ही प्राप्त होता है। क्लोरप्रोमेजीन से भी डेसमिथाइल सल्फोआक्साइड चय-अपचय जनित पदार्थों के रूप में प्राप्त होता है।

N–आक्साइड का बनना

फिशमैन ने क्लोर प्रोमेजीन के चय-अपचय जनित पदार्थों में यन-आक्साइड पदार्थ की पहिचान की है। इसके पहिचान करने में वर्णलेखन विधि का ही आश्रय लिया गया है। जिन रोगियों को क्लोरप्रोमेजीन मुख द्वारा खिलाई जाती है उनके मूत्र में क्लोरप्रोमेजीन यन-आक्साइड की मात्रा बहुत कम होती है।

हाइड्रॉक्सीकरण

लिन और उनके सहयोगियों ने क्लोरप्रोमेजीन दिये जाने वाले रोगियों के मूत्र में क्लोरप्रमोजीन और क्लोर-प्रोमेजीन सल्फोग्राक्साड के अतिरिक्त एक और पदार्थ प्राप्त किया जो २८४ माइक्रोन पर एक उच्चिष्ट प्रदान करता है। यह उच्चिष्ठ वलय संलग्न हाइड्रोक्सिल मूलक का द्योतक है। इस बात की पुष्टि पोस्नर नामक वैज्ञानिक ने क्रोमेटग्राफी विधि द्वारा की। यह पदार्थ ग्लूकोरोनाइड के रूप में निष्कर्षित होता है। थाइराइ-डेजीन चूहों के पित्त से हाइड्राक्सिल अपचय जनित पदार्थ ग्लूकोरोनिक अम्ल के साथ मिलकर निकलता है। और इस प्रकार का अध्ययन स्वोबल बास्की ने क्लोर-प्रोमेजीन पाने वाले रोगियों के साथ भी किया है।

फिनोथायजीन ओषधियों के चय-अपचय जनित पदार्थों का अध्ययन विशेष रूप से किया गया है और मुख्यत: फिनोथायजीन सजातों में क्लोरप्रोमेजीन पर ही विशेष कार्य हुआ है। वैसे तो कई प्रकार से चय-अनचयन होता है किन्तु सल्फो-आक्सिकरण पर ही विशेष बल दिया गया है।

आँवले का निर्यात

रामेश बेदी

भारत के बाहरी देशों के व्यापार को देखने से पता चलता है कि भारतीय आँवले की विदेशों में माँग बढ़ रही है। हमारे जंगलों में यह प्रतिवर्ष बड़े परिमाण में यों ही नष्ट हो जाता है। संग्रह करने वाले लोगों तथा व्यापारियों के लिये नीचे लिखे आँकड़े मार्गदर्शक हो सकते हैं। भारतीय जंगलों की इस उपज को निर्यात करने के अधिक क्षेत्र तलाश करने में उन्हें ये तालिकाएँ सहायक होंगी।

१९५७ में आँवले का निर्यात

देश का नाम	हण्डरवेट में, तौल	रुपयों में मूल्य
१. अदन	१	२७
२. पश्चिमी पाकिस्तान	१३८४	२५९३१
३. पूर्वीय पाकिस्तान	१७९	२३७२
४. लंका	१५३७	२४२६२
५. सिंगापुर	५	१००
६. मलाया	११	१६९
७. अफ़गानिस्तान	२२	५३९
८. उत्तर रोडेशिया		६३
९. केनिया	१२	२६४
१०. टाँगानीका		१५
योग	३१५१	५३७७२

१९५८ में आँवले का निर्यात

देश का नाम	हण्डरवेट में, तौल	रुपयों में, मूल्य
१. पश्चिमी पाकिस्तान	१९८२	२५८२४
२. पूर्वीय पाकिस्तान	११	१९९
३. लंका	१६१९	२०९१०
४. सिंगापुर	४	६७
५. मलाया	९	१८५
६. केनिया	६	१२९
७. युगाण्डा	१	४७
८. टाँगानीका	१	३५
योग	३६३३	४७३९६

(शेष पृष्ठ ७८ पर)

खसरा रोग का विनाश

अमेरिकी सर्जन जनरल लूथर टेरी के कथनानुसार, उन दोनों प्रकार की वैक्सीनों की सहायता से खसरे का अन्त किया जा सकता है, जिनके व्यापारिक उत्पादन के लिए हाल में अमेरिकी स्वास्थ्य द्वारा लाइसेंस दिये गये हैं। यह एक ऐसा रोग है जिसके कारण संसार में प्रति वर्ष भारी संख्या में छोटे बच्चे मृत्यु का ग्रास बन जाते हैं। ये दोनों वैक्सीनें विस्तृत पैमाने पर किये गये परीक्षणों में प्रभावशाली सिद्ध हो चुकी हैं।

इस सम्बन्ध में डा० टेरी ने कहा है कि इन वैक्सीनों का विकास एक ऐसे खतरनाक रोग का अन्त करने के लिए गत वर्षों में की गई अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रगतियों में से एक है, जिसके कारण बच्चों के स्वास्थ्य को बड़ी क्षति पहुँचती है।

अधिकारियों का कथन है कि यदि सब बच्चों को इन वैक्सीनों का टीका लगा दिया जाये, तो अमेरिका में दो वर्षों में खसरे का अन्त किया जा सकता है। जब इन वैक्सीनों का व्यापक प्रयोग होने लगेगा तब समस्त संसार में खसरे का अन्त हो जायेगा।

अमेरिका में प्रति वर्ष खसरे (मीजल्स) से लगभग ३०० से ५०० तक मृत्यु हो जाती है। वर्ष में लगभग ४०,००,००० बच्चे खसरे से पीड़ित होते हैं और प्रत्येक १०,००० रोगियों के पीछे एक मृत्यु का ग्रास बन जाता है।

कुछ क्षेत्रों में, विशेष रूप से विकासोन्मुख राष्ट्रों में, इस घातक रोग से अधिकांश बच्चों की मृत्यु होती है। उदाहरण के तौर पर, अफ्रीका तथा दक्षिणी अफ्रीका में २५ प्रतिशत तक बच्चों की खसरे से मृत्यु होती है। आम-तौर पर केवल खसरे के विषाणुओं से ही नहीं बल्कि खसरे के साथ-साथ निमूनिया तथा मस्तिष्क में सूजन आदि हो जाने से रोगी की मृत्यु हो जाती है।

१९५४ में हारवर्ड विश्वविद्यालय के प्रोफेसर तथा नोबेल पुरस्कार विजेता डा० जान एण्डर्स और डा० टामस पीवल्स ने सर्वप्रथम खसरे के विषाणुओं का पता लगाया था। उसी समय से किसी प्रभावशाली वैक्सीन के सम्बन्ध में अनुसन्धान किये जा रहे हैं। उनके अनुसन्धान कार्य के परिणामस्वरूप, अमेरिकी वैज्ञानिको ने दो प्रकार की वैक्सीनों का विकास किया है। एक वैक्सीन में दुर्बल विषाणु होते हैं और दूसरी में मारे हुए विषाणु रहते हैं।

अमेरिकी स्वास्थ्य, शिक्षा एवं जन-कल्याण विभाग ने ये वैक्सीन तैयार करने के लिए अनेक अमेरिकी फर्मों को लाइसेन्स दिये हैं। आशा है कि निकट भविष्य में चिकित्सकों को ये वैक्सीन उपलब्ध हो जायेंगी। कम्पनियों को विदेशों के चिकित्सकों को उक्त वैक्सीनों को बेचने की स्वतन्त्रता होगी। अमेरिकी सहायता कार्यक्रम के अन्तर्गत कुछ वैक्सीन एक दर्जन अफ्रीकी राष्ट्रों को भेजी जायेंगी।

गत कई वर्षों में, लगभग ५०,००० अमेरिकी बच्चों तथा यूरोप, लेटिन अमेरिका, अफ्रीका और एशिया के हजारों तरुणों पर किये गये परीक्षणों में ये वैक्सीनें ९८ प्रतिशत प्रभावशाली रही हैं।

डा० टेरी के कथनानुसार, गत पतझड़ में अपर वोल्टा में ७,००,००० बच्चों को उक्त वैक्सीनों का टीका लगाने का जो कार्यक्रम कार्यान्वित किया गया था, उससे आशा है कि १,००,००० से १,७५,००० तक बच्चों के प्राणों की रक्षा हो सकेगी।

अमेरिकी स्वास्थ्य, शिक्षा, तथा जन कल्याण विभाग के मन्त्री एन्थनी जे० सेलेब्रेज ने वैक्सीन के सम्बन्ध में किये गये परीक्षणों को एक लम्बा तथा कठिन मूल्यांकन बताया है। इस सम्बन्ध में उन्होंने

कहा कि यह कार्य सरकारी तथा गैर सरकारी वैज्ञानिकों, चिकित्सकों, ओषधि निर्माताओं तथा हजारों निःस्वार्थी एवं साहसी माता-पिताओं के सहयोगपूर्ण प्रयत्नों से सम्भव हुआ है जिन्होंने अपने बच्चों को जाँच सम्बन्धी कार्यक्रम में भाग लेने की अनुमति दी थी। इस शानदार सफलता का सभी देशों में सभी लोगों द्वारा स्वागत किया गया है।

मारे गये विषाणुओं वाले वैक्सीन के लगभग एक-एक महीने के अन्तर में ३ टीके लगाये जाते हैं। जीवित विषाणुओं वाले वैक्सीन के साथ गामा ग्लोबोलिन का इंजक्सन लगाया जाता है, जिससे विपरीत प्रभाव दूर हो जाते हैं।

खसरे का रोग सामान्य जुकाम के समान प्रारम्भ होता है। रोगी को छींकें आती हैं, नेत्र लाल हो जाते हैं और उनसे पानी बहने लगता है। आम तौर पर रोग ग्रस्त हो जाने के लगभग १० दिन बाद ये लक्षण प्रकट हो जाते हैं। नेत्र में पीड़ा होने लगती है और उनसे प्रकाश सहन नहीं होता है। खांसी के साथ-साथ गला भी खराब हो सकता है। प्रथम लक्षणों के तीन चार दिन पश्चात् छोटे-छोटे दाने प्रकट हो जाते हैं। ये दाने अक्सर चेहरे से प्रारम्भ होकर बाजुओं तथा टाँगों आदि पर फैल जाते हैं। खसरे के साथ-साथ कभी-कभी निमूनिया तथा मस्तिष्क शोथ भी हो जाता है और शरीर दुर्बल हो जाने के कारण दूसरे घातक रोग हो जाने की भी आशंका रहती है।

(पृष्ठ ७६ का शेषांश)

१९५९ में आँवले का निर्यात

देश का नाम	हण्डरवेट में, तौल	रुपयों में, मूल्य
१. अदन	१	३८
२. बहरीन द्वीपसमूह	१	१०
३. पश्चिमी पाकिस्तान	१९६१	४४८३३
४. पूर्वी पाकिस्तान	४०१	१०२३९
५. लंका	१४२१	३१५२३
६. सिंगापुर	४	९८
७. मलाया	७	११४
८. सीरिया	२	६०
९. साउदी अरब	२	५०
१०. अफगानिस्तान	७३	१८२६
११. दक्षिणी रोडेशिया		७
१२ केनिया	१५	४००
१३. युगाण्डा		५
१४. टाँगानीका	१	४४
१५. मोजाम्बिक		१७
१६. फीज़ी द्वीपसमूह		२०
योग	३९१९	८९२८४

मानव पोषाहार

एस० एन० लाल श्रीवास्तव

हमारा शरीर जिन उपादानों से बना है, उन सब उपादानों के योग्य ही साथ ग्रहण करना आवश्यक है। अङ्गों के हिलाने तथा संचालन करने तथा शारीरिक परिश्रम करने के कारण हमारे पेशीतन्तु से कार्बन, हाइड्रोजन तथा आक्सीजन का क्षय होता रहता है। इन तत्वों की पूर्ति भोजन के द्वारा ही सम्भव है। प्रस्तुत लेख में कूनूर (Coonoor) प्रयोगशाला में किये गये मानवपोषाहार के अन्वेषणों एवं भारतवर्ष के विभिन्न भागों से चयन किये गये आँकड़ों का विवेचन किया गया है।

मानव पोषाहार मुख्यतया दो भागों में विभाजित किया जा सकता है :

१—जैव पदार्थ या कार्बनिक

२—अजैव पदार्थ या अकार्बनिक

जैव पदार्थ—(१) प्रोटीन (२) वसा जातीय उपादान (३) शर्करा (कार्बोहाइड्रेट) (४) खाद्योज या विटामिन।

अजैव पदार्थ—(१) जल (२) **खनिज** (लवण जातीय उपादान)

आवश्यक पोषाहार

भिन्न-भिन्न भोजनों के अवयवों की विशिष्ट मात्रा को जलाने से जो ऊष्मा उत्पन्न होगी वही उनके द्वारा उत्पन्न हुई शक्ति समझी जाती है। इसे **कैलोरी** में प्रदर्शित किया जाता है। विश्व-संघ-आयोग-विशेषज्ञ के द्वारा निरूपित कैलोरी आवश्यकता आँकड़ों का चयन नीचे किया गया है :—

सामान्य व्यक्ति (कार्यरहित)	२४००	कैलोरी प्रतिदिन
हल्का कार्य	७५	कैलोरी प्रतिघंटा
मध्यम कार्य	७५—१००	कैलौरी प्रतिघंटा
कठिन कार्य	१५०—३००	कैलौरी प्रतिघंटा
बहुत कठिन कार्य	३०० से ऊपर	कैलोरी

आयु	कैलोरी प्रतिदिन
सामन्य व्यक्ति (पुरुष)	२६००
सामान्य व्यक्ति (स्त्री)	२०८०
बच्चे (१२ और १३ वर्ष)	२०८०
(१० और ११ वर्ष)	१८२०
(८ और ९ वर्ष)	१५६०
(६ और ७ वर्ष)	१३००
(४ और ५ वर्ष)	१०४०
(२ और ३ वर्ष)	७८०
(० और २ वर्ष)	५२०
पुरुष (कठिन कार्य)	२८००-३०००
गर्भिणी स्त्री	२४००
औपचारिक स्त्री	३०००

भोजन के विषय में एक बात आवश्यक ध्यान में रखनी चाहिए कि वह संतुलित हो अर्थात् उसमें प्रोटीन, वसा, खाद्योज आदि सभी आवश्यक तत्व उचित मात्रा में हों।

(१) प्रोटीन

इस जाति के उपादान हमारे शरीर में मांस पैदा करते हैं। इस जाति के पदार्थ में नाइट्रोजन अधिक परिमाण में रहते हैं। हमारे शरीर में छोटे-छोटे कोष हैं, वे सभी प्रधानतः प्रोटोप्लाज्म नामक नाइट्रोजन पदार्थ से बने हुए हैं। इस जाति के खाद्य से मांस-पेशी और शरीर के अन्यान्य भागों के क्षय की पूर्ति होती है। शरीर के वृद्धि, गर्भावस्था एवं दूध पैदा होने की अवस्था में प्रोटीन की अधिक आवश्यकता पड़ती है। शारीरिक

दहन क्रिया तथा कुछ परिमाण में इनसे ऊष्मा और शक्ति भी पैदा होती है।

प्रोटीन

आयु और वर्ग	ग्राम प्रतिदिन
पुरुष १८ से ६०	६५
स्त्री १८ से ६०	५५
लड़का १० से १७	८०
लड़की १० से १७	७०
बच्चे १० से १७	६०
बच्चे २ में ६	४० से ५०

पनीर, मछली, अंडे का सफेद अंश, दाल, इस जाति के खाद्य के अन्तर्गत हैं।

(२) मक्खन जातीय या वसा

मक्खन, घी, तेल, चर्बी आदि पदार्थ इसके अन्तर्गत आते हैं। इसमें नाइट्रोजन नहीं होता है, केवल कार्बन, आक्सिजन और हाइड्रोजन रहता है। इस जाति के पदार्थ का प्रधान कार्य, शक्ति, उष्मा देना है। वसा उपादानों के द्वारा दूसरे खाद्य पदार्थों के पचने में भी विशेष सहायता मिलती है।

(३) शर्करा जातीय उपादान (कार्बोहाइड्रेट)

इस जाति के उपादान से शरीर में मेद और शक्ति उत्पन्न होती है। वसा खाद्य पदार्थों में अधिक उष्मा पैदा होती है। मांस, मछली के द्वारा ही शक्ति पैदा होती है, यह मिथ्या या भ्रमपूर्ण विश्वास है। मांस उपादानों से हमारे शरीर की मांस पेशियों आदि का क्षय पूरा होता है। वसा खाद्य पदार्थों से हमारे शरीर में प्रकृत बल और शक्ति का संचार होता है।

(४) खनिज

शरीर में भौतिकी और औतिकी क्रियाओं को संचालित करने के लिए खनिज उपादानों की बहुत अधिक आवश्यकता पड़ती है। भोजन के साथ नमक मिले रहने के कारण मुँह से बहुत ज्यादा परिमाण में लार निकलती है। शरीर की अस्थियों के निर्माण में मूलतः कैलशियम और पोटास का ही सहयोग होता है।

कैल्सियम

कैल्सियम की प्रमुखता, दूध, मथे दूध और हरी सब्जी और शाकीय पदार्थों में अधिक होती है। कैल्सियम की आवश्यकता सामान्य व्यक्ति एवं बच्चे के लिए क्रमशः ०·६८ ग्राम और १ ग्राम प्रतिदिन होती है। कैल्सियम का श्रेष्ठ स्रोत दुग्ध है पर हरी भाजियों एवं प्रमुख अन्नों जैसे रागी (Ragi) के द्वारा भी अधिक मात्रा में मिलता है।

फास्फोरस

कैल्सियम की अधिकता होने से फास्फोरस की भी आवश्यकता अधिक पड़ती है क्योंकि अस्थि संस्थान के निर्माण में दोनों का पारस्परिक सहयोग होता है। १ ग्राम प्रतिदिन फास्फोरस की आवश्यकता आपेक्षित है। विभिन्न अन्नों में इसकी मात्रा अधिक पाई जाती है पर पकाते समय इसकी मात्रा में ह्रास होता है।

लोह

मांश पेशियों के निर्माण में पोटैशियम की जितनी आवश्यकता होती है, और मस्तिष्क के लिए फास्फोरस की, उसी तरह रक्त के लिए लोह लवण उपयोगी ही नहीं आवश्यक समझे गये हैं। इनकी कमी से विभिन्न प्रकार के रोग उत्पन्न हो सकते हैं। प्रतिदिन २० मिलीग्राम लोह लवण की आवश्यकता शरीर की वृद्धि के लिए उपादेय है।

खाद्योज या विटामिन

विटामिन शब्द का अर्थ है कार्बनिक क्षारीय पदार्थ जो जीवन के लिये आवश्यक हों। इनकी संख्या कई है।

"खाद्योज ए"

यह खाद्योज शरीर के निर्माण में सहायक होता है और उसकी वृद्धि करता है। इसकी कमी से शरीर के भीतर ऐसे कीटाणु उत्पन्न हो जाते हैं जो रोगों को शीघ्र बढ़ा देते हैं। इसकी कमी के कारण निशान्धता उत्पन्न होती हैं।

"खाद्योज बी"

इसके कई रूप हैं पर इनमें मुख्य दो हैं—बी$_1$, बी$_2$। नष्ट शक्ति की पूर्ति में खाद्योज "बी" का प्रयोग होता है। नींबू, नारंगी, सेब, अंगूर, मटर, सेम, दाल, पात गोभी, दूध, दूध से बनी चीजें, अंडे का पीला भाग, बिना मशीन किया चावल, हरे शाक, आदि में यह खाद्योज होता है। इसकी न्यूनता से पैलेग्रा, स्टोमैटिरिस, व्याधियाँ होती हैं।

"खाद्योज सी"

यह खाद्योज "स्कर्वी" नामक रोग को रोकने वाला श्रेष्ठ जीवनदायी उपादान है। टमाटर, नींबू, नारंगी, हरे शाक, पात गोभी, अन्य ताजे फलों, अंकुरित चना और मटर आदि में बहुतायत से पाया जाता है। शरीर के तन्तुओं को स्वस्थ रखने के लिए उपयोगी होता है। इसकी कमी से मसूड़ों में सूजन, पायरिया, संक्रामक रोग, सर्दी लगना, स्कर्वी का रोग हो जाता है।

"खाद्योज डी"

यह खाद्योज शरीर में कैलशियम और फास्फोरस को प्रयोग करने में सहायक होता है। इसकी सहायता से हड्डियाँ और दाँत सुदृढ़ होते हैं। इसकी न्यूनता से हड्डियाँ कमजोर हो जाती हैं। बच्चों में सूखा रोग और सामान्य लोगों में "कैरीज" रोग इस खाद्योज की कमी से होता है। यह प्रमुखतया दूध, मक्खन, काड मछली के तेल, हैलीवट मछली और हरी तरकारियों में पाया जाता है।

"खाद्योज ई"

इसका प्रभाव प्रजनन शक्ति पर पड़ता है। बहुधा प्रजननेन्द्रिय की निर्बलता और अशक्यता को दूर करने में पुरुष और स्त्री दोनों वर्गों के लिये प्रयोग किया जाता है। यह प्रायः अंडे के पीले भाग, दूध, मक्खन, केला, हरे शाक में अधिक पाया जाता है।

"खाद्योज के"

शरीर के रक्त को ठीक करने के लिए तथा पेट की सफाई के लिये यह खाद्योज उपयोगी है। रक्त में एक गुण होता है कि वह बाहर निकलने पर स्वयं ऊपर से जम जाता है जिससे अधिक रक्त बाहर न निकले। इस गुण के लिये विटामिन "के" का होना आवश्यक है। यह बहुधा हरे शाकों में पाया जाता है।

आहार का उपक्रमण

जान्तव या उद्भिद से उत्पन्न भोजन परिवर्तन करने से जीवन धारण किया जाता है। दन्त की अवस्था और अन्न नली की परीक्षा करने से यही दृष्टिगोचर होता है कि मनुष्य आमिष-भोजी जीव है। एक मनुष्य के लिए या किसी विद्यार्थी के लिये नित्य जिस खाद्य की आवश्यकता पड़ती है वह नीचे दिया जा रहा है।

चावल	२½ छटाँक
दाल	१ छटाँक
मांस	३ छटाँक
आलू इत्यादि	५ छटाँक
मैदा	४ छटाँक
सूजी	१ छटाँक
घी या तेल	¾ छटाँक
चीनी	½ छटाँक
दही	२ छटाँक

इस खाद्य से ३२० ग्रेन नाइट्रोजन, ४५०० ग्रेन कार्बन और ३००० कैलोरी शक्ति मिलती है।

चावल का उपयोग करने वाले प्रदेशों के लिए निम्नलिखित आहार अभिस्तावित है।

चावल	१५ औंस
दूध	१ औंस
दाल	१ औंस
बैंगन	१ औंस
भिंडी	०.५ औंस
तेल	०.५ औंस

इस आहार से निम्न तत्व मिलते हैं :

प्रोटीन	३८ ग्राम
वसा	१६ ग्राम
कार्बोहाइड्रेट	३५७ ग्राम
कैलोरी	१७५० ग्राम

कैल्सियम	०·१६ ग्राम
फास्फोरस	०·६० ग्राम
लौह	६०० मिलीग्राम
खाद्योज ए	५०० इन्टरनेश-नल यूनिट
,, बी	१६० ,,
,, सी	१५·० मि० ग्राम

संतुलित भोजन की तालिका नीचे दी जाती है :

	पौंड	औंस
चावल	०	१०
बाजरा	०	५
दूध	०	८
दाल	०	३
बिना पत्ते के शाक	०	६
शाक	०	४
तेल	०	२
फल	०	२

इस आहार से प्राप्य पौष्टिक तत्वों की सूची निम्न है :

प्रोटीन	७३ ग्राम
वसा	७४ ग्राम
कार्बोहाइड्रेट	४०८ ,,
कैलोरी	२५६० ,,
कैल्सियम	१·०२ ग्राम
फास्फोरस	१·४७ ग्राम
लौह	४४०० मि० ग्राम
खाद्योज ए	७००० इन्टरनेश-नल यूनिट
,, बी	४०० ,, ,,
,, सी	१७०·० मी० ग्राम

श्रेष्ठ एवं संतुलित भोजन से निम्न तत्वों की पूर्ति होती है :

प्रोटीन	६० ग्राम
वसा	८० ग्राम
कार्बोहाइड्रेट	४८० ग्राम
कैलोरी	३००० ग्राम

क्या मौसम पर काबू पाया जा सकता है ?

एस० एल० ढींगरा

"हर व्यक्ति मौसम की बात तो करता है, पर ऐसा कोई नहीं जो उसके बारे में कुछ करता-धरता भी हो।" अमेरिका के महान् व्यंग्य-लेखक मार्क ट्वेन ने यह बात १०० वर्ष पूर्व हलके ढंग से शिकायत करते हुए कही थी। पर तब से मौसम के बारे में बहुत कुछ किया जा चुका है—न केवल उसकी भविष्यवाणी करने के सिलसिले में बल्कि उस पर काबू पाने की दृष्टि से भी।

अमेरिका के 'टाइरोस' और 'निम्बस' नामक कृत्रिम भू-उपग्रहों की मदद से संसार में मौसम के बारे में भविष्यवाणी करने की दृष्टि से बहुत बड़ी प्रगतियाँ की गई हैं। अमेरिकी वैज्ञानिक उस दिन की प्रतीक्षा में हैं जब कृत्रिम उपग्रहों की मदद से गणना-यन्त्र पृथ्वी के किसी भी भाग के बारे में तुरन्त मौसम सम्बन्धी भविष्यवाणियाँ कर सकेंगे।

मौसम सम्बन्धी भविष्यवाणी के लिए एक विश्वव्यापी व्यवस्था की स्थापना की दिशा में पहला कदम इस वर्ष १ जनवरी को उठाया गया जब अमेरिका ने राजधानी वाशिंगटन में एक 'विश्व ऋतु केन्द्र' खोला। यह केन्द्र संसार के अधिकांश आबाद इलाकों के मौसम के बारे में भविष्यवाणियाँ तैयार करके उनका वितरण करेगा।

इस योजना के अन्तर्गत, ऐसे दो और केन्द्र खोले जाने की योजना है— एक तो मैलबर्न (आस्ट्रेलिया) में और दूसरा मास्को (रूस) में। इन दोनों केन्द्रों में विद्युदणु साधनों द्वारा मौसम सम्बन्धी आंकड़ों को ग्रहण करने, उनका विश्लेषण करने और उन्हें तैयार करके अन्य स्थानों को भेजने की व्यवस्था होगी। मौसम सम्बन्धी विश्व संगठन (वर्ल्ड मीटिओरोलौजिकल ऑर्गनाइजेशन) का कहना है कि जब तीनों केन्द्र चालू हो जायेंगे, तब संसार भर के दिन-प्रतिदिन के मौसम का पूरा चित्र प्राप्त होने लगेगा। इससे मौसम के बारे में अधिक सही और काफी पहले भविष्यवाणियाँ की जा सकेंगी।

वैज्ञानिक मान्यताओं पर आधारित भविष्यवाणियाँ, कुछ समय पहले तक, सामान्यतः संसार के उन आबाद क्षेत्रों तक सीमित रहीं हैं, जहाँ मौसम का पता लगाने वाले केन्द्रों का काफी बड़ा जाल बिछा हुआ है। भूमण्डल के बहुत से भागों में इस प्रकार के केन्द्र नहीं हैं। इन क्षेत्रों में अक्सर बड़े तूफान आ जाते हैं। इनका पहले से कुछ पता नहीं चलता और वे आबाद इलाकों की ओर बढ़ने लगते हैं। कभी-कभी तूफान का पता इतनी देर में चलता है कि लोगों को अपने जानमाल की रक्षा के लिए चेतावनी देना सम्भव नहीं होता। वस्तुतः संसार के तीन-चौथाई भाग, विशेषकर विशाल समुद्री क्षेत्रों के बारे में मौसमशास्त्रियों को कोई जानकारी नहीं रही है।

अब तक मुख्यतः गुब्बारों के द्वारा ही ऊपरी वायुमण्डल के बारे में जानकारी प्राप्त की जाती रही है और समुद्रों तथा गैर आबाद इलाकों में इन गुब्बारों को उड़ाना कभी भी आर्थिक दृष्टि से व्यावहारिक नहीं रहा।

अब 'टाइरोस' और 'निम्बस' नामक कृत्रिम उपग्रहों की सहायता से, पहली बार सारे संसार के मौसम का पता लगाना सम्भव हो गया है। इन उपग्रहों के कारण मौसम के इतिहास में एक नई घटना हो गई है और मौसम के पर्यवेक्षण की दृष्टि से एक नया युग आरम्भ हो गया है।

हाल में, भारत समेत बहुत से देशों को मौसम की सूचना देने वाले अमेरिकी उपग्रहों से अपने-अपने क्षेत्रों के बादलों के चित्र प्राप्त करने के लिए स्थलीय केन्द्रों की आवश्यक सामग्री प्राप्त हुई है।

'टाइरोस-१' नामक उपग्रह १९६० में छोड़ा गया था। तबसे छोड़े गये 'टाइरोस' उपग्रहों में लगे टैलिविजन कैमरों से बादलों के ३ लाख से अधिक उपयोगी चित्र प्राप्त हो चुके हैं। इनमें से कुछ चित्र बम्बई के मौसम सम्बन्धी केन्द्र में ग्रहण किये गये हैं। संसार भर में वितरित इन चित्रों की सहायता से, ऋतुशास्त्रियों के लिए मौसम के बारे में बहुत पहले से भविष्यवाणी करना और उठते हुए तूफान का पता लगाना सम्भव हो गया है।

यद्यपि 'टाइरोस' और 'निम्बस' उपग्रहों से बादलों के बहुत अच्छे चित्र प्राप्त हुए हैं, किन्तु ये उपग्रह मौसम की भविष्यवाणी करने के लिए अन्य सूचनाएँ एकत्र करने में असमर्थ हैं। इस प्रकार की सूचनाओं के अन्तर्गत वायुमण्डलीय दबाव, वायु की गति और दिशा, वायुमण्डल का तापमान और उसकी आर्द्रता सम्बन्धी जानकारियाँ सम्मिलित हैं। इस समय पृथ्वी पर स्थापित परम्परागत मौसम-अनुसन्धान केन्द्र इस प्रकार की सूचनाएँ एकत्र करते हैं।

वायुमण्डल का विवरण प्रस्तुत करना एक बात है, किन्तु आगे होने वाली घटनाओं की भविष्यवाणी करना इससे सर्वथा भिन्न बात। भू-उपग्रह यह बतलाता है कि इस समय स्थिति ठीक-ठीक क्या है। जब टाइरोस और निम्बस से हमें बादलों का कोई चित्र प्राप्त होता है, तो वह हमें केवल उन बादलों की जानकारी प्रदान करता है जो इस क्षेत्र पर उस समय छाये होते हैं। वह यह नहीं बताता कि १२ घण्टे बाद बादल कहाँ पर होंगे। अतः पर्यवेक्षण द्वारा प्राप्त आँकड़ों का अपेक्षाकृत अधिक लाभ उठाने के लिए उपयुक्त उपाय ढूँढने के उद्देश्य से पर्याप्त अनुसन्धान की आवश्यकता है।

और बौलडर (कोलोराडो) का वायुमण्डलीय अनुसन्धान सम्बन्धी राष्ट्रीय केन्द्र (नेशनल सेण्टर फौर एटमौस्फियरिक रिसर्च) ने यही कार्य प्रारम्भ किया है। यह सम्भवतः विश्व की सबसे बड़ी आधारभूत मौसम अनुसन्धान प्रयोगशाला है। बहुत से दूसरे ऋतु वैज्ञानिकों की प्रवृत्ति के विपरीत यहाँ के वैज्ञानिकों की दिलचस्पी मौसम सम्बन्धी भविष्यवाणी के लिए आँकड़े एकत्र करने में नहीं है। वे तो सम्पूर्ण वायुमण्डल के विषय में एक सामान्य सिद्धान्त की खोज कर रहे है, जो इस बात को स्पष्ट कर सके कि वायुमण्डल की गतिविधियाँ इस प्रकार क्यों हैं।

केन्द्र का यह प्रयास अत्यन्त महत्वपूर्ण है, क्योंकि किसी एक क्षेत्र की मौसम सम्बन्धी स्थिति हजारों मील दूर की भौतिक और रासायनिक घटनाओं का, जिनसे देखने में उसका कोई सम्बन्ध प्रतीत नहीं होता, परिणाम हो सकती है। केन्द्र के एक सहायक निदेशक तथा अमेरिकन मिटिअरोलोजिकल सोसायटी के अध्यक्ष, डा० फिलिप डी० थाम्पसन, के अनुसार, इस समय इन दूरस्थ घटनाओं में से अनेक के विषय कोई आँकड़े उपलब्ध नहीं।

अपने लक्ष्य की दिशा में अग्रसर होने के लिए केन्द्र ने अनेक क्षेत्रों—भौतिक विज्ञान, गणित, तथा ऋतु विज्ञान—के प्रमुख वैज्ञानिकों को वायुमण्डल के प्रत्येक सम्भव पहलू का अध्ययन करने के लिए एकत्र किया है।

ये वैज्ञानिक जिन समस्याओं को हल करने का प्रयत्न कर रहे हैं, उनमें वायु-संचरण, वायुमण्डल और उसके नीचे के समुद्र और धरातल के बीच क्रिया-प्रतिक्रिया, पृथ्वी के धरातल के मौसम पर ब्रह्माण्ड की गतिविधियों का प्रभाव जैसी बातें सम्मिलित हैं।

केन्द्र को आशा है कि जब ये सभी अंशगत तथ्य एकत्र और सुसम्बद्ध कर दिये जायेंगे, तो उनके आधार मौसमी गतिविधियों के विषय में एक सामान्य सिद्धान्त का प्रतिपादन करना सम्भव हो जायगा। इन परिश्रमों का अंतिम परिणाम अत्यन्त व्यावहारिक सिद्ध हो सकता है। सच तो यह है कि इसके आधार पर ६-६ महीने तक की मौसमी स्थिति के विषय में भविष्यवाणी की जा सकेगी। हो सकता है कि इसकी सहायता से विश्वव्यापी आधार पर मौसम पर नियंत्रण रखना भी सम्भव हो जाय।

इस समय कितने समय पूर्व मौसम सम्बन्धी भविष्यवाणी की जा सकती है ?

इस समय मौसम की स्थिति के बारे में लगभग २४ घण्टे पहले भविष्यवाणी करने के लिए पर्याप्त नैपुण्य उपलब्ध है। उसके बाद निपुणता का क्रमशः लोप होता जाता है। अभी भी हम ५ दिन पूर्व तक की भविष्य-वाणी करने में पर्याप्त मात्रा में समर्थ हैं।

कुछ मौसम वैज्ञानिकों का मत है कि मनुष्य १० दिन से अधिक की मौसम सम्बन्धी भविष्यवाणी करने में कभी भी सफल नहीं हो सकेगा। किन्तु राष्ट्रीय केन्द्र के निदेशक, डा० वाल्टर ओर राबर्टस् इस सम्बन्ध में 'सतर्कतापूर्ण आशावादी' हैं कि ५ से लेकर १० वर्ष तक की अवधि में ३ से ६ महीने तक की मौसम सम्बन्धी भविष्यवाणी करना सम्भव हो जायगा।

दीर्घकाल सम्बन्धी भविष्यवाणी के सम्भाव्य आर्थिक लाभ अगणित हैं। उदाहरण के लिए, यदि मौसम की सही भविष्यवाणी ठीक पाँच दिन पूर्व की जा सके, तो 'नैसा' के अनुमान के अनुसार, अकेले अमेरिका में कृषि में ३ अरब डालर, धरातली परिवहन में १० करोड़ डालर, फुटकल व्यवसाय में ७.५ करोड़ डालर तथा नल-उद्योग में ४.५ करोड़ डालर की बचत होगी।

अमेरिका में मौसम नियंत्रण या मौसम सुधार की व्यवहार्यता का पता लगाने के लिए एक नियंत्रित कार्यक्रम चालू है। उदाहरण के लिए, यह बात बहुत कुछ निश्चित हो चुकी है कि हम कुछ तापमान की स्थितियों में कुहरे और नीचे घिर आये बादलों को तितर-बितर कर सकते हैं। हिमपात की रोकथाम में भी कुछ सफलता मिल चुकी है। फिर, घन-निर्माण द्वारा जलवर्षण में वृद्धि की सम्भावनाएँ भी हैं। मौसम सम्बन्धी सुधार के कई अन्य पहलू—जैसे तूफानों की दिशा मोड़ना, भयंकर तूफान को तितर-बितर करना—भी हैं। किन्तु ये विशाल पैमाने की चीजें हैं।

यदि मौसम में न्यून सुधार भी सम्भव हो जाय तो उससे विश्व को अमित लाभ हो सकते हैं—उस विश्व को जहाँ तीन-चौथाई जनसंख्या मौसम की उग्रता—अतिताप, अतिशीत, अति शुष्कता आदि—के कारण भूतल के केवल एक-चौथाई भाग पर आबाद हैं।

●●

(शेषांश पृष्ठ ८७ का)

(युद्ध देवता का लोक) ले जाती है। हडसन की खाड़ी के क्षेत्र में रहने वाले कनाडियन एस्किमो का विश्वास है कि यह 'प्रकाश' (अरौरा) वस्तुतः एक प्रकार की ऐसी लालटेनें हैं, जिनका उपयोग दानव लोग भूली-भटकी आत्माओं को खोजने के लिए करते हैं।

हाल के वर्षों में यंत्रों से सज्जित उपग्रहों, विशेष रूप से वेनगार्ड और एक्सप्लोरर उपग्रहों द्वारा भेजी गई अत्यन्त उल्लेखनीय सूचनाओं के फलस्वरूप वायुमण्डल के भौतिक गुणों तथा उसके बाहर स्थित अन्तर्ग्रही अन्तरिक्ष के बारे में हमारी जानकारी में बहुत अधिक वृद्धि हुई है। नया केन्द्र इन समस्त आंकड़ों का उपयोग कर रहा है।

१९५८ के प्रारम्भ में, एक्सप्लोरर-१ ने ऐसी महत्वपूर्ण खोज की, जिसे सम्भवतः भूभौतिक वर्ष की सबसे महत्वपूर्ण खोज की संज्ञा दी जा सकती है—इसने पृथ्वी से लगभग २ हजार मील की ऊँचाई पर तीव्र विकिरण की एक ऐसी भट्टी की विद्यमानता का पता लगाया, जिसका पता वैज्ञानिकों को इसके पूर्व नहीं लग सका था। इस विकिरण पट्टी का नाम यह महत्वपूर्ण खोज करने वाले, वैज्ञानिक दल के नेता डा० जेम्स ए० वान एलेन के नाम पर रखा गया।

१९६४-६५ में सूर्य और उसके वायुमण्डल के सम्बन्ध में व्यापक अनुसन्धान किया जाएगा। इस वर्ष को शान्त सूर्य के अन्तर्राष्ट्रीय वर्ष की संज्ञा दी गई है, क्योंकि इस वर्ष सौर-हलचल न्यूनतम स्तर पर रहेगी।

जिस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय भूभौतिक वर्ष में संसार के ६६ देशों और १० हजार से अधिक वैज्ञानिकों ने मिलकर विश्व से सम्बन्धित आँकड़ों का अभूतपूर्व संग्रह किया था, लगभग उसी प्रकार 'शान्त सूर्य के वर्ष में' भी विश्व भर के वैज्ञानिक विभिन्न प्रकार के अनुसन्धानों में संलग्न रहेंगे। उनके द्वारा पृथ्वी की पपड़ी से लेकर अन्तरग्रही-अन्तरिक्ष तक के सम्बन्ध में अनुसन्धान किए जाएँगे।

●●

वैज्ञानिकों द्वारा वायुमण्डल और जलवायु के सम्बन्ध में अनुसन्धान

अमेरिका में वायुमण्डल और उससे परे विद्यमान अन्तरिक्ष सम्बन्धी नवीन एवं व्यापक अनुसन्धान का विकास एवं विस्तार हो रहा है। इस अनुसन्धान का उद्देश्य अपने चारों ओर विद्यमान समस्त वातावरण के बारे में मनुष्य क जानकारी में और अधिक वृद्धि करना तथा सम्भवतः कुछ हद तक अपनी सबसे पुरानी और कठिन समस्या 'मौसम' पर कुछ सीमा तक नियंत्रण प्राप्त करना है।

इस कार्यक्रम के एक भाग के रूप में सार्वजनिक धन द्वारा संचालित 'नेशनल सेन्टर फौर एटमौसफैरिक रिसर्च' के लिए बोल्डर नगर के सामने रॉकी पर्वतमाला में एक ऊँचे पठार पर स्थित ५७० एकड़ भूमि पर अनेक परीक्षणशालाओं का निर्माण किया जाएगा।

इस केन्द्र की स्थापना १९६० में हुई थी। इसकी योजना ऋतु-विज्ञान के सम्बन्ध में उच्च शिक्षा प्रदान करने वाली अमेरिकी शिक्षण संस्थाओं द्वारा तैयार की गई और उन्होंने ही मिल कर इसकी स्थापना की। उन्होंने मिलकर 'यूनिवर्सिटी कार्पोरेशन फौर एटमौसफैरिक रिसर्च' की स्थापना की। धन की व्यवस्था एक सरकारी अमेरिकी एजेंसी 'नेशनल साइन्स फाउण्डेशन' (राष्ट्रीय विज्ञान प्रतिष्ठान) द्वारा की गई।

कार्पोरेशन ने निदेशक के पद पर डा० वाल्टर ओ० राबर्ट्स को नियुक्त किया है। डा० राबर्ट्स इसके पूर्व कई वर्षों तक क्लिमैक्स (कोलोराडो) स्थित 'हाई एल्टीट्यूड आवजरवेटरी' (ऊँचाई पर स्थित वेधशाला) के निदेशक रह चुके हैं। यह वेधशाला, जो अब बोल्डर स्थित नए अनुसन्धान-केन्द्र के साथ मिला दी गई है, प्रारम्भ में एक सामान्य सूर्य निरीक्षण स्टेशन मात्र थी। लेकिन अब इसकी गणना संसार की प्रसिद्ध अनुसन्धान-शालाओं में होती है। यह प्रकृति और सूर्य की गति-विधियों के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण और अग्रणी अनुसन्धान कार्य करने के लिए पर्याप्त ख्याति अर्जित कर चुकी है।

डा० राबर्ट्स का विश्वास है कि नए केन्द्र को मूलतः एक ऐसा बौद्धिक केन्द्र होना चाहिए, जो नए विचारों और नए सिद्धान्तों का विकास करने में संलग्न रहे। यह एक ऐसा स्थान है, जहाँ मनन-शक्ति का स्थान बड़ी-बड़ी और खर्चीली मशीनों को नहीं दिया गया है।

१९६२ के उत्तरार्द्ध में इस केन्द्र में कर्मचारियों की संख्या ५० थी किन्तु १९६५ तक यह संख्या बढ़ कर ४०० तक पहुँच जायगी। इनमें से आधे वैज्ञानिक तो स्थायी रूप से केन्द्र के कर्मचारी होंगे तथा शेष आधे वैज्ञानिकों की सेवाएँ अन्य संस्थाओं से उधार रूप में प्राप्त की जाएँगी।

यहाँ भौतिकशास्त्रियों, रसायनशास्त्रियों, ज्योतिष-शास्त्रियों, गणितज्ञों और इंजीनियरों के पारस्परिक मिलन के फलस्वरूप बौद्धिक विचारों के आदान-प्रदान को प्रोत्साहन मिलेगा। इस केन्द्र में अमेरिका के सभी भागों तथा संसार के अन्य राष्ट्रों के प्रतिभाशाली वैज्ञानिक एकत्र होंगे।

बादलों सम्बन्धी अनुसन्धान के लिए विख्यात डा० पैट्रिक स्कवायर्स आस्ट्रेलिया से बोल्डर पहुँच भी गए हैं। दक्षिण अफ्रीका की रोड्स यूनिवर्सिटी के डेविड बर्नेट दो वर्षों से यहाँ ब्रह्माण्ड भौतिक-विज्ञान का अध्ययन कर रहे हैं।

डेनमार्क से डा० अकसेल विन-नेल्सन यहाँ आ चुके हैं। ये 'डायनमिक्स और कम्प्यूटर सिस्टम्स' के विशेषज्ञ हैं। म्यूनिख, जर्मनी के 'मैक्सप्लेंक इंस्टिट्यूट फौर फिजिक एण्ड एस्ट्रोफिजिक' नामक संस्थान के प्लाजमा-

विशेषज्ञ तथा अयनमण्डल अनुसन्धानकर्ता डा० फ्रेडरिक मेयर एक वर्ष के लिए यहाँ आए हैं।

यह 'केन्द्र' भूमि और समुद्र से सूर्य और अन्तरिक्ष के सम्बन्ध में अनुसन्धान करेगा। यह उन सभी तत्वों का अध्ययन करेगा जो पृथ्वी और उसके वायुमण्डल को किसी न किसी रूप में प्रभावित करते हैं।

'केन्द्र' द्वारा जो आधुनिक उपकरण प्रयुक्त किए जाएँगे, उनमें 'इन्फ्रा रेड सेंसिंग डिवाइसेज' तथा काफी दूरी से बादलों का अध्ययन करने वाली रडार प्रणाली 'मेटियरोलौजिकल रडार' भी शामिल होंगे। अन्तरिक्ष-राकेटों और उपग्रहों का भी इस्तेमाल किया जाएगा। अनुसन्धान की प्रक्रिया में संकलित आंकड़ों का वर्गीकरण और विश्लेषण करने के लिए एक बड़े विद्युदणु गणक-यंत्र का उपयोग किया जायगा।

'केन्द्र' की अनुसन्धान-योजना में हरीकेन तूफानों और उपल-वृष्टि की विनाशक क्षमता को कम करने के सम्भावित उपायों के बारे में खोज करने की बात भी शामिल है। इसके अलावा 'केन्द्र' कुछ अन्य महत्वपूर्ण विषयों—वायुमण्डलीय विद्युत और 'वर्षा करने वाली प्रणाली' के सम्बन्ध में अनुसन्धान करेगा।

केन्द्र के लक्ष्यों को निम्न तीन श्रेणियों में वर्गीकृत किया जा सकता है :

● वायुमण्डल के सम्बन्ध में उससे कहीं अधिक और गहन जानकारी प्राप्त करना, जो विज्ञान द्वारा अब तक सुलभ की जा सकी हैं।

● ● मौसम के बारे में भविष्य वाणी करने के लिए इस समय सुलभ विधियों से अधिक विश्वसनीय और प्रामाणिक विधियों की खोज करना।

● ● ● मौसम को नियन्त्रित करने अथवा स्थानीय प्रादेशिक और महाद्वीपीय आधार पर कम से कम कुछ सीमा तक उसमें परिवर्तन करने सम्बन्धी सभी सम्भव उपायों की व्यावहारिक रूप में जानकारी प्राप्त करना।

'केन्द्र' वायुमण्डल रूपी जिस 'सुरक्षात्मक' ढाल के सम्बन्ध में अनुसन्धान कर रहा है, वह कितनी विस्तृत है ?

आज से २ हजार वर्ष पूर्व ग्रीस के प्रसिद्ध ज्यामित्त शास्त्री एवं ज्योतिषशास्त्री एरातसस्थनीज ने सही हिसाब लगाकर बताया था कि पृथ्वी का व्यास लगभग ८ हजार मील है। १०० वर्ष पूर्व तक वैज्ञानिकों की यह मान्यता थी; वायुमण्डल के कारण इस व्यास में बहुत मामूली वृद्धि होगी। लेकिन अब यह पता चल गया है कि वायुमण्डल की ऊँचाई बहुत अधिक, पृथ्वी के व्यास से कई गुना अधिक, है।

पिछली शताब्दियों में मनुष्य ने वायुमण्डल की विशेषताओं और गुणों के बारे में बहुत जानकारी प्राप्त की है। गैलीलियो के पदचिन्हों का अनुसरण करते हुए इटैलियन वैज्ञानिक इवेंजलिस्टा तोरीसेली ने १८६३ में विश्व के प्रथम बैरोमीटर की खोज की और यह सिद्ध कर दिया की वायु में भार होता है और वह दवाब डालने में भी समर्थ है।

मनुष्य वायु के समुद्र के नीचे वास करता है। इस समुद्र में वायु की घनता इतनी अधिक होती है कि समुद्रतल पर एक वर्ग इंच क्षेत्र में इसका दबाव १४ पौण्ड रहता है।

बोल्डर 'केन्द्र' ध्रुवीय आकाश में दृष्टिगोचर होने वाले उस तेज प्रकाश (अरौरा) का भी अध्ययन कर रहा है, जिसके बारे में वैज्ञानिकों की मान्यता है कि उसका सृजन अयनमण्डल में अयनों की हलचल के उग्र होने के कारण होता है। यह हलचल सौर विकिरण के कारण उग्र रूप धारण कर लेती है। प्राचीन काल से संसार के विभिन्न देशों में प्रकृति की इस आकर्षक परन्तु भयोत्पादक अवस्था के सम्बन्ध में विभिन्न प्रकार के अन्धविश्वास प्रचलित हैं।

प्राचीन नोर्स दन्तकथाओं के अनुसार अरौरा बोरियालिस (उत्तरी ध्रुव के ऊपर दृष्टिगोचर होने वाला प्रकाश पुंज) वस्तुतः उन सुनहरी ढालों का प्रतिबिम्ब है, जिन पर वालकेरीज (युद्धस्थल पर मडराने वाली युद्ध देवता की सुन्दर देवदूती जो यह निश्चित करती है कि किन योद्धाओं को वीरगति दिलाई जाए) मृत योद्धाओं की आत्माओं को बैठाकर 'वलहल'

(शेषांश पृष्ठ ८५ पर)

अन्तरिक्ष विज्ञान

क्या पृथ्वी के बाहर प्राणियों का अस्तित्व है ?

अन्तरिक्ष में हमारे अनुसन्धान का लक्ष्य क्या है ? निश्चय ही, यह लक्ष्य खगोल-गणना नहीं। असीम शून्यता अधिक से अधिक अत्यन्त गौण लक्ष्य हो सकती है। अन्तरिक्ष-यात्राओं से हमें दो अद्वितीय लाभ प्राप्त हुए हैं : हमारे अपने ग्रह के वास्तविक स्वरूप के सम्बन्ध में तथा अन्य ग्रहों के बारे में अधिक जानकारी। अन्तरिक्ष-अनुसन्धान की दिशा में सबसे पहले कक्षागत कृत्रिम उपग्रह —जो हमारे वायुमण्डल का विश्लेषण कर सकते हैं, मौसम की जानकारी प्रदान कर सकते हैं, संचार-सुविधाओं में वृद्धि तथा सुधार कर सकते हैं, मार्गदर्शन में योग दे सकते हैं अथवा समस्त विश्व के लिए उत्पन्न होने वाले दैवी संकटों की चेतावनी दे सकते हैं—अपना उपयोगी कार्य कर रहे हैं और पृथ्वी सम्बन्धी वैज्ञानिक जानकारी की वृद्धि कर रहे हैं। अब जबकि हम अधिक शक्तिशाली राकेटों का विकास करने में समर्थ हो गये हैं, हमें अपने अनुसन्धान का क्षेत्र अधिक विस्तृत करना चाहिए तथा अन्य ग्रहों के सम्बन्ध में खोज करनी चाहिए। अनुसन्धान के लक्ष्यों में एक प्रमुख लक्ष्य अन्य ग्रहों पर जीवन के अस्तित्व की सम्भावना की खोज करना (एक्सोबायोलोजी) होना चाहिए। इस क्षेत्र में आज अनुसन्धान करने की परमावश्यकता है, क्योंकि यह विज्ञान स्वयं के बारे में जानने पर विशेष बल देता है।

जीव-रसायन विज्ञान की दृष्टि से जीवन विकास की प्रक्रिया का अध्ययन करने की दिशा में जीवाणु-विज्ञान में अत्यन्त विलक्षण प्रगति की है। लेकिन, अभी तक इसके अध्ययन का क्षेत्र केवल हमारे अपने ग्रह के एक सूक्ष्म जीवाणु-कोष के अध्ययन तक ही सीमित रहा है। दूसरे शब्दों में, इसने केवल इस सम्बन्ध में अध्ययन किया है कि एक अत्यन्त सूक्ष्म जीवाणु-कोष ने किस प्रकार असीम ब्रह्माण्ड के एक छोटे से बिन्दु में जीवन का प्रादुर्भाव किया है।

स्टैनफर्ड स्थित अनुसन्धान-परीक्षणशाला इस समय अपना ध्यान मुख्यतः मंगल ग्रह पर एक यंत्र-पुंज उतार कर और उससे रेडियो-संकेत प्राप्त कर वहाँ विद्यमान जीवन-सम्बन्धी सम्भावनाओं का अध्ययन करने पर केन्द्रित कर रही है। चूँकि मंगलग्रह के धरातल के बारे में हमें अत्यन्त कम जानकारी प्राप्त है, अतएव प्रश्न यह उठता है कि हम किस प्रकार यह मालूम करें कि वहाँ हमें किस वस्तु की खोज करनी होगी अथवा वहाँ उतारे जाने वाले यंत्र-पुंज में किस प्रकार के प्रयोगों की व्यवस्था करनी होगी। सत्य तो यह है कि इस बारे में हम अभी कुछ नहीं तय कर पाये हैं। लेकिन, इस अनिश्चितता ने हमें निष्क्रिय नहीं किया है, केवल विनीत बनाया है। सबसे पहली बात तो यह है कि चूँकि हमारे राकेट-वाहन केवल निर्धारित भार ले जाने में ही समर्थ हैं, अतएव हम उनमें किसी अन्य ग्रह पर पाये जाने वाले किसी बड़े जीव-जन्तु को फँसाने वाले पिंजड़ों की व्यवस्था नहीं कर सकते। हमें अपना अनुसन्धान कार्य चुटकी भर धूल प्राप्त कर उसमें सूक्ष्म जीवाणुओं के अस्तित्व की खोज करने तक ही सीमित रखना होगा। यदि मंगल पर किसी प्रकार के जीवन का अस्तित्व है तो सम्भवतः हम शीघ्र ही इसका पता लगा लेंगे। कम से कम पृथ्वी पर सर्वत्र – वायु में, जल में तथा मिट्टी में—सूक्ष्म जीवाणुओं का अस्तित्व विद्यमान है।

हम क्या जानकारी प्राप्त करने का प्रयास करेंगे ? हम यह जानना चाहते हैं कि यदि मंगलग्रह पर जीवन का अस्तित्व है तो क्या वहाँ जीवन का प्रादुर्भाव पृथ्वी

के ढंग पर ही हुआ है ? विकास की यह गति कितनी तीव्र रही है ? विकास के किस चरण में जीवन के प्रादुर्भाव की यह प्रक्रिया पृथ्वी पर जीवन के विकास की प्रक्रिया से भिन्न हो गई ? हम लगभग पूर्ण निश्चय के साथ यह भविष्यवाणी कर सकते हैं कि मंगलग्रह पर जीवन का प्रारम्भिक रूप अवश्य विकसित हुआ है। भौतिकशास्त्र और रसायनशास्त्र के सामान्य सिद्धान्तों के अनुसार मंगलग्रह पर जिन अणु-समूहों की विद्यमानता का पता चला है, उनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि वहाँ कार्बन का अस्तित्व भी अवश्य होना चाहिए। हम स्पेक्ट्रोस्कोपिक निरीक्षण के बिना यह भविष्यवाणी कर सकने की स्थिति में हैं। हम यह नहीं कह सकते कि जीवन-प्रक्रिया के विकास की बायोगेनिक (जीवन-विकास प्रक्रिया की वह अवस्था, जिसमें जीवाणु अपनी संख्या में वृद्धि करने की क्षमता प्राप्त लेते हैं) अवस्था अभी वहाँ पहुँची है अथवा नहीं। अभी तक हमें ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति और विकास-प्रक्रिया की इतनी स्पष्ट जानकारी प्राप्त नहीं हो सकी है कि हम यह निर्णय कर सकें कि पृथ्वी ने जीवन-विकास की प्रक्रिया की 'केमोजेनी' (वह अवस्था जिसमें जीवन-प्रक्रिया प्रारम्भ करने वाले मूल जीवाणुओं का विकास होता है) अवस्था से बायोगेनिक अवस्था (वह अवस्था जब जीवाणुओं में अपनी संख्या बढ़ाने की प्रजनन-क्षमता आ जाती है) में २० अरब वर्ष पूर्व, ५० करोड़ वर्ष पूर्व अथवा इससे भी बाद में प्रवेश किया था। और, हम इस सम्बन्ध में भी निश्चयपूर्वक कुछ नहीं कह सकते कि मंगल ग्रह पर जीवन-विकास की प्रक्रिया ने 'कोगनोगेनी' (जीवन-विकास की वह अवस्था जिसमें प्रबुद्ध प्राणियों का अस्तित्व होता है) अवस्था को प्राप्त नहीं कर लिया है। पुनः, इस सम्बन्ध में भी भविष्य-वाणी करना अत्यन्त कठिन है कि 'बायोगेनिक अवस्था' से 'कोगनोगेनी अवस्था' को प्राप्त होने में कितना समय लगता है। हम इसकी उपेक्षा नहीं कर सकते; अपनी जाँच-पड़ताल में हमें न केवल इस समय मंगल ग्रह पर प्रबुद्ध जीवन के अस्तित्व की सम्भावना की खोज करने अपितु इस सम्भावना की खोज करने की बात भी शामिल करनी पड़ेगी कि ऐसा तो नहीं कि इससे पूर्व कभी मंगलग्रह पर प्रबुद्ध जीवन का अस्तित्व रहा हो और इस समय तक उसका अस्तित्व समाप्त हो गया हो।

इस दायरे के अन्दर, हम कई स्पष्ट प्रश्न तैयार कर सकते हैं। हमने आश्चर्य में डालने वाली अनेकानेक सम्भावनाओं को एक ऐसी तर्कसंगत एवं व्यवस्थित प्रश्नावली का रूप प्रदान कर दिया है, जिसके आधार पर हम तर्क-संगत सम्भावनाओं की खोज करने के लिए प्रयास प्रारम्भ कर सकते हैं।

अपनी प्रयोगशालाओं में, हम उन न्यूक्लियिक अम्लों और प्रोटीनों—वे जटिल कण-समूह, जो पृथ्वी पर पाये जाने वाले सभी प्रकार के जीवों में विद्यमान हैं—का पता लगाने पर विशेष ध्यान केन्द्रित कर रहे हैं। हमारा विश्वास है कि पृथ्वी के अलावा अन्य ग्रहों पर जीवन के अस्तित्व की सम्भावना का अध्ययन करने की दृष्टि से यह मालूम करना अत्यन्त महत्वपूर्ण है कि कितने विभिन्न ढंगों पर जीवन का विकास हो सकता है। इस समय जीवाणु-विज्ञान के समक्ष विद्यमान एक सबसे बड़ी चुनौती इस बात का पता लगाने की है कि क्या न्यूक्लियिक एसिड और प्रोटीन के अलावा अन्य तत्व भी हो सकते हैं, जिनसे जीवन का विकास हो सकता है।

अब तक जो परीक्षण किये गये हैं, उनमें अन्य ग्रहों पर अभियान-दल भेजना सबसे अधिक खर्चीला परीक्षण सिद्ध हो सकता है। लेकिन, साहसिक अन्वेषण करने सम्बन्धी स्वाभाविक मानवीय प्रवृत्ति का यह तकाजा है कि इस प्रकार के व्यय को वहन किया जाये। दांते ने लिखा है कि किस प्रकार यूलिसिस ने अपने साथियों को महासागर की यात्रा में अपने साथ शामिल होने के लिए प्रेरित किया था। दांते के अनुसार उसने अपने साथियों से कहा : "उन मौलिक तत्वों का स्मरण करो, जिनसे तुम्हारा निर्माण हुआ है। तुम्हारा जन्म पशुओं की तरह का जीवन व्यतीत करने के लिए नहीं, बल्कि गुणों और ज्ञान को पूर्णता प्रदान करने के लिए हुआ है...।" पश्चिम की परम्पराओं में पलने वाले इस प्रथम अन्वेषक के प्रेरणापूर्ण शब्द आज भी हमारा मार्ग-दर्शन कर रहे हैं।

प्रोजेक्ट जेमिनी : चन्द्र-यात्रा की दिशा में दूसरा ठोस कदम

डा० जौर्ज ई० मुलर

अमेरिका मानव-चालित अन्तरिक्षयान का विकास करने तथा अन्तरिक्ष अन्वेषण करने की दिशा में जो प्रयास कर रहा है, उनमें 'प्रोजेक्ट-जेमिनी' दूसरा महत्वपूर्ण चरण है।

पहला चरण 'प्रोजेक्ट-मरकरी' था, जिसने यह सिद्ध कर दिया कि मानव अन्तरिक्षयान के एक अभिन्न अंग के रूप में कार्य कर सकता है और वस्तुत: एक चालक की भूमिका ग्रहण कर वह 'प्रणाली' की विश्वसनीयता में काफी वृद्धि कर सकता है।

मरकरी-योजना के अन्तर्गत यात्रा करने वाले अन्तरिक्ष यात्रियों ने यह भी सिद्ध कर दिया है कि निरीक्षण द्वारा और स्वयं कार्य करके मानव अन्तरिक्ष अनुसन्धान में उल्लेखनीय योग प्रदान कर सकता है। प्रोजेक्ट-मरकरी का सबसे अधिक महत्वपूर्ण योगदान यह रहा कि इसने समानव अन्तरिक्ष यात्रा सम्बन्धी टेक्नोलोजी और संचालन-विज्ञान के विकास के लिए एक विस्तृत आधार सुलभ कर दिया है।

वस्तुत: जेमिनी योजना मरकरी और अपालो योजना के मध्य एक सेतु का कार्य कर रही है। अपालो योजना का लक्ष्य चन्द्रमा पर मनुष्य को उतारना और उसे सकुशल पृथ्वी पर वापस लाना है। हमें आशा है कि १९७० तक यह लक्ष्य प्राप्त कर लिया जाएगा।

प्रोजेक्ट जेमिनी के दो मुख्य लक्ष्य हैं—एक है दो सप्ताह तक की लम्बी अन्तरिक्ष यात्रा— वस्तुत: यह अन्तरिक्ष यात्रा अपालो योजना की चन्द्र यात्रा से भी लम्बी होगी क्योंकि इसमें चाँद तक पहुँच कर वापस लौटने में अधिक से अधिक एक सप्ताह का समय लगेगा तथा दूसरा लक्ष्य है अन्तरिक्ष में अन्तरिक्षयानों को परस्पर जोड़ने और इससे सम्बन्धित अन्य कार्यों को करने में कुशलता प्राप्त करना।

ये दो मुख्य लक्ष्य हैं परन्तु इनके साथ कुछ और गौण लक्ष्य भी जुड़े हुए हैं, जैसे दो अन्तरिक्षयानों को आपस में मिलाकर अन्तरिक्ष में उनको इच्छानुसार चलाने का अभ्यास, वायुमण्डल में नियंत्रित ढंग पर प्रवेश, कक्षा में परिक्रमा करते हुए अन्तरिक्षयान से अन्तरिक्ष यात्रियों का बाहर निकलना तथा नाना प्रकार के वैज्ञानिक परीक्षण करना।

इन कार्यों के फलस्वरूप प्राप्त होने वाली जानकारी भावी अपालो मिशनों को सफलतापूर्वक क्रियान्वित करने में उल्लेखनीय योगदान करेगी। उदाहरणार्थ, वायुमंडल में नियंत्रित ढंग पर प्रवेश करने की विधि का विकास। अपालो अन्तरिक्षयान को पृथ्वी पर वापस लौटा लाने की दृष्टि से अत्यन्त महत्व रखता है। इस विधि की जानकारी रखने वाला अन्तरिक्षयान चालक उतरने के लिए उपयुक्त स्थल का चुनाव कर 'यान' को सही-सलामत पृथ्वी पर उतार लाने में समर्थ हो जाएगा (मरकरी योजना के अन्तर्गत यात्री अपने यान को नई कक्षा में स्थापित करने में समर्थ नहीं थे। वे उस समय केवल ब्रेक लगाने वाले राकेटों को दाग सकते थे, जब कक्षा के बाहर निकलने का निर्णय कर लेते थे)।

जेमिनी योजना का एक महत्वपूर्ण पहलू यह है कि अन्तरिक्ष यात्रियों तथा योजना से सम्बन्धित अन्य कर्मचारियों को मरकरी योजना का संचालन करने वाले अन्तरिक्ष यात्रियों और कर्मचारियों से अधिक जटिल कार्य करने के लिए प्रशिक्षित किया गया है। अपालो योजना में भाग लेने वाले अन्तरिक्ष यात्रियों और कर्मचारियों को जेमिनी योजना के अन्तर्गत अत्यन्त जटिल कार्यों के बारे में व्यापक प्रशिक्षण प्राप्त हो चुका होगा।

अपालो अंतरिक्षयान की प्रथम समानव उड़ान से

पूर्व, जेमिनी यान ८६० घण्टे की समानव उड़ान सम्पन्न कर चुका होगा, जिनमें ३ दीर्घ अवधि वाली और ६ यान-संगमन सम्बन्धी अंतरिक्ष यात्राएँ भी सम्मिलित होंगी। इसके विपरीत मरकरी योजना के अन्तर्गत कुल ५४ घंटे की ही समानव उड़ान सम्पन्न हुई।

अपालो उड़ानों के अन्तर्गत चन्द्रमा की परिक्रमा करने वाले दो अन्तरिक्षयानों को परिक्रमा के दौरान एक दूसरे से संयुक्त किया जायेगा। जेमिनी अन्तरिक्ष यान की विशेषता यह है कि यह यान-संगमन सम्बन्धी वह सभी प्रक्रियाएँ संपन्न कर सकता है, जिनकी कल्पना चन्द्र-यात्रा के लिए इस समय की गयी है। इस प्रकार, यह अपालो-यात्रा के लिए अनुकूलतम विधि विकसित करने के लिए अनुभव प्रदान करेगा।

उड़ान के पूर्व की क्रियाओं के सम्बन्ध में जो अनुभव प्राप्त होंगे, वे अपालो यात्रा के लिए भी महत्वपूर्ण सिद्ध होंगे। दोनों योजनाओं के अन्तर्गत, विभिन्न राकेट खण्डों और अन्तरिक्षयान को आपस में मिलाने और संयुक्त करने, इंधन भरने और अन्तरिक्षयान पर पुर्जा आदि की जाँच और गणना करने के लिए एक सी ही प्रणालियाँ प्रयुक्त होंगी।

जेमिनी और अपालो के लिए प्रयुक्त होने वाली अनेक टोहक एवं संचार प्रणालियाँ एक ही या समान होंगी। दोनों योजनाओं के लिए यात्रा-नियंत्रण केन्द्र और विश्व भर में स्थापित टोहक केन्द्र-संजाल का काफी भाग एक ही रहेगा।

जेमिनी योजना की कुछ सम्भावनाएँ विचाराधीन हैं, हालाँकि उन्हें अधिकृत रूप से अभी लक्ष्य नहीं माना गया है। इनमें समानव कक्षागत अन्तरिक्षीय स्टेशनों के साथ अन्तरिक्षयान का संगम स्थापित करने और मानवरहित भू-उपग्रहों का निरीक्षण करने के लिए संगम स्थापित करने की सम्भावनाएँ सम्मिलित हैं।

जैमिनी योजना समानव अंतरिक्ष उड़ान और अंतरिक्ष अनुसन्धान के विकास के क्षेत्र में एक बीच का कदम है। इसमें न तो सरकरी योजना की, जिसके अंतर्गत प्रथम अमेरिकी नागरिक को अंतरिक्ष में भेजा गया, और न ही अपालो योजना की चमक-दमक है, जिसके अन्तर्गत प्रथम अमेरिकी नागरिक को चन्द्रमा की सतह पर उतारा जायेगा। फिर भी, मरकरी के अनुभवों की आधारशिला पर आगे बढ़ने और अपालो योजना के लिए मार्ग प्रशस्त करने की दृष्टि से इसका अपना विशिष्ट महत्व है।

———

[पृष्ठ ६५ का शेषांश]

जैमिनी अन्तरिक्ष-यात्रियों के लिए हस्त-संकेतों के स्थान पर टेलीफोन की व्यवस्था

जैमिनी योजना के अन्तर्गत उड़ान भरने वाले अन्तरिक्ष-यात्री, आगे की उड़ानों के अन्तर्गत, पृथ्वी पर वापिस लौट आने पर पुनर्ग्रहण-टोलियों से वार्ता-सम्पर्क स्थापित करने के लिए टेलीफोन का प्रयोग करेंगे। मरकरी योजना के अन्तरिक्ष-यात्रियों को हस्त-संकेतों का सहारा लेना पड़ा था।

जब पुनर्ग्रहण के लिए नियुक्त कर्मचारी पहुँच जायेंगे, तो वे जैमिनी-यान के पृष्ठ भाग पर बने एक राकेट में एक फोन जोड़ देंगे और इस प्रकार अन्तरिक्ष-यात्रियों के साथ बातचीत कर सकेंगे। इस व्यवस्था के अन्तर्गत वे पुनर्ग्रहण-प्रयास को अधिक क्षमता के साथ सुसम्बद्ध कर सकेंगे।

———

जेमिनी: अमेरिका की ७वीं समानव अंतरिक्ष-उड़ान

अंतरिक्ष-यात्री वर्जिल ग्रिसम और जान यंग की जेमिनी-उड़ान अमेरिका की ७वीं समानव अंतरिक्ष-उड़ान थी।

प्रथम ६ उड़ानें एक मनुष्य की उड़ानें थीं, जिनमें से प्रत्येक में एक-एक चालक मरकरी यान पर सवार होकर अंतरिक्ष में उड़ा था। प्रथम दो उड़ानें संक्षिप्त उप-कक्षागत उड़ानें थीं। अंतिम चार पृथ्वी की परिक्रमा वाली कक्षागत उड़ानें थीं।

अंतरिक्ष-यात्री एलेन बी० शेपर्ड, जूनियर, अंतरिक्ष में उड़ान करने वाला प्रथम अमेरिकी था। उसने **५ मई**, १९६१ को अतलांतक महासागर के ऊपर अंतरिक्ष में उप-कक्षागत उड़ान की थी।

अंतरिक्ष यात्री जान एच० ग्लेन जूनियर अंतरिक्ष में पृथ्वी की परिक्रमा करने वाला प्रथम अमेरिकी था। उसने अपनी तीन-परिक्रमाओं वाली ऐतिहासिक उड़ान २० फरवरी, १९६२ को सम्पन्न की थी।

अंतरिक्ष-यात्री गोर्डन कूपर, जूनियर, ने १५-१६ मई १९६३ को अमेरिका की सबसे लम्बी अंतरिक्ष-उड़ान सम्पन्न की थी। उसने पृथ्वी की २२ परिक्रमाएँ पूरी की थी।

अमेरिका की अन्तरिक्ष-उड़ानों की सूची इस प्रकार है :

५ मई, १९६१—एलेन बी० शेपर्ड ने 'फ्रीडम-७' नामक अंतरिक्ष-यान पर सवार होकर ११६·५ मील की ऊँचाई पर अतलांतक महासागर के ऊपर ३०२·८ मील की उप-कक्षागत उड़ान सम्पन्न की थी। वह १५ मिनट २२ सेकण्ड तक अंतरिक्ष में उड़ा था।

२१ जुलाई, १९६१—वर्जिल आई० ग्रिसन ने 'लिबर्टी बेल-७' नामक अंतरिक्ष-यान पर सवार होकर अंतरिक्ष में ११८·३ मील की ऊँचाई पर अतलांतक महासागर के ऊपर ३०२·१ मील लम्बी उप-कक्षागत उड़ान १५ मिनट ३७ सेकण्ड में पूरी की थी।

२० फरवरी, १९६२— जान ग्लेन ने 'फ्रेण्डशिप-७' नामक अंतरिक्ष-यान पर सवार होकर १६२·२ मील ऊँची कक्षा में पृथ्वी की तीन परिक्रमाएँ पूरी कीं। ४ घण्टे १५ मिनट की इस उड़ान में उसने ७५,६७९ मील की दूरी तय की।

२४ मई, १९६२—माल्कम स्काट कारपेण्टर ने 'आरोरा-७' नामक अंतरिक्ष-यान पर सवार होकर १६६·८ मील ऊँची कक्षा में पृथ्वी की ३ परिक्रमा की थी। ४ घण्टे ५६ मिनिट की इस उड़ान में उसने ७६,०२१ मील की दूरी तय की।

३ अक्टूबर, १९६२—वाल्टर एम० शिर्रा, जूनियर ने 'सिगमा-७' नामक अंतरिक्ष यान पर सवार होकर १७५·८ मील ऊँची कक्षा में पृथ्वी की ६ परिक्रमाएँ कीं। ९ घण्टे १३ मिनट की इस उड़ान में उसने १४३,९८३ मील की दूरी तय की थी।

१५-१६ मई, १९६३—लेराय गोर्डन कूपर, जूनियर, ने 'फेथ-७' नामक अंतरिक्ष-यान पर सवार होकर १६५·९ मील ऊँची कक्षा में पृथ्वी की २२ परिक्रमाएँ पूरी कीं। ३४ घण्टे २० मिनट की उड़ान में उसने ५,४६,१६७ मील की दूरी तय की।

[नोट: अमरीका ने आठवीं उड़ान भरकर विश्व रिकार्ड स्थापित कर लिया है—सम्पादक]

जैमिनी अन्तरिक्ष-यात्रा सम्बन्धी संक्षिप्त सूचनाएँ

जैमिनी अन्तरिक्ष-यान मरकरी अन्तरिक्ष-यान से अधिक बड़ा, अधिक भारी और अधिक सरल

जैमिनी अन्तरिक्ष-यान का आकार उन मरकरी अन्तरिक्ष-यानों के समान ही घण्टी जैसा है, जिन पर सवार हो कर अमेरिका के ६ अन्तरिक्ष-यात्री अब तक अन्तरिक्ष की यात्रा कर चुके हैं। लेकिन, कई दृष्टियों से यह मरकरी अन्तरिक्ष-यान की तुलना में अधिक उन्नत और सुधरी हुई किस्म का है।

कक्षा में स्थित जैमिनी अन्तरिक्ष-यान का भार मरकरी अन्तरिक्ष-यान से तिगुना...लगभग ७ हजार पौण्ड (३,२०० किलोग्राम) है। इसमें दो अन्तरिक्ष-यात्री मौजूद हैं। अपने सब से चौड़े स्थान पर, यह मरकरी—यान से २० प्रतिशत बड़ा है तथा उसकी तुलना में इसका घनफल ५० प्रतिशत अधिक है।

मरकरी अन्तरिक्ष-यान का निर्माण इस प्रकार किया गया था कि अन्तरिक्ष-यात्री और लगभग सभी यन्त्र-उपकरण प्रेसर-कमपार्टमेन्ट के अन्दर स्थित रहते थे। यन्त्र परतों के रूप में एक के ऊपर एक करके फिट किए जाते थे। उड़ान के पूर्व की जाने वाली जाँच में किसी यन्त्र में किसी त्रुटि का पता चलने पर प्रेसर कमपार्टमेन्ट के अन्दर फिट की गई सभी यान्त्रिक प्रणालियों को सावधानी से हटाना और पुनः फिट करना पड़ता था।

लेकिन, जैमिनी अन्तरिक्ष-यान की अधिकांश यान्त्रिक-प्रणालियाँ 'पैकेजों' के रूप में अन्तरिक्ष-यात्री के प्रेसर कमपार्टमेन्ट के बाहर फिट की गई हैं और उन तक आसानी से पहुँच हो सकती है। सत्य तो यह है कि यन्त्रों का सम्पूर्ण पैकेज शीघ्रता के साथ अपने स्थान से हटाया जा सकता है और पुनः फिट किया जा सकता है।

मरकरी अन्तरिक्ष-यान के संचालन से प्राप्त अनुभव से यह भी सिद्ध हो गया है कि किसी भी महत्वपूर्ण क्रिया को सक्रिय करने के लिए दो या तीन स्वतन्त्र प्रणालियों का व्यवस्था करना आवश्यक नहीं है। इस प्रकार की स्वतन्त्र प्रणालियों की व्यवस्था इसलिए की जाती है कि यदि एक प्रणाली फेल हो जाए तो दूसरी प्रणाली द्वारा वही क्रिया सक्रिय की जा सके। जैमिनी अन्तरिक्ष-यान में इस प्रकार की पुनरावृत्ति न्यूनतम है और इस दृष्टि से यह एक अधिक सरल अन्तरिक्ष-यान है।

मरकरी अन्तरिक्ष-यान की तुलना में अपेक्षाकृत सरल होने तथा यन्त्रों की व्यवस्था अधिक उपयुक्त स्थान पर होने के कारण उड़ान के पूर्व जैमिनी अन्तरिक्ष-यान की सम्पूर्ण जाँच ४ माह में की जा सकती है। मरकरी-यान की जाँच करने में जितना समय लगता है, यह समय उसके ५० प्रतिशत से कुछ अधिक बैठता है।

''जैमिनी'' अन्तरिक्ष-यात्री अन्तरिक्ष-यात्रा के दौरान स्वादिष्ट भोजन का आनन्द ले सकेंगे

'प्रोजेक्ट जैमिनी' के अन्तर्गत अन्तरिक्ष-यात्री शीघ्र ही दो सप्ताह की अन्तरिक्ष-यात्रा करेंगे। इस योजना की एक उल्लेखनीय और सुखद विशेषता यह है कि इस बात के प्रयास किए जा रहे हैं कि अन्तरिक्ष-यात्रा के दौरान अन्तरिक्ष-यात्रियों को स्वादिष्ट भोजन मिलता रहे ताकि लम्बी अन्तरिक्ष-यात्रा का मानसिक दृष्टि तथा स्वास्थ्य की दृष्टि से उन पर कोई प्रतिकूल प्रभाव न पड़ने पावे।

जैमिनी अन्तरिक्ष-यात्रा के लिए जो आहार-वस्तुएँ तैयार की जा रही हैं, उनमें मुख्यतः खाद्य पदार्थों के जमे तथा सूखे पैकेज शामिल होंगे। खाने के पूर्व इन

पदार्थों को पानी में घोलना पड़ेगा। इन आहार-वस्तुओं में अनेक स्वादिष्ट मांसाहारी व्यंजन, सलाद, मिल्कशेक, चाकलेट, वेफर और काफी इत्यादि शामिल होंगे।

'नैसा' द्वारा प्रसारित सूचना में अन्तरिक्ष-यात्रियों की आहार-वस्तुओं की जो सूची प्रकाशित की गई है, उस में एक ऐसा नाम शामिल है, जो सर्वथा नवीन प्रतीत होता है। इस वस्तु का नाम 'डेटा स्कवयर्स' रखा गया है।

'हाईपरगोलिक-राकेट' से जैमिनी-यान के अन्तरिक्ष-यात्री अन्तरिक्ष में भेजे गये

हाईपरगोलिक राकेट द्वारा दो अन्तरिक्ष-यात्रियों को अन्तरिक्ष में भेजा जाना एक ऐसा तथ्य है जिसका स्पष्टीकरण किया जाना आवश्यक है। हाईपरगोलिकिज़म कोई भयंकर रोग नहीं है। वेब्स्टर के नये तृतीय अन्तर्राष्ट्रीय शब्दकोश में हाईपरगोलिक शब्द की इस प्रकार व्याख्या की गई है : अन्य भागों के सम्पर्क में आते ही बिना चिंगारी उत्पन्न किये अथवा बिना बाहरी सहायता के स्वयं सक्रिय होने वाला ईंधन।

अन्तरिक्ष में छोड़े गये राकेट, टिटान द्वितीय में हाईड्रोजन (ईंधन) की एक टंकी और नाइट्रोजन टेट्रोक्साइड (दि ओक्सिडाइजर) की एक टंकी थी। जब हाइड्रोजन और नाइट्रोजन टेट्रोक्साइड कम्बश्चन चैम्बर (जहां ईंधन जलता है) में एक दूसरे से मिले, उसी समय अग्नि सुलग उठी और भीषण शक्ति के साथ ईंधन जल उठा। इस प्रकार, जैमिनी-यान के अन्तरिक्ष-यात्रियों को ४,३०,००० पौण्ड जितनी धकेलने की शक्ति से कक्षा में भेज दिया गया।

क्योंकि, हाईपरगोलिक ईंधन कई दिनों तक राकेट की टंकियों में संचित किया जा सकता है, क्योंकि सामान्य तरल आक्सीजन की तुलना में इसे प्रयोग में लाना अधिक सरल है, और क्योंकि उसकी सहायता से राकेट को अपेक्षाकृत अधिक आसानी से ऊपर भेजा जा सकता है, इसलिए मरकरी-योजना के अन्तर्गत की गयी अन्तरिक्ष-उड़ानों की तुलना में जैमिनी उड़ानों में उड़ान से पूर्व की जाने वाली कार्यवाहियां अधिक आसान हो गई हैं और उन्हें अधिक तेज़ी के साथ पूरा किया जा सकता है। ऐसा होने से जैमिनी कार्यक्रम के अन्तर्गत अन्तरिक्ष में जाने वाले अन्तरिक्ष यात्री कार्यक्रम के अनुसार टिटान को दाग सकते हैं।

जैमिनी कार्यक्रम के अन्तर्गत की जाने वाली बाद की उन उड़ानों में समय का बड़ा महत्व होगा जब अन्तरिक्ष-यात्री अपने यानों को उन अन्य अन्तरिक्ष-यानों के साथ मिलाने का प्रयत्न करेंगे, जो पहले से अन्तरिक्ष में मौजूद होंगे।

जैमिनी अन्तरिक्ष-यात्री अपना गणक यन्त्र साथ ले गए

अमेरिका के जैमिनी अन्तरिक्ष-यान की एक और विशेषता एक विद्युदणु गणकयन्त्र है, जिसका वजन लगभग ६० पौण्ड है। यह एक उटाऊ टाइपराइटर जितना स्थान घेरता है और कुछ ही घन्टों में इसे प्रयोग में लाने की क्रिया सीखी जा सकती है।

पहले से अन्तरिक्ष में मौजूद अन्तरिक्ष-यानों के साथ अपने अन्तरिक्ष-यानों को मिलाने, दूसरे अन्तरिक्ष-यानों पर उतरने और नियन्त्रित ढंग से पुनः आकाश-मण्डल में प्रविष्ट करने और पृथ्वी पर उतरने के सम्बन्ध में मार्गदर्शन करने के लिए आगामी उड़ानों में अन्तरिक्ष-यात्रियों द्वारा इस गणक यन्त्र का प्रयोग किया जायेगा। इसमें ४,००० से अधिक सूचनाओं के सम्बन्ध में तत्काल उत्तर देने की क्षमता है।

अन्तरिक्ष-यानों को एक दूसरे के साथ मिलाने तथा एक अन्तरिक्ष-यान से दूसरे अन्तरिक्ष-यान पर जाने के समय (आशा है कि ६ महीने तक ऐसी पहली उड़ानें की जा सकेंगी) इस बात का पता लगाने के लिए गणकयन्त्र का प्रयोग किया जायेगा कि किसी निश्चित समय पर जैमिनी-यान को किसी लक्षित यान की ओर ले जाने के लिए कितनी मात्रा में ढकेलने की शक्ति की आवश्यकता है। स्वचालित यन्त्रों अथवा हाथों द्वारा यह वास्तविक क्रिया सम्पन्न की जा सकती है।

इससे अन्तरिक्ष-यात्री यह भी पता लगा सकेंगे कि किसी समय आकाश-मण्डल में पुन: प्रवेश करने के निश्चय किये जाने पर वे वहाँ उतरेंगे। आकाश-मण्डल में पुन: प्रवेश करते समय गणक-यन्त्र उतरने के स्थान के सम्बन्ध में निरन्तर सूचना देता रहेगा।

एक साथ ही दो प्रणालियों द्वारा जैमिनी-यान की टोह

जैमिनी उड़ान सम्पन्न करने वाले अमेरिकी अन्तरिक्ष-यात्रियों को गुम होने का लेश मात्र भय नहीं। उड़ान के दौरान दो पृथक-पृथक प्रणालियाँ लगातार और साथ-साथ उनकी टोह ले रही हैं। वे हैं—'स्किन' टोहक प्रणाली और 'वीकान' टोहक प्रणाली।

'स्किन' टोहक प्रणाली के अन्तर्गत, एक राडार-संकेत अन्तरिक्ष-यान के बाहरी भाग से टकरा कर वापिस आता है, जिसके कारण गणक यन्त्र तत्काल यान के स्थान, उड़ान की दिशा और गति का निर्धारण करने में समर्थ होते हैं।

'वीकान' टोहक प्रणाली के अन्तर्गत स्वयं अन्तरिक्ष-यान से ही एक रेडियो संकेत सम्प्रेषित होता है। भूमि पर स्थापित संग्राहक-सम्प्रेषक यन्त्र (एण्टेना) उस संकेत को ग्रहण करके गणक-यन्त्र तक सम्प्रेषित कर देते हैं। इस प्रकार यह प्रणाली भी वही जानकारी प्रदान करती है, जो 'स्किन' प्रणाली प्रदान करती है।

यदि अकस्मात् (यद्यपि इसकी सम्भावना बहुत ही कम है) कोई टोहक प्रणाली निष्क्रिय हो जाती है, तो भी दूसरी प्रणाली प्रयोगों के लिए, तथा अन्तरिक्ष-यात्रियों को पृथ्वी पर पहले से निर्धारित क्षेत्र पर ही उतारने के लिये आवश्यक आंकड़े प्रदान करने में सर्वथा समर्थ रहेगी।

उड़ान के पश्चात् किये जाने वाले विश्लेषण के लिए, एक अन्य प्रणाली भी है, जिसे 'औप्टिकल' टोहक प्रणाली कहते हैं। यह प्राणाली 'वीकान' प्रणाली की पूरक होती है। सितारों की पृष्ठभूमि में अन्तरिक्ष-यान के फोटोग्राफ तैयार किये जाते हैं। इस प्रकार, जैमिनी-यान के स्थान का अत्यधिक सही निर्धारण हो सकता है।

जैमिनी अन्तरिक्ष यात्री

अमेरिका के राष्ट्रीय उड्डयन एवं अन्तरिक्ष प्रशासन (नैसा) ने अन्तरिक्ष-उड़ान के लिए ३० अन्तरिक्ष यात्रियों को चुना है। इस चुनाव में सफल होने के लिए आवश्यक अर्हताएं क्या हैं?

उनकी आयु ४० वर्ष से कम, शारीरिक स्वास्थ्य उत्तम और लम्बाई ६ फुट तक होनी चाहिए। ऊँचाई की बात महत्वपूर्ण है, क्योंकि जैमिनी यान के चालक का कक्ष उपेक्षाकृत छोटा है। कोई अन्तरिक्ष-यात्री स्थूलकाय नहीं, क्योंकि अन्तरिक्ष-यान के सन्दर्भ में प्रत्येक पौण्ड वजन का महत्व होता है।

इस समय जो अन्तरिक्ष-यात्री चुने जा चुके हैं, उनमें सबसे लम्बा ६ फुट ऊँचा; सबसे वजनी १६० पौण्ड भारी, सबसे ठिगना ५ फुट ६½ इंच ऊँचा और सब से हल्का १३८ पौण्ड वजनी है।

अन्तरिक्ष-यात्रियों को विज्ञान या इंजीनियरी का स्नातक अवश्य होना चाहिए। यद्यपि इनमें से २३ की शिक्षा स्नातक स्तर तक पहुँच चुकी है, फिर भी ७ ऐसे हैं जो स्नातकोत्तर (मास्टर की) उपाधि प्राप्त कर चुके हैं। इसके अतिरिक्त, उन्हें टेस्ट पाइलट स्कूल का स्नातक भी होना चाहिए। यह एक ऐसी अर्हता है, जिससे यह बात निश्चित हो जाती है कि वे कई सौ घण्टे जेट विमान की उड़ान कर चुके हैं। अधिकांश अन्तरिक्ष-यात्री हजारों घण्टे जेट विमान उड़ा चुके हैं।

अन्तरिक्ष-यात्रियों को प्रशिक्षित किया जाता है। सबसे पहले वे संगठन उन्हें पूर्ण रूप से शिक्षित करते हैं, जो उनके लिए अन्तरिक्ष-यान और प्रक्षेपक राकेटों का निर्माण करते हैं। उन्हें खगोल-भौतिकी, अन्तरिक्षीय यान-चालन, खगोल-विज्ञान, राकेट टैक्नोलौजी, जीव-विज्ञान, चन्द्र-विज्ञान, (चन्द्रमा के पृष्ठ भाग का अध्ययन) तथा कई अन्य विज्ञानों और प्रौद्योगों के विषय में आयोजित विचार-गोष्ठियों और भाषणों से जानकारी प्राप्त करते हैं। और, अन्तरिक्ष में उड़ान की शिक्षा तो उन्हें लेनी ही पड़ती है।

[शेषांश पृष्ठ ६१ पर]

कृषि-विज्ञान

किसानों द्वारा मिट्टी और जल के संरक्षण में सहयोग

मनुष्य के लिए भोजन और पशुओं के लिए चारा उत्पन्न करने के उद्देश्य से मिट्टी और जल के संरक्षण की आवश्यकता पर अमेरिका में वर्षों से बल दिया जा रहा है। संरक्षण—विशेष रूप से जब वह उपयोग के लिए हो, न कि केवल संचय के लिए—राष्ट्र के विकास और समृद्धि की कुंजी बन गया है। यदि अमेरिका के किसानों और पशुपालकों को इस योग्य बनाना है ताकि वे एक बढ़ती हुई जनसंख्या की आवश्यकताएँ पूरी करने और अन्य देशों के लोगों की सहायता करने में सतत समर्थ रहें, तो संरक्षण का सहारा लेना सर्वथा अनिवार्य है।

बाढ़ को रोकने, सिंचाई के लिए जल को सुरक्षित रखने तथा मिट्टी के क्षरण को रोकने के उद्देश्य से बड़े-बड़े बाँधों और इंजीनियरी सम्बन्धी अन्य साधनों का निर्माण करके समस्या के बड़े पैमाने के पहलुओं का सामना किया जा रहा है। किन्तु इस दिशा में किये जा रहे प्रयास यहीं तक सीमित नहीं।

उन क्षेत्रों में, जहाँ नदियाँ छोटी हैं और बाढ़ तथा क्षरण से होने वाली क्षतियों का खतरा अपेक्षाकृत कम होता है, अमेरिकी कृषि विभाग की भूमि संरक्षण सेवा अपनी कृषि भूमि की रक्षा करने तथा अपने खेतों की आवश्यकता पूर्ति के लिए जल-संचय करने में भी किसानों की सहायता करती हैं।

प्रत्येक किसान भूमि-क्षरण तथा जल-संचय तथा जल प्राप्त करने आदि की अपनी समस्याओं को हल करने में सरकार का सहयोग प्राप्त कर सकता है। उन स्थानों में भी भूमि संरक्षण विभाग के विशेषज्ञों से यह सहायता प्राप्त की जा सकती है जहाँ किसान के खेत पर ही एक छोटा नाला यह समस्या प्रस्तुत करता हो। अपनी काउण्टी के कृषि एजेण्ट से भी ऐसी सहायता प्राप्त की जा सकती है।

सिराक्यूज के समीप, केन्द्रीय कृषि प्रधान नेब्रास्का राज्य के १,२०० जन-संख्या वाले एक छोटे से कस्बे में, भूमि संरक्षण विभाग तथा वहाँ के सब किसानों ने इस कार्य के सम्बन्ध में एक उल्लेखनीय उदाहरण प्रस्तुत किया है। यहाँ बौनेल क्रीक पायलेट वाटरशैड योजना के अन्तर्गत एक ऐसे स्थान को खेती-बाड़ी करने के योग्य बना दिया गया है, जहाँ पहले बाढ़ों के कारण खेती-बाड़ी करना सम्भव नहीं था। उस क्षेत्र को खेती-बाड़ी के योग्य बनाते समय अनेक नये मनोरंजन स्थल बनाये गये हैं, जिन्हें वहाँ जाने वाले लोग बहुत पसन्द करते हैं।

उक्त क्षेत्र लगभग १६,००० एकड़ में फैला हुआ है। पहले वहाँ अक्सर बाढ़ें आते रहने के कारण बहुत क्षति पहुँचती थी। १९४७ में और १९५० के बाद के कई वर्षों में विनाशकारी बाढ़ों के कारण वहाँ की अर्थ व्यवस्था बिलकुल नष्ट हो गयी थी, आज, बौनेल क्रीक पायलेट वाटरशैड योजना की पूर्ति हो जाने के बाद, वर्षा होने पर भी वहाँ किसान तथा भू-स्वामी प्रसन्न रहते हैं। उन्हें पता है कि बहुत अधिक वर्षा हो जाने पर भी उन्हें किसी भी प्रकार की हानि नहीं पहुँच सकती। उक्त योजना का उद्देश्य अमेरिका के ऐसे सभी स्थानों के किसानों के लिए एक उदाहरण प्रस्तुत करना था, जहाँ जल खड़ा रहने के कारण खेती-बाड़ी करना सम्भव नहीं है।

उक्त योजना के अन्तर्गत सेवा उपलब्ध की गयी और ऐसे ११२ किसानों ने इस कार्य में सहयोग दिया, जिनकी समस्याएँ ऐसे अधिकांश कार्यक्रमों की समस्याओं से अधिक कठिन थीं। यद्यपि वहाँ की ८० प्रतिशत भूमि में खेती-बाड़ी की जाती थी, तथापि वह कृषि भूमि भूमि-क्षरण तथा बाढ़ों के कारण खेती-बाड़ी के योग्य नहीं थी। अतः जल के बहाव को कम करने और भूमि क्षरण से मिट्टी की रक्षा करने के लिए भूमि-संरक्षण के उपाय करने की अत्यावश्यकता थी। इससे पूर्व कि सरकारी विशेषज्ञ बाढ़ के जल को रोकने के लिए बांध आदि बनाने का कार्य प्रारम्भ करते, भूमि-संरक्षण सम्बन्धी ७५ प्रतिशत उपायों का किया जाना अत्यावश्यक था।

कृषि भूमि की बाढ़ों के जल से रक्षा करने की अपनी कड़ी आवश्यकता को पूरी तरह समझते हुए, किसानों ने इस सम्बन्ध में एक कार्यक्रम तैयार किया। उन्होंने चबूतरों का निर्माण करने तथा मेड़ें बना कर खेती करने आदि की योजनाएँ बनाईं।

किसानों ने उन उपायों की ओर पूर्ण ध्यान दिया और उनको करने में पूरा सहयोग दिया, जिनकी भूमि संरक्षण विभाग के इंजीनियरों ने सिफारिश की थी। आज, ६००० मील लम्बे चबूतरों, ३५० एकड़ घास-युक्त जल-मार्गों, ७,४०० एकड़ में मेड़ों पर खेती-बाड़ी करके भूमि की बाढ़ों से रक्षा की जा रही है।

इस कार्य के लिए ९ ऐसे बाँध तैयार किये गये हैं, जिनमें १७९७ एकड़ फुट बाढ़ों का जल संचित किया जा सकता है और उसे व्यवस्थित रूप में नियन्त्रित नालों में छोड़ा जा सकता है। ८८ ऐसे छोटे-छोटे बांध बनाये गये हैं जिनमें १९० एकड़ फुट अतिरिक्त जल संचित किया जा सकता है। वे पशुओं तथा अन्य कार्यों के लिए तालाबों का काम देते हैं।

उस स्थान के लोगों ने शीघ्र ही यह अनुभव किया कि जल के बाँधों के कारण जो छोटी-छोटी झीलें बन गयी हैं, उन्हें मनोरंजन के काम में लिया जा सकता है। इस प्रकार जो प्रथम झील तैयार हुई उसमें तत्काल मछलियाँ छोड़ दी गयी थीं। खेतों के लिए एक क्लब का संगठन कर दिया गया था और प्रथम ५ एकड़ की झील और उसके साथ की ५ एकड़ भूमि मनोरंजन क्षेत्र के लिए पट्टे पर दे दी गयी। अब इस क्लब ने नौकाओं, पिकनिक सम्बन्धी मेजों, आग जलाने के स्थानों तथा खेल के मैदानों की व्यवस्था कर रखी है। यह क्लब प्रति वर्ष नई मछलियाँ खरीद कर इस झील में छोड़ता रहता है।

सार्वजनिक मछली-क्षेत्र के रूप में एक अन्य विस्तृत झील का विकास करके नेब्रास्का राज्य के आखेट कमीशन द्वारा उसमें मछलियाँ छोड़ी गयी थीं। नेब्रास्का के सबसे बड़े शहर, ओमहा के निवासी तथा नेब्रास्का के अनेक लोग मछली पकड़ने के इन स्थानों का प्रयोग करते हैं।

अन्य जलाशयों को भी मनोरंजन क्षेत्र के रूप में विकसित किया जा रहा है। आज इन ९ जलाशयों में से अधिकांश में अनेक प्रकार की मछलियाँ आदि पाली जाती हैं। 'नेब्रास्का गेम कमीशन' तथा 'फेडरल ब्यूरो औव स्पोर्ट फिशरीज एण्ड वाइल्ड लाइफ' इनके पालन और देखरेख में सहयोग दे रहे हैं। इनमें से अधिकांश स्थानों में जंगली पशुओं को छाया एवं सुरक्षा प्रदान करने तथा उन स्थानों की शोभा बढ़ाने के लिए अनेक प्रकार के जंगली पौधे तथा वृक्ष लगाये गये हैं। इन स्थानों पर सुगमता से पहुँचने के लिए अनेक सड़कें भी बनाई गयी हैं।

सात वर्ष तक मिलकर प्रयत्न करने के पश्चात् यह योजना पूर्ण की गयी है। अब इस क्षेत्र के निवासी सुखपूर्वक अपना जीवन व्यतीत कर रहे हैं, क्योंकि अब उन्हें बाढ़ों अथवा भूमि-क्षरण से किसी भी प्रकार की क्षति का खतरा नहीं रहा है। साथ ही, उनके मनोरंजन के लिए ऐसे नये साधन भी उपलब्ध हो गये हैं, जो पहले प्राप्त नहीं थे।

———

अमेरिकी किसानों द्वारा वर्षा के जल का अधिकतम उपयोग

एन्थनी क्लार्क

विशाल भारतीय मरुस्थल के किनारों पर स्थित राजस्थान राज्य में एक थकित किसान अर्द्ध मरुभूमि के एक ऐसे टुकड़े में हल चला रहा है, जिसमें उसे पहले वर्षों की तुलना में कुछ अधिक उत्पादन होने की आशा है। संसार के अनेक अन्य भागों—जार्डन, ईरान, संयुक्त अरब गणराज्य के क्षेत्रों—के किसानों के समान ही उसके लिए जीवन रूक्ष है। पर्याप्त वर्षा न होने के कारण वहाँ के किसानों का जीवन बड़ा कठोर है।

केवल उसके समक्ष ही नहीं, बल्कि अन्य देशों के किसानों के समक्ष भी ऐसी समस्याएँ विद्यमान हैं। अनेक विकासोन्मुख देशों में विकास कार्यक्रमों के लिए खेती-बाड़ी से पूँजी प्राप्त करनी होगी क्योंकि, बहुत से देश खेती-बाड़ी की सहायता से अपनी प्रगति कर सकते हैं।

स्टिलवाटर (ओक्लाहोमा) विश्वविद्यालय में कृषि विशेषज्ञ एक रहस्यपूर्ण चुनौती—वर्षा की बूँद को किस प्रकार प्रयोग में लाया जाये—के सम्बन्ध में दिनरात कार्य कर रहे हैं। कृषि सम्बन्धी एक प्रमुख समस्या के इस मूलभूत हल के ऐसे उत्साहवर्द्धक परिणाम निकले हैं कि प्रतिवर्ष बहुत से देशों के सैकड़ों कृषि विशेषज्ञ यह मालूम करने के लिए ओक्लाहोमा विश्वविद्यालय में आते हैं कि उनके अपने देशों में मरुस्थल में खेती-बाड़ी करने के सम्बन्ध में क्या किया जा सकता है।

इतिहास के प्रारम्भ से मनुष्य को उन बाँधों, सिंचाई की नहरों और अन्य इंजीनियरी साधनों के विषय में जानकारी प्राप्त है, जिनसे उसे उपलब्ध जल का नियन्त्रण तथा वितरण करने में सहायता मिलती है। ऐसे स्थानों में सिंचाई की व्यवस्था करने के सम्बन्ध में बहुत ही कम काम किया गया है, जहाँ बाँधों का निर्माण करना संभव नहीं है तथा जहाँ जल का नितान्त अभाव है।

मरु क्षेत्रों में, जैसा कि ओक्लाहोमा के कुछ भागों में, किसान अथवा चरागाहों के मालिकों को दो विकट तथ्यों का सामना करना पड़ता है। बाँधों तथा नदियों से दूर, उसका एक मात्र जल-साधन वर्षा है। प्रकृति, यदि उसके कार्यों में हस्तक्षेप न किया जाये, शीघ्र ही वर्षा का सारा जल इधर-उधर कर देती है। केवल, वाष्पीकरण द्वारा मोटे तौर पर दो-तिहाई जल समाप्त हो जाता है। उसका अधिकांश भाग—५ से २७ प्रतिशत तक—भूमि में रिस जाने से पूर्व इधर-उधर बह जाता है।

ओक्लाहोमा के किसानों के मत में, इस समस्या की कुँजी इस बात में निहित है कि ऐसा उपाय किया जाये जिससे कि वर्षा की प्रत्येक बूँद गिरते ही भूमि में समा जाये। जब एक बार जल धरातल के नीचे चला जाता है तब वह वाष्पीकरण द्वारा उड़ने नहीं पाता। भूमि-क्षरण तथा तूफान सम्बन्धी आपदाएँ भी अपेक्षाकृत कम हो जाती हैं।

ओक्लाहोमा राज्य विश्वविद्यालय के भूमि संरक्षण सम्बन्धी विशेषज्ञ 'स्टबल मल्च फार्मिंग' नामक विधि के विषय में खोज कर रहे हैं। इस विधि के अनुसार समूचे वर्ष के लिए घास-फूस तथा पुआल आदि को एक स्थान पर एकत्र कर दिया जाता है। उन्होंने पाया कि फसल उठा लेने के पश्चात् छोटे-छोटे डण्ठल, घास-फूस तथा तिनके आदि अन्य वस्तुएँ पृथ्वी पर एकत्र करके काफी समय के लिए वर्षा का जल संचित किया

(शेष पृष्ठ १०१ पर)

सामूहिक फार्म के किसान के काम का एक दिन

वाई० इल्याशेंको

मैं आपको जिस सामूहिक फार्म के बारे में बताने जा रहा हूँ वह पूर्वी कजाखस्तान प्रदेश में दक्षिणी अल्ताई की तलहटी में चीनी सीमा से बिलकुल निकट स्थित है और उसका नाम स्वर्गीय सोवियत प्रेसीडेण्ट एम० आई० कालिनिन के नाम पर रखा गया है।

मैंने किसानों के काम के एक दिन का वर्णन करने के लिए कालिनिन फार्म को इसलिए चुना है कि यह बहुत ही मामूली फार्म है और इस तरह के फार्म कजाखस्तान में बहुत हैं और मैं यह भी बता दूँ कि यह सबसे धनवान फार्म नहीं है। उदाहरण के लिए गत वर्ष इसकी आय ४,५०,००० रूबल थी जबकि उसके पड़ोस में लेनिन सामूहिक फार्म की वार्षिक आय १२,००,००० रूबल तक पहुँच चुकी थी।

विभिन्न जातियों के लोग इस फार्म में साथ-साथ रहते और काम करते हैं। और सोवियत संघ में जातियों की संख्या बहुत अधिक है—रूसी, कजाख, यूक्रेनी, बेलो रूसी और किर्गीज सभी यहाँ रहते हैं। किसान मवेशी और मुर्गियाँ, बत्तखें आदि पालते हैं, गेहूँ पैदा करते हैं, आलू और दूसरी सब्जियाँ उगाते हैं और शहद की मक्खियाँ पालते हैं।

किसानों का दिन भर का काम किस प्रकार व्यवस्थित किया जाता है? किसान सुबह आठ बजे काम शुरू करते हैं। जो पशुपालन विभागों में काम करते हैं वे पैदल अपने काम पर जाते हैं क्योंकि पशुशालाएँ गाँव से मिली हुई ही बनी हैं, और जो लोग खेतों में काम करते है उन्हें लारी से पहुँचाया जाता है।

उदाहरण के लिए, आइये देखें दूधवालियों का दिन भर का काम किस ढंग से व्यवस्थित किया गया है। पशुशाला में पहुँचते ही वे गायों को दुहना आरम्भ कर देती हैं। उस समय तक गायों के रखवाले गोशाला की सफाई करके और गायों को खिला-पिलाकर तैयार रखते हैं।

हर दूधवाली को गायों की एक निश्चित संख्या की देखभाल करनी पड़ती है। दूधवालियाँ अपना ज्यादातर वक्त गायें दुहने में लगाती हैं। इसके अलावा उनका कुछ समय गायों की सेवा करने में भी जाता है। उनके थनों को साफ करना, धोना, और उनकी मालिश करना। दूधवालियाँ हर गाय के बारे में पूरा ब्योरा अपने पास रखती हैं और पशुओं के डाक्टर के साथ मिलकर सानी तैयार करती हैं और हर गाय जितना दूध देती है उसे उसके अनुकूल भोजन दिया जाता है।

गायों को दुहने के बाद दूधवालियाँ सारा दूध क्रीम निकालने वाले विभाग की ओर से दूध जमा करने वाले एजेण्ट को देकर खाना खाने के लिए घर चली जाती हैं, वे तीसरे पहर फिर लौट कर आती हैं, गायों को फिर दुहती हैं और फिर दूध जमा करने वाले एजेन्ट को दे देती हैं। इसके बाद उनका दिन भर का काम पूरा हो जाता है।

हम यह बता दें कि फार्म में सारा श्रमसाध्य काम मशीनों से होने लगा है। इस फार्म ने सरकार से १७ ट्रैक्टर, फसल काटने का सारा काम साथ करने वाली १५ कम्बाईन मशीनें, बहुत से हल, बीज बोने की मशीनें, भूसा काटने की मशीनें, स्वचालित नाँदें और भेड़ों का ऊन उतारने की मशीनें, खरीदी हैं। मशीनें किसानों की मदद करती हैं पर उन्हें बेरोजगार नहीं बना देतीं। जैसे ही किसी किसान का हाथ खाली होता है उसे फ़ार्म का कोई दूसरा काम दे दिया जाता है जो कि लगातार बढ़ता जा रहा है।

गायों को सानी लगाने की स्वचालित नांदों, दूध दुहने की बिजली की मशीनों, सानी तैयार करने और तारों के सहारे उन्हें नांदों तक पहुँचाने की मशीनों की बदौलत दुग्धशाला में भी काम करने की परिस्थितियाँ सुगम हो गयी है।

इन मशीनों की वजह से किसानों को उच्चतर प्रशिक्षण प्राप्त करने के लिए अधिक समय मिलता है।

दोपहर के समय सभी किसानों को खाने की छुट्टी मिलती है। जो लोग गाँव में या उसके आसपास काम करते हैं वे या तो अपने घर चले जाते हैं या सामूहिक फार्म के भोजनालय में स्वादिष्ट भोजन प्राप्त करते हैं। बहुत से लोग भोजनालय में खाना पसंद करते हैं। यहाँ तीन वक्त के भोजन का खर्च नये सिक्कों में ६० कोपेक आता है जबकि किसानों की औसत मासिक आय ७० रूबल होती है। जो लोग खेतों में काम करते हैं उन्हें भोजन ट्रक द्वारा पहुँचाया जाता है। उन्हें उसके लिए कुछ देना नहीं पड़ता क्योंकि सामूहिक फार्म के सभी सदस्यों की आमसभा में यह फैसला किया गया है कि खेतों में काम करने वाले किसानों को खाना मुफ्त दिया जायेगा।

खाने की छुट्टी घंटे भर की होती है। इसके बाद किसान फिर अपने काम में जुट जाते हैं। ठीक चार बजे दिन भर का काम पूरा हो जाता है। इस वक्त तक हर आदमी सात घंटे काम कर लेता है।

सोवियत संघ में लोग सप्ताह के अन्तिम दिन और छुट्टियों से पहले कम देर काम करते हैं। इस सामूहिक फार्म के बारे में भी यही बात सच है। शनिवार के दिन वे केवल दोपहर के खाने के समय तक काम करते हैं।

जब बोआई और फसल की कटाई के समय काम ज्यादा होता है तब दिन में कितने घंटे काम करना पड़ता है? उतनी ही देर जितना कि बाकी साल भर करना पड़ता है। कालिनिन सामूहिक फार्म में साल भर तक किसी भी फैक्टरी या मिल की तरह काम सुचारु रूप से चलता रहता है। मशीनों की सहायता से किसान तात्कालिक से तात्कालिक काम को भी पूरा कर लेते हैं। दिन में काम करने के घंटे उतने ही रहते हैं, हालांकि ट्रैक्टर चलाने वाले या फसल काटने का सारा काम साथ करने वाली कम्बाइन मशीनों को चलाने वाले दिन में कई पालियों में काम करते हैं (चौबीस घंटों में दो या तीन पालियां)।

दिन भर का काम पूरा हो जाने पर किसान अपना खाली समय अपनी रुचि के किसी काम में लगा सकते हैं। गाँव का अपना रेडियो प्रसार केन्द्र है और हर घर में रेडियो है। कुछ किसान अपने घर पर बैठकर मास्को, आल्मा-आता, उस्त-कामैनोगोर्स्क और सुदूर दिल्ली तक से प्रसारित होने वाला संगीत सुनते हैं। बहुत से लोग क्लब में जाते हैं जहाँ रोज नयी फिल्में दिखायी जाती हैं। उन्हें टिकट नहीं खरीदने पड़ते क्योंकि किसानों की आम सभा में फैसला किया गया है कि फिल्म मुफ्त दिखायी जाया करें। इसलिए क्लब में न टिकटघर है, न फाटक पर टिकट देखने वाले। जब बाहर से आने वाले अभिनेताओं का कोई कार्यक्रम होता है तब भी यही नियम लागू रहता है और इस प्रकार के कार्यक्रम अक्सर होते रहते हैं।

कालिनिन सामूहिक फार्म का अपना अस्पताल है जहाँ अनुभवी डाक्टर और नर्सें काम करती हैं। इस समय बाग्जीम तोइबाजारोव नामक सामूहिक किसान की बेटी आल्मा-आता की चिकित्सा विज्ञान की इस्टीच्यूट में पढ़ रही है। शीघ्र ही वह अपनी पढ़ाई समाप्त करके अपने गाँव में डाक्टरी का काम करने के लिए वापस आ जायेगी। जैसा कि पूरे सोवियत संघ में होता है, इस फार्म पर भी डाक्टरी सेवाओं का प्रबन्ध मुफ्त है।

और उस आदमी का काम क्या होता है जो बीमार पड़ जाने के कारण काम नहीं कर सकता? उसका भरण-पोषण कौन करता है? बीमार आदमी डाक्टर के पास जाता है और डाक्टर जितने दिन के लिए आवश्यक होता है, उसे बीमारी की छुट्टी दिला देता है। रोगी को इन तमाम दिनों के लिए उसकी औसत मासिक आय की आधी दर पर बीमारी का भत्ता दिया जाता है।

हर किसान को हर साल एक महीने की सवेतन छुट्टी पाने का अधिकार है। इस छुट्टी के दौरान में किसानों को उनकी औसत मासिक आय के बराबर वेतन दिया जाता है।

लगभग हर परिवार में छोटे बच्चे होते हैं। सुबह काम पर जाते समय माता-पिता को इस बात की चिन्ता नहीं रहती कि इन बच्चों की देखभाल कौन करेगा। तीन वर्ष से छोटे बच्चों की देखभाल फार्म के शिशु पालनगृह में और चार से सात वर्ष तक के बच्चों की देखभाल किंडरगार्टन में की जाती है। इन दोनों ही संस्थाओं का सारा सामान फार्म की तरफ से दिया गया है और फार्म ने बच्चों के लिए बहुत से खिलौने भी खरीदे हैं। बच्चों के माता-पिता को कोई फीस नहीं देनी पड़ती, सारा खर्च फार्म की ओर से दिया जाता है।

फार्म में कुछ बूढ़े लोग ऐसे भी हैं जो काम नहीं कर सकते। उनको खाना-कपड़ा सामूहिक फार्म की ओर से दिया जाता है। किसानों ने अपनी ग्रामसभा में फैसला किया है कि ६० वर्ष की उम्र के बाद हर मर्द को और ५५ वर्ष की उम्र के बाद हर औरत को फार्म की ओर से पेंशन मिलेगी और इसके अलावा उन्हें आवश्यक खाद्य सामग्री भी दी जायेगी।

फार्म स्त्रियों की सुविधा की ओर विशेष ध्यान देता है। किसानों की ग्रामसभा के फैसले के अनुसार गर्भवती स्त्रियों और दूध पिलाने वाली माताओं को पूरे वेतन के साथ चार महीने की छुट्टी दी जाती है।

ये सारी सुख-सुविधाएँ किसानों के सामूहिक कार्य की बदौलत उपलब्ध होती हैं। इसलिए उनमें से अधिकांश अपनी पूरी योग्यता के साथ ज्यादा से ज्यादा काम करते हैं। फलस्वरूप फार्म बाजार में बेचने के लिए बहुत माल पैदा करता है।

अकेले पिछले वर्ष उसने सरकार के हाथ १७,००० टन अनाज, लगभग २० टन मांस और ८०० टन दूध बेचा।

सामूहिक किसानों ने अपने यहाँ भी मजदूरी देने की वैसी ही पद्धति लागू की है जैसी कि सोवियत फैक्टरियों तथा मिलों में लागू है। हर महीने की दूसरी तारीख को किसानों को उनकी मजदूरी मिलती है। अलग-अलग कामों के लिए मजदूरी की दर अलग-अलग होती है। जो काम जितना ही कठिन या पेचीदा होता है, उसके लिए उतना ही अधिक पारिश्रमिक दिया जाता है। उदाहरण के लिए, ट्रैक्टर चलाने वालों को नये सिक्कों में ९०-१०० रूबल मासिक मजदूरी मिलती है।

कजाखस्तान के अनेक गांवों में से एक गांव के किसान इस तरह काम करते हैं।

●●

(पृष्ठ ९८ का शेषांश)

जा सकता है। क्योंकि, ऐसा करने पर वह भूमि में समा जाता है।

वे भूमि में हल चलाने आदि उन विधियों को प्रोत्साहित करते हैं, जिन्हें अच्छे किसान प्राचीन काल से जानते हैं। ऐसा करने से मिट्टी की तह भुरभुरी हो जाती है और उसमें पर्याप्त जल रम जाता है। ढालू क्षेत्रों में वे सीढ़ियाँ बना कर हल चलाने की सिफारिश करते हैं, क्योंकि ऐसा करने से जल पृथ्वी में एकत्र हो जाता है। अदल-बदल कर फसलें बोने तथा घास उत्पन्न करने से जल का बह जाना रुक जाता है। उन्होंने यह भी पता लगाया है कि भारी ट्रेक्टरों का विवेकपूर्वक प्रयोग न करने से भूमि में ९ इंच की गहराई तक कठोरपन आ जाता है और उसमें आर्द्रता को ग्रहण की क्षमता कम हो जाती है।

ओक्लाहोमा के मिट्टी विशेषज्ञों ने उस कार्य के विषय में कोई बढ़-चढ़ कर भविष्यवाणी नहीं की है, जो वे मरुभूमि में खेती-बाड़ी करने के विषय कर रहे हैं। किन्तु, इस बात को दृष्टि में रखते हुए कि जन-संख्या में हर घण्टे वृद्धि हो रही है और जल की मात्रा में कोई वृद्धि नहीं हो रही है, यह आवश्यक है कि वर्षा की प्रत्येक बूँद को नष्ट होने से बचाया जाये।

उनके इस कथन में यह कठोर सत्य निहित है: 'जल के बिना कोई बीज अंकुरित नहीं हो सकता।'

●●

प्राद्योगिकी

भावी संसार में विज्ञान और प्रविधि

प्रोफेसर जान बर्नाल से एक भेंट

मास्को में ९ सितम्बर को उच्चतर प्राविधिक शिक्षा की समस्याओं के बारे में वैज्ञानिकों की अन्तर्राष्ट्रीय गोष्ठी आरम्भ हुई जिसमें प्रसिद्ध ब्रिटिश विद्वान् प्रोफेसर जान बर्नाल ने एक रिपोर्ट प्रस्तुत की जिसका शीर्षक था, "भावी संसार में विज्ञान और प्रविधि।"

विज्ञान और प्रविधि का भविष्य क्या है ? हम इस सम्बन्ध में पूरी भविष्यवाणी नहीं कर सकते, लेकिन हम उसके कुछ पहलुओं और उसकी कुछ प्रवृत्तियों का विश्लेषण कर सकते हैं। बिलकुल अन्धे बन कर चलने की अपेक्षा अनुमान करते हुए आगे बढ़ना कहीं अधिक उचित है।

कोयला, तेल और गैस जैसे तापीय शक्ति के प्राकृतिक साधनों का उपयोग रासायनिक कच्चा माल तैयार करने में बढ़ता जा रहा है। फिर भी मानव, शक्ति के साधनों की कमी का अनुभव नहीं करेगा। हमारे पास खण्डनीय स्फुरणशील पदार्थों का विशाल भण्डार है। अविवेक और मूर्खतावश मानव यदि उनका उपयोग परमाणविक हथियारों का संग्रह बनाने में न करे तो ये सब पदार्थ भविष्य का ईंधन बन जाएँगे।

हमें मालूम है कि ताप-पारमाणविक प्रतिक्रियाओं और सौर-शक्ति से हमें क्या-क्या आशाएँ हैं। फिर भी विज्ञान को सदा प्रयत्नशील रहना चाहिए कि शक्ति का बेहतर इस्तेमाल किया जाए। इस समय हम शक्ति का बुरी तरह दुरुपयोग कर रहे हैं। आज हमारे पास ३० से ४० प्रतिशत तक ऊष्मागतिक दक्षता है। यद्यपि एक व्यक्ति के एक घंटे भर के काम के हिसाब से उत्पादन में वृद्धि हुई है, प्रति अश्व-शक्ति के हिसाब से उत्पादन में कमी हुई है। हमें व्यक्ति-शक्ति की बचत करना चाहिए और शक्ति का बेहतर इस्तेमाल करना चाहिए। वर्तमान स्थिति इसके विपरीत है। आज हम व्यक्ति-शक्ति का बहुत व्यय कर रहे हैं और प्रविधि-जन्य शक्ति का समुचित उपयोग नहीं कर रहे हैं। यदि हम शक्ति का उपयोग अधिक युक्ति और नियंत्रण से करें तो उसकी उत्पादन क्षमता में भारी वृद्धि होगी।

आज हम प्राविधिक और वैज्ञानिक क्रान्ति के युग में रह रहे हैं। मैं समझता हूँ कि आजकल की सबसे क्रान्तिकारी गवेषणा है इलेक्ट्रोनिक और इलेक्ट्रोनिक संगणक यंत्र।

उद्योगों में संगणकों का उपयोग पाँच वर्ष और हो चुकने के बाद प्रविधि और उत्पादन के तौर-तरीकों में आमूल परिवर्तन हो जाएँगे। संगणकों का सम्बन्ध उच्चतर स्नायविक क्रियाओं से है। उनसे हमें मानव-मस्तिष्क की कार्य-विधि समझने में सहायता मिलती है। प्रविधि और विज्ञान के प्रत्येक क्षेत्र में संगणक अपना साम्राज्य स्थापित करते जा रहे हैं। हम स्वयंचालन के युग में चल रहे हैं जिसका आधार है स्वचालित इलेक्ट्रोनिक संगणक यंत्र। भवन-निर्माण, प्रशासन, चिकित्सा, आयोजन, जीवविज्ञान, अन्तरिक्ष यात्रा तथा उत्पादन की सभी प्रक्रियाओं में संगणक यंत्रों का उपयोग हो रहा है। फिर भी हमें ऐसा काम करना है कि भविष्य के स्वप्न-संसार में सैनिक कार्यों के लिए संगणकों के उपयोग की सम्भावना न रहे।

मुझे विश्वास है कि परिमाण के गुणों में विकसित होने के मार्क्सवादी सिद्धान्तों के अनुसार हम लोग शीघ्र ही क्रान्तिकारी परिवर्तन देखेंगे। संगणकों के उत्तरोत्तर व्यापक उपयोग और सुधार से ऐसी मशीनें बनने लगेंगी जो तेजी से काम करने वाले आधुनिक यंत्रों की अपेक्षा लाखों गुना तेजी से काम करने में समर्थ होंगी। एक नयी विशेषता, एक नया गुण पैदा हो जाएगा जो हमारे जीवन और हमारी प्रवृत्तियों

को आमूलचूल रूप से बदल देगा। अभी तो हम संगणक यंत्रों के विकास में प्रथम चरण ही रख पाये हैं। संगणकों के कारण हम न केवल अपरिमेय अधिक तीव्र गति से काम करने में सक्षम हो गये हैं, बल्कि उन चीजों को करने लग गये हैं जिनकी हम पहले कल्पनामात्र ही कर सकते थे। यहाँ तक कि संगणक उन चीजों को प्राप्त कर सकते हैं जिनकी आज हम कल्पना भी नहीं करते।

रसायनशास्त्र, जीवविज्ञान, क्रिस्टल रचनाविज्ञान और अन्य विज्ञानों में गवेषणा कार्य के लिए संगणक अनिवार्य हैं क्योंकि वे ढेर सारे प्रयोगों के परिणामों का साधारणीकरण करते हैं। वास्तव में विज्ञान अपनी अनेक शाखाओं से प्राप्त सूचनाओं का समीकरण है। मैं इस बात पर जोर देना चाहूँगा कि संगणक अनुसन्धान कार्य में सहायक मात्र हैं, वे किसी वस्तु का सृजन नहीं करते। यह सम्भव है कि आज से कुछ वर्ष बाद संगणक यंत्र विज्ञान के संचित ज्ञान-भाण्डार को तत्काल स्मरण कर लें जिससे कि गवेषणा का कार्यक्षेत्र विस्तृत हो जाए, विशेष रूप से जीवविज्ञान का क्षेत्र जो गणित के प्रवेश का प्रतिरोध करता रहा है। इलेक्ट्रोनिक का भौतिकी से निकट सम्पर्क स्थापित हो चुका है। धीरे-धीरे निश्चित रूप में उसका उपयोग जीव-विज्ञान में होने लगा है और सामाजिक विज्ञानों में भी वह एक मुख्य उपकरण के रूप में विकसित हो सकता है।

केवल समस्याओं का हल निकालने में ही संगणक हमारी सहायता नहीं करते, वे नई समस्याओं को भी हमारे सामने खड़ा करते हैं।

बहुधा इन उपकरणों को इलेक्ट्रोनिक मस्तिष्क कहा जाता है। वास्तव में संगणक अनेक मानवीय क्रियाएँ सम्पन्न करने की क्षमता रखते हैं। ये यंत्र मस्तिष्क की प्रक्रियाओं और तर्क को भी समझते हैं और यहाँ तक कि भूल-चूक का सुधार भी करते हैं। मानव मस्तिष्क जटिल और लम्बे विकास का प्रतिफल है। इलेक्ट्रोनिक यंत्र का पुनरुद्धार और सुधार इतनी शीघ्रता से हो रहा है कि इस बात का भय लगा है कि कहीं उतनी ही शीघ्रता से वह पुराना न पड़ जाए अथवा उसका लोप न हो जाए। दूसरों शब्दों में हम कह सकते हैं कि विज्ञान और प्रविधि के विकास की गति इतनी द्रुत है कि एक संगणक यंत्र बनाया जाने के पहले ही पुराना पड़ सकता है। संगणक में लगातार सुधार और नये-नये डिजाइन बनाते रहने से ही इस समस्या को दूर किया जा सकता है।

निस्सन्देह, संगणक कभी भी मस्तिष्क का स्थान नहीं ग्रहण कर सकेगा। मस्तिष्क की सम्भावित क्षमता के क्षेत्र को परिमाण और गुणों में, विस्तृत करने में यह सहायक मात्र हो सकता है। कुशल आपरेटर के बिना संगणक बिल्कुल मूढ़ वस्तु है और इसे पता भी नहीं चल सकता कि मूढ़ता कब आयी। मूर्खता के कार्यक्रम बनाने से संगणक यंत्र वैसा ही परिणाम प्रस्तुत करेगा। एक दिलचस्प उदाहरण लीजिए। विश्वयुद्ध कब शुरू होगा, इसकी भविष्यवाणी करने के लिए अमरीका ने एक 'अति-संगणक' यंत्र बनाया। सब आवश्यक सूचनाएँ उपस्थित की गयीं। सेनानायक को यंत्र ने 'हाँ' में उत्तर दिया। सेनानायक ने पूछा, "आखिर इस 'हाँ' से क्या मतलब है ?" संगणक यंत्र ने पूरी प्रक्रियाओं का एक और दौर लगा लिया। उसका दूसरा उत्तर था, "हाँ, हाँ, जनाब।"

मैं इस बात को पुन: जोर देकर दुहराना चाहता हूँ कि मानव के इतिहास में संगणकों की गवेषणा सबसे महत्वपूर्ण घटना है।

मनुष्य और पशु में सबसे बड़ा भेद भाषा का है। ध्वनि और अक्षरों के माध्यम से ही मनुष्य के विचारों को मूर्तरूप दिया जा सका। आज संगणक यंत्र मनुष्य के विचारों को सर्वथा नया रूप प्रदान कर सकता है और यहाँ तक कि विकास की दिशा में भाषा से एक कदम आगे बढ़ सकता है।

फिर भी मनुष्य के जीवन की बाह्य परिस्थितियों से असम्बद्ध करके वैज्ञानिक और प्राविधिक विकास का मूल्यांकन नहीं किया जा सकता। हम मनुष्य की आवश्यकताओं को, विश्वव्यापी पैमाने पर उसकी भूख और अन्य आवश्यकताओं को कैसे माप सकते हैं ? हमें

मनुष्यों की मूलभूत कठिनाइयों और सम्भावनाओं को समझना चाहिए। समस्या का हल निकालने के लिए समस्या को भलीभाँति से समझना आवश्यक है।

आज मनुष्य के सम्मुख मूलभूत समस्याएँ हैं, पारमाणविक युद्ध के भय को दूर करना, तथा गरीबी, रोग और अज्ञान को मिटाना।

पहली समस्या का समाधान निरस्त्रीकरण से सम्भव है। दूसरी समस्या का हल आधुनिक प्रविधि के उपयोग से अन्न उत्पादन में वृद्धि करके और मकान खड़े करके किया जा सकता है। आजकल जो भारी सैनिक व्यय किया जा रहा है उसका एक अल्पांश भी यदि स्वास्थ्य और चिकित्सा सम्बन्धी गवेषणाओं पर लगा दिया जाए तो स्वास्थ्य में बहुत सुधार हो सकता है। यहाँ तक कि कैंसर की चिकित्सा और रोकथाम की समस्या का समाधान हो सकता है और बुढ़ापे की प्रक्रिया को थोड़ा बहुत रोका जा सकता है।

अर्द्धविकसित देशों का पिछड़ापन दूर करना, आज हमारे सामने एक मुख्य समस्या है। इस असमानता का अन्त होना चाहिए और अर्द्धविकसित देशों को विकसित देशों के स्तर पर लाना चाहिए। लेकिन आजकल जो हो रहा है, वह ठीक उसका उल्टा है। घटने के बजाय, आर्थिक अन्तर और बढ़ता जा रहा है। अर्द्धविकसित देशों में अर्थव्यवस्था, शिक्षा, विज्ञान और प्रविधि के विकास की योजना बनाने की आज महती आवश्यकता है। मानव की प्रगति में योग देने के लिए इन देशों को तरक्की करना चाहिए। इसके लिए उन्हें बौद्धिक शक्ति की आवश्यकता है। केवल यूरेनियम और कोयला के नये भाण्डारों की खोज ही आज महत्वपूर्ण नहीं है। प्राकृतिक सम्पत्ति का किस प्रकार समुचित उपयोग हो, यह जानने के लिए लोगों की शिक्षा भी महत्वपूर्ण है। असली सम्पत्ति ज्ञान की है, भौतिक मूल्यों की नहीं। मनुष्य का मस्तिष्क ही प्रकृति की सर्वश्रेष्ठ सम्पत्ति है। यदि अर्द्धविकसित देशों की जनता को शिक्षित कर दिया जाय और प्रतिभा को विकसित करने का अवसर दिया जाय तो मानव की यह सम्पत्ति कितनी अधिक हो जायगी।

उच्चतर शिक्षा केवल सम्पन्न व्यक्तियों के लिए ही नहीं, बल्कि जन-साधारण के लिए भी उपलब्ध होना चाहिए। सोवियत संघ ने दिखा दिया है कि उसकी शिक्षा-प्रणाली कितनी सक्षम है।

भविष्य की शिक्षा का अर्थात् निकट भविष्य की शिक्षा का एक विशेष पहलू है कि उसे परिवर्तनशील परिस्थितियों को प्रतिबिम्बित करते हुए उसके अनुरूप होना चाहिए। आज केवल स्कूली शिक्षा प्राप्त करना पर्याप्त नहीं है। यदि आप चाहते हैं कि अपने समय की द्रुतगामी वैज्ञानिक और प्राविधिक प्रगति के साथ रहें तो आपको जीवनपर्यन्त अध्ययनशील होना पड़ेगा।

जैसे जैसे प्रविधि में विशेष रूप से स्वयंचालन यंत्रों के विकास में प्रगति होती जाएगी, उत्पादन-कार्य में मनुष्यों की संख्या घटती जाएगी। परिणामस्वरूप लोग अधिक संख्या में वैज्ञानिक अनुसन्धान कार्य में प्रवृत्त होंगे जिसमें मानसिक श्रम की आवश्यकता होती है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि अधिक लोग अपना समय सृजनात्मक कार्यों में लगायेंगे। मनुष्य मशीनों का स्वामी बन जाएगा, उसका अंग नहीं रहेगा।

भविष्य के मानव के पास शिक्षा और मनोरंजन के लिए अधिक समय होगा। मैं समझता हूँ कि शिक्षा का उद्देश्य मनुष्य को जीवन की समस्याओं को हल करने का प्रशिक्षण देना, बुद्धि का विकास करना और उसको फालतू समय का उचित उपयोग सिखाना है।

समाज और तेज गति से बदलेगा। वैज्ञानिक प्रगति से लोगों को अधिक पूर्ण और सम्पन्न जीवन मिलेगा। किन्तु हमें युद्ध का भय भुला देने का अधिकार नहीं है और न हम इस भय को भूल ही सकते हैं। युद्ध से सब उपलब्धियाँ स्वाहा हो जाएँगी और भविष्य को भूख, खण्डहर और पतन की विरासत मिलेगी। इसलिए युद्ध के खतरे को दूर करने के लिए हमें प्रत्येक प्रयास करना है। केवल शान्ति से ही मनुष्य की योग्यताओं का विकास होता है और सबकी खुशहाली हो सकती है। ●●

अमेरिका में टेलिविजन-उद्योग और टेलिविजन-संजाल

द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद, जब संयुक्तराष्ट्र-संघीय सुरक्षा परिषद का प्रथम अधिवेशन न्यूयार्क नगर में हण्टर कालेज की व्यायामशाला में आयोजित हुआ, तो वहाँ विश्व भर के पत्र-प्रतिनिधियों और सम्वाददाताओं के बैठने के लिए पर्याप्त स्थान नहीं था। उस समय सर्व प्रथम बने कुछ टेलिविजन सेटों के निर्माताओं ने स्थिति की रक्षा की। उन्होंने अधिवेशन-कक्ष की गतिविधियों को अंकित करने के लिए वहाँ कैमरे लगा दिये, जो एक निकटवर्ती दीर्घा में लगे टेलिविजन सेटों से तारों द्वारा सम्बद्ध थे। ये कैमरे अधिवेशन-कक्ष में हो रही गति-विधियों को प्रतिबिम्बित करने में समर्थ थे। इस कारण दीर्घा में बैठकर टेलिविजन सेटों पर वाद-विवाद के दृश्य का अवलोकन करने वाले सम्वाददाता, सम्भवतः, अधिवेशन कक्ष में बैठकर देखने वालों से अधिक स्पष्ट झाँकी प्राप्त कर रहे थे।

उस समय टेलिविजन अभी अपनी प्रारम्भिक एवं परीक्षणात्मक अवस्था में ही था। उसके प्रसारण-केन्द्रों की संख्या आधे दर्जन से अधिक नहीं थी और टेलिविजन कार्यक्रमों को ग्रहण करने के लिए केवल कुछ हजार सेट ही लगे थे। यह अनुभव इतना नवीन था कि बहुत से समाचारपत्रों ने संयुक्तराष्ट्र-संघ के इस अधिवेशन के समय लगे टेलिविजन सम्बन्धी समाचार को भी उतना ही स्थान दिया, जितना सुरक्षा परिषद् में हुए अजरबैजान सम्बन्धी वाद-विवाद को।

अभूतपूर्व विकास

यह घटना १९४६ की थी। किन्तु १९ वर्ष बाद, आज टेलिविजन अमेरिका में सर्वत्र लोगों के सामान्य जीवन का एक अंग बन गया है। इतनी अल्प अवधि में ही यह विकसित होकर सर्वव्यापी संचार की एक महान नयी शक्ति बन गया है। अब अमेरिका में रहने वाले समस्त पुरुषों, स्त्रियों और बच्चों में से लगभग ४० प्रतिशत लोग किसी एक टेलिविजन प्रसारण को एक साथ और एक ही समय देखने में समर्थ हैं। वहाँ ५ करोड़ ५० लाख टेलिविजन सेट नियमित रूप से प्रयुक्त हो रहे हैं। इस समय ९० प्रतिशत अमेरिकी परिवारों के पास टेलिविजन सेट हैं और बहुत से परिवारों के पास तो कई-कई रिसीवर हैं।

इसी प्रकार टेलिविजन प्रसारण केन्द्रों की संख्या भी १९४६ में ६ से बढ़कर इस समय ६०० से अधिक हो गयी है। अब कुछ इनी-गिनी दूरस्थ बस्तियों को छोड़ कर अमेरिका के प्रायः सभी नगर कम से कम एक प्रसारण केन्द्र के सीमा-क्षेत्र के भीतर अवश्य पड़ते हैं। अमेरिका के ८० प्रतिशत से अधिक परिवार किसी एक समय ४ प्रसारण-केन्द्रों में से जिस किसी से भी चाहें, प्रसारित कार्यक्रम देख-सुन सकते हैं। कुछ सबसे बड़े नगरों में तो कुछ परिवार एक समय ७ केन्द्रों से प्रसारित कार्यक्रमों में से जिस किसी को भी चाहे देख-सुन सकते हैं।

उन स्थानों पर जहाँ निकटतम प्रसारण-केन्द्र की दूरियाँ बहुत अधिक हैं (टेलिविजन संकेत सीधी रेखा में गतिशील होता है और पृथ्वी के वृत्ताकार पथ का अनुसरण नहीं करता), ९९४ बस्तियों ने सामुदायिक एण्टेना (संग्राहक-सम्प्रेषक) प्रणालियाँ स्थापित कर रखी हैं। इन बस्तियों में रहने वाले परिवार अपने सेटों को एक ऊँचे स्तम्भ से, जो सभी परिवारों के लिए एण्टेना का कार्य करता है, सम्बद्ध करने के बदले कुछ शुल्क अदा करते हैं। नगरों के अधिक निकट रहने वाले लोग अपने एण्टेना को मकान की छतों पर और कभी-कभी अपने टेलिविजन सेटों के ऊपर ही, चढ़ा देते हैं।

जब कभी प्रसारण-कार्यक्रम में राष्ट्रीय महत्व की कोई घटना (उदाहरण के लिए, अक्तूबर, १९६२ में क्यूबा के सम्बन्ध में प्रेसिडेण्ट कैनेडी का भाषण) सम्मिलित होती है, तो सभी टेलिविजन संजालों के प्रायः सभी प्रसारण-केन्द्र उसी को प्रसारित करते हैं। प्रेसिडेण्ट कैनेडी के उस भाषण को ७ करोड़ लोगों ने टेलिविजन पर देखा और सुना। इसी प्रकार, ६ करोड़ लोगों ने कर्नल जोन ग्लेन की अन्तरिक्ष-उड़ान सम्बन्धी प्रक्षेपण-घटना को टेलिविजन पर देखा था, जबकि उनकी उड़ान के दौरान किसी न किसी समय टेलिविजन सेट चालू करने वाले लोगों की संख्या १३॥ करोड़ थी।

आधारभूत सिद्धान्त

अमेरिका में टेलिविजन के विकास की कहानी, वस्तुतः, अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता और स्वतन्त्र उद्यम प्रणाली सम्बन्धी अमेरिकी सिद्धान्तों को २०वीं शताब्दी के विद्युदणु विज्ञान की आवश्यकताओं के अनुरूप ढालने की कहानी है, जिसकी पूर्व कल्पना सम्भवतः राष्ट्र के निर्माणकारी वर्षों में नहीं की जा सकी थी। अमेरिकी संविधान में समाचारपत्रों की स्वतंत्रता की गारण्टी दी गयी है। किसी भी अमेरिकी नागरिक को यह कानूनी अधिकार प्राप्त है कि वह जब और जहाँ चाहे सरकारी हस्तक्षेप या लाइसेंस के वगैर ही समाचारपत्र, या पुस्तिका या पत्रिका प्रकाशित कर सकता है।

यही धारा भाषण की स्वतन्त्रता पर भी लागू होती है। रेडियो के विकास के प्रारम्भिक दिनों में प्रत्येक अमेरिकी नागरिक को प्रसारण केन्द्र स्थापित करने का समान अधिकार था। कठिनाई केवल यह थी कि पवन-ऊर्म्मियों पर सभी रेडियो संकेतों के लिए पर्याप्त स्थान नहीं था। परिणाम यह हुआ कि प्रसारण केन्द्रों के प्रसारण एक दूसरे से उलझ कर रेडियो-संकेतों को निष्क्रिय करने लगे और एक विचित्र अव्यवस्था उत्पन्न हो गयी। रेडियो-प्रसारण की अव्यवस्था को रोकने के लिए, प्रसारण केन्द्रों की संख्या को सीमित और उन आवृत्तियों के अनुरूप नियमित करना अनिवार्य हो गया, जिनका उपयोग करने में वे समर्थ थे।

भाषण की परमप्रिय स्वतन्त्रता और नियमन की स्पष्ट आवश्यकता को लेकर १९२० के दशाब्द में अमेरिका में बहुत वाद-विवाद हुए। अन्य देशों ने इस समस्या का समाधान रेडियो-प्रसारण प्रणालियों पर राज्य का स्वामित्व स्थापित करके या उसी जैसी कोई अन्य व्यवस्था करके किया। यह समाधान अमेरिकी परम्परा के अनुकूल नहीं था। अतः यहाँ के विधायकों ने इसके समाधान के लिए 'लाइसेन्स के अन्तर्गत स्वतन्त्रता' की स्थापना की।

संघीय संचार आयोग

फलस्वरूप, नभ-क्षेत्र के उपयोग को—न केवल पुलिस, विमान और रेडियो-टेलिफोन संचार जैसे अधिकृत उद्देश्यों के लिए बल्कि उन निजी कम्पनियों और व्यक्तियों के लिए भी, जो सामान्य जनता के लिए प्रसारण करने का उद्यम अपनाने के लिए उत्सुक हों—नियमित करने के लिय संघीय संचार आयोग नामक सरकारी एजेंसी की स्थापना की गयी। अमेरिकी कांग्रेस ने इस एजेंसी को यह आदेश दिया कि वह इस प्रकार के प्रसारण के लिए केवल उसी दशा में लाइसेंस दे, जब वह "जनता के हित, सुविधा और आवश्यकता" के अनुकूल हो। उसे स्पष्ट रूप से मना कर दिया गया था कि प्रसारण कार्यक्रम सम्बन्धी सामग्रियों पर वह कोई नियन्त्रण या सेंसर न लगाये।

किसी उपलब्ध आवृत्ति पर प्रसारण के लिए लाइसेंस प्राप्त करने के उद्देश्य से दिये गये प्रार्थना-पत्र को—प्रायः एक ही प्रसारण केन्द्र के लिए कई प्रार्थियों में से चुनाव करना पड़ता है—स्वीकार करने में, संघीय संचार आयोग अर्द्ध-न्यायिक कार्यवाहियों के बाद ही निर्णय लेता है। इन कार्यवाहियों के अन्तर्गत, इस बात का निर्धारण करने के लिए कि प्राविधिक और वित्तीय दृष्टि से भावी प्रसारणकर्ता की स्थिति ठोस है या नहीं तथा वह जिस समाज की सेवा करने का प्रस्ताव कर रहा है, उसके सर्वश्रेष्ट हितों को बढ़ावा देने के लिए ही प्रसारण करने का उसका इरादा है या नहीं, अन्य बातों के अतिरिक्त, लोगों की गवाहियाँ भी ली जाती हैं। इस

सम्बन्ध में जो बातें विचारणीय होती हैं, उनमें सबसे अधिक महत्वपूर्ण दो हैं—उत्तरदायित्व और ईमानदारी। प्रसारण सम्बन्धी लाइसेंस तीन वर्ष के लिए दिये जाते हैं। इस अवधि के बाद दुबारा लाइसेंस प्राप्त करने के लिए प्रसारणकर्त्ता को यह सिद्ध करना पड़ता है कि उसने अपने वायदों का ठीक-ठीक पालन किया। उस समय कोई भी अन्य व्यक्ति, चाहे वह भावी प्रतिस्पर्द्धी हो या स्वतन्त्र नागरिक, दुबारा लाइसेंस को प्राप्त करने में उससे प्रतिद्विन्द्विता कर सकता है। प्रायः ऐसा हुआ है कि जब यह प्रमाणित कर दिया गया कि कोई प्रसारण केन्द्र केवल अपने स्वार्थों को ही प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील रहा है, तो संघीय संचार आयोग ने उसे दुबारा लाइसेंस प्रदान करने से इन्कार कर दिया। कानून यह है कि लाइसेंस प्राप्त करने वाले ने जनता की सेवा के लिए जितना समय और ध्यान दिया हो, उसके आधार पर ही उपर्युक्त निर्णय लिया जाना चाहिए। इस प्रकार का निर्णय इस आधार पर कदापि नहीं लिया जा समता कि प्रसारण केन्द्र ने संघ या स्थानीय सरकारों की नीतियों का कितना समर्थन या विरोध किया अथवा व्यक्तिगत सरकारी अधिकारियों के प्रति उसका दृष्टिकोण कैसा रहा। ये ऐसे विषय हैं, जिन पर संचार आयोग को विचार करने की भी अनुमति नहीं है।

प्रसारण-कार्यक्रम में सुधार

व्यवहार में, संघीय संचार आयोग के आयुक्तों ने, जिनमें वर्तमान अध्यक्ष न्यूटन एन० मिनाऊ भी सम्मिलित हैं, व्यक्तिगत रूप से प्रसारण केन्द्रों को यह सलाह दी है कि वे अपने कार्यक्रमों में गुणात्मक सुधार करें और सभी प्रकार के विवादग्रस्त प्रश्नों पर अधिकाधिक वार्ताओं को बढ़ावा दें, ताकि उनके श्रोता श्रेष्ठतर नागरिक बन सकें। समय-समय पर, उन्होंने विशिष्ट प्रकार के सेंसर लगाने का प्रयत्न किये बगैर ही, प्रसारण की प्रवृत्तियों की आलोचना की है और अपराध सम्बन्धी नाटकों के प्रसारण अथवा प्रसारित विज्ञापनों की किस्म पर खेद प्रकट किया है। अनेक संगठन (जैसे अभिभावक-शिक्षक वर्ग) लगातार इस बात का अध्ययन कर रहे हैं कि टेलिविजन कार्यक्रमों का प्रौढ़ और बाल दर्शकों पर कैसा प्रभाव पड़ रहा है। स्वयं प्रसारण उद्योग भी अपने 'नेशनल एसोसियेशन ऑव् ब्राडकास्टर्स' के माध्यम से, स्वेच्छिक आधार पर इन विषयों की जाँच-पड़ताल करता रहता है। समाचारपत्रों और पत्रिकाओं में टेलिविजन कार्यक्रमों की समीक्षा नियमित रूप से होती रहती है। यही नहीं, जन-साधारण भी अपनी सभा-समितियों में प्रायः इसके विषय में विचार-विमर्श और वाद-विवाद चलाते रहते हैं।

जनमत द्वारा नियन्त्रण

निस्सन्देह, अमेरिका में ऐसे लोगों की संख्या बहुत ही कम होगी, जो इस बात से इन्कार करते हों कि जन-साधारण पर अभूतपूर्व प्रभाव डालने वाले इस अपेक्षाकृत नवीन साधन के सम्बन्ध में सुरुचि और व्यापारीकरण की समस्याएँ निश्चित रूप से उत्पन्न होती हैं। फिर भी, अमेरिका में शायद ही कोई ऐसा व्यक्ति होगा, जो इन समस्याओं के समाधान के रूप में सरकारी स्वामित्व या सरकारी सेंसर का समर्थन करता हो। जीवन के अनेक अन्य क्षेत्रों की भाँति, इस क्षेत्र में भी, अमेरिकावासियों की सामान्य धारणा यही है कि स्वतन्त्र सार्वजनिक वाद-विवादों के दौरान विकसित जनमत ही वाँछनीय और अधिक प्रभावकारी नियन्त्रण है।

इस बीच, राष्ट्रव्यापी टेलिविजन संजाल की शक्तियाँ और सफलताएँ उसकी कमजोरियों से कहीं अधिक आगे बढ़ गयी हैं। अमेरिकावासी, जिनके समक्ष व्यापारिक आधार पर संचालित रेडियो प्रसारण के विकास का उदाहरण मौजूद है, यह मानते हैं कि विज्ञापन के परम्परागत साधन से प्राप्त आय के बगैर न तो टेलिविजन का राष्ट्रव्यापी विकास सम्भव होता और न ही वह अपनी महान सफलताएँ जारी रख सकेगा। अब विज्ञापन-सन्देश जिसे 'व्यापारिक' कहा जाता है, टेलिविजन प्रसारण कार्यक्रम का अभिन्न अंग बन गया है। कुछ देशों में टेलिविजन कार्यक्रम ग्रहण करने वाले सेटों पर कर लगाया जाता है; कुछ अन्य देशों में सरकार ही उसका व्यय भार उठाती है। अमेरिका में, टेलिविजन की लागत विज्ञापन-दाता अदा करता है और टेलिविजन उद्योग, अन्य उद्योगों की भाँति ही सरकारी खजाने में कर अदा करता है।

●●

लाख का उपयोग

एक छोटा सा कीड़ा एक ऐसी अद्भुत और सर्वथा अनूठी रासायनिक प्रक्रिया का प्रादुर्भाव करता है, जिसे उसी रूप में दुहराने में विज्ञान भी आज तक सफल नहीं हो पाया है। भारत में पाए जाने वाले इस अद्भुत कीड़े के इस अद्भुत कौशल के फलस्वरूप भारत एक ऐसी महत्वपूर्ण वस्तु का निर्यात करने में समर्थ हो गया है, जो अमेरिकी परिवारों के दिन प्रतिदिन के उपयोग की दर्जनों वस्तुओं के निर्माण में प्रयुक्त होता है। गोलियाँ, पियानों, कागज और नाना प्रकार के रंग-रोगन उन अनेक वस्तुओं में केवल कुछेक हैं, जिनके निर्माण में इस वस्तु का प्रयोग होता है। भारत में लोग इस वस्तु को लाख के नाम से जानते हैं तथा वैज्ञानिक शब्दावली में अनूठी रासायनिक प्रक्रिया द्वारा लाख का उत्पादन करने वाले कीड़े को 'लैकाईफेर लैका' तथा बोलचाल में 'लैक बग' कहते हैं। यह कीड़ा अपने शरीर में लाख नामक जिस वस्तु का निर्माण करता है उसकी गणना विश्व की एक सर्वाधिक प्राचीन व्यापारिक वस्तुओं में की जाती है और आज अमेरिका की अर्थ-व्यवस्था में इसके उपयोग का भविष्य बहुत उज्ज्वल प्रतीत होता है।

यदि यह कीड़ा अपनी अनूठी रासायनिक प्रक्रिया द्वारा लाख का निर्माण न करता होता तो उसकी गणना हानिकारक कीड़े के रूप में होती। भारत में ये उपयोगी कीड़े बरगद, रीठा, बबूल तथा कुछ अन्य वृक्षों जैसे पलास, बेर, कुसुम, अरहर, खैर इत्यादि पर पाये जाते हैं। यह अपनी नुकीली चोंच वृक्ष की छाल के अन्दर प्रविष्ट कर अपने लिए भोजन तत्व प्राप्त करते हैं और फिर रासायनिक प्रक्रिया द्वारा निःसृत रिक्त तत्व को शत्रुओं से रक्षा की दृष्टि से अपने ऊपर तथा अपने डिम्भों पर लपेट देते हैं।

'लैक' शब्द की उत्पत्ति हिन्दी अंकगणित के अंक 'लाख' से हुई है। मादा लैकाईफेर उक्त रासायनिक प्रक्रिया द्वारा अपने लाखों साथियों की सहायता से मधु-मक्खियों के छत्ते जैसी सुरक्षात्मक खोल का निर्माण करती है। यह खोल वृक्षों की टहनियों और शाखाओं में फैली होती है और आधा इंच तक मोटी होती है। इस सुरक्षात्मक खोल का निर्माण करने वाला तत्व राल से बहुत कुछ मिलता-जुलता है। लाख की खेती करने वाले भारतीय कृषक ऐसी कुछ छोटी-छोटी टहनियों को, जिन पर कीड़े डिंभ देकर ऊपर सुरक्षात्मक खोल चढ़ा देते हैं, नए वृक्षों पर लगा देते हैं ताकि डिंभ से निकलने वाले कीड़े आगे चल कर लाख-निर्माण की रासायनिक प्रक्रिया को जारी रख सकें। इसके उपरान्त बाकी की लाख वे वृक्षों से छुड़ा लेते हैं। सफाई और शुद्धीकरण के उपरान्त यही पदार्थ लाख अथवा 'चपड़े' के रूप में विश्व की मंडियों में पहुँचता है।

अब तक भारत लाख का सबसे बड़ा उत्पादक देश है और अमेरिका भारत की लाख खरीदने वाला सबसे बड़ा ग्राहक है, क्योंकि भारत में उत्पन्न होने वाली कुल लाख का २० प्रतिशत वह अकेले खरीद लेता है। १९६१ में अमेरिकी व्यवसायियों एवं व्यापारियों ने भारत से ४५ लाख डालर मूल्य का लगभग १० हजार टन लाख और चपड़ा खरीदा। इसके अतिरिक्त थाइलैण्ड और पश्चिमी जर्मनी से भी उन्होंने थोड़े परिमाण में लाख और चपड़ा आयात किया।

'लाख' इस दृष्टि से एक सर्वथा अनूठा पदार्थ है, क्योंकि यह मद्यसार (एल्कोहल) को छोड़ कर अन्य सामान्य द्रवों में नहीं घुलता। वस्तुतः यही वह सबसे बड़ी विशेषता है, जो लाख का कीड़ा रासायनिक प्रक्रिया द्वारा मूल राल तत्व को प्रदान करता है। राल की श्रेणी की होने के कारण स्वभावतः ही लाख में लकड़ी

के बहुत से गुण पाए जाते हैं। यह एक विद्युत निरोधक तत्व (इन्सुलेटर) भी है। अपने इन्हीं गुणों के कारण अनेक प्रकार की वस्तुओं के निर्माण में लाख का बड़े पैमाने पर उपयोग होता है।

वाले इन्सुलेटर पदार्थ (विद्युत निरोधक) के रूप में चपड़े का उपयोग विद्युत तारों की खोल में तथा उन विद्युतशक्ति मोटरों की रक्षा करने में किया जाता है, जो प्रत्येक अमेरिकी फैक्टरी, कार्यालय-भवन और प्रत्येक अमेरिकी घर के लिए परमावश्यक होते हैं। यह काँच से काँच को अथवा काँच को धातु से जोड़ देने की क्षमता रखता है और इसीलिए बिजली के बल्ब तथा रेडियो और टेलिविजन ट्यूब तैयार करने में भी चपड़े का उपयोग होता है।

बहुत से अमेरिकी पुरुषों और महिलाओं द्वारा पहने जाने वाले फेल्ट हैटों को कड़ा करने के लिए भी चपड़े का उपयोग होता है। बिना इसका इस्तेमाल किए हैट अपने आकार को कायम नहीं रख सकता। यही नहीं, तेल-उद्योग में भी इसका उपयोग होता है। चपड़ा पेट्रोलियम अथवा पेट्रोलियम जनित अन्य द्रवों में नहीं घुलता। लौह-क्षार से इसे मिश्रित कर ऐसा लाल-रंग तैयार किया जाता है, जिसका उपयोग तेलवाहक टेंकरों के भीतरी भाग को रंगने के लिए होता है। इस रंग का लेप हो जाने पर टेंकर की भीतरी दीवार की धातु पर पेट्रोलियम का कोई प्रतिकूल रासायनिक प्रक्रिया नहीं होती। इसके अलावा जब ये टेंकर तेल पहुँचा कर खाली वापस लौटते हैं तो इस रंग के कारण ही लवण जल की क्षारक शक्ति का प्रभाव उस पर नहीं पड़ता। तेल शोधक कारखानों में भी सीढ़ियों इत्यादि पर भी यहीं रंग चढ़ाया जाता है। यह धातु के क्षरण को रोकता है और उस पर काई इत्यादि नहीं जमने देता, क्योंकि काई जमने से उस पर लोगों का पैर फिसल जाता है।

छपाई और प्रकाशन व्यवसाय में चमड़े का तो बहुत ही उपयोग होता है। फोटो-इनग्रेवर रंगीन फोटो-प्लेटें बनाने के लिए इसका उपयोग करते हैं। अधिकांश पत्रिकाओं और कुछ पुस्तकों में जिस 'स्लिक पेपर' का उपयोग होता है उस पर किए जाने वाले कोट में भी इसका उपयोग होता है। चूँकि यह तुरन्त सूख जाता है, अतएव छपाई के लिए प्रयुक्त होने वाली स्याही में भी इसका उपयोग होता है। सत्य तो यह है कि शीघ्र सूख जाने की इसकी अद्भुत क्षमता के कारण भी तेज गति से छपाई करने वाले मुद्रण-यन्त्रों का विकास सम्भव हो सका है। आजकल, अमेरिकी रसायनशास्त्री जिन नई-नई स्याहियों का निर्माण करते हैं, उनमें चपड़े का काफी उपयोग होता है। अमेरिका में जो उद्योग लाख और चपड़े का बड़े पैमाने पर उपयोग करते हैं, उनमें स्याही-उद्योग को एक प्रमुख स्थान प्राप्त है।

खिलौने के निर्माता भी चिपकाने के लिए अथवा मढ़ने के लिए लाख और चपड़े का उपयोग करते हैं। चमड़े की वस्तुएँ और जूतों के निर्माण में इसे महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। कैण्डी (एक प्रकार की मिठाई) तैयार करने वाले भी इसका उपयोग करते हैं। चाकलेट पर ऐसे चपड़े की बहुत बारीक परत चढ़ी रहती है, जो खाने में हानि नहीं करता। इस परत के कारण चाकलेट पिघलने से बची रहती है। वायुयानों के निर्माता, मोटर निर्माण, तीसाई करने वाले उपकरणों, जहाजों एवं सीलिंग वैक्स इत्यादि के निर्माता भी इसका उपयोग करते हैं। कुछ वर्ष पूर्व चपड़े का सबसे अधिक उपयोग सीलिंग वैक्स उद्योग में होता था।

अमेरिका में लकड़ी की छिद्रों और दरारों को भरने तथा फिनिश के लिए चपड़ा सबसे अधिक विख्यात है। एक उत्कृष्ट पियानों पर चपड़े मिश्रित रोगन का दस या १२ बार तक कोट किया जा सकता है। एक परत को रगड़ कर चिकना कर देने के बाद दूसरी परत चढ़ाई जाती है। उत्कृष्ट कोटि के फर्नीचर पर भी इसी प्रकार की क्रिया काम में लाई जाती है। पुरानी लकड़ी को उसको पहली जैसी चमक-दमक देने के लिए भी फर्नीचर निर्माता चपड़े का विशेष तौर पर उपयोग करते हैं। अमेरिकी गृहों में सामान्य रूप से दृष्टिगोचर होने वाले ओक लकड़ी के फर्शों की फिनिश में चपड़े का मुकाबला उसके विशेष गुणों के कारण

अन्य कोई पदार्थ नहीं कर सकता। यह विशेष गुण है उसका लकड़ी का समानधर्मी होना तथा लकड़ी के रन्ध्रों में गहराई तक प्रवेश कर जाने की उसकी क्षमता। लकड़ी के नए फर्श पर चमड़े का पहला कोट तो वस्तुतः लकड़ी में ही आत्मसात हो जाता है। इसके उपरान्त जो कोट किए जाते हैं, वे फर्श को अधिक मजबूत करते हैं ताकि क्षरण से उसकी रक्षा हो सके।

चिकित्सा के क्षेत्र में भी चपड़ा सर्वथा अनूठे ढंग से काम में आता है। यह टरपेण्टाइन तेल, पेट्रोल तथा कुछ अन्य द्रवों में नहीं घुलता। आमाशय में उत्पन्न होने वाले अम्लों का भी इस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। हाँ, ऊपरी आँतों में रिसने वाले अम्लों में यह अवश्य घुल जाता है। अतएव, यदि कोई डाक्टर अपने रोगी को ऐसी दवा देना चाहता है, जिसे वह उस समय तक घुलने से रोकना चाहता है, जब तक वह आँतों में न पहुँचे, तो वह चमड़े से कोट किए हुए केपस्यूल में दवा भरकर रोगी को खिला सकता है। जब यह बिना घुला केपस्यूल आँतों में पहुँचता है, तो वहाँ मौजूद अम्लों के प्रभाव से घुलने लगता है और डाक्टर की इच्छानुकूल उसके अन्दर की दवा सीधी आँतों में पहुँच जाती है।

भारत की इस प्राचीन वस्तु ने समय की माँग के साथ परिवर्तित होने का भी भरसक प्रयास किया है। प्रारम्भ में, इसका उपयोग केवल रंग-रोगन में होता था। प्राकृतिक रूप में इसका रंग लाल-नारंगी से लेकर गहरा-भूरा तक होता है और इससे पीले-लाल रंग तथा सिंदूरी रंग की रंगाई की जा सकती है। प्राचीन काल में वस्त्रों की रँगाई के अतिरिक्त पैरों और हथेलियों की शोभा बढ़ाने के लिए भी लोग इसके रंग का उपयोग करते थे।

अतएव, प्राचीन काल में लोग रंगने का मसाला प्राप्त करने के बाद लाख को फेंक देते थे। आजकल रासायनिक रंगों ने लाख का स्थान ग्रहण कर लिया है और यह प्रक्रिया बिल्कुल उलट गई है। आजकल इसके शुद्धीकरण के लिए जो विधि अपनाई जाती है, उसमें गर्म पानी के उपयोग के कारण इसका रंग आंशिक रूप से निकल जाता है। शुद्धीकरण के बाद इसका रङ्ग हल्का नारंगी रह जाता है तथा क्लोरीन में कई बार धोने पर यह रंग भी लगभग पूरी तरह साफ हो जाता है और चमड़े का रंग सफेद हो जाता है। कई प्रकार की वस्तुओं में इस सफेद चपड़े का ही उपयोग होता है। रंग के रूप में चपड़े का प्रयोग अब कुछ कलाकारों तक ही सीमित है। मूल्यवान कला-कृतियों (चित्रों) को दीर्घकाल तक सुरक्षित रखने के लिए ऊपर अत्यधिक उत्कृष्ट कोटि के 'फ्रेंच शिलेक' (फ्रांस में निर्मित अत्यंत शुद्ध प्रकार का चपड़ा) का कोट कर दिया जाता है।

कुछ लोगों का कहना है कि इसमें सन्देह नहीं कि चपड़ा कई प्रकार के कार्यों के लिए अच्छा सिद्ध हुआ है, परन्तु ऐसी कृत्रिम राल का विकास किया जा सकता है जो किसी विशेष कार्य के लिए चपड़े से अधिक उपयुक्त सिद्ध हो। लेकिन, यह एक बहुत ही विचित्र संयोग है कि कुछ समय पूर्व तक चपड़ा ही एकमात्र ऐसा पदार्थ था, जिसका कोट कीटमार ओषधियों के डिब्बों की धातु की रक्षा करने में समर्थ था। अब कुछ समय हुए एक ऐसे प्लास्टिक का विकास किया गया है, जो इस कार्य के लिए इस्तेमाल किया जा सकता है।

अमेरिका की नौसेना ने भी कुछ समय तक अपने गोलों और राकेटों की सुरक्षात्मक खोलें तैयार करने में चपड़े का उपयोग किया, लेकिन अब इसने एक ऐसा कृत्रिम पदार्थ खोज लिया है, जो इस कार्य के लिए चपड़े से भी अधिक उपयुक्त सिद्ध हुआ है।

फोनोग्राफ के अविष्कार के प्रारम्भिक दिनों में 'शिलेक' (चपड़े) से ही रिकार्ड तैयार किए जाते थे और कुछ लोग सामान्य बोलचाल में उन्हें 'शिलेक' कह कर पुकारा करते थे, जैसा अब लोग उन्हें 'प्लेटर्स' कहकर पुकारते हैं। १९३०-४० में रिकार्डों के निर्माण में चपड़े के स्थान पर प्लास्टिक का उपयोग होना प्रारम्भ हुआ और अब तो पूरी तरह से प्लास्टिक के ही रिकार्ड बनने लगे हैं। इससे लाख के उत्पादकों के व्यवसाय को काफी धक्का पहुँचा, परन्तु यह स्थिति देर तक नहीं रही। इसी बीच में पौलिश वाले फर्श और फर्नीचर-वेक्सों का बड़े पैमाने पर विकास होने लगा। इन वस्तुओं के निर्माण

में चपड़े का बड़ी मात्रा में इस्तेमाल हुआ, जिसके फलस्वरूप उसकी मांग और अधिक बढ़ गई।

जब फर्नीचर वेक्सों और पोलिशयुक्त फर्शों की माँग बहुत बढ़ गई और उनका काफी बड़े पैमाने पर व्यापार होने लगा, निर्माताओं ने ऐसी कृत्रिम रालों की तलाश करनी प्रारम्भ कर दी, जिन्हें लकड़ी, विनियल या लिनोलियम के फर्शों को पोलिश के लिए इस्तेमाल किया जा सके और जिनकी पोलिश चपड़े की पोलिश की तरह पुरानी होने पर पीली न पड़े। इस माँग के फलस्वरूप धीरे-धीरे हाल के वर्षों में इन वस्तुओं के उत्पादन में भी कृत्रिम रालें चपड़े का स्थान ग्रहण करती जा रही हैं।

लेकिन इस अवधि में रांची (भारत) स्थित भारतीय लाख संस्थान एवं अमेरिकी उद्योगों में लाख के उपयोगों के सम्बन्ध में अनुसन्धानरत रसायनशास्त्री चुप नहीं बैठे रहे। उन्होंने चपड़े की अधिक शुद्ध और नए प्रकार की किस्मों का निर्माण और उनके लिए नए उपयोगों की खोज का कार्य जारी रखा है। अभी हाल में तीन अमेरिकी फर्मों ने ऐसी नई विधियों का पता लगाने की घोषणा की है, जिनके उपयोग से फर्शों पर की जाने वाली चपड़े की पौलिश पीली नहीं पड़ेगी। इस प्रकार एक बार पुनः इन पौलिशों के निर्माण में उनके प्रयोग किए जाने की सम्भावना बढ़ जाएगी।

वैज्ञानिकों ने अनेक बार इस बात का प्रयास किया है कि वे उस रासायनिक प्रक्रिया को अपनी प्रयोग-शालाओं में सफलतापूर्वक दुहरा सकें, जो लाख के कीड़े द्वारा अपनाई जाती है। २०वीं सदी के प्रारम्भिक वर्षों में एक बेल्जियन-अमेरिकी डाक्टर लियो बेकोलैण्ड ने इस रहस्यपूर्ण गुत्थी को सुलझाने का प्रयास किया। यद्यपि, उन्हें अपने इस प्रयास में सफलता नहीं मिली, परन्तु इस प्रक्रिया में उन्होंने बेकोलाइट नामक एक नए पदार्थ का निर्माण करने में सफलता प्राप्त कर ली। बेकोलाइट की गणना संसार में निर्मित होने वाले सर्वप्रथम प्लास्टिकों में की जाती है। अमेरिकी आयातक यह अनुभव करते हैं; भारतीय लाख का भविष्य उज्ज्वल है क्योंकि उनका कहना है कि चपड़े में कुछ ऐसे विशिष्ट गुण हैं, जिनका सृजन कृत्रिम तौर पर नहीं किया जा सकता और अपनी इन्हीं विशेषताओं के कारण ही वह आज भी विविध प्रकार की वस्तुओं का निर्माण करने सम्बन्धी आवश्यकताओं को पूरा करने में समर्थ है।

●●

सापेक्षवाद और प्रकृति की मूलभूत संरचना—भौतिकी दृष्टिकोण

अरुण न्यूर

साधारणतः एक भौतिक विज्ञानवेत्ता दिक् (Space) को प्रागनुभव संकल्पना (a priori concept) के रूप में स्वीकार करता है। उसके लिए पदार्थ और उससे सम्बन्धित किसी भी घटना के लिए दिक् एक आवश्यक आधार है। अतः पर्यवेक्षण परिकल्पना, सिद्धान्त-पुष्टि, परीक्षण तत्पश्चात् सैद्धांतिक तथ्य ही विज्ञान की रूपरेखा स्वीकृत हुई। परन्तु इस रूपरेखा के कारण प्रकृति का रहस्योद्घाटन बड़े संकुचित दृष्टिकोण से प्रारम्भ हुआ। यह एक ऐतिहासिक सत्य है कि न्यूटन महोदय ने अपने गति के प्रथम नियम के कारण निरपेक्ष दिक् (absolute space) में विश्वास किया क्योंकि उनके लिए गति का प्रथम नियम* एक प्रयोगात्मक तथ्य था। आज हम आइन्स्टीन के "विशिष्ट सापेक्षवाद" (Special relativity) के सिद्धान्त से यह जानते हैं कि वास्तव में ऐसा नहीं है। इस सिद्धान्त के अनुसार दिक् एक सापेक्ष संकल्पना (relative concept) है जिसके कारण त्रिविस्तारात्मक दिक् (three dimensional space) और काल का एक विस्तार संयुक्त होकर एक चतुर्विस्तारात्मक दिक्-काल अखण्डता (Four dimensional space-time continum) को प्राप्त होता है। इस अखण्डता का प्रत्येक विन्दु एक घटना प्रदर्शित करता है।

यदि हम किसी घटना को एक बिन्दु-प्रपंच के रूप में स्वीकार करें तो दिक्-काल का विश्लेषण घटनाओं के समूह के रूप में किया जा सकता है जिसकी विविक्त विचारणा (abstraction) एक घटना के दूसरी घटना पर प्रभावित होने के रूप में करनी चाहिए। इस प्रकार की धारणा स्वीकार करने से हम सरलता से कह सकते हैं कि प्रत्येक घटना किसी अन्य घटना के कारण घटित होती है। इसलिए दिक्-काल की संरचना का विश्लेषण घटनाओं के एक क्रम के रूप में करना चाहिए और दिक्-काल सम्बन्धों का विश्लेषण पदार्थों की परस्पर-क्रिया और अन्य प्रपंचों पर आधारित समझना चाहिए। उनका कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है इसलिए वस्तुतः दिक्-काल संरचना का विश्लेषण अन्योन्य क्रियाओं के सामान्य नियमों (General laws of interaction) से करना चाहिए और दिक्-काल संकल्पना का आधार इस मूलभूत और सामान्य सत्य पर निर्भर समझना चाहिए कि प्रत्येक प्रपंच किसी अन्य प्रपंच के कारण क्रियाशील है।

उक्त दृष्टिकोण से समझने पर, विशिष्ट सापेक्षवाद केवल गुरुत्वाकर्षण की अनुपस्थिति में ही सही कहा जा सकता है, क्योंकि गुरुत्वाकर्षणीय विभव (Gravitional polential) को एक एक भौतिक राशि के रूप में सम्मिलित करने से, सभी भौतिक-नियम गुरुत्वाकर्षणीय विभव तथा अन्य भौतिक-राशियों के संबन्धों के रूप में स्वीकृत किये जा सकते हैं। भौतिक प्रपंचों के विश्लेषण को गुरुत्वाकर्षणीय दृष्टिकोण से समझने के लिए, इस विषय में न्यूटन की

*प्रत्येक वस्तु अपनी स्थिर या सीधी रेखा में गतिमान अवस्था को बनाये रखेगी, जब तक कोई बाहरी लगाया हुआ बल उसे अपनी स्थिति बदलने को प्रेरित न करे।

धारणाओं को जानना आवश्यक है, (उनके दार्शनिक प्रभाव को न मानते हुए)।

न्यूटन का गुरुत्वाकर्षण सिद्धान्त किसी भी दूरी पर तत्कालिक क्रिया में विश्वास करता है। गुरुत्वाकर्षण संबन्धी न्यूटन की धारणाएँ निम्न कथनों को स्वीकार करती हैं :—

(अ) एक ही राशि जड़त्वीय द्रव्यमान (Inertial mass) और निष्क्रिय गुरुत्वाकर्षणीय द्रव्यमान को प्रकट करती है।

अर्थात् किसी परीक्षण-कण (अर्थात् किसी ऐसे कण जिसका गुरुत्वाकर्षण क्षेत्र उपेक्षणीय हो) की गति के समीकरण उसके द्रव्यमान और संयोजन पर निर्भर नहीं करता।

(ब) एक ही राशि क्रियाशील और निष्क्रिय गुरुत्वाकर्षणीय द्रव्यमान प्रकट करती है।

अर्थात् गुरुत्वाकर्षण क्षेत्र पदार्थ के कारण है और वही पदार्थ पर प्रभाव डालता है।

गुरुत्वाकर्षण संकल्पना का विकास

किसी भी आदर्श गुरुत्वाकर्षण सिद्धान्त में न्यूटनीय गुरुत्वाकर्षण का उचित सीमा में समावेश होना चाहिए (न्यूटन की दार्शनिक धारणायें स्वीकृत न होने पर भी) साथ ही, यदि वह आदर्श सिद्धान्त भौतिक-कणों की गति द्वारा प्रभावित है तो एक उचित सीमा तक विशिष्ट सापेक्षवाद को भी सम्मिलित रहना होगा ताकि भौतिकी के नियम विशिष्ट सापेक्षवाद द्वारा स्वीकृत सीमाओं में (एक समान रेखिक वेग) निर्बाध रहें। साधारण सापेक्षवाद इन आवश्यकताओं को किसी सीमा तक स्वीकार करता प्रतीत होता है।

जर्मन दार्शनिक, माख ने यह सुझाव दिया था कि जड़त्वीय बल (inertial force) किसी प्रकार ब्रह्मांड के दूरस्थ भागों से सम्बन्धित है। उन्होंने इस सुझाव पर कोई परिणात्मक सिद्धान्त निरूपित नहीं किया था। आइन्स्टीन ने इस धारणा को "माख-सिद्धान्त" कहा, जिससे यह निरूपित होता है कि त्वरण (acceleration) निरपेक्ष दिक् के सापेक्ष न होकर, ब्रह्मांड के बड़े-बड़े दूरस्थ द्रव्य-पिंडों के सापेक्ष होना चाहिए। फैराडे और मैक्सवैल का क्षेत्र-सिद्धान्त (field theory) भी इसी तथ्य को प्रकट करता है, यदि हम क्षेत्र-सिद्धान्त का मूलभूत उद्देश्य केवल त्वरण-बल को दूर करने के रूप में समझें।

इस प्रकार आइन्स्टीन का गुरुत्वाकर्षण न्यूटन के गुरुत्वाकर्षण से पूर्णतः भिन्न है और हमें यह समझने में सहायक होता है कि भौतिक वस्तुएँ, तथाकथित शून्य में लाखों मील के अंतर पर एक-दूसरे पर क्यों प्रभाव डालती हैं।

प्रकृति के मूलभूत कणों की रचना

हम यह जानते हैं कि सम्पूर्ण भौतिक-जगत कुछ तथाकथित मूलभूत-कणों से संयुक्त हुआ है। यदि हम किसी भाँति यह जान जायें कि ये मूलभूत-कण कैसे बने हैं तो हम प्रकृति की अन्य क्रियायें भी समझ सकते हैं। इस दिशा में एक सिद्धान्त निरूपित करने के लिए प्रथम प्रयास मी (Mie) ने किया जो विद्युतीय मूलभूत कणों की उपस्थिति की कल्पना कर सका। इनके अनुसार विद्युतीय मूलभूत कणों में कूलम्ब प्रतिकर्षी बल अन्य समान विद्युतीय बलों द्वारा संतुलित है। आइन्स्टीन ने इन मूलभूत कणों की संरचना को समझने के लिए पूर्णतः भिन्न दृष्टिकोण अपनाया, इन्होंने इन कणों को केवल गुरुत्वाकर्षणीय बलों के कारण संयुक्त हुए रूप में समझा। उन्होंने अपने गुरुत्वाकर्षण को क्षेत्र-समीकरणों से प्रारम्भ करके यह सिद्ध किया कि पदार्थ में कुल संयुक्त शक्ति में से $\frac{3}{4}$ भाग विद्युत-चुम्बकीय प्रकृति और $\frac{1}{4}$ भाग गुरुत्वाकर्षण प्रकृति का है। परन्तु इस हल में एक कठिनाई यह है कि प्रत्येक विद्युतीय गोलीय सममित बंटन (symmetric distribution of electricity) संतुलित प्रतीत होता है जो सम्भव नहीं है, क्योंकि यह प्रकृति में मूलभूत-कणों का केवल एक विशेष-समूह विद्यमान है। इसलिए ऐसा फल नहीं प्राप्त होना चाहिए, तथापि आइन्स्टीन का साधारण सापेक्षवाद सृष्टि रचना की ओर संकेत सा करता प्रतीत होता है।

इस सम्बन्ध में पॉली (Pauli) द्वारा व्यक्त धारणात्मक संदेह का भी उल्लेख करना आवश्यक प्रतीत होता है। उन्होंने कहा कि यह सांतत्यक सिद्धान्त (Continuum theories) इलेक्ट्रान के भीतर भी वैद्युत-क्षेत्र को साधारण क्षेत्र के रूप में स्वीकार करता है। इस क्षेत्र की तीव्रता का विश्लेषण बल के परीक्षण-कण पर प्रभाव के रूप में किया जाता है। क्योंकि किसी परीक्षण-कण के इलेक्ट्रान के भीतर स्थित होने की कल्पना नहीं की जा सकती, इसलिए इलेक्ट्रान के भीतर किसी बिन्दु पर इस क्षेत्र की तीव्रता का प्रेक्षण नहीं किया जा सकता। अतएव सांतत्यक-सिद्धान्त केवल एक कल्पित आधार प्रस्तुत करते हैं।

इन तर्कों के सम्बन्ध में चाहे कुछ भी विस्तृत धारणा स्वीकार की जाये परन्तु इतना तो निश्चित है ही कि परमाणु-जनित क्वांटम गुणों का विश्लेषण एकक-क्षेत्र सिद्धान्त पर वैद्युत-चुम्बकीय और गुरुत्वाकर्षणीय क्षेत्रों का एकीकरण करते हुए आधारित हो सकता है; परन्तु इन क्षेत्रों के उद्गम मूलभूत कणों की प्रक्रियाओं की क्वांटम सांख्यिकीय सिद्धान्त से विवेचना स्वीकार करने के लिए, इन क्षेत्रों को चिरसम्मत (classical) रूप में स्वीकार करना सम्भव नहीं है क्योंकि उस दशा में क्षेत्र के सभी घटकों के समक्षणिक मापन द्वारा प्रत्येक द्रव्यात्मक मूलभूत-कण की गति और स्थिति दोनों ज्ञात की जा सकेंगी जो हाइज़नवर्ग के अनिश्चितता सिद्धान्त के कारण सम्भव नहीं है। यदि हम हाइज़नवर्ग के अनिश्चितता सिद्धान्त में विश्वास रखना चाहते हैं तो द्रव्यात्मक मूलभूत कणों के भौतिक-दिक् में गुरुत्वाकर्षण क्षेत्र और विद्युत-चुम्बकीय क्षेत्र का उच्चावयन (fluctuation) होना ही चाहिए।

अभी हाल के एक शोध-पत्र में एल्डेन मीड (Alden Mead) ने केवल गुरुत्वाकर्षण क्षेत्र के उच्चावयन की तुलना प्रकृति को मूलभूत-लम्बान* से करते हुए यह दर्शाया है कि किसी द्रव्यात्मक मूलभूत-कण की स्थिति का मापन करने में $\sqrt{G}$ की त्रुटि चतुर्विस्तारात्मक दिक्-काल अखण्डता में ही निहित है, जहाँ G गुरुत्वीय स्थिरांक है।

यह धारणा हमें यह समझने में सहायक बनती है कि इस द्रव्यात्मक संसार में दृश्य अनिश्चितता वास्तव में दिक्-काल अखण्डता का गुण है। यह अनिश्चितता केवल उस प्रकाश किरण के कारण ही नहीं है जिसके माध्यम से हम किसी द्रव्यात्मक मूलभूत-कण का प्रेक्षण करना चाहते हैं जैसा कि हाइनज़्वर्ग के अनिश्चितता सिद्धान्त को समझाते समय प्रतिपादित किया जाता है।

भौतिकी का यह दृष्टिकोण साधारण सापेक्षवाद और क्वांटम संकल्पना को संयुक्त करता प्रतीत होता है और ऐसी आशा की जाती है कि निकट भविष्य में यह प्रकृति की मूलभूत संरचना समझने में सहायक बनेगा।

●●

---

*यदि दो मूलभूत-कण एक निश्चित लम्बान से कम दूरी पर स्थित हों तो उनका विवर्तनात्मक प्रयोगों (Difractions experiments) द्वारा प्रत्यक्षीकरण नहीं किया जा सकता। इस क्रान्तिक (critical) लम्बान को मूलभूत लम्बान कहते हैं। यह लम्बान मूलभूतकणों के गुणों पर निर्भर नहीं करती।

"विज्ञान" का यह "प्रगति अंक"

विज्ञान के विविध क्षेत्रों में जो प्रगति हो रही है, उससे अपने पाठकों को परिचित कराने के उद्देश्य से "विज्ञान" का यह "प्रगति अंग" प्रस्तुत किया जा रहा है। आशा है यह अंक रुचिकर प्रतीत होगा और साथ ही सूचनाप्रद भी।

किन्हीं कारणों से "विज्ञान" का जून-जुलाई अंक संयुक्त अंक के रूप में प्रकाशित करना पड़ रहा है। पाठकों को इससे जो असुविधा हुई होगी, उसके लिये हम क्षमाप्रार्थी हैं।

"प्रगति अंक" में भूगर्भ, चिकित्सा, कृषि, अंतरिक्ष विज्ञान तथा प्राविधिक क्षेत्र में जो नवीन उपलब्धियाँ हुई हैं उनका संक्षेप में संकलन किया गया है। सतर्कता बरतने पर भी अनेक पक्ष छूट गये हैं किन्तु हमें विश्वास है कि अभावों की अपेक्षा जो कुछ प्रस्तुत किया गया है उस पर अधिक ध्यान दिया जावेगा।

यह युग प्रगति का युग है। नित्यप्रति इतने आविष्कार एवं शोध होते रहते हैं कि उनसे परिचित हो लेना दूभर बन गया है, उनके सम्बन्ध में पूर्णज्ञान प्राप्त करने में तो और भी कठिनाइयाँ हैं। ऐसी स्थिति में "विज्ञान" के इस "प्रगति अंक" में केवल उन्हीं विषयों के सम्बन्ध में नवीन सूचनायें प्रस्तुत की गई हैं जिनके सम्बन्ध में पहले लेख प्रकाशित होते रहे हैं।

हमारा यह प्रयास कहाँ तक सफल हुआ है, इसका पूर्वानुमान लगाना कठिन है किन्तु हमारा विश्वास है कि हमारे पाठक अपने विचारों से अवगत कराकर हमें प्रोत्साहित करेंगे। अपनी त्रुटियों से परिचित हो लेने पर हम उनको दूर करने का भरसक प्रयास करेंगे।

पाठकों एवं लेखकों के सहयोग पर ही "विज्ञान" अवलम्बित है अतः उनके विचारों को कार्य रूप में परिणत करना हमारा मूल उद्देश्य है। फलतः हम अपने पाठकों एवं लेखकों के सभी प्रकार के प्रस्तावों तथा सुझावों को जानना चाहेंगे, साथ ही हमारा निवेदन है कि वैज्ञानिक विषयों के ऐसे पक्षों पर भी लेखक अपनी कलम चलावें जो अभी तक उपेक्षित रहे हैं अथवा जिनके जाने जाने की नितान्त आवश्यकता है।

राष्ट्र-भाषा हिन्दी के भण्डार को समृद्ध करने के लिए आवश्यक है कि वैज्ञानिक साहित्य का सृजन हो और नवीन प्रतिभायें सामने आवें।

●●

विज्ञान परिषद् अनुसन्धान पत्रिका

वैज्ञानिक अनुसन्धान से सम्बन्धित हिन्दी की प्रथम शोध पत्रिका

(त्रैमासिक)

जिसमें गणित, भौतिक शास्त्र, रसायन शास्त्र, प्राणि शास्त्र, वनस्पति शास्त्र तथा भूगोल शास्त्र पर मौलिक एवं शोधपूर्ण निबन्ध प्रकाशित होते हैं। भारतवर्ष की विविध प्रयोगशालाओं के उत्कृष्ट निबन्धों को इसमें स्थान दिया जाता है।

विश्व की सभी प्रमुख वैज्ञानिक संस्थाओं, पुस्तकालयों तथा विश्वविद्यालयों द्वारा यह पत्रिका समादृत है।

सामान्य सदस्यों के लिए वार्षिक शुल्क ८ रु०। 'विज्ञान' के सभ्य ४ रु० अतिरिक्त वार्षिक शुल्क देकर अनुसन्धान पत्रिका प्राप्त कर सकते हैं। यह पत्रिका अभी त्रैमासिक है किन्तु भविष्य में द्वैमासिक होने की सम्भावना है।

प्रधान सम्पादक—डा० सत्य प्रकाश

प्रबन्ध सम्पादक—डा० शिवगोपाल मिश्र

मंगाने का पता

विज्ञान परिषद् अनुसन्धान पत्रिका,

विज्ञान परिषद्,

थार्नहिल रोड,

इलाहाबाद—२

विज्ञान परिषद्, प्रयाग का मुखपत्र

विज्ञानं ब्रह्मेति व्यजानात्। विज्ञानाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते।
विज्ञानेन जातानि जीवन्ति। विज्ञानं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति। तै० उ० ३।५।

भाग १०१ | श्रावण २०२२ विक्र०, १८८७ शक अगस्त १९६५ | संख्या ५

देश में वैज्ञानिक जागरूकता

डा० सन्त प्रसाद टण्डन

२८ जून को सम्पन्न उत्तर प्रदेश हिन्दी साहित्य सम्मेलन के त्रयोदश विशेष अधिवेशन में विज्ञान परिषद् के समक्ष दिया गया अध्यक्षपदीय भाषण—सम्पादक

जिस दिन से पृथ्वी पर मानव अवतीर्ण हुआ उस दिन से ही विज्ञान का आरंभ होना मान लेना युक्तिसंगत है। मनुष्य को ईश्वर ने बुद्धि दी है और विचारने की शक्ति दी है। अपने चारों ओर के वातावरण में तथा इस सृष्टि में होने वाली विभिन्न घटनाओं की ओर प्रथम मानव की दृष्टि न गई हो, ऐसा संभव हो नहीं सकता। एक बीज को अंकुरित होते तथा वृद्धि कर पौधे का रूप लेते उसने देखा होगा, बादलों में बिजली की तड़पन और चमक उसने देखी होगी, बादलों का एक स्थान से दूसरे स्थान में आकाश मार्ग से गमन और वर्षा करना उसने देखा होगा। साथ ही उसने देखा होगा कि नियमित रूप से सूर्य उदय होता है और उसके साथ दिन का आगमन होता है और फिर उसके अस्त होने पर रात्रि का अंधकार पृथ्वी को आवृत्त कर लेता है। ऋतुओं का अपने नियमित क्रम से आना-जाना भी उसने देखा होगा। अस्तु, संसार की तथा उसके निकट के वातावरण की अनेकों घटनायें प्रथम मानव की दृष्टि के सामने उसके पृथ्वी पर जन्म लेने के साथ ही आईं। इन घटनाओं ने उसके मन में एक उत्सुकता जागृत की और उसने यह जानने का प्रयत्न आरंभ किया कि ये घटनायें क्या हैं और क्यों घटित होती हैं। बस यहीं से विज्ञान का आरंभ होता है। प्रकृति में होने वाली घटनाओं के रहस्यों को सत्य रूप में जानना ही विज्ञान है।

हमारा देश ऋषियों और महर्षियों का देश है। इस देश की प्राचीन परम्परा थी कि ज्ञान की खोज को प्राथमिक स्थान दिया जाता था। ऋषि और महर्षि जन-कोलाहल से दूर किसी एकान्त स्थान में आश्रम बनाकर शिष्यों सहित रहते थे और ज्ञान की प्राप्ति के लिए तपस्या करते थे। तपस्या का अर्थ चिन्तन और मनन था। उन दिनों हमारे यहाँ मुख्य रूप से आध्यात्मिक क्षेत्र में चिन्तन और मनन का क्रम प्रचलित था और

इस कारण इस दिशा में हमारे ऋषियों और महर्षियों ने बड़ा ज्ञान अर्जित किया। आध्यात्मिक क्षेत्र के अतिरिक्त भौतिक क्षेत्र में भी हमारे पूर्वजों ने कम उन्नति नहीं की थी। अंकों की खोज जिस पर हमारा अधिकांश ज्ञान आधारित है, इस देश ही में हुई। अंकों में शून्य की कल्पना और उसका अन्य अंकों के साथ प्रयोग भी संसार को हमारी ही देन है। दशमलव प्रणाली का आविष्कार भी इसी देश में हुआ। इसी प्रकार विज्ञान के अन्य क्षेत्रों में भी प्राचीन भारत में महत्वपूर्ण खोजें हुई थीं। लोगों का विश्वास है कि अग्नि की जानकारी और उसको उत्पन्न की विधि भी सबसे पहले इसी देश ने ज्ञात की थी। वेदों की गणना संसार के प्राचीनतम साहित्य में की जाती है। उनमें इसकी चर्चा है कि अग्नि को अथर्वन ने उत्पन्न किया और उसका पूरा ज्ञान उन्हीं के वंशजों के पास बहुत समय तक सीमित रहा।

रसायन विज्ञान, चिकित्सा विज्ञान आदि में भी प्राचीन भारत में उस समय की परिस्थिति के अनुसार पर्याप्त खोजें हुईं। आयुर्वेद में उपयोग होने वाली अनगिनत जड़ी-बूटियों की खोज कम महत्व की नहीं है। हमारे लिए आज यह कल्पना करना भी कठिन है कि जिस परिस्थिति में हमारे पूर्वजों ने जड़ी-बूटियों का ज्ञान तथा उसके गुणों की जानकारी प्राप्त करने का काम किया, उस समय यह काम कष्टसाध्य ही नहीं था वरन् पैनी बुद्धि की अपेक्षा भी रखता था। आयुर्वेद में रसायनों का उपयोग भी रासायनिक खोजों का ही परिणाम था। धातुओं के शोध और उनके उपयोग के सम्बन्ध में रसायन के क्षेत्र में कुछ महत्व की खोजें हमारे यहाँ हुई थीं। आज भी दिल्ली में कुतुबमीनार के समीप खड़ा लोहे का अशोक स्तम्भ हमारे प्राचीन रसायनज्ञों के उच्चकोटि के ज्ञान का प्रतीक है। इतना शुद्ध लोहा जिस पर मुर्चा नहीं लगता किस प्रकार प्राचीन भारत में बना, यह आज के वैज्ञानिकों को भी आश्चर्य में डालती है। इन सब तथ्यों से यह तो स्पष्ट प्रतीत होता है कि प्राचीन भारत में विज्ञान की एक परम्परा थी और हम उस समय किसी भी देश से इस दिशा में पिछड़े हुए नहीं थे।

नवीं-दशवीं शताब्दी तक जब तक हम स्वतंत्र थे हमारे देश में ज्ञान और विज्ञान की उन्नति का क्रम सतत गति से चलता रहा। इसके उपरान्त ऐसा जान पड़ता है कि विदेशी आक्रमणों के कारण देश की शांति भंग हो गई और समस्त सामाजिक व्यवस्था में उलट-फेर हुई जिसका स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि हमारे ज्ञान की खोज के काम में अवरुद्धता आ गई। ज्ञान अर्जन चिन्तन और मनन का परिणाम होता है। चिन्तन और मनन के लिए अनुकूल वातावरण और परिस्थिति अपेक्षित है। नवीन खोजों की प्रेरणा दो दिशाओं से प्राप्त होती हैं—एक तो मनुष्य की आवश्यकता और दूसरी ज्ञान प्राप्ति की अभिलाषा। सन् १८११-१२ में जब इंगलैण्ड ने फ्रांस को चारों ओर से घेर रखा था और फ्रांस में चीनी समुद्र मार्ग से होकर नहीं पहुँच सकती थी, तब वहाँ एक प्रकार की चीनी-ग्लूकोस की खोज की गई जो स्टार्च से बनाई जा सकती थी। इसी प्रकार जब १९१४-१८ के महायुद्ध में जर्मनी को बाहर से रबर मिलना बन्द हो गया तब जर्मनी में रासायनिक विधि द्वारा नये रबर का संश्लेषण किया गया। हमारे सामने इस तरह के अनेक उदाहरण हैं जिनसे यह स्पष्ट है कि आवश्यकता से प्रेरित होकर विभिन्न देशों ने महत्वपूर्ण खोजें कीं। इसीलिए यह कथन प्रचलित है कि 'आवश्यकता आविष्कार की जननी है।'

ज्ञान के अर्जन में दूसरा प्रेरक है मनुष्य के मन में ज्ञान प्राप्ति की अभिलाषा का होना। इस अभिलाषा का उत्पन्न होना बहुत अंश तक वातावरण और परिस्थिति पर निर्भर करता है। जब देश में सुख शान्ति का वातावरण होता है और लोगों को कोई विशेष चिन्ता नहीं रहती तभी उनका ध्यान ज्ञान-प्राप्ति की ओर लगता है। यदि देश में शान्ति नहीं है और लोग अपनी व्यक्तिगत चिन्ताओं में ग्रस्त हैं तब उनका ध्यान कभी ज्ञान की खोज की ओर नहीं जा सकता। नवीं-दशवीं शताब्दी के बाद हमारे देश में एक के बाद दूसरे विदेशी लोगों का आक्रमण तेजी से होने लगा और देश की राजनीतिक दशा अशान्तिमय और अनिश्चित हो गई। एक के बाद दूसरे शासक बदलते गये और

विदेशी शासकों ने हमें पद-दलित किया। हमारी सुख शान्ति नष्ट हो गई। ज्ञान की खोज की जो परम्परा हमारे यहाँ थी वह स्वभावतः अवरुद्ध हो गई। अन्त में हम अँग्रेजों के आधीन हो गये और जो कुछ स्वतंत्रता हमें थी वह भी जाती रही। हमारी शिक्षा का माध्यम भी विदेशी भाषा हो गई जो हमारे मौलिक चिन्तन को अवरुद्ध करने में सबसे बड़ा कारण हुई।

जिन दिनों हम अँग्रेजों की अधीनता में आये, वही समय था जब योरोप में विज्ञान के क्षेत्र में क्रान्तिकारी खोजें हुईं। इन्हीं अन्वेषणों के फलस्वरूप योरोप में औद्योगिक क्षेत्र में एक क्रान्ति हुई। नये-नये यन्त्रों और नयी-नयी विधियों का आविष्कार हुआ जिनके कारण हमारे उपयोग में आने वाली अनेक वस्तुयें हमें बहुत सुलभ हो गईं। भाप के इंजन ने न केवल यातायात ही सुलभ कर दिया, इसने विभिन्न वस्तुओं के उत्पादन को भी सरल और सस्ता किया। माइकेल फैराडे की खोज ने जब विद्युत सुलभ की तब औद्योगिक क्रान्ति अपनी चरम सीमा पर पहुँच गई। इसने हमारी सभ्यता और जीवन को एकदम बदल दिया। यह कल्पना करना भी कठिन होगा कि यदि आज विद्युत मनुष्य से ले ली जाय तो हमारी क्या दशा होगी? हमारी सभ्यता का समस्त वर्तमान रूप और हमारी औद्योगिक उन्नति उसी क्षण समाप्त हो जायगी। इससे आपको कुछ अनुमान हो सकता है कि विज्ञान ने हमारे जीवन और हमारी सभ्यता में किस सीमा तक प्रवेश किया है। आज हमारे जीवन का कोई अंश ऐसा नहीं है जो विज्ञान से अछूता बचा हो।

हमें यह मानने में ज़रा भी संकोच नहीं करना चाहिए कि वर्तमान विज्ञान योरोपीय देन है। इस क्षेत्र में योरोप में जिन लोगों ने कार्य किया उनकी तुलना हम अपने यहाँ के पुराने ऋषियों और महर्षियों से कर सकते हैं। योरोप के इन सभी वैज्ञानिकों ने ज्ञान की प्राप्ति के लिए उसी प्रकार तपस्या की जिस प्रकार हमारे यहाँ के ऋषि और महर्षि करते थे। इन सभी वैज्ञानिकों का एकमात्र उद्देश्य मानव के लाभ के लिए ज्ञानार्जन करना ही था। किसी ने भी अपने व्यक्तिगत स्वार्थ की पूर्ति के लिए विज्ञान का कार्य नहीं किया। उन्हें यह भी लालसा नहीं थी कि उनके कार्य के उपलक्ष में उन्हें शासन की ओर से कोई पुरस्कार मिले। उस समय के अधिकांश वैज्ञानिकों ने न केवल अपना समय ही विज्ञान को दिया, बहुतों ने तो अपना समस्त धन भी इस कार्य में लगाया। जब मनुष्य स्वार्थ से ऊपर होकर महत्-उद्देश्य को सामने रखकर कोई कार्य करता है तो स्वभावतः उसके कार्य करने का ढंग बदल जाता है। उस समय उस कार्य के लिए उसमें जो लगन होती है वह अपूर्व होती है। इन सब वैज्ञानिकों में विज्ञान कार्य के लिए ऐसी ही लगन थी। वे अपना समस्त समय एकाग्र बुद्धि से इसी के चिन्तन और कार्य में लगाते थे। तभी उन्हें अपने उद्देश्य में सफलता प्राप्त हुई और वे नवीन ज्ञान खोज कर हमें दे सके।

वैज्ञानिकों ने किस लगन और तपस्या से विज्ञान का कार्य किया है इसका एक छोटा-सा उदाहरण हम आपके सामने फैराडे के जीवन से रख रहे हैं। फैराडे साधारण गरीब कुटुम्ब के थे और विशेष पढ़े-लिखे नहीं थे। सर हम्फ्री डेवी की प्रयोगशाला में, जो उस समय के प्रसिद्ध रसायनज्ञ थे, फैराडे ने सहायक के रूप में कार्य करना आरम्भ किया। एक दिन संध्या समय डेवी ने फैराडे को एक विलयन विलोड़ित करते रहने का कार्य सुपुर्द किया और स्वयं किसी भोजन में चले गये। रात्रि में देर से लौटने पर वे प्रयोगशाला में नहीं आये और सोने चले गये। दूसरे दिन प्रातः जब डेवी प्रयोगशाला में आये तो उन्होंने देखा कि फैराडे विलयन को पिछले दिन की संध्या से बराबर विलोड़ित कर रहे थे, न कुछ विश्राम किया और न सोने गये। यह लगन साधारण व्यक्ति प्रदर्शित नहीं कर सकता। आगे चलकर फैराडे ने विद्युत उत्पन्न करने की महत्वपूर्ण खोज की।

लुई पास्तूर के जीवन का एक दूसरा उदाहरण मैं अब आपके सम्मुख रक्खूँगा, जिससे यह ज्ञात होगा कि मानव के कल्याण की कामना से प्रेरित होकर पास्तूर ने ऐसे ज्ञान की प्राप्ति की जिसने मनुष्य को भयंकर

रोगों से मुक्त किया है। पास्तूर फ्रांस के प्रसिद्ध वैज्ञानिक थे। उन दिनों चेचक, हैजा, प्लेग आदि रोगों से मनुष्य त्रस्त था और बहुत संख्या में उसकी मृत्यु होती थी। पास्तूर के अपने कुटुम्ब के कई प्राणी भी इन्हीं रोगों से अकाल मृत्यु से मरे। मानव के इस कष्ट को देख कर पास्तूर ने यह संकल्प किया कि वह इन रोगों के कारण और उनके दूर करने का उपाय ज्ञात करेंगे। पास्तूर ने वर्षों इन रोगों को उत्पन्न करने वाले कारणों की खोज करने में अपना जीवन लगाया, और अन्त में उन्होंने ज्ञात किया कि प्रत्येक रोग को उत्पन्न करने वाले पृथक्-पृथक् प्रकार के जीवाणु होते हैं। इसके बाद फिर शीघ्र ही इन जीवाणुओं से कैसे रक्षा हो सकती है यह पास्तूर ने ज्ञात किया। संसार को इन भयंकर रोगों से मुक्ति दिलाकर पास्तूर ने कितना महान कार्य किया! यह उनकी तपस्या और लगन का ही फल था। हमारे यहाँ प्राचीन काल में मानव की जिस कल्याण-कामना से प्रेरित होकर ऋषि और महर्षि तपस्या करते थे, पास्तूर और फैराडे ने उसी कामना से तपस्या की। अधिकांश वैज्ञानिकों ने इसी प्रकार की तपस्या की है और आज जिस उन्नति के शिखर पर हम मानव की सभ्यता को देख रहे हैं, वह इन्हीं वैज्ञानिकों की निःस्वार्थ तपस्या का फल है। समस्त संसार इन वैज्ञानिकों का चिर-ऋणी है।

विज्ञान का महत्व बतलाने की हमें विशेष आवश्यकता नहीं है। कोई भी मनुष्य ऐसा नहीं है जो इसके महत्व को समझता न हो। हमारा भोजन, वस्त्र, रहन-सहन, यातायात, उद्योग, देश की सुरक्षा आदि सभी क्षेत्रों में विज्ञान का प्रवेश है। आज से २०० वर्ष पूर्व क्या मनुष्य यह कल्पना कर सकता था कि वह हवाई जहाज द्वारा कुछ ही समय में समस्त संसार का भ्रमण कर सकेगा, अथवा रेडियो द्वारा कुछ ही क्षणों में हजारों मील का समाचार सुन सकेगा? परमाणु-ऊर्जा जैसा अस्त्र मनुष्य के हाथ में होगा इसकी कल्पना भी मानव ने कभी नहीं की थी। यह सब विज्ञान की देन है। आज कोई भी देश विज्ञान के बिना उन्नति नहीं कर सकता। प्रत्येक देश की सुख-समृद्धि विज्ञान पर आश्रित है। हमारा देश निर्धन है और विभिन्न प्रकार की समस्यायें हमारे सामने हैं। निर्धनता दूर करने के लिए देश का औद्योगीकरण आवश्यक है और बिना विज्ञान के ज्ञान का उपयोग किये हम उद्योगों की उन्नति नहीं कर सकते। देश की रक्षा का प्रश्न भी सामने है और यह भी विज्ञान के उन्नति के बिना संभव नहीं है। आज जो देश विज्ञान की दिशा में जितना आगे है वह उतना ही सुदृढ़ और सुरक्षित है। प्रत्येक राष्ट्र की भाँति हमारे राष्ट्र की भी यह स्वाभाविक आकांक्षा है कि हम उन्नति करें और हमारे यहाँ सुख-समृद्धि का निवास हो। साथ ही हमारी यह भी आकांक्षा है कि हमारा देश सुदृढ़ और सुरक्षित हो और हम एक शक्तिशाली राष्ट्र बनें। स्पष्ट है कि हमारी ये आकांक्षायें विज्ञान के ही द्वारा पूरी हो सकती हैं। अतः इसमें कोई दो मत नहीं हैं कि देश में विज्ञान का कार्य और उसकी उन्नति तीव्रता से की जाय। विज्ञान की उन्नति तीव्र गति से हमारे यहाँ कैसे हो सकती है यह हमें सोचना है।

विज्ञान की उन्नति किस उपाय या साधन जुटाने से हमारे देश में शीघ्र हो सकती है इसे ज्ञात करने के लिए यह विचार करना भी आवश्यक है कि हमारे देश में अब तक विज्ञान की उन्नति क्यों नहीं हुई और इस उन्नति में क्या रुकावटें थीं? इस प्रश्न पर विचार करते समय सबसे पहला स्वाभाविक कारण जो हमारे सामने आता है वह यह है कि हम एक स्वतन्त्र राष्ट्र नहीं थे। हम अंग्रेजी शासन की दासता में जकड़े थे। बिना स्वतंत्र हुए कोई भी राष्ट्र अपनी उन्नति और अपना विकास अपनी कल्पना के अनुसार नहीं कर सकता। किन्तु थोड़ा और गहराई से हम इस प्रश्न पर विचार करें तो हमारे सामने अपने यहाँ की वैज्ञानिक क्षेत्र तथा शिक्षा के अन्य क्षेत्रों की अवरुद्धता का वास्तविक कारण आयेगा। अँग्रेजी शासन के साथ हमारे यहाँ शिक्षा का माध्यम अँग्रेजी भाषा रक्खी गई। इस विदेशी भाषा के द्वारा ही विज्ञान के अध्ययन और अध्यापन का क्रम भी हमारे यहाँ चला। अँग्रेजी भाषा के माध्यम द्वारा विज्ञान का अध्ययन करते हुए हमें

लगभग सौ वर्ष तो हो ही गये हैं। भाषा के अतिरिक्त इस अध्ययन में हमारे सामने कोई दूसरी रुकावट हमारे सामने नहीं डाली गई थी। सर चन्द्रशेखर वेंकट रमन तथा जगदीश चन्द्र बोस ऐसे कुछ उच्च कोटि के वैज्ञानिक हमारे यहाँ हुए जिन्होंने अँग्रेजी भाषा के माध्यम से विज्ञान की शिक्षा प्राप्त की थी। किन्तु इतने वर्षों में केवल बहुत थोड़े से लोगों को छोड़ कर अधिकांश लोग जिन्होंने विज्ञान का अध्ययन अँग्रेजी माध्यम से किया विज्ञान के क्षेत्र में उच्चकोटि के कार्य करने में समर्थ नहीं हो सके। इसके विपरीत दूसरे छोटे-छोटे देश भी जहाँ विज्ञान का अध्ययन उनकी अपनी भाषा में होता था, इस बीच पर्याप्त संख्या में उच्चकोटि के वैज्ञानिक संसार को दे सके। जर्मनी, फ्रांस और इंगलैंड प्रत्येक हमारे देश की तुलना में बहुत छोटे देश हैं और उनकी जनसंख्या हमसे बहुत कम है। फिर भी इन देशों ने इसी काल में अनेकों ऐसे वैज्ञानिक उत्पन्न किये जिन्होंने अपने मौलिक उच्चकोटि के कार्य से विज्ञान की उन्नति की।

यदि हम यह मान लें कि हमारे देश की जलवायु और वातावरण हमारी बुद्धि को कुंठित करता है और इसी कारण इस देश में उच्चकोटि के विचारक और वैज्ञानिक नहीं बन सकते, तब तो हमें कोई दूसरा कारण ढूढ़ने की आवश्यकता नहीं रह जाती। ऐसी परिस्थिति में हम यह संतोष कर बैठ जायंगे कि हममें ऊँचे वैज्ञानिक बनने की स्वाभाविक क्षमता नहीं है। किंतु यदि हम अपने को ऐसा नहीं मानते और यह विश्वास करते हैं कि हमें भी ईश्वर ने उसी प्रकार की बुद्धि और प्रतिभा दी है जैसी अन्य देश के लोगों को, तो कोई कारण नहीं कि हम भी उच्च कोटि के वैज्ञानिक न पैदा कर सकें। हमारा प्राचीन इतिहास भी हमें अपनी क्षमता और बुद्धि में विश्वास दिलाता है। इस देश के लोगों ने विज्ञान, दर्शन और ज्ञान के अन्य क्षेत्रों में किसी समय में दूसरे देशों का नेतृत्व किया है। हम उन्हीं के वंशज हैं और उन्हीं मनीषियों का रक्त हमारे शरीर के अन्दर प्रवाहित हो रहा है। अतः हममें भी उसी प्रकार की तीक्ष्ण बुद्धि और क्षमता होनी चाहिए जैसी हमारे पूर्वजों में थी। इस विवेचना से स्वाभाविक अर्थ यह निकलता है कि **शिक्षा का मध्यम एक विदेशी भाषा का होना ही वह मुख्य कारण है जिसने हमें विज्ञान के क्षेत्र में आगे बढ़ने नहीं दिया।** हमारी परतंत्रता हमारी वैज्ञानिक उन्नति में बाधक इस कारण रही कि इसके परिणामस्वरूप ही हमारी शिक्षा का माध्यम एक विदेशी भाषा बनी। इस प्रकार हमारी परतंत्रता एक अपरोक्ष कारण रही, **वास्तविक कारण अंग्रेजी भाषा का शिक्षा का माध्यम होना था।**

अपनी भाषा का शिक्षा के क्षेत्र में क्या महत्व है और उसे क्या स्थान मिलना चाहिए यह आज के युग में विवाद का विषय नहीं है। सभी देशों के शिक्षा-विदों ने गंभीर चिन्तन और मनन के उपरान्त एकमत से यह स्वीकार किया है कि **शिक्षा का माध्यम अपनी मातृभाषा का होना नितान्त आवश्यक है।** अपनी भाषा के माध्यम से ही शिक्षित होने पर व्यक्ति की बुद्धि का विकास होता है और उसमें मौलिक चिन्तन की क्षमता आती है। आज विश्वभर में हमारे देश को छोड़ कर कोई भी ऐसा देश नहीं है जहाँ अपनी मातृभाषा के अतिरिक्त कोई अन्य भाषा शिक्षा का माध्यम हो। यही कारण है कि प्रत्येक देश उन्नति के मार्ग पर अग्रसर होता जा रहा है। हमारे देश में भी यद्यपि सभी इस सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं कि शिक्षा का माध्यम अपनी भाषा हो **फिर भी उसे कार्यरूप में परिणत नहीं करते। इसे देश का दुर्भाग्य ही कहा जा सकता है।** हमारे देशवासियों के मस्तिष्क में इस प्रश्न के संबंध में जो विकार उत्पन्न हो गया है उसे देख कर न केवल हम ऐसे सामान्य लोगों को जो इस देश के वासी हैं बल्कि दूसरे देशों के लोगों को भी आश्चर्य होता है। अंग्रेजों की भाषा, उनकी संस्कृति और आचार-व्यवहार के प्रति हमें उनके दास होने के नाते जो आकर्षण था वह आज अंग्रेजों के इस देश से चले जाने के बाद भी वैसा ही बना हुआ है। अंग्रेजी पढ़े-लिखे व्यक्ति को केवल अपनी भारतीय भाषा जानने वाले व्यक्ति की तुलना मे हम आज भी अधिक योग्य समझते हैं और उसे अधिक आदर और मान देते हैं। अंग्रेजी रहन-सहन हमें

अधिक प्रिय है। हमारा बच्चा जब हमें "पापा" कहता है तो हम पुलकित हो जाते हैं और जब 'पिता जी' कहता है तो अच्छा नहीं लगता। यह स्थिति क्या प्रदर्शित करती है ? केवल यह कि हमें अपनी संस्कृति और अपनी भाषा पर कोई आस्था नहीं है और न उसकी क्षमता पर विश्वास है। हमें अपनी ही दृष्टि में अपनी चीजें हीन लगती हैं। हम सिद्धान्त रूप में कुछ भी कहें किंतु वास्तविकता कुछ और है। हमारे मन में एक दूसरी ही भावना है। **यदि हमारे मन में सचमुच ही अपनी भाषा और अपनी संस्कृति के प्रति आस्था होती और यह विश्वास होता कि अपनी भाषा के द्वारा भी शिक्षा पाकर हम उन्नति कर सकते हैं तो सिद्धान्त रूप में हम जो बात मानते हैं वह केवल सिद्धान्त न रह कर वास्तविकता का रूप ले लेती।**

आज हमारा शासन भी विज्ञान की शिक्षा को तो देश की उन्नति के लिए नितान्त आवश्यक मानता है और चाहता है कि उसकी उन्नति शीघ्र से शीघ्र हो किंतु इसकी सफलता के लिए जो मार्ग अपनाना चाहिए वह नहीं अपनाया जा रहा है। शासन विज्ञान और तकनीकी शिक्षा के लिए प्रचुर धन भी खर्च कर रहा है किंतु यह सब धन और समस्त प्रयत्न निष्फल होगा जब तक हम ठीक मार्ग नहीं ग्रहण करेंगे। हम भटकते फिरेंगे और सफलता हमसे दूर ही भागती रहेगी। मकान खड़ा करने के लिए हम चाहे जितनी मजबूत ईंटें और मजबूत गारे का उपयोग क्यों न करें वह तब तक मजबूत नहीं हो सकता जब तक उसकी नींव मजबूत नहीं होगी। **शिक्षा की नींव भाषा है।** यदि शिक्षा का माध्यम अपनी भाषा नहीं है तो शिक्षा की नींव सदा कमजोर रहेगी और हम कभी भी ऐसी शिक्षा से ऊँचे फल की आशा नहीं कर सकते। अतः मेरा निवेदन है कि हमारे देश के लोग इस गंभीर प्रश्न पर गम्भीरता से चिन्तन करें। यह प्रश्न ऐसा है जिस पर राष्ट्र का भविष्य निर्भर करता है। आज हमारी नीति दूरदर्शिता की नीति नहीं है। हम अपने क्षणिक लाभ और सुख के लिए देश की आत्मा को खोते जा रहे हैं। समय रहते यदि हम अपने को न सँभाला तो हमारे राष्ट्र का हृदय केवल स्पन्दन करेगा उसमें आत्मा नहीं रहेगी। हम सदा दूसरों का ही मुख देखते रहेंगे और दूसरों पर ही अपनी साधारण आवश्यकताओं के लिए भी नर्भर करते रहेंगे, कभी स्वावलंबी नहीं हो पायेंगे।

अपने देश का प्राचीन इतिहास अवलोकन करने से यह ज्ञात होता है कि हमारा देश छोटे-छोटे जनपदों और गण-राज्यों में विभाजित रहा है, एक बड़े दृढ़ राष्ट्र के रूप में कभी नहीं रहा। छोटे-छोटे पृथक राज्यों में बँटे रहने के कारण ही विदेशियों को हमें अधीन बनाने में सरलता हुई। देश को एक सूत्र में बाँधने के लिए और इसे एक बड़े राष्ट्र का रूप देने के लिए एक भाषा का होना आवश्यक माना गया और यह भी माना गया कि हिन्दी ही वह भाषा है जो इस पद पर आसीन की जा सकती है। राजा राममोहन राय से लेकर आज तक के देश के विभिन्न प्रदेशों के ऊँचे विचारकों और नेताओं ने इसी बात का प्रतिपादन किया। स्वतंत्रता प्राप्त करने के बाद अपने विधान में भी हमने यही बात स्वीकार की। किंतु हमारा दुर्भाग्य यह है कि स्वतंत्र होने के बाद भी हम उसी स्थान पर खड़े हैं जहाँ १८ वर्ष पूर्व खड़े थे। हिन्दी न तो केन्द्रीय शासन द्वारा राजकाज के लिए व्यवहारिक रूप में अपनायी गई और न अन्तर्प्रादेशिक कार्यों के लिए अपनायी गई। आश्चर्य की बात तो यह है कि हिन्दी प्रदेशों में भी हिन्दी को वह स्थान नहीं मिल सका है जो उसे मिल जाना चाहिए था। इन प्रदेशों में भी न तो हिन्दी को उच्च शिक्षा में माध्यम के रूप में अब तक स्थान दिया गया है और न राजकाज में ही पूर्णरूप से इसका व्यवहार किया जाता है। यह सब देख कर ऐसा लगता है कि यद्यपि हम कहने के लिए स्वतंत्र हो गये हैं, पर यह राज्य हमारा अपना नहीं है। हमारे शरीर के भीतर किसी दूसरे देश की आत्मा निवास कर रही है और राज्य का संचालन कर रही है। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद जिन नेताओं के हाथों में हमने शासन की बागडोर सुपुर्द की उन्होंने अपने कर्त्तव्य का पालन नहीं किया। शिक्षा मंत्रालय आरंभ से ही ऐसे महापुरुषों के हाथों में दिया गया

जिनको न तो हिन्दी से प्रेम था और न उसके प्रति कोई आस्था थी। ऐसे मंत्रालय से आप क्या आशा करते थे? वास्तव में कमजोरी हमारी है। जनतंत्र राज्य जनमत पर आश्रित होता है। ऐसा जान पड़ता है कि हम स्वयं जागरूक नहीं हैं। यदि हम जागरूक हों और हमारी आवाज में बल हो तो एक क्षण में शासन की नीति पलट सकती है। शासन हमारा है और हम जिस ढाँचे पर इसे चलाना चाहें चला सकते हैं। किंतु यदि आप स्वयं ही अपने अधिकार और अपनी शक्ति को नहीं पहचानते या पहचान कर उसका प्रयोग नहीं करते तो दोष किसका है? यदि आज शासन को यह मालूम हो जाय कि इस प्रश्न पर आप शासन को पलट देंगे तो कल ही हिन्दी अपने पद पर प्रतिष्ठित हो सकती है। पिछली २६ जनवरी के बाद से उत्तर प्रदेश शासन का समस्त कार्य हिन्दी में होगा, यह घोषणा उत्तर प्रदेश की विधान सभा और विधान परिषद् में की गई किंतु आज भी अधिकांश पत्र-व्यवहार शासन की ओर से अंग्रेजी भाषा में होता है, यहाँ तक कि पंचायती राज ऐसे विभाग का काम भी, जो गाँव के लोगों से मुख्य रूप से संबंधित है, अधिकांशत: अंग्रेजी में होता है। यह सब जनता को धोखे और अँधेरे में रखने की बात है।

अब प्रश्न यह है कि हमें क्या करना चाहिए? विज्ञान की उन्नति से संबंधित कुछ सुझाव आपके सम्मुख रक्खूँगा :—

(१) यदि हमारे देश को विज्ञान के क्षेत्र में अन्य देशों के समक्ष लाना है तो तुरंत ही प्रत्येक प्रदेश में विज्ञान की शिक्षा का माध्यम प्रदेश की भाषा को करना पड़ेगा। विश्वविद्यालय के स्तर पर हिन्दीतर प्रदेश में हिन्दी भाषा को प्रदेश की भाषा के साथ-साथ विकल्प के रूप में रखना होगा। इससे एक प्रदेश का वैज्ञानिक दूसरे प्रदेश के वैज्ञानिक के साथ संपर्क रख सकेगा।

केन्द्रीय शिक्षा-मंत्री ने अपने कई भाषणों और वक्तव्यों में यह कहा है कि विज्ञान तथा तकनीकी विषयों की शिक्षा के लिए हमें अंग्रेजी भाषा को माध्यम के रूप में बहुत काल तक रखना पड़ेगा, अन्यथा हमारे यहाँ विज्ञान की उन्नति नहीं हो सकेगी। जैसा मैंने आरंभ में कहा है, मातृभाषा के अतिरिक्त किसी भी अन्य भाषा को किसी भी विषय की शिक्षा के लिए चाहे वह विज्ञान का विषय हो या ललित कला का, माध्यम रखना एकदम अवैज्ञानिक है। अंग्रेजी भाषा के माध्यम से शिक्षा से प्राप्त कर हम साधारण वैज्ञानिक तो हो सकते हैं किंतु कभी भी उच्च कोटि के वैज्ञानिक नहीं हो सकेंगे।

(२) प्रत्येक भारतीय भाषा में विज्ञान के ग्रन्थों का निर्माण तेजी से होना चाहिए। हमारी भाषाओं में वैज्ञानिक साहित्य नहीं के बराबर है। इस कमी को हमें पूरा करना है। प्राय: यह तर्क प्रस्तुत किया जाता है कि विज्ञान की शिक्षा भारतीय भाषाओं के माध्यम से इस कारण से आरम्भ नहीं की जा रही है कि हमारी भाषाओं में वैज्ञानिक साहित्य पर उपयुक्त और पर्याप्त ग्रंथ नहीं हैं। यद्यपि मैं इस तर्क से सहमत नहीं हूँ फिर भी हमारी भाषाओं में वैज्ञानिक साहित्य का भण्डार बढ़े इसकी आवश्यकता समझता हूँ। दोनों प्रश्न एक दूसरे से संबद्ध हैं और यह सच है कि शिक्षा देने के लिए ग्रन्थों का होना आवश्यक है, किन्तु साथ ही यह भी सच है कि जब तक शिक्षा का माध्यम अपनी भाषा नहीं होगी ग्रन्थों का निर्माण भी हमारी भाषा में अच्छी संख्या में और ठीक प्रकार से नहीं हो सकेगा। मेरा यह विश्वास है कि जिस दिन माध्यम के रूप में अपनी भाषा स्वीकार की जायगी उसके दूसरे दिन ही बड़ी संख्या में उत्तम कोटि के ग्रन्थों का निर्माण भी उसमें हो जायगा। लेखक ग्रन्थ का निर्माण इसलिए करता है कि लोग उसे पढ़ें और प्रकाशक इसलिए छापता है कि उससे उसे कुछ आर्थिक लाभ हो। किंतु यदि पुस्तक के पढ़ने वाले ही न होंगे तो लेखक पुस्तक क्यों लिखेगा और प्रकाशक क्यों छापेगा? अत: यह स्वयंसिद्ध है कि जब तक माध्यम के रूप में अपनी भाषा नहीं अपनाई जाती ग्रन्थों के निर्माण में रुकावट रहेगी।

इस समय शासन का और हिन्दी का कार्य करने वाली संस्थाओं का यह कर्त्तव्य है कि वे वैज्ञानिक ग्रन्थों का निर्माण करें। ग्रन्थों के निर्माण के संबंध में वैज्ञानिक

शब्दावली संबंधी कठिनाई भी उपस्थित की जाती है। यह ऐसी कठिनाई नहीं है जिसे सरलता से न सुलझाया जा सके। केन्द्रीय शासन ने विज्ञान के विभिन्न विषयों से संबंधित वैज्ञानिक शब्दों के हिन्दी पर्यायवाची बनाने का कार्य आरंभ किया था और इसके लिए विशेषज्ञों की उपसमितियाँ बनाई थीं। इन उप-समितियों ने कई वर्षों तक कार्य कर वैज्ञानिक कोष तैयार किये। जिन वैज्ञानिक शब्दों के लिए अपनी भाषा में पर्यायवाची शब्द अभी नहीं बन पाये हैं उनके बनाने में भी विशेष कठिनाई नहीं होनी चाहिए।

प्राय: यह भी कहा जाता है कि हमारी भाषा में यह क्षमता नहीं है कि वैज्ञानिक विषयों की शिक्षा उसके द्वारा दी जा सके। मैं इस बात को नहीं मानता। भाषा का विकास प्रयोग से होता है। आज अँग्रेजी भाषा एक सक्षम भाषा है किंतु आज से लगभग ८० वर्ष पूर्व यह एक निर्धन भाषा थी। उस समय योरोप में विज्ञान की समस्त शिक्षा केवल दो ही भाषाओं द्वारा संभव थी—फ्रेंच और जर्मन। इन्हीं दो भाषाओं में ऊँचा वैज्ञानिक साहित्य था और अँग्रेजों को भी इन्हीं देशों में जाकर उनकी भाषाओं के माध्यम से विज्ञान की शिक्षा ग्रहण करनी पड़ती थी। जब अँग्रेजों ने अपने देश में अँग्रेजी भाषा द्वारा विज्ञान की शिक्षा देना आरंभ किया तो जर्मन और फ्रेंच भाषा में उपलब्ध साहित्य का पहले अपनी भाषा में अनुवाद कराया, फिर धीरे-धीरे इस भाषा में मौलिक ग्रन्थ भी लिखे जाने लगे, और आज जितने ग्रन्थ वैज्ञानिक साहित्य के अँग्रेजी भाषा में है उतने किसी दूसरी भाषा में नहीं।

हमारी भाषायें सक्षम भाषायें हैं। संस्कृत की निधि उसके पास एक ऐसी निधि है जिससे वे सभी प्रकार के शब्दों का निर्माण सरलतापूर्वक कर सकती हैं। अत: जब हमारी भाषाओं का प्रयोग वैज्ञानिक विषयों की शिक्षा के लिए होने लगेगा तो उनका विकास होते समय नहीं लगेगा।

(३) हमारी साधारण जनता विज्ञान की बातों से एकदम अनभिज्ञ है। इसका एक कारण अशिक्षा तो है ही, किन्तु साथ ही एक दूसरा कारण यह भी है कि लोगों के मन में एक ऐसी गलत धारणा बैठी है कि विज्ञान एक बहुत ही क्लिष्ट विषय है और इसकी बातें समझ सकना उनके लिए कठिन है। हमें एक ऐसी योजना बनानी चाहिए जिसके अन्तर्गत विज्ञान की बातों के संबंध में साधारण जनता को हम व्याख्यानों द्वारा जानकारी करा सकें। रेडियो, टेलीफोन, परमाणु ऊर्जा, विद्युत आदि महत्व के विषयों की जानकारी सरल ढंग से साधारण जनता को देना कठिन है। हिन्दी-साहित्य सम्मेलन यह काम कर सकता है। जहाँ उसमें साहित्यिक विषयों के व्याख्यान आयोजित होते हैं वहीं साधारण जनता के लिए वैज्ञानिक विषयों पर भी विज्ञान के अध्यापकों के सहयोग से व्याख्यान आयोजित किये जा सकते हैं। इन व्याख्यानों द्वारा सरल और रोचक ढंग से विज्ञान की बहुत सी महत्व की बातें जनता को बतायी जा सकती हैं। इससे जनता में विज्ञान का प्रचार होगा और उनकी रुचि इस ओर बढ़ेगी। इन व्याख्यानों के साथ-साथ सरल भाषा में वैज्ञानिक विषयों के ग्रन्थ भी जब उपलब्ध होंगे तो स्वभावत: उन ग्रन्थों का भी प्रचार होगा। इस प्रकार अपनी भाषा द्वारा विज्ञान की शिक्षा का कार्य बहुत आगे बढ़ाया जा सकता है। जब जनता यह समझने लगेगी कि अपनी भाषा के माध्यम से वह सरलता से विज्ञान की महत्व की बातें समझ लेती है तब वह स्वाभाविक रूप में यह माँग करेगी कि विज्ञान की प्रत्येक स्तर की शिक्षा उसकी अपनी भाषा में दी जाय।

(४) हमारी भाषा में विभिन्न प्रकार के पत्र और पत्रिकाएँ तो हैं किन्तु ऐसी पत्रिकाएँ जिनमें विज्ञान की बातें बच्चों, युवकों तथा बड़ों के लिए प्रकाशित होती हों बहुत ही कम हैं। विज्ञान के प्रचार में इस प्रकार की पत्रिकायें बड़ा योगदान दे सकती हैं। बच्चों, युवकों तथा बड़ों—प्रत्येक वर्ग के लोगों के लिए उपयुक्त स्तर की वैज्ञानिक पत्रिकाओं के अपनी भाषा में प्रकाशन की बड़ी आवश्यकता है। इससे अपनी भाषा में वैज्ञानिक साहित्य बढ़ने के साथ-साथ विज्ञान का प्रचार भी

बढ़ेगा। इस दिशा में भी सम्मेलन को तथा अन्य हिन्दी-प्रेमी लोगों को ध्यान देना चाहिए।

(५) प्रत्येक देश में जहाँ विज्ञान के विभिन्न विषयों में नवीन खोज संबंधी कार्य होता है, खोज के इन परिणामों को वैज्ञानिकों के सामने प्रस्तुत करने के लिए उनकी भाषा में खोज पत्रिकायें निकलती हैं। हमारे देश में इस प्रकार की जो पत्रिकायें हैं वे सब अँग्रेजी भाषा में ही हैं। इलाहाबाद स्थित अखिल भारतीय विज्ञान परिषद् की ओर से एक "अनुसंधान पत्रिका" डा० सत्य प्रकाश जी के सम्पादकत्व में इधर कई वर्षों से राष्ट्र-भाषा हिन्दी में निकल रही है। 'विज्ञान परिषद्'' का यह कार्य बहुत महत्व का है। इस प्रकार की पत्रिकायें अधिक संख्या में निकलें और उन्हें अपने यहाँ के वैज्ञानिकों का पूरा सहयोग प्राप्त हो, इस बात का प्रयत्न सम्मेलन को करना चाहिए। इससे अपनी भाषा का महत्व विज्ञान के पठन-पाठन तथा खोज के कार्य में बढ़ेगा।

●●

(पृष्ठ १२६ का शेषांश)

सूर्य कलंक

चन्द्रमा की तरह सूर्य में भी धब्बे हैं जिन्हें **सूर्य कलंक** या ''सन स्पाट'' कहते हैं। इन धब्बों को सर्व प्रथम गैलिलियो ने अपने दूरदर्शी यन्त्र द्वारा देखा था। खगोलवेत्ताओं का कथन है कि ये धब्बे सूर्य की गैसीय सतह पर समय-समय पर उत्पन्न होने वाले भीषण बवंडर हैं। ये धब्बे समय-समय पर बनते-बिगड़ते रहते हैं। इनमें भारी चुम्बकीय शक्ति होती है। ये धब्बे प्रति ग्यारह वर्ष बाद प्रकट होते हैं।

चन्द्रमा के सूर्य तथा पृथ्वी के बीच में आ जाने से ग्रहण भी होता है। वर्ष में अधिकतम ५ एवं न्यूनतम २ सूर्य ग्रहण हो सकते हैं। पूर्ण सूर्य ग्रहण कभी-कभी ही होता है।

सृष्टि की रचना के अनुसार सूर्य की भी एक दिन मृत्यु निश्चित है।

निरन्तर शक्ति एवं ताप का दाता होने के कारण एक दिन सूर्य अवश्य ठण्डा पड़ जायगा और वह एक बुझे हुये तारे के समान हो जायगा। किन्तु उस दिन के आने में अभी अरबों वर्ष लगेंगे।

●●

सूर्य और उसकी अनन्त शक्ति

श्याम मनोहर व्यास

सूर्य पृथ्वी से बहुत दूर होने पर भी हमारे लिये विशेष महत्व रखता है। सूर्य शक्ति का स्रोत है। अन्य ग्रहवासियों का जीवन सूर्य द्वारा दिये गये प्रकाश एवं शक्ति पर ही निर्भर है। सूर्य भी अन्य तारों की तरह एक तारा है। सूर्य के परिवार को जिसमें पृथ्वी, बुद्ध, शुक्र, आदि अन्य ग्रह भी आते हैं "सौर परिवार" कहते हैं। यह अन्य तारों की अपेक्षा पृथ्वी के अधिक निकट है इसलिये बड़ा दृष्टिगोचर होता है।

सबसे निकटतम तारे की दूरी २५० खरब मील है। आकाश गंगा में लगभग चार खरब नक्षत्र हैं। प्रकाश की गति १८६००० मील प्रति सेकण्ड है। वह दूरी जो प्रकाश एक वर्ष में तय करता है "प्रकाश वर्ष" कहलाता है। एक प्रकाश वर्ष ५८,८०,००००००००० मील के बराबर होता है। सौर मण्डल से अति परे 'ऐंड्रोमेडा' का महान् कुन्तल (स्पाइरल) है। यह कुन्तल हमसे लगभग २० लाख प्रकाश की दूरी पर स्थित है।

प्रकाश देने वाले सब तारे वास्तव में सूर्य हैं। प्रत्येक तारा अपने प्रकाश से अनेक ग्रहों व उपग्रहों को प्रकाशित करता है। 'ऐंड्रोमेडा' में एक खरब तारे हैं। इन तारों के असंख्य ग्रह-उपग्रह चक्कर लगा रहे होंगे। पृथ्वी सूर्य के चारों ओर ३६५¼ दिन में एक पूरा चक्कर लगा लेती है। ग्रह सूर्य के चारों ओर अण्डाकार पथ में चक्कर लगाते हैं। ग्रह के चक्कर लगाने के काल का वर्ग दीर्घ वृत्त (Ellipse) के अर्ध दीर्घ अक्ष (Semi-major axes) के समानुपात में होता है। यथा :—

$$T^2 \propto a^3$$

जब कोई ग्रह चक्कर लगाता है तो उसके ऊपर दो प्रकार के बल कार्य करते हैं—एक केन्द्रापसारी बल जो कि ग्रह को सूर्य से दूर फेंकने का प्रयास करता है तथा अन्य बल गुरुत्वाकर्षण का है जो ग्रह को सूर्य की ओर आकर्षित करता है। जब केन्द्रापसारी बल गुरुत्वाकर्षण बल के समान होता है तो ग्रह साम्य अवस्था में से चक्कर लगाता रहता है।

सूर्य पृथ्वी से ९ करोड़ ३० लाख मील की दूरी पर स्थित है। सूर्य के सबसे निकट ग्रह बुध है जो सूर्य से ३६ × १०⁶ मील दूर है तथा ८८ दिन में सूर्य के चारों ओर चक्कर लगा लेता है। सूर्य तथा ग्रह के बीच की अधिकतम दूरी की ही गणना की जाती है। सूर्य हमसे इतनी दूर है कि ६०० मील प्रति घण्टे की गति से उड़ने वाले हवाई जहाज में बैठकर सूर्य तक पहुँचने में हमें १८ वर्ष लगेंगे।

सूर्य का व्यास ८,६६६०० मील है जो पृथ्वी से १०९·१८ गुना है। सूर्य का घनत्व १·४३ है जबकि पृथ्वी का ५·५२ अर्थात् पृथ्वी का घनत्व सूर्य से चार गुना है। सूर्य की तौल पृथ्वी से ३३३४३४ गुना है। पृथ्वी की संहति १ ९५ × १०²⁷ टन है।

सूर्य की सतह का तापमान १४००० से १५०००° फारेनहाइट है। इसके आन्तरिक भाग का तापमान लगभग ८० करोड़ फारेनहाइट है।

यह तो आप जानते हैं कि ग्रह सूर्य के चारों ओर चक्कर लगाते हैं पर यह कम व्यक्तियों को ही ज्ञात है कि सूर्य भी परिभ्रमण करता है। इसकी दो प्रकार की गतियाँ हैं :—

(१) यह पृथ्वी की भाँति अपनी धुरी पर चक्कर लगाता है और अपना एक चक्कर २५ दिन ७ घंटे और

४८ मिनट में पूरा करता है। इसकी गति १६·६ किलोमीटर प्रति सैकण्ड है।

(२) जिस प्रकार पृथ्वी सूर्य की परिक्रमा वर्ष भर में पूरी करती है, उसी प्रकार सूर्य भी अपने केन्द्र पर घूम कर २०० मी० प्र० सै० की गति से किसी वृहद् आकाशीय पिण्ड की परिक्रमा करता है। परिक्रमा पूरी करने में उसे २२,५०,००,००० वर्ष लगते हैं।

वैज्ञानिक भाषा में हम इस काल को एक "कास्मिक वर्ष" कहते हैं। एक कास्मिक वर्ष का अर्थ हुआ कारबोर्नीफेरस-काल में पहुँच जाना, जबकि इस पृथ्वी पर उभयचरों (ऐम्फीबियन) का निवास था और कोयले की तहें जम रही थीं।

पृथ्वी के निर्माण के बाद से अब तक तीन कास्मिक वर्ष व्यतीत हुये हैं। सूर्य की इन गतियों के बारे में वैज्ञानिकों के भिन्न-भिन्न मत हैं।

सूर्य में वे सभी तत्व पाये जाते हैं जो पृथ्वी पर उपलब्ध हैं। इनमें लोहा, टीन, निकल, सीसा, कोबाल्ट, मैंगनीज, हीलियम, हाइड्रोजन, सिलिकन, सीसा और कार्बन प्रमुख हैं। सूर्य में ये तत्व गैसों के रूप में विद्यमान हैं।

सूर्य अत्यन्त गरम गैसीय पदार्थों का बना हुआ है। सूर्य के अन्तर्गत मुख्यतः तीन प्रकार के वायुमण्डल विद्यमान हैं। (१) फोटोस्फीयर (२) क्रोमोस्फीयर (३) कोरोना। सूर्य की लाल चकरी का वह भाग जो इसकी सीमा निर्धारण करता है फोटोस्फीयर (प्रकाश मण्डल) कहलाता है। फोटोस्फीयर में काले धब्बे भी देखे जाते हैं। इन्हीं काले धब्बों के विशिष्ट रूप से एकत्रित होने पर सूर्य कलंक* का प्रादुर्भाव होता है।

द्वितीय वायुमण्डल क्रोमोस्फीयर (वर्णमण्डल) का है। यह रंगीन है। यह फोटोस्फीयर के ऊपर है। यह गरम व दबी हुई गैसों का बना है। इसमें गैसीय तूफान बड़ी तेजी से इधर-उधर चलते रहते हैं। हाइड्रोजन व कैल्शियम के परमाणु गैसीय बादलों के रूप में अधिक दबाव की अवस्था में इधर-उधर डोलते दृष्टिगत होते हैं।

तीसरा वायुमण्डल कोरोना का है। कोरोना सूर्य का सबसे बाहरी वायुमण्डल वाला भाग है। इसमें पचास लाख वर्ग मील के घेरे में लाल रंग का एक विचित्र प्रकाश फैला हुआ दिखाई देता है। यह प्रकाश टूटी हुई उल्काओं के धूल कणों व अन्य हल्की गैसों जैसे हीलियम आदि के कारण हैं। यह प्रकाश कोरोना के मुकुट के नाम से प्रसिद्ध है। पूर्ण सूर्यग्रहण के दिन इसके चित्र खींचे जाते हैं ताकि सूर्य की बाहरी सतह पर पाये जाने वाले विशेष तत्वों का पता लगाया जा सके।

सूर्य की अनन्त शक्ति

सूर्य अपने पृष्ठ के प्रत्येक वर्ग इंच से ६० अश्व-शक्ति विकरित कर रहा है; अर्थात् १२,००० अरब टन कोयला जलाने से जितनी ऊष्मा पैदा होती है उतनी सूर्य से प्रति सैकण्ड निकलती रहती है।

सर हैराल्ड स्पेन्सर जोन्स ने अनुमान लगाया है कि—

"सूर्य से विकरित ऊर्जा का $\frac{१}{२२००००,०००००}$ वाँ भाग पृथ्वी पर पहुँचता है।"

प्रति मिनट एक वर्ग सेन्टीमीटर भूमि पर पड़ने वाली ऊर्जा की मात्रा को "सौर नियतांक" कहते हैं और इसकी मात्रा स्थिर होती है।

यदि सूर्य की इस महान् शक्ति के छोटे से अंश पर भी विज्ञान अपना नियन्त्रण कर सके तो पृथ्वी के वासी तेल तथा कोयले की चिन्ता से मुक्त हो सकते हैं।

प्रकाश व ताप के अतिरिक्त सूर्य से विकिरण के रूप में विद्युत्-चुम्बकीय तरंगें भी प्राप्त हो रही है।

आइन्स्टीन के सिद्धान्त के अनुसार पदार्थ तथा शक्ति एक ही वस्तुयें हैं और दोनों को एक दूसरे में परिवर्तित किया जा सकता है। सूर्य के परमाणु भयंकर दाब एवं ताप के द्वारा टूट-टूट कर ऊर्जा उत्पन्न कर रहे हैं।

*सूर्य कलंकों के सम्बन्ध में "विज्ञान" अप्रैल—दिसम्बर '६४ देखें—सम्पादक

(शेषांश पृष्ठ १२४ पर)

कृषि के चमत्कारी रसायन—वृद्धि नियामक

डा० उमाशंकर सिंह

वनस्पति जगत की वैज्ञानिक उपलब्धियों में "वृद्धि नियामकों" के ज्ञान का महत्वपूर्ण स्थान है। कृषि के विस्तृत क्षेत्र में तो इस ज्ञान ने एक नवीन क्रान्ति का सूत्रपात कर दिया है। आज कृषक अपने पौधों की वृद्धि और विकास को नियंत्रित कर सकने में समर्थ हैं। जब चाहें वे वृद्धि को उत्प्रेरित करें और जब चाहें अवरोधित कर सकते हैं। अपनी इच्छानुसार अनेकों पौधों को फूलने और फलने के लिये विवश कर देना अब असम्भव नहीं रहा। कलमों में जड़ों के प्रस्फुरण, बीजविहीन फलों के उत्पादन, पुष्पों तथा फलों के विरलन, निष्क्रियता के उद्यामन अथवा त्रोटन, निष्क्रिय पौधों में पुष्पों के उपक्रमण; फलों के असामयिक झरने पर नियंत्रण तथा हानिकर तृणकों के मूलोच्छेदन की समस्या वृद्धि नियामकों के कारण सरल, सुगम और सुबोध बन गई है। फसलों में उत्पन्न भाँति-भाँति के तृणों को इन चमत्कारी रसायनों की सहायता से, फसल को बिना क्षति पहुँचाये, समूल नष्ट कर देना एक साधारण कार्य हो गया है। आज ये वृद्धि नियामक रसायन नाना भाँति के कार्यों हेतु कृषि में प्रयुक्त हो रहे हैं क्योंकि ये अत्यन्त सूक्ष्म मात्रा में रह कर भी वनस्पतियों के नाना दैहिक क्रियाओं को प्रभावित कर इनके जीवन को अधिक सुव्यवस्थित और संतुलित बना कर उन्हें अधिक उत्पादन में समर्थ बना देते हैं। फलतः न केवल वनस्पतिविद् अपितु कृषक भी इनके गुणों पर मुग्ध हैं। आजकल इनके महत्व, मान तथा व्यवहारिक उपयोगों के सम्बन्ध में सर्वत्र शोधें की जा रही हैं। इससे नूतन नवीन ज्ञान के पट खुल रहे हैं। कृषि के व्यावहारिक क्षेत्र में किये जा रहे इन अनुसंधानों से तो ऐसा प्रतीत होता है मानो नवीन उपलब्धियों के लिये होड़ सी लग रही हो। अधिकांश वैज्ञानिकों का ध्यान इसी ओर लगा हुआ है जिससे मूलभूत मौलिक ज्ञान उपेक्षित हो गया है। फलस्वरूप वृद्धि नियामकों के विविध क्षेत्रों में ज्ञान का विकास असंतुलित हो गया है। इससे मौलिक ज्ञान के अभाव में किये जा रहे व्यवहारिक उपयोगिता सम्बन्धी शोधों में असफलताओं का मिलना तथा वृद्धि नियामकों के गुणों के सम्बन्ध में भ्रम का उत्पन्न हो जाना स्वाभाविक सा हो गया है। कारण किसी भी क्षेत्र में व्यवहारिक उपलब्धियाँ प्रायः तभी साकार होती हैं जब वे मौलिक ज्ञान की ठोस भित्ति पर आश्रित हों। वृद्धि नियामकों के सम्बन्ध में हुई आज तक की समस्त प्रगति का यही रहस्य है। सदैव ही व्यावहारिक उपलब्धियाँ मौलिक ज्ञान की ही पृष्ठभूमि में ही प्राप्त की गईं। इससे कृषि में आश्चर्यजनक सफलताएँ मिलीं और एक नवीन "रासायनिक-क्रांति" का सूत्रपात हुआ जिसके जन्मदाता ये वृद्धि नियामक रसायन बने।

इस लेख में इन्हीं अद्भुत रसायनों के विषय में एक विवेचन प्रस्तुत किया गया है जिससे ज्ञात हो सके कि ये क्या हैं, इनके ज्ञान का विकास कब और कैसे हुआ ?

वृद्धि नियामक क्या हैं ?

वृद्धि नियामक शब्द के लिये विभिन्न वैज्ञानिकों ने विविध नामों का प्रयोग किया है जिससे इनके सम्बन्ध में प्रायः बुद्धि भ्रमित हो जाती है। उनके पर्यायवाची अर्थों में प्रयुक्त होने पर भी विविध नामों के तात्पर्य में बड़ा अन्तर पाया जाता है। फलतः आवश्यक है कि जिन-जिन अर्थों में उनका प्रयोग प्रारम्भिक अवस्था में

हुआ हो इसकी व्याख्या विधिवत कर दी जाय जिससे इनके विषय में किसी प्रकार का भ्रम न रह जाय।

वृद्धि नियामक पदार्थों की उपस्थिति का ज्ञान सबसे पहले जीवों में हुआ अतः जीवशास्त्र में ऐसे पदार्थों के अर्थ के लिये "हारमोन" शब्द का प्रयोग किया गया जिसका अर्थ "सक्रियता को उत्प्रेरित करने वाला" था। वैज्ञानिकों द्वारा स्वीकृत इस शब्द का तात्पर्य उन पदार्थों से होता है जो जीव के किसी अंग में उत्पन्न होते और फिर दूसरे अंग में संचरित हो वहाँ किसी विशेष दैहिक-प्रक्रिया को प्रभावित करते है (वेन्ट और थीमान १६३७)। इससे विदित होता है कि हारमोन जीवों में स्वतः उत्पन्न होते और अपने उत्पत्ति स्थान से दूर संचारित होकर पहुँचते और निर्दिष्ट कार्यस्थल पर अपना प्रभाव डालते हैं। इस प्रकार के एक रासायनिक दूत के सदृश कार्य करते हैं। हारमोन शब्द के सीमित अर्थों में प्रयुक्त होने के कारण उन अनेक पदार्थों का बोध इससे नहीं हो पाया जो कृत्रिम ढंग से निर्मित हुये थे और जिनका प्रभाव पूर्णतया स्वाभाविक हारमोन के सदृश होता था। इतना ही नहीं। प्रारम्भिक व्याख्या के अनुसार जीवों में उत्पन्न होने वाले पदार्थों को ही हारमोन कहा जा सकता था अतएव जब वनस्पतियों में भी इस प्रकार के पदार्थों की उपस्थिति का ज्ञान हुआ तो कुछ वैज्ञानिकों ने इन वनस्पति हारमोनों को "फाइटोहारमोन" के नाम से संबोधित किया। पर इसकी परिभाषा मूल रूप वही रही जो हारमोन की थी। इतना अन्तर अवश्य हो गया कि यह शब्द वनस्पतियों में उत्पन्न होने वाले हारमोनों के लिये प्रयुक्त होने लगा। इसके अन्तर्गत पौधों में प्रकृत रूप से उत्पन्न होने वाले वे सभी पदार्थ सम्मिलित हो गये जिन्हें आज वृद्धि वर्धक, वृद्धि अवरोधक, पुष्पोद्दीपक, मूल प्रस्फुरक हारमोन आदि के नाम से पुकारते हैं। प्रसिद्ध वैज्ञानिक थीमान (१६४८) ने फाइटोहारमोन की व्याख्या करते हुये लिखा है "उच्च वनस्पतियों में स्वभावतः उत्पन्न होने वाला एक जैविक पदार्थ जो अपने उत्पत्ति स्थान से दूर प्रभावित करता है, फाइटोहारमोन है। उदाहरणार्थ वनस्पतियों में उत्पन्न होने वाले उस वृद्धि अवरोधक हारमोन को लिया जा सकता है जो विकासोन्मुख अग्रस्थ पत्तियों में संश्लेपित होता और नीचे की ओर संचारित हो उर्ध्व भाग में उपस्थित गांठ (Nodes) के विकास को अवरुद्ध कर देता है। यही कारण है कि अनेक पौधों में मूल तने की वृद्धि जब तक सामान्य रूप से होती रहती है नीचे की कलियाँ विकसित नहीं हो पातीं-जैसे गन्ना में, पर जैसे ही अग्रस्थ पत्तियोंको काट दिया जाता है, उसके नीचे की गांठें प्रस्फुटित हो विकास की ओर उन्मुख हो जाती हैं। प्रायः इस प्रकार की प्रक्रिया समस्त वनस्पतियों में पाई जाती है। संश्लेपित होने वाले वृद्धि अवरोधक पदार्थ की क्षमता कहीं तो न्यून, कहीं माध्यम और कहीं अत्यधिक होती है।

नामकरण

वनस्पपियों में उत्पन्न होने वाले हारमोनों को उनके प्रभावों के आधार पर भी अनेक वैज्ञानिकों ने विविध नामों से संबोधित किया है—जैसे वृद्धि वर्धक और वृद्धि अवरोधक। वृद्धि वर्धक हारमोन तो कोशा वृद्धि द्वारा विभिन्न अंगों की वृद्धि करते हैं पर वृद्धि अवरोधक ठीक इसके विपरीत कार्य करते हैं। वे कोशा वृद्धि को अवरुद्ध कर विकास को कुंठित कर देते हैं। अब इस प्रकार के वर्गीकरण को अधिक मान्यता नहीं दी जाती है, क्योंकि यह सिद्ध हो चुका है कि विभिन्न मात्राओं में एक ही हारमोन वृद्धि वर्धक और वृद्धि अवरोधक दोनों ही प्रकार के कार्य कर सकता है।

कुछ वैज्ञानिकों ने वनस्पति हारमोनों के लिये "आक्सीन" शब्द का प्रयोग किया है जिसका तात्पर्य उन सभी ऐसे पदार्थों से लिया गया जो हारमोन की भाँति प्रभाव डालते हैं चाहे वे वनस्पतियों में संश्लेषित हुये हों चाहे प्रयोगशालाओं में किसी जैविक पदार्थ से प्रथक्कीकरण द्वारा प्राप्त किये गये हों। सर्वप्रथम मूत्र से इस प्रकार का एक पदार्थ प्राप्त हुआ जिसे 'आक्सीन ए' कहा गया। फिर जब दूसरा पदार्थ प्राप्त हुआ तो उसे "आक्सीन बी" का नाम दिया गया। इस प्रकार वृद्धि हारमोन को ही जो कृत्रिम रीतियों से प्राप्त किये गये

आक्सीन के नाम से पुकारा जाने लगा जो आज भी प्रचलित है।

इन नामों के द्वारा उन सभी प्रकार के पदार्थों का जो नाना प्रकार के प्रभाव डालने में समर्थ थे बोध न होने के कारण एक ऐसा नाम चुना गया जिससे सभी प्रकार के पदार्थों का बोध हो सके, चाहे वे वृद्धि करते हों, या उसे रोकते हों, पुष्पण में सहायक होते हों अथवा झरण को प्रभावित करते हों। फलस्वरूप "वृद्धि नियामक" Growth promoters" शब्द का आविर्भाव हुआ जिसका तात्पर्य खाद्यतत्वों के अतिरिक्त उन सभी पदार्थों से होता है जो सूक्ष्म मात्रा में वृद्धि को नियंत्रित और परिवर्धित करने में सफल होते हैं। अब इस शब्द के अन्तर्गत वे सभी रसायन सम्मिलित हो गये जो वृद्धि को बढ़ाने, उसे रोकने, अथवा परिवर्तित कर देने आदि में सफल सिद्ध हुये। अब ये प्राय: पर्यायवाची शब्दों की ही भाँति प्रयुक्त किये जाते हैं। जो संकुचित अर्थ पहले इनके नामों से निकाला जाता था, वह लुप्त सा होता जा रहा है। चाहे वनस्पति हारमोन हों, वृद्धि हारमोन हों, आक्सीन-बी हों अथवा आक्सीन-ए हों सभी "वृद्धि नियामक" शब्द के अन्तर्गत आ गये हैं।

वृद्धि नियामकों के ज्ञान का विकास

पौधों में वृद्धि नियामक पदार्थों की उपस्थिति के मूल ज्ञान का श्रेय चार्ल्स डार्विन को है जिन्होंने अपने गंभीर चिन्तन, अध्यवसाय तथा सूक्ष्म निरीक्षण के बल पर यह प्रतिपादित किया कि सभी प्रकार के आवर्तिक प्रतिचार में नवपादप का अग्रभाग अन्तर्ग्रस्त रहता है। फलत:, उन्होंने १८८१ में यह निष्कर्ष निकाला कि जब नवपादप, पार्श्व प्रकाश में विगोपित हो जाते हैं तो किसी प्रकार का प्रभाव अपरिक भाग से अधर भाग की ओर संचरित होता है, जिससे वह मुड़ जाता है।

चार्ल्स डार्विन के तर्कपूर्ण विश्लेषण ने अन्य वैज्ञानिकों का ध्यान इस ओर आकर्षित किया। ब्वायसेन जेन्सन (१९१३) ने अपने प्रयोगों में देखा कि जई के भ्रूणाग्रचोल के अग्रभाग को हटा देने पर प्रकाशवर्तिक हृष्टता समाप्त हो जाती है, पर उसके पुन:प्रस्थापित कर देने पर वह फिर आ जाती है।

पाल (१९१९) के प्रयोगों से ब्वायसेन जेन्सन के प्रतिपादित तथ्य प्रमाणित हुये। उन्होंने यह भी देखा कि विलगित अग्रभाग भ्रूणाग्रचोल के एक किनारे की ओर स्थापित कर देने पर उसके विपरीत दिशा की ओर झुकाव उत्पन्न करता है, जैसे पार्श्व प्रकाश। अत: उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला कि अग्रभाग ही हृष्टता उत्पन्न करने का मूल केन्द्र होता है। यहीं एक पदार्थ आन्तरिक उदासर्जन से उत्पन्न होता है, जो चारों ओर समान रूप से वितरित हो नीचे की ओर जीवित ऊति द्वारा संचरित होता है। यदि यह संचरण किसी विशेष दिशा में अवरुद्ध हो जाय तो उस ओर वृद्धि भी घट जाती है, जिससे उधर झुकाव उत्पन्न हो जाता है।

पाल के इस रहस्योद्घाटन ये वस्तुत: प्रकाशवर्तिक हृष्टता के कारणों का समाधान कर दिया। इससे यह भी सुनिश्चित हो गया कि किसी प्रकार के पदार्थ से ही वृद्धि नियंत्रण होता है। फिर क्या था। कोलोडनी (१९२७) और वेंट (१९२८) ने इन पदार्थों के गुणों पर अन्वेषण किया और यह सिद्ध किया कि प्रकाशावधि प्रतिक्रिया तथा भूम्यावर्तना दोनों ही उपर्युक्त वर्णित विशेष पदार्थ के कारण ही होते हैं। इतना ही नहीं, उन्होंने यह भी सिद्ध किया कि सभी प्रकार की वृद्धि के लिये ये पदार्थ आवश्यक होते हैं। उनकी अनुपस्थिति में वृद्धि नहीं हो सकती।

वेंट ने फिर इनके विषय में विशेष ध्यान दिया और कई प्रयोग किये। उनका ध्यान मुख्यत: दो दिशाओं की ओर अधिक आकर्षित हुआ। एक तो इन पदार्थों की प्राप्ति तथा दूसरे इनके परीक्षण की विधि। अन्तत: उन्होंने दिखाया कि ये पदार्थ समुद्र घास्य इष्टका में प्रसृत होने में समर्थ होते हैं। इन्हें प्रस्रण द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। साथ ही उन्होंने इनके मात्रात्मक परीक्षण की विधि का भी पता लगा लिया जिसकी उपयोगिता आज भी अक्षुण्ण बनी हुई है। इसे हम

''यांत्रिक परीक्षण'' के नाम से जानते हैं। इस प्रकार वृद्धि नियामकों की उपस्थिति, इनके संचयन तथा मात्रात्मक परीक्षण की विधि का साथ ही साथ आविर्भाव हुआ।

इस ठोस आधार पर अग्रसर हो विज्ञों ने ऐसी साधनायें की कि कुछ ही वर्षों में वृद्धि नियामकों के विविध क्षेत्रों में अप्रत्याशित प्रगति हो गई। केवल सन् १९३३ से १९३८ के अन्तर्गत ही तीन वृद्धि नियामकों के पृथक्करण, लक्षण निर्धारण अभिज्ञान, आवर्तना में मात्रात्मक सम्बन्ध, और वृद्धि तथा विकास में होने वाले इनके अधिकांश उपयोगों का ज्ञान प्राप्त हुआ।

कृषि में रासायनिक क्रान्ति का सूत्रपात

कृषि में इनके उपयोग का सूत्रपात सन् १९३४ में हुआ जब वेंट ने अपने प्रयोगों में देखा कि कलम के मूलप्रस्फुरण में ये पदार्थ बड़े ही प्रभावोत्पादक होते हैं। फलस्वरूप इस दिशा में व्यापक शोध हुये और इनके उपयोग की व्यावहारिकता रीति का पता लगाया, जिससे उद्‌भिद् प्रसारण में इनका सफल उपयोग संभव हो सके। आज विदेशों में कलमों के मूल-प्रस्फुरण हेतु इन पदार्थों का बहुत बड़ा उपयोग हो रहा है।

लारु (१९३६) ने वृद्धि नियामक पदार्थों के दूसरे व्यावहारिक उपयोग का पता लगाया। उन्होंने अपने प्रयोग में देखा कि पत्तियों पर इन पदार्थों के लगा देने से उनका झरण रुक जाता है। इससे उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला कि फलों के झरण को रोकने में ऐसे पदार्थों का उपयोग किया जा सकता है। फिर क्या था। अनेक प्रयोग और सफल प्रदर्शन कुछ ही दिनों के भीतर किये गये। परिणामस्वरूप इनका उपयोग फलों के झरण को रोकने के लिये भी होने लगा।

गुस्ताफसन (१९३६) के प्रयोगों से इनके तीसरे व्यावहारिक गुण का ज्ञान प्राप्त हुआ। उन्होंने अपने प्रयोगों में देखा कि इन पदार्थों के प्रयोग से बीजविहीन फल पैदा हो जाते हैं। फिर इस दिशा में भी शोध होने लगी। इससे निश्चित हुआ कि इनका सफल प्रयोग बीजविहीन फलों के उत्पादन में भी किया जा सकता है। आजकल पश्चिमी देशों में बिना बीज के टमाटर और अंजीर उत्पन्न करने में इनका व्यापक प्रयोग हो रहा है।

इन वृद्धि नियामक पदार्थों के पुष्प प्ररोचक शक्ति का आभास कलार्थ और कर्स (१९४२) को अपने अनन्नास पर किये गये प्रयोगों में लगा। इनके उपयोग की सम्भावनाओं पर व्यावहारिक दृष्टिकोण से शोध होने पर यह निश्चित हुआ कि इनके द्वारा पुष्प प्ररोचन किया जा सकता है। आजकल हवाई और प्योर्टिको में जहाँ क्षेत्रों में अनन्नास उगाया जाता है, इनका प्रयोग किया जा रहा है जिससे सम्पूर्ण खेत में पुष्प-रोचन एक साथ हो और एक साथ ही अच्छी पैदावार मिल सके।

सन् १९४२ में इनके सर्वाधिक उपयोगी और महत्वपूर्ण गुण प्रवृत्य तृणक नियंत्रण का आभास मिला। पर इसकी जानकारी विश्व के वैज्ञानिकों को उस समय हुई जब १९४५ में स्लेड और उनके सहयोगियों द्वारा किये गये परीक्षणों के परिणाम प्रकाशित हुये। इन लोगों ने अपने प्रयोगों में देखा था कि जई के खेत में उत्पन्न चारलाक के पौधे तो फेनाक्सलीन एसीटिक एसिड के प्रभाव से नष्ट हो गये पर जई बिलकुल प्रभावित नहीं हुई। फिर तो वैज्ञानिकों ने निष्कर्ष निकाला कि प्रवृत्य तृणक नियंत्रण में इसका उपयोग किया जा सकता है। इस पर अन्वेषण होने लगे और कुछ ही दिनों में अनेक ऐसे गुण वाले पदार्थों का पता लगा जो अत्यधिक प्रभावशाली थे। इन पदार्थों के व्यावहारिक उपयोग के सम्बन्ध में शोध हुई और विभिन्न रीतियों का सृजन हुआ जिससे सफलतापूर्वक तृणक विनाश का कार्य सम्पादित हो सकता है। इन पदार्थों का पश्चिमी देशों में अब बहुतायत से प्रयोग हो रहा है। अनुमानतः संयुक्त राष्ट्र अमेरिका में ही केवल एक तृणकध्नक २,४ डाइक्लोरोफेनाक्सी एसीटिक एसिड (२, ४—डी) का प्रतिवर्ष ६०, ०००, ००० पौंड प्रयोग हो रहा जिससे लगभग ५०, ०००,००० एकड़ भूमि की निराई की समस्या समाप्त हो गई है।

●●

ग्रीष्मकालीन विज्ञान गोष्ठियाँ

विज्ञान की अध्यापन-व्यवस्था करने में अब उन उपायों और विधियों पर बल दिया जाता है जिससे शिक्षार्थियों में जिज्ञासा और नई-नई खोज करने की प्रवृत्ति जाग्रत हो, क्योंकि आज उनके सामने विज्ञान की बढ़ती हुई जानकारी का आत्मसात् करने की समस्या अधिकाधिक तीव्र होती जाती है।

पढ़ने का मूल उद्देश्य केवल ज्ञान का संग्रह नहीं है; वह विवेकपूर्ण विचार-चिन्तन से परखी हुई जानकारी है। यह स्पष्ट हो चुका है कि किस प्रकार आसानी से कायम किये गये प्रदर्शनात्मक उपकरण से छात्र उन भौतिक नियमों को समझ सकते हैं जिनसे प्रकाश और ध्वनि तरंगों का नियमन होता है।

भारत भर के ४६ शिक्षा-केन्द्रों में २६ अप्रैल से १५ जुलाई तक विज्ञान के सम्बन्ध में ६४ ग्रीष्मकालीन गोष्ठियों का आयोजन किया गया। इन गोष्ठियों में हाईस्कूलों, विश्वविद्यालयों और कालेजों के लगभग ४,७०० से अधिक शिक्षकों ने भाग लिया। इनका उद्देश्य भारत के विज्ञान के शिक्षकों की वर्तमान आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए नये पाठ्यक्रमों का विकास करना था।

इन ६४ गोष्ठियों में से ४७ गोष्ठियाँ हाईस्कूलों के अध्यापकों के लिए और ३१ कालेज-शिक्षकों के लिए थीं। इंजिनियरिंग कालेजों और पोलिटेक्नीक संस्थाओं के लिए ८-८ गोष्ठियों का आयोजन किया गया।

ग्रीष्मकालीन गोष्ठियों का पहला सिलसिला २६ अप्रैल दक्षिण के चार राज्यों – आन्ध्रप्रदेश, केरल, मद्रास और मैसूर में आरम्भ हुआ। इन गोष्ठियों में स्कूलों और कालेजों के लगभग १,००० शिक्षकों ने भाग लिया। भारत के पूर्वी, पश्चिमी और उत्तरी क्षेत्रों के गणित, रसायन शास्त्र, भौतिक विज्ञान एवं जीवशास्त्र के ३,७०० शिक्षकों के लिए भी इसी प्रकार की गोष्ठियों का आयोजन ७ जून से किया गया।

इस देशव्यापी योजना को प्रारम्भ हुए यह तीसरा वर्ष है। इसका आयोजन 'विश्व-विद्यालय अनुदान आयोग' 'शिक्षणात्मक अनुसन्धान और प्रशिक्षण सम्बन्धी राष्ट्रीय परिषद्' तथा तकनीकी शिक्षा-संस्थाओं के प्रिंसिपलों की संस्था ने अमेरिका की 'अन्तर्राष्ट्रीय विकास एजेन्सी' और अमेरिका के 'राष्ट्रीय विज्ञान प्रतिष्ठान' के सहयोग से किया है। अमेरिका की अन्तर्राष्ट्रीय विकास एजेन्सी ने इस वर्ष के कार्यक्रम के लिए २६ लाख डालर (लगभग १ करोड़ ४० लाख रुपये) की सहायता दी है। इनमें से १५ लाख डालर (लगभग ७१ लाख रुपये) विभिन्न ग्रीष्मकालीन गोष्ठियों में उपयोग के लिए प्रयोगशाला की नवीनतम सामग्री, सम्बद्ध पुस्तकें तथा फिल्म खरीदने के काम लाये जायेंगे।

अमेरिका की अन्तर्राष्ट्रीय विकास एजेन्सी द्वारा दी गई सहायता की शेष राशि इन गोष्ठियों में भाग लेने

वाले १६५ अमेरिकी शिक्षकों पर खर्च की जायेगी। अधिकांश शिक्षकों का चुनाव अमेरिका के राष्ट्रीय विज्ञान प्रतिष्ठान ने चार अमेरिकी विश्वविद्यालयों—कोलम्बिया विश्वविद्यालय के टीचर्स कालेज, ओहायो राजकीय विश्वविद्यालय, ह्यूस्टन विश्वविद्यालय और विस्कौन्सिन विश्वविद्यालय—से करार करके किया है।

कोलम्बिया विश्वविद्यालय का टीचर्स कालेज हाईस्कूलों के शिक्षकों को प्रशिक्षित करने के लिए विशेषज्ञों की सेवाएँ प्रदान कर रहा है। ओहायो राजकीय विश्वविद्यालय ने उन गोष्ठियों के लिए विशेषज्ञ दिये हैं जिनमें विश्वविद्यालयों के विज्ञान सम्बन्धी शिक्षक भाग लेंगे। ह्यूस्टन और विस्कौन्सिन विश्वविद्यालय इंजिनियरिंग और पोलिटैक्नीक के शिक्षकों की सेवाएँ प्रदान कर रहे हैं।

इस वर्ष अमेरिका की ११६ शिक्षा-संस्थाओं के १६५ शिक्षक भारत आ रहे हैं। अमेरिकी शिक्षक भारत की ग्रीष्मकालीन विज्ञान-गोष्ठियों में भाग लेकर भारतीय शिक्षकों को बतलायेंगे कि अमेरिका में जीव-विज्ञान, रसायनशास्त्र, गणित तथा भौतिक विज्ञान एवं इंजिनियरिंग और पोलिटैक्नीक के क्षेत्र में अध्यापन की कौन-कौन सी नवीनतम विधियाँ अपनाई जा रही हैं।

विज्ञान की शिक्षा में सुधार का प्रयत्न करते हुए, भारतीय शिक्षकों ने, अमेरिकी शिक्षकों की तरह, यह अनुभव किया है कि यदि शिक्षक विषय को अच्छी तरह न जानता हो तो अच्छी से अच्छी सामग्री और पुस्तकों से भी कोई लाभ नहीं उठाया जा सकता। ग्रीष्मकालीन गोष्ठियों का उद्देश्य विज्ञान के शिक्षकों के लिए ऐसे अवसर उत्पन्न करना है जिससे वे इस क्षेत्र में होने वाली नई बातों की जानकारी प्राप्त कर सकें। यह कार्य विज्ञान के शिक्षकों को गर्मी की छुट्टियों में चार से पाँच सप्ताह तक, योग्य मार्गदर्शकों की देखरेख में, एक जगह इकट्ठा करके और उन्हें आधुनिक पाठ्य-पुस्तकें, प्रयोगशाला की उन्नत विधियाँ और अध्यापन के साधन उपलब्ध करके किया जाता है।

इस लक्ष्य को दृष्टि में रख कर, भारत की ग्रीष्मकालीन विज्ञान-गोष्ठियों के जो व्यापक उद्देश्य निर्धारित किये गये हैं वे इस प्रकार हैं :

- गोष्ठियों में भाग लेने वाले शिक्षकों को उनके विषयों की नवीनतम प्रगतियों की जानकारी दे कर उनकी योग्यता को बढ़ाना;
- शिक्षकों को इस लायक बनाना जिसमें वे अपने विशिष्ट विषय की आधारभूत बातों को अधिक अच्छी तरह समझ सकें;
- अध्यापकों को इस लायक बनाना जिससे वे जब भी सम्भव हो सीधे-सादे और उन्नत उपकरणों की सहायता से परीक्षण कर सकें; और सुझाये गये तरीकों से और अधिक परीक्षण करने के लिए प्रोत्साहित करना जिससे वे परीक्षणों से उत्पन्न सैद्धान्तिक विचारों का मनन कर सकें;
- अध्यापकों में ऐसी क्षमता बढ़ाना जिससे वे योग्य छात्रों को अनुसन्धान के कामों में रुचि लेने के लिए प्रेरित कर सकें;
- अध्यापकों को प्रमुख व्यक्तियों के सम्पर्क में लाकर उनकी अपने विषय में दिलचस्पी बढ़ाना; और
- अध्यापकों को इस योग्य बनाना कि वे अपने पेशे के अन्य लोगों से विचार-विनिमय कर सकें और इस प्रकार एक दूसरे की अध्यापन सम्बन्धी समस्याओं को अधिक अच्छी तरह समझ सकें।

पिछले दो वर्षों की तरह, वर्तमान ग्रीष्मकालीन विज्ञान-गोष्ठियों में भाग लेने वाले शिक्षक शिक्षा की उस नई सामग्री का उपयोग करेंगे, जिसका विकास अमेरिका में आयोजित की गई इसी प्रकार की गोष्ठियों में किया गया है। अमेरिका में 'राष्ट्रीय विज्ञान प्रतिष्ठान' की सहायता से पिछले १० वर्षों से इन गोष्ठियों का आयोजन निरन्तर किया जा रहा है।

१६५० के बाद अमेरिकी शिक्षकों ने यह अनुभव किया कि वे बच्चों को जो विज्ञान पढ़ाते हैं, उसके बारे में उन्हें, अन्तरिक्ष-युग के आ जाने के कारण, नई जानकारी प्राप्त करनी आवश्यक है। इस पर अमेरिकी विज्ञान प्रतिष्ठान ने नये पाठ्यक्रम तैयार करने, प्रयोग-

शालाओं के लिए आधुनिक सामग्री का निर्माण करने और, सबसे अधिक, शिक्षकों को नई विधियों से काम लेने लायक बनाने का आन्दोलन शुरू किया। क्योंकि नये पाठ्यक्रमों से सम्बद्ध गोष्ठियों का आयोजन गर्मियों में उन दिनों किया गया जब स्कूल और कालेज बन्द होते हैं, इसलिए इन गोष्ठियों को ग्रीष्मकालीन गोष्ठियाँ कहा जाने लगा। भारत में भी गर्मी की छुट्टियाँ विज्ञान गोष्ठियों का आयोजन करने की दृष्टि से उपयुक्त समझी गई, क्योंकि इन दिनों शिक्षक लोगों को लम्बी चर्चाओं में भाग लेने के लिए समय रहता है और नये पाठ्यक्रमों की शिक्षा के लिए अमेरिका की अन्तर्राष्ट्रीय विकास एजेन्सी द्वारा दी गई प्रयोगशाला की नई सामग्री का प्रदर्शन करने के लिए कालेजों और विश्वविद्यालयों के भवन उपलब्ध हो सकते हैं।

पिछले वर्षों में अमेरिकी स्कूलों में धीरे-धीरे लागू किये गये इन नये पाठ्यक्रमों ने विज्ञान के अध्यापन में प्रायः क्रान्ति कर दी है। स्कूली छात्रों को भौतिक विज्ञान की शिक्षा देने के लिए विषयों का क्रम बिलकुल बदल गया है। अब पृथ्वी और ग्रहों की गति पर अधिक ध्यान दिया जाने लगा है। भौतिक विज्ञान की शिक्षा शुरू से ही अणु को दृष्टि में रख कर दी जाती है। पहले यह पढ़ाया जाता था कि 'क्या होता है', पर अब यह पढ़ाया जाने लगा है कि 'यह इस प्रकार क्यों होता है।' इससे छात्र विषय में अधिक दिलचस्पी लेने लगता है। इस नये दृष्टिकोण ने गणित, विज्ञान और तकनीकी विज्ञान में नई दिलचस्पी पैदा कर दी है।

उदाहरण के तौर पर, भौतिक विज्ञान के पाठ्यक्रम को लीजिये, जिसे ग्रीष्मकालीन विज्ञान-गोष्ठियों में उपयोग के लिए 'भौतिक विज्ञान अध्ययन समिति' द्वारा तैयार किया गया है। इस पाठ्यक्रम के चार भाग हैं जिनका एक दूसरे से गहरा सम्बन्ध है। भाग-१ में समय, अन्तरिक्ष और पदार्थ की सामान्य चर्चा की गई है। भाग-२ प्रकाश-विज्ञान और लहरों से सम्बद्ध है जिसमें विभिन्न आकृतियों को समझाने के लिए कण-सिद्धान्त और तरंग-सिद्धान्त, दोनों को शामिल किया गया है। भाग-३ यन्त्र-विद्या सम्बन्धी है। इसमें ताप, कणों की गति और शक्ति के संरक्षण का अध्याय है। भाग-४ बिजली और आणविक स्वरूप और ऊर्जाणुवाद के विषय में है।

चार भागों वाले इस पाठ्यक्रम का उद्देश्य छात्र को यह अनुभव कराना है कि भौतिक विज्ञान एक ऐसा समन्वित विषय है जिसके क्षेत्र निरन्तर बदलते रहते हैं। इसी प्रकार, रसायन शास्त्र को एक परीक्षणात्मक विज्ञान के रूप में प्रस्तुत किया गया है।

गणित सम्बन्धी कार्यक्रम के लिए, गोष्ठियों में अमेरिका के 'स्कूल मैथेमैटिक्स स्टडी ग्रुप' द्वारा तैयार किये गये विवरणों और टीकाओं का उपयोग किया जायेगा। नये पाठ्यक्रमों में मुख्यतः गणित की बुनियादी बातों और गणित के साथ उनके तर्कसंगत सम्बन्धों को समझने पर जोर दिया गया है।

अमेरिकी विज्ञान प्रतिष्ठान द्वारा प्रारम्भ किये गये कार्यक्रम की सफलता से अन्य देशों को भी इसे अपनाने की प्रेरणा मिली। भारत में यह योजना पहले-पहल १९६३ में परीक्षण के तौर पर शुरू की गई। उस वर्ष हाईस्कूलों में विज्ञान और गणित पढ़ाने वाले शिक्षकों के लिए चार ग्रीष्मकालीन गोष्ठियों का आयोजन किया गया। १५० से अधिक अध्यापकों ने विज्ञान पढ़ाने की नई विधियों का प्रशिक्षण लिया। इन अध्यापकों ने, अपने-अपने स्कूलों में लौट कर, भारतीय परिस्थितियों को दृष्टि में रखते हुए विज्ञान के अध्यापनकार्य को सुधारने के लिए नई विधियों को अपनाने का प्रयत्न किया है।

इस आदर्श कार्यक्रम की सफलता से उत्साहित होकर, भारतीय शिक्षकों ने पिछले वर्ष ४४ गोष्ठियों का आयोजन करने का निश्चय किया। हाईस्कूलों के अध्यापकों के लिए १६ गोष्ठियाँ, विश्वविद्यालयों के शिक्षकों के लिए २० गोष्ठियाँ और टैक्नोलौजिकल स्कूलों के शिक्षकों के लिए ८ गोष्ठियाँ की गईं। अमेरिका की अन्तर्राष्ट्रीय विकास एजेन्सी ने पुस्तकें, फिल्में और प्रयोगशाला का सामान देने के अलावा

८४ अमेरिकी विशेषज्ञों की सेवाएँ प्रदान कीं। गोष्ठियों में लगभग २,२०० भारतीय शिक्षकों ने भाग लिया। अमेरिका की अन्तर्राष्ट्रीय विकास एजेन्सी की मदद से, अमेरिका के राष्ट्रीय विज्ञान प्रतिष्ठान के ग्रीष्मकालीन गोष्ठी-विभाग के प्रधान डा० विलियम मौरेल तथा तीन अन्य सहकारियों की सेवाएँ भारत में इन पाठ्यक्रमों के विस्तार की योजना बनाने के लिए प्राप्त की गई। अमेरिका की सरकार ने आवश्यक सामग्री और पुस्तकें खरीदने तथा ग्रीष्मकालीन गोष्ठियों का खर्च उठाने के लिए ५,१०,००० डालर (२७ लाख रुपये) का अनुदान दिया। इसके अलावा उसने भारत को दी गई कृषि-सामग्री की बिक्री से प्राप्त धन में से १८ लाख रुपये की रकम और दी।

पिछले तीन वर्षों में ग्रीष्मकालीन गोष्ठियों का विचार जिस प्रकार भारत में फैलता चला गया है, उसकी प्रशंसा करते हुए, अमेरिका की अन्तर्राष्ट्रीय विकास एजेन्सी के भारत-स्थित कार्यालय के निदेशक डा० जौन पी० ल्यूइस ने कहा है कि ग्रीष्मकालीन विज्ञान-गोष्ठियों से विज्ञान के कुछ नये क्षेत्रों के द्वार खुलते जा रहे हैं और शिक्षकों को विज्ञान पढ़ाने की नई विधियाँ मालूम होती जा रही हैं।

अमेरिकी विज्ञान-विशेषज्ञों का स्वागत करते हुए, विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के अध्यक्ष डा० डी० एस० कोठारी ने कहा कि भारत और अमेरिका के शिक्षकों का एक जगह इकट्ठा होना इस अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य में देश के भीतर की तथा उसमे बाहर की संस्थाओं द्वारा मिलजुल कर किये जाने वाले प्रयत्नों का एक बहुत ही सुन्दर उदाहरण है। इस प्रकार के सहकारी प्रयत्नों द्वारा ही हम उचित समय में जोरदार तरीके से एक ऐसे आन्दोलन को जन्म दे सकते हैं जिससे हम अपने देश पर वास्तव में प्रभाव डाल सकें।

डा० कोठारी ने भारत में विज्ञान की शिक्षा में सुधार किये जाने की तात्कालिक आवश्यकता पर जोर दिया। उन्होंने कहा—हम मामूली सुधार नहीं चाहते; हम तो यह चाहते हैं कि विज्ञान की शिक्षा उस ढंग से दी जाये जिस ढंग से वह दी जानी चाहिए। सही ढंग से शिक्षा दिये जाने पर विज्ञान से मनुष्य जाति को बड़ा लाभ हो सकता है।

डा० कोठारी ने कहा कि विज्ञान की पढ़ाई में वास्तविक क्रान्ति लाने के प्रयत्नों के कारण भारत तथा समूचे संसार के वैज्ञानिकों को अमेरिका के 'राष्ट्रीय विज्ञान प्रतिष्ठान' का कृतज्ञ होना चाहिए। चालू पाठ्यक्रम को सुधारने और उसे आधुनिक रूप देने के लिए सच्चे साहस की आवश्यकता है और अमेरिकी विज्ञान प्रतिष्ठान ने एक महान् आन्दोलन का सूत्रपात करके सचमुच बहुत बड़े साहस का परिचय दिया है। यह आन्दोलन अब बहुत से देशों में फैलता जा रहा है।

डा० कोठारी ने कहा कि अमेरिका की अन्तर्राष्ट्रीय विकास एजेन्सी की सहायता से भारत में इस कार्यक्रम को शुरू करने से हमें एक बड़ा अवसर मिला है। हमें आशा है कि महान् क्रान्ति का लाभ उठाने के लिए दी जाने वाली इस सहायता से हम अपने देश में विज्ञान की शिक्षा को सुधारने के लिए एक जोरदार आन्दोलन कर सकेंगे।

डा० कोठारी ने कहा—मुझे इस बात में जरा भी सन्देह नहीं कि ग्रीष्मकालीन विज्ञान-गोष्ठियाँ भारत के आर्थिक और सामाजिक विकास में बड़ा महत्वपूर्ण योग देंगी।

भारत-सरकार के शिक्षा सचिव डा० पी० एन० कृपाल ने अपने संक्षिप्त भाषण में ग्रीष्मकालीन विज्ञान गोष्ठियों को 'अत्यन्त अद्भुत कार्यक्रम' बताया। १९५ अमेरिकी शिक्षकों ने गोष्ठियों में सहयोगपूर्वक कार्य करने के लिए जिस उत्साह से अपनी सेवाएँ अर्पित की हैं उसकी सराहना करते हुए, डा० कृपाल ने कहा—'मुझे विश्वास है कि आप इस देश में अध्यापकों को प्रशिक्षित करने के कार्यक्रम में उल्लेखनीय योग देंगे।'

●●

रसायनशास्त्र के संस्थापक—फ्रेडरिक व्हूलर

नंदलाल जैन

१. व्हूलर का स्थान

उन्नीसवीं सदी के रसायन-शास्त्र को प्रगति देने वालों में ड्यूमा, जस्टस लीबिग एवं फ्रेडरिक व्हूलर के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। ये तीनों ही वैज्ञानिक समसामयिक थे और इन्होंने अपने कार्यों और अनुसंधानों का एक दूसरे पर पर्याप्त प्रभाव डाला है। ड्यूमा का वैज्ञानिक कार्यकाल तो १८४८ तक ही प्रमुख रूप से चला, जब उन्होंने राजनीति में प्रवेश किया और महत्वपूर्ण शिक्षा मंत्री आदि पदों को विभूषित कर सार्वजनिक जीवन बिताया। इस कार्यकाल में उन्होंने वाष्प घनत्व निर्धारण की विधि प्रस्तुत (१८२७) की, कार्बनिक पदार्थों में नाइट्रोजन-परिमापन की आयतन-मितीय विधि (१८३०) व ऑक्सीजन-हाइड्रोजन-अनुपात ज्ञात करने का सिद्धान्त भी प्रस्तुत किया; साथ ही बर्जीलियस के मूलक सिद्धान्त का विरोधी 'विस्थापन' सिद्धान्त (१८३४) पुष्ट किया, जो कुछ समय तक प्रचलित रहा। लीबिग जैसे प्रयोगकुशल रासायनिक को उनकी शिष्यता का श्रेय प्राप्त है जिन्होंने कार्बनिक विश्लेषण की विधि परिपक्व की, विभिन्न मूलकों का पता लगाया, बहुभास्मिक अम्लों के विषय में शोध की, जर्मनी में शोधपत्रिका का संपादन किया और विभिन्न शरीर कार्य विज्ञान-संबंधी सिद्धान्तों एवं नये कार्बनिक पदार्थों को खोज निकाला। फ्रेडरिक व्हूलर के साथ भी इनकी घनिष्टता रही है। व्हूलर ने अपने समय में बर्जीलियस के पास रहकर विश्लेषण-विद्या में दक्षता प्राप्त की एवं कार्बनिक रसायन के क्षेत्र में विभिन्न क्रांतिकारी पदार्थों का निर्माण कर कार्बनिक रसायन की प्रगति में प्रमुखतः हाथ बटाया है। उन्होंने अमोनियम सायनेट से यूरिया का संश्लेषण कर कार्बनिक पदार्थों के 'दैवीशक्ति-निर्माण' के सिद्धान्त को अवैज्ञानिक सिद्ध किया। उन्होंने सिलिकन-जैसे निष्क्रिय पदार्थ को पालतू बनाकर उसके विभिन्न यौगिक बनाये, जो तदनुरूप कार्बन-यौगिकों के समान ही होते हैं और उसके उच्च बहुलक तो आजकल कार्बनिक उच्च बहुलकों से श्रेष्ठ गुणवाले पाये गये हैं। उन्होंने बर्जीलियस की रसायनशास्त्र की पुस्तक एवं शोधपत्रिकाओं का जर्मन-भाषा में अनुवाद भी किया। सांश्लेषिक रसायन के क्षेत्र में भी उनका कार्य उल्लेखनीय है। इन सब कारणों से उपर्युक्त समकालीन प्रमुख वैज्ञानिकों में से हम व्हूलर को प्रतिनिधि के रूप में ले सकते हैं। यही बात है कि व्हूलर को कार्बनिक रसायन का अग्रणी माना जाता है एवं उनके द्वारा प्रस्तुत विभिन्न सिद्धान्त और यौगिक अब भी प्रचलित हैं और औद्योगिक रूप धारण करते चले जा रहे हैं।

२. समकालीन प्रमुख रसायनवेत्ता

व्हूलर का युग बड़ा महत्वपूर्ण युग माना जाता है, क्योंकि इस काल में पदार्थों के विश्लेषण और संश्लेषण

की परिमाणात्मक प्रक्रियायें विकसित हुई। इस काल को यदि विश्लेषण-संश्लेषण-युग ही कहा जावे, तो कोई अत्युक्ति न होगी। ड्यूमा, लीबिग और बर्जीलियस तो प्रधानत: विश्लेषक-प्रवृत्ति को पोषण करने वाले रहे हैं। व्हूलर तो बर्जीलियस के शिष्य ही थे, फलत: विश्लेषक तो वे थे ही, संश्लेषक भी वे प्रथमश्रेणी के रहे हैं। इनके समकालीन रसायन-शास्त्रियों में बहुभास्मिक अम्लों एवं भौतिक-रसायन संबंधी प्रक्रियाओं पर काम करने वाले थामस ग्राहम (१८०५-६९) कार्बनिक पदार्थों के विषय में जातिवाद (Type theory) की प्रस्तावना एवं उनके गुणों व रचना के आधार पर वर्गीकरण का सिद्धान्त प्रस्तुत करने वाले लॉरेन्ट (१८०८-५३) और उनके शिष्य गाहार्ट (१८१६-५६), ब्रोमामाइड प्रतिक्रिया के स्थापक, प्रमुख शोधक एवं लीबिग के शिष्य हॉफमान (१८१८-९२), ईथर-निर्माण के लिये प्रसिद्ध विलियम्सन (१८२४-१९०४), प्रमुख संश्लेषक एवं सिद्धान्तवादी कोब, जो व्हूलर के ही शिष्य थे (१८१८-८४), संयोजकता सिद्धान्त के प्रस्तोता फ्रांकलेंड (१८२५-९९), एवोगैड्रो-उपकल्पना के व्याख्याता केनिजारो (१८२६-१९१०), कार्बनिक पदार्थों की रचना के सिद्धान्त के निर्माता ऑगस्ट केक्यूले (१८२९-९६), प्रमुख संश्लेषक बर्थोले (१८२७-०६, बायर (१८३४-१९१७), विक्टर मायर (१८४८-९७) एवं वुर्ज के नाम उल्लेखनीय हैं। व्हूलर के क्रियाशील जीवन के अन्तिम काल में ग्रिगनार्ड वंवर्जर, हांश, एमिल फिशर, थीले एवं कर्टियस अपने शोध-कार्यों से कार्बनिक रसायन का नया रूप तैयार करने में संलग्न थे।

३. संक्षिप्त जीवनी

फ्रेडरिक व्हूलर का जन्म जर्मनी के प्रसिद्ध नगर फ्रांकपोर्ट के पास के एक गाँव में सन् १८०० में हुआ था। प्रारंभिक शिक्षा समाप्त करने के बाद उन्होंने मारबर्ग में चिकित्साशास्त्र का अध्ययन किया। उन्होंने अपना अध्ययन हाइडेलबर्ग में भी जारी रखा, जहाँ उन्हें प्रमुख रासायनिक लिओपोल्ड मेमलिन के संपर्क में आने का अवसर मिला। उनके कारण व्हूलर का ध्यान 'रसायन' की ओर आकृष्ट हुआ। उन्होंने सलाह दी कि रसायनशास्त्र तो प्रयोगों का पुंज है, अत: उन्हें तत्कालीन प्रयोगविद बर्जीलियस के यहाँ जाना उचित होगा। १८२३-२४ में बर्जीलियस की शिष्यता में व्हूलर ने स्वीडन में प्रयोगकला सीखी। वहाँ से लौटकर उन्होंने बर्लिन की एक तकनीकी शाला में सात वर्ष काम किया। उसके बाद १८३६ तक कासेल के हाईस्कूल में काम किया। तदुपरांत वे गोटिंजन विश्वविद्यालय में रसायन-शास्त्र के प्रोफेसर बने और अपने अन्तिम समय तक उन्होंने अपना कार्य ही सुचारु नहीं चलाया, अपितु कई भावी प्रतिभाओं को जन्म दिया और विभिन्न क्षेत्रों में अनुसंधान किये जिसके फलस्वरूप गोटिंजन जर्मनी में रसायन-शास्त्र का एक उच्च एवं उत्कृष्ट केन्द्र बन गया। वे एक आदर्श शिक्षक थे और विदेशों के छात्र भी उनके शिष्य बनने आते थे।

व्हूलर का स्वभाव अत्यन्त ही समन्वयवादी और अनुकरणीय रहा है। अपने इस स्वभाव के कारण ही वे उग्रसंभावी लीबिग से अपनी मित्रता यावत्-जीवन स्थापित किये रहे, यद्यपि लीबिग भी प्रायोगिक परिणामों को बड़ा महत्व देते थे, और इस आधार पर अपनी त्रुटि स्वीकार कर लेते थे। व्हूलर से उनकी मित्रता होने में ऐसी ही एक ऐतिहासिक घटना कारण बनी है। व्हूलर ने स्वीडन में सिल्वर सायनेट की जो रचना स्थापित की, वही रचना लीबिग ने अपने प्रयोगों के आधार पर सिल्वर फुलमिनेट की स्थिर की। भिन्न-भिन्न यौगिकों की एक ही रासायनिक रचना की बात उस समय सोची भी न जा सकती थी। फलत: कौन सही है, यह विवाद का विषय बना। भाग्य से कुछ ही समय बाद दोनों मिले और दोनों की बातें सत्य पाई गईं जिसे लीबिग ने भी स्वीकार किया। यह सन् १८२३-२५ की बात है, जब व्हूलर ने अपना वैज्ञानिक शोधकार्य आरंभ ही किया था। उक्त प्रकार के भिन्न-भिन्न उदाहरणों के आधार पर सन् १८३१ में बर्जीलियस ने ऐसे यौगिकों का नाम समावयवी रक्खा, जिससे सभी कार्बनिक रसायनज्ञ परिचित हैं। इस मित्रता के बाद तो दोनों ने कुछ दिन

साथ-साथ शोधकार्य किया और पत्र-व्यवहार द्वारा एक दूसरे से संपर्क बनाये रखा। कभी-कभी पत्रों में लीबिग के उग्रस्वभाव को नरम बनाने और समझने की बातें भी वे लिखा करते थे जिसका प्रभाव उस पर पर्याप्त मात्रा में पड़ता था जो प्रत्युत्तरों से व्यक्त होता है।

व्हूलर, ड्यूमा के 'विस्थापन' सिद्धान्त के अतिरेक को स्वीकार नहीं करते थे। यही कारण है कि उन्होंने एक बार प्रच्छन्न नाम से इसका विरोध भी किया था जिसमें लिखा था कि हमें रुई के बदले शुद्ध क्लोरिन ही मिलना चाहिये, चाहे उसके गुण रुई जैसे ही हों क्योंकि विस्थापन से मूल-पदार्थ के गुण नहीं बदलते हैं, यह विस्थापन सिद्धांत की मान्यता थी।

उन्होंने लगभग ६० वर्ष का सक्रिय जीवन व्यतीत किया जिसे हम दो भागों में विभक्त कर सकते हैं—(१) १८२४-५० का काल, जब उन्होंने एल्यूमिनियम, बेरीलियम, आदि अकार्बनिक तत्व एवं यौगिकों को प्राप्त करने की विधियों के साथ कार्बनिक रसायन के क्षेत्र में महत्वपूर्ण काम किया। (२) १८५०-७० का काल जब उनका ध्यान सिलिकन और उसके यौगिकों की ओर आकृष्ट हुआ। इस समय उन्होंने कार्बनिक रसायन के समान ही 'सिलिकन-रसायन' का विकास किया। व्हूलर के युग की यह विशेषता रही है कि रसायन-विज्ञान की दो शाखायें स्पष्ट हो गईं और उनमें अनुसंधानों ने भी व्यवस्थित रूप ले लिया। इसके अतिरिक्त यह भी स्पष्ट है कि इसके बाद के वैज्ञानिक प्राय: एक दिशा में ही दक्षता प्रदर्शित करने की विशिष्टता प्रदर्शित करते रहे हैं। विविध क्षेत्रों में नहीं, जैसा कि व्यवस्थित अध्ययन के अभाव में अब तक देखा जा रहा था।

४. अनुसंधान-कार्य—(अ) अकार्बनिक रसायन

यह हम बता चुके हैं कि सायनेट-यौगिकों की रचना के परिज्ञान से उन्होंने अपना कार्य प्रारम्भ किया है, जो बाद में इतना विस्तृत हो गया कि उन्होंने उस समय जितने भी तत्व ज्ञात थे, उन सबको किसी न किसी रूप में अपने अनुसंधान का विषय बनाया। उन्होंने १८२७ में बॉक्साइट से एल्यूमिनियम प्राप्त करने की विधि ज्ञात की। उन्होंने १८२८ में बेरीलियम धातु प्राप्त की। १८२६ में उन्होंने फास्फोरस प्राप्त करने की विधि प्रस्तुत की, जो थोड़े-बहुत परिवर्तन के साथ आज भी प्रचलित है। उन्होंने बोरन, सिलिकन, टाइटेनियम, आदि तत्वों और मणिभीय रूप को प्राप्त करने के उपक्रम भी बताये। सन् १८२८ में ही सायनेट यौगिकों पर काम करते समय उन्होंने अमोनियम सायनेट से यूरिया तैयार किया और सिद्ध कर दिया कि कार्बनिक पदार्थ भी प्रयोगशाला में तैयार किये जा सकते हैं जिसके फलस्वरूप बर्जीलियस जैसे दैवी-शक्ति-सिद्धान्त मानने वालों का भी मन परिवर्तित हो गया। अकार्बनिक अनुसंधानों के बीच ही १८३१ में उनकी पत्नी का देहान्त हो गया, जिससे उन्हें बड़ा धक्का लगा।

मानसिक आघात से सुरक्षा देने के विचार से लीबिग उन्हें अपने यहाँ अर्लांगन में बुला लिया और फिर दोनों ने साथ-साथ कार्बनिक क्षेत्र में कार्य किया।

४. (ब) कार्बनिक रसायन

१८३०-३१ का समय द्वैतवाद का युग था जिसका प्रयोग कार्बनिक रसायन में भी आपतित किया जा रहा था। कार्बनिक रसायन की परिभाषा भी 'मिश्र-मूलक' के आधार पर की जाती थी। सर्वप्रथम व्हूलर और लीबिग ने १८३२ में बेंजोइल-मूलक और उसके यौगिकों का अध्ययन प्रस्तुत किया। उसके बाद तो इथिल, मिथिल (१८३४), काकोडिल (३७-४३) आदि मूलक ज्ञात किये गये। १८३४-३७ के समय में उन्होंने यूरिक अम्ल के विषय में काम किया, जिसके आधार पर एमिल फिशर ने प्योरिन-जाति के लगभग १३० यौगिकों का पता चलाया। लीबिग के साथ मैलीटिक अम्ल, का १८३० में पता चलाया और ३७-३८ में अमग्दलीन एवं परबनिक अम्ल का ज्ञान दिया। इसके बाद उन्होंने हाइड्रोक्विनोन, क्विनहाइड्रोन, टैलूरियम मिथिल एवं कैलशियम कार्बाइड से प्राप्त एसेटिलीन, सायनोजन के उदविच्छेदन' से आक्जेलिक अम्ल आदि अगणित

कार्बनिक पदार्थ १८४०-६३ के बीच प्रस्तुत किये जिसके कारण उनकी अच्छी प्रतिष्ठा हो गई।

सन् १८३८ में कार्बनिक यौगिकों के विद्युद्विच्छेदन के लिये प्रसिद्ध कोब गोटिंजन आये और व्हूलर के शिष्य हुए। इन्होंने ड्यूमा के 'विस्थापन सिद्धान्त', कार्बनिक पदार्थों की रचना में 'द्वि आयतनीय सूत्रों' का संनिवेश आदि के द्वारा कार्बनिक रसायन को एक नयी दिशा दी जिस पर व्हूलर का प्रभाव स्पष्ट प्रतीत होता है। १८४० में ही व्हूलर ने विंडलर के प्रच्छन्न नाम से विस्थापन-सिद्धान्त के विषय में लेख लिखा था, जिसकी चर्चा की जा चुकी है। वे मूलक सिद्धान्त एवं जातिवाद के योग से बने सिद्धान्त के प्रति मौन बने रहे।

४. (स) सिलिकन-रसायन

व्हूलर ने १८५० के बाद सिलिकन तत्व और उसके उपयोगी यौगिकों की ओर ध्यान दिया और उसे मणिभीय रूप में प्राप्त किया। उसने सिलिकन नाइट्राइड, हाइड्राइड और सिलिकन क्लोरोफार्म तैयार किये और इन यौगिकों की कार्बन-यौगिकों से तुलना की। इस प्रकार १८५०-६३ के बीच उन्होंने सिलिकन-रसायन को ही अपने अनुसंधानों का क्षेत्र बनाया जिसके आधार पर अब वह पूर्ण विकसित हो रहा है। इसके अतिरिक्त कार्बाइड यौगिकों पर भी व्हूलर ने काम किया और १८६२ में उन्होंने जिंक और कैलशियम को कार्बन के साथ गलित कर कैलशियम कार्बाइड बनाया था। इससे सर्वप्रथम एसिटिलीन भी उन्होंने प्राप्त किया। इसी प्रतिक्रिया के आधार पर कार्बाइड लैंप बनते हैं। कार्बाइड-यौगिकों पर आगे चलकर म्वाइसन ने काम किया और कृत्रिम हीरा प्राप्त किया। उन्होंने विभिन्न और अगणित खनिजों का विश्लेषण कर दुष्प्राप्य तत्वों के यौगिक बनाये।

५. विविध कार्य

व्हूलर की प्रतिभा केवल रसायन की प्रयोगशाला में ही मुखरित नहीं हुई है, अपितु अन्य क्षेत्रों में भी उसने अपनी छाप छोड़ी है। वे कुशल शिक्षक एवं प्रकृत्या उदार तो थे ही, लेखन-कला प्रवीण भी थे। उन्होंने १८२८-४८ के बीच बर्जीलियस की रसायन-शास्त्र की प्रसिद्ध पुस्तक एवं उनके द्वारा संपादित शोधपत्रिका का जर्मन भाषा में अनुवाद किया। इससे प्रकट होता है कि वे कई भाषायें जानते थे। सन् १८७५ में उन्होंने स्वयं जर्मनभाषा में रसायन शास्त्र पर 'लेर्बुक डॅर केमी' नामक पुस्तक लिखी जिसके कई संस्करण निकल चुके हैं। अनुवाद एवं सैद्धान्तिक पुस्तकों के लेखन के अतिरिक्त वे स्मृति-चित्र भी बड़े सजीव लिखते थे, जिसका प्रमाण एक वह लेख है, जिसमें उन्होंने अपने उस जीवन का चित्र दिया है, जो वे बर्जीलियस की प्रयोगशाला में १८२३-२४ में बिता चुके थे। मनोरंजक व्यंग्य चित्रों के प्रमाण में उनका विंडलर के नाम से लिखा गया ऊपर बताया लेख ही काफी है। उनके समस्त पत्रों का प्रकाशन भी काल बॉम ने १८०० में किया है, जिनके अध्ययन से उनकी गंभीरता और सरसता टपकती है। व्हूलर की ख्याति के भिन्न-भिन्न कारणों में से उनकी यह साहित्यिक प्रतिभा भी अपना महत्वपूर्ण स्थान रखती है।

६. व्हूलर के समय में कार्बनिक रसायन की प्रगति

व्हूलर का देहान्त १८८२ में हुआ था। इस समय तक कार्बनिक रसायन के क्षेत्र में अपार प्रगति हुई, जिसका श्रेय उसके समकालीन वैज्ञानिकों को प्राप्त है। इस प्रगति का पूर्ण विवरण तो यहाँ संभव नहीं है, पर मुख्य दिशायें बताना आवश्यक है। बर्थोले ने १८५०-६० के बीच विभिन्न पदार्थों का संश्लेषण किया, जिसे १८५५ में एसीटिक अम्ल के संश्लेषण से भी पुष्टि मिली, फलतः इसके बाद 'दैवी सिद्धान्त' का पूर्ण लोप हो गया। फ्रांकलैंड और कोब ने संयोजकता की बात (१८५५-६०) विभिन्न प्रयोगों द्वारा पुष्ट की जिसकी इलेक्ट्रनीय व्याख्या बीसवीं सदी में हुई है। केक्यूले ने कार्बन के बंधन-सामर्थ्य एवं चतुःसंयोजी की बात कहकर रसायनज्ञों को मूलकों के बदले परमाणुओं की ओर

दृष्टिपात करने के लिये प्रेरित किया। उसने तो कार्बनिक पदार्थों की रचना के विषय में बहुमूल्य काम किया है। उसने १८५८ में बेंजीन की आवृत-रचना प्रस्तुत की जिसे उसने बाद में परिवर्धित भी किया। सन् १८६५-७२ के बीच कार्बनिक पदार्थों में पाये जानेवाले द्विबंधों व त्रिबंधों का पता चला, नेप्थलीन, एन्थ्रासीन, पिरिडीन, इन्डिगो, टर्पीन आदि की संश्लेषणात्मक रचनाओं का परिज्ञान किया गया। इसी काल में बायर के चलायवता एवं तनाव-सिद्धान्त प्रस्तुत किये गये। इसी काल में प्रकाश-सक्रिय पदार्थों की रचना के सिद्धान्तों का भी प्रवर्तन हुआ। इस प्रकार हम देखते हैं कि व्हूलर के समय में जहाँ अगणित कार्बनिक यौगिकों का परिज्ञान किया गया, वहीं उनकी बाह्य-रचना के अतिरिक्त आंतरिक रचना की ओर भी प्रयत्न किये गये जिसके आधार पर कुछ सिद्धान्त भी स्थापित किये, जो न्यूनाधिक रूप में परिवर्धित होकर आज भी कार्बनिक रसायन के क्षेत्र में प्रचलित हैं। कार्बनिक मूलकों में विद्यमान परमाणुओं की विशेषताओं की ओर ध्यान दिया जाने लगा। इसके अतिरिक्त होफ़मान, बायर, एमिलफिशर जैसे संश्लेषकों ने संश्लेषित कार्बनिक रसायन को परिपुष्ट किया। इस चतुर्मुखी विकास के फलस्वरूप ही हम व्हूलर के काल को कार्बनिक रसायन का 'स्थापना काल' कह सकते हैं।

●●

(पृष्ठ १४३ का शेषांश)

का बर्तन) अथवा बाल सुखाने की मशीन में भारत का अभ्रक लगा हुआ है जिसके बिना ये उपकरण काम ही नहीं दे सकते। इसी प्रकार बिजली के बढ़िया रेफ्रिजरेटर (जो अधिकांश अमेरिकी घरों में होते हैं) भी तभी काम देते हैं जब उनके कम्प्रैसर को चलाने के लिए उनमें अभ्रक के विद्युत्-अवरोधक पतरे वाली मोटर लगी होती है।

यातायात के लिए मोटरें बड़ी उपयोगी और आकर्षक दीखती हैं और खेतों में काम देने वाले मोटर-चालित उपकरण भी अमेरिका के खाद्य-उत्पादन के लिए बहुत आवश्यक हो गये हैं, किन्तु यदि जेनरेटरों और स्टार्टर कम्युटेटरों में विद्युत्-अवरोधको के रूप में अभ्रक न लगाया जाये तो ये दोनों ही चीजें बेकार हो जायें।

यदि बिजली की धारा को अवरुद्ध और इस प्रकार "नियन्त्रित" करने के लिए भारत से अभ्रक न मिले तो वस्तुतः वह सारी अमेरिकी अर्थ-व्यवस्था ही अस्त-व्यस्त हो जाये जो नगरों और कस्बों को आलोकित करने, भूगर्भीय रेलों और ट्रामों को संचालित करने तथा लाखों अमेरिकी घरों में प्रकाश पहुँचाने के लिए बिजली के विशाल मोटरों पर निर्भर है।

बिहार, मद्रास और राजस्थान राज्यों से चन्द्रमा तक का फासला बहुत लम्बा है, किन्तु यह सम्भव है कि अभ्रक के जिस पतले पतरे का अमेरिका के रेंजर ७ में उपयोग किया गया वह इन इलाकों की अभ्रक खानों में से ही निकाला गया हो।

अभ्रक के उस पतरे का आकार क्या होगा?

राकेट-इंजिनियर तो इस बारे में कुछ नहीं बताते। किन्तु यह सूक्ष्म आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए एक जगह एक इंच मोटाई के दस हजारवें हिस्से के बराबर रहा होगा। अभ्रक के उस पतरे को कम्पनशून्य ऐसे कमरे में विद्युदणु-उपकरण से जाँचना होता है जहाँ मनुष्य के चलने से भी उस यन्त्र में अंकन बदल जाता है।

क्या चन्द्रमा तक राकेट भेजा जायेगा? अवश्य। और वह भेजा भी जा चुका है। किन्तु यदि भारतीय अभ्रक के छोटे से टुकड़े से उपयोग न लिया जाता तो राकेट को वहाँ भेजना अब भी शायद स्वप्न ही रहता।

वैज्ञानिक प्रयोगशालायें—३

पूसा इंस्टीट्यूट

अप्रैल १९६५ में उप-राष्ट्रपति डा० जाकिर हुसैन ने नई दिल्ली के भारतीय कृषि-अनुसन्धान-संस्थान के हीरक जयन्ती समारोह का उद्घाटन किया। यह छः दिवसीय समारोह आधुनिक विधियों की सहायता से भारत के कृषि-उत्पादन को बढ़ाने के लिए ६० वर्षों से भारतीयों और अमरीकियों द्वारा मिल कर किये जा रहे प्रयत्नों में एक महत्वपूर्ण प्रगति का सूचक है।

भारतीय कृषि-अनुसन्धान-संस्थान अधिकतर पूसा इन्स्टिट्यूट के नाम से प्रसिद्ध है। इस संस्थान की स्थापना इस सदी के पहले दशक में हुई थी। तब से यह संस्थान उन्नति करते-करते कृषि सम्बन्धी विषयों की स्नातकोत्तर शिक्षा देने वाला, भारत का एक महत्वपूर्ण केन्द्र बन गया है।

प्राचीन काल से ही भारत के लोग खेती-बाड़ी के कामों में काफी निपुण रहे हैं पर सर्वतोमुखी विकास की दृष्टि से बाद के वर्षों में इस ओर अधिक ध्यान नहीं दिया गया और मांग बढ़ने के साथ-साथ पैदावार नहीं बढ़ाई गई। इस सम्बन्ध में जो भी प्रयत्न किये गये वे प्रादेशिक थे और उनमें कोई तालमेल नहीं था। कृषि-प्रधान देश की इस बड़ी त्रुटि को देख कर, इस्पात के क्षेत्र के प्रमुख अमेरिकी उद्योगपति तथा पिट्सबर्ग (पैन्सिल्वेनिया) के दानी हेनरी फिप्स ने १९०५ में ३०,००० पौण्ड स्टर्लिङ्ग की खासी मोटी रकम देने का प्रस्ताव किया। उन दिनों स्टर्लिङ्ग ठोस चांदी का होता था और उसका मूल्य आज के मूल्य से १० गुना अधिक था। उन्होंने कहा कि इस धन का उपयोग भारत में कृषि के क्षेत्र में अनुसन्धान करने में किया जाये।

हेनरी फिप्स का जन्म १८३९ में फिलाडेल्फिया में हुआ था। उन्होंने अपना जीवन चपरासी के रूप में शुरू किया था और वह मेहनत करते-करते इस्पात-उद्योग में एण्ड्रू कार्नेगी के सहायक हो गये। उन्होंने काफी धन कमाया। कार्नेगी के समान, फिप्स ने भी अमेरिका में शिक्षण संस्थाएँ और अस्पताल खोलने और नागरिक सुविधाओं में सुधार के लिए दिल खोल कर दान दिया। १९३० में उनका देहावसान हो गया। भारत के साथ फिप्स के सम्बन्धों के बारे में केवल इतनी ही जानकारी मिलती है कि वह एक बार शिकार खेलने भारत आये थे। भारतीय कृषि-अनुसन्धान संस्थान के वनस्पति-विज्ञान-विभाग के अध्यक्ष डा० एम० एस० स्वामीनाथन् का कथन है कि उस समय तक भारत में एक भी कृषि-अनुसन्धान-केन्द्र नहीं था।

इस संस्थान की स्थापना पहले-पहल पटना से १०० मील दूर उत्तरी बिहार के एक गांव में की गई थी। संस्थान का नाम रखने के लिए दानी फिप्स के नाम से 'पी' अक्षर लिया गया और उसके बाद 'यू-एस-ए' जोड़ दिया गया जो कि उनके देश के नाम का सूचक था। इस प्रकार इस संस्थान को पूसा कहा जाने लगा।

पूसा इन्स्टिट्यूट में प्रारम्भ में पांच विभाग थे: कृषि एवं पशु-पालन, रसायन-शास्त्र, व्यावहारिक वनस्पति विज्ञान, कृमि-विज्ञान और फफून्दी-विज्ञान। बाद में कुछ फसलों के बारे में अनुसन्धान-कार्य के विस्तार के परिणामस्वरूप नई अनुसन्धान संस्थाओं की स्थापना की गई। कपास, रेशम, लाख, तम्बाकू, आलू और गन्ने के सम्बन्ध में अनुसन्धान की नींव पहले-पहल पूसा इन्स्टिट्यूट ने ही रखी थी। इसके अलावा, इन्स्टिट्यूट के बिहार स्थित 'पैथोलौजिकल एण्टोमोलौजी सेक्शन' में ही सर्वप्रथम भारत में पशुचिकित्सा और मैडिकल कृमि-विज्ञान सम्बन्धी अनुसन्धान-कार्य प्रारम्भ हुआ था। यहां प्रारम्भ की गई अन्य गति-विधियों ने बाद में पृथक्

अनुसन्धान संस्थाओं का रूप ले लिया—जैसे, भागलपुर का सिल्क संस्थान और रांची का भारतीय लाख-अनुसन्धान-संस्थान।

१९३४ में बिहार में भूकम्प आने से पूसा इन्स्टिट्यूट नष्ट हो गया। फिप्स प्रयोगशाला के साथ-साथ दो चौड़े तथा गहरे दरार पड़ गये, जिससे इमारत की नींव धँस गई। इस प्रयोगशाला में पुस्तकालय तथा संस्थान के चार मुख्य विभाग थे।

भारत-सरकार ने इन्स्टिट्यूट को तत्काल पुनः स्थापित किये जाने की आवश्यकता अनुभव की। संविधानतापूर्वक विचार करने के पश्चात् यह निश्चय किया गया कि नई दिल्ली में उसे फिर कायम किया जाय।

अक्तूबर १९३६ के अन्त तक इसे नई दिल्ली लाने का काम पूरा हो गया। आज यह इन्स्टिट्यूट १२५० एकड़ क्षेत्र में सुन्दर ढंग से बसाई गई बस्ती में फैला हुआ है। इस समय भारतीय कृषि-अनुसन्धान-संस्थान के विभाग ७ भवनों में हैं। ये विभाग इस प्रकार हैं :—कृषि-विज्ञान, कृषि-इंजिनियरिंग, वनस्पति-विज्ञान, कृमि-विज्ञान, बागवानी, फफूँदी-विज्ञान, पौध-रोग-निदान, मिट्टी-विज्ञान तथा कृषि सम्बन्धी रसायन-विज्ञान। संस्थान के पास लगभग ५५१ एकड़ कृषि-भूमि है।

पिछले १० वर्षों में भारतीय कृषि-अनुसन्धान संस्थान ने तेजी से प्रगति की है। इस काल में भारत स्थित अमेरिकी टैक्निकल सहयोग मिशन (अब अन्तर्राष्ट्रीय विकास एजेन्सी) ने रेडियो-अन्वेषी प्रयोगशाला, कार्टोग्राफिक लेबोरेटरी, मिट्टी की जांच करने वाली प्रयोगशाला और अनाज की किस्मों की जाँच करने वाली प्रयोगशाला की स्थापना के लिए अमेरिकी मुद्रा में ९ लाख रुपये की सहायता दी है।

अमेरिका की अन्तर्राष्ट्रीय विकास एजेन्सी ने मिट्टी सम्बन्धी रसायन और भौतिक शास्त्र तथा मिट्टी की जांच विषयक क्षेत्रों के १० विशेषज्ञों की सेवाएं भी प्रदान की हैं। ये सेवाएं ६ महीने से दो वर्ष तक के लिए हैं। अब तक कृषि-अनुसन्धान-संस्थान के १४ सदस्य विशेष योग्यता प्राप्त करने के लिए अमेरिका में अध्ययन कर चुके हैं। इस समय कृषि-विशेषज्ञ जौनसन ई० डगलस संस्थान को बीज की जांच करने तथा पाठ्यक्रम में सुधार करने में सहायता दे रहे हैं। भारत के विभिन्न राज्यों के कृषि-विभागों के विशेषज्ञ ६ सप्ताह के प्रशिक्षण कार्यक्रम—इस प्रकार के ५ वें कार्यक्रम का आयोजन पूसा इन्स्टिट्यूट में किया गया—में भाग लेते हैं।

पाठ्यक्रम के अन्तर्गत केवल भाषण ही नहीं किये जाते। प्रशिक्षार्थी अपना कम से कम ५० प्रतिशत समय खेतों में काम करके बिताते हैं। प्रशिक्षणार्थियों द्वारा स्वयं अपने हाथों से काम करना आवश्यक है, क्योंकि प्रशिक्षणार्थियों को अपने-अपने राज्यों में लौट कर बीज जांचने की प्रयोगशालाओं का संचालन करने के अलावा बीजों के सम्बन्ध में प्रमाणपत्र देने आदि के कार्यक्रमों को भी चलाना होगा। भारत-सरकार ने बीज जाँचने की १५ प्रयोगशालाएं स्थापित करने की योजना बनाई है। अमेरिका की अन्तर्राष्ट्रीय विकास ऐजेन्सी से प्राप्त उपकरणों की सहायता से इस समय ऐसी चार प्रयोगशालाओं का संचालन किया जा रहा है।

भारतीय कृषि-अनुसन्धान-संस्थान अमेरिकी विशेषज्ञों की सहायता से मक्का, बाजरा और गेहूँ की किस्मों में सुधार के कार्यक्रम को निरन्तर जारी रखता है। पिछले वर्ष संस्थान ने 'मैक्सिकन ड्वार्फ' नामक गेहूँ की किस्म बोई, जिससे भारत में गेहूँ के उत्पादन में क्रान्ति आ सकती है।

●●

भारतीय अभ्रक का महत्व

भारत का एक नन्हा प्रतीक गत वर्ष (१९६४ में) अमेरिका के अन्तरिक्ष-यान, रेंजर-७, पर उड़ कर चन्द्रमा पर पहुँच गया। रेंजर-७ वही यान था जिसने पहली बार चन्द्रमा के अत्यन्त निकट से खींचे गये चित्र पृथ्वी पर सम्प्रेषित किये थे। किन्तु मैरिनर-४ पर, जो इस समय मंगल ग्रह की दिशा में उड़ता जा रहा है, और अनुमानतः जुलाई १९६५ में उस ग्रह से ५,००० मील की दूरी के भीतर से गुजरेगा, भारत का और भी अधिक अंश विद्यमान है।

अनेक अन्तरिक्ष-यात्राओं की सफलता भारत द्वारा निर्यात के लिए प्रयुक्त विख्यात सामग्री, अभ्रक, के छोटे-छोटे टुकड़ों पर बहुत कुछ निर्भर करती है, जो अन्तरिक्षवाहनों, भू-उपग्रहों और कैप्स्यूलों की अत्यन्त जटिल विद्युदाणविक सरकिटों के पुर्जों में प्रयुक्त होता है।

अभ्रक के ये नवीनतम और सबसे सूक्ष्म प्रयोग हैं। किन्तु प्रकृति का यह लच्छेदार उत्पादन, जिसमें अगणित गुण पाये जाते हैं, अमेरिकी राष्ट्र की स्थापना के समय से ही उसके विकास में प्रमुख भूमिका अदा करता आ रहा है।

भारत में खान से अभ्रक निकालने का इतिहास ईसा से २,००० वर्ष पूर्व से प्रारम्भ होता है। यह औषधियों और सजावट में प्रयुक्त होता रहा। किन्तु अमेरिका में व्यापारिक स्तर पर अभ्रक का उत्पादन सन् १८०३ तक प्रारम्भ नहीं हुआ था। उस समय इसकी माँग अपेक्षाकृत बड़ी-बड़ी पारदर्शी चद्दरों के निर्माण के लिए होता था, जो दर्पण की तरह चमक सकें। आगे चल कर, अत्यधिक ताप-सह होने के कारण इसका प्रयोग कोयला और लकड़ी जलाने के लिए प्रत्युक्त चूल्हों और सिगड़ियो में झाँक कर देखने के लिए बनाये जाने वाले छिद्रों के लिए व्यापक रूप से होने लगा। इस प्रकार, सन् १८०० के अगले दशाब्द के मध्य तक अभ्रक का महत्व इसकी पारदर्शिता, लोचशीलता और ताप-सहता के कारण ही था।

किन्तु, जब इंगलैण्ड, डेनमार्क, फ्रांस, जर्मनी और अमेरिका में लोग बिजली की विशाल सम्भावनाओं की खोज करने लगे, तो अभ्रक के विद्युत-निरोधक—बिजली की धारा को रोकने और उसके संचार को नियन्त्रित करने—विषयक गुण ने इस खनिज के महत्व में चार चाँद लगा दिये और विद्युत युग का द्वार उन्मुक्त कर दिया। टामस ए० एडिसन द्वारा १८७८ में आविष्कृत दो-खम्भों वाले जेनरेटर, एक वर्ष बाद आविष्कृत विद्युत लैम्प तथा १८८२ में निर्मित उनकी सेण्ट्रल-स्टेशन विद्युत-उत्पादन प्रणाली ने विद्युत शक्ति के उत्पादन के विकास को अत्यधिक प्रेरणा प्रदान की।

जब इंग्लैण्ड में जोन ए० फ्लेमिंग ने १९०४ में एक ऐसी वैकूम ट्यूब का निर्माण किया, जो रेडियो-संकेत की टोह ले सकती थी, और अमेरिका में ली डी फारेस्ट ने १९०७ में अपनी औडियन ट्यूब का आविष्कार किया, जो रेडियो-संकेतों को विस्तारित कर सकती थी, तो रेडियो के युग का उदय हो गया। अन्य वैकूम ट्यूबों ने—जिनका निर्माण अत्यधिक ऊँचे ताप पर बिजली को निरुद्ध करने सम्बन्धी अभ्रक के अनोखे गुण के कारण संभव हुआ—१९२० के दशाब्द में टेलिविजन के, १९३० के दशाब्द में राडार के और १९४० के दशाब्द में विद्युदाणविक गणकयन्त्रों के आविष्कार का मार्ग प्रशस्त किया।

अभ्रक ने बिजली और विद्युदाणविक वस्तुओं के क्षेत्र में इन महत्वपूर्ण प्रगतियों को संभव बनाया। किन्तु भारत की खानों से आये अभ्रक के लच्छों को बने-बनाये, यन्त्र में प्रयुक्त हो सकने योग्य और व्यवहार्य

व्यावारिक उत्पादन में परिणत करना ही इसके आधुनिक का मूलमन्त्र था।

अमेरिका में १८८५ से पूर्व प्रयुक्त अधिकांश अभ्रक वहाँ की ही खानों से प्राप्त किया जाता रहा। उसकी किस्म उतनी अच्छी नहीं थी किन्तु वह तत्कालीन सीमित उपयोगों के लिए पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध था। विद्युत-उत्पादन के विकास के प्रारम्भिक चरण में, यह अनुभव प्राप्त हुआ कि भारत से आने वाला छिलकेदार सामान्य अभ्रक--'मस्क्वाइट'—ही विद्युतीय उपकरणों के क्षमतायुक्त संचालन के लिए आवश्यक ताप पर उपयुक्त और पर्याप्त विद्युतीय और यान्त्रिक गुणों से युक्त होता है।

किन्तु विद्युत उद्योग और छिलकेदार अभ्रक के लिए उसकी माँग के त्वरित विस्तार के फलस्वरूप ऐसा प्रतीत हुआ कि उसे पूरा करने के लिए विश्व में बड़े छिलकों वाले अभ्रक की सीमित पूर्ति पर्याप्त नहीं होगी। उस चरण में ही स्कैनेक्टेडी, न्यूयार्क, की एडिसन मैन्यूफैक्चरिंग कम्पनी के ए० एच० एस० डायर और सी० डब्ल्यू० जैफर्सन ने अभ्रक के छोटे टुकड़ों को चीर कर उसकी पतली-पतली परतें बनाने और उन्हें पुन: किसी भी आकार और मोटाई की चद्दर बनाने में प्रयुक्त करने की विधि ढूँढ़ निकाली। इस प्रकार, भारत का अभ्रक-उद्योग बहुत बड़ी मात्रा में छिलकेदार अभ्रक के उपोत्पाद का जो पहले व्यर्थ फेंक दिया जाता था, निर्यात करने में समर्थ हुआ।

भारत ने १९६३ में सं० रा० अमेरिका को जो सभी किस्मों का ९२,००,७००० पौण्ड अभ्रक भेजा था उसमें ६७,७५,४९२ पौण्ड पतरे विभिन्न मोटाइयों या वर्गों के थे।

यह जिज्ञासा होनी स्वाभाविक है कि भारतीय अभ्रक के इन पतरों को एक समान, इस्तेमाल के योग्य आकार और मोटाई का किस प्रकार बनाया जाता है?

अभ्रक के इन अस्तव्यस्त पतरों को उनके आकार, मोटाई और किस्म के अनुसार छाँटने के बाद लकड़ी के बक्सों में बन्द कर के जहाजों द्वारा बोस्टन और न्यूयार्क बन्दरगाहों में पहुँचाया जाता है। वहाँ से ये पेटियाँ विभिन्न प्रकार की चीजें बनाने वाली कम्पनियों के पास पहुँचती हैं।

कारखाने में पहुँचने के बाद हरेक पेटी के माल की किस्म की परीक्षा की जाती है। और चूँकि उस अभ्रक को लेकर तैयार की जाने वाली वस्तु की कोटि अभ्रक के पतले पतरों को जोड़कर अभीष्ट मोटाई के पतरों में परिणत करने वाली चीज पर निर्भर करती है, इसलिए उस पर विशेष ध्यान दिया जाता है। उनकी स्थिरता और ऊष्माशक्ति की पड़ताल हर दम की जाती है क्योंकि इन पतरों को मिलाये रखने के अलावा जोड़ने के इस मसाले का महत्व उस तैयार चीज की उपयोगिता की दृष्टि से भी बहुत अधिक होता है।

किसी अभीष्ट वस्तु के आकार-प्रकार की दृष्टि से अभ्रक के पतरों को जोड़ने की चीजें तरह-तरह की हो सकती हैं जैसे वार्निश या लाख अथवा ऐलकिड, विनाइल, एपौक्सी, सिलिकोन और पोलिविनाइल-ऐसिटेट जैसे चिपकने वाले पदार्थ या गोंद।

अभ्रक के पतरों या खरपलों और उन्हें जोड़ने के गोंद को बड़े हाइड्रोलिक प्रेसों में डाला जाता है। फिर वहाँ दबाव और प्राय: २७५ अंश (फारेनहाइट) तक के ताप में गर्म करके अभ्रक के पतरों को बड़ी चादरों में परिणत कर लिया जाता है। मोटाई और मजबूती पर विशेष ध्यान दिया जाता है और इंजीनियर माइक्रोमीटरों तथा विशिष्ट मापन-यन्त्रों की सहायता से आकार-प्रकार की शुद्धता को हरदम देखते रहते हैं।

अब अभ्रक अपने प्राकृतिक खनिज रूप में सामने कम आता है, उसे एक-जैसे सही आकार-प्रकार में तैयार किया जाता है—ये चादरें कारखानों को भेजने के लिए तैयार मिलती हैं।

बिजली के किसी उपकरण या यन्त्र में प्रयुक्त होने वाले अभ्रक की मात्रा भले ही थोड़ी हो, पर उसका महत्व बहुत होता है। यह सम्भव है कि अमेरिकी गृहिणी को यह पता भी न हो कि उसकी बिजली की इस्तरी, काफी बनाने की मशीन, वैफल आयरन (पकाने

(शेषांश पृष्ठ १३९ पर)

१. अंधे व्यक्ति 'देखने' में समर्थ

अमेरिका में एक ऐसा भा-विद्युतीय संवेदन यंत्र (सेंसर) विकसित हुआ है, जिसकी सहायता से अन्धे व्यक्ति दूसरों का सहारा लिये बिना ही इधर-उधर चल फिर सकते हैं। बैटरी द्वारा संचालित इस यंत्र को हाथ में पकड़ रखने पर इसमें ऐसे स्पन्दन उत्पन्न होते हैं, जो रास्ते में आने वाली बाधाओं की चेतावनी दे देते हैं। अंधा व्यक्ति इस यंत्र की मुठिया पकड़ लेता है और भा-विद्युतीय सेंसर को आगे की ओर उसी प्रकार ताने रहता है, जिस तरह रास्ता ढूँढ़ने के लिए टार्च को हाथ में पकड़ रखा जाता है। आकार में यह यंत्र दो बैटरियों वाली फ्लैश-लाइट के बराबर होता है।

प्रयोग के लिए तैयार किये गये यंत्र के तीन नमूनों का परीक्षण अंधे व्यक्तियों ने सफलता के साथ किया है। किसी अन्य की सहायता के बगैर ही अन्धे व्यक्ति रुकावटों का अनुभव करने और उनसे बचने, मुड़ने वाले मार्ग पर चलने तथा सीढ़ियाँ और ढालू जगहें पार करने में समर्थ रहे। यंत्र के सामने के छिद्र के व्यास को रोशनी की स्थिति के अनुसार घटाया-बढ़ाया जा सकता है। सेंसर की यह विशेषता है कि वह बाधाओं या जमीन की बनावट के कारण प्रकाश की गहनता में होने वाले परिवर्तनों का पता लगा लेता है। ये परिवर्त्तन अंधे व्यक्ति के हाथ के भीतरी भाग में स्पन्दन उत्पन्न कर देते हैं। सेंसर जितनी ही अधिक रोशनी का पता लगाता है, स्पन्दन उतना ही अधिक तेज होते हैं।

प्रकाश की गहनता में होने वाले परिवर्तनों के अनुसार, स्पन्दनों की संख्या प्रति सेकण्ड ४ से लेकर ४०० तक भिन्न-भिन्न होती है। जब प्रकाश की स्थिति के साथ इसका समायोजन ठीक होता है, तो यह यंत्र कपड़े के गोटे से भी बारीक वस्तुओं का पता लगा सकता है। अन्धे व्यक्ति साधारण प्रशिक्षण के बाद इस यंत्र का प्रयोग कर सकते हैं।

इस सेंसर के सम्बन्ध में मेनलो पार्क, कैलिफोर्निया, स्थित सान्टा रिटा टेकनोलौजी में अनुसन्धान जारी है। इसका नाम ब्लेस (बी० एल० ई० एस) रखा गया है, जो 'बिशप-ल्यूकास इनवायरोनमेण्टल सेंसर' का संक्षिप्त रूप है। यह नाम इसके निर्माताओं के नाम पर रखा गया है। अमेरिका वायुसेना की कैम्ब्रिज अनुसन्धान प्रयोगशाला, कैम्ब्रिज (मैसाचूसेट्स) के वाल्टन बी० बिशप ने अन्धों के लाभार्थ एक सेंसर के विषय में सैद्धान्तिक अनुसन्धान किया। आगे चल कर साण्टा रिटा टेकनोलोजी फर्म के राबर्ट एल० ल्यूकास ने इन सिद्धान्तों के आधार पर इस यन्त्र का निर्माण किया।

इस यंत्र के निर्माण की प्रेरणा शब्दों को ऐसे संकेतों में परिवर्तित करने सम्बन्धी प्रयास का परिणाम थी, जिनका अनुभव स्पर्श द्वारा किया जा सके ताकि कोई मनुष्य अपने शरीर के चर्म पर होने वाले स्पन्दनों द्वारा 'सुन' सके और इसके लिए उसे अपने कान के प्रयोग की आवश्यकता न पड़े। इस प्रकार का यंत्र अन्तरिक्ष यात्रियों और चालकों को, जिनकी आँखें और कान अन्य महत्वपूर्ण कार्यों में संलग्न होते हैं, संचार के अतिरिक्त स्रोत सुलभ कर सकता है। यह संकटकाल में चेतावनी देने वाले यंत्र के रूप में भी प्रयुक्त हो सकता है, विशेष रूप से उस समय जब कर्णेन्द्रिय में चोट लग गयी हो।

साण्टा रिटा टैकनोलौजी ने एक टैक्टाइल ट्रांसड्यूसर विकसित किया, जिसे हाथ में पकड़ रखने पर, वैज्ञानिकों के शब्दों में, चर्म पर स्पन्दनों द्वारा 'सुनने की अनुभूति' हो सकती है।

थोड़े से अभ्यास के बाद, अनुसन्धानकर्त्ता स्वरों और व्यंजनों को पहचाने में समर्थ रहे। अब वे इस प्रविधि को सुधारने का प्रयत्न कर रहे हैं ताकि स्पर्शानुभूति द्वारा धीमी बोली गयी भाषा को समझा जा सके।

२. रक्त से कैंसर-कोषों को पृथक करने वाली प्लास्टिक की छलनियाँ

अमेरिका में प्लास्टिक की एक ऐसी छलनी तैयार की गयी है, जिसके छिद्र इतने छोटे हैं कि उनमें से १,००० छिद्रों को मनुष्य के बाल की नोक पर एकत्र किया जा सकता है। इस छलनी का परीक्षण इस समय रक्त से कैंसर-कोषों को पृथक् करने में हो रहा है। रक्त में तैरने वाले सामान्य कोषों से वृहत्तर आकार के कैंसर-कोषों को खोज निकालने की विधि ऐसे कैंसर रोगों का पता लगाने में डाक्टरों को बहुत ही सहायता प्रदान करेगी, जिनका रोग की प्रारम्भिक अवस्था में पता लगाना इस समय सर्वथा असम्भव है। यदि प्रारम्भिक अवस्था में रोग का निदान हो सके तो उसका उपचार भी सम्भव हो सकता है। इस प्रकार की खोज चिकित्सा सम्बन्धी दैनिक जाँच के सिलसिले में की जा सकती है।

नई छलनी के अति सूक्ष्म छिद्र एक आणविक 'ड्रिल' द्वारा खोद कर बनाये जाते हैं। यह ड्रिल एक माइक्रोन (एक मिलिमीटर के १ हजारवें अंश) जितने छोटे छिद्र खोद सकती है।

इस तरह की छलनी के निर्माण की दशा में पहला कदम पतली प्लास्टिक फिल्म को आणविक विकिरण के सामने रखने में निहित है। इस तरह का विकिरण उस समय उत्पन्न होता है, जब यूरेनियम जैसे भारी तत्व के अणु अपनी प्राकृतिक विखण्डन प्रक्रिया के समय टुकड़ों में विभाजित होते हैं। ये टुकड़े ठोस वस्तुओं में से होकर गुजरते हैं और इस प्रकार इतने नन्हें छिद्र स्थल तैयार करते हैं जिनका व्यास कुछ कणों के बराबर ही होता है।

इस विधि के अंतर्गत प्रयुक्त फिल्म की मोटाई एक इंच के केवल एक-हजारवें अंश के ही बराबर होती है। जब निरावृत्त फिल्म को साफ करने वाले उपयुक्त घोल में रखा जाता है, तो विकिरण-जनित छिद्र-स्थल घुल जाते हैं और फिल्म में सूक्ष्म सूराख बना देते हैं। फिल्म को जितनी ही देर तक घोल में डुबा रखेंगे, उतने ही बड़े छिद्र होंगे। छिद्रों की संख्या फिल्म को विकिरण के सामने अधिक देर तक रख कर बढ़ायी जा सकती है।

परम्परागत छलनियों के छिद्रों के विपरीत, इस फिल्म के छिद्र बेलनाकार और सर्वत्र बराबर व्यास वाले होते हैं। वे आसानी से बन्द नहीं होते अतः जीव कोषों जैसे नाजुक पदार्थों को बिना क्षति पहुँचाये ही इसमें से छाना जा सकता है। इसके लिए छलनी पर बिना दबाव डाले ही रक्त को उड़ेलना पड़ता है।

छलनी पारदर्शी होती है अतः जीव कोषों का अध्ययन उन्हें क्षति पहुँचाये बगैर छलनी के ऊपर ही किया जा सकता है।

इस नई छलनी के सम्बन्ध में डा० सैम एच० सील प्रयोग कर रहे हैं, जो न्यूयार्क के मेमोरियल स्लोअन-केटरिंग कैंसर सेण्टर में एक चिकित्सा अनुसन्धान-कर्त्ता हैं। उन्हें कैंसर के १०० रोगियों का रक्त छानने में सफलता मिली है। प्लास्टिक की नई छलनियाँ स्केनेक्टेडी, न्यूयार्क, के जनरल इलैक्ट्रिक कारपोरेशन के वैज्ञानिक विकसित कर रहे हैं। यह फर्म 'न्यूक्लिपोर' नामक ट्रेड मार्क के अंतर्गत इन छलनियों का निर्माण अपनी वैलेक्टोस एटोमिक लैबोरेटरी के इर्रेडियेशन प्रोसेसिंग ऑपरेशन में कर रही है, जो प्लेजैण्टोन, कैलिफोर्निया, में स्थित है।

●●

सम्पादक के नाम पत्र

सुहृद्वर,

मैं वर्षों से आपकी पत्रिका 'विज्ञान' का एक श्रद्धालु पाठक हूँ। परन्तु साथ ही 'शब्दब्रह्म' का एक उपासक होने के कारण मुझे इस पत्रिका के शब्दों को तोलने की चिन्ता रहती है, और कभी-कभी अपने आपको तोलने में असमर्थ पाता हूँ तो बड़ी जिज्ञासा की तड़प होती है। केवल इसी जिज्ञासा के आवेश में आकर गत दो वर्षों के 'विज्ञान' में प्रयुक्त कुछ शब्दों पर मेरे हृदय में प्रश्न उत्पन्न हुए हैं। किसी 'आलोचक' की दृष्टि से नहीं, परन्तु केवल एक जिज्ञासु की दृष्टि से निम्नलिखित विचार आपकी सेवा में प्रेषित करता हूँ—

(१) 'विज्ञान' जुलाई १९६३, पृष्ठ ९९, बायां कालम, दूसरा पैरा, दूसरी पंक्ति में 'एल्कली' के लिए 'समक्षारीय' छपा है। यह छापे की अशुद्धि तो स्पष्ट है, क्योंकि तीसरी पंक्ति में समाक्षारीय आया है, तथा बायें कालम, दूसरा पैरा, पांचवीं पंक्ति में 'समाक्षार' प्रयुक्त हुआ है। परन्तु इस लेख से अग्रिम लेख, पृष्ठ १०४, बायां कालम, पहला पैरा, ५, ८ तथा ९ वीं पंक्तियों में एल्कली के लिए 'क्षार' प्रयुक्त किया गया है। इसके अतिरिक्त भारत सरकार द्वारा प्रकाशित 'पारिभाषिक शब्दसंग्रह', १९६२, पृष्ठ ५८ में भी केवल 'क्षार' शब्द ही दिया गया है। इसको देखकर मुझे कुछ आश्चर्य हुआ है क्योंकि सात वर्ष हुए डा० सत्यप्रकाश तथा अन्य रसायनज्ञों ने भारत सरकार की एक विशिष्ट कमेटी में 'समाक्षार' का ही निश्चय किया था। क्या यह कल्पना की जा सकती है कि दोनों शब्द चालू बनने के लिए संघर्ष कर रहे हैं? इसके अतिरिक्त यदि यह सत्य है कि दृढ़ अर्थ की दृष्टि से समाक्षार ही ठीक शब्द हो सकता है तो क्या 'विज्ञान' जैसी पत्रिकाओं का यह कर्तव्य हो सकता है कि भारत सरकार के संबंधित कर्मचारियों को सूचनार्थ निवेदित कर दें?

२—'विज्ञान' जुलाई १९६३, पृ० १०३, बाँयाँ कालम दूसरा पैरा, चौथी पंक्ति में 'केमीकल' (पदार्थ) के लिए 'रसायन' शब्द का प्रयोग हुआ है। यद्यपि उपर्युक्त शब्दसंग्रह पृष्ठ २८२ के अनुसार 'रसायन' शब्द इस अर्थ में विकल्प से ठीक तो था, परन्तु सर्व-साधारण के सुबोध के लिए क्या दूसरा शब्द 'रसद्रव्य' अधिक ठीक नहीं था?

३—'विज्ञान' जुलाई १९६३, पृ० ११६, बाँयाँ कालम, पहला पैरा, पहली पंक्ति, तथा दूसरा पैरा, दूसरी पंक्ति में अंगरेजी शब्द 'प्रोसेस' के लिए 'प्रक्रिया' शब्द का प्रयोग हुआ है। परन्तु शब्दसंग्रह पृ० ६०२ से प्रतीत होता है कि 'प्रोसेस' के अर्थ में भौतिक विज्ञानों में केवल 'प्रक्रम' शब्द ही अपनाया गया है। आपके अपने एक लेख अगस्त १९६४, पृ० ११७, दाँयाँ कालम, पहला पैरा, १५ वीं पंक्ति में भी 'रसायनिक प्रक्रम' प्रयुक्त हुआ है।

प्रश्न यह उठ रहा है कि क्या कोई उपाय हो सकता है जिससे ऐसे शब्दों में समानता तथा 'एकसूत्रता' (कोऑरडीनेशन) स्थापित हो जाए?

४—'विज्ञान' अगस्त १९६४ पृ० ११२, बाँयाँ कालम, दूसरा पैरा, पहली पंक्ति में 'तन्यता' शब्द किस अर्थ में प्रयुक्त हुआ है? '(झिल्ली की तन्यता)' क्या शब्दसंग्रह पृष्ठ १२४७ में 'तनाव, आतति, तान 'का समानार्थक है? 'इस पर अधिक खिंचाव पड़ेगा तो...

गोला फूल जाएगा'--इस वाक्य में 'खिचाव' शब्द देखकर मुझे संदेह हुआ है।

५—'विज्ञान' अगस्त १९६४, पृष्ठ ११५, बाँयाँ कालम, पहला पैरा, दूसरी पंक्ति (जो आपका लेख है) रेडियोएक्टिव के अर्थ में 'नाभिकीय' प्रयुक्त हुआ है। यह कुछ अस्पष्ट सा प्रतीत होता है। शब्दसंग्रह पृष्ठ १०३३ में 'रेडियोएक्टिव, विघटनाभिक यह शब्द दिये गये हैं। संभव है कि संक्षिप्त रूप में अब 'नाभिक' भी चल पड़ा हो परन्तु इस संक्षेप का विस्तार अभी दृष्टिगोचर नहीं हुआ। क्या इस अवस्था में ब्रेकैट में पूरा रूप 'विघटनाभिक' देना अधिक लाभकर न था? तुलना कीजिये 'विज्ञान' नवम्बर १९६० पृष्ठ ४०, दूसरा पैरा, दूसरी पंक्ति 'रेडियोधर्मी धूली'।

६—'विज्ञान' अगस्त १९६४, पृष्ठ १२५, बाँयाँ कालम, पहला पैरा, ९ वीं पंक्ति में क्या 'कोष' शब्द ('सजीव कोषों में') 'टिशू' के अर्थ में आया है? क्या यह प्रायः प्रचलित 'ऊतक' के स्थान में है?

७—'विज्ञान' अगस्त १९६४ पृष्ठ १७२, दाँया कालम, अन्तिम पैरा, दूसरी पंक्ति में 'पुनर्जन्म' का प्रयोग हुआ है। परन्तु छटी पंक्ति में पुनर्जनन। क्या 'रीजेनेरेशन' के अर्थ में 'पुनर्जन्म आया है? शब्दसंग्रह पृष्ठ १०५६ में 'पुनर्जनन, पुनरुद्धारण, पुनरुत्पादन'—यह शब्द आए हैं, परन्तु एक प्रक्रम के लिये 'जन्म' का प्रयोग क्यों हुआ है, यह अस्पष्ट है।

८—'विज्ञान' नवम्बर १९६४, पृष्ठ ३५, दाँयाँ कालम, अन्तिम पैरा, पहली पंक्ति में 'आकाशपिंड का क्या अर्थ है? क्या यह 'स्पेशल बॉडीज़' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है? परन्तु 'शब्दसंग्रह' में तो 'स्पेशल' के लिये 'अवकाशिक' जैसे शब्द ही मिले हैं।

९—'विज्ञान' नवम्बर १९६४ पृष्ठ ४३, दाँयाँ कालम, दूसरा पैरा, पंक्ति ५ में 'ल्यूकोसाइट्स' के लिये 'श्वेतकण' प्रयुक्त हुआ है, परन्तु 'शब्दसंग्रह' पृष्ठ ७४१ में श्वेताणु आया है। 'कण' शब्द का प्रयोग यहाँ कुछ अनोखा सा प्रतीत होता है।

१०—'विज्ञान' दिसम्बर १९६४, पृष्ठ ६३ में अंग्रेजी फ़ैकुली (जो वेब्स्टर का उच्चारण है) को फ़ैकुले लिखा गया है। इसके अतिरिक्त इसका हिन्दी वाचक कोई शब्द नहीं दिया गया। प्रश्न यह उपस्थित होता है कि 'शब्दसंग्रह' के पृष्ठ ४९८ में दिये गये 'अतिमा' का प्रयोग क्यों नहीं किया गया?

११—'विज्ञान' दिसम्बर १९६४, पृष्ठ ६५ (दाँयाँ कालम) प्रामीनेन्सिज़ के लिए 'सौर-बह्नियाँ' का प्रयोग हुआ है। परन्तु 'शब्दसंग्रह' में इसके लिये 'सौर ज्वाला' निरूपित किया गया है। इसके प्रयोग में क्या आपत्ति थी, यह अस्पष्ट है।

१२—'विज्ञान' दिसम्बर १९६४, पृष्ठ ८६, दाँयाँ कालम, पैरा २, पंक्ति १ में 'फ़ोरडाएमेन्शनल के लिये 'चतुर्विस्तारात्मक' प्रयुक्त हुआ है। परन्तु डाएमेन्शन के लिये 'विमिति,' अथवा 'आयाम' ('शब्द संग्रह' पृष्ठ ४०१) को छोड़ कर 'विस्तार' क्यों प्रयुक्त हुआ है, अस्पष्ट है।

उपर्युक्त सूची बोझल तो अवश्य है, परन्तु यह पता नहीं कि किसी अंश में उपयोगी भी हो।

भवदीय

सिद्धेश्वर वर्मा, चण्डीगढ़-२

७-६-६५

आदरणीय महोदय,

आपने 'विज्ञान' के विभिन्न अंकों में प्रकाशित सामग्री में से संदिग्ध शब्दों की ओर मेरा ध्यान आकृष्ट किया, इसके लिए अत्यन्त आभारी हूँ।

जिन त्रुटियों अथवा अस्पष्टताओं की ओर आपने संकेत किया है उनमें से अधिकांश को मैं स्वीकार करता हूँ। लेखक की विचारधारा में से सम्पादक के लिये यह ढूँढ़ निकालना प्रायः कठिन हो जाता है कि अमुक हिन्दी शब्द अमुक अँग्रेजी शब्द का अनुवाद या समानार्थी होगा क्योंकि साथ में अँग्रेजी पर्याय नहीं दिये रहते। फिर भी भरसक प्रयत्न यही रहता है कि पारिभाषिक शब्दों में एकरूपता रहे।

१—ऐल्कली के लिये हम लोग 'समाक्षार' ही

विज्ञान

सितम्बर १९६५
भाग १०१

विषय-सूची

सांख्यकीय अनुमान	...	१४९
इन्सुलिन की खोज	...	१५६
अमूल दूध उत्पादक सहकारी संघ	...	१५९
गगनचुम्बी भवनों के निर्माण के लिए प्रयुक्त होने वाला अद्भुत यन्त्र—एलीवेटर	...	१६३
टेलिफोन-वार्ता में आश्चर्यजनक प्रगति	...	१६६
अनिस्वन यात्रा-विमानों का अग्रदूत विमान एक्स बी०—७०	...	१६८
संक्षिप्त जीवन परिचयमाला—		
त्याग और कर्म की प्रतिमा—श्रीमती मेरी क्यूरी		१७१
सार संकलन	...	१७५
विज्ञानवार्ता	...	१७७
पाठकीय मंच	...	१७८
सम्पादकीय	...	१८०

विज्ञान परिषद, प्रयाग

प्रति अंक ४० पैसे
वार्षिक ४ रुपये

[सम्]पादक- डा० शिवगोपाल मिश्र

हमारी प्रकाशित पुस्तकें

	मूल्य
१—विज्ञान प्रवेशिका भाग १—श्री रामदास गौड़, प्रो० सालिगराम भार्गव	३७ नये पैसे
२—वैज्ञानिक परिमाण—डा० निहालकरण सेठी	१ रु०
३—समीकरण मीमांसा भाग १—पं० सुधाकर द्विवेदी	१ रु० ५० नये पैसे
४—समीकरण मीमांसा भाग २—पं० सुधाकर द्विवेदी	६२ नये पैसे
५—स्वर्णकारी—श्री गंगाशंकर पचौली	३७ नये पैसे
६—वर्षा और वनस्पति—श्री शंकरराव जोशी	३७ नये पैसे
७—व्यंग चित्रण—ले० एल० ए० डाउस्ट, अनुवादिका—डा० रत्न कुमारी	२ रुपया
८—तैरना—डा० गोरख प्रसाद	१ रुपया
९—वायुमंडल की सूक्ष्म हवायें—डा० संत प्रसाद टंडन	७५ नये पैसे
१०—खाद्य और स्वास्थ्य—डा० ओंकार नाथ पर्ती	७५ नये पैसे
११—फल संरक्षण—डा० गोरख प्रसाद तथा वीरेन्द्र नारायण सिंह	२ रु० ५० नये पैसे
१२—शिशु पालन—श्री मुरलीधर बौड़ाई	४ रुपया
१३—मधुमक्खी पालन—श्री दयाराम जुगड़ान	३ रुपया
१४—घरेलू डाक्टर—डा० जी० घोष, डा० उमाशंकर प्रसाद तथा डा० गोरख प्रसाद	४ रुपया
१५—उपयोगी नुसखे, तरकीबें और हुनर—डा० गोरखप्रसाद तथा डा० सत्यप्रकाश	३ रु० ५० न० पै०
१६—फसल के शत्रु—श्री शंकरराव जोशी	३ रु० ५० नये पैसे
१७—साँपों की दुनिया—श्री रामेश वेदी	४ रुपया
१८—पोर्सलीन उद्योग—श्री हीरेन्द्र नाथ बोस	७५ नये पैसे
१९—राष्ट्रीय अनुसंधानशालाएँ	२ रुपये
२०—गर्भस्थ शिशु की कहानी—अनु० प्रो० नरेन्द्र	२ रुपया ५० नये पैसे
२१—रेल इंजन—परिचय और संचालन—श्री ओंकारनाथ शर्मा	६ रुपया
२२—भारतीय कृषि का विकास—डा० शिवगोपाल मिश्र	५ रुपया

आप इन पुस्तकों के लिए सीधे निम्न पते पर पत्रव्यवहार करें क्योंकि अब लाला रामनारायण लाल बेनीप्रसाद हमारे एकमात्र वितरक नियुक्त हुए हैं।

मिलने का पता :

लाला रामनारायण लाल बेनीप्रसाद

कटरा, इलाहाबाद

विज्ञान परिषद्, प्रयाग का मुखपत्र

विज्ञानं ब्रह्मेति व्यजानात्। विज्ञानाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते।
विज्ञानेन जातानि जीवन्ति। विज्ञानं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति। तै० उ० ३।५।

भाग १०१ | भाद्रपद २०२२ विक्र०, १८८७ शक सितम्बर १९६५ | संख्या ६

सांख्यकीय अनुमान

ऋषिकुमार गोविल

विज्ञान की प्रगति प्रयोगों द्वारा होती है। अनुसंधान-कर्त्ता एक प्रयोग करता है और कुछ आँकड़े उपलब्ध करता है। उन आँकड़ों के आधार पर कुछ निष्कर्ष निकाले जाते हैं। ये निष्कर्ष किसी विशेष प्रयोग की सामग्री एवं क्रियाओं के परे होते हैं। दूसरे शब्दों में वैज्ञानिक किसी विशेष प्रयोग के आधार पर अन्य समान प्रयोगों के विषय में व्यापक मत देता है। इस प्रकार विशेष से व्यापक की ओर जाने को आगम अनुमान कहते हैं। उदाहरणार्थ विचारणीय लक्षण व्यक्ति की ऊँचाई है। सब व्यक्तियों की सामूहिक ऊँचाई, ऊँचाइयों की जनसंख्या कहलायेगी और चुने हुये व्यक्तियों की ऊँचाइयाँ जनसंख्या में से प्रतिदर्श कहलायेंगी। इसी प्रकार हम वजन, मजदूरी, अन्न का उत्पादन आदि की जनसंख्याओं के विषय में विचार कर सकते हैं।

हमारे सामने स्वभावतः यह प्रश्न आता है कि एक जन संख्या के विषय में क्या कहा जा सकता है जब हम उससे कुछ सीमित सदस्यों की परीक्षा ही कर सकते हैं। प्रतिचयन के सिद्धान्त का आरम्भ यहीं से होता है। यह सिद्धान्त सर्वप्रथम जनसंख्या के गुणों का अनुमान लगाता है और द्वितीय, अनुमान की सूक्ष्मता की जानकारी करता है अर्थात् सही सांख्यिक मानों से निकाले हुए मूल्यों के अन्तर का पता लगाता है।

किसी प्रतिदर्श के आँकड़ों द्वारा आगणन की यथार्थता दो बातों पर निर्भर होगी—(अ) प्रतिदर्श के आँकड़ों द्वारा आगणन किस प्रकार किया गया तथा (ब) प्रतिदर्श की प्राप्ति की विधि। प्रथम विषय की चर्चा सांख्यकीय अनुमान (Statistical Inference) के अन्तर्गत आती है। द्वितीय के लिये प्रतिचयन विधियों का अध्ययन होता है जो कि दूसरे लेख का विषय है।

सांख्यकीय अनुमान के दो आधारभूत अंग हैं :

(१) परिकल्पना-परीक्षण (Test of hypothesis)

(२) आगणन (Estimation)

इन सिद्धान्तों को समझने के पहले हमें कुछ पारिभाषिक शब्दों तथा मूलभूत बातों पर ध्यान देना होगा। यह भी कथनीय है कि प्रतिदर्शों का उपयोग उपर्युक्त उद्देश्यों की पूर्ति के लिए तभी हो सकता है यदि वे **यादृच्छिक प्रतिदर्श** (random samples) हों। यादृच्छिक प्रतिदर्श कई प्रकार के होते हैं परन्तु उनमें मूलभूत सरल यादृच्छिक प्रतिदर्श है। इस प्रकार के प्रतिदर्श को खींचने के लिए जनसंख्या के प्रत्येक अवयव को लेने की संभाविता समान होगी।

प्रतिचयन वंटन (Sampling Distribution)

यदि हम किसी जनसंख्या में से बहुत से प्रतिदर्श लें और प्रत्येक प्रतिदर्श के लिए कोई फलन जैसे माध्य अथवा मानक विचलन का परिकलन करें तो हमें साधारणतया प्रत्येक प्रतिदर्श के लिये एक पृथक मूल्य मिलेगा। यदि प्रतिदर्शों की संख्या बड़ी है तो इन मूल्यों को एक बारम्बारता वक्र में वर्गीकृत किया जा सकता है। इस प्रकार के वक्र को **प्रतिचयन वंटन** कहते हैं। अधिकतर प्रतिदर्शजों (Statistic) के संभाविता वंटन या तो प्रसामान्य वक्र से व्युत्पन्न होते हैं अथवा उससे निकटतया सम्बन्धित होते हैं।

प्रतिचयन एवं मानक त्रुटियाँ (Sampling Errors Standard Errors)

प्रतिदर्श को खींचने की कोई भी विधि क्यों न हो प्रतिदर्श आगणन जनसंख्या आगणन से भिन्न होगा। इस भेद को ही **प्रतिचयन त्रुटि** कहते हैं। इस त्रुटि को मापने की कई विधियाँ हैं। एक सरल तथा संतोषजनक विधि मानक त्रुटि द्वारा है। मानक त्रुटि, प्रतिचयन वंटन का मानक विचलन है और यह प्रतिदर्श आगणन की विश्वसनीयता का एक मापदण्ड है। इसलिये यदि हमें किसी प्रतिदर्शज की मानक त्रुटि निकालनी हो तो सर्वप्रथम उसका प्रतिचयन वंटन निकालना होगा।

परिकल्पना की जाँच के साधारण सिद्धान्त

हम पहले किसी प्रतिदर्शज (Statistic) की स्थापना करते हैं जिसके मान के आधार पर हम परिकल्पना को स्वीकार अथवा अस्वीकार करेंगे। उदाहरणार्थं हमने किसी जनसंख्या से एक प्रतिदर्श लिया। मान लीजिए की प्रतिदर्श माध्य $\bar{x}$ है। हम यह परिकल्पित करते हैं कि यह प्रतिदर्श एक ऐसी जनसंख्या से लिया गया है जिसका माध्य μ है। इस परिकल्पना का आधार यह है कि $\bar{x}$ तथा μ का अन्तर संयोगवश है और बारम्बार प्रतिचयन से $(\bar{x}-\mu)$ का औसत मूल्य शून्य होगा। इसे **निराकरणीय परिकल्पना** (Null Hypothesis) कहते हैं। यदि $\bar{x}$ व μ के अन्तर अथवा उससे अधिक अन्तर की प्रायिकता बहुत अल्प है तो हम यह कहते हैं कि $\bar{x}$ व μ में सार्थक भेद है और हम इस परिकल्पना को अस्वीकृत करते हैं कि $\bar{x}$ एक ऐसी जनसंख्या से आया है जिसका माध्य μ है।

यहाँ प्रश्न उठता है कि प्रायिकता कितनी छोटी होगी जब हम उसे 'अल्प' कहेंगे। यह एक मनोवैज्ञानिक समस्या है। यदि किसी कथन से ऐसा निष्कर्ष निकलता है जो अनुभव के विपरीत है तो हम उस कथन को झूठ समझते हैं। परन्तु यदि अनुभव उस निष्कर्ष के अनुकूल है तब भी हम यह नहीं समझ बैठते कि कथन सिद्ध हो गया। ऐसी घटनाओं में किसी को सहज ही विश्वास नहीं होता जिनकी प्रायिकता बहुत कम होती है। मान लीजिये कि उन सब घटनाओं को जिनकी प्रायिकता एक प्रतिशत या उससे कम हो हम असंभव समझ लें और ऐसी घटनाओं से संबंधित कथन को झूठा या गलत समझें तो हमारे इस निष्कर्ष के गलत होने की प्रायिकता भी एक प्रतिशत से कम ही होगी। युक्तियुक्त आचरण के लिये अधिकतर ५ प्रतिशत को **संशय सीमा** (critical level) माना जाता है। इसे सार्थकता का ५ प्रतिशत संशय तल (level of significance) कहते हैं

अस्वीकृत क्षेत्र

वास्तव में यदि हम परिकल्पना को पाँच प्रतिशत स्तर पर अस्वीकार करने का निश्चय करते हैं तो हमें एक अन्तराल अथवा मानों के एक कुलक की परिभाषा

देनी होगी जिसमें प्रेक्षित मान के पाये जाने की प्रायिकता परिकल्पना के अन्तर्गत पाँच प्रतिशत हो। इसको **अस्वीकृत-क्षेत्र अथवा संशय-अंतराल** (critical region) कहते हैं। यदि प्रेक्षित मान अस्वीकृति-क्षेत्र में पाया जाता है तब हम निराकरणीय परिकल्पना को अस्वीकार करते हैं, अन्यथा नहीं।

यहाँ दो प्रकार की त्रुटियों में भेद करना आवश्यक है। प्रथम प्रकार की त्रुटि का परिमाण प्रेक्षित मान के संशय-अंतराल में पाये जाने की प्रायिकता है जब कि परिकल्पना H_0 सत्य हो; द्वितीय प्रकार की त्रुटि उस प्रायिकता का माप है जब कि प्रेक्षित मान असंशय-अंतराल में विद्यमान हो और वैकल्पिक परिकल्पना H_1 सत्य हो। **नीमन पीयरसन सिद्धान्त के अनुसार** "यदि दो परीक्षणों के लिये प्रथम प्रकार की त्रुटि की प्रायिकता बराबर हो जिसका परिमाण α हो तो इनमें से हम उस परीक्षण को चुनेंगे जिसके लिये असत्य परिकल्पना को अस्वीकार करने की प्रायिकता अधिक हो।"

परीक्षण सामर्थ्य और उसका महत्व

यदि परिकल्पना असत्य हो तो उसे अस्वीकार करने की प्रायिकता को परीक्षण-सामर्थ्य (power of test) कहते हैं।

उदाहरण :—मान लीजिये कोई फलन $f(x;\theta) = \theta e^{-\theta x}$ है जिसमें x कोई चर है और θ एक समष्टि (parameter) है जिसका मूल्य प्रयोग के प्रतिबंधों पर निर्भर है।

$H_0 : \theta = २$ इस परिकल्पना का परीक्षण होगा जबकि वैकल्पिक परिकल्पना

$H_1 : \theta = १$ है।

यदि संख्याविद $x = १$ के दाहिने भाग को संशय-अंतराल लेता है तो दोनों प्रकार की त्रुटियाँ इस प्रकार होंगी :

$$\alpha = \int_{१}^{\infty} २ e^{-२x} dx = \cdot१३५$$

$$\beta = \int_{0}^{१} e^{-x} dx = \cdot६३२$$

उपर्युक्त उदाहरण में वैकल्पिक परिकल्पना केवल H_1 ही थी। अधिकतर समस्याओं में एक से अधिक विकल्प हो सकते हैं। इस अवस्था में द्वितीय श्रेणी की त्रुटि β, θ के किसी दिये हुये मूल्य पर निर्भर करेगी। अर्थात् हमें प्रत्येक दशा में $\beta(\theta)$ जानना होगा। अधिकतर संशय अंतराल के माध्यम से आगणन करना सुविधाजनक होता है। अतएव हम $१ - \beta(\theta)$ परिकलित करते हैं। इस फलन को **सामर्थ्य फलन** (Power function) कहते हैं।

$\bar{x}$ व μ के अन्तर की सार्थकता, जब σ दिया हुआ हो

मान लीजिये कि एक n परिमाण μ प्रतिदर्श लिया जाता है जिसका माध्य x है। क्या यह कहा जा सकता है कि यह एक ऐसी जनसंख्या से आया है जिसका माध्य μ है और मानक विचलन σ है ?

हम यह परिकल्पना करते हैं कि यह हो सकता है। इस प्रकार के प्रतिदर्शों के माध्य प्रसामान्य रूप से μ को माध्य बनाकर वितरित होंगे और उनकी मानक त्रुटि $\sigma_{\bar{x}} = \frac{\sigma}{\sqrt{n}}$ होगी। (यहाँ यह मान लिया जाता है कि $n > ५०$) अतएव हम आसानी से यह पता लगा सकते हैं कि μ व $\bar{x}$ का दिया हुआ अन्तर अथवा उससे अधिक अन्तर की क्या संभाविता होगी। उदाहरणार्थ हम जानते हैं कि $\bar{x}$ व μ में १.९६ $\sigma_{\bar{x}}$ अथवा इससे अधिक अन्तर की संभाविता ५ प्रतिशत है।

यदि किसी के पास एक ऐसी वैकल्पिक कल्पना है जिसके अनुसार हम धनात्मक अन्तर की आशा कर सकते हैं, तब प्रश्न केवल निराकरणीय परिकल्पना की जाँच ही नहीं है। बल्कि निराकरणीय और वैकल्पिक परिकल्पनाओं में से एक का चुनाव करना है। इस प्रकार की स्थिति में स्वाभाविक है कि हम एकपक्षीय परीक्षण का प्रयोग करें।

छोटे प्रतिदर्शों की समस्यायें :

पीछे दिये हुए बहुत से सिद्धान्त इस मान्यता पर आधारित हैं कि प्रतिदर्श बड़े हैं। ऐसी अवस्था में परीक्षण करते समय जनसंख्या के समष्टियों का अनुमान प्रतिदर्शों द्वारा सन्निकटतया लगाया जा सकता है। इस प्रकार परीक्षण की मान्यता बनी रहती है। परन्तु यदि हम छोटे प्रतिदर्श लें तो हमें अनुमान सिद्धान्तों में मूलभूत परिवर्तन करने होंगे।

हम इन दो बातों की कल्पना अब नहीं कर सकते (अ) एक प्रतिदर्शज का यादृच्छिक प्रतिचलन वंटन सन्निकटतया प्रसामान्य है अथवा एक बहुलक वाला है (ब) प्रतिदर्श के आँकड़ों द्वारा दिये हुये मूल्य जनसंख्या मूल्यों से पर्याप्त समीप हैं जिससे आगणनों की सूक्ष्मता मापनीय होगी। इन मान्यताओं को दूर करने से हमारा कार्य कठिन हो जाता है फलतः समस्याओं के हल के लिये एक नया ढंग अपनाना होगा।

यहाँ यह कहना असंगत न होगा कि छोटे प्रतिदर्शों से किये गये आगणन समष्टि मूल्यों की ओर संकेत करने में अल्परूप से ही समर्थ हैं। अतएव उन आगणनों का सही उपयोग तो यह है कि किसी पहले से दिये हुये मूल्य की यथार्थता का परीक्षण करने में वे हेतुक हो सकते हैं। यद्यपि ये विधियाँ "छोटे प्रतिदर्श की विधियाँ" कहलाती हैं उनका उपयोग बड़े प्रतिदर्शों के लिये भी किया जा सकता है और इसीलिये कुछ लेखकों ने उन्हें यथातय विधियाँ (exact methods) भी कहा है। छोटे प्रतिदर्श के सिद्धान्त का मुख्य सम्बन्ध विभिन्न प्रतिदर्शजों के वंटनों से है और इन वंटनों पर आधारित यथार्थता के परीक्षण के प्रयोगों से है। उनमें से एक वंटन टी-बंटन को उदाहरणार्थ यहाँ लिया जा रहा है।

विद्यार्थी वंटन या टी-बंटन

एक प्रसामान्य जनसंख्या से सरल प्रतिचयन करते समय जिसका माध्य μ और प्रसरण σ^2 है, हमने यह देखा कि $(\bar{x}-\mu)$ एक प्रसामान्य चर है जिसका माध्य शून्य और मानक विचलन $\sigma/\sqrt{n}$ होगा। अतएव $\frac{\bar{x}-\mu}{\sigma/\sqrt{n}}$ प्रसामान्य रूप से वितरित होगा और उसका मानक विचलन इकाई होगा। यदि हम अचर σ के स्थान पर चर परिगणित मूल्य s का प्रयोग करें (जो कि प्रतिदर्श का मानक विचलन है) तो हमें निम्नलिखित प्रतिदर्शज की प्राप्ति होगी

$$t = \frac{(\bar{x}-\mu)\sqrt{n}}{s} \qquad (१)$$

जो कि प्रसामान्य रूप से वितरित नहीं है। इस वितरण को सर्वप्रथम W. S. Gosset ने खोज किया।

उदाहरण—यह कहा जाता है कि अमेरिका-निवासियों की औसत ऊँचाई छः फुट है। इस परिकल्पना की जाँच के लिये पच्चीस अमेरिका-निवासियों का एक यादृच्छिक प्रतिदर्श लिया गया और उनकी ऊँचाइयों को नापा गया। इस प्रयोग का फल निम्नलिखित था—

$\bar{x}$ = 5 फुट 10·0 इंच

S = 0 फुट 0·5 इंच

निराकरणीय परिकल्पना Ho :

अमेरिका-वासियों की औसत ऊँचाई छः फुट है

अस्वीकृति क्षेत्र—निराकरणीय परिकल्पना के स्वल्प होने पर भी उसको अस्वीकार करने की कुल प्रायिकता एक प्रतिशत है।

इस तरह यदि $\left|\frac{\bar{x} - 6 \text{ फुट}}{s/\sqrt{n-1}}\right|$ का मान t/ २४ के 0·5 प्रतिशत बिंदु 2·797 (यह मूल्य टी वंटन सारिणी से लिया गया है) से अधिक हो तो हम Ho को अस्वीकार करेंगे।

विश्लेषण— $\left|\frac{\bar{x} - ६ \text{ फुट}}{s/\sqrt{n-१}}\right| = \frac{२.०\sqrt{२४}}{०·५}$

$= ८\sqrt{६}$

निष्कर्ष $\left|\frac{\bar{x} - ६ \text{ फुट}}{s/\sqrt{n-१}}\right|$ का प्रेक्षित मान २.७९७ से बहुत अधिक है, इसलिये हमें Ho को अस्वीकार करना होगा।

आगणन

अभी तक हमने प्रतिदर्श आँकड़ों का जनसंख्या की परिकल्पनाओं के परीक्षण के लिये उपयोग किया। प्रतिदर्शों को प्राप्त करने का दूसरा मुख्य उद्देश्य जन-संख्या समिष्टियों के विषय में अनुमान लगाना है। यही आगणन सिद्धान्त का महत्व है। किसी भी प्राचल का आगणन करने के लिये प्रेक्षणों के एक फलन की आवश्यकता होती है जिसे आगणन अथवा प्राक्कलन (estimator) कहते हैं।

किसी प्राचल का प्राक्कलक क्या होना चाहिये, यह पूर्णत: स्पष्ट नहीं है। यद्यपि समीष्ट के माध्य के लिये प्रतिदर्श-माध्य को प्राक्कलक मानना स्पष्टतया उचित जान पड़ता है, परन्तु समष्टि-प्रसरण का प्राक्कलक प्रतिदर्श-प्रसरण नहीं होता। ऐसा क्यों होता है व नवीन स्थितियों में जिनसे हम परिचित नहीं है प्राचल का आगणन किस प्रकार किया जायगा, इसे ज्ञात करने के लिये प्राक्कलकों के कुछ इच्छित गुणों की परिभाषा नीचे दी जा रही है।

यदि हम समष्टि से एक यादृच्छिक प्रतिदर्श $x_1, x_2, \cdots\cdots x_n$ चुनें तो इन मानों के किसी भी फलन $g(x_1, x_2, \cdots\cdots x_n)$ को समष्टि के किसी प्राचल θ का प्राक्कलन माना जा सकता है। एक उत्तम प्राक्कलक के लिये हम चाहेंगे कि

$|g(x_1, x_2, \cdots\cdots x_n) - \theta|$ जहाँ तक हो सके छोटा हो। परन्तु क्योंकि $x_1, x_2 \cdots\cdots x_n$ यादृच्छिक चर हैं इसलिये $|g(x_1, x_2, \cdots\cdots x_n) - \theta|$ भी एक यादृच्छिक चर है—अचर नहीं। इस कारण इसके छोटे होने की परिभाषा हमें इसके प्रत्याशित मान (expected value) अथवा इसकी प्रायिकता के रूप में करनी होगी।

(१) अनभिनतता

मान लीजिये कि $g(x_1, x_2 \cdots\cdots x_n)$ को हम t_n से सूचित करते हैं। यदि $E[t - \theta] = 0$ तो हम t को एक अनभिनत प्राक्कलक (unbiased estimator) कहते हैं। किसी प्राक्कलक के अनभिनत होने के गुण को अनभिनतता कहते हैं।

उदाहरणार्थ यह गुण एक प्रसामान्य बंटन $N(\mu_1, \sigma)$ में से चुने हुये n परिमाण के प्रतिदर्श का माध्य $\bar{x}_n$ के लिये लागू होता है। क्योंकि $\bar{x}_n$ एक $N\left(\mu_1, \frac{\sigma}{\sqrt{n}}\right)$ चर है। $\therefore E(\bar{x}_n) = \mu$ परन्तु

प्रतिदर्श का प्रसरण $S_n^2 = \frac{1}{n}\sum_{i=1}^{n}(x_i - \bar{x})^2$

बंटन के प्रसरण σ^2 के लिये अनभिनत नहीं है क्योंकि

$$E(S_n^2) = E\frac{1}{n}\sum_{i=1}^{n}[(x_i - \mu) - (\bar{x} - \mu)]^2$$

$$= \frac{1}{n}\left[\sum_{i=1}^{n}\sigma^2 - \sigma^2\right]$$

$$= \frac{n-1}{n}\sigma^2$$

S^2 में अभिनति को दूर करने के लिये S^2 को $\frac{n}{n-1}$ से गुणा करना चाहिये।

(२) दक्षता

यदि हम केवल अनभिनत प्राक्कलकों पर विचार करें तो इनमें से एक ऐसा हो सकता है जिसका प्रसरण अन्य सब प्राक्कलकों के प्रसरण से कम हो। इस प्रकार के प्राक्कलक को दक्ष-प्राक्कलक (efficient estimator) कहते हैं। यदि किसी प्राक्कलक t का प्रसरण σ^2 हो और एक दक्ष प्राक्कलक का प्रसरण σ'^2 हो तो t की दक्षता (effieiency) को $\frac{\sigma^2}{\sigma'^2}$ द्वारा नापा जाता है। इस दक्षता को $e(t)$ से सूचित करते हैं।

$$(t) = \frac{\sigma'^2}{\sigma^2}$$

यदि t और t′ दो अनभिनत प्राक्कलक हों तो t को t′ से अधिक दक्ष माना जायगा यदि t की दक्षता t′ की दक्षता से अधिक हो अथवा $V(t) \angle V(t')$

(३) संगति

जैसे-जैसे प्रतिदर्श के परिणाम n में वृद्धि होगी, यदि सूक्ष्मता भी बढ़े तो यह एक वांछनीय गुण प्राक्कलक में होगा। एक प्राक्कलक t_n, जो कि n मूल्यों पर आधारित है θ का संगति प्राक्कलक कहा जायगा यदि किन्हीं धनात्मक E व n के लिये जो कि कितने भी छोटे क्यों न हों एक संख्या N के लिये प्रायिकता।

$$P[\,|tn-\theta| > E] > N१-n \quad n < N$$

अथवा

$$P[\,|tn-\theta| < E\,] = 1 \quad n \to \infty$$

(४) पर्याप्ति

यदि $(x_1, x_2, \ldots - xn)$ के संयुक्त वंटन $f x_1, x_2, - xn; \theta)$ को निम्नलिखित रूप में रखा जा सके,

$f(x_1, x_2, \ldots xn; \theta) = f_1(t; \theta) + f_2(x_1, x_2 \ldots xn)$ जहाँ $f_2(x_1, x_2 \ldots, xn)$ ऐसा फलन हो जो θ से स्वतंत्र हो और θ के लिये t एक प्राक्कलक हो तो t को एक पर्याप्त प्राक्कलक (Sufficient estimator) कहते हैं और किसी प्राक्कलक के पर्याप्त होने के गुण को पर्याप्त कहते हैं।

यह सिद्ध किया जा सकता है कि यदि t_1 पर्याप्त हो और θ का कोई अन्य प्राक्कलन t_2 हो जो t_1 का फलन नहीं है तो t_1 और t_2 के संयुक्त वंटन को निम्नलिखित रूप में रखा जा सकता है

$\Psi(t_1\, t_2\,; \theta) = \Psi_1(t_1{}' \theta)\; \Psi_2(t_2, t_1)$ जहाँ Ψ_2 में θ का कोई स्थान नहीं है।

महत्तम संभाविता विधि :

प्रश्न यह है कि उपर्युक्त गुणों से युक्त प्राक्कलकों को कैसे प्राप्त किया जाय। इसके बहुत से तरीके हैं जिनमें से एक की चर्चा यहाँ की जा रही है जो सबसे अधिक उपयोग में लाया जाता है।

मान लिया जाय कि आदि-जनसंख्या का प्रायिकता फलन $f(x, \theta)$ है तो n परिमाण के एक प्रतिदर्श का संभाविता फलन L इस प्रकार परिभाषित होगा।

$$L = f(x_1, \theta)\, f(x_2, \theta) \ldots\ldots f(xn, \theta)$$

महत्तम संभाविता विधि के अनुसार यदि एक प्रतिदर्शज (statistic) $t = t(x_1, \ldots\ldots xn)$ है जो θ में परिवर्तन के कारण L को अधिकतम करता है तो t को θ का प्राक्कलक मानना चाहिये। संक्षेप में, t हल है निम्न दो समीकरणों का :—

$$\frac{dL}{d\theta} = 0 \qquad \frac{d^2 L}{d\theta^2} < 0$$

इस विधि द्वारा प्राप्त प्राक्कलक संगति होते हैं, बड़े n के लिये प्रसामान्य रूप से वितरित होते हैं, कम से कम सीमा में न्यूनतम प्रसरण होता है और पर्याप्त प्रतिदर्शज भी देते हैं यदि उसकी स्थित हो।

उदाहरण—यदि समष्टि $N(\mu, \sigma)$ हो तो

$$L(x_1, x_2 \ldots\ldots\ldots x\,n, \mu, \sigma) - १/२ \sum_{i=१}^{n} \left(\frac{xi-\mu}{\sigma}\right)^२ = \frac{१}{(२\pi)n/२\sigma n} e$$

$$\log L = -\frac{n}{२}\log(२\pi) - n\log\sigma - \frac{१}{२\sigma^२} \sum_{i=१}^{n} (xi-\mu)^२$$

इस फलन का अधिकतम निकालने के लिये,

$$\frac{dL}{d\mu} = \frac{१}{\sigma २} \Sigma (xi-\mu)$$

$$\frac{\partial L}{\partial \sigma^२} = -\frac{n}{२}\frac{१}{\sigma^२} + \frac{१}{२\sigma^४}\Sigma(xi-\mu)^२$$

इन समीकरणों को शून्य के बराबर रखने से और μ व $\sigma^२$ के लिये हल करने से हम निम्न प्राक्कलक मिल जाते हैं :—

$$\hat{\mu} = \frac{१}{n}\Sigma\, xi \qquad = \bar{x}$$

$$\hat{\sigma}^२ = \frac{१}{n}\Sigma\,(xi-\bar{x})^२$$

$\hat{\mu}$ अनभिनत है परन्तु $\hat{\sigma}^२$ में यह गुण नहीं है क्योंकि,

$$E(\hat{\sigma}^२) = \frac{n-१}{n}\cdot\sigma^२$$

यह भी दिखाया जा सकता है कि समष्टि परिकल्पना के लिये ये दोनों पर्याप्त प्राक्कलक भी हैं।

अन्तराल आगणन—किसी समष्टि के बिन्दु आगणन का बहुत महत्व न होगा जब तक कि उस आगणन में संभावित त्रुटि का कोई हिसाब न लग सके। समष्टि θ का आगणन $\hat{\theta}$ एक अन्तराल के साथ दिया जाना चाहिये, जो कि सम्भवतः $\hat{\theta}-d$ व $\hat{\theta}+d$ हो सकता है, साथ में यह विश्वास भी किसी सीमा तक होना चाहिये कि सही समष्टि θ इस अन्तराल के अंतर्गत है। इसी हेतु विश्वास अन्तराल (Confidence Interval) का निर्माण होता है।

मान लीजिये, प्रतिदर्श $x_१, x_२, \ldots\ldots xn$ ऐसी समष्टि से चुना गया है जिसको केवल एक प्राचल θ द्वारा निर्धारित किया जा सकता है। यदि t एक ऐसा प्रतिदर्श है जो $x_१, x_२, \ldots\ldots xn$ तथा θ का फलन है परन्तु जिसका बंटन θ से स्वतन्त्र है तो हम एक मान $t_१$ ऐसा मालूम कर सकते हैं कि t के इससे छोटे होने की प्रायिकता एक पूर्व निश्चित संख्या α हो जहाँ $0<\alpha<१$ अर्थात् $P[t \geq t_१] = \alpha$

यह संभव है कि असमता $t \geq t_१$ को हम एक दूसरे रूप $\theta \geq t_१^\alpha$ अथवा $\theta \leq t_१^\alpha$ में रख सकें। उदाहरण के लिये यदि समष्टि $N(\mu, १)$ हो तो $t=(\bar{x}-\mu)$ एक ऐसा प्रतिदर्श है जो $x_१, x_२, \ldots\ldots xn$ और μ का फलन है परन्तु $(\bar{x}-\mu)$ का बंटन

$N\left(o, \frac{१}{\sqrt{n}}\right)$ है जो μ से स्वतंत्र है।

$$\therefore P\left[t \geq \frac{१.९६}{\sqrt{n}}\right] = ०.९७५$$

$$P\left[\bar{x}-\mu \geq -\frac{१.९६}{\sqrt{n}}\right] = ०.९७५$$

$$\text{अथवा } P\left[\mu \geq x - \frac{१.९६}{\sqrt{n}}\right] = ०.९७५$$

साधारणतया हम ऐसे दो मान $t_१^\alpha$ और $t_२^\alpha$ मालूम करना चाहते हैं कि

$$P\left[t_१^\alpha \geq \alpha \geq t_२^\alpha\right] = \alpha$$

अंतराल $(t_१^\alpha, t_२^\alpha)$ को हम θ का विश्वास्य-अंतराल (Confidence interval) कहते हैं जिसका विश्वास-गुणांक α है। ऊपर के उदाहरण में,

$$P\left[x-\frac{१.९६}{\sqrt{n}} \geq \mu \geq \alpha + \frac{१.९६}{\sqrt{n}}\right]$$

$$= १ - P\left[\bar{x} > \mu + \frac{१.९६}{\sqrt{n}}\right] - P\left[\bar{x} < \mu - \frac{१.९६}{\sqrt{n}}\right]$$

$$= १ - P\left[(\bar{x}-\mu)\sqrt{n} > १.९६\right] - P\left[(\bar{x}-\mu)\sqrt{n} < -१.९६\right]$$

$$= १ - 0.०२५ - 0.०२५$$

$$= 0.९५$$

●●

इन्सुलिन की खोज

अनुवादक—ओ३म प्रकाश, ब्रह्मदेश

कनाडा का टोरन्टो नगर; सन् १६२१ की जुलाई ३० ता० की रात; दो नवयुवक टोरन्टो विश्वविद्यालय के अन्तर्गत एक छोटी सी प्रयोगशाला के घुटनशील, आर्द्र वातावरण में कार्य-रत हैं। बेचैनी, उँघाई, शारीरिक असुविधाओं से जूझते हुए वे दीवार पर टँगी घड़ी की मन्थर गति से चलती हुई सुइयों को रह-रहकर देख लेते हैं। रात के सवा बारह बज गये हैं। अपने रोगी—एक मधुमेह पीड़ित कुत्ते को उन्होंने जगाया और अग्नाशय में से तैयार किये रस का इंजेक्शन दिया। कुत्ते के रक्त तथा मूत्र का परीक्षण किया, दिल धड़क रहे थे—न जाने क्या फल निकलेगा। पर यह क्या? मूत्र तथा रक्त में चीनी कम हो गई!! इन दोनों का स्वप्न साकार हो गया!! दोनों एक दूसरे को विस्फारित नेत्रों से अपलक देखने लगे। मीठी सी एक मुस्कान आई और फिर तो मानो प्रसन्नता का बाँध ही टूट गया। वे दोनों हर्षातिरेक से नाचने लगे। प्रयोगशाला की धूल-धूसरित मैली दीवारें उनका यह उल्लास देख हँस रही थीं। आज की रात्रि में इन युवकों ने जो एक महत्वपूर्ण कार्य किया था ये दीवारें उसकी साक्षी थीं। वह कार्य जिसे बीसियों अन्वेषक वर्षों से शोध करते हुए असफल हो गये थे, वह कार्य जो आगे चलकर लाखों प्राणों को मृत्यु के ग्रास होने से बचाने में समर्थ हुआ; वह था 'इन्सुलिन' की खोज। इन्सुलिन के शोध-कार्य का श्री गणेश शायद सब खोजों से अधिक कुसमय में हुआ था। पूर्ववर्ती समस्त शोधकों को समानरूप से असफलता ही मिलती रही थी। इधर ये दोनों शोध के कार्य में नवसिखिये ही थे। उनकी प्रयोगशाला भी छोटी सी, काम चलाऊ ही थी तथा उस विश्वविद्यालय के शीर्ष अधिकारी भी असहयोग करते रहे, और हतोत्साहित भी करते रहे। क्योंकि उन्हें पूरा विश्वास था कि ये नवयुवक भी असफल ही होंगे। उस पर शोध करने वालों की आर्थिक स्थिति भी ऐसी वैसी ही थी। परन्तु उनके पास था अदम्य उत्साह, दृढ़संकल्प तथा "एक विचार।"

इस विचार के पोषक थे **डॉ० फ्रेडेरिक जी० वैन्टिग** आयु २६ वर्ष तथा **चार्ल्स बेस्ट**—मेडिकल कालेज के विद्यार्थी आयु २२ वर्ष। डा० वेन्टिग का जन्म टोरन्टो के निकट ही सन् १८६१ में हुआ था। डाक्टरी की शिक्षा भी वहीं पाई थी और परीक्षा पास करते ही १६१४ का प्रथम महायुद्ध छिड़ जाने पर "कैनेडियन-आर्मी-मेडिकल-कोर" में भर्ती हो गये। उन्हें फ्रान्स भेजा गया। वहाँ युद्धक्षेत्र में शल्य-क्रिया का अच्छा अभ्यास हो गया तथा १६१८ में युद्ध विराम से केवल ६ सप्ताह पूर्व आहत हो जाने पर वापस भेज दिये गये। स्वस्थ हो जाने पर कुछ समय तक टोरन्टो के पश्चिमी विश्व-विद्यालय में अस्थि-रोग-विशेषज्ञ रहे। इन दिनों इन्हें पर्याप्त अवकाश मिलता था—उसे ये अध्ययन में ही लगाते। एक बार अग्नाशय पर व्याख्या तैयार करते हुए उन्हें **डा० मोसेस बेरन** का लेख मिला। इसमें मिंकाँस्की तथा वॉन मेरिंग के प्रयोगों का उल्लेख था—तथा यह विचार व्यक्त किया गया था कि यदि इन प्रयोगों का अनुक्रमण किया जाता तो सम्भव था कि (Diabetei Mellitus) मधुमेह का निवारक कोई पदार्थ मिल जाता। डा० वैन्टिग के मन में यह विचार घर कर गया। साथ ही उन्हें अपने बाल्य-जीवन के दिन स्मरण हो आये जब उनसे साथ खेलने वाली एक सुकोमल बालिका इसी रोग के कारण असमय में ही मरी थी। उन्हें रात भर नींद नहीं आई और उठ कर अपनी नोटबुक में नोट किया। 'कुत्ते की अग्नाशय नलिका को बाँध कर अवरुद्ध

कर दो, १½ मास तक प्रतीक्षा करो, तब तक पाचक-ग्रन्थि-समूह नष्ट हो चुके होंगे। शेष भाग में से आसव निकाल कर परीक्षण करो।" अब वे बस इसी खोज में पागल से हो गये। अनेक मित्रों ने प्रोत्साहन दिया। समस्या उपयुक्त प्रयोगशाला की थी। उनके विश्व-विद्यालय की प्रयोगशाला इस कार्य के लिये सम्पन्न नहीं थी। सब की सलाह पर उन्होंने टोरन्टो वि० वि० के प्रो० जे० जे० आर० मेकलिओड् से उनकी प्रयोग-शाला में अनुसन्धान करने की अनुमति चाही। उक्त प्रोफेसर वहाँ दैहिकी के प्रोफेसर थे तथा कार्बोहाइड्रेट उपचापचय पर एक अधिकारी विद्वान् माने जाते थे। श्री प्रो० मेकलिओड़ ने दो बार बड़ी ही संयतभाषा में उनकी प्रार्थना अस्वीकार कर दी। तीसरी बार उन्होंने कई सिफारशों के बल पर पुनः प्रयत्न किया। इस बार बड़ी आनाकानी के बाद वे स्थान देने को राजी तो हुए पर उन्होंने साफ कहा कि इस दिशा में अनेक अधिकारी तथा विख्यात अन्वेषकों ने कार्य किया है। उन सब की तथा प्रो० मेकलिओड् की अपनी भी निश्चित धारणा है कि अग्नाशय से कोई ऐसा पदार्थ नहीं प्राप्त हो सकता जिसे की वे खोजना चाहते हैं। जब इतने सिद्ध-हस्त लोग असफल रह गये तो डा० वेन्टिंग जैसे नव-सिखिये का इसकी खोज करना अपना समय और शक्ति का अपव्यय मात्र होगा। उधर डा० वेन्टिंग भी अपनी माँग में अडिग थे।

अन्ततः प्रोफेसर महोदय ने ग्रीष्मावकाश के दो मास के लिये ही उन्हें एक उपेक्षित-सी प्रयोगशाला दे दी। साथ ही यह अनुभव करते हुए कि डा० वेन्टिंग को रसायन-शास्त्र का पर्याप्त ज्ञान नहीं है—उन्होंने अपने विद्यार्थियों में से किसी एक को उनके साथ कार्य करने की सलाह दी। चार्ल्स बेस्ट—द्वितीय वर्ष का छात्र था। वह छुट्टियों में कहीं नहीं जा रहा था; उसने सोचा चलो और कुछ नहीं तो समय कटेगा और शायद कुछ अनुभव भी प्राप्त हो जाय। उसे भी मधुमेह में दिलचस्पी थी। उसकी एक मौसी जो स्वयं एक नर्स थी इसी रोग से मरी थी।

चार्ल्स बेस्ट भी प्रथम महायुद्ध में अध्ययन छोड़ कर सेना में भर्ती हो गया था। युद्धोपरान्त अब फिर पढ़ने लगा था—आयु केवल २२ वर्ष की थी। अनुमति मिल गई तो दोनों अग्नाशय के विषय में खोज-खोज कर पढ़ने लगे। उन्हें ज्ञात हुआ कि मधुमेह (इक्षु मेह) का ज्ञान भारत, चीन, मिश्र तथा यूनान वालों को बहुत पहले से था। १८६६ में मिन्कोस्की तथा मेरिङ्ग ने अग्नाशय ग्रन्थि को काट बाहर निकाल कर यह रोग कृत्रिम ढंग से भी उत्पन्न कर दिया था तथा सिद्ध कर दिया था कि इस रोग का कारण इसी ग्रन्थि का कोई विकार ही है। इसके पश्चात् लेंगर्नीज ने यह भी सिद्ध कर दिया था कि इस ग्रन्थि का समूचा नहीं वरन् कुछ भाग ही—जिसे लैंगर्हैनस का ग्रन्थिका-समूह कहा जाता है—इस रोग से सम्बन्धित है। इसके बाद का शोध कार्य असफलताओं ही की कहानी रहा। इसीलिये प्रो० मेकलिओड् ने दृढ़ता पूर्वक कह दिया था कि ऐसा कोई पदार्थ ही नहीं है। अब इस (अविद्यमान) की खोज करने के लिये दो नवयुवक प्राणपण से लग गये।

उस प्रयोगशाला नामक गन्दे कमरे को झाड़-पोंछ, धो-धा कर साफ किया गया। परीक्षा-प्रयोग के कुत्तों की देख भाल, उन्हें खिलाना-पिलाना, टहलाना, उनके कटघरों को साफ-सुथरा रखना आदि भी स्वयं ही करना पड़ता था—विशेष कर युवक बेस्ट को। आँपरेशन किये गये अग्नाशय की द्रव वाहिनी नलिका बाँध दी गई। अब ६ सप्ताह तक प्रतीक्षा करनी थी—जून-जुलाई का महीना था। गर्मी का मौसम, शरीर पसीने से भीगे ही रहते, काम करने को मन नहीं करता था, फिर भी दोनों मित्र दिन और घन्टे गिन रहे थे। धीरे-धीरे प्रतीक्षा समय भी पूरा हो गया। दुबारा आँपरेशन की घड़ी भी आ गयी। उन जानवरों के अग्नाशय देखे गये। देख कर उन्हें आश्चर्य भी हुआ और निराशा भी वे पेन्क्रियास तो पहले जैसे ही स्वस्थ थे। इन ६ सप्ताहों में तो उनकी पाचक-द्रव प्रणाली नष्ट हो जानी चाहिये थी और उन्हें संकुचित हो जाना चाहिये था परन्तु ऐसा कुछ भी न हुआ। कारण?—जिन सूत्रों से वे बाँधे गये थे—वे खुल गये थे। दो मास में से १½ मास तो इस प्रकार व्यर्थ ही चले गये। पर वे हताश नहीं हुए।

दुबारा, दूसरे प्रकार के सूत्रों का प्रयोग किया गया। सौभाग्य से प्रो० मेकलियोड् ने अपनी छुट्टी भी और बढ़ा ली। इस बार ग्रन्थि में अपेक्षित परिवर्तन देखे गये, वह संकुचित हो गई थी। उन्हें रिन्जर घोल में रख कर उनका सत्व निकाला गया। उसे बर्फ में रख कर ठण्डा रखा गया। ३० जुलाई १६२१ की रात को १२-१५ बजे पर इसी द्रव की सुई मधुमेह के रोगी कुत्ते अग्नाशय विहीन) को दी गई। परीक्षा की तो मूत्र और रक्त में शर्करा की मात्रा में आशातीत न्यूनता आ गई थी। अब तो प्रसन्नता का कोई ठिकाना न था—उस रात को बच्चों जैसे आनन्दोल्लास से वे दोनों नाच उठे थे।

इसके बाद भी कठिनाइयाँ तो आईं—उनके कुत्ते अन्य रोगों से ग्रस्त होकर मरने लगे, परन्तु मुख्य खोज तो हो ही गई थी। उन्होंने इस प्रयोग को कई बार करके निश्चयात्मक रूप से उस अविद्यमान को खोज निकाला—और उसे (Insulin) इन्सुलिन का नाम दिया। कुछ आरम्भ में बहुतों को, जिनमें प्रो० मेकलिओड् भी थे—इसमें सन्देह रहा पर अन्तत: सब मान गये। प्रो० मेकलिओड् ने उस द्रव को शुद्ध रासायनिक रूप देने के लिये प्रो० कौलिप को नियुक्त कर दिया। इन्सुलिन का सर्वप्रथम मानव पर प्रयोग डा० कैम्पबेल ने सफलतापूर्वक किया। डा० कौलिप के स्थान्तरित हो जाने पर डा० बेस्ट को उनका स्थान दिया गया। परन्तु उनकी प्रयोगशाला भी कनाट शहर में स्थापित की गई। डा० वेन्टिग ने टोरान्टो में ही अपनी क्लिनिक खोल ली। परन्तु दोनों में मैत्री वैसी ही दृढ़ रही। डा० वेन्टिग के मन में सदा इस बात की ग्लानि रही कि डा० मेकलिओड् ने नाम के लिये उनके मार्ग में रुकावटें डालीं—तथा इस खोज का सारा श्रेय भी स्वयं ही लेने का ओछा प्रयत्न किया। जिसके परिणामस्वरूप १६२३ का नोबेल पुरस्कार इन्सुलिन की खोज के लिये वैन्टिग और मेकलियोड् को साझा में दिया गया। इस पर डा० वेन्टिग को बड़ा ही क्षोभ हुआ, उन्होंने कहा जिन लोगों ने एक घण्टे भी इस खोज में कार्य नहीं किया केवल अपने पद के कारण ही इस यश के अधिकारी बन गये। उन्होंने अपने अंश का आधा तुरत ही बेस्ट को देने की घोषणा कर दी। उधर प्रो० मेकलिओड् ने भी झेंप कर अपने हिस्से का आधा प्रो० कोलिप को दे दिया।

शनै:-शनै: इन्सुलिन पर और भी शोध हुए, उसका मान निश्चित् हुआ, उत्पादन को व्यापारिक रूप दिया गया, तथा उसके प्रभाव को दीर्घकालीन किया गया। डा० वेन्टिग को बहुत मान तथा प्रशंसा प्राप्त हुई। सन् १६३४ में इंगलैंड के सम्राट् की ओर से उन्हें 'नाइट' बना कर सर की उपाधि से विभूषित किया गया और वे सर "फ्रेड्रिक ग्रान्ट वैन्टिग" हो गये। डा० बेस्ट ने १६२५ में अपनी डाक्टरी की परीक्षा उत्तीर्ण की कुछ वर्ष लन्दन जाकर विशेष अध्ययन कर आये। आने पर टोरन्टो वि० वि० में दैहिकी के प्रोफेसर बना दिये गये तथा डा० मेकलिओड् के अवकाश ग्रहण करने पर उनकी कुर्सी भी बेस्ट को मिली।

द्वितीय महायुद्ध आरम्भ हो जाने पर डा० वेन्टिग फिर सेना में आ गये। दुर्भाग्यवश २० फरवरी, १६४१ के दिन वायु दुर्घटना में ग्रस्त होकर उनका देहान्त हो गया। वह व्यक्ति जिसने लाखों प्राणियों को जीवन लाभ दिया था—केवल ५० वर्ष की आयु में ही मिन्टों में ही स्वर्ग सिधार गया।

उनकी मृत्यु के पश्चात् श्री बेस्ट को ही उनका स्थान भी लेना पड़ा। बाद को बेस्ट अनुसन्धानशाला की भी १६५४ में स्थापना हो गई। सन् १६६१ में एक नया कक्ष बना कर वेन्टिग-वेस्ट तथा वेस्ट शोध-संस्थानों को सम्बद्ध कर दोनों युवकों का अटूट सम्बन्ध भी साकार कर दिया गया। डॉ० वेस्ट आज ६६ वर्ष की आयु में भी उसी उत्साह से खोज कार्य रहे हैं जो उन्होंने ३५ वर्ष पहले प्रेरित किया था। इन्सुलिन की खोज पर लिखते हुए डा० फिसवी ने उचित ही कहा है—

"वेन्टिङ्ग के बिना प्रयत्न न होता और बेस्ट के बगैर आविष्कार न होता।"

[श्री जार्ज ए० वैन्डर के एक लेख का भाषानुवाद]

—सम्पादक

अमूल दूध उत्पादक सहकारी संघ

डी० पी० खन्ना

पनीबाई ने अपनी जीवन के समूचे ४० वर्ष देवराजपुरा गांव में बिताये हैं। यह गांव गुजरात राज्य में आणन्द के समीप है। कई वर्ष पूर्व, खेतीबाड़ी करना उसके परिवार का मुख्य व्यवसाय और जीविका का साधन था। पनीबाई ने बतलाया कि उनका जीवन बड़ा ही कष्टपूर्ण था, यहाँ तक कि अच्छी फसलें पैदा होने पर भी कभी-कभी उनके परिवार के लोगों को दिन में दो जून भरपेट खाना नसीब नहीं होता था।

किन्तु अब हालत वैसी नहीं रही है। अब खेतीबाड़ी के स्थान पर दूध का उत्पादन करना मुख्य व्यवसाय बन गया है। अब पनीबाई अपनी भैंसों का दूध बेच कर दिन में दो बार नकद दाम वसूल करती है। इस रकम से परिवार के लोग पर्याप्त भोजन, वस्त्र तथा अन्य आवश्यक वस्तुएँ खरीद सकते हैं। इससे उसे गाँव के साहूकार के चंगुल से भी छुटकारा मिल गया है।

गुजरात के खेड़ा जिले के इस और अन्य गांवों के लोगों की स्थिति पनीबाई की तरह ही बेहतर हो गई है। इन गांवों के लोगों की ४० प्रतिशत से ६० प्रतिशत तक आमदनी दूध के उत्पादन से होती है।

खेड़ा जिले के अधिकांश गांवों में प्राथमिक स्कूल मौजूद हैं। प्रशिक्षण-प्राप्त पशु-चिकित्सकों द्वारा उनके पशुओं की देखरेख की जाती है। लोगों को यह बताया जाता है कि किस प्रकार स्वास्थ्यप्रद और वैज्ञानिक तरीकों से पशुओं की देखरेख करनी चाहिए। पहले से मौजूद कुओं का सुधार किया गया है और कई स्थानों पर नये कुएँ खोदे गये हैं। कुछ कुओं में पम्प लगे हुए हैं। बहुत से गाँवों में बिजली की व्यवस्था हो गई है, जो इस बात की द्योतक है कि भारत के देहात उन्नत एवं समृद्ध हो रहे हैं। गाँवों में सड़कें बना दी गई हैं। इन सड़कों को कभी-कभी 'दूध वाली सड़क' कहा जाता है, क्योंकि ये सड़कें दूध इधर-उधर भेजने के लिए बनाई गई हैं और उनसे गांव समृद्ध हुए हैं।

यदि आप किसी दिन सुबह या शाम इन ४०० गाँवों में से किसी गांव में जायें तो आप एक नये अथवा सफेदी पुते मकान के बाहर पीतल के चमकीले बर्तन लिये हुए पुरुषों, स्त्रियों और बच्चों की कतार देखेंगे। उस मकान के भीतर दो अथवा तीन व्यक्ति दीखते हैं जिन के पास पात्र, मापने के यन्त्र और अन्य उपकरण होते हैं। वे लोग दूध लेते हैं और उसकी चिकनाई को मापते हैं। उनमें से एक दूध के दाम अदा करता है। जब कतार में खड़ा अन्तिम व्यक्ति निबट जाता है, तब एक ट्रक आती है और संचित दूध को उसमें रखकर आणन्द स्थित अमूल डेयरी में पहुँचा दिया जाता है। वहाँ पहले दूध को वैज्ञानिक प्रक्रियाओं द्वारा कीटाणु-रहित किया जाता है, और फिर उससे मक्खन, घी, दुग्धचूर्ण, बच्चों के लिए हल्का दूध और पनीर आदि पदार्थ तैयार किये जाते हैं।

अमूल डेयरी, जो भारत में सबसे बड़ी डेयरी है, इन ४०० गाँवों के दूध-उत्पादकों की सहकारी सम्पत्ति है। प्रत्येक गाँव में दूध-उत्पादकों की अपनी सहकारी समितियाँ हैं और ये समितियाँ खेड़ा जिले के दूध-उत्पादकों के उस सहकारी संघ से सम्बद्ध हैं, जिसने इस आधुनिक डेयरी की स्थापना की है और जो इसका प्रबन्ध करता है। खेड़ा जिले के दूध-उत्पादकों का सहकारी संघ इस बात का एक उदाहरण है कि आर्थिक

प्रगति और समृद्धि की दृष्टि से सहकारी प्रयत्नों द्वारा क्या कुछ किया जा सकता है।

खेड़ा जिला दूध के भण्डार के रूप में प्रसिद्ध है। दसियों वर्षों से देहाती लोग अपनी खेतीवाड़ी की आय में वृद्धि करने के लिए कुटीर-उद्योग के रूप में पशुओं का पालन करके दूध बेचते हैं। फिर भी, उपयुक्त हाट-व्यवस्था के अभाव में, दूध-उत्पादकों को उचित लाभ नहीं होता था। दूध-उत्पादन की आधुनिक विधियां न जानने के कारण वे न तो दूध की मात्रा में वृद्धि कर सकते थे और न ही उत्पादन का खर्च घटा पाते थे।

किसानों की दशा में सुधार करने के लिए, १९४६ में कुछ परिश्रमी, कल्पनाशील और लगन वाले किसानों ने स्वर्गीय वल्लभभाई पटेल का आशीर्वाद प्राप्त करके एक सहकारी संघ की स्थापना की। उस संघ ने मक्खन तैयार करने वाली एक छोटी सी सरकारी फैक्टरी पट्टे पर ली और १९४८ में केवल दो गाँवों की समितियों से ही कारोबार प्रारम्भ कर दिया। उस समय प्रतिदिन ५०० पौण्ड दूध कीटाणुरहित किया जाता था। उसके इस दूध की ग्राहक २९६ मील दक्षिण की ओर बम्बई की प्रसिद्ध आरे दुग्ध-शाला थी।

इस समय संघ से सम्बद्ध सहकारी समितियों की संख्या प्रायः ४०० है और लगभग ७०,००० किसान उनके सदस्य हैं। उन किसानों के पास १,२५,००० भैंसें और गायें हैं। संघ की डेयरी में, प्रतिदिन औसतन ५,००,००० पौण्ड दूध से १,२०,००० लिटर कीटाणु रहित दूध, ७ टन मक्खन, ४ टन घी, बच्चों के लिए ६ टन दुग्धचूर्ण, १ टन पनीर, ३ टन मीठा गाढ़ा दूध, ६ टन दुग्धचूर्ण और एक टन छैना तैयार किया जाता है। इस डेयरी में एक वर्ष में ६ करोड़ रुपये से अधिक का उत्पादन होता है।

अमूल डेयरी का दूध तो बम्बई, अहमदाबाद और राजकोट (उत्तर में २६० मील) तक जाता है, पर मक्खन आदि इसकी विभिन्न वस्तुएँ अमूल के नाम से समूचे भारत में बेची जाती हैं।

यद्यपि दूध-उत्पादकों का यह संघ मुख्यतः दूध का ही व्यवसाय करता है, किन्तु वह किसानों के अन्य हितों को भी ध्यान में रखता है। उदाहरण के तौर पर उसका नींबू के रस का कारखाना भारी मात्रा में व्यापारिक फर्मों को नींबू और उसका रस बेचता है जिससे किसानों को पहले की अपेक्षा कहीं अधिक लाभ होता है।

गाँवों की सहकारी समितियाँ किसानों को अपने-अपने कारोबारों की प्रबन्ध-व्यवस्था करने का प्रशिक्षण देती हैं। वे सहकारी समितियाँ ऐसे ग्रामीणों को नये नेताओं के रूप में सामने ला रही हैं जिनमें पहल करने की क्षमता है और जो अपनी बस्ती की भलाई के लिए अपनी शक्ति लगाते हैं।

इन महत्वपूर्ण कार्यसिद्धियों के पीछे परीक्षणों, पड़तालों, गलतियों और अन्ततः सफलता प्राप्त करने की कहानी निहित है। उदाहरणार्थ, जब संघ ने बच्चों के लिए हल्का दूध, मक्खन और पनीर बनाने का निश्चय किया, तब कोई भी भैंस के दूध से ये वस्तुएँ तैयार नहीं करता था। अमूल के कर्मचारियों ने सफलता प्राप्त करने में २ वर्ष लगाये और २,००,००० रुपया खर्च किया। 'विश्व खाद्य एवं कृषि-संगठन' के विशेषज्ञ और मैसूर के 'केन्द्रीय खाद्य तकनीकी अनुसन्धान संस्थान' ने उनकी सहायता की। भैंस के दूध से तैयार की गई अमूल की वस्तुएँ संसार के किसी भी देश में गाय के दूध से तैयार होने वाले पदार्थों की बराबरी कर सकती हैं।

१९५३ में अमूल की डेयरी की प्रगति में एक परिवर्तनकारी घटना हुई। उस समय तक किसानों में दूध सहकारी आन्दोलन बहुत लोकप्रिय हो गया था और वे संघ को आरे डेयरी की आवश्यकता से अधिक दूध मुहैया करने लगे थे, विशेष रूप से जाड़ों में जब दूध का उत्पादन गर्मियों की तुलना में २५० प्रतिशत अधिक होता है।

किसानों की सहकारी समिति होने के नाते सहकारी संघ का यह कर्तव्य है कि वह किसानों द्वारा लाया जाने वाला सारा दूध स्वीकार करे। ऐसी कठिन परिस्थिति में, सहकारी संघ ने एक आधुनिक कारखाना बनाने का

निश्चय किया, ताकि बिक्री से बचे हुए दूध की विभिन्न वस्तुएँ तैयार की जायें। तत्कालीन बम्बई राज्य की सरकार और भारत-सरकार ने उस योजना को स्वीकृति दी। केन्द्रीय सरकार ने भी 'अन्तर्राष्ट्रीय बाल संकट कोष' से और कोलम्बो-योजना के अन्तर्गत न्यूजीलैण्ड से सहायता प्राप्त करने में मदद दी।

१९५५ में ५० लाख रुपये की यह योजना पूर्ण हो गई। इससे उस जिले में दूध के उत्पादन को और अधिक बढ़ावा मिला और ३ वर्ष के भीतर ही १५ लाख रुपये की लागत से मीठा गाढ़ा दूध तैयार करने का कारखाना स्थापित कर लिया गया। अधिकाधिक मात्रा में दूध आते रहने पर १९६० में अमूल डेयरी ने पनीर और बच्चों का हल्का दूध तैयार करने के लिए दो और विभाग स्थापित कर दिये। अब डेयरी का एक अन्य भाग पूरा होने वाला है। इससे डेयरी में प्रतिदिन १० लाख पौण्ड दूध कीटाणुविहीन किया जा सकेगा और बच्चों के लिए ४६ टन दुग्धचूर्ण तैयार होने लगेगा।

१९५५ में पहली बार अमूल डेयरी के वार्षिक कारोबार में ६ गुनी से अधिक वृद्धि हो चुकी है। इससे देश को पर्याप्त मात्रा में विदेशी मुद्रा की बचत हुई है। १९६२-६३ में जो कुल ४ करोड़ ५६ लाख रुपये का कारोबार हुआ, उसमें से २ करोड़ ४ लाख रुपये का दूध का और २ करोड़ ५२ लाख रुपये का अन्य वस्तुओं का कारोबार था। इससे स्पष्टतः विदेशी मुद्रा के रूप में २ करोड़ ५२ लाख रुपये की बचत हुई। यदि ये चीजें तैयार न होतीं तो उन्हें बाहर से मंगाना पड़ता।

दूध के इस सहकारी कारोबार से खेड़ा जिले को अनेक लाभ पहुँचे हैं और इससे खेड़ा के किसानों के जीवन में बहुत परिवर्तन हो गया है। सहकारी संघ की प्रबन्ध-व्यवस्था में प्रत्येक किसान की आवाज है और प्रत्येक किसान को इसके लाभ में हिस्सा मिलता है। किसान को अपने माल के उचित दाम मिलने और बिकने का पक्का भरोसा रहता है। सहकारी संघ अपने मुनाफे का पर्याप्त भाग सड़कों, स्कूलों, पुस्तकालयों और युवक-केन्द्रों के निर्माण और पशुओं के लिए सायबान बनाने, कुएँ खोदने तथा उनका सुधार करने, भूमि को समतल बनाने और चलते-फिरते चिकित्सालयों, पशु-चिकित्सा और कृत्रिम गर्भाधान की सेवाओं आदि पर खर्च करता है।

अपनी डेयरी-योजना का विस्तार करते हुए, सहकारी संघ को सदैव दूध का उत्पादन बढ़ाने का ध्यान रहा है, ताकि देश को अपने उपयोग के लिए अधिक दूध मिल सके। कृत्रिम गर्भाधान, पशुओं की चिकित्सा, दूध का उत्पादन बढ़ाने की उन्नत विधियों की जानकारी देने विषयक इसकी विभिन्न सेवाओं का उद्देश्य इस दिशा में प्रगति करना है। वास्तव में संघ ने अभी हाल में २ करोड़ १० लाख रु० की ७ वर्षीय योजना चालू की है जिसका उद्देश्य अपने सब सदस्यों के सभी दुधारू पशुओं का दूध दुगना करना है।

प्रधानमन्त्री लालबहादुर शास्त्री ने ३१ अक्तूबर, १९६४ को आणन्द के निकट कंजरी में ४५ लाख रु० की लागत से निर्मित चाराफैक्टरी का उद्‌घाटन किया था। फैक्टरी का उस योजना में महत्वपूर्ण स्थान है जिस में पशुओं के पालन-पोषण, स्वास्थ्य और सफाई, पंजीकरण और बिक्री तथा ज्ञान-विस्तार के काम शामिल हैं। पशुओं के चारे की नई फैक्टरी से प्रतिदिन २०० टन सन्तुलित एवं पुष्टिकर चारा तैयार किया जायेगा। अनुमान है कि इससे अन्ततः मवेशियों के मालिकों को चारे के मामले में ४० लाख रु० वार्षिक की बचत हो जायेगी।

खेड़ा दूध-उत्पादक संघ को 'अन्तर्राष्ट्रीय बाल संकट कोष', न्यूजीलैण्ड, भारत-सरकार और राज्य-सरकार से सहायता प्राप्त हुई है। इसे संयुक्तराष्ट्र-संघ के खाद्य एवं कृषि संघटन के भूख से मुक्ति आन्दोलन की दुर्भिक्ष-निवारक ऑक्सफोर्ड कमेटी से भी पशुओं की चारा-फैक्टरी के लिए १४ लाख रु० की सहायता मिली है। खाद्य एवं कृषि संघटन के विश्व खाद्य-कार्यक्रम ने भी ५५ लाख रु० मूल्य के १७,००० टन अनाज दिये हैं। यह अनाज अमेरिका के लोगों द्वारा दान दिये जाने के कारण ही मुफ्त दिया जा सका है।

अमूल डेयरी के बारे में बहुत कम लोगों को यह

पता है कि उसने देश की विभिन्न दूध-योजनाओं के लिए तकनीकी परामर्श देने और कर्मचारियों को प्रशिक्षित करने का काम किया है और अब भी करती है। इस प्रकार की सहायता पाने वालों में अहमदाबाद म्युनिसिपल कार्पोरेशन की डेयरी, राजकोट में दूध की चीजें तैयार करने वाली सरकारी फैक्टरी और बड़ौदा की दुग्ध सहकारी योजना शामिल हैं। संघ भारत-सरकार, राज्य-सरकारों और बाल संकट कोष को तकनीकी परामर्श देता है।

खेड़ा जिला सहकारी दूध-उत्पादक संघ ने दक्षिण-पूर्वी एशिया में दूध-उद्योग की कायापलट कर दी है। देहातों की अर्थ-व्यवस्था में यह परिवर्तन लाने के लिए १९६३ का मैगासायसाय-पुरस्कार संघ के प्रधान श्री त्रिभुवनदास पटेल और जनरल मैनेजर श्री वी० कूरियन को दिया गया था। संघ ने सहकारी प्रयत्नों का दृष्टान्त प्रस्तुत किया है, जिसका अनुकरण करके अन्यत्र भी आर्थिक प्रगति और समृद्धि हासिल की जा सकती है।

●●

(पृष्ठ १७६ का शेषांश)

के उत्कृष्ट कोटि के चित्र लेने तथा अन्तरिक्ष में यान्त्रिक मार्ग-दर्शक प्रणाली के काम भी शामिल थे। एडवर्ड ह्वाइट ने क्षितिज और नक्षत्रों का अवलोकन करने के लिए एक समान्य सेक्सटैण्ट कल को चलाया।

अन्तरिक्ष में ९७ घंटे ५८ मिनट तक उड़ान करने के बाद मैक्डिविट ने पृथ्वी पर उतरने के लिए कैलिफोर्निया के ऊपर ४ रैट्रो राकेट दागे। लगभग १०,५०० फुट की ऊँचाई पर मुख्य पैराशूट खुल गया और जैमिनी यान बरमूडा से ५८५ मील दूर अतलान्तक महासागर में जा गिरा। वहाँ से एक हैलिकोप्टर ने अन्तरिक्षयान-चालकों को उठाकर अमेरिकी विमानवाहक जहाज 'वास्प' पर पहुँचा दिया।

●●

गगनचुम्बी भवनों के निर्माण के लिए प्रयुक्त होने वाला अद्भुत यन्त्र-एलीवेटर

आर्थर लारसेन

अमेरिका में हर बार जब कोई गगनचुम्बी भवन बन कर तैयार होता है, तो उसके निर्माण का अधिकांश श्रेय भवन की डिजाइन तैयार करने वाले इंजिनियरों और उसका निर्माण कराने वाले शिल्पियों को ही प्राप्त होता है। लेकिन सत्य तो यह है कि भवन-निर्माण के लिए प्रयुक्त होने वाले एक यन्त्र के अभाव में, जो इस समय अमेरिका में इतना प्रचलित हो चुका है कि उसके अस्तित्व को लोग एक सहज-सामान्य बात मानने लगे हैं, ६ मंजिल से ऊँचे एक भी कार्यालय-भवन का निर्माण कर पाना सम्भव न हो पाता। यह यन्त्र है एलिवेटर (नीचे की मंजिलों के ऊपर की मंजिल तक पहुँचाने वाली यान्त्रिक विधि)।

एलीवेटर का आविष्कार सर्वप्रथम १८५२ में न्यूयार्क निवासी एलिशा ग्रेव्ज ओटिस नामक एक ४१ वर्षीय मैकेनिक ने किया था, जो 'यार्कर्स बेडस्टेड मैन्युफक्चरिंग कम्पनी' में नौकर था। कम्पनी ने उसे सामान को ऊपर पहुँचाने वाला एक यन्त्र तैयार करने के लिए कहा था। इस प्रयास में उसने एक ऐसा सेफ्टी एलिवैटर तैयार कर डाला, जिसके ऊपरी सिरे में एक वैगन-स्प्रिंग फिट थी। वैगन के भार से यह स्प्रिंग उस समय तक बराबर झुकी रहती थी जब तक कि उसमें लगे तार टूट कर ढीले न पड़ जायें। और ऐसा होने पर, स्प्रिंग बिल्कुल सीधी हो जाती थी और धातु के दो बड़े हुक धातु की दाँतेदार नलियों में फँस जाते थे जिससे सामान को ऊपर की ओर ले जाने वाला यन्त्र वहीं पर रुक जाता था।

न्यूयार्क के एक फर्नीचर निर्माता ने, जो कुछ समय पूर्व ही एक होइस्ट-दुर्घटना में फँस चुका था ओटिस द्वारा निर्मित 'सेफ्टी एलिवेटर' को देखा और ३०० डालर प्रति 'होइस्ट' के हिसाब से दो 'होइस्ट' खरीद कर सितम्बर, १८५३ में उन्हें अपनी फैक्टरी में लगा लिया।

'ओटिस' को अपने इस आविष्कार के महत्व का पता नहीं था और उक्त आर्डर प्राप्त होने के समय वह स्वर्ण की खोज में कैलिफोर्निया को रवाना होने के लिए बिल्कुल तैयार हो चुका था। उक्त आर्डर प्राप्त होने पर उसने कैलिफोर्निया जाने का विचार छोड़ दिया और एलीवेटरों के निर्माण की ओर पहली बार उसने गम्भीरतापूर्वक विचार करना प्रारम्भ किया। न्यूयार्क में 'क्रिस्टल पैलेस में आयोजित प्रदर्शनी में उसने नाटकीय ढंग पर अपने आविष्कार की क्षमता का प्रदर्शन किया। वह एलीवेटर पर सवार होकर स्वयं ऊपर तक गया और वहाँ पहुँचने पर उसने रस्सी को काट देने का आदेश दिया। इसके बाद से ओटिस का कारोबार चमकने लगा। लेकिन यात्रियों को ऊपर-नीचे पहुंचाने के लिए एलिवेटरों का उपयोग १८५७ से ही प्रारम्भ हुआ।

१८६१ में एलिशा ओटिस का स्वर्गवास हो गया। उस समय उसका उद्योग अपनी शैशव अवस्था में ही था और उसमें केवल कुछ मुट्ठी भर मजदूर ही काम करते थे। लेकिन उसके पुत्रों– चार्ल्स और नौर्टन—ने अपना कारोबार जारी रखा और मूल आविष्कार में अनेक सुधार करा कर उसे पेटेंट भी करा लिया। आज यह फर्म जो तरक्की कर सकी है, उसका अधिकांश श्रेय इन्हीं दो कर्मठ व्यक्तियों को है।

ओटिस के बाद एलीवेटरों के आकार-प्रकार में काफी सुधार और परिवर्तन हुए। विद्युतशक्ति चालित

एलीवेटरों के अस्तित्व में आने के पूर्व एलिवेटरों को चलाने के लिए वाष्प शक्ति का भी उपयोग होता था। फिप्थ एवन्यू पर स्थित एक होटल ने एक ऐसा दिलचस्प एलीवेटर फिट कराया, जो ढले हुए लोहे से बने एक ऐसे विशालकाय पेंच (स्क्रू) से सम्बद्ध था जो भवन की पूरी ऊँचाई तक गया था। यह पेंच एलीवेटर के मध्य से होकर जाता था—सब से नीचे की मंजिल पर स्थित एक वाष्प-इंजन के चलने पर पंच पर चढ़ी एक डोरी घूमती थी और इस डोरी के घूमने पर एलीवेटर धीरे-धीरे ऊपर चढ़ता था। एक और विचित्र प्रकार के एलीवेटर का प्रयोग यूरोप में किया गया था, जिसे 'पैटरनोस्टर एलीवेटर' कहते थे। इस एलीवेटर में एक बहुत लम्बी जंजीर पर दो डिब्बे फिट थे। इस एलीवेटर पर यात्रियों को कूद कर चढ़ना उतरना पड़ता था, क्योंकि यह कभी रुकता नहीं था; बराबर चलता रहता था। एक अन्य प्रकार के एलीवेटर का भी प्रयोग होता था। इसमें ऊपर की ओर एक बहुत बड़ी बाल्टी फिट थी। जब इस बाल्टी में पानी भर दिया जाता था तो भार के कारण बाल्टी नीचे आ जाती थी और एलीवेटर का डिब्बा ऊपर उठ जाता था। पर पानी गिरा देने पर बाल्टी पुनः ऊपर चली जाती तथा एलिवेटर-कार नीचे उतर आती थी।

विद्युतशक्ति-चालित एलीवेटरों का प्रयोग सर्वप्रथम १८८९ में हुआ। इसके उपरान्त इसमें निरन्तर सुधार होते रहे। आजकल अमेरिका में प्रयुक्त होने वाले एलीवेटरों में से बहुत से स्वचालित हैं। एलीवेटर-कार को मंजिलों के फर्श के समतल रखना एक बड़ी समस्या थी और एलीवेटर-कार को मंजिल के फर्श से समतल रखने के लिए आविष्कृत स्वचालित प्रणाली के व्यवहार में आने के पूर्व तक 'स्टेपअप' और 'स्टेप डाउन' वाक्य लोगों की जबान पर चढ़ गये थे। यह स्वचालित प्रणाली या तो 'फोटोएलेक्ट्रिक सेलों' के द्वारा अथवा 'चुम्बकीय स्विचों' के द्वारा कार्य करती है। काफी तेजी के साथ ऊपर चढ़ने या नीचे उतरने से जो विचित्र प्रकार की अनुभूति होती थी, उस पर भी अब जटिल यान्त्रिक प्रक्रिया के विकास के फलस्वरूप काफी हद तक नियन्त्रण कर लिया गया है।

इस क्षेत्र में हाल के वर्षों में हुई सबसे अधिक उल्लेखनीय प्रगति एक ऐसे एलीवेटर-यन्त्र का निर्माण है, जो सोचने-विचारने में समर्थ है। यह वस्तुतः एक अद्भुत आविष्कार है। इस प्रकार के एलीवेटर में जैसे ही यात्री कैबिन में प्रविष्ट होता है, अदृश्य मापक यन्त्र उसका भार रिकार्ड कर लेते हैं और यह सूचना भवन के दूसरे भाग में स्थित विद्युदणु-मस्तिष्क तक पहुँचा देते हैं। जब यह मापक यन्त्र यह सूचित करने लगता है अथवा एक निश्चित समय व्यतीत हो जाता है तो कैबिन के दरवाजे अपने आप बन्द होने लगते हैं। यदि अन्तिम क्षण कोई यात्री जल्दी में कैबिन के अन्दर घुसने का प्रयास करता है तो विद्युदणु ट्यूब या अतिलाल रंग की किरणें अपना कार्य करती हैं और उसको प्रवेश करने देने के लिए दरवाजा खुल जाता है।

यदि विचारों में खोए हुए यात्री अपनी मंजिल का बटन दबाना भूल जाते हैं तो एक रिकार्ड की हुई वाणी उन्हें उनकी भूल बताती है। और यदि विचारहीन व्यक्ति अपनी बातचीत खतम करने के लिए दरवाजे के पास खड़े रह जाते हैं तो यह रिकार्ड की हुई आवाज उन्हें दरवाजे से अलग हट जाने का अनुरोध करती है। और यदि वे इस चेतावनी की उपेक्षा कर देते हैं तो दरवाजे उन्हें धीरे से धक्का देकर रास्ते से परे हटा देते हैं।

यद्यपि सभी स्वचालित एलीवेटरों में रिकार्ड की हुई आवाज की व्यवस्था नहीं, लेकिन इस प्रकार के एलीवेटर अब अधिक लोकप्रिय होते जा रहे हैं। वाणी द्वारा इस बात की भी घोषणा की जा सकती है कि एलीवेटर ऊपर की ओर जा रहा है अथवा नीचे की ओर। इसके अलावा विभिन्न मंजिलों पर रहने वाले किरायेदारों के नामों, उन पर स्थित दूकानों में सुलभ वस्तुओं इत्यादि की घोषणा के लिए भी इसका उपयोग हो सकता है। यदि कोई संकटकालीन बटन दबा देता है तो 'वाणी' यह पूछ सकती है कि क्या बटन भूलवश

दबाया गया है और यदि ऐसा हुआ है तो कृपया बटन को पूर्ववत कर दिया जाए। यदि ऐसा नहीं होता तो 'वाणी' अपना कार्य जारी रखती है और तुरन्त इंजीनियर से सम्पर्क स्थापित करा देती है ताकि वह यात्रियों को आवश्यक सहायता सुलभ कर सके।

इस प्रकार के स्वचालित एलीवेटरों का संचालन करने वाले विद्युदणु मस्तिष्कों को वह सब आँकड़े और तथ्य सुलभ कर दिए जाते हैं जो एलीवेटरों के व्यवस्थित और कुशलतापूर्ण संचालन की दृष्टि से आवश्यक होते हैं। इस सूचना में एलीवेटरकार द्वारा सँभाला जा सकने वाला वजन, शैफ्टों में एलीवेटर-कारों की स्थिति, यात्रियों का प्रतीक्षा-काल, उन गलियारों की स्थिति और संख्या-क्रम, जहाँ-जहाँ एलीवेटर को रुकना है इत्यादि बातें शामिल होती है। इन आँकड़ों के आधार पर विद्युदणु-मस्तिष्क एलीवेटर के ऊपर-नीचे आने-जाने की ऐसी व्यवस्था करता है जो ट्रैफिक के परिमाण से मेल खाती है। प्रातःकाल जब अधिकांश लोग ऊपर जाते हैं, एलीवेटर कार भरने के साथ ही तुरन्त रवाना हो जाते हैं। यदि एक यात्री सब से ऊपर की मंजिल पर जाना चाहता है तो एलीवेटर पहले ऊपर की मंजिल पर जा सकता है और उसको उतारने के बाद उससे नीचे की मंजिलों पर जाने वाले यात्रियों को उनकी मंजिलों पर छोड़ता हुआ नीचे उतर आता है।

कार्यालय के बन्द होने के समय जब नीचे उतरने वालों की संख्या बहुत अधिक रहती है, भरी हुई एलीवेटर कारें बिना रुके लौबी पर पहुँचती हैं। लेकिन यदि कोई यात्री ऐसा हुआ जो उस समय की ट्रैफिक-व्यवस्था में फिट नहीं होता तो भी उसकी उपेक्षा नहीं की जाती। यदि विद्युदणु मस्तिष्क को यह पता चल जाता है कि वह काफी समय से प्रतीक्षा कर रहा है तो उसे लेने के लिए एक एलीवेटर-कार भेज दी जाती है। रात्रि को, जब भवन खाली रहता है, तो विद्युदणु मस्तिष्क सभी एलीवेटर-कारों को पहली मंजिल पर भेज देता है, रोशनी गुल कर देता है और एलीवेटर को चलाने वाली विद्युत शक्ति प्रवाह को बन्द कर देता है। लेकिन इसके बावजूद वह सदैव सतर्क रहता है और देर तक कार्य करने वाले कर्मचारी को नीचे लाने के लिए एलीवेटर-कार ऊपर भेज देता है।

संसार का सबसे छोटा एलीवेटर शिकागो के पालमो लाइव भवन में फिट है। इसमें केवल एक आदमी के खड़े होने की गुंजाइश है। इसका उपयोग इस गगनचुम्बी इमारत की चोटी पर स्थित तेज प्रकाश-पुंज तक पहुँचने के लिए किया जाता है। यह एलीवेटर भवन के सबसे ऊपरी मंजिल में स्थित उस छोटे से टावर में स्थित है, जहाँ इस प्रकाश-पुंज को फिट किया गया है। यात्रियों को सबसे अधिक गहराई तक उतारने वाला एलीवेटर कार्लस्वाद कैवर्नस (न्यूमैक्सिको) में है, जहाँ यह यात्रियों को गुफा के अन्दर २२५ मीटर की गहराई तक पहुँचाता है। फिर भी, यह एम्पायर स्टेट भवन का मुकाबला नहीं कर सकता, जिसके शैफ्ट ११ किलोमीटर से भी अधिक हैं और जिसमें एलीवेटर को सबसे ऊपरी मंजिल से सबसे निचली मंजिल तक पहुँचने के लिए ३०४ मीटर की दूरी तय करनी पड़ती है। संसार के किसी भी एलीवेटर को इतनी दूरी तय नहीं करनी पड़ती।

अधिकाधिक वृक्ष लगाकर वनमहोत्सव को सफल बनाइये

टेलिफोन-वार्ता में आश्चर्यजनक प्रगति

वाल्टर फौलर

१९६५ के प्रारम्भ में अमेरिका में इस वर्ष टेलिफोनों को विद्युदणु-उपकरणों में बदलने का काम प्रारम्भ हो जायेगा। इसके परिणाम-स्वरूप टेलिफोनों द्वारा वस्तुतः कुछ आश्चर्यजनक कार्य सम्पन्न होने लगेंगे।

सामान खरीदने के लिए घर से बाहर गई हुई गृहिणी वहीं से अपने रसोईघर के खाना पकाने के विद्युत् यन्त्रों को चालू कर सकेगी। इसके लिए उसे केवल अपने घर के टेलिफोन नम्बर और एक सांकेतिक नम्बर को घुमाना होगा।

कार्यालय के कर्मचारी को यदि दूसरे नम्बर के व्यस्त होने का संकेत मिलता है तो उस नंबर के खाली होने पर स्वतः उसके अपने फोन की घंटी बज जायेगी।

अपने पड़ोसी से मिलने के लिए उसके घर जाने वाला परिवार, अपने घर से रवाना होने से पूर्व, एक सांकेतिक नंबर तथा अपने मेजवान के टेलिफोन नंबर को घुमाकर यह व्यवस्था कर सकेगा कि उनके सभी टेलिफोन-सन्देश उसी मेजवान के यहाँ पहुँचें। डायल घुमाकर नया आदेश न दिये जाने तक यही व्यवस्था चालू रहेगी।

दस वर्षों से इस क्रिया का विकास किया जा रहा था। टेलिफोन को प्रयोग करने वाले मौरिस (इलिनॉय) के निवासियों द्वारा विद्युदणु-स्विचिंग की सफलतापूर्वक जाँच कर ली गई हैं। अब, न्यूयार्क के दक्षिण-पश्चिम में ६० मील दूर सकेसुन्ना (न्यूजर्सी) में संसार का प्रथम स्थायी इलेक्ट्रोनिक सेण्ट्रल आफिस-नं० १-एस-एस (इलैक्ट्रोनिक स्विचिंग सिस्टम) स्थापित होने वाला है। वहाँ के टेलिफोन रखने वाले लगभग २०० व्यक्ति सर्वप्रथम नई व्यवस्था से लाभ उठायेंगे। इसके बाद न्यूयार्क शहर, वाशिंगटन तथा नारफोक (वर्जिनिया) में इलैक्ट्रोनिक सेण्ट्रल आफिस स्थापित किये जायेंगे। इनसे कुछ टेलिफोन-ग्राहकों को लाभ पहुँचेगा।

लगभग पांच वर्षों में, नये उपकरणों के निर्माण में इतनी वृद्धि हो जायेगी कि अमेरिका में प्रति वर्ष लगभग २० लाख टेलिफोन इस नई व्यवस्था के अन्तर्गत लाये जा सकें। लगभग ३५ वर्ष बाद, २००० ई० तक, अमेरिका में सभी टेलिफोनों को इस व्यवस्था में परिणत किया जा सकेगा।

न्यूयार्क स्थित बेल टेलिफोन लेबोरेटरीज़ में इलेक्ट्रोनिक स्विचिंग का विकास किया गया है। वहाँ के वैज्ञानिकों का कहना है कि यह व्यवस्था इतनी लचीली है कि भविष्य में इससे ऐसे काम लिये जा सकेंगे जिनकी अभी कल्पना भी नहीं की गई है। टेलिफोन का प्रयोग करने वाला प्रत्येक व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं के अनुसार इस व्यवस्था से लाभ उठा सकता है।

नये प्रकार के इलैक्ट्रोनिक टेलिफोन बनाये जाने के फलस्वरूप इस प्रकार की बहुप्रयोजनीयता संभव हुई है। गणनायन्त्रों के समान इस उपकरण में स्मरण रखने की ऐसी विशाल विद्युदणु-क्रियाओं की व्यवस्था है जिनकी सहायता से विभिन्न आदेशों का पालन होता रहता है। इन आदेशों को इच्छानुसार आसानी से बदला जा सकता है।

टेलिफोन स्विचिंग क्रियाओं में मैकेनिकल स्विचों के बजाय ट्रांजिस्टरों द्वारा विद्युत् मार्गों का चुनाव किया

जाता है तथा उन्हीं के द्वारा उन्हें एक दूसरे से जोड़ा जाता है। इससे अत्यधिक तेजी से कार्य संपन्न हो जाता है, आसानी से देखरेख की जा सकती है और स्थान की बचत भी हो जाती है।

अमेरिका में सामान्य टेलिफोन उपकरणों के समान इलैक्ट्रोनिक स्विचिंग व्यवस्था से बड़े भरोसे के साथ कार्य सम्पन्न होता है। नं० १ इ-एस-एस की व्यवस्था ऐसे ढंग से की गई है कि इसमें ४० वर्षों में एक घंटे से भी कम समय के लिए रुकावट पैदा होगी।

इन व्यवस्थाओं को प्राय: पूर्ण रूप से निर्दोष रखे जाने की संभावनाओं का एक कारण यह है कि उनके समस्त महत्वपूर्ण पुर्जे दोहरे हैं। विद्युदणु-मस्तिष्क द्वारा निरन्तर व्यवस्था की जाँच की जाती है। यदि किसी कार्य में कुछ खराबी आ जाती है तो दोषयुक्त पुर्जा स्वत: कार्य करना बन्द कर देता है और उसकी जगह दूसरा पुर्जा ऐसी तेजी से कार्य करना प्रारम्भ कर देता है कि उसका कार्य-संचालन पर कुछ प्रभाव नहीं पड़ता।

एक टेलिप्रिन्टर पर कुछ नंबरों के रूप में उसके दोष का कारण अंकित हो जाता है। देखरेख करने वाला मिस्तरी उन नंबरों से दोष का पता लगा सकता है। दोष संबन्धी शब्द-कोष की सहायता से यह पता चल सकता है कि उपकरण में कहाँ क्या खराबी आ गई है।

अमेरिका में ८९ वर्ष पूर्व, १८७६ में एलैग्जेण्डर ग्राहम बेल ने टेलिफोन का आविष्कार किया था। प्राय: उसी समय उस आविष्कार को प्रयोग में लाना प्रारंभ हो गया था। १८७८ में न्यूहैवन (कनैटिकट) में संसार का प्रथम व्यापारिक टेलिफोन एक्सचेंज स्थापित हुआ था। तब से टेलिफोन यंत्र में अनेक महत्वपूर्ण सुधार किये गये हैं। इनमें सबसे चमत्कारपूर्ण सुधार स्वचालित स्विचिंग प्रणाली का आविष्कार था, जिसने टेलिफोन द्वारा संदेश भेजे जाने की क्रिया में ही परिवर्तन कर दिया। विशेषज्ञों का कहना है कि विद्युदणु स्विचिंग प्रणाली भी वैसी ही महत्वपूर्ण सिद्ध हो सकती है।

●●

अतिस्वन यात्रा-विमानों का अग्रदूत विमान एक्स बी०-७०

अमेरिका में परीक्षणात्मक आधार पर एक ऐसा नवीन अनुसंधानात्मक यान तैयार किया गया है जो ७० हजार फुट (२१ हजार मीटर) तथा इससे भी अधिक ऊँचाई पर ध्वनि की तिगुनी गति से उड़ सकेगा। यह अतिस्वन यान एक उड़ान में ही एक महाद्वीप से दूसरे महाद्वीप तक, लगभग ६ हजार मील की दूरी तय कर सकेगा।

अभी कुछ दिन पूर्व इस अद्भुत यान का प्रदर्शन पामडेल, कैलिफोर्निया में किया गया था। इसको सार्वजनिक रूप से प्रदर्शित किया जाने का यह पहला अवसर था। आजकल एक्स बी-७० नामक इस विमान की भूमि पर अच्छी तरह परीक्षा की जा रही है। भूमि पर अच्छी प्रकार परीक्षा कर लेने के बाद जब यह विमान सफलतापूर्वक उड़ा लिया जाएगा तभी यह निश्चित रूप से विदित हो सकेगा कि क्या एक्स-बी-७० उड्डयन के इतिहास में एक नई क्रान्ति का अग्रदूत होगा -- दूसरे शब्दों में क्या उसकी तुलना पूर्णतः धातु से निर्मित सर्वप्रथम यान और सर्वप्रथम जेट-चालित यान से की जा सकेगी ?

उड्डयन-क्षेत्र से सम्बन्धित अनेक अधिकारियों का विश्वास है कि एक्स बी-७० की ऐतिहासिक उड़ान सम्भवतः उस सर्वप्रथम हवाई उड़ान के उपरान्त सबसे अधिक महत्वपूर्ण होगी, जो राइट-बन्धुओं द्वारा १९०३ में किटा हाक (नार्थ कैरोलिना, अमेरिका) के निकट स्थित किल डेविल हिल नामक स्थान पर भरी गई थी।

अमेरिका की वायुसेना के भूतपूर्व चीफ ऑव् स्टाफ जनरल टामस ह्वाइट के अनुसार यह अतिस्वन यात्री-विमान उड्डयन के एक युग का सूत्रपात कर सकता है। वह एक्स बी-७० नामक इस क्रान्तिकारी वायुयान के प्रबल समर्थकों में से हैं।

उड्डयन-उद्योग से सम्बन्धित अनेक सरकारी और गैरसरकारी नेताओं का कहना है कि एक्स बी-७० ऐसे नए प्रकार के अतिस्वन यात्री-विमानों के निर्माण का मार्ग प्रशस्त करेगा, जो २ हजार मील प्रति घण्टा की गति से काफी लम्बी उड़ानें भर सकेंगे।

प्रेसिडेण्ट जौन्सन ने, जो वायु में अमेरिका की श्रेष्ठता को कायम रखने के लिए कृत-संकल्प हैं, इस प्रकार के अतिस्वन यात्रा-विमान का द्रुत गति से विकास करने का संकेत दे दिया है। एक्स बी-७० किस्म के दो यान—एक्स बी-७० ए बन कर तैयार हो चुका है तथा दूसरा निर्माणाधीन है—के निर्माण के सिलसिले में प्राप्त अनुभव इस अतिस्वन यात्री-विमान को शीघ्र ही साकार रूप प्रदान करने में परम सहायक सिद्ध होगा।

एक्स बी-७० यान का आकार किस प्रकार का है ? एक विशेषज्ञ के शब्दों में 'यह कुछ हद तक अन्तरिक्ष-यान जैसा तथा कुछ हद तक सामान्य वायुयान जैसा दिखता है।' एक दूसरे विशेषज्ञ का कथन है, "युद्ध के विमान की सबसे प्रमुख विशेषता उसकी गति होती है, बमवर्षक विमान की प्रमुख विशेषता यह होती है कि वह कितनी दूरी तक मार कर सकता है तथा टैंकर-यान की विशेषता यह होती है कि वह कितना सामान ढो सकता है। एक्स-बी-७० अतिस्वन यात्री-विमान में उक्त तीनों विशेषताएँ एक साथ मौजूद हैं।

कुछ लोगों को एक्स बी-७० अतिस्वन-यान एक विशालकाय चमचमाते हुए रजतवर्ण पक्षी के सदृश्य प्रतीत होता है। इसका अग्रभाग सुई की तरह नुकीला और पिछला भाग एक ऐसे पंख से युक्त है, जिसका फैलाव १०५ फुट है। कुछ अन्य लोगों का कथन है कि इस यान को देख कर उन्हें एक फणधर कोबरा सर्प की अथवा उड़ने वाले एक विशेष प्रकार के जन्तु (एण्टईटर—यह जन्तु विशेष रूप से दक्षिण अमेरिका महाद्वीप पर पाया जाता है) जैसा दिखता है।

अमेरिकी वायुसेना के 'एक्स-बी-७० अतिस्वन विमान-योजना' सम्बन्धी शाखा के मुख्य अधिकारी ब्रिगेडियर जनरल फ्रेड एसकानी ने उस समय बहुत हसरत भरी नजर से इस चमचमाते हुए विमान की ओर देखा जब यह यान नार्थ अमेरिकन एविएशन इनकार्पोरेटेड कम्पनी के पामडेल (कैलिफोर्निया) स्थित कारखाने के हैंगर से बाहर निकाला जा रहा था। उसकी ओर देखते हुए उन्होंने कहा, 'ऐसा प्रतीत होता है मानो भूमि पर खड़ा हुआ ही यह ध्वनि की तिगुनी गति से उड़ रहा है।''

एक्स बी-७० अब तक निर्मित सभी विमानों से कुछ भिन्न प्रकार का है। ३० फुट ऊँचा यह अतिस्वन विमान अब तक निर्मित सभी विमानों से वजनी और लम्बा है। इसका भार २५० टन तथा लम्बाई १८५ फुट है। इसमें ६ टर्बो-जेट इंजन फिट हैं, जिनमें से प्रत्येक ३० हजार पौण्ड (१३,५०० किलोग्राम) जितना प्रवेगिक दबाव उत्पन्न करने में समर्थ हैं। ये टर्बो-जेट इंजन एक्स बी-७० यान को वायुमण्डल में १३ मील तक की ऊँचाई पर पहुँचाने में तथा ध्वनि की तिगुनी गति से उड़ने में समर्थ बना देंगे। यह गति अनेक राइफलों से छूटने वाली गोली की गति से भी तीव्र होगी।

ध्वनि की तिगुनी गति से ७० हजार फुट की ऊँचाई तक काफी लम्बी उड़ान भरने में समर्थ होने के अलावा इसमें और कौन सी विशेषता है?

सबसे पहली और महत्वपूर्ण बात यह है इसका बाहरी ढाँचा इस प्रकार का है कि ६५० डिग्री के उस उच्च तापमान को भी आसानी से सहार सकता है, जो ध्वनि से भी तिगुनी गति से उड़ने पर वायु-घर्षण के फलस्वरूप उत्पन्न होगा।

इस प्रचण्ड तापमान पर अल्यूमीनियम और मैगनीशियम गल कर बहुत मुलायम पड़ जाएँगे। अतएव, इंजीनियरों ने टिटैनियम नामक एक और नए पदार्थ को लेकर उस पर परीक्षण किए। यह पदार्थ हल्का, मजबूत तथा ताप को सहारने की क्षमता से युक्त है। अतएव, उन्होंने उक्त समस्या को हल करने के लिए इसी का उपयोग किया। एक्स बी-७० में एक 'स्टेनलेस स्टील हनीकाम्ब स्ट्रक्चर—कागज जैसे पतली इस्पात की चादरों के मध्य षड्भुजाकार इस्पात-अणुओं की व्यवस्था—भी है, जो इंसुलेशन के लिए बहुत प्रभावकारी सिद्ध हुआ है।

मधुमक्खी के छत्ते की ढंग की यह व्यवस्था ईंधन-टंकियों तथा यान के अन्य भीतरी और अपेक्षाकृत कमजोर भागों की ही प्रचण्ड ताप से रक्षा नहीं करती है अपितु, सम्पूर्ण ढाँचे की मजबूती को भी बनाये रखती है। एक्स बी-७० का ७० प्रतिशत भाग स्टेनलेस-स्टील का बना होता है। शेष १७ प्रतिशत भाग में एच-११ नामक एक विशिष्ट प्रकार का इस्पात—टूल-स्टील —तथा शेष में टिटैनियम और ताप सहारक निकेल मिश्रण का संयोग रहता है।

इस बात की व्यवस्था करने के लिए कि वायुयान के अन्दर मौजूद व्यक्ति प्रचण्ड ताप से झुलस न जाएँ, एक अत्यन्त विलक्षण और नवीन प्रकार की एयर-कण्डीशनिंग-प्रणाली का उपयोग किया गया है, जो वायुयान के भीतर के तापमान को ७० से लेकर ८० डिग्री फारेनहाइट तक बनाए रखती है। १३ मील की ऊँचाई पर उड़ते हुए भी वायुयान के अन्दर मौजूद व्यक्तियों को भारी आक्सीजन नकाब (मास्क) या प्रेसर-सूट नहीं पहनने पड़ेंगे। वायुयान के भीतरी वातावरण को नियंत्रित करने वाली यान्त्रिक-प्रणाली यान के अन्दर इतना दबाव बनाए रहेगी, जो ८ हजार फुट की ऊँचाई पर विद्यमान रहता है। भावी अतिस्वन यात्री-विमानों

में सफर करने वाले यात्री निश्चय ही इसी प्रकार की यांत्रिक प्रणालियों द्वारा सुलभ इन समस्त सुख-सुविधाओं का उपभोग करेंगे।

एक्स बी-७० अतिस्वन विमान की एक और प्रमुख विशेषता यह है कि इसमें अभी हाल में ही आविष्कृत 'कम्प्रेसन लिफ्ट' नामक यांत्रिक उड्डयन प्रणाली का उपयोग किया गया है। अंग्रेजी के शब्द 'वी' (V) के आकार की शॉक-वेव, जिनका सृजन एक्स बी-७० का अतिस्वन गति द्वारा उत्पन्न वायु तरंगों से होता है, वायुयान के २५० टन वजनी ढाँचे को कुछ सीमा तक हवा में ऊपर उछालने में सहायक होता है। इन शॉक-वेवों (प्रवैगिक दवाव जनित वायु तरंगें) पर एक्स-बी-७० उसी प्रकार वायु में ऊपर की ओर उछलता है, जिस प्रकार समुद्र पर गतिमान वेगवती नौका अपनी गति के द्वारा उत्पन्न लहरों पर उछलती हुई भागती है। इंजीनियरों का विश्वास है कि इन 'शॉक-वेवों' से एक्स बी-७० विमान को हवा में ऊपर उठने के लिए ३० प्रतिशत अधिक उछाल प्राप्त होगी।

'कम्प्रेसन-लिफ्ट' यान्त्रिक-विधि का उपयोग कर डिजाइन-निर्माता एक्स बी-७० के डैनों के आकार में उल्लेखनीय कमी करने में समर्थ हो गए हैं। इस प्रकार उन्होंने वायुयान को अधिक भारी होने से बचाया है तथा खर्च में भी कमी की है। यही नहीं, उन्होंने डैनों की व्यवस्था इस प्रकार की है ताकि उसके खिचाव में कमी पड़े। इन सब सुधारों के फलस्वरूप ईंधन की खपत में कमी होगी और एक्स बी-७० अधिक भार ले जा सकेगा तथा अन्तर्महाद्वीपीय दूरियों तक ध्वनि की तिगुनी गति से उड़ सकेगा।

जब अनुभवी टेस्ट-पायलेट (परीक्षणात्मक वायुयानों को उड़ाने वाले विमान चालक) एल-ह्वाइट इस नवीन अतिस्वन विमान को दो घण्टे की प्रथम उड़ान पर ले जाएँगे, तभी इस बात का अन्तिम रूप से निर्णय होगा कि इस वायुयान के निर्माण पर १० वर्षों तक जो परिश्रम किया गया तथा १ अरब डालर की जो धनराशि व्यय की गई, वह सफल हुई या नहीं? उन्हें तथा 'एक्स बी-७० योजना' से सम्बन्धित प्रत्येक व्यक्ति को इसका पूरा विश्वास है कि यह नवीन अतिस्वन विमान उन सभी आशाओं को पूरा करेगा, जो इससे की जा रही है।

इस व्यक्तियों को इस बात का भी पूर्ण विश्वास है कि एक्स बी-७० अतिस्वन-विमान से प्राप्त अनुभव के बल पर अमेरिका ऐसे अतिस्वन-यात्री विमानों का निर्माण करने में समर्थ हो सकेगा, जो कुछ ही घण्टों में महा-सागरों और महाद्वीपों की दूरी को पार कर सकेंगे तथा पृथ्वी के ऊपरी वायुमण्डल में सफर करने वाले यात्रियों को सभी सुख-सुविधाएँ सुलभ कर सकेंगे।

●●

त्याग और कर्म की प्रतिमा—श्रीमती मेरी क्यूरी

निर्मला अग्रवाल

७ नवम्बर, १८६७ में पोलैण्ड के एक नगर वार्सा में एक ऐसी बालिका ने जन्म लिया था जिसने भविष्य में महान् वैज्ञानिक बनकर अपनी जन्म-भूमि एवं जननी को तो गौरवान्वित किया ही, साथ ही फ्रान्स के इतिहास में सदैव के लिए अमर हो गई। इसका नाम मेरी था जिसे घर में प्यार से मेनिया कहकर पुकारा जाता था। बचपन में माँ के देहान्त ने मेरी की स्वाभाविक गम्भीरता को और अधिक बढ़ा दिया था। माँ का प्यार भी पिता से ही प्राप्त हुआ। पिता ने मेरी की असाधारण स्मरण शक्ति, कुशाग्र बुद्धि एवं अध्ययन की ओर अत्यधिक रुचि देखते हुए उसमें विज्ञान के प्रति भारी जिज्ञासा उत्पन्न कर दी थी। बचपन में ही मेरी ने जर्मन, फ्रेंच, पोलिश, अंग्रेजी और रूसी भाषाओं पर अधिकार प्राप्त कर लिया था। पोलैण्ड उस समय रूस के कठोर शासन में था। देश के प्रति अटूट प्यार होने के कारण मेरी रूस की आधीनता से बहुत क्षुब्ध रहती थी। उस समय जबकि रूस के जार के प्रति कोई एक शब्द भी नहीं कह सकता था मेरी स्कूल से देश प्यार के गीत गाती लौटती थी। कोई सुन लेगा इसका भय उसे तनिक भी नहीं होता था। इसी से निर्भीकता और स्वाभिमानता उसमें कूट-कूट कर भर गई थी।

हाई स्कूल पास कर लेने के पश्चात् घर की आर्थिक स्थिति बिगड़ जाने के कारण मेरी को एक दो जगह गवर्नेस का कार्य भी करना पड़ा। पेरिस के सॉरबॉन विश्वविद्यालय में शिक्षा प्राप्त करने की तीव्र अभिलाषा मेरी के अदम्य उत्साह के कारण सफलीभूत हुई। गवर्नेस का कार्य करते हुए किसी प्रकार रुपया एकत्रित करके छोटी बहिन ब्रोनिया को पेरिस भेज कर शिक्षा दिलाई। इस समय मेरी की आर्थिक स्थिति इतनी विपन्न रहती थी कि वह कभी-कभी एक पोस्टकार्ड अपने घर और भाई-बहिनों को इसलिए नहीं लिख पाती थी कि उसके पास पैसे नहीं होते थे।

किसी प्रकार प्रबन्ध करके ब्रोनिया ने मेरी को बुला लिया। पिता को अकेले छोड़ने के दुख और भावी जीवन की आशाओं के आरम्भ के हर्ष की मिश्रित भावनायें लेकर मेरी पेरिस पहुँच गई। विश्वविद्यालय में प्रविष्ट होकर विज्ञान विभाग की विद्यार्थिनी बनी। पूर्ण तल्लीनता से स्वयं को अध्ययन रत कर दिया। पुस्तकें, पुस्तकालय, विश्वविद्यालय एवं प्रयोगशाला उसके जीवन-साथी बन गये। मेरी की इस तल्लीनता पर छात्र आश्चर्य-चकित थे। उन्होंने कभी भी मेरी को किसी से बातचीत तक करते नहीं देखा था। एक-एक क्षण मेरी के लिए अमूल्य था। आर्थिक अभाव था ही। भोजन के नाम पर केवल पेट भरने तक का ही खाना जुटा पाती थी। मांस और अण्डे शायद ही कभी उसके भोजन में आ पाये होंगे।

विवाह और प्रेम मेरी के जीवन से निकल चुके थे। जिस समय सत्रह-अठारह वर्ष की मेरी ने गवर्नेस का कार्य किया था तब उसी परिवार के बड़े लड़के पर

मेरी की विद्वत्ता का बहुत प्रभाव पड़ा था। वह मेरी को चाहने लगा था। मेरी भी उसकी सुशीलता के कारण उसे पसन्द करती थी। विवाह की बातचीत पक्की हो गई। किन्तु लड़के की माँ ने निर्धन गवर्नेस से शादी करने की अनुमति नहीं दी। मेरी का कोमल हृदय टूट गया। उसे यह सोचकर कि निर्धनता के कारण जीवन से उपहास भी किया जा सकता है क्षोभ हुआ था और तब मेरी ने यह सोच लिया था कि वह जीवन में अब कभी इस ओर नहीं बढ़ेगी। यही कारण था कि पेरिस का मादक वातावरण भी उसे आकर्षित नहीं कर पाया था। किन्तु उसे क्या मालूम कि एक प्रखर एवं प्रतिभाशाली वैज्ञानिक का उसके जीवन में प्रवेश होने वाला है।

१८९३ में फिजिक्स में प्रथम उत्तीर्ण होकर एम० एस-सी० की डिग्री प्राप्त की और दूसरे ही वर्ष गणित में द्वितीय श्रेणी में डिग्री प्राप्त की। इस समय मेरी की आयु २७ वर्ष की थी।

अध्ययन के सम्बन्ध में इन्हीं दिनों मेरी का परिचय एक प्रोफेसर द्वारा उस समय के महान् वैज्ञानिक पियरी क्यूरी से हुआ। पियरी क्यूरी मेरी के योग्यतापूर्ण वार्त्तालाप, सरलता एवं सादगी-सम्पन्न सौन्दर्य से प्रभावित और प्रसन्न हुआ। धीरे-धीरे उनका यह प्रभाव आकर्षण और फिर प्रेम के रूप में परिवर्तित हुआ। पियरी के वैज्ञानिक-हृदय के पीछे कवि-हृदय की भावुकता भी छिपी थी। काफी समय के पश्चात् उन्होंने मेरी के समक्ष विवाह का प्रस्ताव रखा। मेरी कोई उत्तर न दे सकी। उसने प्रायः टालने का ही प्रयत्न किया। किन्तु पियरी का प्रेम जितना प्रबल था उतना ही पवित्र। वे एक सच्चे साथी के रूप में मेरी को प्राप्त करना चाहते थे। उसके लिए वे पेरिस छोड़कर जहाँ-कहीं मेरी कहे वहाँ रहने के लिये भी तैयार थे। आखिर जुलाई, १८९५ में मेरी श्रीमती पियरी क्यूरी बन गई। वह उनके प्रेम के समक्ष नतमस्तक थी। प्रेम, आनन्द एवं वैज्ञानिक खोज से परिपूर्ण इनका वैवाहिक और पारिवारिक जीवन अत्यन्त सुखी था। मेरी ने लिखा है—पियरी से नाता जुड़ने पर मेरा जो कुछ स्वप्न था सब मैंने उनमें पाया। उससे कुछ अधिक ही। उनके असाधारण गुणों के प्रति मेरी श्रद्धा सदा बढ़ती ही गई—स्वयं महान् वैज्ञानिक होते हुए भी मेरी जीवन के प्रति अनासक्त नहीं थी। पत्नी के कर्त्तव्यों को अत्यन्त योग्यता से निभाया। स्वयं घर का प्रबन्ध और कार्य करने में उसे तनिक संकोच नहीं होता था। परिस्थितियों ने मितव्ययता का गुण भर दिया था। सिगरेट तक पीने की आदत उसने नहीं डाली थी। दोनों का घरेलू जीवन सादगी युक्त एवं साधारण था। किसी प्रकार का आडम्बर नहीं—साफ सुथरा छोटा सा घर और वहीं छप्परों से छाए स्थान में प्रयोगशाला—जिसमें नवदम्पत्ति खानपान की सुध भूल कर प्रयोग-रत रहते थे। मेरी से एक दिन का वियोग भी क्यूरी को सहन नहीं था। वह पति के जीवन की प्रेरणा थी। इसीलिए मेरी चाहते हुए भी अपने पिता के पास पोलैण्ड बहुत कम रह पाती थी। जीवन की समग्र सुख-सुविधाओं को छोड़ कर पियरी और मेरी दोनों अपनी प्रयोगशाला में जैसे बँध गये थे, मिलने-जुलने वालों के झमेले से दूर। पियरी जब अविवाहित थे तो कहा करते थे कि विलक्षण प्रतिभायुक्त (जीनियस) नारियाँ अलग होती हैं किन्तु पियरी ने विरली नारी को प्राप्त कर लिया था। उनकी पत्नी वास्तव में "जीनियस" थी—विलक्षण प्रतिभा सम्पन्न।

दिन-रात दहकती हुई भट्टियों के समक्ष खड़े रहना, लोहा कूटना, पिघलाना और नये प्रयोग करना यह उसके जीवन का लक्ष्य था। १८९७ में उसके एक पुत्री, आइरीन, उत्पन्न हुई किन्तु मेरी के कार्य में कोई गतिरोध नहीं आया। कुछ समय पश्चात् फिर वह अनुसन्धान में लग गई। १८९८ में एक नये तत्व की खोज की जिसका नाम जन्मभूमि के नाम पर उसने **पोलोनियम** रखा। लेकिन अभी और खोज शेष थी और अन्त में चार वर्ष के अथक एवं निरन्तर परिश्रम के पश्चात् १९०२ में मेरी अपने प्रयोग में सफल हुई और उसने वैज्ञानिक जगत् में हलचल उत्पन्न कर देने वाले शुद्ध **रेडियम** तत्व की खोज की। यह एक ऐसा महत्वपूर्ण तत्व उसने खोज निकाला था जिसमें मानव मात्र का

कल्याण निहित था। कैन्सर जैसी दुरूह व्याधियों का इसके द्वारा उपचार हो सकता है। वे चाहते तो रेडियम को निजी सम्पत्ति बना कर दोनों अपार धन राशि एकत्र करके वैभवपूर्ण जीवन व्यतीत कर सकते थे किन्तु मेरी के त्यागपूर्ण जीवन में यह सम्भव नहीं था। रेडियम के आविष्कार को सबके लिए प्रकाशित कर दिया। धनाभाव रहते हुए भी धन के प्रति यह अनासक्ति आज के युग में कितनी सम्भव है, इससे सभी परिचित हैं।

रेडियमधर्मिता सम्बन्धी खोजों ने विदेशों में इन दोनों की धूम मचा दी थी। इन्हीं खोजों पर मेरी को डाक्टरेट की उपाधि एवं दोनों को "नोबेल पुरस्कार" मिला। इंगलैण्ड, जर्मनी, आस्ट्रिया, डेन्मार्क और अमेरिका आदि विदेशों की वैज्ञानिक और अवैज्ञानिक संस्थायें इस अभूतपूर्व दम्पत्ति को विशेषकर भौतिक विज्ञानवादी इस महिला के स्वागत करने, पुरस्कार देने, दर्शनों के लिए लालायित हो उठी थीं। फ्रान्स ने पियरी को सॉरबॉन विश्वविद्यालय में प्रोफेसर का पद दिया।

भीड़ से मेरी सदा घबराती थी, प्रसिद्धि से सदैव दूर भागती थी, जहाँ तक हो सकता था जनता से दूर रहना चाहती थी। इसका तात्पर्य यह नहीं कि वह समाज से दूर रहना चाहती थी वरन् मेरी का कहना था "विज्ञान में हमें व्यक्तियों से नहीं, पदार्थों से अभिरुचि होनी चाहिए।" और इस भीड़ के कारण उसके कार्यशील जीवन में जो व्यवधान उत्पन्न होता था इससे उसे परेशानी होती थी।

मेरी सादगी की अवतार थी। उसके पास केवल दो-तीन गाउन थे। हैट बदलने की उसे कभी चिन्ता ही नहीं होती थी। वह कहा करती थी "बढ़िया और रेशमी वस्त्र रेडियम से नष्ट हुई उसकी अंगुलियों में चुभते हैं।"

एक अमेरिकन पत्रकार उससे मिलने के लिए भेजा गया। मेरी उस समय सीढ़ियों पर बैठी अपने जूते साफ कर रही थी। नाम पूछने पर ज्योंही उसने सिर उठाया कि पत्रकार पहचान गया। अब तक मेरी के सैकड़ों चित्र पत्रों में प्रकाशित हो चुके थे। विश्व प्रसिद्ध इस महिला के व्यक्तित्व की सादगी देखकर पत्रकार अवसन्न रह गया।

मेरी ने मातृत्व को भी उसी प्रकार अपनाया था जिस प्रकार विज्ञान को। व्यस्त रहते हुए भी आइरीन और ईव दोनों बेटियों की देख-भाल स्वयं करती थी। आइरीन पर मां की छाप थी। वह भी नोबेल पुरस्कार विजेता हुई किन्तु ईव कुछ भिन्न थी। जीवन की रंगीनियों की ओर उसका झुकाव था। मेरी चाहती थी उसकी यह लड़की भी सादगी सम्पन्न जीवन व्यतीत करे किन्तु कभी भी बरबस अपने विचारों को लादने का प्रयत्न मेरी ने नहीं किया। पेरिस के उस रंगीन और कामुक वातावरण में जहाँ तनिक से भेदभाव के कारण तलाक लिए-दिए जाते हैं, जहाँ पारिवारिक जीवन में प्रायः स्थिरता का अभाव सा है वहीं मेरी ने समर्पण, त्याग, प्रेम और श्रद्धा से परिपूर्ण आदर्शमय परिवार का उदाहरण प्रस्तुत किया।

किन्तु भाग्य में अधिक समय तक शायद सुख न लिखा था। १९०६ में दुर्घटना में पियरी मेरी से नाता तोड़ गए। मेरी की चेतना जैसे लुप्त हो गई। विक्षिप्त सी सबसे पृथक् वह जीवित ही मृतक समान हो गई थी। सड़क पर चलते हुए सोचा करती थी—यह सब गाड़ियाँ चलती हैं, इनमें से एक भी ऐसी नहीं जो मुझे मेरे पियरी से मिला दे। प्रयोगशाला में किंकर्तव्य विमूढ़ सी खड़ी हुई उन यन्त्रों को निहारा करती थी जिन पर कभी दोनों कार्य किया करते थे। पियरी के रक्त से लथपथ कपड़ों को एकान्त में हृदय से लगाकर प्रलाप करती और घंटों देखती रहती थी। जिस पातिव्रत धर्म को भारतीय संस्कृति में नारी की शोभा कहा गया है पश्चिम देश की यह नारी उससे ओत प्रोत थी। किन्तु इस हृदय विदारक विछोह को भी उसने पियरी के लिए सहन किया। पियरी की प्रोफेसरशिप मेरी को दी गई। मेरी ने निश्चय कर लिया कि वह अब अपने पति के सम्मान को और अधिक बढ़ायेगी। मानसिक क्लेश और संताप से घिरी हुई मेरी ने स्वयं को फिर अध्ययन, प्रयोगशाला और सेवाकार्य में लगा दिया। कहते हैं कि

विश्वविद्यालय में जो प्रथम लेक्चर उसने दिया था वह उसी वाक्य से आरम्भ किया जो पियरी के लेक्चर का अन्तिम वाक्य था। विद्यार्थियों और जनता को आँखों से आँसू बह चले थे।

मेरी को अबतक दर्जनों आनरेरी डाक्टरेट की उपाधियाँ एवं पुरस्कार मिल चुके थे। १९११ में दोबारा नोबेल पुरस्कार प्राप्त हुआ। अनेक राष्ट्रों से आये वह अपने विद्यार्थियों का अत्यन्त ख्याल रखती थी। हर समय विद्यार्थी उससे रेडियम सम्बन्धी परामर्श लेते रहते। उन्हें मेरी के सम्पर्क से सद्व्यवहार और सच्चरित्रता की शिक्षा और प्रेरणा मिलती थी।

जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में उसने देना ही सीखा था लेना नहीं। १९१४ में जर्मनों ने फ्रान्स पर आक्रमण किया तो अन्य नागरिकों की भाँति उसने स्वयं को पति के देश की सेवा के लिए अर्पण कर दिया था। स्वार्थ और ऐहिक सुख कभी उसके जीवन में आने का साहस नहीं कर सके।

मानव-कल्याण और जनहित की भावना से ओत-प्रोत ऐसे व्यक्तियों के लिए निजी लाभ और सुख का विचार तक असम्भव होता है। मेरी इसी उच्चता को लेकर उत्पन्न हुई थी। देशी विदेशी सभी नर-नारियों की श्रद्धा उसके लिये उमड़ी रहती थी। प्रत्येक देश हर प्रकार से उसकी सहायता के लिए आतुर सा रहता था।

पियरी अपने जीवन में प्रयोगशाला बनवाने की इच्छा पूरी न कर सके थे। दो संस्थाओं के सहयोग से मेरी ने एक विशाल भवन बनवाया।

निरन्तर कार्यरत रहने से मेरी का स्वास्थ्य क्षीण हो चुका था किन्तु विश्राम का उसके लिए जैसे कोई महत्व नहीं था। अन्त में ४ जुलाई, १९३४ को विश्व ने महान् वैज्ञानिक को खो दिया। रेडियम भवन की प्रयोगशाला ने अपना एक अनन्य जीवन्त साथी खो दिया था। मेरी अन्त में पति से मिलने चल दी थी।

मेरी एक पूर्ण महिला बन कर पृथ्वी पर अवतरित हुई थी। उस पूर्णता को शिखर तक पहुँचा कर वह पूर्ण ब्रह्म में लीन हो गई।

उसका जीवन ज्ञान और कर्म का शक्तिशील एवं सौन्दर्य का सुन्दर समन्वय था।

वह ममतामयी माँ, स्नेहमयी बहन और स्वर्गीय प्रेम की छटा से ओतप्रोत आदर्श पत्नी के साथ-साथ सच्चे मानवतावाद की प्रतिभा थी। महान् वैज्ञानिक आइन्सटीन ने कहा था—"ख्यातिप्राप्त व्यक्तियों में मेरी ही एक ऐसी थी जिसे प्रसिद्धि ने किसी प्रकार नष्ट नहीं किया था।"

सचमुच ऐसी ही कर्मशीला देवियों ने नारी जाति को श्रद्धा के सिंहासन पर आसीन किया है।

●●

सार संकलन

१. अन्तरिक्ष में विचरण

अमेरिकी अन्तरिक्षयान चालक एडवर्ड ह्वाइट ने वृहस्पतिवार ३ जून को अन्तरिक्ष में 'विचरण' किया और इस प्रकार उन्होंने 'जेट गन' की सहायता से स्वच्छन्दतापूर्वक इधर-उधर गति करने वाला पहला व्यक्ति होने का गौरव प्राप्त किया

एक सुरक्षात्मक रस्से के द्वारा अपने यान जैमिनी -४' से जुड़ा रहने पर ह्वाइट ने समूचे सं० रा० अमेरिका को २० मिनट में 'चल कर' पार किया। अपनी ब्रह्माण्ड-यात्रा के दौरान श्री ह्वाइट की रफ्तार ५ मील प्रति सेकेण्ड रही। जेट गन की सहायता से उन्होंने इच्छानुसार अपने को इधर-उधर चलाया। यह जेट गन भारी दबाव के साथ ऑक्सीजन को बाहर फेंकती है।

यह साहसिक कार्य अन्तरिक्षयान की ६२ परिक्रमाओं वाली उड़ान की तीसरी परिक्रमा के दौरान शुरू किया गया। हवाई द्वीपों के पास अन्तरिक्षयान की गति धीमी कर दी गई और अन्तरिक्षयान-चालक ह्वाइट अपने शरीर का ऊपरी भाग यान की खिड़की में निकाल कर अन्तरिक्ष की कठोर परिस्थितियों को झेलते हुए खड़े हो गये।

उड़ान के दौरान ह्वाइट और कमाण्ड-पायलट जेम्स मैक्डिविट ऐसी अन्तरिक्ष-पोशाक पहने रहे जो घनीभूत ऑक्सीजन से युक्त थी।

जब श्री ह्वाइट अपने से १०० मील नीचे पृथ्वी का अवलोकन कर रहे थे तब ह्यूस्टन के अन्तरिक्ष-केन्द्र के डाक्टरों ने उनके रक्तचाप और हृदयगति के आंकड़ों की पड़ताल की।

ह्यूस्टन से आगे कार्यवाही करने का आदेश मिल जाने पर ह्वाइट ने दस्ताने पहनने में एक क्षण लगाया और फिर वह खिड़की से निकले, उन्होंने अपनी 'स्पेस गन' को दागा और अन्तरिक्ष में चलने-फिरने लगे। उनकी २५ फुट लम्बी सुरक्षात्मक 'लाइन' से भी उन्हें ऑक्सीजन प्राप्त हुई।

कमाण्ड पायलट मैक्डिविट ने रेडियो पर सूचित किया, और उसे संसार भर में रेडियो-स्टेशनों ने उसी रूप में सुनाया कि ह्वाइट बाहर निकले हैं और 'विराट' दीखते हैं।

मैक्डिविट ने कहा—'ह्वाइट बाहर निकल कर अपने गतिचालन-यन्त्र से काम ले रहे हैं। एडवर्ड ह्वाइट बाहर जा कर घूमने लगे हैं जिससे अन्तरिक्षयान को काबू में रखना कठिन हो गया है।'

कुछ क्षण बाद ह्वाइट ने कहा—'मैं फोटो लेने लगा हूँ।' जेट गन के ब्रैकट पर कैमरा फिट कर दिया गया था।

कमाण्ड-पायलट मैक्डिविट भी यान के भीतर से फोटो ले रहे थे। उन्होंने साथी से कहा: 'जरा धीमी चाल रखो। मैं तुम्हारा फोटो लूँगा।'

इस विस्मयकारी कारनामे के कारण वे ११ अन्य महत्वपूर्ण परीक्षण फीके पड़ गये जो दोनों अन्तरिक्षयान-चालकों ने इस दृष्टि से किये थे कि अधिक लम्बी उड़ानों की तैयारी के लिए यह जाना जा सके कि अन्तरिक्ष में अधिक देर तक खुले रहने का मनुष्य और अन्तरिक्षयान पर क्या असर होता है। वस्तुतः जैमिनी-४ की उड़ान ने सफलतापूर्वक वे ४ प्रक्रियाएँ प्रदर्शित कर दीं जो चन्द्रमा पर मनुष्य के उतरने के लिए महत्वपूर्ण होंगी

यानी यान से बाहर निकलना, आपस में मिलना, लम्बी अवधि की उड़ानें और अन्तरिक्षयान की गति-दिशा का नियन्त्रण। अन्तरिक्षयान के राकेट के दूसरे खण्ड के साथ मिलने की योजना छोड़ दी गई, क्योंकि टाइटन-२ राकेट का जला हुआ हिस्सा बहुत नीची कक्षा में घूम रहा था और उस नीचाई पर अन्तरिक्षयान को लाने के लिए अन्तरिक्षयात्रियों को जैमिनीयान का बहुत अधिक ईंधन खर्च करना पड़ता।

दो व्यक्तियों को लेकर 'जैमिनी-४' अन्तरिक्षयान द्वारा की गई उड़ान अमेरिका के 'राष्ट्रीय उड्डयन एवं अन्तरिक्ष प्रशासन' की ओर से की गई सबसे लम्बी उड़ान है। मैक्‌डिविट और ह्वाइट ने जैमिनीयान में ४ दिनों के भीतर पृथ्वी की ६२ परिक्रमाएँ कीं। अमेरिकी अन्तरिक्षयान-चालकों ने कुल मिलाकर अब तक अन्तरिक्ष में जितने घंटों की उड़ानें की हैं यह अवधि उससे तिगुनी थी। पृथ्वी की एक परिक्रमा में ९० मिनट लगे और दोनों यान-चालक कुल ९७ घंटे ५८ मिनट तक अन्तरिक्ष में रहे।

मैक्‌डिविट और ह्वाइट के साथ जैमिनी-४ को केप कैनेडी अड्डे से टाइटन-२ राकेट की सहायता से ३ जून को भारतीय समय के अनुसार ७॥ बजे छोड़ा गया था। प्रक्षेपण की कार्यवाही 'अर्ली बर्ड' उपग्रह के जरिये टेलिविजन पर यूरोप के लोगों को दिखाई गई। 'अर्ली बर्ड' ६ अप्रैल को छोड़ा गया था और वह अमेरिकी तथा ४४ अन्य देशों द्वारा संसार भर में कायम की जाने वाली व्यावसायिक संचार-उपग्रहों की व्यवस्था की पहली कड़ी है।

प्रक्षेपण के २ मिनट १६ सेकेण्ड बाद टाइटन राकेट का पहला खण्ड जैमिनी यान से अलग हो गया और उसके ३ मिनट ६ सेकेण्ड बाद यान राकेट के दूसरे खण्ड से अलग हो गया। उसके बाद दोनों अन्तरिक्षयान-चालकों ने यान की नियामक कलें अपने हाथों में संभाल ली और उसकी ६२ परिक्रमाओं के दौरान यान को चलाया, उसकी रफ्तार बदली, उसका परिक्रमा-पथ बदला और उसे दाईं व बाईं ओर चलाया। अन्तरिक्षयान पृथ्वी के चारों ओर १७,५०० मील प्रति घंटे की रफ्तार से घूम रहा था और उसकी कक्षा पृथ्वी से कम से कम १०३ मील तथा अधिक से अधिक १८० मील ऊपर थी।

टाइटन राकेट का अलग हुआ दूसरा खण्ड यान की गति के समान गति से वैसी ही कक्षा में उससे कुछ नीचे घूम रहा था। टाइटन राकेट के खोल से मिलने के लिए अन्तरिक्षयान के चालकों ने उन राकेटों को दागा जिनकी प्रतिक्रिया के फलस्वरूप अन्तरिक्षयान की गति मन्द पड़ गई और वह कुछ नीचे आ गया, ताकि वह राकेट के २० फुट तक निकट हो जाये।

इस मेल, ह्वाइट के अन्तरिक्ष में विचरण, और अन्तरिक्षयान का संचालन करने के अतिरिक्त दोनों यान-चालकों ने ४ दिन की यात्रा के दौरान सामान्य क्रिया-कलाप भी किये। वे बारी-बारी से ४-४ घंटे सोये। हर एक ने २४ घंटों में ४ बार खाना खाया और ४६ प्रकार के व्यंजनों में से अपनी रुचि के अनुसार चीजें खाईं। खाद्य-वस्तुएँ अधिकतर सुखाई हुई थीं तथा प्लास्टिक के थैलों में रखी हुई थीं। उन थैलों में पानी डाल कर अन्तरिक्ष-यात्रियों ने खाद्य-वस्तुएँ तैयार कर लीं।

उड़ान के दौरान जो ११ परीक्षण किये गये उनमें से ३ चिकित्सा सम्बन्धी, ५ इंजिनियरिंग सम्बन्धी और ३ वैज्ञानिक किस्म के थे।

चिकित्सा सम्बन्धी परीक्षणों से यह देखा गया कि उड़ान में चालक के शरीर पर व्यायाम और श्रम का क्या असर होता है, उनके हृदय की धड़कन कितनी रही और क्या लम्बी अन्तरिक्ष-उड़ान में हड्डी विकृत हो जाती है।

इंजिनियरिंग सम्बन्धी परीक्षणों में यह मापा गया कि यान के भीतर और बाहर विकिरण की कितनी मात्रा होती है। अन्तरिक्षयान की दृष्टि से पृथ्वी के चुम्बकीय क्षेत्र की दिशा और मात्रा को मापा गया और पृथ्वी के बाह्य किनारे के दो रंगीन फोटो लिये गये।

वैज्ञानिक परीक्षणों में पृथ्वी के पृष्ठ और मौसम

शेषांश पृष्ठ १६२ पर

विज्ञान वार्ता

१. बर्फ की तह के नीचे जीव-जन्तुओं का अध्ययन

अमेरिकी वैज्ञानिकों ने दक्षिणी ध्रुव सागर में बर्फ की तह के नीचे समुद्री जीव-जन्तुओं का अध्ययन करने के लिए एक विचित्र सी निरीक्षण-कोठरी तैयार की है। इस्पात की इस 'कोठरी' का भार २.५ टन है और इसमें तीन व्यक्तियों लायक जगह है। छः कोनों वाली इस अनूठी 'कोठरी' में हर ओर ३.८ सेण्टीमीटर मोटे शीशे की एक चौरस खिड़की है। इसकी ऊँचाई १.८ मीटर और चौड़ाई १.२ मीटर है और इसे बर्फ में छेद करके या उसे काट कर नीचे पानी में पहुँचाया जाता है।

'कोठरी' में उपस्थित व्यक्तियों के लिए उष्मा और बिजली की व्यवस्था उपर्युक्त स्थापित केन्द्र से की जाती है। 'कोठरी' के बाहर सभी ओर की गई तेज रोशनी की व्यवस्था से 'कोठरी' के इर्द-गिर्द का पानी आलोकित हो जाता है।

निरीक्षणों के पहले दौर में, अमेरिकी वैज्ञानिक दो सप्ताह के दौरान बारी-बारी से 'कोठरी' में काम संभालते रहे। यह 'कोठरी' १.५ मीटर मोटी बर्फ की तह के नीचे मैकमर्डो साउण्ड के ३०० मीटर गहरे क्षेत्र में २.१ मीटर की निचाई पर लटकी हुई थी। वैज्ञानिकों ने उसमें बैठकर सील तथा अन्य मछलियों को तैरते देखा और गहरे पानी में समुद्री जीव-जन्तुओं की विचित्र आवाजें सुनीं।

वैज्ञानिक लोग कोठरी में पहुँचने और वहाँ से निकलने के लिए इस्पात की सुरंग यानी चिमनी का प्रयोग करते हैं। यह चिमनी मोटे पाइप की तरह 'कोठरी' की छत से ऊपर की ओर निकली होती है। चिमनी बर्फ के छेद में से हो कर ऊपर सतह तक फैली होती है और इससे 'कोठरी' पानी में उलटने नहीं पाती। 'कोठरी' के निचले भाग में भी सन्तुलन बनाये रखने की व्यवस्था की गई है ताकि चिमनी के इर्द-गिर्द की बर्फ के पिघलने या खिसकने से 'कोठरी' उलटने न पाये। पर्यवेक्षकों ने समुद्री जीव-जन्तुओं की आवाजों को हाइड्रोफोन प्रणाली द्वारा सुना, जिसका सम्बन्ध ऊपरी सतह के निकट, समुद्र तल पर और समुद्र के बीच भिन्न-भिन्न गहराइयों पर रखे रिसीवरों से जुड़ा हुआ था।

सभी रिसीवरों से प्राप्त आवाजें रिकार्ड कर ली गईं और वैज्ञानिकों ने अपने पर्यवेक्षणों की सूचना माइक्रोफोन से दी।

प्रारम्भिक पर्यवेक्षणों का एक मुख्य उद्देश्य बर्फ की तह के नीचे अन्धकारपूर्ण समुद्र में पाये जाने वाले जीव-जन्तुओं की आवाजों का विश्लेषण करना था। 'कोठरी' में पर्यवेक्षण का कार्य वुड्सहोल (मेसाचूसेट्स) की 'वुड्सहोल ओशनोग्राफिक इन्स्टिट्यूशन' और 'न्यूयार्क जूलोजिकल सोसाइटी' के जीवशास्त्रियों ने किया। उन्होंने बताया कि हमने जो आवाजें सुनीं उनमें सीटियाँ बजाने, भनभनाने और चूँ-चूँ करने जैसी आवाजें भी थीं। इसके अलावा अक्सर ऐसी आवाजें भी सुनाई दीं, जो धरती पर कभी सुनाई नहीं देतीं। उन्होंने बताया कि अधिकतर शोर सील मछलियों का था। ये मछलियाँ बड़ी होकर ३.३ मीटर तक लम्बी और ५८५ किलोग्राम तक भारी हो जाती हैं। वे खाने की तलाश में थीं और साँस लेने के लिए बार बार बर्फ में हुये छिद्रों की ओर लौट जाती थीं। वैज्ञानिकों ने यह जानने का भी प्रयत्न किया कि सील मछलियाँ ये आवाजें कैसे निकालती हैं, क्योंकि पानी में उनके मुँह और नाक पूरी तरह बन्द रहते हैं।

●●

पाठकीय मंच

मनुष्य जाति का शत्रु टिड्डा

श्याम मनोहर व्यास

टिड्डा मनुष्य जाति का शत्रु है !

मनुष्य आदि काल से टिड्डे से जूझ रहा है। इजरायल के इतिहास में लिखा है कि समय-समय पर टिड्डों के आक्रमण के कारण इजरायल दुर्भिक्ष का शिकार होता रहता था।

प्राचीन काल में टिड्डों से लोहा लेने का कोई साधन मनुष्य के पास न था। टिड्डों के आक्रमण को वह एक दैवी प्रकोप समझता था। इसके निवारण के लिये उसने प्रार्थना, जादू-टोना का आश्रय लिया।

आज विज्ञान का युग है। रसायनज्ञों ने तरह-तरह के विषों का निर्माण कर लिया है जिनसे टिड्डों पर आसानी से नियन्त्रण पाया जा सकता है।

टिड्डों का आक्रमण होता ही रहता है। राजस्थान के पश्चिमी भागों में टिड्डों का आक्रमण सामान्य घटना है। टिड्डी दल की यह विशेषता है कि जिस वस्तु पर यह बैठ जाता है उसका पूरा सफाया हो जाता है। घास पर बैठेगा तो उसको यह जड़ तक चाट जायगा। खेतों की फसलें यह एकदम नष्ट कर देता है। जिस भूमि पर टिड्डी दल का आक्रमण होता है उस पर घास वर्षों तक उग ही नहीं पाती।

मक्का के खेत में यदि थोड़े टिड्डे आक्रमण कर दें तो उसका सफाया ही कर देंगे।

फसलों के खाने के अलावा टिड्डे गोदामों में गाँठों पर भी आक्रमण करते हैं। कपड़े, कपास सभी चट कर जाते हैं। जिस पानी में टिड्डे पड़ जाते हैं वह पानी पीने योग्य नहीं रह जाता है।

रेल की पटरी पर यदि टिड्डे बैठ जायँ तो पटरी ऐसी चिकनी हो जाती है कि पहिये घूमने के बजाय फिसलने लगते हैं।

आइये, अब टिड्डों के प्रारम्भिक जीवन एवं उनके बारे में विशेष जानकारी प्राप्त करें।

टिड्डों की लगभग २०० जातियाँ और उपजातियाँ पायी जाती हैं।

अण्डे देने के लिये टिड्डी सुरक्षित स्थान चुनती है। यह स्थान कुछ वर्ग फीट भी हो सकता है और पूरा खेत भी।

नर टिड्डों की संख्या मादा से पाँच गुनी है। एक बार में टिड्डी अस्सी अण्डे देती है। मादा के पेट के छोर पर अण्डे देने का एक विशेष साधन होता है, जिसके सिरे पर कुछ काँटे होते हैं। इन काँटों द्वारा मादा भूमि में छेद करती है और उस छेद में अण्डे जमा करती है। साथ ही उसके शरीर से एक लेसदार पदार्थ निकलता है, जिनसे अण्डे परस्पर चिपक जाते हैं। सारे अण्डे जमा कर देने के पश्चात्, मादा उन पर वही पदार्थ और छिड़क कर मिट्टी से छेद को ढक देती है।

जब भ्रूण अंडे में परिपक्व हो जाता है तब अंडा फोड़कर वह बाहर निकलता है। पहले उसका शरीर एक झिल्ली में लिपटा होता है। अण्डे से बाहर आने

पर वह झिल्ली से मुक्त हो जाता है। बच्चा जैसे-जैसे बड़ा होता है उसके शरीर का बाहरी आवरण टूटकर गिर जाता है और उसकी निचली सतह नये तथा बड़े आवरण का रूप ले लेती है। बढ़ने के दौरान यह प्रक्रिया ४-५ बार होती है तब कहीं बच्चा वयस्क होता है। इसमें लगभग दो महीने का समय लगता है। तब तक इसके पंख भी लग जाते हैं।

ये पंख वाले प्राणी फिर दल बाँधकर खेतों के काल बनकर एक देश से दूसरे देश की यात्रा करते हैं। दिन भर में टिड्डी दल ४० से ५० मील तक की यात्रा तय कर लेता है। अक्सर गर्मी की मौसम में खेतों पर टिड्डी दल का आक्रमण होता है।

प्रकृति ने टिड्डे की अस्थियों का ढाँचा उसके शरीर के बाहर रखा है। इससे उसे प्राकृतिक कवच प्राप्त हो गया है जो अनेक शत्रुओं से उसकी रक्षा करता है।

टिड्डे के सिर में दो बड़ी-बड़ी आँखें होती हैं। इसके अतिरिक्त तीन छोटी-छोटी आँखें और होती हैं जो "थर्मोस्टेट" का काम देती है।

मुँह में बहुत मजबूत जबड़े और दाँत रहते हैं। इसके ६ टाँगें होती हैं। आगे की चार टाँगें खाद्य पदार्थ पकड़ने एवं चलने के काम आती हैं। पिछली दो टाँगें चलने तथा फुदकने के काम आती हैं। २-२½ इंच लम्बे जाति वाले टिड्डे फसलों को नुकसान पहुँचाते हैं।

शीतोष्ण कटिबन्धों में कुछ देशों में बड़े टिड्डे पाये जाते हैं जो चिड़ियों जैसे छोटे-छोटे पक्षियों को खा जाते हैं।

गत पचास वर्षों से मनुष्य इस विनाशकारी जन्तु का नाश करने के लिये विविध उपाय काम में ले रहा है। अब तक २-३ प्रकार के विष टिड्डों को मारने के काम में लाये जाते थे। इन विषों को चारे में मिलाकर टिड्डी पीड़ित क्षेत्र में डाल दिया जाता था। अब कुछ ऐसी कीट नाशक औषधियों का निर्माण हुआ है जिन्हें एक क्षेत्र में केवल दो बूँद छिड़क देने मात्र से टिड्डों का सफाया हो जाता है। ये औषधियाँ घोल या पाउडर के रूप में छिड़क दी जाती हैं।

प्रकृति ने कुछ ऐसे कीड़े भी उत्पन्न कर रखे हैं जो टिड्डों व उनके अंडों को खा जाते हैं। यदि ये न होते तो टिड्डों की समस्या और भी भयंकर रूप धारण कर लेती। मक्खियाँ, मकड़ियाँ इस दिशा में मनुष्य की मित्र हैं जो टिड्डों के अंडों को खा जाती हैं।

टिड्डों का कुछ उपयोग भी है। मछली पकड़ने वाले इन्हें काँटे में इस्तेमाल करते हैं। मुर्गियों के लिये टिड्डा अच्छा भोजन है। कुछ देशों में टिड्डे बड़े चाव से खाये जाते हैं। अफ्रीका, मेक्सिको तथा फिलिपाइन्स द्वीप में इन्हें स्वादिष्ट बना कर खाया जाता है। अंग्रेजी की एक पुस्तक में टिड्डों से बनने वाले ३५ प्रकार के व्यंजनों का वर्णन है अमेरिका में भी टिड्डे खाये जाते हैं परन्तु कम।

जिस प्रदेश में टिड्डे जाते हैं वह दुर्भिक्ष का शिकार हो जाता है। हरे-भरे बगीचों और खेत उजड़ जाते हैं। जिस स्थान पर से टिड्डी-दल गुजरता है वहाँ दिन में भी अन्धेरा सा छा जाता है।

वास्तव में विनाशकारी जन्तु के रूप में यह मनुष्य का भयंकर शत्रु है।

●●

नवीन अन्तरिक्ष उड़ान

अगस्त के अन्तिम सप्ताह में दो अमरीकी अन्तरिक्ष-यात्रियों ने लगभग ८ दिनों की अन्तरिक्ष उड़ान भर कर एक नवीन विश्वरिकार्ड स्थापित किया है। इस सफलता की प्रशंसा समस्त राष्ट्रों ने मुक्त कंठ से ठीक ही की है क्योंकि अब चन्द्रमा तक पहुँचने के सपने साकार हो उठे हैं।

८ दिन की यात्रा में अन्तरिक्ष-यात्रियों ने जो चक्कदार दूरी तय की है वह पृथ्वी से चन्द्रमा की दूरी के बराबर है। यही कारण है कि अमरीकी वैज्ञानिकों को विश्वास हो चला है कि वह दिन दूरी नहीं जब उनका अन्तरिक्ष यान मानव सहित चन्द्रमा पर उतर सकेगा।

१९७० ई० तक चन्द्रमा तक पहुँचने का अमरीकी लक्ष्य सर्वविदित है। प्रस्तुत प्रयास को देखते हुये यह सोचना तर्कसंगत ही होगा कि अमरीकी वैज्ञानिक डींग नहीं मार रहे वरन् अकथ प्रयास कर रहे हैं। सम्भव है कि अब वे रूसी वैज्ञानिकों से आगे रहें।

यद्यपि अन्तरिक्ष-यात्राओं की स्पर्धा में रूस प्रमुख रहा है किन्तु इधर बहुत दिनों से उसके कोई प्रयास जनता के सम्मुख नहीं आ पाये। सम्भव है कि वह किसी और भी बड़ी योजना में संलग्न हो।

जो भी हो, अमरीकी सफलता से एक नवीन अध्याय का सूत्रपात हुआ है जिसकी समाप्ति चन्द्रमा पर पहुँचने के साथ ही होगी। जो लोग इस सफलता को यह कह कर झुठलाना चाहते हैं कि इस उड़ान का उद्देश्य वियतनाम में हो रहे युद्ध की सैन्य जानकारी रहा होगा, वे विज्ञान की उन्नति में बाधा डालना चाहते हैं।

चन्द्रमा तक की उड़ान कितनी लम्बी एवं कितनी लोमहर्षक है, यह तो अभी अन्तरिक्ष-यात्रियों तक ही सीमित है किन्तु जब भी इसका विवरण जन-साधारण के लिये उपलब्ध हो सकेगा, ऐसे एक नहीं अनेक लोग समक्ष आवेंगे तो चन्द्रमा से भी परे उड़ान भरने के लिये तैयार होंगे।

वह युग अगले १०-१५ वर्षों में साकार होगा किन्तु यह तभी सम्भव है कि जब विश्व में शान्ति स्थापित रहे और जो भी वैज्ञानिक कार्य हो रहा है वह अबाध रूप से मानव संहार के लिये न होकर कल्याण के लिये हो।

● ●

विषय-सूची

शून्य वर्ग की रासायनिक क्षमता	...	१
खैर वृक्ष में केटेचिन (खदिरि) का वितरण	...	८
पृथ्वी के गर्भ में	...	११
काले-गोरे (एक वैज्ञानिक कहानी)	...	१३
वैज्ञानिक तीर्थस्थल—५—स्मिथसोनियन संस्थान	...	१६
विज्ञानवार्ता	...	१८
पुस्तक-समीक्षा	...	२३
सार संकलन	...	२४
सम्पादकीय	...	२९

विज्ञान परिषद्, प्रयाग का मुखपत्र

विज्ञानं ब्रह्मेति व्यजानात्। विज्ञानाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते।
विज्ञानेन जातानि जीवन्ति। विज्ञानं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति। तै० उ० ३।५।

भाग १०२	आश्विन २०२२ विक्र०, १८८७ शक अक्टूबर १९६५	संख्या १

शून्य वर्ग की रासायनिक क्षमता

भूरसिंह

शून्य वर्ग के छः गैसीय तत्वों (हीलियम, नीऑन, आर्गन, क्रिप्टन, जीनान व रेडॉन) का ज्ञान इस शताब्दी के आरम्भ तक हो गया था। उनका रासायनिक ज्ञान बहुत ही सीमित था, क्योंकि उनमें यौगिक बनाने की क्षमता बिल्कुल नहीं पाई गई थी। इसका कारण उनमें विद्यमान इलेक्ट्रानों का विन्यास माना गया। यह स्थायी प्रकार का इलेक्ट्रानिक विन्यास ही रासायनिक-बन्ध सिद्धान्त का आधार बना, जिसमें अन्य तत्व, यौगिक या आयन इलेक्ट्रान के अन्तर-परिवर्तन द्वारा शून्य वर्ग के विन्यास को प्राप्त करने का प्रयास करते हैं। इस अष्टक विन्यास को सामान्यत: स्थायी माना जाता है। शून्य वर्ग के तत्वों द्वारा यौगिकों के बनने की विचारधारा प्राय: क्षीण ही बनी रही, परन्तु फिर भी इस दिशा में निरन्तर प्रयास होते रहे हैं। आजकल हम यह कहने में समर्थ हैं कि शून्य वर्ग के कई स्थायी यौगिक बनते हैं, जो अन्य रासायनिक यौगिकों के समान हैं।

रासायनिक यौगिक बनने की परिस्थिति

किसी भी तत्व द्वारा रासायनिक यौगिक बनने के लिए यह आवश्यक है कि उसकी परिधि में उपस्थित इलेक्ट्रान शक्ति ग्रहण करके अपनी पूर्व अवस्था को त्याग दें; तथा दूसरे तत्व या यौगिक के इलेक्ट्रानों के सम्पर्क में आकर दो-दो जोड़ों द्वारा नवीन विन्यास को ग्रहण करें। इस क्रिया में इलेक्ट्रान का भ्रमि भिन्न दिशा (दाहिने या बाँये) में होता है जो यौगिक बनते समय नष्ट हो जाता है। दोनों इलेक्ट्रान अपना भ्रमि नष्ट करके एक साथ जुड़ जाते हैं। शक्ति की मात्रा जो इलेक्ट्रान को हटाने में अथवा इलेक्ट्रान को संयुक्त के लिए चाहिये उसे आयनीकरण विभव (Ionization Potential) अथवा इलेक्ट्रान बन्धता (Electron affinity) कहते हैं।

शून्य वर्ग के तत्वों के यौगिक बनाने के प्रयास

इस वर्ग की विभिन्न गैसों के बनाने के बाद कई

वैज्ञानिकों ने प्रयोग किये कि इन गैसों द्वारा किसी भी प्रकार का यौगिक बनता है या नहीं ? कई वैज्ञानिक इस दिशा में सफल भी हुये किन्तु उनके प्रयोगों की पुष्टि अन्य वैज्ञानिकों द्वारा नहीं हो पाई। इस दिशा में निम्न प्रयास उल्लेखनीय है—

क्लैथरेट यौगिक—कई बड़े अणुओं में उपस्थित रिक्त स्थान या संजाल की पूर्ति छोटे अणुओं द्वारा हो जाती है। ये छोटे अणु पिंजड़े की भाँति संजाल में समा जाते हैं, और शीघ्रता से बाहर नहीं निकलते हैं। इनके बनने में वानडर वॉल शक्ति सहायक होती है। इस प्रकार कई हाइड्रेट यौगिकों का बनना माना जाता है। जीनान व एवं क्रिप्टन गैसें हाइड्रेट यौगिक बनाती हैं। पूर्व विचार के अनुसार जल द्वारा शून्य वर्ग की गैस से दाता बंध (Donor bond) बनता था। अभी हाल में स्टेकेलवर्ग (१९५४) ने इन यौगिकों को क्लैथरेट ही बताया है।

पॉवल ने, १९५० ई० में क्यूनोल, फीनॉल आदि कार्बनिक यौगिकों द्वारा जीनान, आर्गन तथा क्रिप्टन से इसी प्रकार के यौगिक बनाने की शक्ति पाई। ये कार्बनिक अणु हाइड्रोजन-बंध के कारण कई अणुओं का समूह बनाकर एक प्रकार का पिंजड़ा बना लेते हैं, जिसमें शून्य वर्ग की भारी अणु वाली गैसें समा जाती हैं। अन्य गैसें H_2S, SO_2, HCl, CO_2 आदि भी इसी प्रकार के यौगिक बनाती हैं। हीलियम या नीऑन का अणु लघु है, अतः वह पिंजड़े से बाहर निकल आता है और यौगिक नहीं बना पाता है।

क्लैथरेट यौगिकों में किसी प्रकार का इलेक्ट्रानिक आदान-प्रदान नहीं होता है। ये अस्थायी यौगिक हैं, इनमें किसी प्रकार का रासायनिक बंध नहीं है।

शून्य वर्ग तथा धातुओं के यौगिक

१८९५ ई० में बर्येलो ने आर्गन तथा कार्बन डाइ-सल्फाइड या बेंजीन के मिश्रण में चाप-विसर्जन द्वारा एक प्रकार का बादामी पदार्थ प्राप्त किया। शायद इस प्रयोग द्वारा यौगिक बना हो परन्तु स्ट्रट इस प्रयोग की पुष्टि नहीं कर सके। कई वैज्ञानिकों ने भिन्न-भिन्न धातुओं को इलेक्ट्रोड बनाकर हीलियम तथा नीऑन गैस के साथ यौगिक बनने की घोषणा की। उदाहरणार्थ, मरकरी $HgHe_{10}$, टंगसटन हीलाइड WHe_2। इसी प्रकार थैलियम, इंडियन, जिंक भी हीलाइड बनाते हैं। १९६० ई० में वॉलर ने इन प्रयोगों को दुहराया परन्तु वे किसी प्रकार के यौगिक बनने की पुष्टि नहीं कर पाये अतः इन गैसों द्वारा धातुओं के साथ यौगिक बनने की संभावना प्रायः नहीं ही प्रतीत होती है।

शून्य वर्ग तथा बोरान ट्राइ हैलाइड यौगिक

बोरान-ट्राइ क्लोराइड का अणु इलेक्ट्रान न्यून है। यह दो इलेक्ट्रान लेकर दाता बंध बना लेता है। बूथ एवं विल्सन ने १९३५ ई० में घोषणा की कि आर्गन गैस बोरान-ट्राइ-फ्लोराइड के दो इलेक्ट्रान देकर दाता बंध के यौगिक बनाता है और इनके सूत्र $An\ BF_3$ हैं। इस प्रयोग को १९४८ ई० में विबंग तथा कारबे दुहराने में असफल रहे। उन्होंने क्रिप्टन, जीनान से बोरान-फ्लोराइड के अतिरिक्त ब्रोमाइड एवं आयोडाइड से भी प्रयोग किये क्योंकि इन अणुओं का संयोग आर्गन की अपेक्षा सुगम होना चाहिये। परन्तु वे किसी प्रकार का यौगिक नहीं बना पाये।

रेडियोऐक्टिव क्रियाओं द्वारा अल्पस्थायी यौगिकों का बनना—

कुछ रेडियोऐक्टिव यौगिक द्वारा शून्य वर्ग के तत्त्व बनने की शृंखला में कुछ अल्पस्थायी यौगिकों के बनने की पुष्टि भार-वर्णक्रम मापी द्वारा हुई है। उदाहरणार्थ, मिथाइल अथवा इथाइल आयोडाइड, जिसमें आयोडीन रेडियोऐक्टिव था, बीटा किरण उत्सर्जित करके $(CH_3Xe\ १३१)^+$ बनाता है। इसी प्रकार $(CH_3Kr\ ८२)^+$ भी बनाता है। इन यौगिकों का जीवन-काल केवल $१०^{-४} - १०^{-५}$ सेकेण्ड ही है।

शून्य वर्ग की गैस तथा हैलोजन यौगिक

तत्त्वों में सर्वोत्तम क्रियाशील तत्त्व फ्लोरीन माना जाता है। कई वैज्ञानिकों ने प्रयास किया कि फ्लोरीन

शायद इन गैसों से संयोग कर ले, परन्तु किसी प्रकार का संयोग प्रतीत नहीं हुआ। आर्गन, क्रिप्टन का फ्लोरीन के साथ विद्युत-विसर्जन के उपरान्त भी संयोग नहीं हो पाया। १९३३ ई० में योस्ट एवं केई ने जीनान एवं क्लोरीन के मिश्रण को नील-लोहितोत्तर किरणों की सहायता से संयोग कराना चाहा परन्तु वे भी यौगिक नहीं बना सके। उन्होंने जीनान, फ्लोरीन, जीनान, क्लोरीन में विद्युत-विसर्जन किया परन्तु वे कोई यौगिक नहीं बना पाये। ऐसा विचार है कि यदि वे जीनान तथा फ्लोरीन को नील-लोहितोत्तर किरणों के प्रभाव में रखते तो शायद १९३३ ई० में ही जीनान के फ्लोराइड यौगिक बन गये होते। उनका प्रयोग जीनान तथा फ्लोरीन क्रिया में अनिर्णयात्मक रहा।

इस प्रकार हम यह देखते हैं कि १९६२ ई० तक शून्य वर्ग की गैसों में किसी भी प्रकार के इलेक्ट्रानिक आदान-प्रदान की शक्ति नहीं पाई गई।

१९६२ ई० के उपरान्त का कार्य

विश्वविख्यात वैज्ञानिक लाइनस पॉलिंग ने १९३३ में यह सुझाव दिया कि शून्य वर्ग की गैसों को हैलोजन के साथ यौगिक बनाना चाहिये जिनका सूत्र KrF_6, XeF_6 व XeF_8 हो सकता है; उनके मतानुसार जीनिक
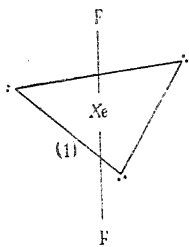
(चित्र १)

अम्ल H_4XeO_6 व उसके लवण भी बनने चाहिये। १९६१ ई० में स्वयं पॉलिंग ने फिर दोहराया कि ऐसा प्रतीत होता है कि शून्य वर्ग की गैसें किसी प्रकार के यौगिक नहीं बनाती हैं। पिमेंटल के अनुसार भी हैलोजन को इन गैसों के साथ संकीर्ण यौगिक बनाना चाहिये।

इस प्रकार कई प्रकार की धारणाऐं चलती रहीं परन्तु कोई भी वैज्ञानिक शून्य वर्ग के तत्वों के रासायनिक यौगिक नहीं बना सका, अन्त में सफलता का श्रेय ब्रिटिश कोलम्बिया विश्वविद्यालय के रसायनज्ञ नील बार्टलेट को मिला। वे अपने सहयोगी लोहमान के साथ धातुओं के फ्लोराइड संबंधी प्रयोग कर रहे थे। उन्होंने देखा कि जब प्लेटिनम-हेक्सा-फ्लोराइड तथा आक्सिजन का मिश्रण परस्पर रक्खा जाता है, तो एक प्रकार का विद्युत् संयोजी पदार्थ बनता है जिसमें आक्सिजन धनात्मक होता है। दोनों यौगिक १:१ अनुपात से संयोग करते हैं। यह प्रयोग एक विचित्र प्रकार के यौगिक $O_2^+(PtF_6)$ की पुष्टि करता है। इस यौगिक का बनना यह संकेत करता है कि प्लेटिनम हेक्साफ्लोराइड में आक्सीजन अणु से एक इलेक्ट्रान अपनी ओर निकाल कर उसे धनात्मक बनाने की शक्ति रखता है अर्थात् यह अणु आक्सिजन अणु के आयनीकरण विभव से अधिक शक्ति प्रदान कर देता है। इस प्रयोग के आधार पर बार्टलेट ने तुरन्त यह निष्कर्ष निकाला कि इस यौगिक को जीनान अणु से भी इलेक्ट्रान लेने में समर्थ होना चाहिये; क्योंकि आक्सीजन व जीनन गैस के आयनीकरण-विभव क्रमश: १२·२ व १२·१३ इ० वो० हैं।

इस धारणा के आधार पर बार्टलेट की प्रयोगशाला में जीनान तथा प्लेटिनम-हेक्सा-फ्लोराइड को एक काँच के उपकरण में झिल्ली द्वारा पृथक रक्खा गया। झिल्ली को तोड़ने पर एक पीला पदार्थ सामान्य ताप पर ही बन जाता है जिसका सूत्र $Xe^+(PtF_6)^-$ होना चाहिये। बाद के प्रयोगों द्वारा यह सूत्र भी जटिल पाया गया। परन्तु दोनों पदार्थों ने एक रासायनिक यौगिक अवश्य बना लिया। बार्टलेट के इस प्रयोग ने रासायनिक संसार में हलचल मचा दी। तुरन्त कई प्रयोगशालाओं में इस प्रयोग को दोहराकर यौगिक बनने की पुष्टि की गई। अमरीका की आर्गोन-राष्ट्रीय-प्रयोगशाला में इस कार्य को बहुत महत्त्व दिया गया। यह प्रयोगशाला यूरेनियम तथा अन्य धातुओं के फ्लोराइड यौगिकों पर कई वर्षों से शोधकार्य कर रही थी। इस प्रयोगशाला के कई वैज्ञानिक इस काम पर जुट गये। उन्होंने बार्टलेट के प्रयोग को दोहराया तथा अन्य

फ्लोराइड पर जाँचने का प्रयत्न किया। एक-दो वर्ष में ही इस प्रयोगशाला ने कई शोधपत्र इन यौगिकों पर छाप लिए तथा विश्व की अन्य प्रयोगशालाओं में भी इस भाँति का कार्य होने लगा।

आर्गोन प्रयोगशाला में प्लेटिनम के समान रुथेनियम-हेक्सा-फ्लोराइड को जीनान के साथ संयोग कराया गया। वैज्ञानिकों के आश्चर्य की सीमा नहीं रही जब उन्होंने यह देखा कि जीनान तथा RuF_6 १:१ अनुपात में क्रिया न करके २ अणु रुथेनियम-हेक्सा-फ्लोराइड तथा एक अणु जीनान परस्पर क्रिया करते हैं। यह क्रिया इस बात का संकेत करती है कि दोनों अणुओं के परस्पर जुड़ने के बजाय रुथेनियम-फ्लोराइड जीनान में फ्लोरीनीकरण क्रिया करके जीनान के फ्लोराइड यौगिक की रचना करता है।

इस प्रयोग के आधार पर इस प्रयोगशाला में यह सोचा गया कि सीधे ही जीनान तथा फ्लोरीन की क्रिया क्यों न कराई जाय? एक निकेल की नली में जीनान तथा फ्लोरीन गैस को १:५ के अनुपात (आयतन से) में मिला कर ४००° सें० पर एक घंटे तक गर्म किया गया। क्रिया के पश्चात् क्रिया नली को तुरन्त ठण्डा किया गया। सामान्य ताप पर ही एक सुन्दर सफेद मणिभ ठोस बनता हुआ पाया गया जिसका सूत्र विश्लेषण करने पर XeF_4 (जीनान-टेट्रा-फ्लोराइड) पाया गया।

आर्गोन की प्रयोगशाला के इस प्रयोग ने यह दिखला दिया कि बिना विशेष कठिनाई के ही जीनान एवं फ्लोरीन सीधे संयोग करके जीनान के फ्लोराइड यौगिक बना लेते हैं। जो क्रिया इतने वर्षों से असंभव प्रतीत हो रही थी वह एक सरल प्रयोग से संभव हो गई। विश्व की अन्य प्रयोगशालाओं में इस प्रयोग के आधार पर शून्य वर्ग के अन्य सदस्यों की फ्लोरीन से क्रिया की गई तथा अन्य कई यौगिक बना लिए गये। इन फ्लोराइडों के बनाने के लिए उच्च ताप, उच्च दाब, विद्युत विसर्जन, आयनीकारक किरणें, प्रकाश-रासायनिक विधि आदि से बनाने की विधियाँ निकाल ली गई हैं।

शून्य वर्ग के रासायनिक यौगिक

उपर्युक्त प्रयोगों के आधार पर जीनान गैस के निम्न यौगिक बना लिए गए हैं।

XeF_2, XeF_4, XeF_6, $XeOF_2$, $XeOF_4$, XeO_3, H_2XeO_4, H_4XeO_6; $Na_4 XeO_6$.
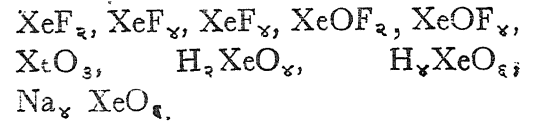
अतः जीनान गैस की रासायनिक संयोजकता २, ४, ६ तथा ८ ज्ञात हो गई है। रेडान गैस, को जो कि शून्य वर्ग का अन्तिम सदस्य है, अधिक स्थाई फ्लोराइड यौगिक बनाने चाहिये। परन्तु यह तत्व रेडियोऐक्टिव है तथा अर्ध-जीवन-काल केवल ४ दिन ही है। अतः फ्लोराइड बनते तो हैं किन्तु उन पर अधिक कार्य होना संभव नहीं हो पाया है। क्रिप्टन गैस का आयनीकरण विभव १४ इ० वो० है। यह KrF_2 तथा KrF_4 की रचना करता है परन्तु ये यौगिक सामान्य ताप पर विच्छेदित हो जाते हैं।
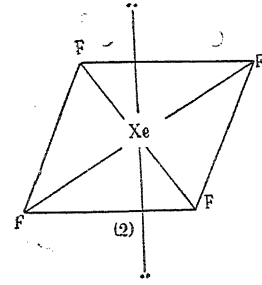
(चित्र २)

हीलियम, नीऑन व आर्गन गैसें इस प्रकार के फ्लोराइड नहीं बना पाती है। इनके अणु से इलेक्ट्रान हटाने के लिए क्रमशः २४.६; २१.६ तथा १५.७ इ० वो० की शक्ति की आवश्यकता है, जो आसानी से उपलब्ध नहीं हो पाती है। अतः ऐसा विचार है कि यदि इनके फ्लोराइड आदि बनेंगें तो वे सामान्य ताप पर अस्थायी होंगे।

इस भाँति शून्य वर्ग के यौगिकों में केवल जीनान के ही अणु ऐसे पाये गये है जो स्थायी फ्लोराइड यौगिक बनता है।

जीनान फ्लोराइड के गुण—

जीनान के फ्लोराइड $XeF_२$, $XeF_४$, $XeF_६$ ज्ञात हुये हैं। इनके भौतिक गुण निम्न हैं।

	$XeF_२$	$XeF_४$	$XeF_६$
रंग, अवस्था	सफेद ठोस	सफेद ठोस	४२° से नीचे सफेद ठोस
	वाष्प रंग हीन	वाष्प रंग हीन	४२° से ऊपर पीला ठोस, वाष्प पीली
वाष्प दाब २५° सें. (मिमी० पारद)	३·८	३	२८
द्रवणांक	१४०° सें०	—११४° सें०	४६° सें०

ये फ्लोराइड अजल हाइड्रोजन फ्लोराइड में विलीन हो जाते हैं। यह विलयन Pt, Mo आदि धातुओं को फ्लोराइड यौगिकों में परिणित कर लेता है। कई कार्बनिक यौगिकों का फ्लोरीनीकरण भी हो जाता है।

ये फ्लोराइड यौगिक क्रियाशील पाये गये हैं। **इनके निम्न रासायनिक गुण प्रमुख हैं :—**

(अ) **हाइड्रोजन से क्रिया**—हाइड्रोजन के साथ क्रिया करके जीनान गैस प्राप्त होती है और हाइड्रोजन फ्लोराइड बन जाता है। $XeF_2 + H_2 \rightarrow 2HF + Xe$ $XeF_४ + 2H_२ \rightarrow 4HF + Xe$
$XeF_६ + 3H_६ \rightarrow 6HF + Xe$

इस क्रिया से फ्लोराइड का अणु-सूत्र ज्ञात हो जाता है। जीनान हेक्सा फ्लोराइड सिलिका के साथ क्रिया करके जीनान आक्सि-फ्लोराइड बनता है।
$२XeF_६ + SiO_२ \rightarrow २XeOF४ + SiF४$

(आ) **जल-विश्लेषण** – ये फ्लोराइड जल, वायु की वाष्प, क्षार अथवा अम्ल के साथ अति तीव्रता से क्रिया करके जलविश्लेषिता हो जाते हैं। क्षार की उपस्थिति में लवण बन जाता है।

$XeF_६ + २H\ \ OH \rightarrow Xe + O२ + ४HF$
जीनान टेट्रा-फ्लोराइड तथा हेक्सा-फ्लोराइड जल विश्लेषण द्वारा एक नवीन यौगिक जीनान-ट्राइ-आक्साइड (XeO_3) का निर्माण करते हैं। यह रंगहीन, अवाष्पीय ठोस है तथा शुष्क अवस्था में भयंकर विस्फोटक पाया गया है। आर्द्रता अथवा जल में स्थाई है। XeO_3 का जलीय विलयन जीनिक अम्ल $H_२ XeO४$ कहलाता है जो दुर्बल अम्ल है। XeO_3 क्षार के साथ क्रिया करके पर-जीनेट लवण बनता है। पर-जीनेट अत्यन्त प्रबल आक्सिकारक है।

$४XeO_3 + १२OH \rightarrow Xe + ३XeO_६ + ६H_२O$
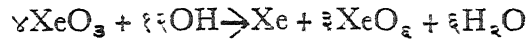
(इ) **आक्सिकारक गुण**—जीनिक अम्ल, जीनेट और पर-जीनेट प्रबल आक्सिकारक हैं। ये आयोडाइड से आयोडीन, हाइड्रोक्लोरिक अम्ल से क्लोरीन निकालते हैं तथा जीनान गैस शेष रहती है।

जीनान-ट्राइ आक्साइड का जलीय विलयन बिना अन्य आयन की उपस्थिति के स्वयं आक्सीकारक का कार्य कर लेता है। ऐसा गुण केवल ओजोन गैस में पाया जाता है। शायद यह जल से क्रिया करके जीनान व आक्सिजन गैस निकालती है।

जीनान-ट्राइ आक्साइड का क्षारीय विलयन क्लोरेट की भाँति विभिन्न संयोजकता के विषमानुपाती यौगिकों में विच्छेदित हो जाता है।

$4\ ClO_3^- \rightarrow Cl^- + 3\ ClO_४$

$$4XeO_3 + 12OH^- \rightarrow Xe + 3XeO_६ + ६H_२O$$
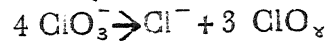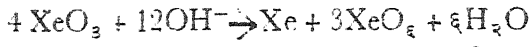
(ई) विस्थापन - जीनान हेक्साफ्लोराइड आक्सिजन परमाणु से विस्थापित होकर क्रमशः $XeOF_४$, $XeO_२F_२$ तथा अन्त में XeO_3 बनाता है।

जीनान फ्लोराइड के उपयोग—

अभी ये यौगिक रासायनिक ज्ञान की समृद्धि के हेतु ही बनाये गये हैं किन्तु भविष्य में इनके कई उपयोग किये जा सकेंगे। कुछ मुख्य उपयोग निम्न प्रकार हैं :—

इनमें फ्लोरीनीकरण की क्रिया सरलता से हो जाती है तथा अवशेष पदार्थ गैसीय अवस्था में प्राप्त होता है जो पम्प द्वारा हटाया जा सकता है अतः कई यौगिकों का फ्लोरीनीकरण सरलता एवं स्वच्छता से संभव हो जायगा।

जीनान के आठ संयोजकता के यौगिक बहुत प्रबल आक्सीकारक पाये गये हैं जिनसे कई आक्सीकारक क्रियाएँ सरलता से हो सकेंगीं तथा कई नवीन पदार्थ भी बनाये जा सकेंगे।

जीनान के फ्लोराइड यौगिकों में रासायनिक बंध—

जीनान के कई स्थायी फ्लोराइड यौगिकों के बनाने के उपरान्त विभिन्न वैज्ञानिकों के सम्मुख यह समस्या आ गई कि जिन गैसों को निष्क्रिय कहा जाता था, वे भी न्यूनाधिक सक्रिय हैं। इन नवीन यौगिकों में रासायनिक बंध को समझाने के लिए कई धारणाएँ प्रस्तुत की गईं जिनमें जीनान एवं फ्लोरीन के मध्य आयनिक-बंध अथवा एक इलेक्ट्रान बंध अथवा सह-संयोजकता बंध की संभावना मानी गई। इन यौगिकों के गुणों के आधार पर जीनान तथा फ्लोरीन के मध्य सह-बंध की संभावना अत्यधिक प्रतीत होती है। हाइमान के अनुसार इन यौगिकों को विशेष प्रकार का नहीं मानना चाहिये बल्कि अन्य फ्लोराइड, विशेषकर हेलोजन के फ्लोराइड, एवं इनमें समानता है। आयोडीन-हेप्टा-फ्लोराइड $IF_७$ और $XeF_६$ सम-इलेक्ट्रानिक हैं। दोनों के अणुओं के चारों ओर इलेक्ट्रान की संख्या समान है। इन यौगिकों के बंध को संयोजकता-बंध-सिद्धान्त और अणु-कक्षा-विधि से समझाने का प्रयत्न किया गया है। दोनों सिद्धान्तों के परिणाम $XeF_२$, $XeF_४$ अणुओं पर समान हैं तथा प्रायोगिक परिणामों से मेल खाते हैं। परन्तु $XeF_६$ की रचना दोनों विधियों से भिन्न आती है और प्रयोग से मेल नहीं खा पाती है। कुछ वैज्ञानिकों के अनुसार दोनों सिद्धान्तों की इस अणु पर कठिन परीक्षा है।

जीनान के परमाणु में इलेक्ट्रान का निम्न विन्यास माना जाता है जिसकी आयोडीन से तुलना की गई है।

	१	२	३	४				५			
	K	L	M	N				O			
				s	p	d	f	s	p	d	f
Xe	२	८	१८	२	६	१०		२	५		
I	२	८	१८	२	६	१०		२	५		

संयोजकता-बंध-सिद्धान्त के आधार पर जीनान की बाहिरी कक्षा के इलेक्ट्रान का प्रसंकरण होता है। इसमें कौन से इलेक्ट्रान भाग लेते हैं, इस प्रश्न पर दो विचार-धाराएँ हैं। कुछ वैज्ञानिकों के मतानुसार इसमें ५d कक्षा का प्रसंकरण ५s और ५p के साथ होता है (जीनान के बड़े परमाणु में ५d और ५p कक्षा में ऊर्जा-अन्तर बहुत ही अल्प है) तथा कई वैज्ञानिक केवल ५p कक्षा के इलेक्ट्रान द्वारा ही बंध में मुख्य सहयोग मानते हैं।

इन दोनों विचारधाराओं से $XeF_२$ व $XeF_४$ अणु का आकार एक-सा ही कल्पित होता है परन्तु $XeF_६$ अणु के विभिन्न आकारों की कल्पना होती है। ५p कक्षा का प्रमुख सहयोग मानकर अष्टफलीय आकार की कल्पना आती है चित्र (२) तथा ५d कक्षा का प्रसंकरण मानकर यह अणु असामान्य अष्टफलीय अथवा पंचभुजीय-द्वि-पिरेमिडल माना जाता है।

गिलेसपाई के अनुसार इन यौगिकों को निम्न प्रकार समझाया जा सकता है। जीनान की बाहिरी इलेक्ट्रान-छद के आठों इलेक्ट्रान बंध बनने में सहयोग

देते हैं तथा फ्लोरीन परमाणु से एक इलेक्ट्रान तथा आक्सीजन से दो इलेक्ट्रान क्रमशः एक तथा द्वि बंध बनाते हैं। इस धारणा के आधार पर XeF_2, XeF_4 व XeF_6 अणु की निम्न रचना मानी जाती है।

XeF_2 अणु में जीनान के चारों ओर १० इलेक्ट्रान होंगे जो पाँच युग्मों में रहेंगे। इनमें दो जोड़े फ्लोरीन बंध के एवं तीन युग्म सवर्ग प्रकार के होंगे। इस भाँति इस अणु में Sp^3dz^2 प्रसंकरण मानकर अणु की रचना त्रिभुजीय द्विपिरेमिडल कल्पित हो जाती है (चित्र (१))। इसमें सवर्ग जोड़ों के इलेक्ट्रान पारस्परिक प्रतिकर्षण के कारण दूर का स्थान ग्रहण करेंगे। यह रचना अणु को रेखीय आकार प्रदान करती है जो कि प्रयोगों द्वारा स्पष्ट हुई है।
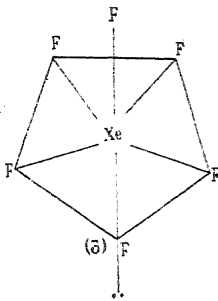
(चित्र ३)

XeF_4 अणु में उपर्युक्त धारणा के आधार पर १२ इलेक्ट्रान के विन्यास में चार क्लोरीन बंध के व दो सवर्ग प्रकार के इलेक्ट्रान-जोड़े पाये जायेंगे। अष्टफलीय रचना मानकर चार क्लोरीन परमाणु एक ही तल पर तथा सवर्ग इलेक्ट्रान के जोड़े ऊपर व नीचे का स्थान ग्रहण करेंगे (चित्र २) इसमें $Sp^3dz^2dx^2-y^2$ प्रसंकरण माना जाता है तथा अणु वर्ग समतल आकार ग्रहण कर लेता है जो प्रयोगों से स्पष्ट हुई है।

XeF_6 अणु की रचना में ८ + ६ = १४ इलेक्ट्रान के विन्यास में छः जोड़े क्लोरीन बंध के एवं एक सवर्ग किस्म का होगा।[5] यह विन्यास सामान्य अष्टफलीय में संभव नहीं है बल्कि अणु असामान्य अष्टफलीय में संभव है जो पंचभुजीय द्विपिरेमिडल आकार से स्पष्ट हो सकती है चित्र ३। इसमें $Sp_3dz_2dx^2-y^2$ प्रसंकरण माना जा सकता है जिसमें एक सवर्ग इलेक्ट्रान जोड़ा अप्रसंकरित रह जाता है। इस प्रसंकरण के कारण अणु अष्टफलीय प्राप्त होता है। दूसरी धारणा के आधार पर Sp^3d^3 प्रसंकरण मानकर अणु पंचभुजीय द्विपिरेमिडिल रचना का सम्भव है। अणु-कक्षा सिद्धान्त के आधार पर XeF_6 का अणु सामान्य अष्टफलीय कल्पित होता है। प्रयोगों द्वारा जीनान हेक्साफ्लोराइड का अणु असामान्य अष्टफलीय पाया गया है जो कि संयोजकता बंध सिद्धान्त से स्पष्ट है।

अतः यह स्पष्ट हो गया है कि शून्य वर्ग के तत्व अन्य तत्वों से असमान नहीं हैं। इनमें भी रासायनिक संयोजकता पाई गई है और इनके यौगिक हेलोजन यौगिकों से समानता रखते हैं विशेषकर आयोडीन हेलाइड तथा जीनान हेलाइड समान हैं जो कि आवर्त तालिका से स्पष्ट है।

खैर वृक्ष में केटेचिन (खदिरि) का वितरण

श्री ए० के० मिश्र तथा ओमप्रकाश शर्मा (अनु०—बाबूराम वर्मा)

खैर (अकेसिया केटेच्यु वाइल्ड०) (खदिर बबूल) के सारकाष्ठ से कत्था तैयार करना हमारे देश का सुस्थापित उद्योग है। कुटीर परिमाण पर कत्था तैयार करने में लगे हुए अनेक वन ठेकेदारों के अतिरिक्त उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, गुजरात औरो महाराष्ट्र राज्यों में इसकी अनेक सुव्यवस्थित निर्माणिय भी चल रही हैं। कत्था बनाने की विद्या का अध्ययन और विकास अनेक अनुसन्धानकर्ताओं द्वारा किया गया है और इस उद्योग के विभिन्न पक्षों का पूरी तरह अन्वेषण किया जा चुका है। कच्चे माल अर्थात् खैर के सारकाष्ठ की उपयुक्तता का अध्ययन सिंह ने किया और उसके निष्कर्ष प्रधानत: केटेचिन (खदिरि) की उपलब्धि पर आधारित हैं जो इसके वृक्षों के सारकाष्ठ से बने कत्थे का परमावश्यक संघटक है। तीन प्रतिशत से अधिक खदिरि (केटेचिन) रहने वाला काष्ठ प्राय: कत्था उत्पादन करने के लिए उपयुक्त स्वीकार किया जाता है और इसी बात को ध्यान में रख कर सिंह ने पूर्वी बंगाल और असम के खैर वृक्षों का विश्लेषण किया। खदिरि (केटेचिन) तत्व का आकलन खैर के काटे हुए (मृत) वृक्षों की कत्था उत्पादन के लिए उपयुक्तता तथा वृक्ष की वय (उम्र) का खैर काष्ठ के खदिरि (केटेचिन) तत्व पर प्रभाव ज्ञात करने के लिए किया गया था। कच्चा माल चुनने में निर्माताओं के लिए ये आँकड़े बड़े सहायक सिद्ध हुए और अब तो यह तथ्य सुस्थापित हो चुका है कि कत्था बनाने के लिए कच्चे माल की उपयुक्तता पूरी तरह इसके खदिरि तत्व पर ही आधारित है।

वास्तविक निर्माण प्रक्रिया में काल, रसकाष्ठ और छोटी-छोटी शाखाओं का निस्सारण नहीं किया जाता और वे केवल जलाने के लिए काम आते हैं। बड़ी शाखाएँ जिनमें पर्याप्त सारकाष्ठ रहता है वृक्ष के मुख्य तने (स्कन्ध) के साथ कत्था उत्पादन के लिए उपयोग की जाती हैं। उपलब्ध साहित्य में कोई अभिलिखित सामग्री ऐसी नहीं है जिसमें वृक्ष के विभिन्न भागों में खदिरि (केटेचिन) तत्व की जानकारी दी हुई हो और कत्था उत्पादन के लिए छोटी शाखाओं और टहनियों की उपयुक्तता के विषय में भी पर्याप्त भ्रम वर्तमान है। कच्चे माल के इस पक्ष का अध्ययन करने के लिए न्यू फौरेस्ट क्षेत्र से तीन खैर वृक्ष मँगा कर उनका विस्तृत अध्ययन किया गया। इन वृक्षों की वय (उम्र) और रूप लगभग समान थे अर्थात् नीचे मुख्य तना और ऊपर जाकर दो बड़ी-बड़ी शाखाएँ। दोनों मुख्य शाखाओं के अधिकांश शीर्ष भाग में रक्ताभ-बभ्रु (लाल-सी भूरी) सारकाष्ठ या तो था ही नहीं या अत्यल्प परिमाण में था अत: उसका विश्लेषण नहीं किया गया। उपशाखाओं की गोलाई २,० सें० मी० से भी कम थी, और कहीं-कहीं उनमें सारकाष्ठ ही नहीं था, अत: उन्हें भी छोड़ दिया गया।

खदिरि (केटेचिन) तत्व का आकलन सिंह के सुझावानुसार खदिरि (केटेचिन) मिश्रण प्रयुक्त करके किया गया। न्यादर्श प्रत्येक अवस्था में सारकाष्ठ खण्ड के पूरे बिम्ब को खण्ड-खण्ड करके उन बारीक टुकड़ों को पूरी तरह मिला-जुला कर लिये गये। इससे प्राप्त हुए परिणाम सारणी में दिये गये हैं।

इससे परिलक्षित होता है कि खदिरि (केटेचिन) खैर वृक्ष के सारे सारकाष्ठ में जड़ से लेकर शाखाओं तक फैली पाई जाती है। खदिरि के वितरण में समरूपता नहीं है परन्तु विभिन्नता भी उसमें अधिक नहीं है।

खदिरि का प्राकृतिक जमाव (निक्षेप) जिसे 'खीरसाल' कहा जाता है, आन्तरक और वृक्ष में लम्बाईवत् देखा गया और मुख्य तने में यह निक्षेपण अधिक था खदिरि तत्व में मिली अनियमता को कुछ सीमा तक आन्तरक और गोह (पाकेट) में हुए इस निक्षेपण द्वारा समझाया जा सकता है।

शाखाओं के सारकाष्ठ में सारकाष्ठ का व्यास २.५ सें० मी० या इससे अधिक होने से उनमें खदिरि (केटेचिन) तत्व अच्छी मात्रा (३ प्रतिशत से अधिक) में रहता है और कत्था उत्पादन के लिए सामान्यतः उनका उपयोग किया जाना चाहिए। परन्तु कम परिधि वाली शाखाओं से रसकाष्ठ को समुचित रूपेण पृथक करना कठिन होने से उनमें खदिरि तत्व ३ प्रतिशत से अधिक होने पर भी २.५ सें० मी० व्यास के कम सारकाष्ठ वाली छोटी परिधि की शाखाओं को उपयोग करना व्यवहार में कदाचित् वांछनीय नहीं रहेगा।

रसकाष्ठ और सारकाष्ठ का आपेक्षिक अनुपात वृक्ष की वय (आयु) पर निर्भर करता है। इस अध्ययन में लिए गये दोनों वृक्षों की वय (आयु) २८ वर्ष थी और समुपयोज्य सारकाष्ठ का समानुपात रसकाष्ठ, छाल और सारकाष्ठ सहित लट्ठों के पूरे भार का लगभग आधा था। इस पक्ष का अध्ययन कुलकर्णी ने
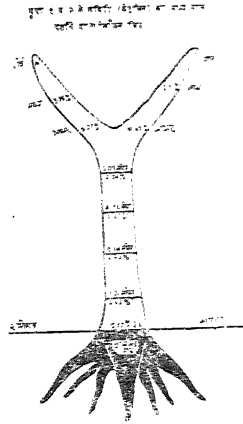
रेखा चित्र १

भी किया है और उसकी गणनाएँ जलविस्थापन रीति द्वारा प्राप्त काष्ठ की परिमा (आयतन) पर आधारित हैं। शुष्क प्ररूप बन के खैर वृक्ष के एक परिधि वर्ग (६०-६५ सें० मी०) में उन्होंने सारकाष्ठ की मात्रा ५१ प्रतिशत प्राप्त की। इस अन्वेषण में इसका समनुपात भार के आधार पर निकाला गया और उसके परिणाम भी लगभग उसी के सदृश हैं।

लेखकद्वय न्यू फौरेस्ट एस्टेट (वन सम्पदा) से कच्चा माल सुलभ करने के लिए वानिकी विभाग के प्रमुख के आभारी हैं। इस अध्ययन में रुचि लेने के लिए वे वनोपज रसायन शाखा के प्रभारिक को भी धन्यवाद देते हैं।

खदिरि (केटेचिन) का वितरण दर्शाने वाली सारणी

क्रमांक	वृक्ष में स्थिति	वृक्ष सं० १ (आयु २४ वर्ष)			वृक्ष सं० २ (आयु २४ वर्ष)			वृक्ष सं० ३ (आयु २७ वर्ष)		
		कुल ठोस भाग का प्रतिशत कुल जलीय निस्सार	खदिरि का प्रतिशत	छाल सहित परिधि सें० मी० में	कुल ठोस भाग का प्रतिशत कुल जलीय निस्सार	खदिरि का प्रतिशत	छाल सहित परिधि सें० मी० में	कुल ठोस भाग का प्रतिशत कुल जलीय निस्सार	खदिरि का प्रतिशत	छाल सहित परिधि सें० मी० में
१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११
१.	जड़ (मुख्य)	१६·४२	७·५३	—	१६·४६	७·२७	—	१७·९१	५·९९	—
२.	भूमितल (भूमि से १५ सें० मी०	१६·६०	६·७१	८२ ५०	१७·०७	६·६४	८७.५०	१६·४०	६·८५	९०·३५
३.	वक्षोच्चता (भूमितल से १·२१ मी० पुर)	१८·२७	६·७३	७०·००	१५·२२	४·६४	६६·२५	१५·०९	६·१२	७४·६४
४.	भूमितल से ३·०४ मी०	१५·७४	५·४६	६१·२५	१५·२८	५·१०	६२ ५०	१४·०५	६·४७	—
५.	भूमितल से ४·५६ मी०	१५·११	५·७०	६०·००	१५·४१	५ ६०	६०·६२	—	—	—
६.	भूमितल से ६·०८ मी०	१४·४६	६·१२	६७·५०	१४·८६	४·४८	५५·००	—	—	—
	शाखाएँ (रेखाचित्र १)									
७.	क का आधार	१५·२०	५·६९	४०·००	१४·७२	४·५८	४०·००	१५·२६	५·३८	४९·००
८.	क का मध्य	९·०४	३·३०	३७·५०	१३·५३	४·६१	३७·५०	१५·०७	५·५२	४७·१२
९.	ख का आधार	१३·०२	४·५६	४३·१०	१५·०५	४·७१	४५·००	१६·१७	५·५१	४९·१०
१०.	ख का मध्य	१२·६३	४·०६	४०·००	१२·६६	३·४५	३६·२५	१३·५५	५·०२	४७·१४
११.	रसकाष्ठ (वक्षोच्चता पर)	६·०३	०·०५	—	६·४५	०·१४	—	५·२६	०·०४	—

	वृक्ष सं० १	वृक्ष सं० २	वृक्ष सं० ३
तने और दोनों मुख्य शाखाओं को मिलाकर (रसकाष्ठ और छाल सहित) वृक्ष का भार	१७५·५१ किलो०	१९०·२० किलो०	....
उसी के समुपयोज्य सारकाष्ठ का कुल भार	८६·२६ किलो०	८०·३५ किलो०	....

टिप्पणी—सभी प्रतिशत माल को नमी को शून्य करके निकाले हुए हैं।

पृथ्वी के गर्भ में

श्याम मनोहर व्यास

यह आप अवश्य जानना चाहेंगे कि पृथ्वी के गर्भ में क्या है ? पृथ्वीवासियों के अन्दर यह स्वाभाविक जिज्ञासा रहती है कि वे पृथ्वी के बारे में अधिक ज्ञान प्राप्त करें। पृथ्वी की आन्तरिक बनावट कैसी है, उसके भीतर कितनी गहराई पर कौन-कौन पदार्थ किस रूप में हैं, यह जानने का सर्वोत्तम और प्रत्यक्ष उपाय तो यही है कि पृथ्वी के आर-पार छेद किया जाय और इस छेद की खुदाई में भिन्न-भिन्न गहराइयों पर जो पदार्थ मिलें, उनका अध्ययन किया जाय। किन्तु पृथ्वी में छेद करना सरल कार्य नहीं है।

वैज्ञानिक आज अन्तरिक्ष-यात्रा करने में सफल हो चुके हैं, भविष्य में चाँद में पहुँचने का भी प्रयास कर रहे हैं, पर वे पृथ्वी में ५-६ मील की गहराई से आगे नहीं पहुँच पाये हैं। इसका कारण यह है कि पृथ्वी के भीतर की चट्टानें बड़ी कठोर हैं। फिर भी पृथ्वी के गर्भ में लम्बा सूराख किये बिना ही भूगर्भ वेत्ताओं ने पृथ्वी की आन्तरिक रचना के बारे में काफी जानकारी प्राप्त करली है।

पृथ्वी प्रारम्भ में सूर्य के समान ही आग का गोला थी; जिसका ताप १०, ३००° फा० था। यही ताप सूर्य की सतह का भी है। पृथ्वी के गर्भ में पाये जाने वाले सभी पदार्थ उस समय गैसीय अवस्था में थे। जब पृथ्वी का ताप ५,४००° फा० पहुँचा तो आक्सीजन एवं हाइड्रोजन का संयोग हुआ और परिणाम स्वरूप पानी का निर्माण हुआ। अपने जन्म से लगभग १५००० वर्ष पश्चात् पृथ्वी इतनी ठण्डी हो गयी कि वह स्वयं प्रकाशमान नहीं रही। ठण्डी होने के फलस्वरूप द्रव पदार्थ क्रमशः चट्टानों का रूप लेने लगा और धीरे-धीरे इस प्रकार लोहा, चाँदी आदि की चट्टानें बनने लगी।

आइये, अब इसके भीतर चलकर उसकी आन्तरिक बनावट के बारे में कुछ जानकरी प्राप्त करें।

पृथ्वी की ऊपरी परत जिसे पपड़ी कहते हैं, लगभग बीस मील की गहराई पर जाकर समाप्त हो जाती है। यह पपड़ी सब जगह पर एक समान मोटी नहीं है। जहाँ पर्वत हैं, वहाँ यह २० मील से ४० मील तक मोटी है किन्तु सागरों के नीचे यह पतली है। महासागरों के नीचे कई ऐसे स्थान हैं जहाँ यह खोल केवल ३ मील ही मोटी है। मोटाई कम होने के कारण इन स्थानों पर भूगर्भविद्या सम्बन्धी कई प्रयोग किये जा रहे हैं।

यह खोल (क्रस्ट) भार की दृष्टि से पृथ्वी का केवल दो सौवाँ भाग है। इस खोल में प्राप्त मुख्य धातु एल्यूमिनियम है। इस खोल में निम्न तत्व इस प्रकार पाये जाते हैं। आक्सिजन ४६.६%, सिलिकन २७.७२%, लोहा ५%, एल्यूमिनियम ८.१३%, सोडियम २.८३%, पोटैशियम २.५% तथा मैग्नैशियम २.०९%। इसके अतिरिक्त इसमें फास्फोरस, गन्धक, सोना, चाँदी, निकेल, कोबाल्ट आदि तत्व भी पाये जाते हैं।

इस खोल के नीचे मध्यम परत है जिसे 'मैंटल' कहते हैं। यह लगभग २००० मील गहरी है। भार की दृष्टि से यह पृथ्वी का लगभग दो तिहाई है। पपड़ी के समान मध्यम परत भी ठोस ही है। इस परत में प्रमुख रूप से पायी जाने वाली धातु मैग्नीशियम है।

इससे भी और अधिक गहरे जाने पर तीसरी एवं अन्तरतम परत है जिसे कोर या क्रोड कहते हैं। जहाँ ऊपर की दो परतें ठोस हैं वहाँ यह परत गरम पिघली

हुयी धातुओं की बनी हुई है। पृथ्वी की तीनों परतों से यह परत सबसे अधिक भारी है। इसका आयतन पृथ्वी के आयतन का $\frac{1}{6}$ वाँ भाग है और भार की दृष्टि से पृथ्वी का तिहाई है। इस परत में लोहा प्रमुख रूप से पाया जाता है। कोबाल्ट एवं निकेल धातुयें भी पाई जाती हैं।

अब आप प्रश्न करेंगे कि जब पृथ्वी के अन्दर सूराख नहीं किया गया तो इन परतों के अस्तित्व का कैसे पता चलाया गया ?

इसकी भी एक मनोरंजक कहानी है। लगभग सौ वर्ष पूर्व सन् १८६६ में फ्राँसीसी भूगर्भ शास्त्री ग्रैब्रियल डाब्रे ने सर्वप्रथम अपना यह विचार विश्व के सामने रखा कि पृथ्वी के अन्दर एक बड़ी मात्रा में पिघला हुआ लोहा है। इसके लिए उसने उल्काओं का अध्ययन किया था। उल्कायें आकाशीय पिण्डों के टूटे हुये टुकड़े हैं जो अन्तरिक्ष से पृथ्वी पर गिरते हैं। ये उल्कायें अधिकतर लोहे की होती हैं। इससे सिद्ध होता है कि ग्रहों व नक्षत्रों में मुख्य तौर पर पायी जाने वाली धातु लोह है।

इसी आधार पर डाब्रे ने यह निर्णय निकाला कि नक्षत्रों के समान पृथ्वी का भी भाग लोहे का होना चाहिये। ऊपरी परत में लोहा यौगिकों के रूप में पाया जाता है। यह सही तथ्य है कि ज्यों-ज्यों हम पृथ्वी के केन्द्र की ओर जाते हैं, त्यों-त्यों तापांश अधिक होता जाता है। पृथ्वी के केन्द्र के पास लोहा पिघली हुई अवस्था में है। इस सिद्धान्त की पुष्टि चुम्बक के सिद्धान्त से भी होती है। यह हम जानते हैं कि पृथ्वी एक चुम्बक है। चुम्बक लोहे का बना होता है इसलिये पृथ्वी के आन्तरिक्ष भाग में लोहा पाया जाना आवश्यक है।

कई वर्षों से भूगर्भ वेत्ता पृथ्वी के गर्भ में विद्यमान तत्वों की खोज करते रहे हैं। उल्काओं के अध्ययन, ज्वालामुखी उद्गार से उससे निकले लावा में पाये जाने वाले तत्वों के अध्ययन एवं पृथ्वी की चुम्बकीय शक्ति के अध्ययन द्वारा वैज्ञानिकों ने पृथ्वी में पाये जाने वाले सारे तत्वों का प्रतिशत रासायनिक विश्लेषण इस प्रकार किया है :—

लोहा ३५.४, आक्सिजन २७.८, सिलिकन १२.६ मैगनीशियम १७, गन्धक २.७, निकेल २.७ अन्य तत्व १.८। पृथ्वी के समान समुद्र में भी अपार सम्पदावाले पदार्थ भरे पड़े है।

प्रशान्त महासागर के एक करोड़ चालीस लाख वर्गमील के क्षेत्रफल में समुद्र तल पर असंख्य धनराशि की सम्पदा भरी पड़ी है। इनमें मैंगनीज, कोबाल्ट, ताँबा एवं निकेल धातुयें मुख्य रूप से पाई जाती हैं। यद्यपि यह सम्पत्ति १५००० फुट की गहराई में पड़ी हुई है पर आज के यान्त्रिक युग में इन्हें ऊपर निकाल लेना कठिन नहीं है। अब वह दिन दूर नहीं है जबकि वैज्ञानिक पृथ्वी के समान ग्रह-उपग्रहों की आन्तरिक रचना की जानकारी प्राप्त कर लेंगे।

●●

काले-गोरे

रामलखन सिंह

अदालत का वह कमरा (जहाँ डा० विल्सन का बयान होने वाला था) खचाखच भरा था। प्रेस रिपोर्टर, नागरिक, वकील एवं अन्य सभी लोगों की निगाहें कटघरे में खड़े डा० विल्सन के चेहरे पर जमी थीं। परन्तु वह था कि भावशून्य, दूर अतीत में खोया हुआ और मन बिल्कुल ही उदासीन सा। गोरा रंग, लम्बा कद, भरा सीना—ऐसा ही था उसका व्यक्तित्व। तभी सूचना हुई कि 'माननीय जज महोदय पधार रहे हैं।' सभी उठ कर खड़े हो गये। थोड़ी देर सन्नाटा रहा जिसे स्वयं जज महोदय ने भंग किया, "डाक्टर विल्सन आप अपने ऊपर लगाये गये अभियोग के विषय में जो भी कहना चाहते हों कहें।"

उसने सिर्फ सर उठा कर एक बार सभी व्यक्तियों पर दृष्टि डाली। थोड़ी देर फिर सर झुकाए रहा और तभी एकाएक वह बुदबुदाया।

"आज से पचास वर्ष पहले एक नीग्रो परिवार में एक बालक ने जन्म लिया था। काला—बिल्कुल कोयले जैसा रंग था उसका। उसका पिता न्यूयार्क के एक अंग्रेज का गुलाम था। उसकी मेम के ताँगे को खींच कर क्लब ले जाना और पुनः घर लाना ही उसका काम था। वह साक्षात घोड़ा था। दिन भर में दो सेर चने (ठीक घोड़ों की तरह) मिलते थे उसे। इस बाप के घर जन्मने वाले बेटे को भी गुलामी विरासत में मिली थी। वह मेम की चप्पलें साफ करने का काम करने लगा। दस वर्ष बाद उसके एक लड़की, मलाई के रङ्ग की, पैदा हुई। नाम था डाली। जब वह दो वर्ष की हुई तो उसके लिए भी ताँगा बना और नीग्रो बालक उसका घोड़ा बना। डाली को स्कूल ले जाना, पार्क ले जाना आदि ही उसकी दिनचर्या बन गई। जब लड़की दस वर्ष की हुई तो नीग्रो बालक बीस वर्ष का हो चुका था। वह छठें में पढ़ने जाती थी। उस समय नीग्रो लोगों को पढ़ने का कोई अधिकार नहीं होता था इसलिये इस घोड़ा बालक को भी पढ़ने का अवसर नहीं मिला। परन्तु डाली को किताबों में खिचीं काली लकीरों को पढ़ते देख कर उसे उत्सुकता अवश्य होती थी। इसलिये वह रात में छुपकर डाली की किताबें पलटता परन्तु पुनः झुँझला कर रख देता था। एक दिन वह एक किताब पलट रहा था, तभी डाली जग गयी—'तुम यह क्या कर रहे हो...' उसने कौतूहल से पूछा था। 'कुछ नहीं...कुछ नहीं...' हड़बड़ा कर उसने किताब ढक कर रख दी थी। 'क्या तुम पढ़ना चाहते हो...' उसने तरस सी खाते हुए पूछा था। 'हाँ—पढ़ना तो चाहता था परन्तु मुझे पढ़ायेगा कौन?...' उसने विवशता प्रकट कर दिया था। 'ठीक है मैं तुम्हें पढ़ा दिया करूँगी...' और उस दिन से वह उसे चुपके से कुछ न कुछ पढ़ा देती। वैसे उसे डर लगा रहता था कि कहीं उसके पापा न देख लें। उस नीग्रो बालक की उत्सुकता विज्ञान के प्रश्नों में अत्यन्त प्रखर हो उठी थी। धीरे-धीरे दोनों के पाँच वर्ष और खिसक गये। अब डाली पन्द्रह की हो चुकी थी। नवयुवक नीग्रो को उसका शरीर आकर्षक लगने लगा था। रात दिन के सामीप्य ने दोनों के बीच का भेद भी कम कर दिया था।

एक दिन डाली पारदर्शक कपड़े पहन कर ताँगे पर बैठी तो वह ताँगा खींचते हुए बोला 'कहाँ चलूँ' 'किंग गार्डेन...' कहते हुए उसने रास्ता बताया। वहाँ

पहुँच कर वह एक बेंच पर बैठ गयी। नीग्रो ताँगे के पास ही रहा। लगभग एक घंटे तक वह किसी की प्रतीक्षा में बैठी रही परन्तु कोई न आया : वह झुँझला-कर उठी और पुनः ताँगे पर बैठ गई। नीग्रो उठकर उसके पास गया—'क्या घर चलूँ...' 'हाँ...' संक्षिप्त सा उत्तर देकर वह चुप हो गयी। परन्तु नीग्रो भी ताँगे में जुतने के बजाय वहीं खड़ा होकर उसे देखने लगा। थोड़ी देर में वह परेशान सी होकर बोली— 'क्या देख रहे हो...?'

'तुम कितनी प्यारी हो', वह भावावेश में कह गया। वह भी इन्कार न कर सकी परन्तु एक क्षण बाद बोली—'पापा तुम्हें मार डालें तो।'

"नहीं डाली -इसमें बुराई क्या है। मैं तुम्हें प्यार करता हूँ—"

"तो पहले तुम पापा से पूछ लो—" और उसे घर चलने को कहा। तेजी के साथ ताँगा खींचकर वह घर पहुँचा। और सीधे उसके पापा के कमरे में पहुँचा और अपना मन्तव्य कहा।

वह एकाएक उछल पड़ा "तुम उल्लू के बच्चे..." और पास ही पड़ा हुआ बेंत उठा लिया। एक, दो— और अनेक हन्टर उस पर पड़ने लगे। साथ ही साथ वह चीखता रहा - तुम काले मैन, सुअर—तुम—तुम हमारी डाली को...... ..।"

होहल्ला सुनकर नीग्रो का बुड्ढा बाप आ गया— और उसने उसकी भी मरम्मत की। मारते-मारते दोनों को बेहोश कर दिया। और शहर के बाहर गंदे नाले में धकेल दिया।

सुबह उस नीग्रो की बेहोशी टूटी तो देखा कि 'उसकी चमड़ी से खून की बूँदें चू रही हैं और उन पर नाली के कीड़े लिपटे हैं। पास ही बुड्ढे बाप की लाश अकड़ी पड़ी है।' वह उठा और बाहर जाकर धूल से रगड़ कर कीड़ों को हटाया। फिर पास बहती नदी में बदन को धोया और पागलों सा दूर जंगलों में चला गया।

वहाँ जाकर उसके मस्तिष्क में प्रश्न उठा कि— **मेरा रंग काला क्यों है और लोगों का रंग गोरा क्यों होता है?** क्या उस अंग्रेज का रंग काला नहीं किया जा सकता? क्या वस्तुओं का रंग परिवर्तित नहीं हो सकता?

इन सभी प्रश्नों के हल के लिए उसने प्रयोग शुरू किये। प्रयोग के लिए आवश्यक वस्तुओं को रात में शहर जाकर चुरा लाया। उसने प्रयोग करके देखा तो पता चला कि सूर्य की किरणों का सफेद रंग सात रंगों से मिल कर बना है। काँच के प्रिज्म से देखने पर यह सातों रंग दिखाई पड़ते हैं। इनमें उसे क्रमशः बैंगनी, आसमानी, नीला, हरा, पीला, नारंगी और लाल रंग मिले। उसके बाद उसने सोचा कि— अँधेरे में रखी वस्तुएँ क्यों नहीं दिखाई पड़ती हैं? थोड़ा सा सोचने पर उसे उत्तर मिल गया। कोई वस्तु हमें तब दिखाई पड़ती है जब प्रकाश किरण उससे परावर्तित होकर हमारी आँखों से टकराये। अर्थात् जिस वस्तु से कोई किरण परावर्तित नहीं होगी वह काली दिखाई पड़ेगी। इससे उसने निष्कर्ष निकाला कि काली दिखाई पड़ने वाली वस्तुएँ अपने ऊपर पड़ने वाले समस्त प्रकाश को शोषित कर लेती हैं। अब उसके मस्तिष्क में प्रश्न उठा कि—वस्तुओं के रंग भिन्न-भिन्न क्यों होते हैं? थोड़ा सा विचार करने पर उसे इसका भी उत्तर मिल गया। जब किसी पदार्थ पर सूरज की सफेद किरण (जो स्वयं सात रंगों का मिश्रण है) पड़ती है तो वह पदार्थ अपने भौतिक गुणों के कारण भिन्न-भिन्न व्यवहार करता है। जो पदार्थ समस्त रंगों को शोषित कर लेते हैं उनसे कोई किरण परावर्तित नहीं होती और वे काले दिखाई पड़ते हैं। जो पदार्थ कोई रंग नहीं शोषित कर पाते उनसे किरण ज्यों की त्यों परावर्तित हो जाती है और पदार्थ सफेद दिखाई देते हैं। जो पदार्थ सभी रङ्गों को तो शोषित कर हरा रङ्ग नहीं शोषित कर पाते वे केवल हरे रङ्ग की किरणें परावर्तित करने के कारण आँखों को हरे दिखाई पड़ते हैं। यही बात अन्य रंगीन पदार्थों के साथ भी लागू होती है।

और अब उसके मस्तिष्क में कारण स्पष्ट हो गया था। वह अंग्रेज गोरा इसलिए था कि उसकी चमड़ी

नारंगी और पीले रंगों को परावर्तित करती है और सफेद किरन के अन्य रंगों को शोषित कर लेती है। इसी लिए वह आँखों को गोरी दिखाई पड़ती है।

इसके बाद उसके मस्तिष्क में प्रश्न उठा कि क्या चमड़ियों के भौतिक गुण बदले नहीं जा सकते ?

रात दिन अथक प्रयोगों के बाद उसने अनेक रासायनिक तरल पदार्थ तैयार किये जिनके इंजेक्शन शरीर में लगाते ही चमड़ी का रंग बदल जाये। प्रयोग के लिए उसने स्वयं को पीले-नारंगी रंगों वाला इंजेक्शन लगाया। दो दिन बाद उसके आश्चर्य की सीमा न रही जब उसने देखा कि वह बिल्कुल अंग्रेजों-सा गोरा हो गया है।

और दूसरे दिन उस नए अंग्रेज ने शहर में नकली नाम से डाक्टरी प्रारम्भ कर दिया।

प्रतिशोध की जो आग उसके हृदय में सुलग रही थी उसने उसे अपराधी प्रकृति का पुरुष बना दिया। जो भी अंग्रेज उससे दवा कराते वह उनको दवा के साथ ऐसे इंजेक्शन लगाता कि दो दिन बाद वह काला नीग्रो बन जाता। उसकी चमड़ी में सभी रंगों को शोषित करने का गुण भर देता। उसने चेचक का टीका लगाने वाले विभाग में साधारण-सी नौकरी कर ली। इससे उसे और सुविधा हुई। चेचक के टीके के बदले वह अंग्रेजों के शरीर में अपनी दवा प्रविष्ट करता। देखते-देखते हजारों की संख्या में "काले अंग्रेज" तैयार हो गये। उनकी औरतें उन्हें तलाक देने लगीं और इस प्रकार सारे न्यूयार्क में हाहाकार मच गया। खुफिया पुलिस खोज में जुट गई। परन्तु कोई भेद न खुला। एक दिन उसने डाली को भी वही इंजेक्शन दिया। अंग्रेज परिवारों ने उसे अपनी बस्ती से निकालना चाहा। इस पर उसके पिता ने प्रतिरोध किया तो लोगों ने उससे सामाजिक सम्बन्ध छिन्न कर लिये। उसकी बरबादी का परिणाम देख कर उस नीग्रो की प्रतिहिंसा की आग ठंडी हुई और उसने अपने आप को पुलिस के हवाले कर दिया।..." इतना कह कर डाक्टर विल्सन चुप हो गये।

सारे लोग सन्न हो गये। सभी ने एक साथ प्रश्न किया "पर वह नीग्रो अंग्रेज कौन था ?"

'उसका नाम डाक्टर विल्सन है...' और उसने हाथ ऊपर उठा दिये। अब वह कानून के अधिकार में था। उसने कहा—"दोस्तो; चमड़ी के रंग के कारण इन्सान के साथ कुत्तों का सा व्यवहार करने वाले तुम लोगों ने कभी नहीं सोचा कि काले लोगों के भी हृदय होता है। वे भी जीना चाहते हैं। जिन्दगी की खुशियों पर उनका भी अधिकार है। काश कि हम सब काले गोरे न होकर सिर्फ इन्सान होते..."

●●

स्मिथसोनियन संस्थान

पी० एन० ओक

स्मिथसोनियन संस्थान अमेरिका की राजधानी वाशिंगटन, डी० सी०, के सबसे बड़े आकर्षणों में से एक है। यह संस्थान विविध प्रकार के अनुसन्धान केन्द्रों और संग्रहालयों का एक महत्वपूर्ण संजाल है। १० अगस्त को स्मिथसोनियन संस्थान की ११६वीं वर्षगांठ मनायी गई है। इसने अपने अनेक संग्रहालयों, अनुसन्धान केन्द्रों, वैज्ञानिक प्रयोगों, खोजों, प्रकाशनों और भाषण-मालाओं द्वारा अपने संस्थापक की इस आशा का औचित्य प्रमाणित कर दिया है कि यह "मानव मात्र में ज्ञान के प्रसार और वृद्धि में" योग देगा।

संस्थान के मूल दाता

इस संस्थान की स्थापना का श्रेय जेम्स स्मिथसन नामक एक अंग्रेज को है, जो एक रसायन शास्त्री और खनिज वैज्ञानिक थे। आश्चर्यजनक बात यह है कि श्री स्मिथसन स्वयं कभी अमेरिका नहीं गये। वह लन्दन की रायल सोसायटी के एक प्रमुख सदस्य थे। उनकी मृत्यु १८२६ में जिनोआ, इटली, में हुई। अपनी मृत्यु से तीन वर्ष पूर्व उन्होंने अपने भतीजे को विशाल सम्पत्ति का उत्तराधिकारी बनाया और यह भी लिख दिया कि यदि उनका भतीजा निस्सन्तान हो कर मरे, तो उस दशा में उस सम्पति का स्वामी अमेरिका होगा, जो वाशिंगटन में इस धन द्वारा स्मिथसोनियन संस्थान दी स्थापना करेगा। प्रारब्ध कुछ ऐसा रहा कि उनके भतीजे को कोई सन्तान नहीं हुई और वह १८३५ में निःसन्तान ही मर गया।

अमेरिकी कांग्रेस ने १८४६ में एक कानून स्वीकृत करके ५, ५०,००० डालर की इस सम्पत्ति को विधिवत स्वीकार कर लिया। इस कानून द्वारा स्मिथसोनियन संस्थान की स्थापना एक अधिष्ठान के रूप में कर दी गयी। इस अधिष्ठान की स्थापना एक न्यास के रूप में की गयी, जिसका संरक्षक अमेरिका है। इस प्रकार अमेरिका अपने प्रैसिडेण्ट, वाइस प्रैसिडेण्ट, अमेरिकी सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश तथा प्रैसिडेण्ट के मन्त्रिमडण्ल के सदस्यों के माध्यम से इस संस्थान का संरक्षक बन गया।

स्मिथसन द्वारा दान में दी गयी सम्पत्ति में आगे चल कर और वृद्धि हुई। दूसरे बहुत से व्यक्तियों ने भी इस संस्थान को दान दिया। इस प्रकार प्राप्त सम्पत्ति की आय और सरकार से प्राप्त अनुदानों की सहायता से संस्थान द्वारा चलाये गये अनुसन्धानों की वित्तीय व्यवस्था की जाती है।

अनुसन्धान कार्य

प्रारम्भिक वर्षों में, स्मिथसोनियन संस्थान पर अमेरिकी सरकार के लिए आवश्यक प्रायः सभी अनुसन्धान-कार्य संचालित करने का उत्तरदायित्व था। उस समय उसके अधिकांश अनुसन्धान-कार्य पहल के रूप में सम्पन्न हुए। १८५० में उसने मौसम अनुसन्धान सेवा प्रारम्भ की और उसे २० साल तक चलाया। यही विभाग आगे चल कर अमेरिकी मौसम परिषद बन गया। १८७० से लेकर १८८८ तक उसने मत्स्य-पालन विषयक अनुसन्धान चलाया। आगे चल कर उसके इसी विभाग ने अमेरिकी कृषि-विभाग की मत्स्य एवं वन्य जीव सेवा का रूप धारण कर लिया। उसने अमेरिकी भूगर्भ-सर्वेक्षण विभाग द्वारा इस समय चलाये जा रहे अधिकांश अनुसन्धान कार्यों की भी आधारशिला का निर्माण किया।

स्मिथसोनियम संस्थान ने नृवंश-विज्ञान, जीवन-विज्ञान, भू-गर्भ विज्ञान, और खगोलीय विज्ञान भौतिक जैसे विज्ञान के प्रायः सभी क्षेत्रों में अध्ययन एवं अनुसन्धान का आयोजन करने के साथ ही, विश्व के सभी भागों में खोज के लिए भेजी जाने वाली २,००० से अधिक अनुसन्धान टोलियों का आयोजन किया अथवा उसमें भाग लिया। अनुसन्धान टोलियों का उद्देश्य पृथ्वी पर रहने वाले मनुष्यों एवं पशुओं के जीवन के विषय में अधिक जानकारी प्राप्त करना था।

इस संस्थान ने बहुत से बाहर के वैज्ञानिक अनुसन्धानकर्ताओं के लिए भी वित्तीय अनुदान, मँहगे उपकरणों के प्रयोग की सुविधा तथा अन्य प्रकार की सहायताएँ प्रदान की हैं। प्रतिदिन विश्व भर के १०० से अधिक वैज्ञानिक और विद्वान इसकी प्रयोगशालाओं, पुस्तकालयों तथा अन्य सुविधाओं से लाभ उठाते हैं।

स्मिथसोनियन संस्थान प्रतिवर्ष व्यक्तिगत रूप से लाये गये या डाक से भेजे गये सैकड़ों प्राविधिक प्रश्नों का उत्तर प्रदान करता है। यह विज्ञान और कला सम्बन्धी भाषणों की व्यवस्था करता है, रेडियो और टेलिविजन के शैक्षणिक कार्यक्रमों में भाग लेता है, लोकप्रिय विज्ञान विषयक सम्वाद समाचारपत्रों में प्रकाशनार्थ भेजता है तथा विज्ञान की प्रगति का वार्षिक लेखा-जोखा प्रकाशित करता है।

विज्ञान विषयक ज्ञान का प्रसार

स्मिथसोनियन संस्थान एक 'बायो-सायंसेज इन्फर्मेशन एक्सचेंज' नामक सूचना-विभाग का संचालन करता है, जो जीव-विज्ञान, चिकित्सा-विज्ञान तथा उनसे सम्बद्ध क्षेत्रों में हो रहे अनुसन्धानों के विषय में अनेक संस्थाओं और संगठनों को उपयोगी सूचनाएँ प्रदान करता है।

इनके अतिरिक्त, स्मिथसोनियन संस्थान ९ अन्य परिषदों का भी प्रबन्ध करता है। वे हैं—'यू० एस० नेशनल म्यूजियम,' जिसका प्रारम्भ जेम्स स्मिथसन द्वारा दान में दिये गये खनिजों के संग्रह से हुआ था; 'ब्यूरो औव् अमेरिकन स्थनोलौजी,' जो अमेरिका के रेड इण्डियनों तथा उनके उत्सवों, भाषाओं, संस्कृति, इतिहास, रीति-रिवाज और अंधविश्वासों के विषय में सूचनाएँ एकत्र करता, लेखांकित करता तथा प्रकाशित करता है; 'दि नेशनल जूलौजिकल पार्क,' जिसके ३,००० किस्म के दुर्लभ जीव-जन्तुओं में प्रधान मन्त्री श्री नेहरू द्वारा १९५० में उपहारस्वरूप भेजे गये हाथियों का एक जोड़ा भी शामिल है; 'एस्ट्रोफिजिकल आब्जर्वेटरी,' जिसने चन्द्रमा तथा कृत्रिम भू-उपग्रहों के चित्र खींचने के लिए भारत की नैनीताल वेधशाला को एक शक्तिशाली दूरवीक्षण यन्त्र तथा केमरे प्रदान किये हैं; तीन कला-वीथीएँ, जिनमें 'फ्रीयर आर्ट गैलरी' भी शामिल है, जिसमें भारत की अनेक वास्तुशिल्पिक रचनाएँ, दुर्लभ पाण्डुलिपियाँ तथा चित्र संग्रहीत हैं; राष्ट्रीय ललित-कला संग्रहालय —'दि केनाल जोन बायोलौजिकल एरिया'—जिसमें एक प्राचीन उष्ण कटिबन्धीय वन तथा मैदान विकास शामिल हैं; 'दि नेशनल एयर म्युजियम,' जहाँ उड्डयन के सम्बन्धी वैज्ञानिक उपकरण और आँकड़े संग्रहीत हैं तथा इतिहास और टेक्नोलौजी सम्बन्धी संग्रहालय।

प्रकाशित सामग्रियाँ

स्मिथसोनियम संस्थान ने लगभग ७,५०० पुस्तकें प्रकाशित करायी हैं, जिनमें उसके द्वारा संचालित अनुसन्धानों, देश-देशान्तर की खोजों तथा अन्य गवेषणाओं के निष्कर्षों के संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किये गये हैं। इसने पुस्तकालयों, वैज्ञानिक एवं शैक्षणिक संस्थाओं तथा दिलचस्पी रखने वाले व्यक्तियों के पास ये पुस्तकें निःशुल्क भेजी हैं।

हजारों अमेरिकी और विदेशी दर्शक स्मिथसोनियन संस्थान के संग्रहालयों और वीथीओं को देखने जाते हैं। वहाँ प्रशिक्षित पथ-प्रदर्शकों की सहायता से वे खनिजों और बहुमूल्य रत्नों के विशाल संग्रहों, अमेरिकी रेड इण्डियनों के जीवन और कला विषयक प्रदर्शन-सामग्रियों, प्राचीन जीव-जन्तुओं के अवशेषों, तथा विश्व के कोने-कोने से संग्रहीत ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक महत्व की वस्तुओं का अवलोकन करते हैं। स्मिथसोनियम संस्थान

[शेषांश पृष्ठ २२ पर

१. अन्तरिक्ष-यात्रियों के केन्द्रापसार से नेत्र रोगियों को सहायता

आशा की जाती है कि चिकित्सा के क्षेत्र में केन्द्रापसारों (सेण्ट्रीफ्यूजेज) के कुछ आश्चर्यजनक उपयोग सम्भव होंगे। केन्द्रापसारों का प्रयोग सामान्यतः अन्तरिक्षीय उड़ान की स्थितियों का अध्ययन करने में कृत्रिम गुरुत्वाकर्षण उत्पन्न करने के लिए विस्तृत रूप से होता है।

ऐसा समय आ सकता है, जब ऐसे रोगियों को, जिनकी आँख के मूर्तिपट (रेटिना) पृथक् हो गये हों, केन्द्रापसारों पर उसी प्रकार चक्कर कटाया जायेगा, जिस प्रकार परीक्षण और प्रशिक्षण के समय अन्तरिक्ष-यात्रियों को उन पर चक्कर काटना पड़ता है। केन्द्रापसारों के इस सम्भाव्य उपयोग के सम्बन्ध में किये गये प्रयोगों के अन्तर्गत, अमेरिकी वैज्ञानिकों ने मनुष्य की आँख की पुतली का एक ६ इंच व्यास वाला नमूना तैयार किया है। वे उसे राष्ट्रीय उड्डयन एवं अन्तरिक्ष प्रशासन (नैसा) के मोफेट फील्ड, माउण्ट व्यू (कैलिफोर्निया), स्थित एम्स अनुसन्धान केन्द्र के एक केन्द्रापसार पर चढ़ा कर चक्कर कटा रहे हैं।

वैज्ञानिक गण इस बात का पता लगाने का प्रयत्न कर रहे हैं कि केन्द्रापसार से किसी स्थान-च्युत मूर्तिपट के विकार को अधिक शीघ्रता के साथ दूर करने में सहायता मिल सकती है या नहीं। विकार का निवारण इसलिए सम्भव होगा कि कृत्रिम गुरुत्वाकर्षण और स्पन्दन की शक्ति पृथक् हो गये मूर्तिपट को ढकेल कर आँख की पुतली के पीछे स्थित उसके सही और सामान्य स्थान पर पहुँचा देंगी।

आँख का मूर्तिपट स्नायुओं का एक हल्का और संवेदनशील जाल होता है, जिस पर दृश्यमान चित्र निर्मित होता है। यह उस दृक्-स्नायु से सम्बद्ध होता है, जो चित्र को मस्तिष्क तक पहुँचाती है। आँख का मूर्तिपट बीमारी के कारण अथवा कड़े धक्के के फलस्वरूप पृथक् या विकारग्रस्त हो सकता है।

पृथक हो चुके मूर्तिपट के उपचार की एक मान्य विधि के अन्तर्गत रोगी को निश्चेष्ट लिटाये रखा जाता है और उसे तनिक भी हिलने-डुलने नहीं दिया जाता। कई दिनों तक इस स्थिति में रखने के बाद, मूर्तिपट सामान्य गुरुत्वाकर्षण से खिंच कर अपने-आप अपनी असली जगह पर पहुँच जाता है। किन्तु ऐसे अवसर बहुत ही कम आते हैं जब अकेले सामान्य गुरुत्वाकर्षण ही मूर्तिपट को उसके स्थान पर बैठाने के लिए पर्याप्त हो। अधिकांश मामलों में उसे बैठाने के लिए शल्योपचार की आवश्यकता पड़ती है।

अब तक के प्रयोगों से पता चलता है कि केन्द्रापसार द्वारा उत्पन्न अधिक गुरुत्वाकर्षण शक्ति उस स्थान पर सफल हो सकती है, जहाँ बिस्तरे पर चुपचाप लेटे रहने की अवस्था और सामान्य गुरुत्वाकर्षण शक्ति संयुक्त रूप में भी असफल हों।

प्रयोगों के अन्तर्गत प्रयुक्त आँख की कृत्रिम पुतली का पृथक्कृत मूर्तिपट भी कई दिनों तक पूर्णतया स्थिर रखे जाने पर अपने-आप स्थान पर वापिस जा कर बैठ जाता है। किन्तु जब उसे दो 'जी' की (सामान्य गुरुत्वाकर्षण की दूनी) शक्ति से किसी केन्द्रापसार पर चक्कर कटाया जाता है, तो वह केवल २० मिनट में ही अपने स्थान पर जा कर बैठ जाता है।

पुतली के नमूने को उछालने या स्पन्दित करने से भी पृथक हुए मूर्तिपट को शीघ्रता से बैठाने में सफलता मिली है। ऐसा प्रतीत होता है कि यदि तीनों प्रकार की गतियों (चक्कर काटने, उछालने और स्पन्दित होने) को संयुक्त कर दिया जाये, तो उससे भी एक सम्भावना-पूर्ण विधि विकसित हो सकती है। यह खोज स्टैनफोर्ड विश्वविद्यालय, स्टैनफोर्ड (कैलिफोर्निया), में चिकित्सकों और इंजिनियरों की एक टोली द्वारा की जा रही है, जिसका निर्देशन प्रोफेसर मैक्स ऐनलिकर, जो एक उड्डयन-चिकित्सक हैं और डॉ० डोनाल्ड हायाशी, जो एक नेत्र-वैज्ञानिक हैं, संयुक्त रूप से कर रहे हैं।

उन्होंने प्रयोग के लिए आँख की पुतली का जो नमूना तैयार किया है, वह प्लास्टिक का एक गोला है, जिसमें उसी प्रकार के द्रव पदार्थ भरे हैं, जैसे मनुष्य की पुतली में पाये जाते हैं। मूर्तिपट का नमूना रबर के तन्तु-जाल से तैयार किया गया है। वैज्ञानिकों की योजना विभिन्न लोचशीलता वाली प्लास्टिक की पुतलियों पर, जो भिन्न-भिन्न आयु-वर्गों के मनुष्यों की आँख की पुतलियों का प्रतिनिधित्व करेंगी, इस विधि का परीक्षण करने की है। यदि यह प्रयोग सफल रहा, तो मानव रोगियों पर इस विधि का प्रयोग करने से पूर्व इसका परीक्षण पशुओं की आँखों के चित्रपटों को बैठाने के लिए किया जायेगा।

२. चन्द्रमा सम्बन्धी सर्वथा सही जानकारी

यद्यपि किसी अंतरिक्ष-यात्री को चन्द्रमा पर पहुँचाने से पहले, अभी उस दिशा में कई वर्ष और तैयारी करने की आवश्यकता होगी, फिर भी हाल में अमेरिकी वैज्ञानिकों ने चन्द्रमा सम्बन्धी अपनी जानकारी की शुद्धता में आश्चर्यजनक मात्रा तक वृद्धि की है। चन्द्रमा की सतह से राडार-लहरों को उछाल कर, और उस समय की लम्बाई का माप करके, जो इन लहरों के पृथ्वी पर वापिस आने में लगता है, वैज्ञानिकों ने चन्द्रमा और पृथ्वी के बीच की दूरी को १ मील के ७।१० अंश तक की शुद्धता के साथ निर्धारित किया है।

ये माप, जो कई महीनों के दौरान लिये गये हैं, यह प्रदर्शित करते हैं कि पृथ्वी से चन्द्रमा तक की औसत दूरी २,३८,८६६·१६ मील है। पृथ्वी की परिक्रमा करते समय चन्द्रमा की स्थिति के अनुसार दोनों के बीच की दूरी कम से कम २,२१,४६३ मील और अधिक से अधिक २,५१,३१० मील तक होती है। यह माप यू० एस० नेवल ऑब्जर्वेटरी के डा० वी० एस० यापली, डा० एच० नोएल्स, डा० ए० शापिरो तथा डा० के० जी० केग ने और येल विश्वविद्यालय की वेधशाला के डा० कर्क वूवरने किया है। इन दूरियों के आधार पर यह हिसाब लगाया है कि विषुवत रेखा पर पृथ्वी की त्रिज्या ३,९६३·१९३ मील है।

इस बीच यू० एस० जियोलौजिकल सर्वे के वैज्ञानिकों ने चन्द्रमा के एक छोटे भाग की सतह की बनावट का एक विस्तृत परिधि-मानचित्र तैयार करने की एक नई विधि विकसित की है। उन्होंने इसके लिए रेंजर-७ द्वारा अगस्त १९६४ में चन्द्रमा की सतह से टकराने से ठीक पूर्व खींचे गए अंतिम चित्र का प्रयोग किया। यह चित्र अमेरिकी अंतरिक्ष यान के चन्द्र-तल से टकराने से केवल ०·१७६ सेकण्ड पूर्व १,००० फुट की ऊँचाई से खींचा गया था।

चन्द्र तल की बनावट उस पर स्थित पहाड़ों आदि की ऊँचाई आदि का निर्धारण एक विद्युदाणविक यंत्र द्वारा किया गया, जिसने फोटोग्राफी के लिए प्रयुक्त द्रव-पदार्थ के घनत्व को नापा। सही-सही अनुपातों को प्राप्त करने के लिए मान चित्र-निर्माताओं ने उस चित्र को थोड़ा झुका दिया, क्योंकि जिस समय यह चित्र खींचा गया था उस समय अंतरिक्ष यान के कैमरे चन्द्रमा की सतह से एक विशेष कोण पर स्थित थे। इन सभी कठिनाइयों के बावजूद वैज्ञानिक चन्द्रमा की सतह के एक ९५ फुट लम्बे और ८० फुट चौड़े क्षेत्र का सही-सही मानचित्र तैयार करने में समर्थ रहे।

३. ताप से विद्युत का उत्पादन

अमेरिका में टर्बाइनों या सचल हिस्सों का प्रयोग किये बिना ही ताप को सीधे विद्युत् में परिवर्तित करने

के सम्बन्ध में हो रहे अनुसन्धान ने उत्साहवर्द्धक प्रगति की है, यद्यपि व्यावारिक स्तर पर बिजली तैयार करने के लिये इस विधि का प्रयोग करने के पहले अभी कितनी ही अन्य-बड़ी बड़ी बाधाएँ दूर करनी शेष हैं। शिकागो के निकट स्थित अरगोन नैशनल लैबोरेटरी के वैज्ञानिकों के हाल में सूचित किया कि वे प्रयोगशाला में नमूने के तौर पर इस तरह की कई प्रणालियाँ विकसित कर रहे हैं।

इनमें से एक प्रणाली जिसका नाम हाइड्राइड सेल है, विद्युत्-उत्पादन के लिए एक रसायनिक विधि का प्रयोग करती है। इसके अन्तर्गत द्रव लिथियम धातु हाइड्रोजन से प्रतिक्रिया करके लिथियम हाइड्राइड का निर्माण करती है। इस प्रतिक्रिया में बिजलीउत्पन्न होजाती है। हाइड्राइड सेल में भी बैटरी की तरह ही पुनः विद्युत संचारित करनी पड़ती है। यह कार्य लिथियम हाइड्राइड को गर्म करके किया जाता है, जिससे वह पुनः लिथियम और हाइड्रोजन में विभाजित हो जाता है। इस प्रकार सेल पुनः अपने भौतिक रूप में आ जाता है, जो लिथियम हाइड्रोजन प्रतिक्रिया को दुहरा कर फिर बिजली उत्पन्न कर सकता है।

इसी प्रकार की एक अन्य विधि के अन्तर्गत सोडियम धातु बिस्मय धातु से क्रिया करके उस अवस्था में बिजली उत्पन्न कर देती है, जब दोनों घुल कर एक हो जाती हैं। इस प्रणाली को पुनः विद्युत-संचारित करने के लिए घोल को गर्म करके सोडियम धातु की भाप में परिणत कर देते हैं। ऐसा होने पर वह प्रणाली ऐसी अवस्था में पहुँच जाती है, जिसमें विद्युत-उत्पादन की प्रक्रिया दुहराई जा सकती है।

अरगोन लैबोरेटरी में किये गये एक परीक्षण के अन्तर्गत, सोडियम-विस्मथ किस्म की एक इकाई को ७५ दिनों से अधिक समय तक चालू रखा गया, जिसके अंतर्गत लगभग ५० पुनः विद्युत-संचारण चक्र आये। परीक्षण की अवधि में इस इकाई की क्रिया में कोई विकार उत्पन्न नहीं हुआ। आशा की जाती है कि बिना कल-पुर्जों वाली ऐसी प्रत्यक्ष विद्युत उत्पादक प्रणालियाँ टिकाऊ होंगी, तथा उनके रख-रखाव की अधिक आवश्यकता नहीं पड़ेगी। उनका आकार छोटा और भार बहुत कम होगा। वे परम्परागत टर्बाइन पावर प्रणाली की अपेक्षा अधिक विद्युत उत्पन्न करेंगी।

४. ग्रहों के वायुमण्डल का अध्ययन

पृथ्वी बहुत घनी है। रेगिस्तानों, घास के मैदानों, खेतों, समुद्रों इत्यादि के बारे में यह बात समान रूप से लागू होती है। पृथ्वी के वायुमण्डल का निर्माण करने वाले कण समूह एक दूसरे से इतने अधिक सटे हुए हैं कि समुद्र सतह पर एक इंच की $\frac{४}{१०}$ लाखवीं दूरी तय करते ही परस्पर टकरा जाते हैं। (यह दूरी मनुष्य के बाल की चौड़ाई का $\frac{१}{१००}$ हिस्से के बराबर होती है)।

अमेरिका के आन्तरिक्ष-वैज्ञानिक उस दिन की उत्सुकतापूर्वक प्रतीक्षा कर रहे हैं—और शायद यह दिन अधिक दूर भी नहीं है—जब वे अन्य ग्रहों पर मानव रहित अन्तरिक्षयान उतार सकेंगे। उन्हें यह जानकारी प्राप्त करना आवश्यक है कि इन अन्तरिक्षयानों को वहाँ किस प्रकार का वायुमण्डल मिलेगा।

अन्य ग्रहों पर जिस प्रकार के वायुमण्डल मिलने की संभावना है उसका कृत्रिम रूप से निर्माण करने के लिए जनरल डाइमनमिक्स कार्पोरेशन, सैन डियागो कैलिफोर्निया के वैज्ञानिकों ने एक 'शौक ट्यूब' का निर्माण किया है, जिसमें वायुमण्डल को इतना विरल किया जा सकता है कि उसमें ऐसे वायुमण्डल का कृत्रिम रूप से निर्माण हो जाता है, जिसमें कई मील की यात्रा करने की प्रकिया में वायु के कण समूह केवल एक बार आपस में टकराते हैं। इस ट्यूब का उपभोग क्लाज सुल्जमैन, रॉय वार्टेल और डा० गारमाइन फैराइज जैसे वैज्ञानिकों द्वारा प्रयोगों के लिए किया गया है। यह ५५ इंच लम्बा है तथा इसका व्यास २४ इंच है। यद्यपि इसका भीतरी भाग पॉलिश किए हुए निष्कलंक इस्पात से निर्मित है, लेकिन खोलने पर यह ट्यूब नमी को सोखते की तरह सोख लेता है। इसलिए

प्रयोग करने के पूर्व वैज्ञानिकों को इसकी सफाई करनी पड़ती है तथा नमी को पम्प से बाहर खींचना पड़ता है।

हीलियम गैस को दबाने और फिर सहसा ही उसे उन्मुक्त कर देने पर गैस ६८०० मील प्रति घण्टे की गति से ट्यूब के अन्दर प्रवाहित होती है। इस प्रकार, वैज्ञानिक ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न करने में समर्थ हो जाते हैं जिसका सामना बहुत विरल वायुमण्डल वाले ग्रह की ओर अग्रसर अन्तरिक्ष वाहन को करना पड़ता है।

५. पृथ्वी का बढ़ता भार

पृथ्वी का भार ५ टन प्रतिदिन के हिसाब से बढ़ता जा रहा है जबकि चन्द्रमा का भार ६०० टन प्रतिदिन के हिसाब से घटता जा रहा है।

उक्त धारणा अमेरिकी वायुसेना की बेडफोर्ड (मैसाचूसेट्स) स्थित कैम्ब्रिज अनुसन्धान प्रयोगशालाओं में कार्य करने वाले वैज्ञानिकों ने व्यक्त की है। उन्होंने अपनी उक्त खोज की घोषणा अभी हाल में अन्तरिक्ष यानों द्वारा प्रदत्त सूचनाओं तथा, अमेरिकी अन्तरिक्ष-वैज्ञानिकों द्वारा प्रतिपादित नए वैज्ञानिक सिद्धान्तों तथा कुछ तर्कसंगत वैज्ञानिक मान्यताओं के आधार पर की हैं। इन वैज्ञानिकों का कथन है कि यद्यपि सामान्य मानदण्डों के अनुसार भार में होने वाले यह परिवर्तन काफी बड़े प्रतीत होते हैं परन्तु फिर भी घबराने की कोई आवश्यकता नहीं है। वास्तविकता तो यह है कि किसी एक व्यक्ति के जीवनकाल में इन परिवर्तनों का किसी को तनिक सा आभास भी नहीं हो सकता। उदाहरणार्थ, जिस गति से चन्द्रमा के भार में कमी हो रही हैं, उसके अनुसार चन्द्रमा के वर्तमान पुंज का $\frac{१}{१०}$ भाग समाप्त होने में ४ नील वर्ष लगेंगे।

कैप्टन वर्न जी० स्माली के नेतृत्व में चन्द्रमा पर उल्कापिंडों के प्रहारों की प्रचण्डता का अध्ययन करने के उपरान्त ये वैज्ञानिक उक्त निकर्ष पर पहुँचे हैं। चन्द्रमा के धरातल पर प्रहार करने वाली इन लघु उल्काओं के आघात का अध्ययन करके ही वे परिवर्तन का अनुमान लगाने में समर्थ हुए। उल्काए उन पदार्थों के छोटे बड़े टुकड़े होते हैं जो विभिन्न आकार प्रकार में अन्तरिक्ष में पाये जाते हैं। क्योंकि पृथ्वी और चन्द्रमा अपनी-अपनी कक्षाओं में तेज गति से घूमते रहते हैं, वे बड़ी शक्ति के साथ इन उल्काओं से टकरा जाते हैं। जब कोई उल्का पृथ्वी पर पहुँचती है वह आम तौर पर वायुमण्डल के साथ घर्षण से जल जाती है और उसके फलस्वरूप जो वाष्प पैदा होती हैं, वह वायुमण्डल में मिल जाती है। कभी-कभी उल्का का कोई भाग ठोस रूप में पृथ्वी से टकरा जाता है। इन दोनों रूपों में पदार्थ पृथ्वी में मिलते रहते हैं।

इसके विपरीत, जब कोई उल्का चन्द्रमा से टकराता है, तब वह ठोस बना रहता है, क्योंकि उसका प्रतिरोध करने के लिये चन्द्रमा में कोई वायुमण्डल नहीं है। इसके परिणामस्वरूप, वह चन्द्रमा की सतह की ऊपरी परतों पर टुकड़े-टुकड़े हो जाता है। चन्द्रमा की गुरुत्वाकर्षण शक्ति पृथ्वी की गुरुत्वाकर्षण शक्ति के लगभग छठे भाग के बराबर है। अतः उसमें से कुल मलवा चन्द्रमा से उछल कर अन्तरिक्ष में चला जाता है। नवीनतम जानकारी से पता चलता है कि यदि चन्द्रमा से टकराने वाले उल्का का १ टन पदार्थ चन्द्रमा पर रह जाता है तो चन्द्रमा से उछल कर ४ टन तक पदार्थ अन्तरिक्ष में फैल जाता है।

६. मानसिक रोगियों की चिकित्सा में रेडियो आवृति

अमेरिका में गम्भीर मानसिक विकार से पीड़ित ऐसे रोगियों के लिए, जिनका रोग पहले असाध्य समझा था, मस्तिष्क की शल्य-चिकित्सा की एक नई विधि विकसित हुई है, जिसे "सिंगुलोटोमी" कहते हैं। इस नई विधि के अंतर्गत, मस्तिष्क के किसी भाग का उपचार रेडियो-फ्रीक्वेंसी की विद्युतीय धारा से किया जाता है।

इस प्रकार के रोगियों का, जिनमें से कितनों ही में अपराध या आत्महत्या की प्रवृत्तियाँ पायी जाती है, शल्योपचार-प्रायः 'लोबोटोमी' विधि द्वारा होता है,

जिसके अंतर्गत मस्तिष्क के सामने वाले गोल भाग (लोब) के कुछ अंश को काट कर निकाल दिया जाता है। बहुत से रोगियों के मामले में यह विधि सफल सिद्ध होती है, किन्तु कई रोगियों को इससे मिर्गी, बुद्धि के ह्रास, उत्साह की कमी आदि जैसी बीमारियाँ उभड़ जाती है।

सामने के गोल भाग, जो विचार-प्रक्रिया को नियंत्रित करता है, और मस्तिष्क के भीतरी भाग, जो भावना को नियंत्रित करता है, के बीच स्नायुतंतुओं का एक पुंज होता है, जिसे 'सिगुलम' कहते है। ये स्नायुएं भावना और चिन्तन के केन्द्रों के बीच सन्देशों के वाहक का काम करती है। स्नायुवों पर इस प्रकार के सन्देशों का भार अत्यधिक बढ़ जाने पर उसी प्रकार की मानसिक अशान्तियाँ उत्पन्न हो सकती हैं, जैसी मानसिक विकार से ग्रस्त रोगियों में प्रायः पायी जाती है। अतः इन स्नायु-तन्तुओं में से कुछ को काट कर निकाल देने से सन्देशों के आदान-प्रदान की दर घट जाती है और विकार या मानसिक अशान्ति कम हो जाती है।

नयी शल्य चिकित्सा के अंगर्गत, मस्तिष्क के सामने वाले गोल भाग के ऊपर उसे बालों के नीचे की खोपड़ी में दो छिद्र बना दिये जाते हैं। कसीदे के लिए प्रयुक्त सुई के आकार को दो सुइयाँ छिद्रों के रास्ते मस्तिष्क से प्रविष्ट कर दी जाती हैं। उन्हें एक्स-रे की सहायता से सही स्थिति में बनाये रखा जाता है। उसके बाद, लगभग १ मिनट तक सुइयों द्वारा रेडियो लहरियों की एक करेण्ट प्रेषित की जाती है।

इससे कुछ अंश जल उठते हैं। इस जलन से कुछ स्नायविक तंतु, मस्तिष्क के अन्त क्षेत्रों को क्षति पहुँचाये बिना ही, स्थायी रूप से विनष्ट हो जाते हैं। यदि शल्य-चिकित्सक अपने चाकू से यह कार्य करने का प्रयत्न करे, तो निकटवर्त्ती क्षेत्रों को कुछ न कुछ क्षति अनिवार्य रूप से पहुँच कर रहेगी। इस विधि को क्रैम्ब्रिज, मैसाचूसेट्स, के हारवर्ड यूनिवर्सिटी मेडिकल स्कूल के डा० एच० टामस वैलैण्टाइन, जूनियर, ने विकसित किया। उन्होंने बताया कि जिन ११ रोगियों पर इस विधि का परीक्षण किया गया, उनमें से ८ की दशा बहुत सुधर गयी, जबकि शेष तीनों का उपचार अभी और करना पड़ेगा।

[पृष्ठ १७ का शेषांश]

की प्रदर्शन सामग्रियाँ तथा सुविधाएँ दर्शकों में प्रेरणा का संचार करती हैं और वे ज्ञान की नवीन दिशाओं की खोज के लिए प्रेरित हो जाते हैं।

स्मिथसोनियन संस्थान के विविध एवं आश्चर्यजनक संग्रहालयों तथा अनुसन्धान-सुविधाओं का अवलोकन करने के लिए वहाँ आने वाले हजारों दर्शकों में बहुत से भारतीय भी होते हैं। संस्थान के प्रांगण में अनेक ऐसी सामग्रियाँ मिलेंगी, जो भारतीयों के लिए विशेष रूप से रुचिकर प्रतीत होंगी। इस प्रकार की सामग्रियों में भारत के प्राचीन वाद्य यन्त्र, दिल्ली के लौह स्तम्भ का प्रतिरूप, भोज पत्र पर लिखी गयी पाण्डुलिपियाँ, आभूषण, हाथी दाँत और चाँदी के जड़ाऊ काम, बहुमूल्य रत्न, हस्तशिल्प की वस्तुएँ तथा साड़ियाँ सम्मिलित हैं।
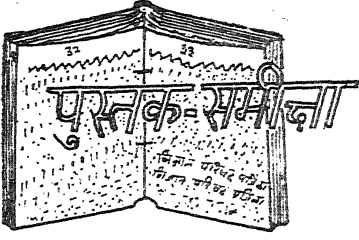
अकार्बनिक रसायन

हीरालाल निगम तथा डॉ० मनहरन नाथ श्रीवास्तव। प्रकाशक : पुस्तक भवन रीवाँ
पृष्ठ संख्या ४४५। मूल्य ७.५० रु०। प्रथम संस्करण, जुलाई १९६५।

यह पुस्तक मध्यप्रदेश की ग्यारहवीं०, बी० एस्-सी (प्रथम वर्ष) तथा प्रिप्रोफेशनल कक्षाओं के पाठ्यक्रम के आधार पर लिखी गई है। यह पुस्तक तीन खण्डों में विभाजित की गई है। प्रथम खण्ड में ७ अध्यायों के अन्तर्गत अकार्बनिक रसायन के सामान्य सिद्धान्तों का विवेचन है। लेखकों का विश्वास है कि सैद्धान्तिक पृष्ठभूमि में वर्णनात्मक सामग्री को समझने एवं स्मरण रखने में सुगमता होती है।

द्वितीय खण्ड भी ७ अध्यायों में हैं जिनमें क्रमश: हाइड्रोजन, आक्सिजन, ओजोन, पानी, हाइड्रोजन परॉक्साइड, वायुमण्डल तथा अक्रिय गैसों का वर्णन किया गया है। इस खण्ड के अन्तर्गत अधातुयें ही रखी गई हैं।

तृतीय खण्ड में ८ अध्याय हैं जिनमें धातुओं का वर्णन है। इनमें प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय समूह के धातु तत्व ही सम्मिलित किये गये हैं। प्रत्येक अध्याय के आरम्भ में तत्वों का आवर्त सारणी में स्थान, उनका इलेक्ट्रान विन्यास, प्राप्ति स्थान, प्राप्त करने की विधियाँ, धातुकर्म, गुणधर्म तथा उनके प्रमुख यौगिकों के गुणधर्मों एवं उपयोगों का वर्णन सरल किन्तु सुबोध शैली में प्रस्तुत किया गया है।

सम्पूर्ण पुस्तक में लगभग एक सौ चित्र हैं तथा ३२ सारणियाँ हैं। चित्र अत्यन्त साफ-सुथरे हैं। लेखकों ने इस पुस्तक के लेखन में भारत सरकार द्वारा मान्य पारिभाषिक शब्दावली का व्यवहार किया है।

परीक्षार्थियों की सुविधा के लिये प्रत्येक अध्याय के अन्त में अनेक प्रश्न दे दिये हैं जिनमें से अधिकांश परीक्षाओं में पूछे जा चुके हैं।

सभी दृष्टियों से प्रस्तुत पुस्तक ज्ञानवर्द्धक एवं परीक्षार्थियों के लिये उपयोगी है। इसमें कुछ सामग्री ऐसी भी है जो न केवल सामान्य स्तर के विद्यार्थियों की जिज्ञासा का शमन करती है वरन् उन प्रतिभावान छात्रों के लिये महत्वपूर्ण है जो किसी विशिष्ट विषय पर अतिरिक्त सामग्री की खोज करते हैं। ऐसी सामग्री को पुस्तक में नीली स्याही से छापा गया है।

आशा है यह पुस्तक अध्यापकों तथा छात्रों द्वारा समान रूप से समादरित होगी।

सार संकलन

भारत में वैज्ञानिक समितियाँ

मूललेखक—ए० रहमान, एन० सेन तथा एन० आर० राजगोपाल

अनुवादक-जगदीशसिंह चौहान

विज्ञान के समाजशास्त्रीय नवीन अध्ययन ने विज्ञान तथा वैज्ञानिकों के संगठन में भारी परिवर्तन का सुझाव दिया है। इसके अनुसार विज्ञान जो पहले एक सीमित प्रणाली माना जाया था, वह अब वैसा नहीं है। अब विज्ञान समाज का एक अंग है और इस प्रकार अन्य सामाजिक प्रक्रमों की भाँति ही इसमें भी प्रक्रम होते हैं। इस परिवर्तन से इसके मूल्यों में भी परिवर्तन हुआ है। जिस समय विज्ञान एक सीमित समुदाय समझा जाता था, इसका मूल्य वैज्ञानिकों की वृत्यात्मक मान्यताओं तक ही केन्द्रित था। समितियों ने इस प्रणाली में प्रमुख कार्य किया है, उनके प्रवन्ध से शोधपत्र प्रकाशित किये गये,, और अन्य अप्रकाशित रिपोर्टों के साथ इन शोधपत्रों की वैज्ञानिकों की औपचारिक तथा अनौपचारिक बैठकों में विवेचना की गई। सह-वैज्ञानिकों के कार्यों की आलोचना अथवा गुण-ग्राहकता ने वैज्ञानिकों को ख्याति प्रदान की और इसे मान्यता दिलवाई। यह प्रक्रम सुझाव देता है कि विज्ञान की मान्यतायें मूलत: वृत्यात्मक मान्यताओं के पर्याप्त तथा सतत् बँटवारे की आवश्यकताओं में निहित हैं न कि विज्ञान के मूल्य तथा उसके लक्ष्य के परस्पर उपयोगितावादी संबंध में। विज्ञान की प्रगति के साथ ही इसकी बड़े पैमाने पर क्रियाशीलता ने वैज्ञानिक आलोचना को यथेष्ट रूप से कम कर दिया है और फलस्वरूप वृत्यात्मक मान्यता की अब वह प्रतिष्ठा नहीं है जो पहले थी। इसके साथ-साथ धन, आदर तथा शक्ति ये वृत्यात्मक मान्यता की अपेक्षा अधिक प्रतिष्ठा पा रहे हैं। अनौपचारिक वातावरण के स्थान पर भी अधिक व्यवसाय-जैसी विधियाँ आ गई हैं। वैज्ञानिकों की बड़ी संख्या के साथ ही अधिकाधिक विशेषज्ञता ने पुराने समय के वैज्ञानिक समुदायों को भी तोड़ दिया है। इन परिवर्तनों का वैज्ञानिक समितियों के कार्यों पर क्या प्रभाव पड़ा? क्या समितियाँ पुरानी समितियों की भाँति बढ़ रही हैं और क्या उनमें भी नई आवश्यकताओं तथा प्रवृत्तियों के साथ-साथ परिवर्तन हुए हैं? विज्ञान की प्रगति तथा विकास के लिये ये प्रश्न अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं।

वैज्ञानिक समितियों के समक्ष अनेक कार्य हैं जैसे, ज्ञान के एक ही क्षेत्र में वैज्ञानिकों को एकत्र करना, सम्मेलनों, परिसंवादों के द्वारा तथा पत्रिकायें छापकर, एक ही शाखा अथवा विभिन्न शाखाओं में विज्ञान का आदान-प्रदान करने का अवसर प्रदान करना, विज्ञान की समस्याओं पर वैज्ञानिकों द्वारा विचार-विमर्श करने का सुयोग लाना, तथा विज्ञान एवं समाज सम्बन्धी भावनाओं को व्यक्त करने के लिये मंच तैयार करना। इनका कार्य विज्ञान को रोचक बनाना और विज्ञान को योगदान देने के उपलक्ष्य में उनके सदस्यों को उपाधियाँ प्रदान करना भी है।

अभी तक इसका अध्यन नहीं किया गया है कि उपर्युक्त कार्य वैज्ञानिक समितियों के ही हैं और कहाँ

तक देशीय तथा अन्तर्देशीय समितियाँ इन कार्यों तथा इनसे सम्बन्धित अन्य कार्यों को पूरा कर रहीं हैं ? क्या इन समितियों को कार्य में परिवर्तन करने की आवश्यकता है ? यदि है तो किस दिशा में ? उन्हें क्या-क्या कार्य करने चाहिए और किस प्रकार अपना संगठन करना चाहिये ? क्या सम्भव सामाजिक कार्यों तथा विशेषज्ञता की आवश्यकता के अनुसार संगठन में विभिन्न स्तर हो सकते हैं ?

विज्ञान की प्रगति में ये प्रश्न अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं और अब वह समय आ गया है जब हमें ऐसे प्रश्न करने और उनका उत्तर पाने के लिये विशेष अध्यन करना चाहिये ।

इस रिक्तता को पूरित करने के लिये सर्वेक्षण किया गया । इस सर्वेक्षण का लक्ष्य समितियों की आर्थिक स्थिति के अध्ययन की अपेक्षा न्यास एकत्रित करने तथा समितियों के ऐतिहासिक विकास तथा उनकी गतिविधियों की जानकारी प्राप्त करने तक ही सीमित था । इस उद्देश्य से एक विस्तृत प्रश्नावली १५० समितियों के पास भेजी गई जिनमें से ११५ ने उत्तर दिया । समितियों की निदेशिका भी बनाई गई । समितियों को भौतिक विज्ञान, जीव-विज्ञान चिकित्सा-विज्ञान इंजीनियरी तथा टैक्नोलौजी एवं सामान्य समितियों में वर्गीकृत किया गया । कुछ महत्वपूर्ण प्रेक्षण दिये जा रहे हैं ।

(क) **ऐतिहासिक विकास**—बीसवीं शती के प्रारम्भ काल में भारत में केवल ४ वैज्ञानिक समितियाँ थीं, जिनके नाम थे,—**एशियाटिक सोसाइटी (१७८४), रायल एग्रीकल्चरल हार्टीकल्चरल सोसाइटी आफ इण्डिया (१८६०) इण्डियन इंजीनियरिंग एसोसियेशन (१८९५) तथा बाम्बे. टेक्स्टाइल एण्ड इंजीनियरिंग एसोसियेशन (१९००)** ।

प्रथम विश्वयुद्ध समाप्त होने तक समितियों की संख्या बढ़कर १६ हो गई, जिनमें से १ भौतिक, ३ चिकित्सा, २ जीव-विज्ञानीय, ६ इंजीनियरी तथा टैक्नोलौजी तथा चार सामान्य समितियाँ थीं । यह रोचक बात है कि इस अवधि में यद्यपि इंजीनियरी तथा टैक्नोलौजी बहुत विकसित नहीं हुई थी परन्तु फिर भी इन्हीं की समितियों की संख्या सबसे अधिक थी । इनमें से अधिक समितियाँ शैक्षिक न होकर व्यवसायात्मक थीं ।

इस अवधि में जो प्रमुख समितियां बनीं उनमें एसोशियेशन फॉर दि कल्टीवेशन ऑफ साइंस (१९०९), इण्डियन मेथिमेटिकल सोसाइटी (१९०७), इण्डियन साइंस कांग्रेस एसोसियेशन (१९१४), इण्डियन बोटेनीकल सोसायटी (१९२०) तथा इंस्टीट्यूट आफ इंजीनियर्स (१९२०) प्रमुख थीं ।

इन समितियों ने विशेषज्ञों को अपने क्षेत्र की शैक्षिक समस्याओं पर विचार-विमर्श करने के लिये भूमिका प्रदान की और दूसरी शाखाओं के वैज्ञानिकों को मिलने तथा अन्य क्षेत्रों में हो रहे विकासों की विवेचना करने तथा उनसे ज्ञान प्राप्त करने का अवसर भी दिया । वस्तुतः विशिष्ट क्षेत्रों में विशेषज्ञता न होने के काल में, ऐसी सामान्य विज्ञान की समितियों ने एक विशिष्ट कार्य किया है ।

१९४० के अन्त तक समितियों की संख्या ३८ हो गई । दोनों विश्व युद्धों के बीच में, अधिक विशिष्ट-समितियाँ बनाई गईं । इस अवधि में ४ भौतिक, ७ चिकित्सा सम्बन्धी, ५ जीव-वैज्ञानिक, १० इन्जीनियरी तथा टैक्लौजी और ४ सामान्य समितियाँ थीं । इस समय तक अनेकों अवृयात्मक समितियाँ, वैज्ञानिकों के मिलने तथा विचार-विमर्श करने के लिये मंच प्रदान करने के अतिरिक्त सक्रिय शोधकार्य किया करती थीं

इस अवधि में स्थापित, प्रमुख समितियों में, इंस्टीट्यूशन ऑफ केमिस्ट्स (१९२८-२९), इण्डियन एकेडेमी ऑफ साइंसेज (१९३४), नेशनल इंस्टीट्यूट ऑफ साइंसेज ऑफ इण्डिया (१९३५), इण्डियन फिजीकल सोसायटी (१९३६) आदि मुख्य हैं ।

१९४१-५० की दस वर्ष की अवधि में समितियों की संख्या लगभग दुगनी (७१) हो गई, सबसे अधिक सापेक्ष वृद्धि भौतिक विज्ञान वर्ग में हुई । १९४० में इनकी संख्या ४ थी और १९५० में ११ हो गई ।

चिकित्सा समितियों की संख्या दुगुनी से अधिक हो गई—१९४० में ७ तथा १९५० में १५। जीव-वैज्ञानिक समितियों की संख्या १५ हो गई और १९५० के अन्त तक इंजिनियरी तथा टैक्नोलौजी की समितियों की संख्या १० तक हो गई।

स्वतंत्रता प्राप्ति से भारत में वैज्ञानिक समितियों की वृद्धि में स्फुरण हुआ। इसके आगे के दस वर्षों में समितियों की संख्या में इतनी ही वृद्धि और हुई। सर्वेक्षण के अनुसार ३३ समितियाँ १९५१-१९६० के बीच बनीं। १९६० के अन्त तक १७ भौतिक, २३ चिकित्सा २६ जीव-वैज्ञानिक, २६ इंजिनियरी तथा १२ सामान्य समितियाँ थीं। यह विशेष बात है कि देश में विशिष्टीकरण बढ़ने के साथ-साथ सामान्य समितियों के अनुपात में कमी होती गई। दूसरी रोचक बात यह है कि १९५१ से ६० के बीच बनने वाली समितियाँ, इनके पूर्व बनी हुई समितियों के प्रतिकूल वैज्ञानिक शोध तथा इसका समर्थन नहीं करती थीं वरन् केवल विशेषज्ञों को मिलने, विचार-विमर्श करने तथा पत्रिकायें प्रकाशित करने, अथवा सदस्यों की वृत्यात्मक रुचि की देखभाल करने की सुविधा प्रदान करती थीं।

१९६१ से आगे समितियों में वृद्धि की गति मन्द पड़ गई है। १९६१ से ६३ तक केवल ६ समितियाँ और बनीं।

समितियों की एकाग्रता तथा शाखाएँ

बड़े-बड़े नगरों (कलकत्ता, नई दिल्ली, बम्बई, बंगलौर तथा मद्रास) में समितियों की एकाग्रता अधिक है। १५० समितियों में से ११८ इन नगरों में स्थित हैं। वृत्यात्मक समितियों (चिकित्सा, इंजिनियरी तथा टैक्नोलौजी के क्षेत्र में) में अधिकांश में शाखाओं की संख्या बहुत अधिक है। परन्तु अन्य समितियों के लिये यह सत्य नहीं है। भौतिक विज्ञान की १८ समितियों में से १४ में कोई शाखा नहीं है और शेष ४ की १ से ५ तक शाखाएँ हैं; जीव-विज्ञान की २८ समितियों में से २२ में कोई शाखा नहीं है, शेष में ३ में १ से ५ तक शाखाएँ हैं, १ में ६ से १० तक तथा २ में १० से अधिक शाखाएँ हैं; सामान्य विज्ञान की १५ समितियों में से १२ में कोई शाखा नहीं है और ३ में १ से ५ तक शाखाएँ हैं। चिकित्सा, इंजिनियरी तथा टैक्नोलौजी की समितियों में जो विशेषतः व्यावसायिक प्रकृति की हैं, कई शाखाएँ हैं। उदाहरणार्थ, चिकित्सा की २६ समितियों में १२ में कोई शाखाएँ नहीं हैं, ६ में १ से ५ तक, ४ में ६ से १० तक, तथा ४ में १० से अधिक शाखाएँ हैं। इंजिनियरी तथा टैक्नोलौजी की २८ समितियों में से, ९ में कोई शाखा नहीं है, ११ में १ से ५ तक शाखाएँ हैं, ३ में ६ से १० तक तथा ५ में १० से अधिक शाखाएँ हैं।

समितियों की सदस्यता

यह महत्वपूर्ण है कि १९६२ में शैक्षिक समितियों की अपेक्षा वृत्यात्मक समितियों की सदस्यता अधिक थी। भौतिक विज्ञान की १८ समितियों में से ७ में १०० से कम सदस्य थे, ८ में १०० तथा ४९९ के बीच तथा ३ में ५०० से अधिक सदस्य थे। किसी भी समिति में एक हजार से अधिक सदस्य नहीं थे। चिकित्सा की २५ समितियों में से ४ में १०० सदस्य, १४ में १०० से ४९९ के बीच, ४ में ५०० से ९९९ के बीच तथा ३ में १ हजार से ४ हजार तक सदस्य थे।

जीव-वैज्ञानिक समितियों में साधारणतः भौतिक विज्ञान की समितियों से अधिक सदस्य हैं। २७ समितियों (जिनके न्यास प्राप्त थे) में से ६ में १०० से कम, १६ में १०० तथा ४९९ के बीच, ३ में ५०० तथा ९९९ के बीच तथा २ में १ हजार से ५ हजार तक सदस्य थे।

यह देखा गया कि इंजीनियरी तथा टैक्नोलौजी की समितियों की संख्या अधिक है, विशेषतः उनकी वृत्यात्मक प्रकृति के कारण। केवल इंस्टीट्यूट ऑफ इंजिनियरिंग ही एक ऐसी समिति है जिसके सदस्यों की संख्या ५ हजार से अधिक है। वस्तुतः १९६२ में इसमें ४२ हजार से अधिक सदस्य थे। इस समूह की २८ समितियों में से ४ में १०० से कम, १० में १०० तथा ४९९ के बीच, ७ में ५०० तथा ९९९ के बीच, ६ में १०००

तथा ४९९९ के बीच तथा १ में ५००० से अधिक सदस्य हैं।

सामान्य समितियों की सदस्यता साधारणत: १०० से ५०० तक ही सीमित है। १९६२ तक १६ में से १३ समितियों में १०० तथा ४९९ के बीच सदस्य थे, २ में ५०० तथा ९९९ के बीच और १ में (इंडियन साइंस कांग्रेस एसोसियेशन) कुल संख्या ४६८३ है।

समितियों के सदस्य बनने का ढंग

साधारणत: चुनाव द्वारा तथा चन्दा देकर सदस्य बनाये जाते हैं। ११५ समितियों में से ४८ में सदस्यता शुल्क देने से, ५२ में चुनाव के द्वारा तथा शुल्क देकर, ४ में केवल चुनाव से और इंजिनियरी की ८ भौतिक विज्ञान की २ तथा चिकित्सा की १, समितियों में सदस्यता, इन समितियों द्वारा सम्पादित परीक्षाओं को उत्तीर्ण करने पर प्राप्त होती है।

११५ समितियों में से केवल १६ ही परीक्षायें सम्पादित करती हैं; इनमें से १० इंजिनियरी तथा टैक्नोलौजी की समितियाँ है, २ भौतिक विज्ञान १ चिकित्सा, २ जीव-वैज्ञानिक तथा १ सामान्य विज्ञान की समिति है।

समितियों के कार्य कलाप

जो समितियाँ परीक्षा लेती हैं वे पुस्तकालय की सुविधायें भी देती हैं। लगभग ५० प्रतिशत समितियाँ किसी न किसी प्रकार के सम्मान स्वर्ण पदक, नकद पारितोषक अथवा सदस्यों को समिति की सभासदता भी देती हैं।

लगभग ८८% समितियाँ एक या अधिक पत्रिकायें प्रकाशित करती हैं। ११५ समितियों में से १०१ समितियाँ कुल मिलाकर १२३ पत्रिकायें प्रकाशित करती हैं जिनका वर्णन निम्न प्रकार है :—

भौतिक विज्ञान की १८ समितियों में से १५ पत्रिकाएँ प्रकाशित करती हैं और ये कुल मिलाकर १९ पत्रिकाएँ प्रकाशित करती हैं, चिकित्सा की २६ समितियों में से २१ समितियाँ कुल मिलाकर २४ पत्रिकायें प्रकाशित करती हैं, जीव-विज्ञान की २८ समितियों में से २६ समितियाँ पत्रिकाएँ प्रकाशित करती हैं जो कुल मिलाकर ३२ पत्रिकाएँ निकालती हैं, इंजिनियरी तथा टैक्नोलौजी की २८ समितियो में से २६ समितियाँ कुल मिलाकर ३३ पत्रिकायें प्रकाशित करती हैं और १५ सामान्य समितियों में से १३ कुल मिलाकर १५ पत्रिकायें प्रकाशित करती हैं।

यह रोचक बात है कि ११५ समितियों में से ४९ समितियों ने गत दस वर्षों में कभी भी किसी परिसंवाद, विचार-गोष्ठी अथवा सम्मेलन का आयोजन नहीं किया। शेष ६६ समितियों, जिन्होंने उपर्युक्त बैठकें की भी, उनमें से केवल २० प्रतिशत ने इसे वार्षिक लक्षण बनाया। इनमें से कई यद्यपि वर्ष में कई बार मिलती है परन्तु इन बैठकों में समितियों का कार्यक्रम की होता है। **इससे प्रदर्शित होता है कि ये समितियाँ, विज्ञान को आगे बढ़ाने में बहुत ही सीमित कार्य कह रही हैं और वह भी केवल पत्रिकायें प्रकाशित करके ही। ये अपने सदस्यों को विशेष शोधकार्यों अथवा शैक्षिक समस्याओं पर विचार-विमर्श करने का कम अवसर देती हैं।**

आर्थिक सहायता

सर्वेक्षण में सम्मिलित समिति में से केवल ४१ समितियों को प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से केन्द्रीय सरकार से सहायता मिलती है, ३५ समितियाँ प्रान्तीय सरकार से केवल थोड़ी आर्थिक सहायता पाती हैं, २१ समितियों को उद्योग से और १६ को धर्मार्थ पूँजी से सहायता मिलती है। यह ध्यान देने योग्य है कि जो समितियाँ केन्द्रीय अथवा प्रान्तीय सरकार से सहायता पाती हैं उन्हें अन्य स्रोतों से भी सहायता मिलती है। जो केन्द्रीय सरकार से सहायता पाती हैं उन्हें प्रान्तीय सरकार की सहायता भी उपलब्ध है। फिर भी जो सहायता प्राप्य है वह अधिकतर कुछ चुनी हुई समितियों तक ही सीमित है अत: शेष को केवल अपने साधनों पर ही निर्भर रहना पड़ता है। इसका परिणाम यह हुआ है कि कुछ समितियों के पास इतनी पूँजी भी नहीं होती है कि वे अपनी पत्रिका भी प्रकाशित करलें,

अतः सम्पूर्ण भारत-स्तर पर परिसंवाद अथवा विचार गोष्ठी का आयोजन उनके बूते के बाहर की चीज होगी।

निष्कर्ष

ऐसे अध्ययन से निम्न बातें स्पष्ट हुईं :—

(i) विज्ञान तथा टैक्नोलौजी की वृद्धि के साथ-साथ वैज्ञानिक समितियों की वृद्धि होती गई।

(ii) सामान्य तथा वृत्यात्मक समितियाँ (अर्थात इंजिनियरी तथा चिकित्सा) पहले बनाई गईं और इसके पश्चात् अधिक विशिष्ट समितियाँ बनीं। अभिनव प्रवृत्ति, विज्ञान तथा टैक्नोलौजी के नव-विकसित क्षेत्रों में अधिक समितियाँ बनाने की है, जैसे ऑपरेशन रिसर्च सोसायटी ऑफ इण्डिया, इंस्टीट्यूट आफ इन्फारमेशन साइंटिस्ट्स (आफ इण्डिया)।

(iii) समितियों की एकाग्रता अधिकांशतः कलकत्ता, बम्बई, मद्रास, दिल्ली, बंगलौर जैसे बड़े नगरों में है। इसका कारण इन बड़े नगरों में वैज्ञानिक शोधों के संस्थानों का होना है। यह ध्यान देने योग्य है कि शैक्षिक ढंग की वैज्ञानिक समितियों में से अधिक कलकत्ते के क्षेत्र में उत्पन्न हुईं। कुछ वर्षों से दिल्ली तथा बम्बई क्षेत्रों में भी समितियाँ द्रुत गति से बढ़ रहीं हैं।

(iv) शैक्षिक ढंग की पूर्व समितियाँ बहुधा संस्थानिक प्रकृति की थीं अर्थात् उनका कार्य-क्षेत्र केवल वैज्ञानिकों के मिलन के लिये स्थान प्रदान करना, परिसंवादों का आयोजन करना तथा पत्रिकायें प्रकाशित करना ही नहीं था वरन् वे वैज्ञानिक शोधों को प्रोत्साहन भी देती थीं और शोध करती भी थीं।

(v) इंजिनियरी, टैक्नोलौजी तथा चिकित्सा के क्षेत्र की वृत्यात्मक समितियों में शाखाओं तथा सदस्यों की संख्या अधिक है। अधिक शैक्षिक क्षेत्रों में विशेषितः समितियों में सदस्यो की संख्या साधारणतः कम है। इन क्षेत्रों में शोधकर्ताओं की वृद्धि के अनुसार अधिक शैक्षिक ढंग की समितियों में सदस्यता नहीं बढ़ी है।

(vi) अधिकांश समितियों को केन्द्रीय अथवा प्रान्तीय सरकार से कोई सहायता नहीं मिलती। जिनको किसी एक स्रोत से सहायता मिलती है उन्हें अन्य स्रोतों से भी सहायता मिलती है। जो कुछ भी सरकारी सहायता मिलती है वह केवल कुछ समितियों को ही। अधिकांश समितियाँ अपने साधनों द्वारा ही पत्रिकायें प्रकाशित करती हैं। सीमित आर्थिक सहायता उपलब्ध होने से, इन समितियों की पत्रिकाओं के स्तर तथा नियमितता पर भी प्रभाव पड़ता है। यह बिडम्बना ही समझें कि सरकारी सहायता का अधिकांश भाग इंजिनियरी चिकित्सा की वृत्यात्यामक समितियों की अपेक्षा शैक्षिक कोटि की समितियों को जाता है।

(vii) सबसे अधिक कुतूहल की बात तो यह है कि ये समितियाँ शैक्षिक क्रियाओं, जैसे परिसंवाद, विचार-गोष्ठियाँ, तथा विशिष्ट विवेचनाओं का आयोजन नहीं करतीं। इसका कारण उनको प्राप्त आर्थिक साधनों की कमी है जो अन्य संस्थापित संस्थानों को प्राप्य हैं।

इस अध्ययन से दो मुख्य निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं—प्रथम देश के लिये तथा दूसरा अधिक व्यापीकृत। भारत के लिये समितियों की गतिविधियों की तथा उस सरकार से प्राप्त होने वाली धनराशि पर दृष्टिपात आवश्यक है। वैज्ञानिक समितियों की सहायता करने के लिये, उचित नीति का विकास होना अत्यावश्यक है, विशेषतः उन समितियों के लिये जो विज्ञान तथा टैक्नोलौजी के नये क्षेत्र में कार्य कर रहीं हैं और उनके लिये भी जिनका सम्बन्ध विज्ञान की सामाजिक समस्याओं से है।

यह सुझाव है कि सरकार न केवल समितियों को परिसंवाद तथा विचार-गोष्ठियों का आयोजन करने के लिये आर्थिक सहायता दे अपितु शोध संस्थानों के बजट में इसकी व्यवस्था रखनी चाहिये कि वे सक्रिय कार्यकर्ताओं को समितियों द्वारा आयोजित परिसंवादों, गोष्ठियों आदि में भेजने में समर्थ हो सकें। वैज्ञानिक समितियों को निर्णय करने वाले प्रक्रमों में सम्मिलित करने की भी आवश्यकता है। इससे केवल समितियों का आदर ही नहीं बढ़ेगा वरन् इससे उनमें जागृति आयेगी और ये अपने विशेषज्ञता के क्षेत्रों तथा सम्पूर्ण विज्ञान की वृद्धि के लिये कार्य करेंगी।

●●

सम्पादकीय

राष्ट्रीय संकट के समय हमारा कर्त्तव्य

प्रायः दो मास पूर्व पाकिस्तान ने काश्मीर पर आक्रमण करके भारत देश की शांति को भङ्ग करते हुए जो राष्ट्रीय संकट उत्पन्न कर दिया है उससे भारत का बच्चा-बच्चा परिचित है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के समय पाकिस्तान ने काश्मीर के कुछ भागों पर ऐसी ही सशस्त्र कार्यवाही की थी। तब से १८ वर्षों तक देश में शान्ति रही। स्वर्गीय नेहरू जी ने अपने अद्वितीय व्यक्तित्व के बल पर न केवल पाकिस्तान को वरन् सम्पूर्ण विश्व को मन्त्रमुग्ध करके शान्ति की स्थापना में अभूतपूर्व कार्य किया था किन्तु उनके जीवन के अन्तिम दो वर्षों में चीन ने पूर्वी क्षेत्रों में जो घुसपैठ प्रारम्भ की थी वह उनकी मृत्यु के एक वर्ष पश्चात् पाकिस्तान द्वारा कच्छ सीमा विवाद एवं अन्त में काश्मीर पर आक्रमण के रूप में उद्गारित हुई।

इसे हम देश का दुर्भाग्य नहीं कह सकते। सभी स्वाधीन राष्ट्रों पर अन्य राष्ट्रों की नजरें टिकी रहती हैं। जनतन्त्रवादी भारत इससे अछूता क्यों रहता? हाँ हमारी ओर से जो शिथिलता एवं उदासीनता बरती जाती रही वह हमारे लिये घातक बन गई। हम सत्य और अहिंसा का पालन करते हुये अपने देश की सीमा-रक्षा के प्रति जागरूक नहीं रह पाये। उसी का परिणाम यह हुआ कि चीन के बाद शीघ्र ही पाकिस्तान ने हमारे देश पर आक्रमण कर दिया।

किन्तु क्या हम इन आक्रमणों से भयभीत हो उठे हैं? नहीं, कदापि नहीं। हमने विगत दो वर्षों में काफी तत्परता दिखाई है और देश की सुरक्षा के सभी सामान जुटाये हैं। उसी का परिणाम है कि लगातार १ मास तक युद्ध करते हुये भी हमारी सेनायें उसी प्रकार सज्जित हैं जबकि पाकिस्तान की सारी युद्ध सामग्री तहस-नहस हो चुकी है।

यह सच है कि भारतीय सेना अजेय है। उसकी शक्ति अपरम्पार है। भारतीय सैनिक प्राणों के रहते मातृभू पर आँच नहीं आने देगा किन्तु आधुनिक वैज्ञानिक युग में केवल शारीरिक शक्ति ही सब कुछ नहीं। उसका दमन कुछ ही क्षणों में महा विनाशक परमाणुबमों के द्वारा किया जा सकता है अतः प्रत्येक सामान्य व्यक्ति यह जानने का इच्छुक है कि क्या हमारा देश ऐसे परमाणुबमों का सामना करने में समर्थ है?

यदि ध्यानपूर्वक इस प्रश्न पर विचार किया जाय तो पता चलेगा कि हमारा देश इन प्रलयकारी बमों को बनाने में समर्थ तो है किन्तु हमारी शान्तिवादी नीति इस दिशा में अवरोधक है। हमने अपने देश में परमाणुशक्ति के विकास सम्बन्धी योजनाओं को अपने हाथों में ले रखा है किन्तु हम उसका उपयोग शान्तिपूर्ण कार्यों के लिये ही करने के लिये संकल्पबद्ध हैं। यदि हम अपनी पूरी सामर्थ्य से इस शक्ति का उपयोग परमाणुबमों के निर्माण की ओर उन्मुख कर दें तो साल के पहले ही परमाणुबम बनकर तैयार हो सकते हैं किन्तु फिर क्या होगा? बम का जवाब बम होगा जिसका तात्पर्य यह होगा कि हम भी संहारक बन जावेंगे। फिर पता नहीं संहार करते समय हम सुरक्षित रह पावें या नहीं।

हमारा देश स्वतन्त्र एवं लोकतंत्रवादी देश है अतः हम ऐसे तर्क-वितर्कों में उलझ रहे हैं किन्तु हमारा शत्रु

अन्य राष्ट्रों से इन घातक बमों को प्राप्त करके हम पर वार करते न तो घबरायेगा और न उचित-अनुचित पर विचार करेगा । यही कारण है कि हमें बुरी से बुरी परिस्थिति के लिये कटिबद्ध होना होगा । इसी के आधार पर भारतवर्ष की जनता तथा उसके अधिकांश नेता अब अपनी शान्तिप्रियता की नीति में कुछ परिवर्तन लाने के लिये आतुर हो उठे हैं । उन सबका विश्वास है कि अब राष्ट्रीय संकट के समय हमें परमाणु बम का निर्माण करना ही होगा, भले ही उसके उपयोग या प्रयोग की घड़ी न आवे ।

ऐसी स्थिति में इस महान उत्तरदायित्व का भार हमारे वैज्ञानिकों पर आ पड़ता है । यह घड़ी उनके लिये अहर्निश कार्य करते हुये अपनी मातृभूमि की रक्षा करने की है । यदि वे अपने गुरुतर कार्य को नहीं समझते तो बड़ा ही गजब ढह जावेगा । मनीषियों ने ठीक ही कहा है कि शस्त्र से रक्षित राष्ट्र में ही शास्त्र की चर्चा सम्भव है :

शस्त्रेण रक्षिते राष्ट्रे शास्त्र चिन्ता प्रवर्तते ।

आइये, हम तन मन धन से अपने राष्ट्र की रक्षा के लिये शस्त्र-निर्माण में तत्पर हो जावें ।

शोक-समाचार

२९ सितम्बर, १९६५ को विज्ञान परिषद् के भूतपूर्व अध्यक्ष, श्री हीरालाल खन्ना का निधन उनके निवास-स्थान कानपुर में हो गया । विज्ञान-परिवार की ओर से उनकी आकस्मिक मृत्यु पर हम शोक प्रकट करते हैं और ईश्वर से प्रार्थना करते हैं कि उनकी आत्मा को शान्ति प्रदान करे ।

—सम्पादक

विज्ञान

विषय-सूची

सम्पादक- डा० शिवगोपाल मिश्र

विज्ञान परिषद्, प्रयाग का मुखपत्र

विज्ञानं ब्रह्मेति व्यजानात्। विज्ञानाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते।
विज्ञानेन जातानि जीवन्ति। विज्ञानं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति। तै० उ० ३।५।

भाग १०२ | कार्तिक २०२२ विक्र०, १८८७ शक नवम्बर १९६५ | संख्या २

कांक्रीट

शिव प्रकाश

निर्माण के लिये सर्वाधिक प्रयोग जिस पदार्थ का किया जाता है वह है कांक्रीट, जिसे पोर्टलैंड सीमेंट को रेत तथा पानी से मिला कर तैयार किया जाता है। कांक्रीट की दीवारें, बांध, नहरें तथा सड़कें इस बात के प्रत्यक्ष प्रमाण हैं कि आधुनिक सभ्यता में सीमेंट, मोर्टार तथा कांक्रीट का कितना अधिक महत्व है। कांक्रीट से बनी सड़कों तथा इमारतों के बावजूद यह समझ पाना कठिन है कि पिछली शताब्दी से सीमेंट उद्योग में कितनी अधिक उन्नति हुई है। मनुष्य ने कुछ ऐसी प्राकृतिक चट्टानों की खोज की थी जिसका निस्तापन (Calcination) करने पर एक ऐसा उत्पाद प्राप्त होता था जो जल मिलाने पर कठोर हो जाता था। परन्तु फिर भी जब तक रासायनिक इंजीनियरी तथा भौतिक-रासायनिक अध्ययन द्वारा विभिन्न कच्चे मालों से नियंत्रित दशाओं में कार्य करने वाली अच्छी मशीनों की स्थापना नहीं की गई, इस दिशा में वास्तविक उन्नति सम्भव नहीं हो सकी। अब स्थिति क्या है इसका अनुमान तो इसी बात से लग जाता है कि १९६३ में संयुक्त राज्य अमरीका में ६३० लाख टन पोर्टलैंड सीमेंट को ५००० लाख टन कांक्रीट में परिवर्तित किया गया जो इस्पात के खपत का भार के अनुसार पाँच गुना है। किसी-किसी देश में तो कांक्रीट की खपत और इस्पात की खपत का अनुपात १० : १ है। अनुमान किया जाता है कि उसी वर्ष सम्पूर्ण संसार में ३,००,०० लाख टन कांक्रीट की खपत हुई जो प्रति मनुष्य एक टन की दर से है। मनुष्य द्वारा जल को छोड़ कर अन्य किसी पदार्थ का इतने प्रचुर मात्रा में उपयोग नहीं होता।

ऐतिहासिक

सीमेंट की कब खोज हुई इसके लिये निश्चित रूप से कहना कठिन है। आधुनिक सीमेंट का पूर्वज मोर्टार है जो चूना से बनाया जाता है। आदिकालीन भट्टियों को देखने से पता चलता है कि ५००० वर्ष पूर्व चूना पत्थर से चूना प्राप्त किया जाता था। पिरामिड के बनाने में मिश्र वालों ने एक प्रकार के सीमेंट का प्रयोग किया था। इस सीमेंट के कुछ प्रतिदर्श जो लगभग ४५०० वर्ष पुराने हैं अभी भी अच्छी दशा में हैं। यूनान और रोम में भी एक प्रकार की सीमेंट के प्रयुक्त किये जाने का प्रमाण मिलता है। चूने की लेई (paste) तथा ज्वालामुखी पर्वत से प्राप्त राख को मिला कर रोम वालों ने सर्वप्रथम सीमेंट बनाया था। चूना पत्थर तथा मिट्टी के मिश्रण का निस्तापन करके १८२४ में सर्वप्रथम एक अंग्रेज जोजेफ अस्पडीन (Joseph Aspdin) ने कृत्रिम सीमेंट का पेटेंट कराया था। इंगलैंड के पास के एक द्वीप पोर्टलैंड में

पाये जाने वाले प्रख्यात पत्थर के रंग से मिलते जुलते होने के कारण ही उन्होंने इसका नाम "पोर्टलैंड सीमेंट" रखा था। पोर्टलैंड सीमेंट ने अपने विलक्षण गुणों के कारण सभी पुराने कांक्रीटों को विस्थापित कर दिया और तभी से उसके बनाने के उद्योग का उदय हुआ।

सीमेंट बनाना

आजकल जो पोर्टलैंड सीमेंट बनती है उसमें अस्पडीन द्वारा प्राप्त सीमेंट से काफ़ी संशोधन कर दिया गया है फिर भी उसे बनाने के आधारभूत अवयव वही हैं। अर्थात, चूनेदार तथा चिकनी मिट्टी युत पदार्थों—चूना पत्थर, खड़िका, स्लेट आदि—के मिश्रण का निस्तापन करके ही सीमेंट बनाई जाती है। भट्टी में रखने से पूर्व यह निश्चित कर लिया जाता है कि कैल्सियम, सिलिकन, एल्युमीनियम तथा लोहा के आक्साइडों का अनुपात इस प्रकार है कि उससे इच्छानुसार सीमेंट प्राप्त होगी। बेकार की चीजों को बाहर निकाल दिया जाता है। औसत रूप से CaO, SiO_2, Al_2O_3, Fe_2O_3 तथा MgO की प्रतिशत मात्रायें क्रमशः लगभग ६३·८५, २१·०८, ५·७६, २·८६, तथा २·४७ होती है। लगभग २७००° फा० तक गरम करने पर कच्चे पदार्थ आपस में रासायनिक क्रिया करके एक कठोर पदार्थ बनाते हैं जिसे "क्लिकर" कहते हैं। इस क्लिंकर अथवा अवशिष्ट राख को ठंढा करके इसमें थोड़ा सा जिप्सम ($CaSO_4 . २ H२O$) मिला दिया जाता है ताकि सीमेंट के जमने (बैठने) (setting) की दर को नियंत्रित किया जा सके। रासायनिक क्रिया से बने पदार्थों में डाई कैल्सियम सिलिकेट (C_2S), ट्राइ कैल्सियम सिलिकेट (C_3S), ट्राई कैल्सियम एल्युमिनेट (C_3A) तथा टेट्रा कैल्सियम एल्युमिनोफेराइट (C_4AF) मुख्य हैं। यह सब मिल कर सीमेंट का १०% भाग प्रदर्शित करते हैं।

चूना पत्थर $\rightarrow CaO + CO_2\uparrow$

मिट्टी $\rightarrow SiO_2 + Al_2O_3 + Fe_2O_3 + H_2O\uparrow$

$\rightarrow$

$३ CaO + SiO_2 \rightarrow ३ CaO. SiO_2 (c_3s)$

$२ CaO + SiO_2 \rightarrow २ CaO. SiO_2 (c_2s)$

$३ CaO + Al_2O_3 \rightarrow ३ CaO. Al_2O_3 (c_3a)$

$४ CaO + Al_2O_3 + Fe_2O_3 \rightarrow ४ CaO. Al_2O_3 Fe_2O_3 (c_4AlF)$

सीमेंट का जमना—सीमेंट के जमने के लिये यद्यपि कई सिद्धान्त प्रस्तुत किये गये हैं परन्तु सामान्यतः यह जमना जलयोजन तथा जलअपघटन के कारण होता है। इन अभिक्रियाओं को निम्नलिखित समीकरणों से प्रदर्शित किया जाता है:

$$२ (३ CaO. SiO_2) + ६H_2O = ३ CaO. २ SiO_2 ३H_2O \& ३ Ca (OH)_2$$

(टोबरमोराइट जेल)

$$२ (२ CaO SiO_2) + ४H_2O = ३CaO. २SiO_2. ३H_2 + Ca (OH)_2$$

$$४ CaO. Al_2O_3. Fe_2O_3 + १०H_2O + Ca (OH)२ = ६CaO.Al_2O_3.Fe_2O_3.१२H_2O$$

(कैलसियम एल्युमिनोफेराइट हाइड्रेट)

$$३CaO. Al_2O_3 + १२H_2O + Ca (OH)_2 = ३CaO. Al_2O_3 . Ca (OH)_2. १२H_2O$$

(टेट्राकैल्सियम एल्युमिनेट हाइड्रेट)

$$३ CaO. Al_2O_3 + H_2O + CaSO_4 २ H_2O = 3 CaO.Al_2O_3.CaSO_4. १२H_2O$$

जिप्सम (कैलसियम मानो सल्फोएल्युमिनेट)
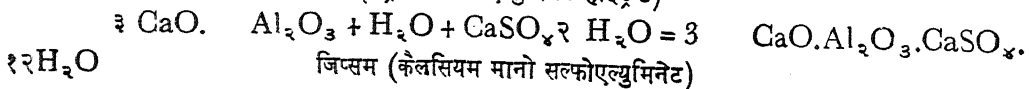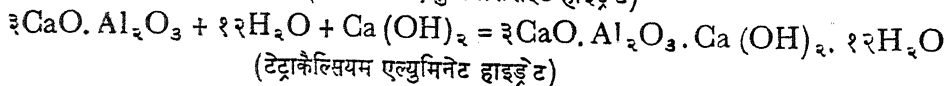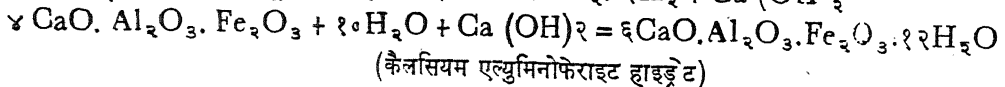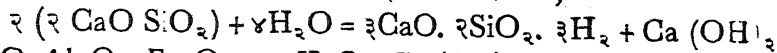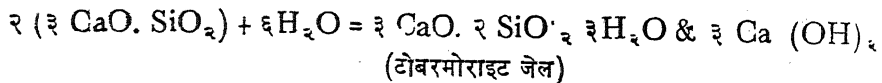
जब पोर्टलैंड सीमेंट में इसके भार का आधा जल मिलाया जाता है तो प्लास्टिक, कीचड़ की तरह की लेई प्राप्त होती है। कुछ घण्टों में यह लेई जम जाती है। प्रारम्भिक जमने की अवस्था में यदि लेई एक भारी सुई गिराई जाय तो लेई में कुछ दूर तक वह धँस जाती है। परन्तु जब सुई को गिराने पर वह तनिक भी न

धँसे और ऊपर तल से ही टकरा कर गिर जाय तो उस अवस्था को अन्तिम जमने की अवस्था कहते हैं। जमने का अर्थ यह नहीं लगाया जा सकता कि सीमेंट के कठोर होने की क्रिया आरम्भ हो गई है और नहीं यह कहा जा सकता है कि क्रिया समाप्त हो गई है। जल के सम्पर्क में आते ही क्रिया आरम्भ हो जाती है और अभिक्रिया फलों के बनने पर लेई की श्यानता में वृद्धि पाई जाती हैं। अन्तिम जमने के बाद सीमेंट के कठोर होने की क्रिया महीनों अथवा वर्षों तक चलती रहती है।

रासायनिक अभिक्रियाओं में जिन तीन बातों पर हम विशेष ध्यान देते हैं वे हैं (१) अभिक्रिया से बने पदार्थ (२) अभिक्रिया का दर तथा (३) ऊर्जा में परिवर्तन। सीमेंट स्वयं जोड़ने में सहायक नहीं होती वरन् जल योजन से बने पदार्थ मुख्यत: कार्य करते हैं। इसलिये इस बात का ज्ञान होना आवश्यक है कि जलयोजन से क्या पदार्थ बनते हैं। इसी प्रकार, अभिक्रिया में कितना ऊष्मा परिवर्तन होता है यह भी जानना अवश्यक होता है क्योंकि उत्पन्न ऊष्मा कभी तो सहायक हो सकती है और कभी बाधा डाल सकती है। उदाहरणार्थं, जोड़ में ऊष्मा आवश्यक होती है ताकि सीमेंट में उपस्थित जल जमने न पाये परन्तु बड़े-बड़े निर्माणों, यथा बाँध में ऊष्मा हानिकारक हो सकती है। अभिक्रिया का दर जानने पर यह पता लगाया जा सकता है कि सीमेंट के जमने में कितना समय लगेगा। आरम्भ में क्रिया धीमी होनी चाहिये ताकि सीमेंट को यथास्थान रखते-रखते ही वह जम न जाय।

कांक्रीट का उत्फुल्लन और संकुचन नमी में होने वाले परिवर्तन के कारण होता है और इससे उसके फटने की समस्या उत्पन्न हो जाती है। जल की गति में टोबर-मोराइट जेल (जो ऊपर प्रदर्शित क्रिया से बनता है) का महत्वपूर्ण स्थान है। जैसा कि के चित्र (१) में दिखाया गया है, जल टोबरमोराइट जेल की आण्विक पर्तों में होकर घुसता है जिससे जेल की चादर प्रसारित होती है। मध्य के चित्र से यह प्रकट होता है कि जल टोबरमोराइट जेल की वेल्लित चादरों (rolled sheets) की पर्तों में होकर अन्दर पहुँचता है। इसके
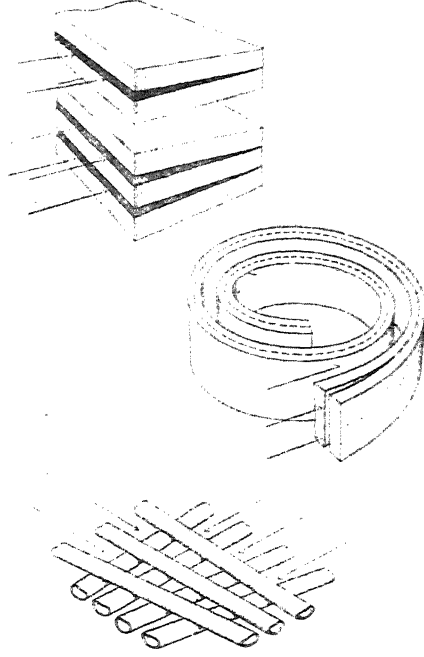
चित्र—१

अतिरिक्त जल रेशों के मोड़ों में भी पहुँच सकता है (जैसा कि इस चित्र के ऊपरी तीर से प्रकट है) जहाँ पर अधि-शोषण के कारण प्रसरण होता है। इसके नीचे के चित्र के अनुसार जल टोबरमोराइट जेल के रेशों के बीच के छिद्रों में होकर अन्दर पहुँचता है। एक चौथी क्रिया विधि (चित्रित नहीं है) का भी अपना महत्व है। हम जानते हैं कि जेल के छिद्रों के अतिरिक्त जेल के कणों के समुच्चयों के बीच में भी बड़े छिद्र होते हैं। इन छिद्रों से होकर जल प्रविष्ट हो सकता है और लेई को कठोर बना सकता है।

●●

अनन्त शक्ति का अक्षय स्रोत—प्लास्मा*

श्यामसरन विक्रम

यह संयोग ही कहा जायगा कि अत्यधिक महत्व की तथा परस्पर गेहूँ और गुलाब की तरह सर्वथा भिन्न, दो वस्तुओं के लिए विज्ञान दो पृथक् शब्द गढ़ ही न सका। जीव-वैज्ञानिक से पूछिये 'प्लास्मा,' तुरन्त ही वह रक्त की संरचना पर धाराप्रवाह बोलने लग जायगा। हाँ, वही तो रक्त का जटिलतम जीवद्रव-प्लास्मा! दूसरी ओर भौतिकी के विद्वान से पूछिये 'प्लास्मा'। सचमुच ही वह अचरजभरी एक नवीन खोज के वर्णन से आपको चकित कर देगा। यही इस लेख का विषय भी है।

आज से लगभग चालीस वर्ष पूर्व तक तो विज्ञान इससे परिचित भी नहीं था। संसार को इस प्लास्मा से परिचित कराने का श्रेय है इरविंग लिमर को। सही अर्थ में तो प्लास्मा न कोई वस्तु है, न पदार्थ। यह केवल एक अवस्था है—अति विशेष और असामान्य अवस्था। सामान्यत: किसी भी वस्तु की केवल तीन अवस्थायें ठोस, द्रवीय और गैसीय ही लोगों को ज्ञात हैं। सन् १९२५ तक तो वैज्ञानिकों को भी ये तीन ही ज्ञात थीं। इरविंग लिमर द्वारा खोजी गई यह सर्वथा भिन्न वह चौथी अवस्था है जिसे प्लास्मा कहते हैं। यदि सूर्य के केन्द्रीय ताप का और उसके गैसपुंज की अनदेखी अवस्था का अनुमान लगाया जा सके तो समझा जा सकेगा कि प्लास्मा किस अवस्था का नाम है। निस्सीम सौर-मण्डल में हमारा सूर्य भी एक तारा ही तो है और अनगिनत तारों में कुछेक ऐसे भी हैं जो एक-एक अकेले सूर्य को निगल जायें और डकार भी न लें तो। बस, समझ लीजिए कि कल्पनातीत, अति उच्च ताप में उमड़ते-उफनते गैसपुंज की वही अवस्था प्लास्मा है। उसी का एक अल्पांशिक प्रारूप प्रयोगार्थ तैयार करने में हमारे वैज्ञानिक सफल हुए हैं।

गत वर्ष आयोजित न्यूयार्क के विश्व-मेले में प्लास्मा का वह प्रायोगिक प्रारूप देखने को रखा गया था। लगता था, मानो आसमान से एक तारा उतार कर प्रदर्शनी में सजाया गया हो अथवा हाइड्रोजन-बम महाशय को भले मानस के कपड़े पहिना कर, सिखा-पढ़ा कर टेबुल पर लिटा दिया गया हो। आकार में वह एक विशाल अण्ड जैसा था जिसकी चौड़ाई ही तीस फुट थी। अण्डे की जर्दी के स्थान पर उसके बन्द खोल में तपते, उफनते, बिफरते गैसपुंज के बादल उमड़-घुमड़ रहे थे, नील-श्वेत प्रकाश दामिनी की तरह दमक रहा था और रह-रह कर घन-गर्जन भी कान से टकरा उठता था। उस समूचे माडल को तैयार करने का उद्देश्य था—परमाणुओं के नाभिकों को संश्लेषित संयोजन (Fusion Reactio) द्वारा संयोजित करके उस क्रिया से विमुक्त अपरिमित ऊर्जा तथा शक्ति का संचय करना। दूसरे शब्दों में वह शक्ति उत्पादन का सर्वथा तथा सर्वशक्तिमान साधन होते हुए भी ईंधन की दृष्टि से अत्यन्त सुलभ भी था। सुलभ कह देने पर कदाचित् आश्चर्य हुआ हो किन्तु सच भी यही है कि संश्लेषित संयोजन का यह साधन अपने अनुकूल ईंधन बनाने के लिए जो पदार्थ चाहता है, वह भूमण्डल पर इतना फैला-बिखरा है कि बिना मूल्य भी समेटे न सिमट पायेगा। वह पदार्थ है—समुद्र का खारा पानी।

अलाउद्दीन के चिराग में कैद, देव की भाँति हाथ-पाँव बँधा कर पड़ा हुआ वह हाइड्रोजन बम सरीखा प्लास्मा-उपकरण उस समय फ्यूजन-रिऐक्टर का काम कर रहा था। जिस एटम बम ने हिरोशिमा और नागासाकी के महाविनाश का कलंक अपने माथे लिया था, उसी को पालतू बना कर, महान सृष्टा के रूप में उसका कायापलट कर देने का यह प्रथम प्रयास था।

* इस लेख में प्रयुक्त पारिभाषिक शब्द लेखक ने अपनी शैली के अनुरूप चुने हैं। वे स्वीकृत शब्दावली से भिन्न हैं। पाठक ध्यान रखें।—सम्पादक

उसी प्रथम मॉडल पर से दूसरा प्लास्मा फ्यूजन रिऐक्टर R. C. A, कम्पनी द्वारा तैयार किया गया, प्रिन्स्टन यूनिवर्सिटी में भी देखने को रखा गया था। उस यन्त्र की अमाप्य विशालता के आगे मनुष्य तो अँगूठे के बराबर क्षुद्रकाय प्रतीत होता था। जितने भूमि-विस्तार में वह सब ठाट था, उतने में फुटबाल की दो पूरी फील्डें समा सकती थीं। वहाँ तारों और केबलों का संजाल ही ऐसा विकट था कि एक-एक केबुल मनुष्य की जाँघ जितना मोटा था। उस संयंत्र का नाम रखा गया है—स्टेलेरेटर स्टेलर जेनरेटर का संक्षिप्त अर्थात् तारों की भाँति ऊर्जा और शक्ति का उत्पादक।

ऊपर दिया गया यह संकेत यहाँ स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि हमारा सूर्य एवं प्रत्येक तारा मूलत: इस प्लास्मा का ही उत्पादक है। इनका करोडों डिग्री उच्च ताप गैस के परमाणुओं को न्यूट्रान, इलेक्ट्रान आदि को विघटित करके इस प्रकार चकफेरी में घुमाता रहता है कि मानो एक कुत्ता अपनी ही पूँछ का पीछा करने के प्रयास में गोल-गोल घूमता ही जाता हो। पदार्थ की यही अवस्था, द्रवीय और गैसीय से भी भिन्न होने के कारण चौथी अवस्था—प्लास्मा के नाम से परिचित करायी गयी है। समूचे अन्तरिक्ष में वायु का अस्तित्व ही न होने के कारण उस शून्यावस्था में उस उच्च ताप का निभाव भी हो जाता है। अन्यथा भूमण्डल के चारों ओर वायु का आवरण उस ताप को टिकने नहीं देता। अत: उस अपेक्षाकृत शीतल वातावरण में अर्थात् हमारे भूमण्डल पर प्लास्मा की प्राप्ति संभव नहीं हो पाती। दूसरी ओर सूर्य एवं तारागण, प्लास्मा से छलकते हुए रहते हैं और अपना प्रकाश, ताप तथा रेडियोधर्मी विकिरण प्रसारित करते रहते हैं। उसी शक्ति को अंशत: भूतल पर प्राप्त करके, अर्थात् एक प्रकार से आकाश के तारक-कुसुमों को तोड़ कर धरती पर लाकर मानो वैज्ञानिकों ने मानव की अनन्त शक्ति की अनन्त खोज को तनिक विराम दिया है और स्वयं अविराम प्रयोगों में लीन हो गये हैं।

प्रिन्स्टन यूनिवर्सिटी का उपर्युक्त स्टेलेरेटर ऐसा है मानो स्टेडियम का अण्डाकार रेसकोर्स स्टैनलेस स्टील की सुरंग के रूप में बिठाया गया हो। उसी सुरंग में अपनी ही पूँछ के पीछे चक्कर लगाते हुए पागल कुत्ते की भाँति प्लास्मा चाबुक सी फटकारता रहता है। इसके भविष्य के विषय में वहीं के एक अधिकारी का अत्यधिक आशापूर्ण कथन है कि यदि इस प्रयोग की सफलतास्वरूप प्लास्मा को योजनानुसार काम में लाया जा सका तो यह उपकरण अकेला ही पूर्वीय महाद्वीपों के नगर-नगर और गाँव-गाँव को बिजली पहुँचा सकेगा। और, यह तो अभी केवल संक्षिप्त रूप ही है। इसे आवश्यकतानुसार बड़ा रूप देने में सर्वाधिक कठिनाई इसके ताप को नियन्त्रित करने में पड़ेगी। सोचिए, १०० करोड़ डिग्री का ताप, अर्थात् सूर्य से भी दस हजार गुना अधिक ताप उत्पन्न करना और उसका निभाव करना सहज तो नहीं होगा। दूसरी कठिनाई प्लास्मा-संग्राहक पात्र प्रस्तुत करने में पड़ेगी। अपने असली रूप में तो प्लास्मा संसार की किसी भी ज्ञात वस्तु के बने पात्र में टिक न सकेगा। दूसरे शब्दों में कहिये, प्रत्येक सम्भव पात्र को फूंक मात्र से उड़ा देगा। इस कठिनाई के हलस्वरूप चुम्बकीय पात्र का आश्रय लेना पड़ेगा। स्टेनलेस स्टील की उस सुरंग की भीतरी दीवारें इतनी प्रबलत: चुम्बकीय रखनी पड़ेंगी कि उन्मत्त, उमड़ता बिफरता उन दीवारों को स्पर्श कर ही न सके—बस, अधर ही अधर हलचल मचाता रहे। लेकिन यह सब अभी तो केवल कागजी हिसाब-किताब तक हल किया जा सका है। काफी मोटे क्वार्ट्ज शीशे की बनी एक नन्ही खिड़की से इसकी रोचक हलचल देखने का आनन्द लिया जा सकता है।

विद्युतोत्पादन के लिए अन्यान्य आणविक उपकरणों अणुभट्टियों के उपयोग में सबसे कठिनाई उनके रेडियो-धर्मी कचरे को ठिकाने लगाने में अनुभव की जा रही है। जहाँ प्लास्मा का उपयोग संश्लेषित संयोजन पर आधारित है, वहाँ ये आणविक उपकरण हिरोशिमा-विनाशक एटम बम के सिद्धान्त पर खड़े किये गये हैं। इनसे निकले राख, कचरे को कहाँ, कैसे ठिकाने लगाया जाये, यह समस्या अभी तक हल नहीं हो पायी है। यदि उस कचरे को धरती में गाड़ते हैं तो भूगर्भस्थित पानी के सोते रेडियोधर्मी प्रभाव से विषाक्त हो जायेंगे

और यदि समुद्र में फेंक कर छुट्टी पा लें तो जलगत वनस्पतियों को तो हानि पहुँचेगी ही, समस्त जलजीवों, विशेषत: खाद्योपयोगी मछलियों की रग-रग में हानि-कारक रेडियोधर्मिता समा जायगी। प्लास्मा को संश्लेषित संयोजन पद्धति में ऐसा कचरा निकलने का प्रश्न ही नहीं रहता।

बहुउपयोगी प्लास्मा

प्रिन्स्टन यूनिवर्सिटी के वैज्ञानिकगण प्लास्मा के अनन्त उपयोगों की अनन्त सम्भावनाओं से आशान्वित हैं। उनके स्वप्नों में से कुछेक का उल्लेख रोचक रहेगा। उनका अनुमान है कि प्लास्मा की सहायता से वे रेगिस्तानों को खेतों की क्यारियों में बदल सकेंगे, बंजर भूमि-खण्डों को वनस्पतियों से लहलहा देंगे। इसी विद्युतशक्ति से सर्वथा वंचित क्षेत्रों को उद्योगों के संजाल से गुंजरित कर देंगे। इसी भाँति लिण्डे तथा वेस्टिंगहाउस कम्पनियों के वैज्ञानिक भी अपने निराले सपने सँजोये हुए हैं। वे कठोरतम धातुखण्डों और लौह-चट्टानों को प्लास्मा की अग्निशिखा से यों काट देंगे, मानो धागे से मक्खन की टिकिया तराश दी हो। प्लास्मा से वे ऐसी-ऐसी विलक्षण मिश्र धातुयें तैयार कर सकेंगे जो अन्यथा प्लास्मा से निम्नतर ताप में बनाना असम्भव ही है। हवाई अड्डों के भूमि-मार्गों पर ले प्लास्मा-लैम्प तथा उनके अन्यान्य प्रकाश-उपकरण प्लास्मा की सहायता से गहनतम कुहरे को भेद कर सुस्पष्ट मार्ग दिखा सकेंगे। वेस्टिंगहाउस कम्पनी द्वारा तैयार की गयी एवको Avco नामक प्लास्मा-गन अपने अन्दर भरे हुए धातु-चूर्ण को वाष्परूप में नली से ऐसी फुहार छोड़ेगी कि सीधे ही किसी भी सतह को उक्त धातु द्वारा पेन्ट किया जा सकेगा। चीनी के बर्तनों का भी चमकीला सिरेमिक पेन्ट प्लास्मा गन द्वारा सरलता से किया जा सकेगा।

इनसे भी आगे बढ़ कर वैज्ञानिकों का लक्ष्य प्लास्मा की उपयोगिता मिसाइल, राकेट आदि के क्षेत्र में लाने की है। प्रत्येक राकेट की कठिनतम कसौटी तब होती है, जब उसे अन्तरिक्ष से लौटते हुए पृथ्वी का वायुमण्डल चीर कर उतरना होता है। तब वायु के प्रबल घर्षण से उत्पन्न ताप द्वारा वह राकेट भस्मीभूत हो सकता है। उस समय प्लास्मा ही सहायता के लिए आगे आयेगा। वह उस समय उस वातावरण के ताप के अनुकूल ही ३०,००० डिग्री तक का ताप उत्पन्न करके राकेट को बचा लायेगा। इन सबसे अधिक रोचक सम्भावना तो वह होगी जब प्लास्मा-चालित यान में बैठा हुआ यात्री आज के सामान्य राकेट की २५,००० मील प्रति घण्टे की चाल को भी कच्छप-गति ही मानेगा और सोचेगा कि इसकी सुस्ती तो देखो। इस मन्द चाल (?) से तो यह ४,५ महीने में भी मंगल तक न पहुँच सकेगा। फिर और भी आगे के ग्रहों तक पहुँचने में तो इसे वर्षों लग जायेंगे। उस यात्री का वह प्लास्मायुक्त यान उस समय एक लाख मील प्रति घण्टे के वेग से उड़ा जा रहा होगा, जिसे सोच कर आज तो हमारी कल्पना चकरा कर गश खाने की अनी पर है। ●●

शोक-प्रस्ताव

विज्ञान-परिषद्, प्रयाग कुँवर श्री बलबीर सिंह जी, अवकाश प्राप्त, मुख्य अभियन्ता, उ० प्र० के आकस्मिक निधन पर हार्दिक दुःख प्रकट करता है। श्री कुँवर बलवीर सिंह जी का परिषद् से घनिष्ठ सम्बन्ध और स्नेह रहा है और उनके निरीक्षण में परिषद्-भवन का निर्माण हुआ, जिसके लिए परिषद् उनका सदा आभारी रहेगा। श्री कुँवर बलबीर सिंह जी का हिन्दी भाषा, साहित्य और राष्ट्र के साथ प्रेम था। वह इस प्रदेश के अग्रगण्य अभियन्ताओं में से थे। उनके निधन से इस प्रदेश को और विशेषकर परिषद् को बड़ी क्षति हुई है। विज्ञान-परिषद् दिवंगत आत्मा के प्रति श्रद्धांजलि और उनके कुटुम्ब के प्रति समवेदना प्रकट करता है।

श्री बलबीर सिंह की मृत्यु १६ अक्टूबर को दिन में १० बज कर ४० मिनट पर हृदय-गति के रुक जाने से हुई।

क्वांटम

महेन्द्रसिंह

क्वांटम के सम्बन्ध में जनसाधारण को प्राय: लेशमात्र भी जानकारी नहीं है। अत: हमें मानना पड़ेगा कि निश्चय ही क्वांटम कोई रहस्यमय वस्तु है। यद्यपि पिछली शताब्दियों में भौतिक विज्ञान में बहुत ही विस्तृत एवं अनेक महत्वपूर्ण प्रगति की है किन्तु बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक भौतिकज्ञों को क्वांटमों के वास्तविक अस्तित्व का पता नहीं था। इस शती के प्रारम्भ होने के साथ ही नवीन भौतिक शास्त्र का प्रादुर्भाव हुआ जो विशेष कर परमाणु एवं सहायक-परमाणु मापन की घटना से सम्बन्धित था। इसने निर्जीव प्रकृति की घटनाओं की व्याख्या को नवीन स्वरूप दिया तथा बतलाया कि क्वांटमों के बिना इस संसार में न तो प्रकाश का अस्तित्व हो सकता है, और न ही द्रव्य का। इनकी सहायता के बिना घटनाओं की व्याख्या पूर्णत: असम्भव है। इसने प्राचीन चिर-प्रतिष्ठित यांत्रिकी में उत्पन्न होने वाली समस्त कठिनाइयों को समूल अन्त कर दिया।

विकिरण का सिद्धान्त और प्लांक का क्वांटम

सर्वप्रथम क्वांटम सिद्धान्त का जन्म बर्लिन के प्रो० प्लांक के सन् १८६६ के अनुसंधानों (जो विकिरण के सम्बन्ध में किये गये थे) के फलस्वरूप हुआ। प्लैंक का ध्येय चिर-प्रतिष्ठित यांत्रिकी समस्याओं का संशोधन करना था, जो कि विकिरण के दृष्ट तथ्यों पर अवलम्बित था, तथा यह प्रदर्शित करता था, कि वस्तुओं की शक्ति विकिरण में सम्पूर्णतया क्यों नहीं बदलती। इसी प्रश्न का स्पष्टीकरण यहाँ प्रस्तुत है।

माना कि कोई कोष्ठक जिसका ताप स्थिर है, यदि उसके अन्दर रखो भौतिक वस्तुएँ विकिरण का उत्सर्जन भी करें तथा अवशोषण भी करें, तो अन्त में ऐसा सन्तुलन उत्पन्न हो जायेगा जिसमें द्रव्य और विकिरण के मध्य ऊर्जा का यह आदान-प्रदान सम हो जावेगा। उष्मा-गतिकी के मूल नियमों पर आधारित किरचाफ ने यह सिद्ध कर दिया था कि यह आदान और प्रदान की अवस्था अद्वितीय होती है और कोष्ठक में निबद्ध विकिरण का स्पैक्ट्रमीय वितरण पूर्णत: सुनिश्चित प्रकार का होता है। इसके अतिरिक्त विकिरण का यह वितरण केवल कोष्ठक के ताप पर ही निर्भर होता है। कोष्ठक की आकृति और विस्तार एवं उसमें रक्खे भौतिक द्रव्यों के गुणों का प्रभाव नहीं पड़ता। प्रत्येक ताप के लिये यह सन्तुलित विकिरण निश्चय रूप का होता है। इस प्रकार पहले तो यह प्रमाणित हो गया कि वस्तु से विकिरण का घनत्व अर्थात् तापीय सन्तुलन-युक्त कोष्ठक के भीतर प्रत्येक इकाई आयतन में उपस्थित विकिरण-ऊर्जा का परिमाण परम मापक्रम से नापे गये ताप के चतुर्थ घात का अनुपाती होता है। यह **स्टीफन वोल्ट्ज़मन का नियम** कहलाता है। वीन ने प्रमाणित कर दिखलाया कि किसी विशेष आवृति के वस्तु विकिरण का घनत्व उस आवृति में ताप का भाग देने से प्राप्त भजनफल के किसी फलन तथा उस आवृति के घन के गुणनफल का अनुपाती होना चाहिये।

चिर-प्रतिष्ठित यांत्रिकी के दृष्टिकोण द्वारा संसार की रचना द्रव्य एवं वस्तु विकिरण से हुई विकिरण तरंगों को जन्म देता है। प्लांक का सिद्धान्त विकिरण की पारमाणविकता को ही प्रतिपादित करता है, यह अनुमान लगाया गया कि विकिरण का उत्सर्जन पौधों पर पानी छिड़कने वाली नली के पानी की भाँति स्थिर प्रवाह में संचालित नहीं होता वस्तुत: वे ताप से बारूद के छिटके कणों के रूप में बाहर आते हैं जिनको प्लांक ने क्वांटमों का नाम निर्धारित किया।

प्लांक के इन प्रस्तावित विचारों पर प्रो० नील्स बोह्र ने यह संकेत किया कि अगर हम किसी पर्याप्त शक्तिशाली सूक्ष्मदर्शी से इन कणों को देखें तो उन्हें हम गतिमान पायेंगे। उनकी गति एक सम रेल की पटरियों पर दौड़ती हुई गाड़ी की भाँति नहीं होगी वरन् उनकी तुलना हम मैदानों में दौड़ते हुए कंगारुओं से कर सकते हैं।

प्लांक ने वस्तु-विकिरण सम्बन्धी इस समस्या पर पुनर्विचार प्रारम्भ किया जो निम्न कल्पना पर आधारित थी—द्रव्य में अनेक इलैक्ट्रानिक दोलन विद्यमान होते हैं। अर्थात् ऐसे इलैक्ट्रान होते हैं जो किसी विस्थापनानुपाती बल से प्रेरित होकर अपने-अपने सन्तुलन बिन्दु के इधर-उधर दौलन कर सकते हैं। प्लांक ने समतापीय कोष्टक के इन दोलकों एवं इन पर पड़ने वाले विकिरण में ऊर्जा विनियम के सन्तुलन का अध्ययन किया और जैसा कि कहा जा चुका है कि इस सन्तुलन विकिरण का संघटन कोष्ठक में उपस्थित भौतिक वस्तुओं के गुण-धर्मों से स्वतन्त्र होना चाहिये तथा इस विधि के उपयोग से जो परिणाम निकलेंगे उनकी सत्यता व्यापक होना चाहिये। चिर-प्रतिष्ठित विधियों से दोलकों और विकिरण के ऊर्जा-विनियमों का विश्लेषण करने पर प्लांक को स्वतः रेले का नियम पुनः प्राप्त हो गया। उन्हें यह विदित हो गया कि उसकी असत्यता का कारण केवल ऊर्जा विनियम के चिर-प्रतिष्ठित चित्र में अधिक आवृति वाले दोलकों के प्रभाव को अधिक महत्व देना है। तब प्लांक ने यह विचार किया कि उस सिद्धान्त में चिर-प्रतिष्ठित मान्यताओं से सर्वथा विपरीत किसी ऐसी धारणा को मिलाने की आवश्यकता है जो उन उच्च आवृति वाले दोलकों के प्रभाव को नियंत्रित कर सकें। इस धारणा को व्यक्त करने के लिये उसने निम्न व्याख्या प्रस्तुत की :—

द्रव्य में से विकिरण-ऊर्जा का उत्सर्जन केवल निश्चित मात्राओं में ही हो सकता है तथा ये मात्राएँ आवृति की अनुपाती होती हैं।" इस अनुपात का गुणक एक सार्वत्रिक नियंताक होता है जिसकी परमाणविक संरचना ठीक यांत्रिक क्रिया की संरचना के समान होती है। यही प्लांक महान का सुविख्यात नियंताक h है।

प्लांक द्वारा प्रतिपादित की गई व्याख्या में ऐसा कुछ भी नहीं है जिसकी सत्यता उष्मागतिकी के नियम के विरुद्ध हो। अतः प्लांक का सूत्र एक ओर स्टीफन के तथा वीन के नियमों के अनुरूप है तथा दूसरी ओर इसका मेल रेले के नियम से केवल निम्न आवृत्तियों तथा उच्च तापों पर ही होता है। उच्च आवृत्तियों एवं कम तापों के लिये यह सर्वथा असंगत प्रतीत होता है। इस बात को समझने के लिये कोई कठिनता प्रतीत नहीं होती क्योंकि निम्न आवृत्तियों तथा उच्च तापों पर विकिरण के ऊर्जा-विनियमों में कुछ अति सूक्ष्म कण भाग लेते हैं और उनकी संख्या काफी अधिक होती है तथा इससे उत्पन्न क्रियाएँ लगातार होती हैं। इसके विपरीत उच्च आवृत्तियों एवं निम्न तापों पर ऊर्जा-विनियम में भाग लेने वाले ऊर्जा कण बड़े होते हैं तथा उनकी संख्या भी कम होती है और क्रियायें लगातार नहीं होती। यही कारण है कि प्लांक का यह नियम रेले के नियम से उच्च आवृत्तियों एवं निम्न तापों पर मेल नहीं खाता। तापीय सन्तुलन युक्त कोष्ठक के लिये रेले का नियम यह था कि प्रत्येक ताप पर आवृति बढ़ने के साथ-साथ घनत्व में एक सम वृद्धि होती है। परन्तु प्रयोगों द्वारा इसका ठीक स्पष्टीकरण नहीं हो सका तथा अन्त में प्लांक ने बताया कि पहले यह घनत्व आवृति के साथ बढ़कर एक उच्चतम मान प्राप्त कर लेता है तथा घटते-घटते अति उच्च आवृत्तियों के लिये इसका मान अनन्ततः छोटा हो जाता है। अतः यह समझ लेना सरल है कि वस्तु-विकिरण के पूर्ण घनत्व का मान निश्चित ही रहेगा। इस प्रकार चिर-प्रतिष्ठित सिद्धान्त में उत्पन्न कठिनाइयों का अन्त हो गया।

क्वांटम सम्बन्धी वृहत् ज्ञान के लिये पहले हम निम्न तथ्यों पर विचार करना उचित समझते हैं।

(अ) सापेक्षिक वाद का सिद्धान्त।

(ब) फोटो-विद्युत् प्रभाव

(स) विकरित परमाणविकता

(द) तरंग-यांत्रिकी—इलैक्ट्रानों का विवर्तन तथा गैत्रों का सिद्धान्त।

(य) बोह्र का परमाणु

(फ) अनिश्चितता का सिद्धान्त

आधुनिक सैद्धान्तिक भौतिक विज्ञान के ये ही आधार स्तम्भ हैं और हम इनमें से हरेक की व्याख्या करेंगे।

सापेक्षवाद का सिद्धान्त

इस सिद्धान्त के विकास का प्रारम्भ गतिशील मध्यमों के सम्बन्धित प्रकाश विज्ञान के तथ्यों पर आधारित हैं। फ्रैनेल के कथनानुसार प्रकाश-किरण के गमन करने के लिए किसी माध्यम का होना आवश्यक है तथा उसने प्रकाश सम्बन्धी धारणा में ऐसे ईथर का अस्तित्व माना जो सम्पूर्ण ब्रह्मांड में व्याप्त है और सभी वस्तुओं के मध्यान्तरों में भरा हुआ है जो प्रकाश-तरंगों के लिये वाहन का कार्य करता है। परन्तु मैक्सवेल के विद्युत चुम्बकीय सिद्धान्त ने ईथर की सत्ता पर अधिक ध्यान देना आवश्यक नहीं समझा। फिर भी विशेषत: फिरजजिरैल्ड और लारेन्ट्ज ने यह धारणा प्रस्तुत की कि जब कोई भौतिक वस्तु ईथर माध्यम से गमन करती है तो उसका कुछ अकुञ्चन हो जाता है जिससे गमन की दिशा में उसकी लम्बाई घट जाती है। किन्तु उससे अनुप्रस्थ दिशा की लम्बाई अपरिवर्तित रहती है और इस अकुंचन का ही यह परिणाम निकला कि उस गति के कारण प्रकाश-प्रचरण पर जो प्रभाव पड़ना चाहिये था, उसका पूर्णरूपेण प्रतिकार हो जाता है। किन्तु प्रत्यक्ष है कि यह परिकल्पना पूर्णत: कृत्रिम थी और असफलता को ढकने के लिये बनायी हुई प्रतीत होती थी। इस समस्या का समाधान सन् १६०५ में एलबर्ट आइन्स्टाइन ने अपने प्रयास द्वारा किया।

लौरेन्ट्ज-रूपान्तरण में निम्न दो बातें निहित थीं :

१—निरपेक्ष काल का अस्तित्व है ही नहीं, अर्थात् सापेक्ष गतिवाले दो प्रेक्षकों द्वारा निर्णीत समय अथवा कालान्तर बराबर नहीं होते।

२—दो द्रव्यों की दूरी का मान या दिगन्तराल भी निरपेक्ष नहीं होता अर्थात् उन दो प्रेक्षकों के लिये बराबर नहीं होता।

यदि समय और दूरी की निरपेक्षता को हम सही मान लें तो पूर्णरूपेण हमें गैलीलीय रूपान्तरण भी स्वीकार करने पड़ेंगे क्योंकि गैलीलीय रूपान्तरण उस परिकल्पना पर आधारित था जिसमें दिक् (अकाश) और काल एक दूसरे से पूर्णत: स्वतंत्र माने गये थे। अर्थात् इस धारणा को सही देने के लिये आइन्स्टाइन महान ने बतलाया कि अगर कालान्तरालों और दिगन्तरालों को प्रयोग द्वारा प्रदर्शित किया जा सके तो लौरेन्ट्ज रूपान्तरण की सत्यता की व्याख्या दी जा सकती है अर्थात् उन्होंने प्रस्तुत विश्लेषण के लिये इस मूल-परिकल्पना को आधार माना कि ऊर्जा या अन्य किसी संकेत का स्थानान्तरण प्रकाश के शून्याकाशीय वेग की अपेक्षा अधिक नहीं हो सकता और प्रकाश का वेग एक नियत है, नहीं केवल प्रचरण की दिशा पर एवं प्रेक्षकों के आपेक्षिक वेगों से भी सदैव स्वतंत्र रहता है।

सर्वप्रथम आइन्स्टाइन ने इस प्रश्न पर विचार किया कि किसी भी निर्देश नियामक में विभिन्न स्थानों पर समय को नापने वाली घड़ियों में संकालत्व कैसे स्थापित किया जाये। यह तो असंभव है कि दो स्थानों पर दो घड़ियों के मध्य संकालन की तुलना प्रत्यक्षत: की जा सके। अत: ऐसी घड़ियों का संकालन केवल संकेतों के विनिमय द्वारा ही संभव है। यह बतलाना सरल है कि कार्य को करने की यथार्थ पूर्ण विधि क्या है अगर किसी भी नियामक की समस्त घड़ियों में समय एक हो जाने पर हम कह सकेंगे कि उस नियामक का कोई नैज समय है, किन्तु यह ध्यान रहना चाहिये कि इस प्रकार स्थापित किया हुआ संकालत्व केवल उसी नियामक के लिए यथार्थ होगा, जिसमें यह संकालन किया गया था। या यों कह सकते हैं कि उन नियामकों के लिए उसकी अपेक्षा स्थिर हो, किन्तु इस प्रकार समस्त विभिन्न नियामकों के लिये एक ही निरपेक्ष समय निर्णीत करना असंभव है। यही आइन्स्टाइन महान के विश्लेषण का नया परिणाम था।

प्रयोग

मान लीजिये कि अ तथा ब दो निर्देश नियामक हैं, जो क्रमश: सरल-रेखात्मक तथा अचर-वेगीय सापेक्ष

भतियाँ हैं। साथ-साथ ही यह भी मान लिया गया है कि दोनों ही नियामकों में घड़ियों का संकालन कर लिया गया है और तब अ 'नियामक के विभिन्न विन्दुओं पर' परस्पर-संकालित घड़ियाँ रख दी गई हैं। तथा इसी प्रकार ब नियामक के विभिन्न विन्दुओं पर भी रख दी गई हैं जैसे ही अ 'की संकालन घड़ियाँ, स्थिर ब से होकर गुजरेगी। अब अगर अ नियामक में घड़ियों के पास ही कुछ समय प्रेक्षकों को बैठा दिया जाये और यह आदेश दे दिया गया है कि जैसे ही उनके संमुख ब नियामक की जो घड़ी आये, कोई विशेषत: निर्दिष्ट समय को देख कर लिख ले तो हम पायेंगे कि उन विभिन्न समय प्रेक्षकों द्वारा ब नियामक की गतिशील घड़ियों में प्रेक्षित समय विभिन्न निकलेंगे। इसको यों भी कह सकते हैं कि एक ही नैज क्षण पर नियामक अ' तथा ब की विभिन्न घड़ियों के प्रेक्षित समय विभिन्न निकलेंगे।

आइन्स्टाइन के प्रयास से लौरन्ट्ज-रूपान्तरण की भौतिक व्याख्या दी जा सकी कि अगर कोई भौतिक वस्तु किसी प्रेक्षक को चलती हुई प्रतीत हो तो उस गति की दिशा में उस वस्तु की लम्बाई उस वस्तु के सहगामी किसी अन्य प्रेक्षक द्वारा नापी हुई लम्बाई की अपेक्षा छोटी मालूम पड़ेगी—इस प्रकार त्रिमितीय-विश्व के स्थान पर प्रेक्षकों के लिये आकाश तथा काल के निर्देशकों के पारस्परिक सम्बन्धों को निरूपित करने के लिये एक चतुर्विमितीय विश्व की कल्पना की गई जिसमें लौरन्ट्ज रूपान्तरण में निहित दिक् एवं काल सम्बन्धी घटनाओं का सत्यापन हो सका। अब इस ज्यामितीय निरूपण को दिक्-काल के नाम से सम्बोधित किया जाता है।

सापेक्षवाद के रूप

सापेक्षवाद-सिद्धान्त के दो रूप हैं, (अ) विशिष्ट आपेक्षिकता तथा (ब) व्यापक आपेक्षिकता। विशिष्ट सापेक्ष सिद्धान्त की व्याख्या सन् १९०५ में सारूप्य रैखिक गतियों की समस्याओं के ऊपर आधारित है। उदाहरणार्थ, यदि एक प्रेक्षक अपने उपकरण के साथ एक दूसरे प्रेक्षक अन्योन्य सापेक्ष सरल रेखा में अचर वेग से गतिमान है तो यह सिद्धान्त विशेषत: मूल गतिशील जटिल समस्याओं का समाधान करता है, इसका सम्बन्ध अधिकतर प्रकाशीय घटनाओं पर आधारित है। सन् १९१५ में इस सिद्धान्त की विस्तृत रूपरेखा स्थापित की गई जो असारूप्य गति की कुछ अधिक (व्यापक) स्थितियों की व्याख्या प्रस्तुत करती है जहाँ एक निर्दिष्ट-तंत्र में त्वरित वेग से दूसरे के सापेक्ष गतिमान है। इस सिद्धान्त के विस्तार को **व्यापक आपेक्षिकता** का नाम दिया गया, क्योंकि यह वस्तुओं की त्वरित गतियों से सम्बन्ध रखती है।

विशिष्ट आपेक्षिकता का सिद्धान्त

यह सिद्धांत दो धारणाओं पर मूलत: आधारित है।

१—भौतिकीय घटनाओं के नियम समान हैं, जब कि उनकी व्याख्या दो संस्थान नियामकों में एक दूसरे के सापेक्ष सारूप्य रैखिक गति से की जाये।

२—प्रकाश का वेग शून्य स्थान में नियत होता है, वह केवल प्रचरण की दिशा पर ही अवलम्बित नहीं होता बल्कि स्रोत एवं प्रेक्षक के सापेक्ष वेगों से भी स्वतंत्र होता है।

उपर्युक्त दो स्वयं-सिद्ध-प्रमाणों में से द्वितीय सिद्धान्त प्रथम की अपेक्षा अधिक मुख्य तथा अधिक दृढ़ है। चिर-प्रतिष्ठित विचारों के आधार पर हम आपेक्षिकता के प्रथम-प्रमाण को द्वितीय प्रमाण की धारणा से पृथक व्यक्त करते हैं जो समान भार के सिद्धान्त का भी विरोध नहीं करता। प्रकाश के नियत होने को सार्वलौकिक माना गया तथा इसका उपयोग दोनों प्रकार के संस्थानों में किया गया। इस प्रकार इन दो स्वयं-सिद्ध-प्रमाणों के संयोग से अनेक आवश्यक परिणाम प्राप्त हुये, तथा इसी के फलस्वरूप ईथर की निरर्थकता पर ध्यान दिया गया तथा क्वांटम प्रकृति के विकिरणों की सत्ता का ज्ञान प्राप्त हुआ।

व्यापक आपेक्षिकता का सिद्धान्त

विशिष्ट आपेक्षिकता का सिद्धान्त सारूप्य रेखिक गति के संस्थान को व्यक्त करता है जिसको जड़त्व

संस्थानों का नाम दिया गया और जिन संस्थानों में जड़ता का नियम लागू होता है। उदाहरणार्थ, माना कि कोई वस्तु अ स्थिर अवस्था में है और यह तब तक रहेगी जब तक कि उसे बाह्य बल से प्रेरित न किया गया हो और अगर गति में थी, तो गतिमान रहेगी।

आइन्स्टाइन के सिद्धान्त के अनुसार इसे प्रकार के समस्त संस्थानों की भौतिकीय नियमों की रचना समान रहती हैं। समान भार के सिद्धान्त से गतिमान संस्थानों को व्यक्त करने के लिये इसे 'व्यापक सापेक्षवाद के सिद्धान्त में विस्तृत कर दिया गया। यह मूलत: गुरुत्वाकर्षण सरलतम भौतिकीय घटना को व्यक्त करती है। चिर-प्रतिष्ठित यांत्रिकी के अनुसार जो वस्तु सारूप्य वेग से गतिमान हैं तथा जो त्वरणित वेग रखती है। दूसरी स्थिति में जड़त्व बल कार्य करते हैं। घूमने से उत्पन्न सैन्ट्रीफुगल बल भी जड़त्व बल का प्रमाण है। इस प्रकार की स्थितियों में जहाँ जड़त्व बलकार्य कर रहा है, उनकी गति की गणना प्रयोग द्वारा संस्थान में स्थापित की जा सकती है। इसलिये वैज्ञानिकों ने त्वरण पर परम मानने की ठानी लेकिन आइन्स्टाइन महान ने आपेक्षिकता की व्यापकता को प्रकट किया जिसका प्रयोग त्वरित संस्थानों के लिये भी प्रयुक्त किया जा सकता है। उन लोगों को त्वरण को परम न मानने के लिये बाध्य किया गया।'

अब गुरुत्वाकर्षण के कारण त्वरण की विशेष स्थिति पर विचार होगा जिसमें चिर प्रतिष्ठित गुरुत्वाकर्षण की व्याख्या दूरी पर की क्रिया को पुनः माना तथा द्रव्य एवं वस्तुओं के मध्य आकर्षण बल की सत्ता की धारणा को व्यक्त किया। उदाहरणार्थ, जब वस्तु द्रव्यमान की ओर गिरती या आकर्षित होती है। यह आकर्षण की शक्ति द्रव्यमान के समीप दिक् में स्थाई रूप से विद्यमान होती है। दिक् की सीमा द्रव्यमान को घेरे हुये है, वह गुरुत्वाकर्षण के क्षेत्र को उत्पन्न करती है और यही सारूप्य त्वरण का एकमात्र करण है और यह त्वरण गुरुत्वाकर्षण द्वारा जनित त्वरण है।

(क्रमश:)

कितनी दूर की सूझती है?

सपाट धरती से लेकर किसी ऊँची बिल्डिंग की छत, या पहाड़ की चोटी तक थोड़ी-थोड़ी चढ़ाई पर आपकी दृष्टि-सीमा किस प्रकार बढ़ती जाती है, यह कभी सोचा है ? इसका भी गणितबद्ध हिसाब है। उदाहणार्थ—

धरती से आप

१ फुट ऊँचे खड़े होकर १½ मील दूर तक की वस्तु देख सकेंगे

१०	,,	४½	,,
१००	,,	१३½	,,
१०००	,,	४२	,,
५२८०, (एक मील)		९६	,,

जब हम नहीं थे, तब भी यह था स्पंज

अब की बार नहाते समय शरीर पर स्पंज घिसें तो पहिले तनिक रुक जाएँ। उसे अवसर दें कि वह जो कुछ कहने को अकुला रहा है, कह दे। यह कम महत्व की बात नहीं कि सृष्टि के आदिकाल में जब मानवोत्पत्ति की कदाचित् कोई योजना भी न रही होगी, तब भी यह स्पंज था, और आज भी यह स्पंज है! अत: एक बार तो इसे आदर की दृष्टि से देखना ही चाहिए। इस रूप में तो यह स्पंज नामक जल-जीव का कंकाल मात्र है और कोने में चुपचाप पड़ा हुआ, बीते दिनों की याद में सूखता, सिकुड़ता आपकी सेवा कर लेता है। हाँ, पानी इसे इतना प्रिय है कि प्राण न होते हुए भी पानी के स्पर्शमात्र से मानो इसमें सोये प्राण जग उठते हैं और तब यह मानो प्रसन्नता से फूल उठता है!

दोगली मक्का

रमेशचन्द्र

हाल के वर्षों में कृषि-विशेषज्ञों द्वारा जो विलक्षण सफलताएँ प्राप्त की गई हैं, उनमें से एक है अत्यन्त उपजाऊ दोगली नस्ल के तथा सुधरी हुई किस्म के ऐसे अन्नों का विकास जो रासायनिक खाद पाकर खूब पनपते हैं। अन्नों के इस प्रकार के बीज आज समस्त संसार की कृषि में उसी प्रकार क्रान्ति कर रहे हैं जिस प्रकार की क्रान्ति इस शताब्दी के प्रारम्भ में रासायनिक खादों ने की थी।

इनमें सबसे अधिक सुविदित दोगली किस्म की मक्का है। मक्का की इन दोगली किस्मों का विकास १९२०-३० के दौरान अमेरिका में हुआ था तथा १९४०-५० में अमेरिका के किसानों का तथा १९५०-६० में संसार के अन्य कई देशों इटली, यूगोस्लाविया, तुर्की, मध्य मैक्सिको, कोलम्बिया, आर्जेन्टीना, पेरू, चिली इत्यादि—के किसानों का ध्यान इनकी ओर आकृष्ट हुआ। आज, अमेरिका में मक्का उगाने वाली ९९ प्रतिशत भूमि पर तथा उत्तर भूमध्यसागरवर्ती अधिकांश क्षेत्रों और दक्षिण अमेरिकी देशों में दोगली किस्म की मक्का उगाई जाती है।

भारत में दोगली किस्म की मक्का उगाने का प्रयास १९ वर्ष पूर्व किया गया था। लेकिन, वे प्रारम्भिक प्रयास सफल नहीं हुए। उस समय जिन दोगली नस्लों का विकास हुआ वे स्थानीय मक्का की उन विभिन्न किस्मों के संयोग से तैयार की गई थीं जो पिछले ४०० वर्षों से निरन्तर उगाये जाने के कारण अपनी अधिकांश उर्वरा-शक्ति खो बैठी थीं। लगभग ४०० वर्ष पूर्व ही पुर्तगाली उत्तरी अमेरिका से मक्का के बीज भारत लाये थे। १९५३ और १९५६ के मध्य भारत में मक्का की विदेशी दोगली किस्में लाने के प्रयास किये गये। लेकिन, वे भी विशेष सफल नहीं हुईं। भारतीय किसानों ने अमेरिकी मक्का के प्रति कोई विशेष उत्साह नहीं दिखाया और विदेशी किस्म की मक्का की फसल तैयार होने में भी कुछ अधिक समय लगा। इसके कारण इससे कई क्षेत्रों में दुहरी फसल उगाने का कार्यक्रम घपले में पड़ गया।

लेकिन इन असफलताओं से अमेरिकी और भारतीय विशेषज्ञ निराश नहीं हुए। उन्होंने १९५७ में पुन: प्रयास किया। इस बार उन्होंने विदेशी किस्मों तथा स्थानीय किस्मों के संयोग से मक्का की नई किस्में तैयार कीं। इनमें से प्रथम चार सफल किस्में (गंगा-१, गंगा-१०१, रणजीत और दक्खिनी) १९६०-६१ में बड़े पैमाने पर बोवाई के लिए किसानों को दी गईं।

मक्का की खेती को प्रोत्साहन देने के उद्देश्य से भारतीय कृषि-अनुसन्धान परिषद् ने १९६१ में न केवल बहुत वर्षों से मक्का की खेती करने वाले गंगा नदी के मैदानी इलाके में, अपितु मद्रास, राजस्थान, आन्ध्र-प्रदेश तथा मैसूर, असम, पश्चिमी बंगाल और उड़ीसा में नई किस्मों की मक्का की प्रदर्शनात्मक कृषि करने का कार्यक्रम प्रारम्भ किया। इस प्रदर्शनों की व्यवस्था राज्यीय सरकारों के सहयोग तथा अमेरिका की 'अन्तर्राष्ट्रीय विकास एजेन्सी' और रौकफेलर प्रतिष्ठान की सहायता से की गई। नव स्थापित 'राष्ट्रीय बीज निगम' ने भी इसमें योग दिया।

राज्यों के कृषि-विभागों के जिला-अधिकारियों द्वारा प्रदर्शन के लिए खेतों का चुनाव सावधानी के साथ किया जाता है। ये खेत बहुधा ग्रामों की व्यस्त सड़कों के किनारे होते हैं ताकि अधिक से अधिक किसान परीक्षण के परिणामों को देख सकें।

जिन कृषि-विधियों की सिफारिश की गई है, वे बहुत ही सरल परन्तु आधुनिक हैं। स्थानीय बीजों के लिए सात तथा दोगली किस्मों के लिए आठ विधियाँ सुझाई गई हैं। प्रथम कोटि में ये बातें आती हैं : १—बीज को बोने के लिए खेत को अच्छी तरह तैयार करना; २—अच्छी किस्म के स्थानीय बीज का चुनाव करना; ३—रासायनिक उर्वरक और सामान्य खाद का विवेकपूर्ण ढंग से उपयोग करना; ४—बराबर दूरी छोड़ कर बनाई गई कतारों में बीज बोना; ५—घास-फूस को समय समय पर साफ करते रहना; ६—कीटमार और रोगाणुनाशक औषधियों का प्रयोग करना; ७—पानी की निकासी की उचित व्यवस्था करना। दोगली किस्मों के बीज इस्तेमाल करने पर यह आवश्यक हो जाता है कि हर बोवाई के अवसर पर प्रमाणित किये गये ताजे बीजों का ही उपयोग किया जाये। इस बात पर भी बल दिया जाता है कि न केवल बोवाई के अवसर पर, अपितु फसल पकने के समय तक फसल की होशियारी के साथ देख-भाल की जाये।

प्रदर्शन की दृष्टि से संचालित इस कार्यक्रम में अमेरिका की 'अन्तर्राष्ट्रीय विकास-एजेन्सी' और 'राष्ट्रीय बीज निगम' चार प्रकार से सहायता करते हैं : १—अंगरेजी तथा भारतीय भाषाओं में छपी हुई निर्देश-पुस्तिकाओं का वितरण; २—आवश्यक प्रशिक्षण एवं पाठ्य-सामग्री की व्यवस्था; ३—बीज प्राप्त करने के लिए धन सुलभ करना तथा निशानों की पहचान की व्यवस्था करना; ४—जिले से कृषि-विकास अधिकारियों को आवश्यक जानकारी उपलब्ध करना।

कई स्थानों में उचित देख-भाल नहीं की जा सकी, अतः सभी प्रदर्शन पूर्णतः सफल सिद्ध नहीं हुए हैं। इसीलिए, यद्यपि हर वर्ष इस प्रकार आयोजित प्रदर्शनों की संख्या निरन्तर बढ़ती जा रही है, फिर भी उनकी संख्या पर इसलिए नियन्त्रण रखा जा रहा है ताकि उनकी पूरी तरह देख-भाल हो सके। १९६१ में १५७ प्रदर्शनों की व्यवस्था की गई थी। १९६३-६४ में इनकी संख्या २६१ तक पहुँच गई। पिछले दो वर्षों में एक दिलचस्प बात यह सामने आई है कि कुछ राज्यों ने—उदाहरणार्थ पंजाब ने—स्वयं इस प्रकार के प्रदर्शनों की व्यवस्था करना तथा ऐसे खेतों के लिए अतिरिक्त देख-भाल करना प्रारम्भ कर दिया है। इस प्रकार के खेतों को जितनी रासायनिक खाद की आवश्यकता पड़ती है उसकी पूर्ति भी अब राज्य सरकारों द्वारा स्वयं अथवा 'सेण्ट्रल फर्टिलाइजर पूल' द्वारा की जा रही है। राज्य सरकारें आवश्यक कीटमार दवाएँ भी इन्हें देती हैं।

अनेक सफल प्रदर्शनों द्वारा यह सिद्ध किया जा चुका है कि दोगली किस्म की मक्का का उपयोग करके एक एकड़ में ४१८ मन से लेकर ५६३ मन तक मक्का उत्पन्न की जा सकती है। स्थानीय बीजों से पैदा होने वाली फसल से यह मात्रा लगभग दुगनी है। मैसूर राज्य में, जहाँ जलवायु मक्का की खेती के लिए सम्भवतः अनुकूल है, प्रति एकड़ भूमि पर ७५ मन तक मक्का उत्पन्न की जा चुकी है—स्थानीय बीजों द्वारा उत्पन्न की जाने वाली फसल की तुलना में यह परिमाण तिगुना अधिक है। १९६३-६४ में मैसूर राज्य में जो प्रदर्शन किये गये उनमें से कई में एक एकड़ भूमि से १२५ मन तक मक्का पैदा हुई। अन्यत्र इसकी उपज प्रति एकड़ ८४ से लेकर ८८·५ मन तक रही।

दोगली किस्म की मक्का में एक और विशेषता यह होती है कि इसके डंठल मजबूत होते हैं तथा तेज हवा, वर्षा इत्यादि खतरों का अधिक भली प्रकार सामना कर सकते हैं।

एक महत्वपूर्ण निष्कर्ष यह है कि स्थानीय बीजों के साथ सुझाई गई विधियों का उपयोग करने से—जिनमें रासायनिक उर्वरक भी शामिल है—इतना लाभ नहीं होता कि कृषि पर हुए अतिरिक्त व्यय की पूर्ति हो सके। इसके विपरीत, दोगली किस्म का बीज तथा पर्याप्त रासायनिक खाद का इस्तेमाल करने से काफी लाभ होता है। इस प्रकार की कृषि से १९६३-६४ में प्रति एकड़ कुल ६०१ रुपये की आय हुई थी। खर्च को काट कर प्रति एकड़ कुल ४८५ रुपये बचे थे जिसमें से २२९ रु० विशुद्ध मुनाफा था। मैसूर राज्य में दोगली नस्ल के बीज बोने वाले किसानों की वार्षिक आय प्रति एकड़ १,००० रुपये से २,००० रुपये तक है।

उक्त प्रदर्शनों के फलस्वरूप पिछले चार वर्षों में मक्का की दोगली नस्लों के बीजों की मांग में जो वृद्धि हुई है, वह इस बात का प्रमाण है कि भारतीय किसान भी पश्चिमी किसानों की तरह नये विचारों के प्रति संवेदनशील हैं। वे आशा से भी अधिक तेजी से कृषि की आधुनिक विधियों का उपयोग करना सीख रहे हैं।

पूसा स्थित अखिल भारतीय मक्का सुधार योजना जिसके लिए वित्तीय सहायता 'भारतीय कृषि-अनुसन्धान परिषद्' द्वारा सुलभ की जा रही है—के योजना समन्वयकर्त्ता डा० एन० एल० धवन के अनुसार मक्का की दोगली किस्म को बढ़ती हुई लोकप्रियता के फलस्वरूप दोगली किस्मों के बीजों का अभाव हो गया है। बढ़ती हुई मांग को पूरा करने के लिए 'राष्ट्रीय बीज निगम' ने इस वर्ष अधिक परिमाण में दोगली नस्लों के बीज तैयार करने की योजना बनाई है।

दोगली किस्म के बीजों का बढ़ता हुआ उपयोग चौथी पंचवर्षीय योजना में भारतीय कृषि के विकास में उल्लेखनीय योग दे सकेगा। १९७१ तक भारत का खाद्यान्न-उत्पादन १२ करोड़ टन प्रतिवर्ष के लक्ष्य को प्राप्त कर सकेगा—इस प्रकार पिछले वर्ष के खाद्यान्न-उत्पादन (८ करोड़ ७० लाख टन) से यह उत्पादन एक तिहाई अधिक होगा। ●●

घंटेघर ने तरह घंटे बजाये

और, दुर्ग-रक्त की प्राण रक्षा का साधन जुट गया! लन्दन का प्रसिद्ध विण्डसर-दुर्ग और मध्य रात्रि के लगभग हारा-थका दुर्गरक्षक। जरा आँख लगी और बस, वहीं गुनाह हो गया—ऐसा गुनाह, जिसकी हलकी से हलकी सजा केवल मृत्युदण्ड! सफ़ाई में सन्तरी ने कहा—"मैंने बिगबैन घंटाघर के तेरह घंटे बखूबी सुने हैं, फिर सोना कैसा?', निर्णायकों ने पहले तो इसे बकवास ही समझा किन्तु जब ३-४ और भी व्यक्तिओं ने तेरह घंटे बजे होने की पुष्टि की, तब तो सन्तरी को निर्दोष छोड़ना ही पड़ा। हुआ भी यही था कि वायु की किसी अनहोनी चक्राकार गति के फेर में बारहवाँ घंटा घूम कर पुनः एकबार सुननेवालों के कानों से टकराया था। वैसे, बिगबेन में कोई यांत्रिक त्रुटि नहीं थी।

यह रायल सोसाइटी है

बहुत कम लोगों को ज्ञात होगा कि इंग्लैण्ड की इतिहास प्रसिद्ध रायल सोसाइटी का पूरा नाम है—The Royal Society of London for the Promotion of Natural Knowledge. अतः स्पष्ट है कि इस संस्था ने अपना कार्यक्षेत्र प्रकृति-विज्ञान तक ही सीमित रखा है। किसी प्रकार की सरकारी अथवा राष्ट्रीय सहायता पर किंचित् भी आश्रित न रह कर आज से ३०० वर्ष पूर्व २८ नवम्बर १६६० को संस्थापित इस संस्था ने इधर तीन शताब्दियों में विज्ञान की जो महानतम विभूतियाँ संसार को दी हैं, उनमें न्यूटन, फ्रैंकलिन, ब्वायल, हम्फ्रे डेवी, फेराडे तथा डार्विन आदि के नाम गिनाये जा सकते हैं। इसकी सदस्यता तीन श्रेणियों में विभक्त है—१. ब्रिटेन का राज्य-परिवार, २. देश-विदेश के चुने हुए वैज्ञानिक तथा ३. ब्रिटिश कामनवेल्थ के अधीन राज्यों से चुने हुए वैज्ञानिक। स्मरण रहे कि इसकी स्थापना का आधार सर फ्रान्सिस बेकन द्वारा प्रचारित यह उद्देश्य है कि 'हमें विज्ञान की प्रत्येक हलचल को केवल कुछेक प्रतीतियों तथा मान्यताओं पर से ही न मान लेना चाहिये, बल्कि प्रयोगात्मक कसौटी पर ही बल देना चाहिये।'

खबरदार, होशियार!

सड़क पर सरपट दौड़ती हुई कार के ड्राइवर को यह कौन कहने जायेगा कि आगे सड़क तंग है, ऊबड़-खाबड है, मोड़ तोड़ भी हैं और ट्राफिक भी अधिक है—चाल धीमी कीजिए, आदि, आदि। सड़कों पर लगी ऐसी तख्तियों का पालन कितना हो पाता है, यही सभी जानते हैं। अतः अमेरिकी वैज्ञानिकों ने इसके भी हल का प्रयोग हाल ही में कर दिखाया है। उन्होंने व्यस्त मार्गों पर इधर-उधर १००-१२५ एलेक्ट्रानिक ट्रान्स-मीटर खम्भों पर लगा दिए और प्रयोगस्वरूप उतने ही रिसीवर एक-एक ड्राइवर को बाँट दिए। जब तक वे रिसीवर उन ट्रान्समीटरों की पकड़ से बाहर रहें, तब तक तो वे चुप रहे, किन्तु ज्योंही कोई कार उनकी सीमा में पहुँची उन्होंने चीख-चीख कर ड्राइवर को सचेत करना आरम्भ कर दिया!

शिक्षा प्रसार पर्व एवं छात्रवृद्धि आन्दोलन

विगत वर्षों की भाँति इस वर्ष भी एक साप्ताहिक नवम् शिक्षा प्रसार पर्व अक्टूबर ६, १९६५ से समूचे प्रदेश में मनाया जा रहा है। वास्तव में ऐसे पर्वों से प्राथमिक स्तर पर ६-११ वर्षायु के बच्चों की उचित शिक्षा के प्रति पर्याप्त जन-चेतना संभव है। प्रदेश की वर्तमान शिक्षा योजना में प्राथमिक शिक्षा को महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है। सभी बच्चों को साक्षर बनाने की दिशा में शिक्षा विभाग वर्तमान योजना के प्रारम्भ से ही अधिक सचेष्ट है फलतः द्वितीय योजनान्त अर्थात् ३१ मार्च १९६१ तक जहाँ ६ से ११ वर्ष तक के स्कूल जाने वाले बालक-बालिकाओं का प्रतिशत क्रमशः ६५ तथा १९ था वहाँ ३१ मार्च १९६५ को वह क्रमशः ८८ तथा ५२ प्रतिशत तक पहुँच गया है जब कि योजना पूर्ति का अभी समय शेष है।

तृतीय पंचवर्षीय योजना के अन्त तक अखिल भारतीय स्तर पर स्कूल जाने वाले बालक तथा बालिकाओं का लक्ष्य क्रमशः ९७ तथा ६३ प्रतिशत निर्धारित किया गया है। यह हर्ष की बात है कि विशिष्ट योजनाओं एवं सम्मिलित प्रयासों के फलस्वरूप बालकों की शिक्षा के क्षेत्र में यह प्रदेश अखिल भारतवर्षीय उपलब्धियों से आगे बढ़ चुका है। हमारा लक्ष्य एवं प्रयास मार्च १९६६ तक ६५ प्रतिशत बालिकाओं को स्कूल प्रवेश कराने का है।

यह बात सत्य है कि बालिकाओं की शिक्षा की दिशा में प्रगति अधिक सन्तोषप्रद नहीं है। शासन उनकी शिक्षा के लिए सचेष्ट है और विशेष सुविधाएँ दे रही है जैसे अध्यापिकाओं को ग्रामीण भत्ता, आवास-गृह, सेवा कालीन प्रशिक्षण एवं छात्रवृत्ति, लेखन तथा पाठ्य-सामग्री का निःशुल्क वितरण, स्कूल माताओं की व्यवस्था आदि। बालिकाओं की शिक्षा कक्षा १० तक निःशुल्क है। यदि अपने नवोदित राष्ट्र एवं लोकतन्त्रात्मक राज्य-व्यवस्था को सुदृढ़ तथा प्रगतिशील बनाना है तो हमें बालकों के सदृश्य बालिकाओं की शिक्षा की ओर भी तत्परतापूर्वक ध्यान देना होगा। वास्तव में भावी सन्तान को योग्य नागरिक बनाने की मूल शक्ति एक शिक्षित नारी में ही निहित है।

आज की भूमिका में राष्ट्र को सब प्रकार से शक्तिशाली बनाने की आवश्यकता है और इसके लिए ज्ञानार्जन अनिवार्य है। अतएव इसके एकमात्र साधन पाठशाला को सुदृढ़ तथा साधन-सम्पन्न बनाने के लिए समाज का सहयोग आवश्यक है। मिश्रित विद्यालयों के अतिरिक्त कन्या विद्यालयों में बच्चों को नित्यप्रति नियम पूर्वक स्कूल भेजना, साज-सज्जा तथा पठन-पाठन संबंधी सामग्रियों की पूर्ति, निःशुल्क मध्यान्ह जलपान की व्यवस्था, भवन-निर्माण एवं उसकी मरम्मत करना आदि अनेक ऐसे कार्य हैं जो स्थानीय समुदाय के साधन के अन्तर्गत हैं। केवल इस ओर उनकी सद्भावना और आकर्षण की बात है।

सचमुच एक स्कूल का विकास उसके स्थानीय जन-समुदाय के शिक्षा एवं संस्कृति का प्रतीत यदि कहा जाय तो कोई अतिशयोक्ति न होगी। अब समय आ गया है जब कि स्कूल तथा समाज के बीच किसी प्रकार की दूरी नहीं रह गई है अतः दोनों का पारस्परिक योगदान सुनियोजित होना स्वाभाविक है।

स्कूल बच्चों की शिक्षा के साथ-साथ सामुदायिक केन्द्र के रूप में विकसित हों, समाज की निरक्षरता दूर हो और वह देश की सुरक्षा तथा समृद्धि के प्रति जागरूक हों।

शिक्षा प्रसार विभाग द्वारा

विश्वविख्यात भूमि वैज्ञानिक गिलवर्ट वुडिंग राबिन्स

प्रेमचन्द्र मिश्र

प्रोफेसर जी० डब्ल्यू० राबिन्सन का जन्म १८८८ ई० में स्रोपशायर के वेलिंगटन नामक स्थान में हुआ था। वाल्वेरैम्पटन की एक पाठशाला में १६ वर्ष तक अध्ययन करने के बाद कैप्स कालेज-कैम्ब्रिज में उन्होंने १६०७ में प्रवेश किया। इस अध्ययन काल में उन्हें कई तरह की छात्रवृत्तियाँ मिल रही थीं। सन् १६०६ में Natural Science Tripos की प्रथम वर्ष की परीक्षा प्रथम श्रेणी में पास किया और तभी से उनका झुकाव कृषि डिप्लोमा की ओर हो गया। सन् १६१० ई० में उन्होंने Natural Science Tripos के द्वितीय वर्ष का अध्ययन त्याग कर कृषि का अध्ययन प्रारम्भ कर दिया।

एक बार प्रोफेसर राबिन्सन का नाम भूल से डिप्लोमा के एक ऐच्छिक विषय फिज़ियालोजी में लिख दिया गया। उसका परिणाम यह हुआ कि जब श्री जे० एच० एम० मार्शल उनकी मौखिक परीक्षा लेने लगे तो ये एक भी प्रश्न का उत्तर न दे सके। अन्त में श्री मार्शल ने कहा "राबिन्सन तुम जो कुछ जानते हो बताओ" परन्तु राबिन्सन महोदय कुछ न बोल पाये और उन्हें ज़ीरो नम्बर मिला।

सन् १६१०, १६११ ई० में जब प्रो० राबिन्सन कैम्ब्रिज में पढ़ रहे थे उस समय, सर हाल रसल, न्यूमैन, फोरमैन देश के विभिन्न क्षेत्रों के भूमि सर्वेक्षण कार्य में संलग्न थे। उसी समय स्रोपशायर की काउन्टी काउन्सिल ने स्रोपशायर की भूमि का सर्वेक्षण करने के लिए एक आर्थिक सहायता देने की योजना प्रकाशित की जिसमें यह शर्त रखी गई कि इस कार्य को केवल काउन्टी का ही कोई क्षात्र कर सकता है। राबिन्सन महोदय को भूमि सर्वेक्षण का कोई ज्ञान नहीं था और वे डा० हालनन के साथ जीव-वैज्ञानिक अध्ययन कर रहे थे। सन् १६१२ ई० में हालनन के साथ ही राबिन्सन का एक शोधपत्र भी प्रकाशित हुआ। यह पत्र सुअरों के भोजन से सम्बन्धित था।

जब राबिन्सन महोदय ने स्रोपशायर की भूमि सर्वेक्षण कार्य करने की स्वीकृति दी तो उनको भूमि सर्वेक्षण की विधियों के अध्ययन के लिए न्यूमैन के साथ छोड़ दिया गया। इस तरह वे स्रोपशायर क्षेत्र में न्यूमैन के साथ २ वर्ष तक कार्य करते रहे। न्यूमैन भूगर्भ-विज्ञान के अध्ययन में रुचि रखते थे इसलिये वे भू-गर्भशास्त्र और परिस्थिति के आधार पर भूमि-सर्वेक्षण, करते थे परन्तु राबिन्सन इससे सहमत न थे और वे प्रयोगशाला में मिट्टियों का रासायनिक एवं भौतिक अध्ययन करना चाहते थे। अतः कुछ वर्षों पश्चात् उन्होंने भूमियों का प्रयोगशाला में अध्ययन प्रारम्भ किया। सन् १६१२ ई० में काउन्टी काउन्सिल ने स्रोपशायर के सर्वेक्षण का सम्पूर्ण शोधपत्र प्रकाशित किया और राबिन्सन महोदय १६१२ ई० में ही बेंगौर में कृषि रासायन के परामर्शदाता के पद पर नियुक्त किये गये।

वे कैम्ब्रिज में थे तभी से वेल्स की भाषा सीखने का प्रयास कर रहे थे और कुछ ही वर्षों में वे वहाँ की भाषा इतनी अच्छी तरह सीख गये कि वहाँ के निवासियों की तरह ही बोलने तथा पढ़ने लगे। वेल्स भाषा के ज्ञाता होने के कारण ही वे Classical Association की उत्तरी वेल्स शाखा के अध्यक्ष बने। वेल्स भाषा के

अतिरिक्त राबिन्सन महोदय, फ्रेन्च, इटैलियन, जर्मन तथा स्पेनिश भाषाओं को अच्छी तरह बोल, पढ़ व लिख सकते थे। वेल्स भाषी होने कारण ही राबिन्सन महोदय अपने शेष जीवन तक बेगौर में ही कार्य करते रहे।

वैसे तो वे कृषकों से मिल-जुल कर रहते थे परन्तु उनका कार्य केवल भूमि सर्वेक्षण और भूमियों का यांत्रिक विश्लेषण तथा विभिन्न भूमियों का पहचान करना ही रहा। भूमि की कण-रचना, कणों के आधार पर उनका विभाजन, भूमियों की संरचना, आदि पर उन्होंने जो महत्वपूर्ण खोज की है उसका भूमि विज्ञान के क्षेत्र में अद्वितीय स्थान है।

सन् १९१५, १९१७ तथा १९१९ ई० में उनके तीन शोधपत्र प्रकाशित हुए तथा सन् १९२२ ई० में इनके द्वारा एक नया यांत्रिक विश्लेषण का पूरा शोधपत्र प्रकाशित किया गया। राबिन्सन महोदय यांत्रिक विश्लेषण की विधियों पर पूर्ण भरोसा नहीं रखते थे और इसके लिये उन्होंने Sedimentation विधि भी निकाली। सन् १९२४ ई० में इनका एक बहुत ही महत्वपूर्ण शोधपत्र "The form of mechanical composition Curves of Soils and granular Substances." प्रकाशित हुआ। सन् १९२५ ई० में उन्होंने प्रो० जोन्स के साथ एक छोटा सा शोधपत्र "Degree of humification of soil organic matter." तथा सन् १९२६ में राबिन्सन, मैकलिन तथा राइस विलियम्स ने भूमि के कार्बनिक कार्बन से सम्बन्धित एक और शोधपत्र प्रकाशित किया। इसके अतिरिक्त सन् १९२८ ई० को "Nature" पत्रिका में "Nature of clays and the significance in weathering cycle" शीर्षक लेख प्रकाशित हुआ। सन् १९३० ई० में "Development of soil profile in North wales on the basis of the characteristics of the Clay fractions" नामक शोधपत्र प्रकाशित हुआ।

सन् १९३६ में वे इंग्लैंड और वेल्स के भू-सर्वेक्षण के डाइरेक्टर बनाये गये। सन् १९३२ में "Soils their origin and classification" नामक उनकी पुस्तक प्रकाशित हुई जिसका तीसरा संस्करण १९४९ में प्रकाशित हुआ। यह उस समय की भू-विज्ञान के क्षेत्र में प्रथम पुस्तक थी। वे सन् १९३४ ई० में वरसाइल्स में हुई अन्तर्राष्ट्रीय कांग्रेस के प्रथम आयोग की बैठक के अध्यक्ष थे। यहाँ अध्यक्ष की हैसियत से उन्होंने "Dispersion methods" पर वक्तव्य दिया। वे उत्तरी वेल्स के Classical association के सभापति और Dialectical Society के सदस्य थे। वे F. R. S. तथा प्रथम भू-वैज्ञानिक थे। सरजान रसल ने उनके बारे में इस प्रकार लिखा है "He was never hurried, never tired, he was acceptable everywhere and was trusted and esteemed by all." उनका स्थिर चिन्तन इस बात से ज्ञात होता है कि जिन खेतों से उन्होंने भूमि सर्वेक्षण के समय मिट्टी के नमूने खोदे थे वे क्षेत्र उनको अन्त तक याद थे। इन्होंने अपनी पुस्तक Mother Earth में अपने वैज्ञानिक अनुभव का विस्तृत विवरण देकर अपने तथा अन्य वैज्ञानिकों के कार्यों का तात्पर्य समझाने की कोशिश की। इस पुस्तक को भू-विज्ञान के क्षेत्र में एक महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। इस प्रकार बहुत से महत्वपूर्ण कार्यों के करने के बाद १९५० ई० उनका स्वर्गवास हो गया। उनका निधन बहुत ही असामयिक था। अभी मृदा-विज्ञान के लिये उनकी अत्यन्त आवश्यकता थी। श्री सी० जी० टी० मारिसन के अनुसार राबिन्सन महोदय की स्थानपूर्ति अत्यन्त कठिन है। जैसा कि उन्होंने कहा है। "His death was untimely and his loss irreparable. I can think of no better epitaph of Robinson himself than these his own words." वे अब नहीं रहे पर उनकी पुस्तकें तथा भूमि-विज्ञान के क्षेत्र में उनका कार्य अमर है। ऐसे धुरन्धर वैज्ञानिक विरले ही जन्म लेते हैं पर उनकी देन उस क्षेत्र में सक्रिय वैज्ञानिकों को चिरकाल तक लाभान्वित करती रहती है।

● ●

'धमकी'

राम लखन सिंह

उस दिन इतवार था। सभी जानते हैं कि इस दिन काफी हाउस में भीड़ होती है। देर से आये नहीं कि वापस लौटना पड़ा की बात भी सभी जानते हैं। इसलिए मैं जल्दी ही जाकर कोने की मेंज से चिपकी अकेली कुर्सी खींचकर बैठा था। मेज पर रखी ऐशट्रे में अधजली सिगरेट दम तोड़ रही थी। पता नहीं क्यों मुझे घुट-घुट कर मरती सिगरेट के उठते धूयें को देखना बड़ा भला लगता है। उस समय भी वही कर रहा था। तभी किसी ने पीछे से कंधा थपथपाया। चौंक कर देखा तो 'अणुबम' महाशय खड़े इस अदा से मुस्करा रहे थे जैसे मैं तपाक से उन्हें काफी के लिए आमन्त्रित कर दूँगा। मुझे अपने एकांत में बाधा डालने वाले से ऐसे ही नफरत हो उठती है, उस पर जब वह महाशय इन जैसे हों जिनके लिए मेरे मन में स्थायी घृणा पनप चुकी हो तो मेरे लिए यह सम्भव न हो सका कि मैं उन भावों को चेहरे पर आने से रोक सकूँ। मेरी उपेक्षा भरी खामोशी से वह महाशय तिलमिला उठे परन्तु गुस्से से किसी और मेज की ओर बढ़ जाने के बदले वह पास की कुर्सी खींच कर वहीं जम गये। और इसके पहले कि मैं उनकी इस बेतकल्लुफी पर कुछ कहूँ वे ही कह पड़े –'मुझे मालूम है कि अन्य औरों की तरह तुम भी मुझसे नफरत करते हो। परन्तु क्या मैं पूछ सकता हूँ कि मेरी बुराई क्या है...।'

'बुराई! मानवता के अस्तित्व के लिए खतरा बने हुए तुम, हजारों बेगुनाहों को मौत के मुँह दफना देने वाले तुम, शर्म से डूब मरने के बदले अपनी चर्चा करने का नैतिक साहस कैसे कर पाते हो...' कहते-कहते मेरे मन की सारी घृणा आँखों में उतर आयी थी। मेरे इस उत्तर पर कुछ क्षण तक मौन तकते रहने के बाद भरे स्वर में वह बोले–"काश कि तुम्हें मेरी आपबीती ज्ञात होती और तुम सोच पाते कि मेरा विनाशकारी रूप स्वाभाविक है .."

"मैं भी तो सुनूँ कह मजबूरियाँ जिन्होंने तुम्हें ऐसा बनाया..."

"..." कुछ क्षणों तक अपने आप में खोये रह कर उन्होंने कहना शुरू किया— 'तुमने 'यूरेनियम' का नाम सुना होगा। हो सकता है देखा भी हो। वह चम-चमाते रूप वाली नारी मेरी माँ है। उस जैसी रूप वाली और शील वाली दूसरी नारी नहीं मिलेगी तुम्हें। चमचम करता उसका रूप देख लोभी इन्सान के मुँह में पानी आ गया। वह भोला सा मुँह बनाये उसके पास गया। उसकी बड़ाई बखानी और अपनी प्रयोगशाला तक चलने को आमन्त्रित किया। दुनिया के छल प्रपञ्चों से दूर मेरी माँ उसके मन में छिपे पाप को भाँप न सकी और उसने उसकी प्रयोग शाला तक जाना स्वीकार कर लिया। वहाँ पर इन्सान ने अपनी शराफत का चोंगा उतार फेंका और उसकी रूप किरणों (अल्फा, बीटा और गामा किरणें) को छूना चाहा। परन्तु सती का तेज वह सह न सका और झुलस उठा। इस पर उसका क्रोध उग्र हो उठा और उसने उसे 'भारी पानी' (D_2O) के तालाब में डुबो दिया, जिससे उसका तेज दम तोड़ दे। वह बेचारी छटपटा कर शांत हो गयी। अब उसने उसके साथ मनमाना व्यवहार किया। उसने उसे निर्वसना करके उसकी नाभि (न्यूक्लियस) पर 'न्यूट्रान' के तेज अग्निबाण चला दिये। आखिर बेबस नारी कब तक विरोध करती। इन अग्निबाणों ने उसका दिल-तोड़ कर रख दिया। परन्तु वह एक

सती का दिल था और इसलिए टूटते-टूटते उसने उस बलात्कारी को भस्म कर देना चाहा। उसकी नाभि के टुकड़ों के साथ ही एक शोला (प्रत्येक यूरेनियम नाभि के विघटन से २००,०००,००० इलेक्ट्रान वोल्ट ऊर्जा प्राप्त होती है) निकला जिसमें वह जलते-जलते बचा। अब उसे पता चला कि 'वह रूपवती साधारण कोई राह चलती नहीं है, उसके सीने में महान् शक्ति का स्रोत छिपा है।' इस पर तो उसकी पिपासा और बढ़ी। उसने इस शक्ति के द्वारा एक महान नायक बनने की कल्पना की। इसके लिए उसने योजना बनायी कि 'यदि एक साथ ही अनेक यूरेनियम नारियों का विघटन किया जाय तो परिणामस्वरूप शक्ति का अखण्ड स्रोत मिलेगा।' बस इस रोमाञ्चकारी योजना को क्रिया में परिणित करने में उसने रंचमात्र भी विलम्ब नहीं किया। उसने ऐसी बर्बर एवं निर्मम हत्याओं की पूरी माला तैयार कर दिया। एक यूरेनियम की नाभि को स्वनिर्मित न्यूट्रान से विघटित करके उससे निकलने वाले प्रतिशोधी न्यूट्रानों से (यूरेनियम नाभि के विघटन में २·५ के लगभग सेकन्ड्री न्यूट्रान निकलते हैं) दूसरी नाभि और उससे प्राप्त न्यूट्रानों से अन्य तीसरी, चौथी नाभि को बिना एक क्षण का भी विलम्ब किये विघटित करता चला गया। इस क्रूर क्रिया को उसने 'चेन रिएक्सन' कह कर अट्टहास किया क्योंकि इसके द्वारा उसे अटूट शक्ति स्रोत मिल गया था। मैं यूरेनियम नारियों के हुए इस वर्बर व्यवहार की पापी औलाद हूँ। यही नहीं उसने जब देखा कि समस्त यूरेनियम नारियाँ उसके सामने आत्मसमर्पण नहीं कर रही हैं तो उसने उनमें से कमजोर दिल वाली मासूम बालाओं को अलग चुन कर अपना काम निकाला [यूरेनियम की मिश्र राशि में केवल २३५ इकाई भार वाली नाभियाँ ही न्यूट्रान से प्रभावित होती है तथा २३८ इकाई भार वाली नाभियाँ पूर्णतया उदासीन रहती है। इसलिए बम के लिए २३५-इकाई भार वाली राशि अलग करनी पड़ती है)। यही नहीं उसने इसमें उलझते देखकर अन्य पात्रों की तालाश में दृष्टि दौड़ायी। उसने हमारी ही बस्ती की एक अन्य जाति प्लूटोनियम को उपयुक्त समझ दबोच लिया। ऐसी ही निर्ममता से अगणित प्लूटोनियम बालाओं को एक साथ कैद करके जब अग्निवाण (न्यूट्रान) छोड़े तो चीत्र कराहों से सारा वातावरण दहल उठा परन्तु उसके दिल पर इसका कोई प्रभाव न पड़ा। वह अपने कुकृत्यों को उचित सोचता निरन्तर ऐसी जघन्य क्रियाओं में व्यस्त रहा। और इन निर्दोष नारियों की हर करुण चीख पर अट्टहास करके अपने सपनों में वास्तविकता का पुट देखता। वह दिन भी आया जब उसने एक कोठरी में इन मासूमों को भिन्न-भिन्न पर्दों में कैद करके अपना सपना साकार करना चाहा (एटम बम में नहीं प्रयुक्त यूरेनियम-२३५, या प्लूटोनियम-२३९ को एक पिंड के रूप में नहीं रखते वरना तत्काल चेनरिएक्सन स्थापित हो जाये और प्रयोगशाला में ही विस्फोट हो जाये इसलिए उसे कई एक भागों में बाँटकर बीच में स्पेशर (पर्दा डालकर अलग रखते हैं और उपयुक्त समय पर इन पर्दों को तोड़कर चेन रिएक्सन स्थापित करवा कर विस्फोट कर सकते हैं) इस प्रकार की क्रिया का प्रतिफल हूँ मैं। इस प्रकार मेरा जन्म मेरी ही माँ बहनों की चीख पुकार नहीं सुनता। मेरे दोस्त मैं उसे सुनाता हूँ और सुनकर तड़पता हूँ और यदि मेरी यह प्रतिशोधी तड़प उस इन्सान की माँ बहनों बच्चों को, बहरा कर दे तो मेरा क्या कसूर है। क्या तुम चाहते हो कि मैं बुजदिलों की तरह अपनी माँ-बहनों के साथ हुए अत्याचार को देखकर भी शान्त रह जाऊँ। बोलो, खूब सोचकर बोलो कि मैं बदला लेता हूँ तो क्या बुरा करता हूँ। मैं उसके हरे भरे चमन को वीरान करता हूँ तो क्या बुरा करता हूँ। क्या तुम सोचते हो कि—माँ के स्तन से लिपट कर चुहुक-चुहुक कर दूध पीते बच्चे को, माँग में सिन्दूर भरती सुहागन को, भाइयों से प्रेमालाप करती बहनों को शहनाई के स्वर पर सपने सँवारती दुल्हन को, सदा के लिए मौत में मुँह में ढकेलते मुझे दर्द नहीं होता परन्तु उस दर्द के अनुभव से जब मैं शांत होना चाहता हूँ तो मेरी बेमौत मारी गयी माँ-बहनों की पथराई आँखें घूरकर पूछती हैं, क्या तुम इन्सान को इसी तरह खेलते रहने को छोड़कर हम

सबका विनाश नहीं करवा दोगे ?' और उस समय मुझ पर खून सवार हो जाता है, मैं मीलों तक फैल कर इन्सान को मिटा देने पर तुल जाता हूँ, मेरा प्रकोप देखकर तूफान अपनी गति भूल जाता है, ज्वालामुखी भी लज्जित हो उठता है, धरती का सीना फट जाता है मेरे गर्जन से, आसमान काँप उठता है..." कहते कहते वह उठ खड़ा हुआ। सारा काफी हाउस इस कदर खामोश हो गया था जैसे श्मशान घाट हो। उनकी रोष पूर्ण मुद्रा देखकर सभी बुत से बैठे रह गये थे। वह कुर्सी छोड़ते हुए, हाथ की अधजली सिगरेट ऐशट्रे में फेंकते हुए चलने को मुड़ा। पुनः ठहरा—'मैं इतना और कहे जाता हूँ कि यदि इंसान ने मुझसे उलझना न छोड़ा, यदि वह इसी तरह मुझे कुछ करने को मजबूर करता रहा तो मैं एक दिन उसका नामोनिशान मिटा दूँगा...' और तेजी से बाहर निकल गया। सभी के सभी उसकी इस धमकी पर सिहर से उठे थे।

अब सोचता हूँ कि सम्भवतः वह ठीक था, गल्ती इन्सान की है। काश कि वह समय से पहले चेत जाये...।'

१९६५ के नोबेल पुरस्कार

इस वर्ष भौतिकी में जिन तीन वैज्ञानिकों को नोबेल पुरस्कार प्रदान किये जाने की घोषणा की गई है वे हैं—हार्वर्ड के ४७ वर्षीय प्रोफेसर जुलियन स्विंगर, कैलिफोर्निया इंस्टीच्यूट आफ टेकनालाजी के रिचर्ड फेनमैन तथा टोकियो यूनिवर्सिटी आफ एजूकेशन के शिनिसिरो टोमोनागा।

यह पुरस्कार इन तीनों को क्वांटम इलेक्ट्रोडाइनैमिक्स पर किये गये कार्य पर प्रदान किया गया है।

रसायन शास्त्र का नोबेलपुरस्कार हार्वर्ड के प्रोफेसर राबर्ट बर्न्स वुडवार्ड को प्रदान किया गया है। इनकी आयु ४८ वर्ष की है। इन्होंने कई नवीन "एंटी-बायटिक" तैयार किये हैं।

श्री शिनिसिरो टोमोनागा द्वितीय जापानी वैज्ञानिक हैं जिन्हें नोबेल पुरस्कार प्राप्त हुआ है। इसके पूर्व १९४९ में प्रोफेसर हिडेकी युकावा को भौतिकी पर यह पुरस्कार प्राप्त हो चुका है।

सार संकलन

१. हिन्द महासागर के नीचे एक विशाल घाटी की खोज

अमेरिकी वैज्ञानिकों ने हिन्द महासागर के नीचे एक विशाल समुद्र-गर्भीय घाटी की खोज की है, जो ६०० मील लम्बी और २५ मील तक चौड़ी है। वह घाटी, जो अण्डमन सागर में सुमात्रा के उत्तरी छोर और बर्मा के दक्षिण-पश्चिम स्थित नारकोण्डम द्वीप के बीच स्थित है, समुद्र जल के नीचे एक से ३ मील की गहराई में डूबी हुई है। यह ऊँची-ऊँची पहाड़ी चोटियों से घिरी हुई है, जिनमें से सबसे ऊँची चोटी घाटी के ऊपर १२,००० फुट ऊँची है।

यह खोज अमेरिकी वाणिज्य विभाग के 'कोस्ट एण्ड जियोडेटिक सर्वे' के महासागरीय विज्ञान-वेत्ताओं द्वारा की गयी है। उन्होंने पिछले वर्ष सर्वे' के जल-यान, 'पायोनियर' की समुद्र यात्रा के दौरान यह खोज की। यह अमेरिकी जहाज उन अनेक जहाजों में से एक था, जिन्होंने 'यूनेस्को' के अन्तर-सरकारी महासागरीय आयोग की ओर से आयोजित अन्तर्राष्ट्रीय हिन्द महा-सागरीय अनुसन्धान अभियान में भाग लिया।

'पायोनियर' पर सवार होकर प्राप्त की गयी ध्वनियों के आधार पर अमेरिकी वैज्ञानिकों ने इस घाटी की स्थिति का निर्धारण किया। यह घाटी निकोबार और अण्डमन द्वीप-समूह के पूर्व में और समान्तर फैली हुई है। उनका विश्वास है कि यह सम्भवतः नारकोण्डम द्वीप से जारी होकर इरावदी नदी की घाटी तक बर्मा में जाती है। वैज्ञानिकों ने सूचित किया है कि इस घाटी की सतह आधे मील से अधिक दूरी तक कूड़े-करकट और कीचड़ से ढकी है।

यह घाटी, जिसका नाम 'रिफ्ट वैली' है, दरारों के बीच पृथ्वी की गिरावट से बनी है। अण्डमन सागर की 'रिफ्ट वैली' उस घाटी जैसी है, जो अतलान्तक महा-सागर के भीतर फैली हुई मध्य-अतलान्तक पहाड़ी में प्रारम्भ होती है। अतलान्तक और हिन्द महासागर में 'रिफ्ट' घाटियाँ, ज्वालामुखियों के शान्त हो जाने पर पहाड़ी श्रृंखलाओं के विश्रृंखलित होने के फलस्वरूप उत्पन्न हुई। ज्वालामुखियों के चालू होने पर पृथ्वी ऊपर उठी, और उनके बन्द हो जाने पर वह फिर धँस गयी जिससे 'रिफ्ट' घाटियाँ बन गयीं।

'पायोनियर' पर सवार अनुसन्धान-कर्त्ताओं ने पानी के नीचे चमक पैदा करने वाले उपकरण का प्रयोग करके, जो समुद्री ध्वनि-लहरियों की सहायता से महा-सागर की तलहटी की मिट्टी के नीचे प्रविष्ट हो जाता है, यह अनुसन्धान किया। ये ध्वनि-लहरियाँ चट्टानी परतों, और पानी में डूबी भूमि से इस प्रकार प्रतिबिम्बित होती हैं कि उनकी गहराई और बनावट का निर्धारण किया जा सकता है। ध्वनि-चित्रों को एक कागज पर दृश्य चित्रों में उसी प्रकार परिणत कर दिया जाता है, जिस प्रकार समुद्री चट्टानों का फोटोग्राफ बनाने में होता है।

अमेरिकी वैज्ञानिकों ने विशिष्ट रूप से यह खोज की कि अण्डमन सागर की घाटी शिखरों के बीच औसत रूप से २० से २५ मील तक चौड़ी है। आरपार घाटी की सतह ५ से १० मील तक चौड़ी है। सबसे गहरा स्थान समुद्र के पानी की सतह से लगभग १५ हजार फुट गहरा है।

घाटी के दोनों ओर कई पहाड़ी चोटियाँ समानान्तर

जाती हैं। इनमें से कितनी ही समुद्र के पानी की सतह से कई हजार फुट ऊँची हैं। अन्य चोटियाँ एकदम डूबी हैं। कुछ तो पानी से एक मील नीचे हैं। सबसे ऊँची चोटी घाटी से १२ हजार फुट ऊँचाई तक जाती है। इसका ३ हजार फुट भाग पानी में डूबा है। यह निकोबार द्वीप समूह के सबसे उत्तरी दीप के पूर्व, ८० मील पर सुमात्रा के ठीक उत्तर-पश्चिम, स्थित है।

२. प्रकाश को लगभग शत-प्रतिशत प्रतिबिम्बित करने वाला नया दर्पण

सभी लोग जानते हैं कि दर्पण प्रकाश को प्रतिबिम्बित करता है किन्तु इस बात को बहुत कम लोग जानते हैं कि अधिकांश दर्पण अपने ऊपर पड़ने वाले प्रकाश के बहुत ही अल्प अंश को ही प्रतिबिम्बित करते हैं। अधिकांश प्रकाश को दर्पण आत्मसात कर लेता है या बिखेर देता है।

अमेरिका में एक लक्ष्य प्राप्त कर लिया गया है, जिसे प्राप्त करने का प्रयत्न बहुत दिनों से होता आ रहा था। अब एक ऐसा दर्पण विकसित कर लिया गया है जो लगभग शतप्रतिशत प्रकाश को प्रतिबिम्बित करता है।

यह आविष्कार दर्पण-निर्माण सम्बन्धी प्रविधि के क्षेत्र में एक प्रमुख प्रगति का सूचक है। फिर भी इसका उन साधारण दर्पणों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ने की सम्भावना है जिनका प्रयोग हर व्यक्ति रोजाना सिर के बाल सँवारते समय या दाढ़ी बनाते समय करता है।

किन्तु, अनुसन्धान करने वाले वैज्ञानिकों के लिए वह खोज व्यावहारिक दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

उदाहरण के लिए इस शताब्दी में विज्ञान के क्षेत्र में हुई सबसे प्रमुख प्रगतियों में एक है 'लेसर' की खोज। यह उपकरण पेंसिल जैसी पतली प्रकाश रेखा उत्पन्न कर सकता है, जो इतनी शक्तिशाली होगी कि तत्काल धातुओं को पिघला देगी या चाकू का प्रयोग किये बगैर और रक्त बहाये बिना ही शल्योपचार कर सकती है। इस प्रकार रेखा का प्रयोग दूर-दूर सूचना सम्प्रेषित करने के लिए भी हो सकता है।

लेसर के इन आश्चर्यजनक गुणों और सामान्य लोभों के बावजूद, वैज्ञानिक लेसर में से होकर और अधिक प्रकाश प्राप्त करने में असमर्थ होने के कारण इन प्रयोगों के लिए लेसर को विकसित करने में असफल रहे हैं।

लेसर द्वारा प्रकाश की उत्पत्ति अंशतः उस दर्पण की प्रतिबिम्बिकता पर निर्भर करती है, जो उसमें प्रयुक्त होता है। अधिक प्रतिबिम्बिकता का अर्थ है अधिक प्रकाश और अधिक प्रकाश का अर्थ है लेसर में अधिक शक्ति। नव-विकसित दर्पण का प्रयोग करके लेसर उस प्रकाश का कई गुना अधिक प्रकाश उत्पन्न कर सकता है, जो परम्परागत दर्पणों का प्रयोग करने पर उत्पन्न होता है।

इतना अधिक प्रतिबिम्बिक होने के कारण नये दर्पण उन दूरवर्ती संचार-प्रणालियों में, जिनमें लेसर द्वारा सूचना सम्प्रेषित होती है, प्रकाश-क्षेपक तत्वों के रूप में प्रयुक्त हो सकते हैं।

इसी प्रकार, ये दर्पण अन्य प्रकार के अनुसन्धान-कार्यों, जैसे रमणस्पेक्ट्रोस्कोपी में, जो प्रकाश के स्वभाव का अध्ययन करने में प्रयुक्त होती है, प्रयुक्त हो सकते हैं।

न्यूयार्क की बेल टेलिफोन लैबोरेटरी के डी० एल० पैरी ने इस दर्पण को विकसित किया है। उनकी प्रतिबिम्बकता पूर्णता के इतन निकट है कि विनष्ट प्रकाश की मात्रा अत्यन्त नगण्य होती है, इतनी नगण्य कि उसे वर्तमान उपकरणों द्वारा नापा नहीं जा सकता।

सर्वश्रेष्ठ परिणाम प्राप्त करने के लिए, एक अच्छे दर्पण की परतों में क्रम से ऐसी वस्तुएँ आती हैं जो भिन्न-भिन्न मात्राओं में प्रकाश को बिखेरती है।

किन्तु, व्यवहार में, जब दर्पण पर १५ से अधिक परतें जमा दी जाती हैं, तो दर्पण की प्रतिबिम्बिकता में सुधार असम्भव हो जाता है। इसका कारण यह है कि इस प्रकार की परतें, चाहे वे किसी भी पदार्थ की हों, कुछ न कुछ प्रकाश आत्मसात करती हैं या बिखेर देती

है। अभी तक यही समझा जाता रहा है कि १५ परतों वाले दर्पण में अधिकतम प्रतिबिम्बकता आ जाती है।

श्री पैरी ने प्रत्येक परत द्वारा आत्मसात करने या बिखेरने के फलस्वरूप प्रकाश की जो क्षति होती है, उस की मात्रा को कम करने एक तरीका ढूँढ़ निकाला। इस विधि द्वारा किसी दर्पण की प्रतिबिम्बकता को बढ़ाने के लिए ३५ परतों का प्रयोग आसानी से किया जा सकता है।

उनकी विधि के अन्तर्गत, वैकूम वाष्पीकरण द्वारा दर्पण पर बिजली के प्रवाह को रोकने वाली परत चढ़ा दी जाती है। पदार्थों को एक वैकूम में डाल दिया जाता है, जहाँ उन्हें उनके द्रव-बिन्दु से ठीक नीचे के तापमान तक तप्त किया जाता है, और उसके बाद उन्हें वाष्पीकृत कर दिया जाता है। (वैकूम में, वाष्पीकरण ऐसे तापमान पर सम्भव होता है, जो सामान्य द्रव-बिन्दु से नीचे होता है।)

भाप दर्पण के पृष्ठ भाग पर जमती जाती है, जहाँ वह घनीभूत होती जाती है। बिजली के प्रकाश को रोकने वाले (डाइलेक्ट्रिकल) पदार्थों को पाउडर के बजाय थक्कों के रूप में प्रयुक्त करके पैरी विधि ऐसे 'बड़े कणों' को जमने नहीं देती जो प्रकाश को बिखेरते हैं। इसके अतिरिक्त, पैरी-विधि में भिन्न भिन्न परतों की जमावट के बीच सफाई के लिये नये-नये तरीके प्रयुक्त होते हैं।

पैरी ने यह देखा कि अधिकतम प्रतिबिम्बकता प्राप्त की जा सकती है, बशर्ते कि प्रत्येक परत उस प्रकाश की तरंग दैर्घ्य के एक चौथाई के बराबर हो जिसे प्रतिबिम्बित करना है। बेल लेबोरेटरी के ही डा० ई० आई० गोर्डन के साथ मिल कर पैरी ने प्रत्येक परत पर जमा होने वाली भाप की मोटाई को नापने और उस मोटाई को वांछनीय मात्रा में नियन्त्रित करने की एक जटिल विधि विकसित की।

परीक्षणों में जिन फोटोग्रेफिक प्लेटों को परम्परागत विधि से निर्मित सर्वश्रेष्ठ दर्पणों के सामने भी प्रकाश-बिखेरने के उद्देश्य से रखा गया, उन पर धब्बे और पतली रेखाओं के चिह्न पड़ गये। इसके विपरीत, जब फोटोग्रैफिक प्लेटों को पैरी-विधि से निर्मित दर्पणों के सामने इसी उद्देश्य से रखा गया तो वे एक दम ठोस रूप से काले बने रहे।

●●
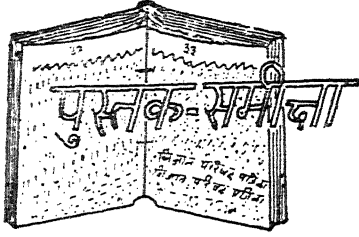
हिन्दी विश्वकोष : खण्ड ४ तथा ५ : नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी। प्रत्येक की पृष्ठ संख्या, ५०४। मूल्य : २५) प्रत्येक।

खण्ड ४ के प्राक्कथन से यह विदित होता है कि इसके प्रकाशन में प्राय: एक वर्ष का समय लगा। इस खण्ड में २१८ विशिष्ट विद्वानों द्वारा लिखित ७४६ लेख संग्रहीत है। खण्ड ५ के प्रकाशन में खण्ड ४ की अपेक्षा आधा समय लगा और इसमें २०१ लेखकों के ७६७ लेख संग्रहीत हुये हैं।

यह अत्यन्त हर्ष की बात है कि हिन्दी विश्वकोष के अगले खण्ड और भी कम समय में निकलने जा रहे हैं क्योंकि हिन्दी में इस प्रकार के विश्वकोष का अभाव बहुत ही खटकने वाला रहा है।

एक ओर जहाँ लेखों को लिखवाना एवं उनका संकलन करना अपने में कठिन कार्य है उसी प्रकार संकलित सामग्री को प्रेस के चंगुल से छुड़ाकर पाठकों के समक्ष सही सलामत रखना भी गुरुतर कार्य है। यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय तो अभी तक इन दोनों ही कार्यों में "हिन्दी विश्वकोष" के सम्पादक पूरी तरह सफल नहीं हुये हैं। उदाहरणार्थ, विभिन्न लेखों के कलेवरों में विषमता तो है ही, उनकी एकरूपता, वर्तनी तथा सामग्री की प्रामाणिकता के सम्बन्ध में भी अनेक त्रुटियाँ हैं। नीचे हम कुछ ऐसी त्रुटियों की ओर संकेत मात्र करेंगे।

(१) दोनों ही खण्डों में हिन्दी शब्दों के अंग्रेजी समानार्थी शब्द इस परिमाण में प्रयुक्त हुये हैं कि सरसरी निगाह डालने पर ऐसा प्रतीत होता है मानो इसके अधिकांश लेख अंग्रेजी से अनूदित हुये हैं।

(२) न केवल हिन्दी छापे की भूलें हैं वरन् अंग्रेजी शब्दों की अनेक वर्तनियाँ त्रुटिपूर्ण हैं।

(३) अंग्रेजी नामों के जो हिन्दी उच्चारण दिये गये हैं वे या तो दोषपूर्ण हैं या भ्रष्ट हैं।

(४) अनेकस्थलों पर जहाँ अंग्रेजी समानार्थी कोष्ठकों में रखे जाने चाहिए थे वे हिन्दी वर्तनी में लिख दिये गये हैं।

(५) कई स्थानों पर त्रुटिपूर्ण तथ्य प्रस्तुत हुये हैं।

स्पष्ट है कि उपर्युक्त प्रकार की त्रुटियों के लिए लेखक तो दोषी हैं ही, उससे अधिक दोषी सम्पादक मण्डल है जिसका कार्य है एकरूपता लाना।

हम अपने उपर्युक्त कथनों के स्पष्टीकरण के लिये खण्ड ५ से कुछ आँकड़े प्रस्तुत कर रहे हैं :—

पृष्ठ ३ द्वितीय स्तम्भ— कलिल के साथ साल, तथा जेल शब्दों का व्यवहार। "रसायनकों का शोषण" "टूट फूट में नष्ट हुये जीव द्रव्य के कण"। इनमें से टूट-फूट अंग्रेंजी के Wear and tear का अनुवाद है।

पृष्ठ ७ द्वितीय स्तम्भ—अंग्रेजी में Liebig किन्तु हिन्दी में लीबिख। स्वरूप के लिये स्वरूप।

पृष्ठ ६ प्रथम स्तम्भ—पौधों की वृद्धि में सहायक एंजाइमों में आक्सिन ए० तथा बी० का उल्लेख है किन्तु अब इनकी उपस्थिति गलत सिद्ध हो चुकी है।

पृष्ठ १० प्रथम स्तम्भ—एक ही है परिच्छेद में

आक्सीजन तथा ऑक्सिजन । इन दोनों में कौन ठीक है ?

वही—"नग्न आँखों द्वारा देखी जा सकती है" वाक्य में नग्न आँखें अँग्रेजी के bare eyes का अक्षरशः अनुवाद है ।

पृष्ठ ११ द्वितीय स्तम्भ—मैल्पिघाई का ३ बार व्यवहार (पृष्ठ १२ में भी) जबकि अंग्रेजी वर्तनी है Malpighi.

पृष्ठ १२ द्वितीय स्तम्भ—"मानव शरीर पर मोनोग्राफ प्रशंसनीय है" इस वाक्य के मोनोग्राफ शब्द की व्याख्या दी जानी चाहिये थी ।

पृष्ठ १४ द्वितीय स्तम्भ—'जाति' की उत्पत्ति के बाद तुरन्त ही 'जात' की उत्पत्ति आया है । तो शुद्ध कौन सा है जाति या जात ?

पृष्ठ १७ द्वितीय स्तम्भ—"बैक्टीरियों में लिंग जनन का सर्वथा अभाव है"—इस वाक्य में आधुनिक खोजों के अनुसार संशोधन आवश्यक है ।

पुनः—"जीवाणुओं के आकार प्रधानतया चार प्रकार के होते हैं" किन्तु आश्चर्य कि केवल ३ प्रकारों का वर्णन है जबकि पृष्ठ २१ पर दिया गया वर्णन ठीक है ।

"दबाव वाष्प में गरम करने से" इस वाक्य का अर्थ क्या है ?

पृष्ठ १८ प्रथम स्तम्भ—Nucleus की वर्तनी गलत दी है । Anti body के लिए **'रोग प्रतिकारक'** दिया गया है जबकि पृष्ठ ८ द्वितीय स्तम्भ में इसके लिये "प्रतिपिण्ड" का प्रयोग है ।

पृष्ठ १९ द्वितीय स्तम्भ—A. Van Leewen hock की वर्तनी पृष्ठ ११ पर Leeuwen hock दी गई है । इनमें कौन ठीक है ?

पृष्ठ २० द्वितीय स्तम्भ—शलाकार ? के स्थान पर शलाकाकार होना चाहिए था ।

पृष्ठ २१ द्वितीय स्तम्भ—परगोहरिम ? परगोहरि होना था ।

जीवाणु ? जीवाणु होना था ।

पृष्ठ २२ प्रथम स्तम्भ—"नाइट्रोजन अनुबन्ध" यह शब्दावली ठीक नहीं है जबकि "तापरागी" का व्यवहार बड़ा ही अच्छा बन पड़ा है ।

पृष्ठ २४ प्रथम स्तम्भ बेजियाटोआ, जबकि अंग्रेजी की वर्तनी Beggiatoa है ।

वही 'ये गुटिकायें वायु का नाइट्रोजन सोख कर उसे जीवाणुओं की कोशिकाओं में जमा करती हैं ।" में 'सोख' और 'जमा' के प्रयोग ठीक नहीं हैं । यह अति साधरणीकरण है ।

द्वितीय स्तम्भ—"माडी और शक्कर ?" मंड और शर्करा होना था ।

पृष्ठ ३५—"जुगुप्सा" के बाद लेखक का नाम नहीं दिया गया ।

पृष्ठ ३६ प्रथम स्तम्भ (नीचे)—इलेक्ट्रान किन्तु द्वितीय स्तम्भ में इलेक्ट्रानीय ?

पृष्ठ ४५ प्रथम स्तम्भ—यूरोपिया परन्तु आगे थूरोपिया ?

पृष्ठ ५८ द्वितीय स्तम्भ—जोतन यन्त्र ?

इस प्रकार से हिन्दी विश्वकोष जिसे सर्वथा त्रुटि रहित एक-सी शैली में एवं अत्यन्त प्रमाणिक होना चाहिए था वह नहीं हो पाया । साहित्यिक तथा राजनैतिक विषयों के कुछ लेख तो प्रचारात्मक जान पड़ते हैं और वृथा ही अधिक स्थान घेर रखा है । (पृष्ठ १०४ पर झा गंगानाथ की जीवनी ।)

आशा है इस छोटी सी आलोचना को ध्यान में रखते हुये अगले अंकों में यथेष्ठ सावधानी बरती जायेगी । हिन्दी की प्रतिष्ठा इसी में है कि उसकी वर्तनी, छपाई तथा संकलित सामग्री की प्रामाणिकता पर अधिक से अधिक ध्यान दिया जाय ।

● ●

सम्पादक के नाम पत्र

(१)

६-१०-६५

माननीय महोदय,

...आपके यहाँ से "सूर्यसिद्धान्त" का विज्ञान भाष्य आज से कई दशाब्द पूर्व प्रकाशित हुआ था। आपको तो यह अच्छी तरह ज्ञात है कि सूर्य सिद्धान्त की यह व्याख्या अनुपम ढंग से लिखी गई। ऐसे ग्रंथ रत्न का "आउट आफ प्रिंट" की अवस्था में दशाब्दियों तक पड़े रहना देश की अवैज्ञानिक मनोवृत्ति का पूर्णपरिचायक है।

आपसे मेरा सादर अनुरोध है कि आप इस भारत के जगमगाते रत्न को पुनः प्रकाशित कर विज्ञान प्रेमियों का महान उपकार करें। यदि आप परिषद् से इस ग्रंथ के प्रकाशन में असमर्थता का अनुभव करते हैं तो कृपया अन्यत्र से प्रकाशन की अनुमति दें। आपकी इस अनुमति को वैज्ञानिक संसार कृतज्ञता की दृष्टि से देखेगा।

भवदीय

भास्कर सिंह परिहार

गुरुवाइन डबरी

पो० कोदवा

जिला बिलासपुर, म० प्र०

प्रियवर

आपके इस सुझाव की हम प्रशंसा करते हैं। पिछले कई वर्षों से उक्त ग्रंथ एक प्रकाशक महोदय को (आपके सुझाव के पूर्व परिषद् ने अपनी सूझ से) प्रकाशनार्थ दिया जा चुका है किन्तु वे अभी तक इसकी महत्ता को नहीं समझ पाये। देखें क्या होता है।

सम्पादक

दिल देखो, कलेजा देखो

बगैर दिल की खिड़की खोले, बगैर कैंची छुआए तथा बगैर एक भी बूँद खून गिराए, दिल का आँखों देखा हाल बताने का दावा शिकागो के डा० वाल्टर, जे० गेम्बल ने किया है। मानव-स्तर तक इस प्रयोग को ले जाने के पूर्व उक्त चिकित्सक ने एक कुत्ते पर इसका सफल प्रयोग किया है। एक लम्बी, लचीली नलिका को कुत्ते की गर्दन के निकट से उन्होंने एक धमनी में प्रवेश कराया और हाथ साधे हुए, अत्यन्त धैर्यपूर्वक धीरे-धीरे धमनी के ही मार्ग का अनुसरण करते हुए नलिका को आखिर हृदय के निकट पहुँचा ही दिया। उक्त नलिका के सिरे पर एक सूक्ष्म कैमरा तथा फ्लैश लाइट का भी नन्हा उपकरण फिट कर रखा था। उन्हीं की सहायता से जो भी २-४ चित्र वह कैमरा, उतार कर ला सका, उन्हें अपने साथियों को उन्होंने दिखाया कि किस प्रकार बाहर ही से दिल तक का हाल मालूम किया जा सकता है!

●●

अधिक अन्न

आजकल देश में दोहरी लड़ाई लड़े जाने की चर्चा की जा रही है। एक है बाहरी शत्रु से और दूसरी है भूख से। भूख मनुष्यमात्र का सबसे बड़ा शत्रु है और उस पर विजय पाये बिना किसी भी क्षेत्र में अग्रसर हो पाना कठिन है। इसीलिए अन्नोत्पादन पर इतना बल दिया जाने लगा है।

भारतवर्ष ने स्वाधीनता प्राप्त करने के बाद जहाँ अनेक क्षेत्रों में प्रगति की है वहीं अन्नोत्पादन की दिशा में उसने कोई उल्लेखनीय प्रगति नहीं की। इसका एक कारण यह भी रहा है कि उसे अमरीका से गेहूँ मिलता रहा है। हमारे किसान अमरीकी गेहूँ को ही अपने उपयोग में लाते रहे और उन्होंने अधिक अन्न उत्पन्न करने का कोई प्रयास नहीं किया। फिर जलवायु की गड़बड़ी अथवा अन्य दैवी प्रकोपों के कारण रही-सही फसलें लगातार नष्ट होती रही हैं जिससे अन्नोत्पादन में बढ़ोत्तरी के बजाय कमी सी आई है।

तात्पर्य यह कि हम तथा हमारे किसान अन्य राष्ट्रों से प्राप्त अन्न पर जीवन निर्वाह के कुछ अंशों तक आदी हो चुके हैं। किन्तु जब अचानक राजनीतिक तनावों के कारण अमरीका ने गेहूँ न देने का निश्चय कर लिया है तो हमारे देश के राजनीतिज्ञों में खलबली मच गई है। यह खलबली कुछ हद तक सही है। किन्तु क्या इससे छुटकारे का कोई साधन नहीं? है अवश्य; किन्तु वह है आत्मनिर्भरता के द्वारा। इसके लिए हमारी पंचवर्षीय योजनाएँ बनती रही हैं किन्तु जिस स्तर तक हमें आत्मनिर्भर होना चाहिये था हम तीन पंचवर्षीय योजनाओं के पश्चात् भी अभी नहीं बन पाये।

आत्मनिर्भरता नारेबाजी से प्राप्त हो सकेगी, इसमें सन्देह है। अन्नोत्पादन की दिशा में आत्मनिर्भरता का अर्थ है और अधिक अन्न उत्पन्न करना। अधिक अन्न उत्पन्न करने के लिये जितनी भी उपलब्ध भूमि खेती के योग्य बनाई जा सके वह तो बनाई ही जाय, साथ ही साथ प्रति एकड़ अन्नोत्पादन की मात्रा भी बढ़ाई जाय। यह अधिक उपज सम्भाव्य है किन्तु इसके लिए विज्ञान की शरण में जाना पड़ेगा। अधिक उपज कोई जादू नहीं जो क्षण भर में ही प्रदर्शित की जा सके। इसके लिए भूमियों का सर्वेक्षण, परीक्षण एवं संरक्षण करना होगा।

भूमि के वैज्ञानिक अध्ययन की ओर भारत की रुचि रही है किन्तु सरकारी कार्य प्रणाली सदैव से अत्यन्त शिथिल रही है। आवश्यकता है कि शिथिलता के स्थान पर जागरूकता से काम लिया जाय।

उर्वरकों का उपयोग और सिंचाई के साधन—ये दो प्रमुख अंग हैं वैज्ञानिक खेती के। इन दोनों ही क्षेत्रों में हमें बहुत कुछ करना शेष है।

हमारे राष्ट्र के उन्नत कृषक, कृषि वैज्ञानिक एवं कृषि छात्र इस दिशा में आगे बढ़ें। स्त्रियाँ भी हाथ बटावें। राजनीतिज्ञ शान्त रहें। वे केवल यही उपदेश दें कि "अन्न उत्पन्न करो अन्यथा मरो।" यदि वीर सिपाही देश की रक्षा के लिए अपने प्राण दे सकते हैं तो ऐसी कोई बात नहीं कि हमारे कृषक अपने देशवासियों की शरीर-रक्षा के लिए प्राणपण से कार्य करके अधिक अन्न उत्पन्न न कर सकें।

आत्मनिर्भरता सफलता की कुञ्जी है।

●●

आवश्यक सूचना

स्वर्गीय श्री हीरालाल खन्ना की स्मृति में एक "स्मृति अंक" निकालने की योजना बनाई गई है जिसमें भारतवर्ष के मूर्द्धन्य शिक्षाशास्त्रियों, राजनीतिज्ञों एवं विद्वानों के लेख प्रकाशित होंगे।

यह स्मृति अंक "विज्ञान" के जनवरी तथा फरवरी १९६६ के संयुक्त अंक के रूप में प्रकाशित होगा।

हमारे पाठक, पुस्तकालय के अधिकारी एवं अन्य ग्राहक इसे नोट कर लें।

इस अंक का मूल्य १.०० रु० होगा। पृष्ठ संख्या १०० होगी।

इसमें लेखों के अतिरिक्त अनेक संस्मरण एवं चित्र भी होंगे।

अपनी प्रति अभी से सुरक्षित करा लें।

—सम्पादक "विज्ञान"
विज्ञान परिषद्, इलाहाबाद

हमारी प्रकाशित पुस्तकें

	मूल्य
१—विज्ञान प्रवेशिका भाग १—श्री रामदास गौड़, प्रो० सालिगराम भार्गव	३७ नये पैसे
२—वैज्ञानिक परिमाण—डा० निहालकरण सेठी	१ रु०
३—समीकरण मीमांसा भाग १—पं० सुधाकर द्विवेदी	१ रु० ५० नये पैसे
४—समीकरण मीमांसा भाग २—पं० सुधाकर द्विवेदी	६२ नये पैसे
५—स्वर्णकारी—श्री गंगाशंकर पचौली	३७ नये पैसे
६—वर्षा और वनस्पति—श्री शंकरराव जोशी	३७ नये पैसे
७—व्यंग चित्रण—ले० एल० ए० डाउस्ट, अनुवादिका—डा० रत्न कुमारी	२ रुपया
८—तैरना—डा० गोरख प्रसाद	१ रुपया
९—वायुमंडल की सूक्ष्म हवायें—डा० संत प्रसाद टंडन	७५ नये पैसे
१०—खाद्य और स्वास्थ्य—डा० ओंकार नाथ पर्ती	७५ नये पैसे
११—फल संरक्षण—डा० गोरख प्रसाद तथा वीरेन्द्र नारायण सिंह	२ रु० ५० नये पैसे
१२—शिशु पालन—श्री मुरलीधर बौड़ाई	४ रुपया
१३—मधुमक्खी पालन—श्री दयाराम जुगड़ान	३ रुपया
१४—घरेलू डाक्टर—डा० जी० घोष, डा० उमाशंकर प्रसाद तथा डा० गोरख प्रसाद	४ रुपया
१५—उपयोगी नुसखे, तरकीबें और हुनर—डा० गोरखप्रसाद तथा डा० सत्यप्रकाश	३ रु० ५० न० पै०
१६—फसल के शत्रु—श्री शंकरराव जोशी	३ रु० ५० नये पैसे
१७—साँपों की दुनिया—श्री रामेश वेदी	४ रुपया
१८—पोर्सलीन उद्योग—श्री हीरेन्द्र नाथ बोस	७५ नये पैसे
१९—राष्ट्रीय अनुसंधानशालाएँ	२ रुपये
२०—गर्भस्थ शिशु की कहानी—अनु० प्रो० नरेन्द्र	२ रुपया ५० नये पैसे
२१—रेल इंजन—परिचय और संचालन—श्री ओंकारनाथ शर्मा	६ रुपया
२२—भारतीय कृषि का विकास—डा० शिवगोपाल मिश्र	५ रुपया

आप इन पुस्तकों के लिए सीधे निम्न पते पर पत्रव्यवहार करें क्योंकि अब लाला रामनारायण लाल बेनीप्रसाद हमारे एकमात्र वितरक नियुक्त हुए हैं।

मिलने का पता :

लाला रामनारायण लाल बेनीप्रसाद
कटरा, इलाहाबाद

विज्ञान परिषद्, प्रयाग का मुखपत्र

विज्ञानं ब्रह्मेति व्यजानात्। विज्ञानाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते।
विज्ञानेन जातानि जीवन्ति। विज्ञानं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति। तै० उ० ३।५।

भाग १०२ | अगहन २०२२ विक्र०, १८८७ शक
दिसम्बर १९६५ | संख्या ३

क्वांटम—(२)

महेन्द्रसिंह

फोटो-वैद्युत प्रभाव

फोटो-वैद्युत प्रभाव का आविष्कार भौतिकज्ञों के लिये एक अधिक विस्मयजनक किन्तु उपयोगी देन सिद्ध हुई क्योंकि विकिरण सम्बन्धी घटना के उन मुख्य प्रश्नों का समाधान हो गया जो प्लेंक के सिद्धान्त द्वारा नहीं हो पाये। इसकी सत्यता एवं उपयोगिता का स्पष्टीकरण आइन्स्टाइन के विशिष्ट प्रयासों द्वारा १९०५ ई० में दिया गया—वह घटना इस प्रकार है।

जब किसी द्रव्य पर काफी छोटे तरंग दैर्घ्य का विकिरण पड़ता है, तो उसमें तीव्रगामी इलेक्ट्रानों का प्रवाह पाया जाता है। प्रस्तुत घटना का मुख्य लक्षण यह है कि निष्कासित इलेक्ट्रानों की ऊर्जा केवल आपतित विकिरण की आकृति पर ही निर्भर होती है। उस पर विकिरण की तीव्रता का कुछ भी प्रभाव नहीं होता। इस घटना को **प्रकाश-वैद्युत-प्रभाव** के नाम से पुकारा गया। तत्पश्चात् लिनार्ड ने इस घटना का अध्ययन किया तथा प्रकाश-वैद्युत उत्सर्जन के निम्नलिखित दो नियमों को प्रतिपादित किया।

प्रकाश (फोटो) वैद्युत उत्सर्जन के नियम

प्रथम—निष्कासित इलेक्ट्रानों का वेग आपतित प्रकाश की तीव्रता पर अवलम्बित न होकर आपतित प्रकाश की आवृति (तरंग-दैर्घ्य) पर ही निर्भर होता है।

द्वितीय—निष्कासित इलेक्ट्रानों की गति आपतित प्रकाश की तीव्रता की अनुपाती होती है फलतः एक सेकण्ड में जितनी ऊर्जा इसमें प्रवेश करती है उसकी मात्रा आपतित तरंग की तीव्रता की अनुपाती होती है।

आइन्स्टाइन का प्रकाश वैद्युत समीकरण

लिनार्ड के प्रकाश-वैद्युत् उत्सर्जन नियम की व्याख्या आइन्स्टाइन महान ने १९०५ ई० में क्वांटम-सिद्धान्त के आधार पर की। इस सिद्धान्त के अनुसार प्रकाश ऊर्जा के निश्चित मान के $h\nu$ कणों से संघटित है, जो 'क्वांटम' कहलाता है जिसमें h प्लांक नियतांक है, तथा ν प्रकाश-तरंग की आवृति है। ऊर्जा के इस प्रकार बन्धों को **फोटान** का नाम दिया गया। जब द्रव्य में विद्यमान किसी इलेक्ट्रान पर $h\nu$ ऊर्जा का

फोटान पड़ता है, तो वह उस ऊर्जा का कुछ अंश, ϕ_0, का अवशोषण करके द्रव्य के बन्धन से मुक्त हो जता है, तथा दूसरा अंश $(\frac{1}{2} m v^2) = \frac{1}{2}$ द्रव्यमान × वेग^2 प्रकाश के प्रभाव से इस प्रकार निकले हुये इलेक्ट्रान में प्रकट हुई ऊर्जा है। यह इलेक्ट्रान को द्रव्य में से v वेग से बाहर निकालने के कार्य में व्यय होती है तथा यह गतिज ऊर्जा आपतित विकिरण की आवृति का रैखिक फलन होगी। इस प्रकार द्रव्य से इलेक्ट्रान को बाहर निकालने में व्यय हुई ऊर्जा धातु की प्रकृति पर निर्भर करती है तथा कार्य फलन द्वारा निरूपित की जाती है। जब इलेक्ट्रान प्लेट की सतह से बाहर आता है तो धातु की प्लेट धनावेशित हो जाती है तथा इस प्रकार निष्कासित ऋण आवेश इलेक्ट्रान तथा स्वत: धनावेशित धातु की प्लेट के मध्य आकर्षण उत्पन्न हो जाता है जो कि निष्कासित इलेक्ट्रान को पुन: धातु की सतह की ओर पीछे खींचने का प्रयास करता है। निश्चय ही इस खिंचाव के विरुद्ध कार्य करके ही इलेक्ट्रान को सतह से विलग किया जा सकता है।

कम आवृति का विकिरण शक्तिहीन क्वान्टम को जन्म देता है और ऐसी कम आवृति का विकिरण भी सम्भव है जो परमाणु द्वारा क्वांटम के अवशोषण से किसी एक इलेक्ट्रान को सतह से विलग करने को ही पर्याप्त हो, अर्थात् यह सीमान्त आवृति है जिस पर कि यह परिवर्तन संभव है। यह प्रवेश मार्ग आवृति v_0 या **देहलीज आवृति** कहलाती है या यों कह सकते हैं कि विकिरण उस समय ही इलेक्ट्रान का उत्सर्जन करता है जब कि उसकी आवृति, प्रवेश मार्ग आवृति से अधिक होती है।

अब हम भिन्न प्रकार के पदार्थों की भिन्न देहलीज आवृतियों के विषय में विवेचन करेगें। उन आवृतियों में से अधिकांश द्रव्यों की स्पष्ट-प्रकाश की आवृतियों से ठीक अधिक होती हैं, इस कारण सूर्य प्रकाश का क्वान्टम एवं साधारण रूप से किसी कमरे का अधिक क्षीण प्रकाश होने के कारण इलेक्ट्रान साधारणतया वस्तुओं से स्वत: नहीं निकलते। यह आइन्स्टाइन महान की 'प्रकाश रासायनिक क्रिया' है जो यह बतलाती है कि अकेले क्वान्टम का अवशोषण कभी भी एक से अधिक अणु पर प्रभाव नहीं डालता। अब हम इन प्रकाश क्वांटम को ही फोटानों के नाम से सम्बोधित करते हैं तथा इस क्रिया के आधार पर ही यह उत्तर देना सम्भव हो सका कि तीव्र सूर्य प्रकाश के प्रभाव से हमारे पर्दे एवं सजावट की वस्तुयें क्यों धुँधली पड़ जाती हैं तथा क्यों विशेष रसायनिक पदार्थ, जैसे हाइड्रोजन पराक्साइड को तीव्र प्रकाश से सदैव दूर रखना चाहिये। अगर अणुओं की संरचना में परिवर्तन नहीं आएँ तो उपर्युक्त परिवर्तन सम्भव नहीं हो सकते।

जब विकिरण की आवृति प्रवेश-मार्ग आवृति (देहलीज आवृति) से अधिक है, तब इलेक्ट्रान पृथक होता है।

अगर हम द्रव्य द्वारा विकिरत ऊर्जा का स्थानान्तरण एक सतह से दूसरी सतह पर विचार करें तो हम यह पायेगें कि यह सदैव पूर्णांक फोटान के रूप में होता है। इस समस्या का समाधान हाइजनबर्ग द्वारा उसकी मैट्रिक्स मेकैनिक्स द्वारा सम्भव हो सका। उसके मतानुसार सैद्धान्तिक संरचना के अनुसार सम्पूर्ण विकिरण किसी रिक्त सतह के भाग में एक समय पर केवल एक ही क्वांटम द्वारा परिवर्तित हो सकता है तथा यह केवल 'प्रकाश—वैद्युत प्रभाव' घटना के आधार ही समझना संभव हो सका। अब हम इसी प्रसंग के सहयोगी 'काम्पटन प्रभाव' की विवेचना करेगें।

काम्पटन प्रभाव

यह तो हमें विदित ही है कि जब विकिरण किसी भी भौतिक वस्तु पर पड़ता है तब प्राय: उसकी ऊर्जा का कुछ अंश प्रकीर्ण विकिरण के रूप में सब दिशाओं में फैल जाता है। १६ वीं शती के प्रारम्भ में विद्युत-चुम्बकीय सिद्धान्त के अनुसार इस प्रकीर्णन के कारण यह समझा गया कि आपतित तरंग के वैद्युत-बल क्षेत्र के प्रभाव से उस वस्तु में उपस्थित इलेक्ट्रानों में प्रेरित दोलन होने लगते हैं तथा इन्हीं दोलनों से द्वितीयक तरंगे पैदा हो जाती हैं। बहुत अधिक समय तक इस प्रकीर्णन घटना का समाधान विद्युत-चुम्बकीय

सिद्धान्त के आधार पर होता रहा और अन्त में ए० एच० काम्पटन ने इस नियम की व्याख्या सूक्ष्म अध्ययनों के उपरान्त प्रस्तुत की—उनका प्रमाणित तथ्य यह था कि कम आवृत्ति के प्रकीर्णित विकिरण की आवृति प्रकीर्णांक कोण के अनुसार परिवर्तित होती है परन्तु प्रकीर्णांक वस्तु की प्रकृति पर निर्भर नहीं होती। काम्पटन तथा उसके सहयोगी डिबाई ने यह प्रमाणित कर दिखाया कि अगर आपतित फोटान और द्रव्य के अन्तःवर्ती इलेक्ट्रान इन दोनों का संघट मानलें तो इस घटना की सही व्याख्या हो सकती है क्योंकि संघटन के समय इलेक्ट्रान तथा फ़ोटान के मध्य ऊर्जा का तथा संवेग का विनियम होना पाया गया। फोटान के वेग की तुलना में इलेक्ट्रान का वेग लगभग अचर मानते हैं और यही कारण है कि फोटान की ऊर्जा इलेक्ट्रान—ऊर्जा की अपेक्षा घट जाती है। परन्तु हाँ फोटान की आवृति उसकी ऊर्जा की अनुपाती है तथा संघट के समय फोटान की आवृति भी घट जाती है। अतः यह घटना केवल इलेक्ट्रानों के गुणधर्मों पर ही निर्भर होती है। वास्तविकता तो यह है कि यह इलेक्ट्रान समस्त भौतिक वस्तुओं में विद्यमान हैं।

इस प्रकार काम्पटन डिबाई के सिद्धान्त ने फोटान-सिद्धान्त के अधार को और भी दृढ़ बना दिया—यद्यपि प्रकाश-वैद्युत प्रभाव एवं काम्पटन-प्रभाव विकिरण सम्बन्धी समस्याओं का समाधान करने में सफल हो सके।

इलेक्ट्रानों का विवर्तन

अभी हमने देखा कि कणिकाओं की गति में और तरंग प्रसरण में एक गहरा सम्बन्ध होने के कारण यह विचार करना स्वाभाविक हो गया कि शायद इलेक्ट्रानों से भी व्यतिकरण और विवर्तन जैसी घटनाएँ सम्भव हों जैसी कि फोटानों में देखी गयी हैं। अतः यह जानना आवश्यक हो गया कि क्या फ़ोटान की भाँति इलेक्ट्रान का साधारण उपयोग हम कर सकते हैं तथा उसकी आनुपंगिक तरगों का तरंग-दैर्ध्य क्या है ? इस प्रश्न का यथार्थ रीति से उत्तर तरंग-यांत्रिकी से प्राप्त किया गया तथा मालूम हुआ कि एक्स किरणों की अपेक्षा इलेक्ट्रानों की आनुपंगिक तरंग का दैर्घ्य सामान्य परिस्थितियों में छोटा होता है। एक्स-रश्मियों का तरंग दैर्घ्य अत्यन्त लघु होने के कारण विवर्तन की घटना की स्पष्टीकरण के लिए ग्रेटिङ्ग (Grating) का प्रयोग किया गया क्योंकि एक्स-रश्मियों के विज्ञान की मूल-घटना क्रिस्टलों के द्वारा इन किरणों का विवर्तन है तथा इसी विवर्तन का प्रयोग करने के हितार्थ ग्रेटिंग का उपयोग किया गया। मुख्यतः एक्स-किरण स्पेक्ट्रम की सहायता से इस प्रकार उपलब्ध विवर्तन आवृतियों के द्वारा उन इलेक्ट्रानों की आनुपंगिक तरंगों का तरंग दैर्ध्य मालूम किया जा सकता है। फलतः कणिका की गति एवं उसकी आनुपंगिक तरंग के तरंग-दैर्ध्य के मध्य जो सम्बन्ध तरंग-यांत्रिकी द्वारा प्रतिपादित किया गया था उसका भी इसके द्वारा समर्थन हो गया।

डेविसन गर्मर ने देखा कि अगर निकल के क्रिस्टल पर एक समान गतिज ऊर्जा वाले इलेक्ट्रानों की बौछार की जाये तो इन इलेक्ट्रानों का वैसा ही विवर्तन होता है जिस प्रकार किसी तरंग दैर्ध्य वाली तरंग का होना चाहिये तथा यह प्रमाणित कर दिखाया कि यह तरंग-दैर्ध्य उतना ही है जितना तरंग-यांत्रिकी के सूत्रों द्वारा प्राप्त होता है ?

गैमों का सिद्धान्त

तरंग यांत्रिकी का गैमों ने एक अत्यन्त ही मनोरंजक उपयोग किया है। उसने प्राचीन तथा नवीन यांत्रिकी का सहारा लेकर नयी धारणा व्यक्त की। वह निम्न प्रकार थी।

धारणा :—मान लिया कि एक ऐसी कणिका है जिस पर ऐसा बल क्षेत्र कार्य कर रहा है जो उसकी गति को रोकता है तथा यह बल क्षेत्र स्थैतिक है। यह सम्भव है कि किसी विन्दु पर इस बल क्षेत्र का मान शून्य हो जाये जहाँ उसकी दिशा परिवर्तन हो जाये। स्पष्टतः ही यह प्रायिकता उस रेडियोसक्रिय पदार्थ के विघटनांक के बराबर होती है। इसलिये यदि हमें नाभिक को बन्दी रखने वाले विभव के

रूप का ठीक ठीक ज्ञान हो, तो तरंग-यांत्रिकी की विधि से हम रेडियो-सक्रिय पदार्थों के विघटनांक की गणना अल्फा-कणिकाओं के द्वारा कर सकते है।

गैमों के सिद्धान्त की प्रमुख सफलता यह है कि इस नियम के अनुसार दीर्घ-अर्धायु वाले तत्वों की अपेक्षा छोटी अर्धायु वाले तत्वों के लिये अल्फा-किरणों का उत्सर्जन-वेग अधिक होता है। उससे यह प्रकट होता है कि अल्फा-कणिकाओं की ऊर्जा के किसी फलन के अनुसार विघटनांक बड़ी शीघ्रता से परिवर्तित होते हैं। गैमों ने यह प्रमाणित कर दिया कि एक बन्दी कणिका की ऊर्जा पर्वत की चोटी पर पहुँचने के लिये आवश्यक ऊर्जा से जितनी ही कम होगी उतनी ही उसके बाहर निकल सकने की प्रायिकता भी कम होगी। वास्तव में देखा जाये तो गैमों का सिद्धान्त एक प्रकार से अपूर्ण है क्योंकि भारी रेडियो-सक्रिय-तत्वों का नाभिक अवश्य ही कुछ जटिल होता हैं और उसे केवल अल्फा-कणिका-युक्त विभव उपत्यका का रूप ही दिया जा सकता। फिर भी गैमों के सिद्धान्त को तरंग-यांत्रिकी की नवीन धारणाओं को प्रकट करने की सफलता मिली है। अब हम तरंग-यांत्रिकी सिद्धान्त के कुछ मुख्य उपयोग प्रस्तुत करते हैं जिनका निम्न प्रकार से वर्गीकरण किया जा सकता है।

तरंग-यांत्रिकी सिद्धान्त के कुछ उपयोग

(अ) हाइड्रोजन एवं हीलियम के परमाणुओं में

(ब) द्रव्यों के चुम्बकीय गुणधर्मों में

(स) प्रकाशीय तथा एक्स किरणों के परमाणुओं एवं अणुओं के वर्णपटों में

(द) जीमन तथा स्टार्क प्रभावों में

(य) द्रव्य एवं विकिरण के मध्य इनट्रक्शन घटना में-जैसे प्रकीर्ण, विसर्जन फोटो-विद्युत् प्रभावों में काम्पटन प्रभाव, रमन प्रभाव, तथा ओगर प्रभाव इत्यादि में।

(र बैन्ड (Band) वर्णपट में परिवर्तनशील तीव्रताओं के लिये; जैसे पैरा और आर्थो हाइड्रोजन

(ल) इलेक्ट्रानों, प्रोटानों, न्यूट्रानों एवं अल्फा-कणिकाओं के प्रकीर्ण जो द्रव्य से होकर अपने मार्ग से गुजरते हैं।

(व) अल्फा एवं बीटा रेडियोसक्रिय पदार्थों के विखण्डन में।

(श) ट्रान्समूटेशनस नाभिकीय गुणधर्मों में, जिस प्रकार नाभिकीय तथा चुम्बकीय घूर्ण-नाभिकीय स्थैतिक एवं नाभिकीय स्थायित्व इत्यादि।

उपरोक्त सभी प्रक्रियायों का क्वांटम सिद्धान्त के आधार पर स्पष्टीकरण हो चुका है।

परमाणु सिद्धान्त

इलेक्ट्रानों एवं प्रोटानों के संयोजन किस प्रकार होते हैं, परमाणुओं के प्रतिरूप के आधार पर जे० जे० टामसन द्वारा इसकी व्याख्या प्रस्तुत की गई। यह वही भौतिकज्ञ थे, जिनके प्रयास से द्रव्य के संघटन को यथार्थतापूर्वक समझने की क्षमता प्राप्त हुई है। टामसन के मतानुसार परमाणु के इस प्रतिरूप को धन-विद्युत् की गोली के रूप में व्यक्त किया गया जिसके अन्दर ऋण-इलेक्ट्रान सन्तुलित अवस्था में उपस्थित रहते हैं, परमाणु का द्रव्यमान एक छोटे से वृत्त जिसकी त्रिज्या $१०^{-८}$ से०.मी० होती है, में केन्द्रित रहता है। टामसन की यह धारणा वर्णपटीय श्रेणियों (रेखाओं) को व्यक्त करने में असमर्थ रही इसलिये प्रस्तुत प्रतिरूप में टामसन की धारणा अधिक समय तक माननीय नहीं रही। इसी प्रतिरूप पर आधारित भौतिक विज्ञान क्षेत्र में एक और प्रतिरूप ने जन्म लिया यह था 'रदरफोर्ड-ब्रोहल प्रतिरूप'। रदरफोर्ड ने परमाणु की संरचना को एक सूक्ष्म सौर मण्डल के प्रतिरूप के समान माना तथा बतलाया कि यह ऋण इलेक्ट्रान केन्द्र पर स्थिति धन विद्युत् आकर्षण के कारण परिक्रमा करते हैं। यह प्रतिरूप (Model) सर्वप्रथम जीन पेरा (Yean Perrin) द्वारा प्रस्तुत किया गया था तथा इस प्रतिरूप का सत्यापन रदरफोर्ड द्वारा, तत्पश्चात् अल्फा कणिकाओं के द्रव्य के विचलन (Deflection) से हुआ तथा यह प्रमाणित हो गया कि निश्चय ही सौर मंडलीय प्रतिरूप की भाँति ही

परमाणु का समस्त धन-विद्युत् आवेश भी परमाणु के केन्द्र में अत्यन्त ही छोटे से आयतन में विद्यमान रहता है। इससे यह अनुमान लगाया गया कि केन्द्र पर धन विद्युत् से आवेशित एक कणिका (Particle) होती है जो नाभिक (Nucleus) कहलाई तथा इस नाभिक के चारों ओर ऋण इलेक्ट्रान कूलम्ब सिद्धान्त (Coloumb's Law) के अनुसार परिक्रमा करते हैं, जिस प्रकार कि ग्रह सूर्य की परिक्रमा करते हैं। उनकी संख्या सामान्यत: Z से प्रदर्शित की जाती है जो परमाणु में विद्यमान होते हैं। जिस परमाणु में Z इलेक्ट्रान होगें उसकी नाभि में भी धन-विद्युत का परिमाण निश्चय ही Z इलेक्ट्रानों के आवेश के तुल्य और विपरीत चिह्न का होता है। रदरफोर्ड के परमाणु के प्रतिरूप के विषय में निम्न धारणायें थीं।

१—कि परमाणु का समस्त धन आवेश $१०^{-१२}$ से० मी० व्यास के छोटे केन्द्र में बन्द है।

२—प्रायोगिक तौर पर परमाणु का समस्त द्रव्यमान उसी केन्द्र में विद्यमान है।

३—कि धन आवेश का मूल्य हल्के तत्वों के लिये (सिवाय हाइड्रोजन) परमाणु भार के आधे के लगभग तुल्य होता है।

४—कि परमाणु विद्युतीय अनाविष्ट लक्षण का है।

जैसा कि अभी हम देख चुके हैं कि इस प्रकार का प्रतिरूप चिर प्रतिष्ठित यांत्रिकी के साथ असंगत था; उपरोक्त धारणा के अनुसार इलेक्ट्रान अपनी ग्रह पथ गति के कारण लगातार ऊर्जा विकरित करेगा, जिसका फल यह होगा कि क्रमश: चक्राकार होकर नाभिक में आ गिरेगा जो कि अन्त में उसे अवशोषित कर लेगा। इस प्रकार परमाणु की बनावट अस्थाई है।

अब हमको क्वान्टम के सिद्धान्त के सामान्य शैशव काल से हट कर उसकी विशेष उन्नति की ओर ध्यान देना आवश्यक है। संभवत: इसकी यौवन अवस्था १९१३ में दिखलाई पड़ी जब बोह्र के परमाणु वर्ण पट की जटिल समस्याओं का यथार्थ समाधान किया।

बोह्र ने रदरफोर्ड के परमाणु प्रतिरूप में होने वाली कमियों को सुधारने के लिये ऊर्जा की पारमाणविकता को स्वंय परमाणु में रक्खा। हम इसकी पर्याप्त व्याख्या साधारण परमाणु के प्रकार को लेकर सोच सकते हैं। मान लीजिए हाइड्रोजन परमाणु जिसमें कि केवल एक अकेला इलेक्ट्रान नाभिक के चारों ओर परिक्रमा करता है। बोह्र ने यह कल्पना की, कि परमाणु कभी भी एक आकृति का नहीं हो सकता सिवाय जिनमें कुछ दूसरे सम्पूर्ण संख्या की क्वांटमों की ऊर्जा हो सकती है। वहाँ तक क्वान्टमों की ऊर्जा सदैव विकरित ऊर्जा का H गुना होती है, जिससे क्वांटम सम्बन्धित रहता है। लेकिन जब आवृति के परीक्षण करने के लिये वहाँ कोई विकिरण नहीं या तो बोह्र ने अपनी क्वांटम का परीक्षण आवृत्ति के विपरीत किया जिसमें इलेक्ट्रान अपने कक्ष को प्रदर्शित करते हैं।

बोह्र ने परमाणु की आकृति के लगातार क्षय-एवं उससे लगातार धीरे-धीरे ऊर्जा का निकलना दोनों ही समस्याओं का समूल अंत कर दिया। लेकिन परमाणु को विकरित होने के लिये बिल्कुल ही अवसर नहीं छोड़ा। फिर भी हाइड्रोजन परमाणु विकिरण उद्गार एवं शोषण दोनों प्रकार की घटनाओं को व्यक्त कर सका। मान लीजिए कि इलेक्ट्रान स्थिर रूप में परमाणु की उसी कक्ष में नहीं रहता जिसमें वह नाभिक की परिक्रमा कर रहा है, बल्कि आकस्मिक ही एक कक्ष से दूसरी कक्षों में कूदता है जैसा कि हम देख आये हैं कि जब कभी इलैक्ट्रान अपनी कक्ष को बदलता है, स्वाभाविकत: परमाणु की ऊर्जा बदल जाती है। इसलिये इस स्थिति में या तो ऊर्जा का उत्सर्जन हुआ या ऊर्जा शोषित हो गई। बोह्र की धारणा यह थी कि प्रत्येक स्थिति में इस प्रकार ऊर्जा विधि पूर्वक विकिरण की एक क्वांटम द्वारा निकली या शोषित हो गई। वस्तुत: विकिरण की आवृति को स्थिर कर दिया गया। प्रत्येक क्वांटम के सिद्धान्त के अनुसार की ऊर्जा, आवृति की h गुना है। जिसका क्वांटम की ऊर्जा निकालने में प्रयोग हुआ जबकि विकिरण

की आवृति पहले से ज्ञात थी। तत्काल स्थिति में इस सूत्र का प्रयोग दूसरी प्रकार किया गया और वह यह था कि अगर उत्सर्जित फोटानों की ऊर्जा ज्ञात हो तो सूत्र के आधार पर आवृतियों को गणना की जा सकती है। इस गणना से यह पाया गया कि यह आवृतियाँ पूर्ण रूप से हाइड्रोजन के वर्णपट में जो दिखलायी पड़ती है, उनसे मेल खाती हैं।

इस प्रकार के वर्णपट को वर्णपट-शास्त्र में रेखा-वर्णपट से सम्बोधित किया गया। अगर अँधेरे क्षेत्र पर इस वर्णपट को देखा जाये तो तीव्र रेखाओं के समूह प्रतीत होंगे जो कि यह प्रदर्शित करते हैं कि विकिरण अपने को अनेक स्पष्ट कथित आवृतिओं में विभाजित करता है तथा रेखाओं के मध्य से कोई भी विकिरण नहीं होता। बोह्र की इस व्याख्या के पूर्व वैज्ञानिकों का यह मत था कि ये आवृतियाँ हाइड्रोजन परमाणु में होने वाले कुछ छोटे कम्पनों से सम्बन्धित हैं जिस प्रकार घन्टी या पियानों के तार को कम्पित किया जाता है तब सुरीले विन्दु की आवृतियाँ सुनाई पड़ती हैं। अब यह बात प्रत्यक्ष हो गया कि वर्णपट में जो ऊर्जा प्रदर्शित है यह कम्पनों के द्वारा निकली हुई ऊर्जा नहीं है वल्कि किसी प्रकार की लगातार गति द्वारा उत्पन्न ऊर्जा है जो कि इलेक्ट्रान के एकाएक एक कक्ष से दूसरी नीची कक्ष में कूदने से उत्पन्न होती हैं तथा इसके आवृति की गणना उसके ऊपर दबाव द्वारा अकेले क्वांटम से स्थापित की गई।

उसी वर्ष जिसमें बोह्र ने इस क्रान्तिकारी सिद्धान्त को जन्म दिया फ्रैंक एवं हर्ज ने इलेक्ट्रानों के धीरे गतिमान किरण पुंज को गैस से होकर गमन कराया तथा ऊर्जा के मूल्य का परीक्षण किया तथा यह देखा गया कि प्रत्येक इलेक्ट्रान के धीरे गतिमान किरण पुंज को गैस से होकर गमन कराया तथा ऊर्जा के मूल्य का परीक्षण किया तथा यह देखा गया कि प्रत्येक इलेक्ट्रान के संघट पर वात के अणुओं को उत्पन्न करके ऊर्जा के अनेक मूल्यों में इलेक्ट्रानों को एक में सदैव अविनाशी पाया गया अथवा यह कहिये कि ऊर्जा के कुछ मूल्यों में परमाणु दशा से दूसरे में अवस्थापित होते पाये गये। बोह्र के मतानुसार यह स्पष्ट हो गया कि यह दशायें वास्तविक स्थिति रखती हैं तथा उनके मध्य अवस्थान वास्तव में उत्पन्न होते हैं।

रदरफोर्ड के प्रतिरूप में मुख्य कठिनाई यह थी कि परमाणु की स्थिरता को कैसे समझाया जाये। अगर इलेक्ट्रानों को स्थिर मान लिया जाये तो ये नाभिक के विपरीत आवेश के द्वारा आकर्षित होकर उसमें अन्त में गिर जायेंगे; दूसरी ओर अगर यह मान लिया जाये कि वे मन्द वृत्तीय कक्षों को प्रदर्शित करते हैं, तो वे ऊर्जा को विकरित करेंगे जिसका फल यह होगा कि संस्थान को समाप्त कर देंगे तथा इलेक्ट्रान अन्त में नाभिक में गिर पड़ेंगे। इस समस्या का समाधान करने के लिये बोह्र ने निम्न तीन धारणायें प्रस्तुत की, वे इस प्रकार थीं।

१. बोह्र की प्रथम धारणा

बोह्र ने माना कि नाभिक पर आवेश $+ze$ है जहाँ कि z परमाणु-संख्या तथा e इलेक्ट्रान पर आवेश है। नाभिक z इलेक्ट्रानों द्वारा घिरा हुआ है, जो कि समीप-वृतीय कक्षों में गतिमान हैं। इलैक्ट्रान एवं नाभिक के मध्य एक इलैक्ट्रोस्थैतिक (electrostatic) बल कार्य करता है जो कि आवश्यकीय सेंट्रीपिटल (centripetal) बल इलैक्ट्रान को समीप वृत्तीय कक्ष में रखता है।

$$F = \frac{e}{r^2} = \frac{mv^2}{r^2}$$

जहां कि m इलैक्ट्रान का द्रव्यमान, v उसका वेग तथा r वृत्तीय कक्ष की त्रिज्या हैं।

२. बोह्र की द्वितीय धारणा

विकिरण द्वारा शक्ति का क्षय होने के कारण संस्थान को समाप्त होने से बचाने के लिये बोह्र ने यह धारणा व्यक्त की कि इलैक्ट्रान कुछ पृथक अविकिरण कक्षों में गतिमान है जिन्हें "स्थाई कक्षों" का नाम दिया, जिसके लिये गतिमान इलेक्ट्रान का सम्पूर्ण वक्रीय (angular) संवेग (momentum)
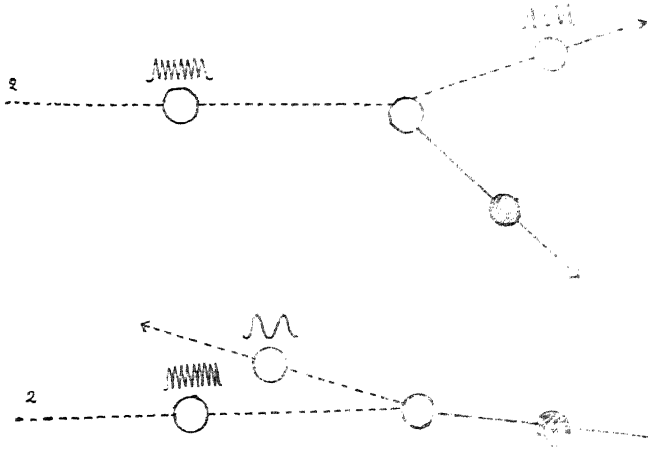
चित्र—'काम्पटन प्रभाव' यह प्रस्तुत करता है कि एक्स-किरणों का क्वान्टा इलेक्ट्रानों द्वारा परिवर्तित होकर अपने परावर्तन कोण के अनुसार ऊर्जा का क्षय करता है। जब क्वान्टम अधिक कोण पर परावर्तित होती है (१) तो अधिक ऊर्जा स्थापित होती है, अपेक्षा न्यून कोण पर परावर्तित होने के (२)।

$\frac{h}{२\pi}$ का (समाकाल Integral) सम्पूर्ण गुणांक है जहाँ की h प्लैंक का स्थिरांक है।

$$mv. r = n \frac{h}{२\pi}$$

यहाँ n = प्रधान क्वांटम संख्या को व्यक्त करता है जो कि १, २, ३-४......यह उरोक्त समीकरण "क्वांटम दशा" (quantum condition) कहलाती है।

३. बोह्ल की तृतीय धारणा

बोह्ल ने माना कि परमाणु से कोई ऊर्जा विकरित नहीं होती जब कि इलेक्ट्रान लगातार स्थाई कक्षों में गतिमान हो। ऊर्जा केवल तभी विकरित होती है जब कि इलेक्ट्रान एक स्थाई कक्ष से दूसरी स्थाई कक्ष पर कूदता है।

प्रकाश की आवृति r आदि और अन्तिम कक्षों के मध्य ऊर्जा के अन्तर के मूल्य के तुल्य होती है।

$$E_१ - E_२ = hv$$

यह समीकरण "आइन्स्टाइन की आवृति दशा" के नाम से विख्यात है।

●●

परमाणु का सरल अध्ययन

श्याम मनोहर व्यास

मनुष्य सृष्टि का सर्वश्रेष्ठ प्राणी है। वह आदि काल से प्रकृति के रहस्यों को जानने का प्रयास करता आ रहा है।

पदार्थ के परमाणु का ज्ञान भी मानव को हजारों वर्ष पूर्व ही हो गया था। भारतीय दर्शनकार कणाद ने अपने वैशेषिक दर्शन में परमाणु का वर्णन किया है। यूनानी विद्वान् डैमोक्रीटस (Democritus) ने भी परमाणुवाद पर अपने कुछ सिद्धान्त रखे। उनका विचार था कि हर द्रव्य बहुत ही छोटे-छोटे कणों का बना है जो अदृश्य एवं अनश्वर है।

इस बात को सैकड़ों वर्ष बीत गये। उसके पश्चात् एक वैज्ञानिक डाल्टन ने प्रयोगों द्वारा पदार्थ का विश्लेषण किया।

उसने पदार्थ के छोटे से छोटे कण का नाम परमाणु रखा। उसके कथनानुसार हर द्रव्य परमाणुओं का बना हुआ है और एक प्रकार के द्रव्य के परमाणु दूसरी प्रकार के द्रव्य के परमाणुओं से भिन्न होते हैं। तदनन्तर क्रुक्स, थामसन और रौंटजन आदि वैज्ञानिकों ने अपने प्रयोगों द्वारा यह सिद्ध कर दिया कि परमाणु भी विभाजित किया जा सकता है। इन प्रयोगों के करने में विद्युत् का बड़ा हाथ रहा। विद्युत् के आविष्कार ने वैज्ञानिकों को परमाणु के विखण्डन करने में बड़ी सहायता की।

परमाणु के विखण्डन के सम्बन्ध में बैकेरल (Becquerel) नामक वैज्ञानिक ने महत्त्वपूर्ण खोज की।

उन्होंने कहा कि कुछ पदार्थ एक विशेष प्रकार की किरणें निकालते रहते हैं। पदार्थ के इस गुण का नाम उन्होंने रेडियोसक्रियता (Radio-activity) रखा।

आगे चलकर मैडम क्यूरी ने सिद्ध किया कि यह एक विशेष तत्त्व रेडियम के कारण है। इस तत्त्व रेडियम का विशेष अध्ययन करने वाले मि० रदरफोर्ड थे। उन्होंने देखा कि रेडियम में से निकलने वाली तीन प्रकार की किरणें हैं। उन्होंने इनके नाम α, β और γ (एल्फा, बीटा एवं गामा) रखे। एल्फा किरणें बीटा व गामा किरणों से अधिक सक्रिय थीं। उन्होंने किरणों के परमाणु पर प्रहार करके उसकी आन्तरिक रचना जानने का प्रयास किया।

तत्पश्चात् रदरफोर्ड के शिष्य नीलस बोह्र ने १९३२ ई० में परमाणु को विखण्डित कर उसकी आन्तरिक रचना का पता लगाकर संसार के वैज्ञानिकों के लिये एक नया मार्ग खोल दिया। आइये, अब आधुनिक परमाणु सिद्धान्त के बारे में कुछ विचार करें।

हर परमाणु तीन प्रकार के कणों का बना होता है। (१) प्रोटोन (२) न्यूट्रोन, (३) इलैक्ट्रान। परमाणु के केन्द्र पर धन विद्युन्मय (Positively Charged) नाभिक Nucleus) होता है जिसके चारों ओर ऋण विद्युन्मय छोटे-छोटे इलैक्ट्रान चक्कर लगाते हैं। नाभिक प्रोटोन तथा न्यूट्रोन का बना होता है।

प्रोटोन एवं न्यूट्रान भार तथा आकार में बराबर-बराबर होते हैं।

प्रोट्रोन

प्रोटोन पर एक इकाई धन आवेश होता है और इसका भार हाइड्रोजन के एक परमाणु के भार के बराबर होता है। न्यूट्रोन में कोई आवेश नहीं होता है।

इलैक्ट्रान

नाभिक के बाहर ये तीसरे प्रकार के कण होते हैं। इन पर ऋण आवेश होता है और इनका भार नाम

मात्र का ही होता है। एक इलैक्ट्रान का भार प्रोटोन के भार का $\frac{१}{१८६०}$ वाँ भाग होता है।

इलेक्ट्रान नाभिक के चारों ओर बड़ी तेजी से उसी प्रकार घूमते हैं जिस प्रकार सूर्य के चारों ओर ग्रह घूमते हैं। इस प्रकार परमाणु को आप एक ऐसा सौर-परिवार समझ सकते हैं जिसमें सूर्य नाभिक है और इलैक्ट्रान ग्रह। हाइड्रोजन के परमाणु के नाभिक में केवल एक प्रोटोन होता है जिसके चारों ओर एक इलैक्ट्रान चक्कर लगाता है। किसी तत्त्व के परमाणु में जितने प्रोटोन होंगे उसमें उतने ही इलैक्ट्रान भी होंगे।

इलैक्ट्रान नाभिक के बाहर अलग-अलग कक्षाओं में अपना स्थान बनाकर चक्कर लगाते हैं।

निम्न गुर के अनुसार इलैक्ट्रान कक्षाओं में इस प्रकार चक्कर लगाते हैं-- $२n^२$

यहाँ n का अर्थ १, २, ३, ४...इकाइयोंसे है।

पहली कक्षा में $२\times१^२ = २$ से अधिक इलैक्ट्रान चक्कर नहीं लगायेगें।

दूसरी कक्षा में $२\times२^२ = ८$ से अधिक इलैक्ट्रान चक्कर नहीं लगायेगें।

तीसरी कक्षा में $२\times३^२ = १८$ से अधिक इलैक्ट्रान चक्कर नहीं लगायेगें।

चौथी कक्षा में $२\times२^४ = ३२$ से अधिक इलैक्ट्रान चक्कर नहीं लगायेगें। आगे इस प्रकार और कक्षाओं में चक्कर लगाने वाले इलैक्ट्रानों की संख्या का पता लगाया जा सकता है।

उदाहरण के लिये सोडियम धातु लीजिये। इसका परमाणु भार २३ है और इसमें प्रोटोन की संख्या ११ है।

इससे हम कह सकते हैं कि इलैक्ट्रोन भी ११ ही होगें।

पहली कक्षा में २, दूसरी में ८ तथा तीसरी कक्षा में १ इलैक्ट्रान चक्कर लगायेंगे।

परमाणु बहुत छोटा होता है, उसे नंगी आँखों से देखना असम्भव है। एक पानी की बूँद जितना स्थान घेरती है उसमें ६०००, ०००, ०००, ०००, ०००, ०००, ००० परमाणु समा सकते हैं। इन क्षुद्र कणों की मोटाई का अनुमान आप इस तरह लगा सकते हैं कि यदि दस अरब इलैक्ट्रान कणों को एक दूसरे से मिलाकर एक लाइन में रखा जाय तो इनकी मोटाई सिर के बाल की मोटाई के बराबर होगी।

आइये, अब परमाणु शक्ति के बारे में कुछ जानकारी प्राप्त करें।

यदि परमाणु के तीनों कणों का भार ज्ञात करें और फिर परमाणु बनने के बाद उनका भार ज्ञात करें तो भार में कमी आयगी।

उदाहरण के लिये हीलियम गैस लीजिये।

इसका नाभिक दो प्रोटोन तथा दो न्यूट्रान से बना है। प्रोटोन का भार १.००७६ और न्यूट्रान का १.००८९ इकाइयाँ होता है।

इसलिये हीलियम का भार २ × = १.००७६ + २ × १.००८९ = २.०१५२ + २.०१७८ = ४.०३३ इकाइयाँ होना चाहिये।

किन्तु परमाणु बनने के बाद यह भार ४.००२८ इकाइयाँ ही आता है।

तब मस्तिष्क में यह प्रश्न उठता है कि ४.०३३ − ४.००२८ = .०३०२ भार कहाँ गया?

इस जटिल प्रश्न का उत्तर महान् वैज्ञानिक अल्बर्ट आइन्स्टीन के शक्ति एवं पदार्थ सम्बन्धी उस सिद्धान्त में मिलता है जिसमें उन्होंने कहा था—

"पदार्थ और शक्ति आपस में एक दूसरे में परिवर्तित किये जा सकते हैं।" उन्होंने अपने सिद्धान्त को निम्न समीकरण द्वारा प्रतिपादित किया था—

$$E = MC^२$$

अथवा शक्ति = पदार्थ का भार × (प्रकाश का वेग)² हीलियम के परमाणु के भार में जो कमी आई वह शक्ति में बदल गई और उसी शक्ति के कारण न्यूट्रान व प्रोटोन नाभिक में जुड़े रहते हैं। बहुत से परमाणुओं के द्वारा अनन्त शक्ति उत्पन्न की जा सकती है।

एक पौण्ड पदार्थ को यदि शक्ति में बदला जाय तो जितनी उष्मा उत्पन्न होगी वह २,८०,००,००,००० पौंड कोयला जलाने से उत्पन्न उष्मा के बराबर होगी।

एक ग्राम हीलियम गैस के परमाणुओं में इतनी शक्ति होती है कि वह २२०० वर्ष निरन्तर बिजली के लैम्प को जलाती रहेगी। परमाणु का विखण्डन एक वैज्ञानिक यन्त्र द्वारा किया जाता है, जिसे "साइक्लोट्रान" कहते हैं।

इस शक्तिशाली यन्त्र का निर्माण कैलिफोर्निया विश्वविद्यालय के प्रसिद्ध वैज्ञानिक अर्नेस्ट लारेन्स ने किया। इसके निर्माण के उपलक्ष्य में इनको सन् १९४० में विज्ञान का सर्वश्रेष्ठ नोबल पुरस्कार प्रदान किया गया।

यह यन्त्र बहुत अधिक शक्ति विद्युत् कणों को देता है और परमाणु विघटन की सामर्थ्य विद्युत् कणों की शक्ति पर ही निर्भर है। इसकी कार्य प्रणाली का वर्णन करना इस लेख का उद्देश्य नहीं है। केवल पाठकों के मनोरंजन के लिये प्रसंगवश एक छोटी सी घटना का उल्लेख करना आवश्यक समझा गया।

"कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय में एक दिन एक महिला साइक्लोट्रान यन्त्र देखने आई। इस विशाल यन्त्र को देख कर वह आश्चर्य चकित रह गई।

जब यन्त्र का संचालक उसे कार्य प्रणाली समझा चुका तो वह बोली—"अब मैं समझ गई हूँ; आप परमाणु को इसके अन्दर प्रविष्ट करा कर उसे बार-बार इतना अधिक घुमाते हैं कि अन्त में चक्कर खाकर नाउम्मेदी के कारण वह स्वयं ही टूट जाता है।"

वैज्ञानिकों ने जब यह देखा कि परमाणु के अन्दर शक्ति का विशाल भण्डार है तो वे उसे पाने का निरन्तर प्रयत्न करने लगे। यूरेनियम सबसे शक्तिशाली धातु है। उसी पर प्रयोग होने लगे! यूरेनियम के एक परमाणु में ९२ प्रोटोन और १४६ न्यूट्रान होते हैं। इसका परमाणु भार २३८ होता है।

यूरेनियम के दो समस्थानिक (या आइसोटोप) हैं। एक यू० २३८ तथा दूसरा यू० २३५। इनमें न्यूट्रान की संख्या अलग-अलग है। यूरेनियम के १४० परमाणुओं में से लगभग एक यू० २३५ होता है और शेष यू० २३८।

इटैली के डा० फर्मी के प्रयोगों के अनुसार जब मन्दगामी न्यूट्रोन कण यूरेनियम २३८ के परमाणु नाभिक से जा लगते हैं तो यूरेनियम २३८ के परमाणु का विखण्डन तो नहीं होता बल्कि क्षण मात्र के लिये यह न्यूट्रान कण केन्द्र पिण्ड में जा बैठता है। तत्काल ही नाभिक में ही दो न्यूट्रोन कण प्रोटोन कणों में परिवर्तित हो जाते हैं और इस क्रिया में दो इलैक्ट्रोन कणों का विसर्जन हो जाता है। फलस्वरूप प्लूटोनियम बन जाता है। प्लूटोनियम के नाभिक में ९४ प्रोटोन व १४५ न्यूट्रान कण होते हैं। इसके पश्चात् मन्दगामी न्यूट्रोन कण यूरेनियम २३५ के परमाणुओं की ही भाँति प्लूटोनियम के परमाणुओं का विखण्डन करके ढेर सी शक्ति विमुक्त करा सकते हैं और इस प्रकार यह क्रिया बढ़ती रहती है जिसे प्रक्रिया शृंखला (Chain reac ion) कहते हैं।

आधुनिक परमाणु बम में यूरेनियम २३५ या नवीन तत्त्व प्लूटोनियम दोनों ही काम में लाये जाते हैं।

ध्यान रहे जब कोई घूमता हुआ (मन्दगामी) न्यूट्रोन कण यू० २३५ में पहुँचे तब ही नाभिक दो टुकड़ों में टूटता और उपरोक्त क्रिया होती है क्योंकि यू० २३८ के १४० परमाणुओं में एक यू० २३५ होता है। परमाणु विघटन की इस क्रिया में हमने यह भी देखा है कि प्रोटोन कण न्यूट्रोन में परिवर्तित हो सकते हैं और न्यूट्रान कण प्रोटोन कण में।

जब प्रोटान न्यूट्रान कण में बदलता है तो इस क्रिया में एक कण उत्पन्न होकर बाहर निकलता है। इसका विद्युत आवेश व भार इलैक्ट्रान कण के बराबर होता है। विद्युत आवेश धन जाति का होता है। इस कण का नाम पोजिट्रोन (Positron) है। साधारण भाषा में हम इलैक्ट्रोन का जुड़वाँ भाई भी कह सकते हैं। जब न्यूट्रोन प्रोटोन में बदलता है तो एक इलैक्ट्रोन का सृजन होता है और वह बाहर निकल आता है।

(शेषांश पृष्ठ ७४ पर)

खैर वृक्षों का उपयोग बढ़ाने के लिए विधायन रीति

एम० जी० कर्णिक तथा ओमप्रकाश शर्मा (अनु० बाबूराम वर्मा)

[इस लेख में अकेसिया केटेच्यु से कत्था उत्पादित करने की दो चरणों में पूरा निस्सारण होने वाली विद्या का वर्णन किया गया है। निस्सारित पदार्थ की प्राप्ति और खदिरि तत्व निश्चित किये गये हैं। ठंडे जल में निस्सारित करने से कच्चा कत्था प्राप्त होता है जिसका फिर गर्म जल में थोड़े समय के लिये निस्सारण करने पर परिष्कृत माल प्राप्त हो जाता है।]

खैर अर्थात् अकेसिया केटैच्यु का वृक्ष कत्थे और कच का विशाल सम्भावित स्रोत है। खैरकाष्ठ का ठोस जलीय निस्सार जिसमें खदिरि (केटेचिन) की मात्रा २० प्रतिशत या इससे अधिक होती है उसे व्यापारिक जगत में कत्था कहा जाता है तथा जिसमें खदिरि की मात्रा २० प्रतिशत से कम रहती है उसे 'कच' नाम से पुकारा जाता है। कत्था पान में उपयोग किये जाने वाले संघटकों में से एक है। पान में इसका उपयोग अनेक शताब्दियों से होता चला आ रहा है और उस खाद्योपयोगी पदार्थ की माँग निरन्तर बढ़ती जा रही है। कत्था औषधियों में भी उपयोग किया जाता है। कत्थे उद्योग के उपसृष्ट रूप में प्राप्त कच भी शल्कि (टैनिन) तत्व में सम्पन्न (धनवान) है और उसे भूमि वेध कर तेल निकालते समय कीचड़ की आलगता कम करने के लिए प्रयुक्त किया जाता है। पतवार, रस्सियों और मछलियाँ पकड़ने के जाल आदि के परिरक्षणार्थ भी इसे उपयोग किया जाता है। रंगने के सस्ते पदार्थ रूप में भी इसका उपयोग किया जाता है।

आजकल कत्था निर्माणियों द्वारा और कुटीर आधार पर देशी विधि द्वारा दोनों तरह तैयार किया जाता है। पहली निर्माण वाली रीति में कच को प्राप्त कर लिया जाता है परन्तु दूसरी अर्थात् देशी रीति में कच व्यर्थ चला चला जाता है। देश में कत्था तैयार करने वाली छह-सात निर्माणियाँ होने पर भी विशाल परिमाण में कत्था देशी विधियों द्वारा वन में ही तैयार किया जाता है। कत्था उत्पादन करने की वर्तमान रीति और उसमें सुधार का वर्णन हमारे पूर्वगामी कार्यकर्ताओं द्वारा (१) किया गया है। इस खाद्यपयोगी पदार्थ के लिए विशिष्टियाँ बनाने तथा मानक प्रतिमान) निर्धारित करने के महत्व पर मिश्र आदि द्वारा (२) ठीक ही बल दिया गया है। उत्पादन में प्रयुक्त किये जाने वाले धातु बरतनों का विवेचन मिश्र व कर्णिक ने (३ किया है। खदिरि तत्व के परिमाण के अनुसार कत्थे को तीन विभेदों में प्रक्रमित किया जाता है तथा सर्वोत्तम कोटि उसे माना जाता है जिसमें खदिरि (केटेचिन) की मात्रा सर्वाधिक रहती है। फिर भी, विभिन्न प्रक्रमों की पसन्द व्यक्ति और उसके अपने स्वाद पर ही आश्रित है।

कत्था निर्माण सम्बन्धी अध्ययन के बारे में काफी सूचना मिली है (१,४)। निर्माणी विद्या के लाभों जैसे उत्तम किस्म के कत्थे का उत्पादन, कच की प्राप्ति आदि को देशी निर्माण विधि में सम्मिलित करके उसको सुधार करने के लिए पात्रपत्र (फिल्टर पेपर) व्यवहार प्रतिपादित किया गया है (१)। ऐसा करने से बढ़िया किस्म का कत्था तो प्राप्त होता है पर इस संशोधन का (कत्था) उद्योग ने स्वागत नहीं किया कदाचित् इसलिए कि यह विधा (रीति) व्यावहारिक नहीं है क्योंकि इससे कत्थे की प्राप्ति लाभप्रद नहीं रह जाती। अतः इस विधा

को लाभप्रद बनाने की दिशा में अध्ययन कार्य हाथ में लिया गया।

खदिरि ठंडे जल में कम परन्तु गर्म जल में तुरन्त विलेय हो जाने वाली है। यह अपेक्षाकृत अस्थायी पदार्थ है और गर्मजल में बनाए विलयन में केटेच्यु टैनिक (खदिरि शालकिक) अम्ल होने से इसका जल्दी जारण (आक्सीकरण) होने लगता है जबकि कच ठंडे जल में मुक्त रूपेण विलेय है। खदिरि (केटेचिन) के इन गुणों को ध्यान में रखकर कत्था उत्पादन करने की दो चरणों में पूरी होने वाली रीति को विकसित किया गया है जिससे पावन करने (छानने) की क्रिया नहीं करनी पड़ती। इस अन्वेषण के परिणाम प्रस्तुत अभिपत्र में बताए गये हैं।

सम्परीक्षात्मक (या प्रयोगात्मक)-अकेसिया केटेच्यु (खैर) के सारकाष्ठ की रन्दे से रन्द कर छीलन उतारी और ठंडे जल में एक निश्चित अवधि के लिये निस्सारण करने के लिए उनमें से १० ग्राम छीलन ली। सम्परीक्षण (प्रयोग) को स्टेनलेस (जंग न लगने वाले) इस्पात की चंचुकी (बीकर) में इतना पानी लेकर किया गया कि हिलाते रहने पर भी छीलनें पानी डूबी रहें। निस्सारण हो चुकने पर निस्सारित पदार्थ को मलमल के कपड़े से छान लिया और इसे पहले जलतापक पर और फिर ऊष्मक में ५०° से० पर सुखा लिया। प्रत्येक अवस्था में निस्सार का प्रतिशत मालूम किया गया। प्रथम चरण में किया गया यह निस्सार मुख्य तथा कच था जो जल में सरलता से विलेय है। प्रत्येक संपरीक्षण में फिर अंशतः निचुड़ी हुई छीलनो का उबलते हुए जल में १½ घंटे तक डालकर दूसरे चरण वाला निस्सारण किया गया। निस्सार पर फिर वही कार्य किया गया जिसे पहले चरण में किया गया था, और उसकी प्राप्ति मालूम की गई। दोनो चरणों से प्राप्त होने वाले निस्सार के खदिरि तत्व (केटेचिन) का पूर्णसिंह की रीति से (३) अलग-अलग विश्लेषण किया गया। निस्सारण की दशाएँ और विश्लेषण के परिमाण सारणी १ व २ में दिखाए गये हैं।

विवेचन—परिणामों से पता चलता है कि **अकेसिया केटेच्यु (खैर)** के सारकाष्ठ की छीलनों से एक घंटे में ४. ६५ प्रतिशत तथा २४ घंटों में ७. ४१ प्रतिशत ठोस निस्सार पृथक् हो जाते हैं। खदिरि (केटेचिन) तत्व २२. २ से ३४. ३४ प्रतिशत तक है जिससे सूचित होता है कि पानी से अधिक समय तक सम्पर्क रहने से खदिरि भी उसमें घुल जाती है। ठंडे जल के निस्सार का प्रतिशत और खदिरि तत्व (केटेचिन) निस्सारण अवधि बढ़ने पर बढ़ जाता है। इसका अर्थ यह हुआ कि यदि द्वितीय कोटि का कत्था अपेक्षित हो तो सारकाष्ठ की छीलनों का ठंडे जल में निस्सारण करने मात्र से उसे ७. ४१ प्रतिशत जितनी अधिक मात्रा में प्राप्त किया जा सकता है। इसमें ईंधन की आवश्यकता केवल संकेन्द्रया (जमाने) के लिए पड़ेगी।

ठंडे जल में निस्सारण करने के पश्चात् अंशतः निचुड़ी हुई छीलनों को फिर गर्म जल में निस्सारण किया गया जिससे ५·१४ से ८·६५ प्रतिशत तक की मात्रा में ठोस निस्सारण प्राप्त हुआ जिनका खदिरितत्व (केटेचिन) २४·२ से ४०·८ प्रतिशत तक था जैसा सारणी २ में दर्शाया गया है। क्रमांक ९ (सारणी २) में छीलनों का निस्सारण उबलते जल में ३ घंटे तक किया गया था। इससे कुल ठोस निस्सार १२·६२ प्रतिशत मिले जिनमें खदिरि ३० प्रतिशत थी। अधीत दशाओं में सारकाष्ठ छीलनों को पहले दो घंटे तक ठंडे जल में, और तत्पश्चात् उसका १½ घंटे तक गर्म जल में निस्सारण करने से सर्वोत्तम परिणाम प्राप्त हुए। यह भी देखा गया है कि गर्म पानी से दो चरणों में निस्सारण करने की रीति द्वारा निस्सारित कत्था अधिक हल्के रंग का रहा और कच की मात्रा कम रहने से वह सूखता भी बड़ी जल्दी है। निस्सार से फिर वांछित गाढ़ता (२५° से० पर घनत्व १·७५) तक वाष्पित करके स्फटीकृत (केलासित) करके उसकी टिकियाँ बनाली जाती हैं। अतः इस विधा में अधिक समय लगने वाली पावन करने (छानने) की क्रिया नहीं करनी पड़ती और कत्थे की प्राप्ति में भी लाभ रहता है। इससे पुरानी रीति में अधिक समय तक निस्सारण

करने में अधिक ताप आ जाने से खदिरि (केटेचिन) विघटित होकर खदिरि शाल्किक (कैछैच्यु-टैनिक) अम्ल बन जाने की संभावना भी न्यून रह जाती है।

संदर्भ

१—बर्मा, बी० एस० आदि (१९५८)-मैन्यूफैक्चर आँफ कत्था एंड कच आन कौटेज स्केल बेसिस, इंडियन फौरेस्टर, ८४, ११ पृ० ६७२ [हिन्दी में कुटीर शैली पर कत्था और कच बनाना, हिन्दी ग्रन्थमाला सं० ९ (१९६२)]

२—मिश्र, ए० के० आदि (१९६४)-एडिबिल कत्था-प्रिलीमिनरी आब्जर्वेशंस आँन इट्स क्वालिटी एंड स्पैसिफिकेशंस, इण्यिन फौरेस्टर, ९०, १ पृ० २७-२९,

३—मिश्र, ए० के०, व कार्णिक एम० जी० (१९६४)—नोट आँन मेटेलिक वैसेल्स फॉर दि मैन्यूफैक्चर आँफ एडिबिल कत्था फ्रॉम खैर ट्रीज, इण्डियन फौरैस्टर, ९०, ६, पृ० ३८३।

४—राव, पी० एस०, व मिश्र, एच० के० (१९६३), फर्दरस्टडीज आँन कत्था मैन्यूफैक्चर एट दि फौरेस्ट रिसर्च इन्स्टंटाट्यूट, देहरादून, इण्डियन फौरैस्टर, ८९, ५, पृ० ३६८-३७२।

५—पूर्णसिंह (१९०८)—ए नोट आँन दि एनेलिसिस आँफ कच एंड दि प्रिप्रेशन आँफ प्योर केटेचिन, इण्डियन फौरेस्ट मेमायर्स, खण्ड १, भाग १, पृ० १।

सारणी—१

ठंडे जल में किये गये निस्सार की प्राप्ति व खदिरि तत्त्व

क्रमांक	निस्सारण अवधि घंटों में	ऊष्मक शुष्क छीलनों के आधार पर कुल ठोस का प्रतिशत	ऊष्मक शुष्क ठोस के आधार पर खदिरि का प्रतिशत
१	१	४·६५	२२·२
२	२	५·०३	२३·८
३	३	५·८६	३०·०
४	४	५·९३	३२·७
५	५	६·७०	३४·६
६	६	६·१२	३३·६८
७	१२	६·८२	३३·३६
८	२४	७·४१	३३·३४

सारणी—२

गर्म जल में किये गये निस्सार की प्राप्ति और खदिरि तत्व छीलनों (ठंडे जल में निस्सारित की हुई) को १½ घंटे तक उबलते जल के तापमान पर निस्सारित किया गया।

सारणी १ से लिए गये क्रमांक	ऊष्मक शुष्क छीलनों के आधार पर कुल ठोस का प्रतिशत	ऊष्मक शुष्क ठोस के आधार पर खदिरि का प्रतिशत
१	७·५२	२४·२
२	७·४८	३९·०
३	६·७३	४०·०
४	६·४०	३३·२
५	५·१४	४०·८
६	८·६५	३९·६
७	८·०६	३३·४
८	७·६८	३०·२
९	१२·०३	३०·० छीलनों को उबलते जल के तापमान पर केवल ३ घंटे तक निस्सारित किया गया।

शहीद

रामलखन सिंह

वह गुमनाम रात, जिसका कोई भी साथी न था, चुपचाप सहमी सी पगडंडी पर बढ़ी जा रही थी। आज उसे खुद से डर लग रहा था। वास्तव में वह क्षण कितना भयानक होता है जब हमारा अपनापन ही हमें डस जाने की नीयत पर उतर आता है। ठीक ऐसे ही नाजुक क्षणों से फिसलती रात—चिन्तित थी अपने अन्त पर। वह सोच रही थी—'जाने सबेरे का स्वरूप क्या हो ? मेरे अँधेरे दामन में छिपकर चोरों की तरह सीमा रक्षा में संलग्न भारतीय जवानों पर, गोलियों की फुहार छिड़कने का अवसर ताक रही पाकिस्तानी फौजें मेरी चूनर पर कहीं खूनी दाग न छोड़ जायँ और मैं सुबह इंसानियत की अदालत में एक बदनाम करार कर दी जाऊँ...।' काश ! कि उसे मालूम होता कि ठीक उसकी गति के साथ दूर टीले की ओट में, सतर्कता के साथ सामने रखे संकेतक को परखता सतीश किसी भी कीमत पर राष्ट्रीय स्वाभिमान बनाये रखने का अडिग प्रण लिए बैठा है।

पाकिस्तान के बर्बर एवं अचानक हमले ने सारे राष्ट्र को झकझोर कर रख दिया था। हर भारतीय हमले को विफल कर, मक्कार दुश्मन को मजा चखा देने के लिए कटिबद्ध हो चुका था। ऐसे में वह सतीश शांत रहता भी तो कैसे ? जिन्दगी के रंगीन पहलुओं के बीच हँसता-चहकता पल रहा सतीश, जब चेत कर उठा तो सीधे सैनिक दफ्तर में जाकर थमा। ऐसे क्षणों में राष्ट्र के लिए कुछ कर सकने की महत्वाकांक्षा रखने वाले इस नौजवान की जिद ने वहाँ के अफसरों को भर्ती करने के लिए मजबूर कर दिया। विज्ञान के ऊँचे दर्जों तक शिक्षित इस जवान को साधारण सैनिक के पद का छोटापन भी नहीं विचलित कर सका। आजादी के इस दीवाने को पद की चाह नहीं थी। साधारण सैनिक की हैसियत से वह सीमा पर भेजी जाने वाली टुकड़ी में इस तरह सर ऊँचा करके चला जैसे वह स्वयं नायक हो।

वैसे यह समय उसके आराम का था क्योंकि ठीक इसके आठ घंटे पहले वह उस पुल की एक चिन्त निगरानी करने का काम पूरा कर चुका था। परन्तु कल की पराजय उसे इस समय भी व्यग्र किये थी। पराजय—हाँ कल उसकी टुकड़ी को एकाएक गुप्त मार्ग से दुश्मन के आ जाने पर छम्ब क्षेत्र में अगली चौकी छोड़ कर पीछे हटना पड़ा था। वह उस क्षण से ही उलझन में था कि—इतनी सतर्कता के बाद भी दुश्मन को हमारी उपस्थिति का पता लगा तो कैसे ? न जाने क्यों रह-रह कर उसके मन में यह प्रश्न एक भयावह उत्तर लेकर उठ रहा था—'कहीं हमारा ही कोई साथी तो दुश्मन से नहीं मिला है ?' वह लाख-लाख प्रयत्न करके इस भाव को दूर करने का प्रयत्न करना किन्तु वह रह-रह कर आ जाता और आज पुनः वह कुछ वैसी ही घटने की आशंका से बौखला सा उठा। वह अपने आप बोल पड़ा—'नहीं। मैं ऐसा नहीं होने दूँगा—किसी भी कीमत पर नहीं होने दूँगा...' 'परन्तु मात्र चाहने से क्या होता है। हमें प्रयत्न करना चाहिए अपनी चाहत के लिए। प्रयत्न—हाँ, जी तोड़ प्रयत्न।' और ऐसा सोचते ही वह बेबश हो उठा। आखिर करूँ तो क्या करूँ ? घर के भेदिये को कैसे ताका जाय ? ऐसे अनेक प्रश्न विरामचिह्न बन कर उसके समक्ष खड़े थे। तभी उसके भीतर से उसका वैज्ञानिक प्रतिरूप बोल उठा—'क्यों नहीं तुम प्रकाश किरणों से संचालित संकेतक का उपयोग करते हो ?...'

'यह क्या होता है ?...' स्वयं ही कहकर बुदबुदाया

'भूल गये...' वैज्ञानिक प्रतिरूप उठाकर हँसा 'सैनिक वर्दी पहनते ही भूल गये तुम अपने वास्तविक रूप को। अच्छा मैं तुम्हें समझाता हूँ...' उसे दया आ गयी।

'तुम यह तो जानते हो कि प्रकाश किरणों में शक्ति होती है। यह प्रकाश किरणें जिन छोटे-छोटे इकाई कणों से मिलकर बनती बनती हैं उन्हें 'फोटान' कहते हैं। किरण की शक्ति इन्हीं 'फोटान' कणों में केन्द्रित रहती है। यह ऊर्जा 'फोटान' कणों की आवृत्ति के सरल समानुपाती होती है। (अधिक आवृत्ति वाले फोटान कणों वाली किरणों की शक्ति अधिक होगी) क्योंकि अल्ट्रावायलेट किरणों की आवृति अधिक होती है इसलिए इनके प्रयोग में प्राप्त फोटान कणों की ऊर्जा भी अधिक होगी। अब यदि यह फोटान-कण दूर रखी धातु की सतह पर पड़ें तो निश्चय ही अपनी शक्ति द्वारा धातुओं की सतह पर स्थिति अणुओं के वह्य कक्षाओं के ऋणावेशित इलेक्ट्रान कणों को उत्तेजित करेंगे। एक सीमा लाँघ जाने पर यह ऊर्जा इन कणों को अणु कक्ष से मुक्त कर देगी। मुक्त ऋणावेशित इलेक्ट्रान-कण पास रखी धनावेशित प्लेट द्वारा आकर्षित हो कर दोनों के बीच में विद्युत आवेश का प्रवाह स्थापित कर देंगे। इस प्रकार यह विद्युत प्रवाह तारों द्वारा जुड़े दूर रखे संकेतक पर अपना प्रभाव डालेगा।...' कह कर वह एक क्षण ठहरा। "परन्तु इससे तुम गुप्त मार्ग की गतिविधि कैसे जानोगे?..." 'क्यों? यह तो बड़ी आसान बात होगी...' भीतर से उत्तर आया—'दूर बैठकर स्थापित प्रकाशीय-विद्युत क्रम द्वारा संचालित संकेतक पर निगरानी रखना। जैसे ही कोई व्यक्ति किरणों के मार्ग से गुजरेगा वैसे ही विद्युत क्रम बन्द हो जायेगा (क्योंकि तब प्रकाश किरणें धातु की प्लेट तक नहीं पहुँच पायेगी) और तुरन्त ही संकेतक काम करना बन्द कर देगा, जिसे देख कर तुम किसी की उपस्थिति का आभास पा जाओगे...'

ऐसा क्रम स्थापित होते ही वह उठा। दौड़ कर पीछे पड़े इंजीनियरों के खेमे से आवश्यक यंत्र लाकर उन्हें यथाविधि संजोया और स्वयं संकेतक लेकर दूर टीले की ओट में जा बैठा। रात के एक बज गये परन्तु संकेतक ने कोई संकेत परिवर्तन नहीं दिखाया। वह कुछ कुछ निराश हो चला था। तभी एकाएक संकेतक ने मुद्रा बदली। वह तुरन्त पास रखी राइफल सम्हाल कर चल पड़ा। 'निश्चय ही किसी ने किरणों का पथ पार किया है' ऐसा सोचता वह सधे पैरों आगे बढ़ा थोड़ी दूर चलने पर ही उसे एक काली छाया दिखी। वह टीलों की ओट लेता उसके निकट पहुँचने का प्रयत्न करने लगा। गुप्त मार्ग पार करके वह छाया एकाएक ठिठक गयी। उसने जेब से टार्च निकाली और दूर दुश्मन के पड़ाव की दिशा में अजीब से संकेत दिये। वह सतर्क किन्तु शांत सब परखता रहा। थोड़ी ही देर में टार्च की रोशनी का सहारा लेते उधर से एक छाया निकट आती दिखी। पास आ जाने पर पहली छाया बुदबुदायी—"उत्तर की ओर दो सौ गज पर खड़े पेड़ की दायीं ओर की छोटी नहर से आठ सौ गज पूरब की ओर—" इतना सुनते ही सतीश को लकवा सा मार गया।' यह तो गोली बारूद वाले खेमें का ठिकाना बताया जा रहा है' और एकाएक वह उछल कर सामने आ गया। एक क्षण का भी विलम्ब किये बिना दूर से आयी छाया को गोली का निशाना बना दिया और इसके पहले कि दूसरी छाया सम्हले वह उसके सीने से नली सटाते हुए गरज पड़ा—तूने चाँदी के चन्द सिक्कों के लिए दुश्मन को गुप्त सूचनायें देते समय यह भी नहीं सोचा कि तेरे एक स्वार्थ के लिए हजारों माताओं की गोद उजड़ जायेगी, हजारों नारियों का सिन्दूर पुछ जायेगा और तो और सदियों के खून-पसीने की कमाई से अर्जित आजादी खतरे में पड़ जायेगी...'

'सतीश। तुम खामोश रहो। मैं तुम्हें...आफीसर बनवा दूँगा।

'कैप्टेन साहब! आप सभी को अपने जैसा गद्दार समझने का कष्ट न कीजिए। मैं इन सस्ती बोलियों में नहीं बिकने का...' और नली को पास लाते हुए बोला—'तैयार हो जाओ। अपनी काली करतूतों का अन्जाम भुगतने को...'

'सतीश—एक पल ठहर कर सोचो। इसके बदले में हमें इतनी दौलत मिलेगी कि सारी जिन्दगी भर आराम कर सकते हैं...' कैप्टेन ने गिड़गिड़ाते हुए आखिरी दाँव-फेंका। "कैप्टेन साहब! देश की आजादी को दाँव पर चढ़ाकर अपने लिए आराम खरीदने की

यह बात आपके साथ ही चली जाये तो अच्छा रहेगा... कहते कहते उसकी उँगलियाँ राइफल पर कस उठीं। एक धमाका हुआ और वह गद्दार शांत हो गया। रात एक बार और सिहरी।

थोड़े ही अन्तर से होने वाले ये दोनों धमाके आस-पास पड़े सैनिकों को सचेत करने के लिए पर्याप्त थे। दोनों ओर के सैनिक इस आवाज से आगे बढ़ने में व्यस्त हो उठे। तभी दूर से ही, आवाज को निशाना बनाकर छोड़ी गयी एक गोली सतीश का सीना छेदती पार हो गयी। भारत माँ का वह लालड़ा सपूत एक चीख के साथ लोट उठा। अँधेरे को चीरती एक विफरती ध्वनि उठी और सो गई। तब तक भारतीय सैनिक भी आ पहुँचे। जमीन पर घुटनों के सहारे रेंगते हुए वे आगे बढ़े। गोलियों की बाढ़ उठी और दुश्मन दुम दबा कर भाग खड़े हुए।

सुबह हुई। चौकी पर तिरंगा लहरा उठा। सुनसान वादी का चप्पा-चप्पा एक विजय घोष से गूँज उठा। रात बदनाम होने से बच गयी। परन्तु यह सम्भवत: किसी को भी न मालूम था कि 'वह एक शहीद था। सच्चा शहीद। जिसने जान से खेल कर अपनी प्राण से प्यारी आजादी को तिरंगे की चूनर में सजी रहने का पाठ पढ़ाया।

●●

[पृष्ठ ६८ का शेषांश]

परमाणु विखण्डन में पदार्थ का कुछ अंश विलुप्त होकर ऊर्जा में परिणत होता है।

प्लूटोनियम रेडियोधर्मी तत्व है और यह अल्प समय तक जीवित रहता है।

परमाणु बम, परमाणु शक्ति की ही विनाशकारी देन है। द्वितीय महायुद्ध के दौरान जापान के दो समृद्धिशाली नगरों के विनाश का कारण परमाणु बम ही है।

यदि मानव चाहे तो परमाणु शक्ति का उपयोग मानव जाति के हित के लिये भी कर सकता है।

मनुष्य इस शक्ति का उपयोग यदि औषधियों के निर्माण में, कल कारखानों को चलाने में एवं कृषि व अन्य उद्योगधन्धों में करे तो क्या ही अच्छा हो। यह विज्ञान की प्रगति का युग है। परमाणु शक्ति की सहायता से रेल, मोटर, कल कारखाने आदि कई वर्षों तक चलाये जा सकते हैं।

यदि परमाणु शक्ति का उपयोग विनाशकारी कार्यों में किया गया जो इस सभ्य युग में व बर्बर युग में क्या अन्तर रह जायगा।

इस सभ्य युग की माँग है कि परमाणु शक्ति का उपयोग मानव को सुखी व समृद्धिशाली बनाने में ही हो।

●●

प्लास्टिक सर्जरी की नवोपलब्धियाँ

श्याम सरन 'विक्रम'

किसी साइकिल की ट्यूब को तब देखिएगा जब वह एक ओर एकाएक गुब्बारे जैसी फूल उठे। निश्चय ही वह फूला हुआ भाग कुछ अधिक घिसा और अधिक पतला भी होगा। वहीं की वहीं उसकी व्यवस्था न की गयी तो वह चाहे जब फट भी सकती है। ठीक यही दशा मस्तिष्क की किसी भी रक्तवाहिनी की चाहे जब, चाहे जिस भाग पर हो सकती है। शल्य चिकित्सा की कुछेक नवीन प्रणालियों के प्रणेता, अमरीकी डा० सीन म्यूलेन का कथन है कि धातुक्षीणता तथा उच्च रक्तचाप अधिक समय तक बने रहने के कारण भी यह व्याधि उत्पन्न हो सकती है। इस व्याधि को नाड़ी-अर्बुद अर्थात् रक्तवाहिनी का उभार anneurysm कहते हैं। यह उभार फट जाने का पचास प्रतिशत परिणाम प्राणघातक होता है और एक बार के पश्चात् दूसरी बार फटने का तो अर्थ है अवश्यम्भावी मृत्यु।

अब तक इसकी चिकित्सा बड़ी श्रमसाध्य रही है। शल्य चिकित्सक को रोगी के मस्तिष्क में चीरा लगा कर अपने औजारों को अन्दर तक पहुँचाना पड़ता है। वहाँ उस उभार की या तो रुका हुआ प्रवाह ठीक करके या छेद करके बिठा दिया जाता है। तत्पश्चात् उसके पतले भाग को हटा कर उस पर ट्यूब के पंक्चर-पेंच की भाँति दूसरी त्वचा का नया पैबन्द लगा दिया जाता है। अन्तिम टाँके लगाते समय वहाँ भी एक अतिरिक्त पैबन्द लगा दिया जाता है ताकि पुनः आवश्यकता पड़ने पर वहीं से खोलने में सुविधा रहे।

नवीन चिकित्सा में यद्यपि समय व श्रम की बचत तो नहीं और अत्यन्त कौशल भी आवश्यक है, तथापि, प्राणसंकट बहुत हद तक टाला जा सकता जा सकता है। शिकागो विश्वविद्यालय के चिकित्सक जिस नवीन प्रणाली को इन दिनों अपना रहे हैं, उसमें समय तो तीन घण्टे लगता है, किन्तु उपचार का स्थायित्व विशेष रूप में दीर्घजीवी रहता है। इस प्रणाली में मस्तिष्क में केवल दो सूत (१/८ इंच) का छिद्र करना पड़ता है। उस छिद्र के मार्ग से स्टेनलैस स्टील की एक फुकनी प्रवेश करायी जाती है। फुकनी के सिरे पर ताँबे की एक सुई लगी रहती है जो लम्बाई में पाच इंच और मोटाई (?) में १/८००० इंच, अर्थात् एक सूत के हजारवें भाग जितनी सूक्ष्म होती है। निर्धारित स्थल अर्थात् नाड़ी-अर्बुद तक पहुँच जाने पर उस सुई में अत्यन्त मन्द—एक अम्पीयर का हजारवाँ भाग—विद्युतधारा प्रवाहित की जाती है ताकि वह उभार एक थक्के अथवा खुरण्ड के रूप में बन सके। तीन घण्टे तक चलनेवाली इस क्रिया के दौरान में एक-दो बार द्विपक्षीय एक्सरे भी लेते रहते हैं जिससे यह ज्ञात होता रहे कि वह सुई ठीक स्थल पर ठीक काम कर रही है क्योंकि कहीं-कहीं उस फुकनी को चार इंच तक की गहराई में उतारना पड़ जाता है।

नवीन होते हुए भी इस चिकित्सा की मूलगत सूझ लगभग सौ वर्ष पहले ही प्रस्तुत की जा चुकी थी। सन् १८७० में ग्लास्गो के एक शल्य-चिकित्सक ने इस प्रणाली का पूर्वाभास दे दिया था किन्तु स्वयं शल्य-चिकित्सा ही उन दिनों इतनी विकसित न होने के कारण इसे अपनाना सम्भव न हो सका था।

अब नाक को देखिए। शूर्पणखा की जिस नाक ने पूरा लंका-काण्ड ही खड़ा कर दिया, उस नाक के महत्व को कैसे कम माना जाए? व्यक्ति की नाक ही तो व्यक्तित्व की नाक है। इसकी साज—सँवार में सजग रहनेवाले भी ढूँढने से मिल ही जायेंगे। किसी-किसी की तो आजीविका ही नाक की सुडौलता और स्वरूपता पर निर्भर रहती है। हॉलीवुड की अभिनेत्रियों द्वारा दन्त,

नख, आँख, टाँग आदि के बीमे कराते सुनायी पड़ते ही हैं, तो नाक को भी उसी सूची में सम्मिलित कर लेना अचरज की बात नहीं। प्रकृति तो अपनी जगह अटल ही रहती है और चाहे जिसे, चाहे जैसी नाक दे देने के अपने परिहास में कमी नहीं करती। तब हार कर शल्य चिकित्सकों को टेढ़ी-मेढ़ी नाकों की मरम्मत के वर्कशाप खोलने के लिए मैदान में उतरना पड़ा है। विस्कान्सिन यूनिवर्सिटी के डा० सिडनी वाएन के इस विषय में अध्ययन, परीक्षण एवं प्रयोग काफी मनोरंजक तो हैं ही, ज्ञानवर्द्धक भी हैं।

रोगी अपनी नाक का चाहे जैसा डिजाइन प्रस्तावित करे, यह तो चिकित्सक को निर्णय करना पड़ता है कि अमुक चेहरे पर किस ढब की नाक फबेगी। तभी चिकित्सक की छुरी-कैंची को काम करने का अवसर मिलता है। आयु बढ़ने के साथ-साथ नाक को भी प्रौढ़ता एवं वृद्धावस्था प्राप्त करनी होती ही है। लास एन्जेलस के डा० कारलिन का मत है कि नाक पर प्रकृति ने ऐसी कस कर त्वचा मढ़ दी है कि आयु बढ़ने के साथ खाल लटक आने की वहाँ गुंजाइश ही नहीं। इसके फलस्वरूप दोनों ओर गाल और ओंठ की खालों की शामत आ जाती है। ये खालें लटक आती हैं, झुर्रियाँ और गड्ढे नजर आने लगते हैं तथा मुँह लटका-ढलका दिखायी देने लगता है। इसी ढीली खाल को लटकाने में गुरुत्वाकर्षण भी अपना काम करता है।

इन्हीं डा० कारलिन का दावा है कि दो-ढाई सप्ताह तक अस्पताल में घर करके रहने और मनोयोग से शल्य चिकित्सा कराने के फलस्वरूप कम से कम असामयिक बुढ़ापे से, और झुर्रियों से मुक्ति पायी जा सकती है। यह शंका व्यक्त करने पर कि ऐसी खरीदी हुई जवानी कितने दिन टिक सकती है, डा० कारलिन ने समाधान किया है कि टिकने की भली चलायी। मैंने निरन्तर बीमार और चिन्ताग्रस्त ऐसे व्यक्ति भी देखे हैं जो छठे महीने ही बुढ़ा जाते हैं। वे ही अन्यथा स्वस्थ और प्रसन्न रह कर २० वर्ष आगे तक युवावस्था का आनन्द ले सकते थे। इस चीरा-फाड़ी में हलके संज्ञाशून्यक से ही काम चल जाता है और चिकित्सा अधिक खर्चीली भी नहीं है।

और, यह आँख ? आँख तो हमारा जीवनतारा है। इसकी भी चिकित्सा की पहली पुरानी पद्धति में आमूल परिवर्तन हो चुके हैं। पत्थर की आँख अलग ही दिखती है और चेहरे की कुरूपता विशेषरूप से नहीं ढक पाती। अब मेसेचुसैट्स के डा० विलियम स्टोन ने प्लास्टिक की ऐसी पुतली बनायी है जो नन्हें और अदृष्यप्राय स्क्रू द्वारा फिट बिठा दी जाती है। इसमें सबसे बड़ी सुविधा यही है कि नेत्र के भीतरी भाग में कोई भी नयी व्याधि उत्पन्न होने पर इस पुतली को स्क्रू खोल कर निकाला जा सकता है। १५-१५ वर्ष की लम्बी अवधि तक बन्दरों और खरगोशों आदि पर प्रयोग करने के पश्चात् डा० स्टोन ने मानव-नेत्रों के क्षेत्र में प्रवेश किया है। यद्यपि नेत्र-बैंकों में तत्काल मृत व्यक्तियों के नेत्र (दाता की इच्छानुसार ही) संरक्षित अवस्था में प्राप्य रहते हैं, तथापि उनके रोपण-प्रयोग अभी केवल २५ प्रतिशत ही सफल हो पाये हैं। उसी में यथोचित सहायता देने के हेतु डा० स्टोन ने ये प्लास्टिक की पुतलियाँ तैयार की हैं।

यों तो प्लास्टिक-निर्मित पुतलियाँ भी वर्षों से प्रयोग में लायी जाती रही हैं किन्तु कठिनाई इनमें यही रहती थी कि इन्हें शीघ्र ही नेत्र के स्नायु बाहर फेंक देते थे। इनमें सुधारस्वरूप डा० स्टोन ने नन्हें छिद्र कर दिये हैं ताकि नवोत्पादित स्नायु-तन्तु अपना जाल उन छिद्रों में भी फैला कर उसे जकड़े रहें। साथ ही, इन छिद्रों द्वारा चारों ओर के तंतुओं को पोषक सत्व भी मिलते रहते हैं। अतः ऐसे सजीव, सरस और सहयोगी किरायेदार को बाहर निकाल-फेंकने की वे स्नायु नहीं सोचते और निभाव हो ही जाता है।

पुरानी पद्धति में नेत्र की चिकित्सा हो जाने पर भी बीच-बीच में रतोंध, जाला, मोतियाबिन्दु तथा अन्यान्य रोग हो जाया करते थे और उनके लिए नेत्र का पुनः पुनः उपचार सहज नहीं हो पाता था। इस नवीन प्रणाली में स्क्रू खोल लीजिए, पुतली निकाल लीजिए और उपचार के पश्चात् ज्यों की त्यों पुनः फिट कर दीजिए। यह स्क्रू भी पलक की सतह से केवल एक मिलीमीटर उभरा रहता है और किसी भी चेष्टा में रुकावट नहीं डालता।

●●

तारापुर

भारत के पहले आणविक बिजलीघर के निर्माण-कार्य से महाराष्ट्र के पुराने व्यापारिक बन्दरगाह तारापुर – और उस क्षेत्र के गाँवों—का रूप ही बदलता जा रहा है।

३,८०,००० किलोवाट का यह बिजलीघर १९६८ में चालू हो जायेगा। यह संसार में अपनी किस्म के सबसे बड़े बिजलीघरों में से होगा।

मजदूरों और कारीगरों के आ जाने से आसपास के कस्बों और गाँवों की आबादी लगभग चौगुनी हो गई है, जिससे कारोबार भी बढ़ गया है। निर्माण-स्थल तक बिजली की लाइन ले जाये जाने के कारण तारापुर और दहाणु तथा बौयसाड़ गाँवों में बिजली पहुँच गई है। बौयसाड़ गाँव पर दृष्टि डालने से उन दूकानों में बिजली की बत्तियाँ जगमगाती दिखाई देंगी जहाँ पहले केवल लालटेनें जला करती थीं। बौयसाड़ की गलियों में बिजली की रोशनी हो गई है और कुछ महीनों के अन्दर छोटे उद्योग-धंधों के लिए भी बिजली मिलने लगेगी। तारापुर-योजना के निर्माण के समय हुए ये सुधार इस बात का संकेत मात्र है कि बिजलीघर के चालू होने पर वहाँ क्या कुछ देखने में आयेगा। इस बिजलीघर से महाराष्ट्र तथा गुजरात को और अधिक औद्योगिक विकास के लिये काफी मात्रा में अतिरिक्त बिजली प्राप्त होने लगेगी।

तारापुर की बिजली पर सवा तीन पैसे प्रति किलोवाट घंटा या उससे कम लागत आयेगी। इस इलाके में उष्मा से तैयार की जाने वाली बिजली पर जो लागत बैठती है उससे यह बहुत कम है।

अमेरिकी सरकार ने इस योजना के लिये ८ करोड़ डालर (३८ करोड़ १० लाख रु०) का ऋण दिया है। योजना पर भारतीय मुद्रा के रूप में अनुमानतः १६ करोड़ रु० खर्च होंगे। इस बिजलीघर का निर्माण इण्टरनेशनल जनरल इलैक्ट्रिक कम्पनी (इण्डिया) प्राइवेट लिमिटेड कर रही है, जिसे संसार भर की फर्मों द्वारा इस काम के लिए प्रस्तुत किये गये अनुमानित व्यय के ब्योरों पर विचार करने के बाद, मई १९६४ में ठेका दिया गया था।

इण्टरनेशनल जनरल इलैक्ट्रिक कम्पनी को पहली बार इतना बड़ा ठेका मिला है। यह कम्पनी इससे पहले अमेरिका तथा अन्य देशों में आणविक बिजलीघरों का निर्माण कर चुकी है। न्यूजर्सी (न्यूयार्क) और जर्मनी में कम्पनी जो आणविक बिजलीघर खड़े कर रही है उनके डिजाइन तारापुर के बिजलीघर से बहुत कुछ मिलते-जुलते हैं।

तारापुर में निर्माण का वास्तविक काम इण्टरनेशनल जनरल इलैक्ट्रिक कम्पनी की देखरेख में 'बैचटेल इण्डिया लिमिटेड' कर रही है। उसे इस काम का ठेका इण्टरनेशनल जनरल इलैक्ट्रिक कम्पनी से मिला है। निर्माण-स्थल पर लगभग ६० भारतीय इंजिनियर, टैक्निशियन और सुपरवाइजर, २७ अमेरिकी इंजिनियरों और टैक्निशियनों से मिल कर काम कर रहे है। उनकी देखरेख में सब मिलाकर ३,००० कुशल और अकुशल कर्मचारी काम कर रहे हैं। इनके अतिरिक्त २०० व्यक्ति बम्बई में इस योजना से सम्बद्ध कार्यालय में काम करते हैं।

निर्माण-कार्यक्रम के अनुसार, यह बिजलीघर १९६७ के अन्त में परीक्षण के लिये कुछ मात्रा में बिजली तैयार करेगा। बाद के १० महीनों में बिजलीघर के यन्त्रों आदि की जाँच के लिये बिजली-उत्पादन

की मात्रा धीरे-धीरे बढ़ा दी जायेगी। अन्तिम परीक्षण में इण्टरनेशनल जनरल इलैक्ट्रिक कम्पनी और अणु-शक्ति-विभाग बिजलीघर को पूरी शक्ति से चला कर देखेंगे।

तारापुर-योजना का विस्तार १,२७० एकड़ क्षेत्र में होगा—इस क्षेत्र में बस्ती, रेल साइडिंग और हवाई अड्डा भी शामिल हैं। बिजलीघर में दो आणविक भट्ठियों और टर्बाइन जेनरेटरों को लगाने की योजना बड़ी सावधानी से तैयार की गई है। बिजलीघर के दो यूनिटों में से प्रत्येक के लिए एक आणविक भट्ठी, एक ट्रांसफार्मर और टर्बाइन जेनरेटर को विशेष जहाज द्वारा सीधे तारापुर लाया जायेगा। इस भारी सामान को उतारने के लिए एक विशेष घाट तैयार किया जा रहा है। घाट पर रेल की एक पटरी होगी जिससे इन मशीनों को जहाज से उतार कर सरकाते हुए बिजलीघर की इमारत में पहुँचाया जा सके।

इमारत के ऊपर एक विशाल क्रेन लगी होगी, जो इस सामान को उठाकर इमारत के अन्दर उपयुक्त स्थान पर रख देगी। क्रेन तैयार करने का काम शुरू हो चुका है। जब यह क्रेन बन कर पूरी हो जायेगी, तब वह मीलों दूर से दिखाई देगी।

यद्यपि बिजलीघर के पूरा होने में अभी बहुत देर है, किन्तु कुछ महत्वपूर्ण निर्माण-कार्य लगभग समाप्ति पर है। बिजलीघर की इमारत की नींव लगभग तैयार हो चुकी है और लोहे का ढाँचा खड़ा करने का काम चालू हो गया है।

बिजलीघर की बस्ती का निर्माण-कार्य लगभग पूरा हो गया है। इसमें बिजलीघर के २०० स्थायी कर्मचारियों के रहने की व्यवस्था होगी। बस्ती में एक अस्पताल, स्कूल, तैरने का तालाब, मनोरंजन क्लब तथा योजना-स्थल को देखने के लिये बाहर से आने वाले व्यक्तियों के लिए एक होस्टल भी होगा।

आणविक बिजलीघर के निर्माण का निश्चय भारत सरकार ने १९५८ में किया था और इस योजना को तीसरी पंचवर्षीय योजना में शामिल कर दिया गया, था। इस बिजलीघर के लिये भारत के पश्चिमी तट का चुनाव इसलिये किया गया, क्योंकि महाराष्ट्र और गुजरात की बिजली सम्बन्धी आवश्यकताएँ तेजी से बढ़ रही थीं और यह अनुभव किया जा रहा था कि बिजली के प्रचलित साधनों द्वारा इन आवश्यकताओं को पूरा नहीं किया जा सकता।

सभी प्रकार की बिजली का उत्पादन टर्बाइनों द्वारा किया जाता है और बिजलीघरों में जो भी भिन्नता दिखाई देती है उसका कारण टर्बाइनों को चलाने में प्रयुक्त की जाने वाली विधि होती है। पन-बिजलीघर में यह काम पानी की धारा करती है। ऊष्मा-बिजलीघर में, ताजे पानी को गरम करके भाप तैयार करने के लिये कोयले आदि का प्रयोग किया जाता है और उस भाप से टर्बाइन चलाये जाते हैं। आणविक बिजलीघर में, ईंधन के रूप में यूरेनियम काम में लाया जाता है। यूरेनियम भाप पैदा करने के लिये विखण्डन द्वारा ऊष्मा प्रदान करता है।

जब भाप को एक बार टर्बाइन चलाने के काम में ले आते हैं तब उसे फिर पानी का रूप दे देना आवश्यक है। यही कारण है कि आणविक अथवा ऊष्मा-बिजलीघर का ऐसी जगह होना जरूरी है जहाँ भाप को ठंडा करने के लिये पर्याप्त मात्रा में पानी हो।

तारापुर में, भाप को ठंडा करने के लिये अरब सागर के पानी का उपयोग किया जायेगा। यह पानी २,३०० फुट लम्बी नहर से प्राप्त किया जायेगा और प्रयोग होने के बाद यह पानी एक दूसरी नहर के द्वारा फिर समुद्र में जा मिलेगा।

भाप बनाने के लिये जिस ताजे पानी का प्रयोग किया जायेगा, वह बिजलीघर से कुछ मील दूर बने एक जलाशय से प्राप्त किया जायेगा। इस उद्देश्य से बाँध और जलाशय का निर्माण किया जा रहा है।

अमेरिका की अन्तर्राष्ट्रीय विकास एजेन्सी की ओर से दिये गये ८ करोड़ डालर के ऋण के अतिरिक्त अमेरिका के अणुशक्ति कमीशन ने बिजलीघर को प्रारम्भिक ईंधन के रूप में १॥ करोड़ डालर (७ करोड़ १० लाख

(शेषांश पृष्ठ ८७ पर)

सार संकलन

१. हवाई जहाजों द्वारा खनिज पदार्थों की खोज

देश में ताँबा, सीसा, जस्त और रांगे जैसी धातुओं की तीव्र आवश्यकता को पूरा करने के लिये, भारत-सरकार शीघ्र ही खनिजों की खोज और विकास का एक विशाल कार्यक्रम चालू करेगी। 'कठोर चट्टान अभियान' (औपरेशन हार्ड रौक) नामक इस कार्यक्रम के अन्तर्गत, ३ वर्ष के भीतर, अनुकूल क्षेत्रों में खनिजों के लिए ६०,००० मील का हवाई सर्वेक्षण और हीरों के लिए ५०,००० फुट तक खुदाई के काम किये जायेंगे।

इस हवाई और भूगर्भीय खनिज-सर्वेक्षण के लिए अमेरिकी सरकार ३५ लाख डालर (१ करोड़ ६६ लाख रुपये) का ऋण दे रही है, जिसके द्वारा विदेशी मुद्रा के रूप में होने वाले खर्चे पूरे किये जायेंगे। इस ऋण की स्वीकृति अमेरिका की अन्तर्राष्ट्रीय विकास एजेन्सी ने दी है।

पहले से चुने गये ऐसे क्षेत्रों का, जिनमें खनिज होने की सम्भावना होगी, हवाई सर्वेक्षण किया जायेगा, और विशिष्ट सम्भावना वाले स्थानों को स्थलीय सर्वेक्षण के लिए निर्धारित किया जायेगा। सर्वेक्षण करने वाले विमानों से सम्बद्ध उत्कृष्ट भू-भौतिक उपकरणों द्वारा खानों के स्थान का पता लगाया जायेगा।

३५ लाख डालर के अमेरिकी ऋण से सलाहकार इंजिनियरों की एक अमेरिकी फर्म द्वारा ठेके पर तीन वर्ष तक प्रस्तुत सेवाओं के विदेशी मुद्रा सम्बन्धी खर्चे पूरे किये जायेंगे। इससे प्रयोगशाला के उपकरणों, गाड़ियों तथा अन्वेषण के अन्य औजारों की खरीद भी की जायेगी।

हवाई सर्वेक्षण पर अनुमानतः प्रतिमील १०० रुपये से अधिक खर्च आयेगा, किन्तु इसके फलस्वरूप कुछ ही वर्षों में भारत को कई करोड़ रुपये की बचत होगी। अनुमान है कि चालू वर्ष में भारत दुर्लभ विदेशी मुद्रा के रूप में ८० करोड़ से अधिक रकम ऐसी धातुओं के आयात पर खर्च करेगा, जो भारतीय उद्योगों के लिए आवश्यक है। इसमें अकेले ताँबे के आयात पर ५० करोड़ रुपये व्यय होगा। उद्योगों की भावी माँग के उचित अनुमानों के आधार पर, १९७१ तक अलौह धातुओं का वार्षिक आयात-व्यय विदेशी मुद्राओं के रूप में लगभग १ अरब २० करोड़ रुपये होगा।

यदि भारतीय उद्योग को उसकी पूर्ण क्षमता के स्तर तक लाना है, तो इन महत्वपूर्ण धातुओं के लिए बहुत बड़ी मात्रा में विदेशी मुद्रा की आवश्यकता होगी।

वैकल्पिक उपाय यह है कि भारत में ही अलौह धातुओं की बड़ी-बड़ी खानें ढूँढ निकाली जायें और उचित रूप में यह विश्वास किया जाता है कि ऐसा करना संभव है।

भारत के भीतर दो अधिकतम सम्भावनापूर्ण भू-द्रोणियाँ (पृथ्वी की पपड़ी में पाई जाने वाली अधोमुखी परतें) मिलती हैं। इनमें से एक, जिसका नाम सतपुड़ा-भूद्रोणी है, पश्चिमी तट पर गोवा के कुछ मील उत्तर से लेकर दक्षिण में कुमारी अन्तरीप तक और फिर उत्तरपूर्व की ओर तटवर्ती रेखा के साथ चलती हुई कलकत्ता से १२० मील पश्चिम तक फैली हुई है। दूसरी, जिसका नाम अरावली भू-द्रोणी है, बम्बई के उत्तर में खम्भात से लेकर दिल्ली तक फैली हुई है।

ये दोनों पट्टियाँ महत्वपूर्ण खनिज-भण्डारों की मूल

स्रोत हैं। इसके अलावा ये भू-द्रोणियाँ भू-रचना की दृष्टि से अमेरिका और कनाडा की लेक सुपीरियर और उन्गावा भू-द्रोणियों से, जो अलौह खनिजों के प्रचुर स्रोत हैं, बहुत अधिक मिलती-जुलती हैं।

'कठोर चट्टान अभियान' के अन्तर्गत भारत का भूतत्वीय अनुसन्धान करने के लिए तीन मुख्य क्षेत्रों पर बल दिया जायेगा। वे हैं : पूर्वी राजस्थान क्षेत्र, राँची का पठार और पूर्वी कुड्डापा अंचल।

इन तीनों अनुकूल क्षेत्रों का भू-भौतिक सर्वेक्षण किया जायेगा, और हवाई मार्ग से एरोमैग्नेटिक, इलैक्ट्रो-मैग्नेटिक तथा रेडियोमैट्रिक विधियों द्वारा खनिज भण्डारों के स्थान का सही-सही निर्धारण किया जायेगा।

हवाई सर्वेक्षण खनिज अन्वेषण के सबसे लाभकर और सस्ते साधनों में से है। खनिज भण्डारों की खोज के लिए आजकल प्रयुक्त अधिकतम लोकप्रिय उपकरणों में मैग्नेटोमीटर और इलेक्ट्रो-मैग्नेटोमीटर हैं।

मैग्नेटोमीटर का विकास प्रारम्भ में युद्ध के समय पनडुब्बियों की टोह लेने वाले उपकरण के रूप में हुआ था। इलेक्ट्रो-मैग्नेटोमीटर एक तार पर लटकता हुआ, विमान से ४०० फुट नीचे और भूमि से लगभग १०० फुट ऊपर आसमान में झूलता रहता है। इस स्थिति में वह भूतल से टकरा कर आने वाले विद्युतीय स्पन्दनों को पकड़ता है। इसके विपरीत, मैग्नेटोमीटर २८ फुट लम्बी प्लास्टिक की पेटी में बन्द होता है, जो विमान की पूँछ से बाहर निकली होती है।

२. ट्राम्बे का नया रासायनिक उर्वरक संयंत्र

रासायनिक उर्वरक का उत्पादन कृषि के क्षेत्र में एक सर्वाधिक महत्वपूर्ण कार्य माना जाता है। पौधों को विकास के हेतु १६ विभिन्न तत्वों की आवश्यकता रहती है। इनमें से तीन कार्बन, हाइड्रोजन और आक्सीजन-वायु और जल से प्राप्त होते हैं; शेष १३ मिट्टी से प्राप्त होते हैं। इन १३ पोषक तत्वों में मुख्य तत्व हैं—नाइट्रोजन, फास्फोरस और पोटैसियम। इन सबकी प्रचुर परिमाण में आवश्यकता पड़ती है तथा समस्त उपयुक्त रासायनिक उर्वरकों में ये विद्यमान होते हैं। कैल्शियम, मैगनीशियम और सल्फर का स्थान इनके बाद आता है। शेष तत्वों को सूक्ष्म-तत्व कहते हैं क्योंकि इनकी आवश्यकता अत्यन्त न्यून परिमाण में होती है। इनमें जिंक, बोरन, तांबा, मैंगनीज, मोलिब्डनम और क्लोरीन सम्मिलित हैं।

प्रत्येक पौधे को प्रति दिन विकास के लिए इन रासायनिक तत्वों की आवश्यकता होती है। लेकिन, विभिन्न पौधों को विभिन्न परिमाण में इनकी आवश्यकता पड़ती है। कपास को किसी एक रासायनिक तत्व की तो धान को किसी अन्य तत्व की अधिक परिमाण में जरूरत पड़ती है। विभिन्न समयों में पौधों द्वारा इन पोषक रासायनिक तत्वों की विभिन्न मात्राएँ शोषित की जाती हैं। उदाहरणार्थ, बीजारोपण काल में, कपास के पौधे को उक्त १६ तत्वों की अत्यन्त न्यून परिमाण में आवश्यकता पड़ती है। लेकिन द्रुत विकास की अवस्था में पौधों को इन सभी पोषक तत्वों की और विशेष रूप से नाइट्रोजन को प्रचुर परिमाण में आवश्यकता पड़ती है। अन्ततोगत्वा, जब पौधों में फल लगने का समय आता है, उस समय उन्हें अधिक फासफोरस की जरूरत होती है क्योंकि फासफोरस बीज में जाकर केन्द्रित होता है। जितनी ही कमी इन तत्वों की होगी उसका उतना ही प्रभाव पौधे के विकास पर पड़ेगा। अतएव, रासायनिक उर्वरक का उचित ढंग से प्रयोग करने के लिए सर्वप्रथम उस मिट्टी की रासायनिक परीक्षा करनी परमावश्यक है जिनमें की फसल उगाई जाने वाली हैं ताकि आवश्यक पोषक-तत्वों का उचित अनुपात में संयोग कर मिट्टी की कमियों को दूर किया जा सके।

भारत में सर्वत्र मिट्टी में नाइट्रोजन का अत्यन्त अभाव है। भारत की लगभग ७५ प्रतिशत मिट्टी में फासफोरस की तथा २५ प्रतिशत मिट्टी में पोटाश की भी कमी पाई जाती है। हमारे समक्ष समस्या केवल मिट्टी की वर्तमान उर्वराशक्ति को ही स्थिर रखने की नहीं बल्कि उसे और अधिक उर्वर बनाने की भी है।

हजारों वर्षों से मनुष्य पृथ्वी की मिट्टी की उर्वरा-शक्ति से लाभ उठाता रहा है। विश्व में भारत ही एक मात्र ऐसा देश नहीं जिसकी मिट्टी की उर्वराशक्ति का

ह्रास हो गया है। लेकिन, वह एक ऐसा देश अवश्य है जो अन्य अनेक राष्ट्रों की तुलना में मिट्टी में बहुत कम उर्वरक डालता है। जबकि भारत में रासायनिक उर्वरक की खपत एक एकड़ पीछे एक किलोग्राम है, फ्रांस में यह खपत २७.१७ किलोग्राम प्रति एकड़, पश्चिमी जर्मनी में ६५ किलोग्राम प्रति एकड़, नीदरलैण्ड में ८२'२४ किलोग्राम प्रति एकड़, जापान में ६४'६१ किलोग्राम प्रति एकड़ तथा अमेरिका में (जहाँ कृषि के लिए भूमि का इस्तेमाल होते अभी ४०० वर्ष भी नहीं हुए हैं) ६७४ किलोग्राम प्रति एकड़ है;

भारतीय किसान इतना कम उर्वरक क्यों इस्तेमाल करते हैं, इसके तीन मुख्य कारण हैं। समग्र रूप में, भारत में अभी भी कृषि के लिए परम्परागत विधियों का उपयोग किया जा रहा है, और किसान लोग रासायनिक उर्वरकों की उपयोगिता को नहीं समझते हैं। और यदि वे समझते हो तो भी भारत में रासायनिक उर्वरकों की सप्लाई बहुत कम और मँहगी तथा भारत में उत्पादित होने वाली रासायनिक खाद अपर्याप्त है जिससे काफी अधिक मात्रा में यह उर्वरक विदेशों से आयात करने पड़ते हैं। रासायनिक उर्वरक संयन्त्र स्थापित करने के लिए आवश्यक मशीनें भी विदेशों से आयात करनी पड़ती हैं और ये काफी मँहगी होती हैं। अतएव, रासायनिक उर्वरक का उत्पादन करना प्रारम्भ में अत्यन्त व्ययसाध्य कार्य सिद्ध होता है। लेकिन, दूसरी ओर इसका उत्पादन न करना तथा विदेशों से भोजन-सामग्री और उर्वरक आयात करना और भी अधिक खर्चीला होता है।

इस समय भारत में ३८ करोड़ ४६ लाख एकड़ भूमि पर कृषि होती है जिसमें से ७ करोड़ [illegible] लाख एकड़ भूमि में सिंचाई की व्यवस्था है। इस विशाल भूमि में, जिसमें लगभग ४०,००,००० टन रासायनिक उर्वरक खपने चाहिये, हम केवल २'५ लाख टन उर्वरक का उपयोग कर रहे हैं। इसमें से अधिकांश भाग विदेशों से आयात किया जाता है।

रासायनिक उर्वरकों को इस भारी कमी को दूर करने के लिये एक द्रुतगामी कार्यक्रम प्रारम्भ किया गया है, जिसके अन्तर्गत १९६८ तक भारत में रासायनिक उर्वरकों का उत्पादन करने वाले चार बड़े-बड़े कारखानों का निर्माण सम्पन्न हो जाएगा। इस समय भारत में ५ रासायनिक उर्वरक संयन्त्रों में उत्पादन शुरू हो चुका है। इन ६ रासायनिक उर्वरक संयंत्रों में एक विशालतम संयंत्र ट्राम्बे स्थित रासायनिक उर्वरक संयंत्र है जिसके निर्माण पर ३ करोड़ १४ लाख डालर की लागत आई है। यह कारखाना ६ नवम्बर को उत्पादन प्रारम्भ कर चुका है।

बम्बई नगर से १७ मील की दूरी पर यह संयंत्र एस्सो और बर्माशैल के तेल शोधक कारखानों के निकट ही स्थित है। ये दोनों तेल शोधक कारखाने संयंत्र को रासायनिक खाद के निर्माण हेतु आधारभूत कच्चा माल नेप्था और गैस सुलभ करेंगे। यह संयंत्र ३,३०,००० टन नाइट्रो-फास्फोरस के रूप में प्रति वर्ष ९० हजार टन नाइट्रोजन और ४५ हजार टन फास्फेट का उत्पादन करेगा। नाइट्रो-फास्फेट में नाइट्रोजन का अंश १९'६ प्रतिशत तथा फास्फेट का अंश भी १९'६ प्रतिशत रहता है। इसके अलावा उक्त संयंत्र यूरिया नाम उर्वरक का भी उत्पादन करेगा जिसमें नाइट्रोजन का अनुपात ४६ प्रतिशत तक रहता है।

यह रासायनिक उर्वरक संयंत्र समस्त एशिया में अपने ढंग का अद्वितीय संयंत्र होगा और इसमें पाँच अलग-अलग भाग होंगे। एमोनिया प्लाण्ट जो प्रतिदिन ३५० टन द्रव निर्जल अमोनिया तैयार करेगा। यूरिया प्लाण्ट प्रतिदिन ३०० टन यूरिया का तथा नाइट्रिक अम्ल प्लाण्ट प्रतिदिन ३६० टन नाइट्रिक अम्ल तैयार करेगा। सल्फ्यूरिक अम्ल प्लान्ट प्रतिदिन २०० टन सल्फियूरिक अम्ल तथा नाइट्रो-फास्फेट प्लान्ट प्रतिदिन ११०० टन नाइट्रो-फास्फेट तैयार करेगा।

अमेरिका ने इस रासायनिक उर्वरक संयंत्र के निर्माण हेतु ३ करोड़ ७८ लाख डालर की आर्थिक सहायता अन्तर्राष्ट्रीय विकास सम्बन्धी एजेन्सी के माध्यम से सुलभ की है। इसका उपयोग मशीनों की खरीद पर व्यय होने वाली विदेशी मुद्रा सुलभ करने के लिए हुआ है। इसके अलावा पी एल-४८० कोष से भी

१३.६ करोड़ रुपये का ऋण स्थानीय मुद्रा सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु प्रदान किया था। ट्राम्बे स्थित यह रासायनिक उर्वरक संयंत्र उद्योग के क्षेत्र में पारस्परिक सहयोग का एक श्रेष्ठ उदाहरण है। संयंत्र के निर्माण का ठेका अमेरिकी और भारतीय फर्मों को दिया गया लेकिन योजना पर नियन्त्रण यह योजना सार्वजनिक क्षेत्र की है—फर्टीलाइजर कारपोरेशन ऑफ इन्डिया के हाथों में है।

आज ५३३ एकड़ भूमि में नाना प्रकार के आकार-टावर, चमकते हुए गोल आकार तथा पाइप दृष्टिगोचर होते हैं। जहाँ कुछ समय पूर्व समुद्र की वायु से स्पन्दित ताड के वृक्ष ही दृष्टिगोचर होते थे, आज वहाँ ऊँचे-ऊँचे क्रेन और भवन दिखाई पड़ते हैं। कारखाना अभी अपने प्रारम्भिक प्रयोगात्मक चरण से गुजर रहा है जैसा कि इस प्रकार के नये कारखानों में बहुधा होता है।

कारखाने में कार्य करने वाले कर्मचारियों के निवास के हेतु निकट ही २८८ एकड़ भूमि में एक छोटा सा नगर ही बसा दिया गया है। इसमें १७५० क्वार्टर हैं। इनके अलावा यहाँ अनेक मनोरंजन-क्लब, एक सहकारी स्टोर और फेयर प्राइस शौप भी हैं।

यह अनुमान लगाया गया है कि एक टन रासायनिक उर्वरकों के प्रयोग से कृषि उत्पादन में १० टन की वृद्धि हो सकती हैं। इस आधार पर, यदि ट्राम्बे में उत्पादित समस्त रासायनिक खाद महाराष्ट्र राज्य के कृषि उत्पादन में १३५०,००० टन की वृद्धि हो सकती है। राष्ट्र व्यापी आधार पर यह आशा की जाती है कि १९६६ तक राष्ट्र के कुल कृषि-उत्पादन में २ करोड़ ८० लाख टन तक की वृद्धि हो जाएगी। इसमें से लगभग ४० प्रतिशत वृद्धि का श्रेय रासायनिक उर्वरकों को प्राप्त होगा।

ट्राम्बे जैसी रासायनिक फैक्टरी खड़ी करने के लिये ३० से लेकर ३५ करोड़ रुपये तक की पूँजी चाहिये। उन रासायनिक उर्वरकों का आयात करने के जिनका निर्माण भारत में नहीं होता, हर वर्ष २५ करोड़ रुपए तक की धनराशि खर्च होती है। ऐसी भोजन सामग्री की खरीद करने के लिए जो पर्याप्त उर्वरकों का उपयोग किये बिना नहीं उत्पन्न की जा सकती, हर वर्ष १५० करोड़ रुपए और खर्च करने पड़ते हैं। इस प्रकार गणित और तर्क दोनों का यह तकाजा है कि भारत में और अधिक रासायनिक उर्वरक संयंत्रों का निर्माण किया जाए।

यदि ये प्रयास सफल हो जाते हैं तो १९७१ तक भारत ३० लाख टन रासायनिक उर्वरक का उत्पादन करने लगेगा। १९६३-६४ की तुलना में यह आंकड़े लगभग २० गुने हैं। यद्यपि इससे भी समस्त आवश्यकता की पूर्ति नहीं हो सकती फिर भी सामान्य परिस्थितियों में अपनी जरूरत लायक अन्न उत्पन्न करने की दृष्टि से यह मात्रा पर्याप्त होगी। इसी अवधि में अमेरिका उदार शर्तों पर रासायनिक उर्वरकों का आयात करने में भी भारत की सहायता कर रहा है। चालू वर्ष में, अमेरिका के 'गैर योजना' सहायता कोष से इस कार्य के लिए ४ करोड़ डालर (१९ करोड़ रुपए) की धनराशि निर्धारित की गई है। यह सहायता ऐसे दीर्घकालीन ऋण के रूप में दी जाएगी जिसका भुगतान ४० वर्षों की अवधि में किया जाएगा।

●●

१. नये अन्तरिक्षयान से पृथ्वी का अध्ययन

अमेरिका ने पृथ्वी की कक्षा में एक नया उपग्रह स्थापित किया है जो संसार के सबसे अधिक सही मान-चित्रों का निर्माण कर सकेगा तथा चन्द्रमा की यात्रा करने वाले मनुष्यों की टोह लेने वाली मार्ग-दर्शक चौकियों की स्थापना कर सकेगा ।

'जीओस-१' नामक ३८५ पौण्ड भार का यह उपग्रह पिछले दिनों अमेरिका के राष्ट्रीय उड्डयन एवं अन्तरिक्ष प्रशासन' द्वारा केप कैनेडी के अड्डे से कक्ष में पहुँचाया गया । अन्तरिक्ष-प्रशासन ने सूचित किया है कि यह उपग्रह ७६८ मील से लेकर १,४१४ मील तक की ऊँचाई पर पृथ्वी की परिक्रमा कर रहा है । 'जीओस-१' या 'एक्सप्लोरर-२९' अपने ऊपर मापने के लिए ५ किस्म के उपकरणों से पृथ्वी पर महत्वपूर्ण वैज्ञानिक आकड़े भेजेगा ।

अलमूनियम के खोल वाला उपग्रह १२२ सेन्टीमीटर चौड़ा और ८१ सेन्टीमीटर ऊँचा है । उसके पार्श्वों के पृष्ठ पर सौर सैल लगे हुए हैं जो सूर्य की धूप को बिजली में परिणत कर देते हैं जिससे अन्तरिक्षयान के भीतर के उपकरण चलते हैं ।

'जीओस-१' के पूर्ववर्ती एक्सप्लोरर-२२ और एक्सप्लोरर-२७ अब भी कक्षा में है । उनके प्रक्षेपण का उद्देश्य अयनमण्डल की छानबीन करना था ।

जीओस किस्म के २० अन्तरिक्षयान छोड़ने की व्यवस्था है । अन्य किस्म का भू-रचना-मापक उपग्रह अगले साल छोड़ा जायेगा । वह निष्क्रिय किस्म का अन्तरिक्षयान होगा और उसका नाम 'पैगोस' होगा । ३० मीटर गोलाई के फुलाये जाने लायक उस यान में कोई सक्रिय विद्युदणु यन्त्र नहीं होगा और उसे छोटी सी दूरबीन से भी प्रेक्षक देख सकेंगे ।

वैज्ञानिकों ने भूरचनामापक उपग्रहों का प्रयोग करके भूमापन की विधियों में बहुत प्रगति कर ली है । उन्होंने यह भी पता लगा लिया है कि पृथ्वी गोल होने के बजाय कुछ नासपाती जैसी है और उसके पृष्ठ पर कुछ उभार हैं जहाँ गुरुत्वाकर्षण का बल आशातीत होता है ।

२. मामूली से सौर भबके से पानी की प्राप्ति

अमेरिका के दो भौतिकशास्त्रियों के अनुसन्धान के फलस्वरूप ऐसी जगह से भी पानी निकालना संभव हो गया है, जहाँ पानी न दीखता हो । उन्होंने बहुत सूखी जमीन से भी पानी निकालने के लिए एक सीधा-सादा सा सौर-भबका निकालना है ।

अमेरिका की कृषि-अनुसन्धान सेवा के आर० डी० जैक्सन और सी० एच० एम० वान बावेल ने दक्षिण-पश्चिमी राज्य ऐरिजोना के रेगिस्तानी इलाके में परीक्षण करते हुए जेब में समाने लायक एक ऐसे सौर भबके की ईजाद की जो संकटकाल में प्यासा मरने से बचने के लिए सूखी मिट्टी से और रेगिस्तानी वनस्पतियों से पानी निकाल लेता है । इसमें कुछ ही रुपये की लागत आती है ।

सौर भबके को १५ मिनट में तैयार किया जा सकता है और उससे २४ घंटों में १.५ लिटर तक साफ पानी निकाला जा सकता है ।

इस भबके की मुख्य चीज है पतले प्लास्टिक की २ वर्गमीटर चादर जिसे गीला किया जा सके । तह करके इसे सामान्य जेब में रखा जा सकता है ।

इसके अलावा कोई प्याला या ऐसा पात्र भी चाहिए जिसमें पानी की बूँदें जमा हो सकें। एक छोटा पत्थर और खोदने के लिए कोई चीज (जैसे छड़ी) भी चाहिए।

सौर भवका बनाने की विधि इस प्रकार है—

जमीन में लगभग १०० सेन्टीमीटर चौड़ा और ५० सेन्टीमीटर गहरा गढ्हा खोदो। प्याले की शक्ल के गढहे की तली में पानी इकट्ठा करने का पात्र रख दो। यह पात्र प्लास्टिक के एक टुकड़े से भी तैयार किया जा सकता है।

सारे गढहे पर प्लास्टिक की चादर ढक दो। उस प्लास्टिक को गढहे में न गिरने देने के लिए उसके सिरों पर मिट्टी, ढेले या पत्थर रख दो और फिर प्लास्टिक के बीचोंबीच धीमे से एक छोटा पत्थर रख दो ताकि वह प्लास्टिक चारों ओर से बीच में तली की ओर झुक जाये। यह ध्यान रहे कि पत्थरों या मिट्टी से दबा हुआ प्लास्टिक गढहे की आकृति के अनुरूप रहे, और उसका मध्य भाग सीधा पात्र के ऊपर झुका रहे पर प्लास्टिक गढहे की दीवारों से छुए नहीं।

पात्र में इकट्ठे हुए पानी को आसानी से पीने के लिए मिट्टी की सतह से पात्र तक आप प्लास्टिक की एक नली लगा सकते हैं। यदि ऐसी नली न मिले तो आपको पात्र तक पहुँचने और पानी पीने के लिए भवके की व्यवस्था को बिगाड़ना पड़ेगा।

श्री जैक्सन ने कहा : इस भवके में दो ऐसी चीजों से काम लिया जाता है, जिनकी रेगिस्तान में कमी नहीं—धूप और मिट्टी। सूर्य की गर्मी से मिट्टी में विद्यमान नमी प्लास्टिक की तह के नीचे की ओर जमा हो जाती है। फिर पानी की बूँदें प्लास्टिक के साथ ढल कर पात्र में पहुँच जाती हैं।

श्री जैक्सन ने बताया कि पानी कुछ गरम और बेस्वाद सा होता है, पर इससे आप संकट-काल में जीवित रह सकते हैं। यदि जमीन सूखी हो तो सेहुँड़ के टुकड़े काट कर और उन्हें प्लास्टिक के नीचे गढहे की तली में रख कर पानी की प्राप्ति की मात्रा बढ़ाई जा सकती है।

यदि उपलब्ध पानी गदला हो तो उसे गढहे में डाल कर और सूर्य की धूप से उसका वाष्पीकरण करके उसे शुद्ध किया जा सकता है।

इस सौर भवके का उपयोग समुद्र-तट पर तथा अन्य ऐसी गीली जमीन पर जहाँ पानी उपलब्ध न हो, पेय पानी की प्राप्ति के लिए भी किया जा सकता है।

३. मूलभूत जीवाणुओं द्वारा जीवन-क्रिया

कैलिफोर्निया विश्वविद्यालय के कोषीय शरीरशास्त्र-विभाग (डिपार्टमेण्ट ऑव् सैल् फिजियोलौजी) के दो वैज्ञानिकों डॉ० एम० पी० डब्ल्यु० इवान्स और डॉ० वैव् वी० बुकैनन ने बताया है कि जीवाणु, कीटाणु या शाकाणु से, जो भूमण्डल पर जीवों की आदिकालीन स्थिति से अब तक अपना अस्तित्व बनाये हुए हैं, इस बात का नया प्रमाण प्राप्त हुआ है कि अरबों वर्ष पूर्व प्रकाश-संश्लेषण (फोटोसिन्थेसिस) उसी जीव रसायनिक प्रक्रिया से सम्पन्न होता था जिससे यह महत्वपूर्ण प्रक्रिया आज होती है। इन वैज्ञानिकों ने यह मत व्यक्त किया कि इस नई साक्षी से उस मूलभूत द्रव्य का महत्व प्रतिपादित होता है जिसे भा-संश्लेषण के मूल्यांकन में 'फेरेडोक्सिन' कहा जाता है।

प्रकाश-संश्लेषण सभी जीव रसायनिक प्रक्रियाओं में सबसे अधिक महत्वपूर्ण है और भूमण्डल पर जीवन का मूलाधार है। इसके द्वारा पेड़-पौधे आदि वनस्पतियाँ पानी और कार्बन-डाइआक्साइड को कार्बोहाइड्रेट, वसा और प्रोटीन में परिणत करने में सूर्य के प्रकाश प्रयोग करती हैं और वे कार्बोहाइड्रेट, वसा एवं प्रोटीन ही सब वनस्पतियों और मानवी जीवन के लिए अनिवार्य तत्व हैं। इस प्रक्रिया के दौरान ये पौधे पृथ्वी के वायुमण्डल में हुई क्षति की पूर्ति के लिए औक्सीजन का उत्पादन कर लेते हैं।

डॉ० इवान्स और डॉ० बुकैनन ने अपने अनुसंधान-कार्यों के परिणामों पर प्रकाश डालते हुए बतलाया कि हमारा प्रयत्न प्रकाश-संश्लेषण की प्रक्रिया में 'फेरेडो-क्सिन' की भूमिका का मूल्यांकन करने पर केन्द्रित था।

'फेरेडोक्सिन' लौह-समायुक्त प्रोटीन आवेजक है जो सभी हरी वनस्पतियों के कोषों में पाया जाता है।

इन वैज्ञानिकों ने बताया कि कैलिफोर्निया विश्व-विद्यालय के कोषीय शरीर क्रिया शास्त्र-विभाग में भूत-काल में किये गये अनुसन्धानों से यह प्रमाणित हो गया है कि वनस्पतियों में प्रकाश-संश्लेषण की प्रक्रिया के दौरान 'फेरेडोक्सिन' पानी से विद्युदणुओं को ग्रहण कर लेता है। यह कार्यवाही कोषों में विद्यमान हरीतिमा के तत्वों द्वारा सूर्यताप से आत्मसात् की हुई ऊर्जा की सहायता से होती है। 'फेरेडोक्सिन' द्वारा जिस प्रक्रिया से विद्युदणुओं का संचय किया जाता है वह एक अन्य प्रक्रिया को उद्भूत करती है जिसे 'फोटो-फ़ोस्फोराइले-शन' कहते हैं और यह 'एडनोसिन ट्राइफास्फेट' या 'ए. टी. पी.' नामक द्रव्य को उत्पन्न करती है जो सभी जीवित कोषों का शक्तिस्रोत है। वैज्ञानिकों ने बतलाया कि फेरेडोक्सिन और 'ए. टी. पी.' की मात्रा का ह्रास होने से वे दोनों कार्बनिक द्रव्यों के उस मेल की रचना करते हैं जिसके लिये भा-संश्लेषण की ख्याति है।

इस अनुसन्धान में जिस प्रकाश संश्लेषणात्मक जीवाणुओं या शाकाणुओं का प्रयोग किया जाता है वे उन्हीं जीवाणुओं या शाकाणुओं के वंशानुगत हैं जिनकी सत्ता हमारे आज के वायुमण्डल की विद्यमानता से भी पहले पृथ्वी पर थी। तब वायु में आक्सीजन नहीं थी। इन वैज्ञानिकों ने कहा कि ये जीवाणु या शाकाणु आक्जीजन का प्रयोग नहीं करते और ये जीवाणु हरी वनस्पतियों की तरह भा संश्लेषण की प्रक्रिया के दौरान आक्सीजन भी पैदा नहीं करते। उसके बजाय वे हाइड्रोजन-सल्फाइड जैसे गन्धक के मिश्रणों पर निर्भर होते हैं और उनकी भा-संश्लेषण प्रक्रिया के श्रम उत्पादन कार्बनिक यौगिक तथा गन्धक हैं जो कि उन्हीं के भीतर एकत्र हो जाते हैं।

प्रकृति में, भा-संश्लेषक जीवाणु हाइड्रोजन-सल्फाइड से विद्युदणुओं को 'फेरेडोनिसन' में स्थानान्त-रित करने के लिए सूर्य-ताप की शक्ति का प्रयोग करते हैं। फिर वह 'फेरेडोनिसन' कार्बनिक यौगिकों की रचना में अपना कार्य करती है।

४. कैंसर के विरुद्ध गामा विकिरण स्रोत का प्रयोग

मनुष्य के शरीर के भीतर उत्पन्न कैंसर रोग का इलाज करने के लिए अमेरिका में इस समय एक ऐसे गामा-विकिरण स्रोत का प्रयोग हो रहा है, जो वहाँ अब उत्पन्न गामा-विकिरण का तीव्रतम स्रोत है। यह स्रोत कोबाल्ट-६० की पैंसिल जैसी पतली सलाई है, जिसकी लम्बाई एक इंच से कुछ अधिक है। आइडाहो फाल्स, आइडाहो, के नैशनल रिएक्टर टेस्टिंग स्टेशन पर कोबाल्ट—५९ को लगभग दो वर्ष का विकिरण से प्रभावित करके इसका निर्माण किया गया है।

यह सलाई तांबे की कलईवाली १५ नन्हीं कोबाल्ट कटोरियों द्वारा निर्मित होती है और उसका वजन ११·६ ग्राम के बराबर होता है। छोटे और हल्के आकार का होने के बावजूद इसकी रेडियो-सक्रियता प्रति ग्राम ४·५ क्यूरियों वाली ४,७०० क्यूरियों के बराबर होती है।

'क्यूरी' रेडियो-सक्रियता नापने वाली एक आधारभूत इकाई होती है। वह प्रति सेकण्ड ३,७०० करोड़ आणविक विखण्डों के, अथवा १ ग्राम रेडियम की रेडियो-सक्रियता के बराबर होती है। अस्तु, नया स्रोत अपने ही बराबर रेडियम की तुलना में ४०५ गुना अधिक क्षमतापूर्ण होता है।

किन्तु रेडियम प्रकृति प्रदत्त होने के कारण बहुत दुर्लभ और महंगा है (अनुमान है कि विश्व में इस समय कुल केवल ६·६ पौण्ड रेडियम उपलब्ध है।) उसकी धीमी गामा-विकिरण चर्म-कैंसरों के लिए विशेष रूप से उपयुक्त है।

गहराई तक पहुँचने के लिए इतनी बड़ी मात्रा में रेडियम की आवश्यकता होगी, कि वैसा अव्यावहारिक सिद्ध होगा। उदाहरण के लिए, ११·५ ग्राम नये कोबाल्ट-६० की बराबरी करने के लिए ७,५०० ग्राम रेडियम की जरूरत पड़ेगी।

इसके विपरीत, कोबाल्ट-६० का नया स्रोत प्रविष्ट होने वाली मात्रा की एक पतली रश्मि प्रस्तुत करता है, जो सीधे कैंसर ग्रस्त स्थान पर ही पहुँच सकता है।

उससे उसके आसपास के अंग बहुत ही कम प्रभावित होते हैं। कोवाल्ट-६० स्रोत का प्रयोग अमेरिकी अणुशक्ति आयोग के शिकागो स्थित अरगोन कैंसर अनुसन्धान अस्पताल में होगा।

५. कीट-नियन्त्रण से खाद्य-पदार्थों के उत्पादन में वृद्धि

खाद्य-पदार्थों के उत्पादन में वृद्धि करने सम्बन्धी किसी भी योजना में कीट-नियन्त्रण कार्य के महत्व की उपेक्षा नहीं की जा सकती। आधुनिक वैज्ञानिक विधियों की सहायता से की जाने वाली कृषि में उस समय तक उत्पादन में वृद्धि होने की आशा नहीं की जा सकती जब तक हानिकारक कीटों से पौधों की रक्षा करने की उचित व्यवस्था नहीं कर ली जाती।

अमेरिका की कृषि-अनुसन्धान प्रयोगशालाओं में किए गए परीक्षणों से यह पता चला है कि बहुत कीड़े से एक दिन की अवधि में अपने वजन से कई सौ गुना अधिक कृषि चट कर जाते हैं।

कीड़ों पर नियन्त्रण प्राप्त करने के लिए प्रयुक्त किए गए कुछ नए उपायों के अत्यन्त उल्लेखनीय परिणाम प्राप्त हुए हैं। यह नियन्त्रण 'सिस्टेमिक इनसेक्टिसाइड्स' के द्वारा प्राप्त किया गया है।

'सिस्टेमिक इनसेक्टिसाइड्स' ऐसे रासायनिक पदार्थ हैं, जो सामान्य कीट नाशक औषधियों के विपरीत जड़ों, तनों और पत्तियों द्वारा पौधे के अन्दर प्रविष्ट हो जाते हैं। ये रासायनिक तत्व पौधों के द्रव में पहुँच जाते हैं और उस द्रव को चूसने वाले कीड़ों को मार देते हैं।

इस प्रकार की नई कीट नाशक दवाएं मिट्टी में मिलाई जा सकती हैं अथवा पौधों के तनों पर छिड़की जा सकती हैं। और चूँकि, ये दवाएँ पौधों द्वारा ग्रहीत कर ली जाती हैं अतएव पौधों का द्रव अंश कई दिनों अथवा कई सप्ताहों तक कीटों के लिए काफी जहरीला बना रहता है। इस पर मौसम का भी कोई असर नहीं पड़ता। पौधे के द्रव में एक बार प्रविष्ट हो जाने पर वह समस्त पौधे में फैल जाती हैं। इस प्रकार पौधे के किसी भाग पर बैठने वाला कीड़ा अपने आप मर जाता है।

'सिस्टमिक इनसेक्टिसाइड्स' की दो और विशेषताएँ हैं। एक विशेषता यह है कि उनकी धूल अथवा छिड़काव से निकटवर्ती खेतों को कोई हानि नहीं पहुँचती। दूसरी विशेषता यह है कि वे हानिरहित और लाभकारी कीट, जो आसपास मौजूद हो सकते हैं तथा पौधों को अपना आहार नहीं बनाते, जीवित रह सकते हैं। इस प्रकार 'सिस्टेमिक इनसेक्टिसाइड्स' का उपयोग करने के साथ-साथ फसलों को हानि पहुँचाने वाले कीड़ों को नष्ट करने वाले कीटों का उपयोग करना भी सम्भव हो सकता है।

अमेरिका में कीड़े-मकोड़ों पर रोकथाम के लिए 'सिस्टेमिक्स' के अलावा और भी कई साधन प्रयुक्त होते हैं। इनमें से एक है—काले या अत्यधिक नीले प्रकाश के फंदे, जिनका उपयोग इस समय मुख्य रूप से कीड़े-मकोड़ों की संख्या के परिवर्तनों या प्रवृत्तियों का निर्धारण करने और सम्भाव्य गमनागमन की भविष्यवाणी करना होता है।

इनके अलावा, अति उच्च फ्रीक्वेंसी वाली ध्वनि के फन्दे भी प्रयुक्त होते हैं। इनके प्रयोग से कई मामलों में काफी सफलता मिली है। फिर एक दीर्घकालीन योजना भी है। इस योजना के अन्तर्गत फसलों की ऐसी किस्में उगायी जायेंगी, जो विशिष्ट कीटों की निरोधक होंगी। खेतों में बोई जाने वाली फसलों—जैसे अल्फाल्फा, मक्का, गेहूँ, जौ, सौरगम और गन्ना—के सम्बन्ध में कीट-निरोधक नस्लें या दोगली किस्में उगाने की दिशा में काफी प्रगति हुई है।

अनेक अमेरिकी कीट-वैज्ञानिकों का विश्वास है कि कीड़े-मकोड़ों पर नियन्त्रण का वास्तविक भविष्य 'समन्वित नियन्त्रण' सम्बन्धी कार्यक्रम में निहित है। यह एक ऐसा कार्यक्रम है, जिसका उद्देश्य कीट-नियन्त्रण सम्बन्धी सभी साधनों को एक ऐसी समन्वित इकाई में सम्मिलित कर लेना है, जिसके अन्तर्गत प्रत्येक प्रणाली या विधि के भूत तत्व सही अनुपात में संयुक्त और

व्यवहृत होंगे। यद्यपि, इस समन्वित नियन्त्रण में रसायनों का पूर्ण परित्याग नहीं किया गया है, फिर भी यह विशुद्ध रासायनिक कार्यक्रम से भिन्न है। ऐसा करने से, न चाहते हुए भी निरोधक कीटों की पीढ़ियों को तैयार करने और तत्सम्बन्धी समस्याएं उत्पन्न करने की गुंजाइश बहुत ही कम रहेगी।

६. वायु और जल की कृत्रिम लहरें

स्टैनफोर्ड यूनिवर्सिटी में कांच और इस्पात के योग से निर्मित जल-सुरंग की गणना अमेरिका में कृत्रिम लहरें उत्पन्न करने में समर्थ एक सबसे बड़ी प्रयोगशाला के रूप में की जाती है। इस प्रयोगशाला का निर्माण प्रोफेसर एन यून सू ने उक्त यूनिवर्सिटी के सिविल इंजिनियरिंग विभाग के प्रोफेसर वायरन पैरी और प्रोफेसर रावर्ट एल० स्ट्रीट के सहयोग से दिया है। जल सुरंग रूपी यह प्रयोगशाला ११५ फुट लम्बी, ३ फुट चौड़ी और ६ फुट ऊँची है।

सुरंग बहुत कुछ सागर की तरह दिखती है जिसका तट स्टेनलेस इस्पात से निर्मित है। इस्पात की बाल्टियों में ही धातु चक्र-यन्त्र (खराद का कार्य करने वाले) फिट हैं। ये चक्र-यन्त्र वास्तविक तट के अंग के रूप में कार्य करते हैं और लहरों को सुरंग के अन्तिम छोर से टकरा कर टूटने से रोकते हैं। लहरें उपन्न करने वाली एक विशेष प्लेट को, जो एक हाइड्रॉलिक पिस्टन से चालित होती है, विद्युदणु विधि द्वारा इस प्रकार नियन्त्रित किया जा सकता है कि वह किसी भी आकार की लहर उत्पन्न कर सकती है—इसमें गहरे जल में उत्पन्न होने वाली लहरें भी शामिल हैं। ३० अश्व-शक्ति का एक केन्द्रा-पसारी पंखा हवा को विभिन्न गतियों से सुरंग की राह से खींचता है। वायु को खींचने का उसकी अधिकतम गति ५० मील प्रति घण्टा तक हो सकती है।

इस सुरंग में हवा रहित तरंगे, हवा द्वारा उत्पन्न तरंगें, अथवा दोनों प्रकार की तरंगें उत्पन्न की जा सकती हैं।

प्रोफसर सू का कथन है कि यह तथ्य सर्वविदित है कि एक उन्मुक्त जल-सतह पर बहती हुई हवा तरंगें उत्पन्न कर सकता है लेकिन इसमें जो भौतिक क्रियाएं निहित हैं उसकी जानकारी शायद ही किसी को हो। लहरों की वृद्धि, शक्ति का स्थानान्तर तथा इससे सम्बन्धित अन्य जानकारी को समुद्र का अवलोकन कर ग्रहण कर पाना यदि असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है।

लहरों की हलचल पर लहरों के आकार के अनुसार एक निश्चित परिमाण में शक्ति व्यय होती है तथा जलीय धाराएं समुद्र में उठने वाली लहरों के सम्बन्ध में भविष्यवाणी करने और उनका विवेचन करने में अत्यन्त सहायता हो सकती हैं। इनके द्वारा वायु और जल की पारस्परिक क्रिया प्रतिक्रिया के बारे में नए तथ्य भी ज्ञात हो सकते हैं। जलयानों, बन्दरगाहों, ब्रेक-वाटरों का स्वरूप और आकार निर्धारित करने तथा समुद्र-तटों के क्षरण के सम्बन्ध में अध्ययन करने के लिए भी इनसे काफी सहायता मिल सकती है।

●●

(पृष्ठ ७८ का शेषांश)

रु०) मूल्य का शुद्ध यूरेनियम देना स्वीकार कर लिया है। ईंधन के रूप में इस यूरेनियम का निर्माण अमेरिका की जनरल इलैक्ट्रिक कम्पनी द्वारा किया जायेगा। इसके मूल्य का भुगतान लम्बे अरसे में किया जा सकेगा। इस प्रकार अमेरिका ने तारापुर योजना के लिये विदेशी मुद्रा के रूप में कुल मिलाकर ९॥ करोड़ डालर (४५ करोड़ २० लाख रु०) की सहायता दी है।

बिजलीघर को चालू करने के लिए अमेरिका शुरू में जो ईंधन देगा वह २॥ वर्ष तक पूरी तरह काम देता रहेगा। उसके बाद उसमें से २० प्रतिशत ईंधन की जगह नया ईंधन डाला जायेगा और तब हर ९ महीने बाद पुराने ईंधन की जगह थोड़ा-थोड़ा नया ईंधन डाला जायेगा। भारत और अमेरिका की सरकारों के मध्य एक समझौता हुआ है, जिसके अन्तर्गत अमेरिका तारा-पुर बिजलीघर को ३० वर्ष तक शुद्ध यूरेनियम देता रहेगा।

●●

सम्पादकीय

मनोवैज्ञानिक संकीर्णता

नवम्बर मास के अन्तिम सप्ताह में "बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय" के नाम परिवर्तन के सम्बन्ध में लोक सभा के सदस्यों तथा छात्रों में काफी सरगर्मी रही।

राज्य सभा में यह प्रस्ताव पारित किया गया कि बनारस विश्वविद्यालय के नाम के साथ लगे हुए "हिन्दू" पुछल्ले को संकीर्णता एवं साम्प्रदायिकता का प्रतीक मानकर उसके स्थान पर उक्त विश्वविद्यालय के संस्थापक पं० मदनमोहन मालवीय का नाम रखकर सदा के लिये "हिन्दू" शब्द को हटा दिया जाय। वस्तुतः यह दलील इस आधार पर की जाती है कि अलीगढ़ विश्वविद्यालय के साथ लगे ऐसे ही "मुसलिम" पुछल्ले का भी अन्त करना है। अत्यन्त हिन्दूपरक सदस्यों एवं छात्र नेताओं का कहना है कि "हिन्दू" शब्द हटाने से देश की अखण्डता पर धक्का लगेगा। सरकारी दृष्टि-कोण यह है कि हिन्दू, मुसलमान जैसे शब्दों से संकीर्णता लक्षित होती है क्योंकि इन विश्वविद्यालयों में न तो केवल हिन्दू ही पढ़ते हैं और न केवल मुसलमान ही।

जो भी हो, मनोवैज्ञानिक सत्य तो यह है कि स्वाधीनता प्राप्ति के १८ वर्ष बाद 'हिन्दू' तथा 'मुसलिम' शब्दों की नई व्याख्या न तो समय के अनुकूल है और न उचित ही। यदि यह कहा जाय कि अंग्रेजों ने इन 'शब्दों' को जान-बूझकर विश्वविद्यालयों के नामों के साथ लगा रहने दिया, तो यह हमारी दूसरी संकीर्णता होगी। वास्तविकता तो यह है कि आधी-शताब्दी से इन नामों के द्वारा जो संस्थायें अभिहित होती आई हैं उन्हें परिवर्तित नामों द्वारा पुकारने से उनका 'मौलिक स्वरूप' ही विरूपित हो जावेगा।

बनारस को वाराणसी तथा काशी नाम से भी पुकारा जाता है। फिर वहाँ पर वाराणसेय विश्वविद्यालय के नाम से एक और शिक्षा-संस्था चल रही है। ऐसी दशा में यदि नाम बदलकर काशी विश्वविद्यालय किया जाता है तो वह उपयुक्त न होगा। हाँ, सरलतम वैज्ञा-निक समाधान है कि देश भर के विश्वविद्यालयों का स्थानों के अनुसार नामकरण किया जाय।

किन्तु इसके लिये हमारे नेता नहीं राजी होते। उक्त विवाद से एक कठिनाई आ फँसी है और वह है दिल्ली में ही स्थापित होने वाले एक अन्य विश्वविद्या-लय के सम्बन्ध में। इसका नामकरण देश के परम प्रिय नेता जवाहरलाल नेहरू के नाम पर होना था किन्तु जिन शक्तियों ने बनारस या अलीगढ़ से हिन्दू या मुसलमान शब्दों के हटाये जाने का विरोध किया वे ही नेहरू के नाम पर प्रस्तावित विश्वविद्यालय के नामकरण का विरोध कर रही हैं।

वास्तविकता तो यह है कि हम उच्चादर्शों की दुहाई तो देते हैं किन्तु उस व्यक्ति को घृणा करते हैं जो उन आदर्शों का प्रतीक है। सम्भवतः इसीलिये नेहरू के नाम से लोगों को चिढ़ है अन्यथा क्या यह ज्वलन्त प्रमाण नहीं है कि हम तैंतीस कोटि देवताओं की पूजा करके नित्यप्रति व्यक्तियों का ही तो स्मरण करते हैं।

हमारा राष्ट व्यष्टि से समष्टि की स्थापना को मानता आया है। यदि हम नेहरू, मालवीय जी या सर सैयद अहमद खाँ के नामों को संस्थाओं के साथ जोड़ कर उन्हें समुचित आदर दे सकें तो अच्छा ही है अन्यथा वे अपने व्यक्तित्वों के आधार पर पृथक से याद किये जाने की अपार क्षमता रखते हैं। समर्थन अथवा विरोध के द्वारा हम केवल क्षणिक आत्मतुष्टि कर सकते हैं।

क्या गाँधी जी का नाम किसी संस्था से सम्बद्ध नहीं हो सकता? तो फिर क्यों न भविष्य में स्थापित होने वाली संस्थाओं को राष्ट्रनायकों के नाम से अभिहित करें!! किन्तु इसमें समूचे राष्ट्र के एकमत का प्रश्न है जो कठिन है अतः जब और जहाँ भी जिन नामों से जो संस्थायें स्थापित हों उन्हें उसी रूप में आदर मिलना चाहिए। बाद में उन नामों में परिवर्तन करना "राष्ट्र द्रोह" के तुल्य पाप समझा जाना चाहिए।

विज्ञान परिषद् अनुसन्धान पत्रिका

वैज्ञानिक अनुसन्धान से सम्बन्धित हिन्दी की प्रथम शोध पत्रिका

(त्रैमासिक)

जिसमें गणित, भौतिक शास्त्र, रसायन शास्त्र, प्राणि शास्त्र, वनस्पति शास्त्र तथा भूगोल शास्त्र पर मौलिक एवं शोधपूर्ण निबन्ध प्रकाशित होते हैं। भारतवर्ष की विविध प्रयोगशालाओं के उत्कृष्ट निबन्धों को इसमें स्थान दिया जाता है।

विश्व की सभी प्रमुख वैज्ञानिक संस्थाओं, पुस्तकालयों तथा विश्वविद्यालयों द्वारा यह पत्रिका समादृत है।

सामान्य सदस्यों के लिए वार्षिक शुल्क ८ रु०। 'विज्ञान' के सभ्य ४ रु० अतिरिक्त वार्षिक शुल्क देकर अनुसन्धान पत्रिका प्राप्त कर सकते हैं। यह पत्रिका अभी त्रैमासिक है किन्तु भविष्य में द्वैमासिक होने की सम्भावना है।

प्रधान सम्पादक—डा० सत्य प्रकाश

प्रबन्ध सम्पादक—डा० शिवगोपाल मिश्र

मंगाने का पता

विज्ञान परिषद् अनुसन्धान पत्रिका,

विज्ञान परिषद्,

थार्नहिल रोड,

इलाहाबाद—२

दिसम्बर १९५५ | विज्ञान | पंजीकृत संख्या ए—१७५१

उत्तर प्रदेश, बम्बई, मध्यप्रदेश, राजस्थान, बिहार, उड़ीसा, पंजाब तथा आंध्रप्रदेश के शिक्षा विभागों द्वारा स्कूलों, कालिजों और पुस्तकालयों के लिए स्वीकृत

प्रकाशक—डा० बलदेव बिहारी लाल सक्सेना, प्रधान मन्त्री, विज्ञान परिषद्, इलाहाबाद।

मुद्रक—सरयू प्रसाद पांडेय, नागरी प्रेस, दारागंज, इलाहाबाद।